ओ३म्

पौराणिक पोल-प्रकाश

पं॰ मनसारामजी 'वैदिक तोप'

पौराणिक पोलप्रकाश

[पं० कालुराम शास्त्री के ग्रन्थ 'आर्यसमाज की मौत' का मुंहतोड उत्तर]

: लेखक :

पं० मनसाराम 'वैदिक तोप'

सनातन धर्म की सभ्यता

पण्डित कालूरामजी शास्त्री ने जो "आर्यसमाज की मौत" नामक पुस्तक लिखी है, उसमें सनातनधर्म की सभ्यता का तो दिवाला ही निकाल दिया है। बजाय इसके कि वे ईमानदारी के साथ आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर नुक्ताचीनी करते, वे आर्यसमाज, आर्यसमाजियों तथा ऋषि दयानन्दजी को भरपेट गालियाँ देने में ही अपनी योग्यता की पराकाष्ठा समझते हैं। हम उनकी सभ्यता के कतिपय नमूने पाठकों की सेवा में रखते हैं—

१. स्वामी दयानन्दजी ने गालियाँ, असत्यभाषण, चालबाज़ी, धोखा, हठकर, ईसाई धर्म को वैदिक धर्म बनाया है। —पृ० क, पं० १२ से १५ तक।
२. इस बेहूदगी के साथ विवेचन किया। —पृ० क, पं० २२
३. स्वामीजी ने इसकी पुष्टि चोरी के बल पर की है। —पृ० ग, पं० ६
४. कौन कहता है कि आर्यसमाजी संसार को धोका देकर, चालाकी चलकर आर्यसमाज को नहीं फैलाते? —पृ० च, पं० २७
५. और वे संसार की दृष्टि में नीच बने। —पृ० छ, पं० ९
६. धर्म-धर्म चिल्लाकर मनुष्यों को पापी बनानेवाले ठगों से बचो। —पृ० ज, पं० १२
७. आर्यसमाज कोई धर्म नहीं, केवल धोखा और चालबाजी का पुञ्ज है। —पृ० ञ, पं० ८
८. आर्यसमाज तुमको ईसाई बनाये रखनेवाला खूँख्वार जानवर है। —पृ० ञ, पं० १६
९. आप पागलों की-सी बात छोड़ दें। —पृ० ६, पं० २
१०. नास्तिक हो या मुसलमान या ईसाई। —पृ० ६, पं० २४
११. बस आर्यसमाज की छार हो गई। —पृ० ६, पं० ३०
१२. दूसरों की उन्नति पर आर्यसमाजी जलते हैं। —पृ० ९, पं० ७
१३. स्वामीजी को मूर्ख बतलाते हैं। —पृ० ९, पं० १३
१४. तुम बड़े हुज्जतबाज़[१] हो। —पृ० १०, पं० २४
१५. वेद के दुश्मन अक़्ल को नीलाम करनेवाले। —पृ० ११, पं० १०-११
१६. तुम दयानन्द को बेवक़ूफ समझ नास्तिक बन जाओ। —पृ० १२, पं० २
१७. स्वामी दयानन्दजी हैं बड़े मसख़रे। —पृ० २०, पं० ४
१८. फूट गई आर्यसमाजियों के पितरों की तक़दीर। —पृ० २०, पं० ३०
१९. स्वामीजी को देश का शत्रु और मूर्ख समझते हैं। —पृ० २५, पं० १
२०. स्वामीजी की इस नीचता। —पृ० २७, पं० ११
२१. स्वामीजी क्रोध में आकर कंजर झूठ लिखते हैं। —पृ० २९, पं० १०
२२. स्वामी दयानन्दजी को उन्माद है। —पृ० २९, पं० २४
२३. स्वामी दयानन्दजी कापड़ी जाति में उत्पन्न हुए थे और लड़कपन में इनका पेशा गाना तथा नाचना था। —पृ० ३०, पं० २२
२४. स्वामीजी वैसे गालियाँ देने लगे जैसे औरतें राँड-नपूता आदि। —पृ० ३३, पं० १९

---

१. झगड़ालू, तू-तू मैं-मैं करनेवाला।

२५. स्वामी दयानन्दजी के चित्त में नीच वृत्तियाँ थीं। —पृ० ३५, पं० १३
२६. सत्यार्थप्रकाश है या असत्यार्थप्रकाश। —पृ० ४२, पं० १०
२७. यहाँ पर तो स्वामी दयानन्दजी ने आर्यसमाजियों को कंजर बना दिया। —पृ० ४७, पं० १५
२८. व्यभिचारप्रिय स्वामीजी। —पृ० ४९, पं० ५
२९. यह जो वेद है इसमें व्यभिचार ही भरा है या कुछ और। —पृ० ४९, पं० २२
३०. स्वामी दयानन्दजी अपने मन में आये व्यभिचार को। —पृ० ५३, पं० ५
३१. धन्य है तुम्हारे ऋषि को जो वेदार्थ के बहाने से तुमको बेवकूफ बनाने के लिए अनाप शनाप बक दे। —पृ० ५४, पं० १८
३२. सच तो बतलाओ इतना बड़ा वेद का दुश्मन क्या कोई आज तक हुआ है? क्यों न हो, नास्तिकों का महर्षि है न! —पृ० ५६, पं० ३
३३. दयानन्द पोप। —पृ० ११८, पं० २०
३४. आर्यसमाजियों को प्लेग घेर लेता है। —पृ० ११७, पं० २८
३५. छोड़ो स्वामीजी की लिखी चंडूखाने की गप्पें। —पृ० १०१, पं० ७
३६. आर्यसमाजियों का मुँह काला हो। —पृ० ९३, पं० ८
३७. नीमच के शास्त्रार्थ में बुद्धदेव धर्म-कर्म, दीन-ईमान को तिलांजलि दे। —पृ० ८४, पं० १८
३८. स्वामी दयानन्दजी की पी हुई भंग। —पृ० ४८, पं० ८
३९. एक बार बोलिये आर्यसमाज की बेहयाई की जय। —पृ० ८३, पं० १८
४०. आर्यसमाजी कुत्ते की भाँति दुत्कारे जावेंगे। —पृ० ७७, पं० १०
४१. दयानन्दजी वेदों के रक्षक हैं या भक्षक। —पृ० ७७, पं० १
४२. तुम अवश्य निरक्षर हो। —पृ० ६३, पं० ९
४३. आर्यसमाजियों का कोई धर्म ही नहीं। —पृ० ८७, पं० १९
४४. इस मूर्ख समुदाय का एक भी मनुष्य लेखनी नहीं उठावेगा। —पृ० १३१, पं० ३०
४५. शास्त्रार्थ के समय वेदशास्त्रशून्य बुद्धू, कबाड़ू, कचरू शास्त्रार्थ करने आते हैं। —पृ० १७७, पं० २३
४६. क्या जीवित पितरों से यह कह सकते हैं कि आप लोगों ने भोजन तो खा लिया, ज़रा हमारी स्त्री को भी...। —पृ० २९१, पं० ५
४७. बुद्धदेव पंजाबी और रामचन्द्र सुनार देहलवी। —पृ० ६, पं० २४
४८. वाह रे वाह सत्यार्थप्रकाश के बनानेवाले लालबुझक्कड़, क्या कहना! तुझको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई? निपट अन्धा ही बन गया?...भला इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई? इन सत्यार्थप्रकाशादि के बनानेहारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये वा जन्मते समय मर क्यों न गये? क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता। —पृ० ३४, पं० १३
४९. स्वामीजी को उन्माद है नहीं तो धनलोलुपतारूप स्वार्थ ने स्वामीजी से यह पाप करवाया है। —पृ० ३६, पं० ९

५०. स्वामीजी का झूठ बोलना और झूठ लिखना ही पेशा था। —पृ० ४२, पं० २९
५१. यहाँ पर भी बेवक़ूफ ईश्वर भूल गया था। —पृ० ५४, पं० ३०
५२. स्वामीजी स्त्री को पति के पास नहीं जाने देते, यहाँ ही मौज उड़ाने की आज्ञा देते हैं। —पृ० ५२, पं० १४
५३. यहाँ पर स्वामीजी ने स्त्रियों को मौज उड़ाने के लिए पतियों का जंकशन खोल दिया। —पृ० ५२, पं० २८
५४. स्वामीजी के नास्तिक भावों को सिद्ध करनेवाले हैं। —पृ० ५, पं० २४
५५. मूर्ख आर्यसमाजी स्वामी दयानन्दजी की गहरी चाल को कैसे समझ लें! —पृ० ६३, पं० १५

यह हमने नमूने के तौर से कुछ उदाहरण लिख दिये हैं, वरना सारी-की-सारी किताब इसी प्रकार के खुराफ़ात से भरी पड़ी है। हमारा यह काम नहीं कि हम गालियों का जवाब गाली से दें। हम आर्यसमाज पर किये आक्षेपों का सभ्यतापूर्वक उत्तर देंगे और इन गालियों के विषय में हम सनातनधर्म के ठेकेदारों को उनके ही शब्दों में यही कहना उचित समझते हैं कि—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्यविषय

इससे पूर्व कि हम प्रश्नों के उत्तर लिखें, इस बात का लिखना आवश्यक है कि आर्यसमाज किन-किन ग्रन्थों को प्रमाण मानता है और किन-किन को अप्रमाण मानता है। परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को धर्म-अधर्म का ज्ञान देने के लिए चारों वेदों को प्रकाशित किया। परमात्मा सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान निर्भ्रान्त है। चूँकि वेद ईश्वर का ज्ञान है इसलिए, चारों वेद—मूलसंहिता स्वत:प्रमाण हैं। उनके प्रमाण के लिए और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, अत: धर्माधर्म का निर्णय करने में वेद ही अन्तिम कसौटी है। शेष सब ऋषिकृत ग्रन्थ जो ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द तक के बनाये हुए हैं, वे सब परत:प्रमाण हैं, अर्थात् यदि वेदों के अनुकूल हों तो प्रमाण हैं, यदि इनमें भी कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण नहीं है। बाकी सब ग्रन्थ जो ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं चाहे तो वे ऋषि दयानन्द से पहले मनुष्यों के बनाये हुए हों और चाहे वे ऋषि दयानन्दजी से पीछे के मनुष्यों के, अर्थात् तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० राजाराम, पं० आर्यमुनि, पं० सातवलेकर, स्वामी सत्यानन्द, पं० नरदेव, पं० भगवद्दत्त, पं० विश्वबन्धु, स्वामी सर्वदानन्द, पं० जयदेव इत्यादि किसी के भी बनाये हुए क्यों न हों, वे सब ग्रन्थ अनार्ष होने से अप्रमाण हैं। आर्यसमाज पर उन ग्रन्थों का उत्तरदायित्व नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपने-आपको आर्यसमाजी कहता हुआ आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखता है तो हम उसका भी अपने उत्तरों में वैसा ही खण्डन करेंगे जैसाकि दूसरे अप्रामाणिक ग्रन्थों का। इस बारे में ऋषि दयानन्दजी का लेख स्पष्ट है कि—

"जैसे ऋग्यजु:, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शथपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छह वेदों के अङ्ग, मीमांसादि छह शास्त्र वेदों के उपाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद—ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनियों के किये ग्रन्थ हैं, इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वत:प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परत:प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"

"ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि, अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।" —सत्यार्थ० समुल्लास ३

सारांश यह कि आर्यसमाज वेदों को स्वत:प्रमाण, ऋषिकृत ग्रन्थों को परत:प्रमाण, और अनार्ष मनुष्यकृत ग्रन्थों को अप्रमाण मानता है। आर्यसमाज का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है, अत: सनातनधर्मियों को चाहिए कि वे प्रमाण देते समय ज़रा सोच लिया करें कि जिस पुस्तक का वे प्रमाण दे रहे हैं, वह आर्यसमाज के लिए प्रमाण भी है या नहीं। यों ही इधर-उधर के रिसालों, अखबारों, अनार्ष ग्रन्थों तथा अनार्ष भाष्यों को पेश करके अपना तथा हमारा समय व्यर्थ न खोवें।

प्रथम संस्करण

सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि

वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य पुस्तकों के संस्कृत अंशों के हिन्दी अनुवाद का तथा उनके प्रूफों के पढ़ने का काम पण्डितों पर ही छोड़ दिया गया था। पौराणिक शिक्षा के संस्कारवाले उन पण्डितों ने कहीं-कहीं ऐसी बातें उन पुस्तकों में धर दीं जो वैदिक शिक्षा के विरुद्ध थीं। अतएव स्वामीजी ने संवत् १९३५ ईसवी संवत् १८७८ में नीचे लिखा विज्ञापन प्रकाशित किया—

विज्ञापनम्

सबको विदित हो कि जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं, इससे जो-जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तक के वचन बहुत-से लिखे हैं, वे उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल को साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूँ। जो-जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं, उन सबको प्रमाण करता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से मुझको सर्वथा मान्य हैं और जो-जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूँ और जो सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ४२ पंक्ति २५ में "पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हैं, उनका तो अवश्य करे" तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ में "मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है" इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना, यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य का नहीं। इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृ० २५१ से लेके १२ अंक के २६७ पृ० तक छपा है। वहाँ देख लेना। —दयानन्द ग्रन्थमाला पृ० १४—१५

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी वार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द, वाक्य, रचना का भेद हुआ सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी; परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत

विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है।''

—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका

वाक्यार्थबोध

''वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। **''आकांक्षा''** किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थपदों की आकांक्षा परस्पर होती है। **''योग्यता''** वह कहाती है कि जिससे जो हो सके, जैसे जल से सींचना। **''आसत्ति''** जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसी के समीप उस पद को बोलना व लिखना। **''तात्पर्य''** जिसके लिए वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना। बहुत-से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँसके नष्ट हो जाती है।''

—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका, पृ० २

व्याख्या

(१) **आकांक्षा** नाम इच्छा का है। जैसे बोलने और सुननेवाले की विषय को जानने की इच्छा होती है, वैसे ही वाक्यों में भी शब्दों की आपस में इच्छा होती है, अर्थात् जबतक किसी पद के साथ इच्छानुसार दूसरे पदों को मिलाया न जावे तबतक वाक्य अपूर्ण रहता है। इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ एक आदमी बोलता है 'घोड़ा'। अब इस घोड़ा पद को दूसरे पदों की आवश्यकता है। जबतक और पद इसके साथ न मिलाये जावें तबतक केवल घोड़ा कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। क्या पता लगे कि कहनेवाले की क्या इच्छा है? वह 'घोड़ा लाओ' कहना चाहता है या 'घोड़ा ले-जाओ', 'घोड़ा खरीदो', 'घोड़ा बेचो', 'घोड़ा आता है', 'घोड़ा कूदता है', 'घोड़ा दौड़ता है' कहना चाहता है। सारांश यह कि जबतक घोड़ा पद के साथ कोई और पद न जोड़ा जाए तबतक बोलनेवाले के प्रयोजन को नहीं जाना जा सकता। इसी को आकांक्षा कहते हैं।

(२) **योग्यता** नाम क़ाबलियत का है। जिस चीज़ में जो क़ाबलियत हो वही समझना। जैसे जल में सींचने की योग्यता है और आग में जलाने की, तो इन दोनों को वैसा ही समझना योग्यता है; किन्तु पानी को जलानेवाला और आग को सिञ्चन करनेवाला समझना योग्यता के विरुद्ध है।

(३) **आसत्ति** नाम समीपता का है। जिस पद का जिस पद के साथ सम्बन्ध हो उसी के साथ बोलना आसत्ति कहलाती है। इसके विरुद्ध करना आसत्ति के विरुद्ध है। जैसे एक मनुष्य ने देशी खाँड की दुकान खोली और उसने अपनी दुकान पर यह बोर्ड लिखकर लगाया कि 'यहाँ पर देशी खाँड मिलती है', किन्तु पढ़नेवाला इसको इस प्रकार से पढ़ता है कि 'यहाँ परदेशी खाँड मिलती है'। अब देखिए यहाँ केवल 'पर' पद को 'यहाँ' के साथ न पढ़कर 'देशी' के साथ मिलाकर पढ़ने से दुकानदार का मतलब बिलकुल ख़त्म हो जाता है और ग्राहकों पर क़तई उसके विरुद्ध संस्कार पड़ता है। ऐसा करना आसत्ति के विरुद्ध है।

(४) **तात्पर्य** नाम अभिप्राय का है। लिखनेवाले या बोलनेवाले ने जिस अभिप्राय के लिए कुछ लिखा वा बोला हो, उससे वही अभिप्राय ग्रहण करना तात्पर्य कहाता है। उसके विरुद्ध कल्पना करना तात्पर्य के विरुद्ध है। जैसे एक मनुष्य का जूता टूट गया था। वह बाजार में जूता खरीदने गया, किन्तु उसको सारे शहर में जूता न मिला। वह सायं एक मित्र के मकान पर गया और उससे कहने लगा कि 'यार! यह शहर कितना निकम्मा है कि यहाँ जूते भी नहीं मिलते!' मित्र ने फ़ौरन

हँसकर उत्तर दिया कि 'आपका सिर सलामत चाहिए, जूतों की क्या कमी है!' अब जरा विचार करें कि उसने तो जूतों का पैर के लिए ज़िक्र किया था, किन्तु उसके मित्र ने उसके अभिप्राय के विरुद्ध सिर के लिए जूतों का प्रयोग करके मख़ौल बना लिया। ऐसा करना तात्पर्य के विरुद्ध होता है।

जो आदमी इन चारों बातों को ध्यान में रखकर किसी पुस्तक को पढ़ता है, वह ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझता है, किन्तु जो मनुष्य इन चारों बातों को ध्यान में न लाकर स्वार्थ, अन्धविश्वास और बेईमानी से ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के विरुद्ध उसके ग्रन्थ के लेख में से अभिप्राय निकालकर जनता को धोखा देता है, वह महापापी, आत्महत्यारा और नरकगामी है, जैसाकि वेद की आज्ञा है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —यजुः० ४०।३

भाषार्थ—जो मनुष्य आत्महत्यारे हैं, वे इस जीवन में भी दुःख पाते हैं और मरने के पश्चात् भी ऐसे लोक-लोकान्तरों को प्राप्त होते हैं जो अन्धे अँधेरे से ढके हुए हैं और जिनमें निशाचर लोग निवास करते हैं।

हम इस बात को बिना संकोच के कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के बारे में सनातनधर्म के ठेकेदार पूर्णरूप से आत्महत्या से काम ले रहे हैं और उपर्युक्त चारों कारणों को तिलाञ्जलि देकर स्वामीजी के ग्रन्थों के लेख को तोड़-मरोड़कर स्वामीजी के अभिप्राय के विरुद्ध अभिप्राय निकालकर जनता को धोखे में डालने का यत्न कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ—

(१) स्वामीजी ने **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** यजुः० ३२।३ के भाष्य में लिखा है कि "उस परमेश्वर की प्रतिमा, परिमाण, उसके तुल्य, अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति, वा आकृति नहीं है।" एक बार का ज़िक्र है कि एक स्थान पर आर्यसमाज तथा सनातनधर्म्म में मूर्त्तिपूजा विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। आर्यपण्डित ने सनातनी पण्डित की बोलती बन्द कर दी। पौराणिक पण्डित ने तंग आकर कहा कि यदि स्वामी दयानन्दजी के वेदभाष्य से मूर्त्तिपूजा दिखला दें तब तो मानोगे? लोगों ने कहा बिल्कुल ठीक है, अवश्य मानेंगे। तब पौराणिक पण्डित ने स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य उठाया और उपर्युक्त भाष्य में से मूर्त्ति पद पर अंगुली रखकर दो-चार साधारण भाषा जाननेवालों को दिखा दिया कि देख लो, यह मूर्त्ति शब्द लिखा है या नहीं। उन्होंने कहा कि हाँ मूर्त्ति तो लिखा है। यह सुनते ही सनातनियों ने ताली बजा दी कि स्वामीजी के भाष्य से मूर्त्ति प्रसिद्ध हो गई। अब यह तरीक़ा निश्चयपूर्वक आकांक्षा के विरुद्ध तथा आत्महत्या करके नरक में जाने का साधन है।

(२) स्वामी दयानन्दजी ने अपने यजुर्वेद के भाष्य अध्याय २१ मन्त्र ६० के भाष्य में लिखा है कि "ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें (उपयोग लें) और अध्याय ६ मन्त्र १४ के भाष्य में लिखा है कि "हे शिष्य! अच्छी शिक्षाओं से मैं तेरी जिससे रक्षा की जाती है उस गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करता हूँ", अर्थात् धर्मानुकूल करता हूँ, किन्तु सनातनधर्म के ठेकेदार यह कहकर जनता को धोखा देते हैं कि स्वामीजी ने बैल से और शिष्य से मैथुन करने की आज्ञा दी है, हालाँकि बैल में तथा शिष्य में मैथुन की योग्यता नहीं है तथा स्वामीजी ने 'भोग करें' के अर्थ 'उपयोग लें' तथा 'शुद्ध करता हूँ' के अर्थ स्पष्ट 'धर्मानुकूल करता हूँ' लिख भी दिये हैं। यह कथन योग्यता के विरुद्ध है।

(३) स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में लिखा है कि—

[(प्रश्न) जो सभी अहिंसक हो जाएँ तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि

पशुओं को मार खाएँ, तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाए?

(उत्तर) यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

(प्रश्न) फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

(उत्तर) चाहे फेंक दें चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती,] किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिसंक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य और अहिंसा-धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है।

—सत्यार्थ० समु० १०

इस पाठ को इकट्ठा पढ़ने से स्पष्ट पता लगता है कि स्वामीजी मुर्दे के मांस को भी इस कारण अभक्ष्य बतला रहे हैं कि उससे मांसभक्षण का स्वभाव होकर मनुष्य का हिंसक होना सम्भव है और हिंसा से प्राप्त किया पदार्थ अभक्ष्य है, किन्तु पौराणिक मण्डल की ज़मीर-फ़रोशी[१] देखें कि वे सत्यार्थप्रकाश का उतना पाठ सुनाकर कि जितना कोष्ठ में दिया है जनता में भ्रम फैलाते हैं कि स्वामीजी ने मुर्दा जानवर और मनुष्य का मांस खाने की आज्ञा दी है। हालांकि अगला पाठ पढ़ने से सारा भ्रम दूर हो जाता है। धर्म के ठेकेदारों का यह तरीक़ा आसक्ति के विरुद्ध है।

(४) स्वामीजी ने मनुष्यमात्र को वेद का अधिकार सिद्ध करने के लिए **'यथेमाम्'** यजुः० २६।२ के अर्थ में '(स्वाय) अपने स्त्री, सेवकादि' लिखकर स्त्री तथा सेवकों को भी वेद पढ़ने का अधिकार बतलाया है। पौराणिक मण्डल ने इससे ईश्वर की स्त्री (पत्नी) तथा नौकर की कल्पना करके वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध ईश्वर को देहधारी सिद्ध करने का यत्न किया है, हालाँकि यहाँ स्त्री से पत्नी का नहीं अपितु स्त्रीजाति तथा सेवक से ईश्वरभक्त मनुष्यमात्र का ग्रहण है, और समस्त स्त्री तथा मनुष्य ईश्वर की प्रजा होने से ईश्वर के स्व तथा ईश्वर सबका स्वामी है। पौराणिक मण्डल की इस प्रकार की चेष्टा तात्पर्य के विरुद्ध है।

आप इस सारी किताब [आर्यसमाज की मौ] में इसी प्रकार की चेष्टा देखेंगे। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वामीजी के सिद्धान्त के विरुद्ध स्वामीजी के ग्रन्थों के पाठ से अवतार, मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, जन्म से वर्णव्यवस्था आदि उन बातों को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिनको स्वामीजी ने वेदविरुद्ध सिद्ध करके उनका स्पष्ट खण्डन किया है। हमने उन स्थलों की पर्याप्त समालोचना कर दी है। पाठक पुस्तक को पढ़ते हुए उपर्युक्त चार बातों का ध्यान रक्खें।

—मनसाराम 'वैदिक तोप'

---

१. आत्मा को बेचना

पं० मनसाराम जी का अनन्य ग्रन्थ

पौराणिक पोप पर वैदिक तोप

(अर्थात् सनातन धर्म की मौत)

आर्यसमाज का प्रारम्भिक युग शास्त्रार्थों का युग था। एक समय था जब आर्यसमाज के प्रत्येक उत्सव पर शास्त्रार्थ होता था। पं० मनसाराम जी ने जहाँ सहस्रों व्याख्यान दिये, सैकड़ों शास्त्रार्थ किये, वहाँ अनेक पुस्तकें भी लिखीं। आपके द्वारा लिखी छोटी और बड़ी सभी पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

यह पुस्तक उर्दू में थी। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इसका अनुवाद किया है। सभी प्रमाणों को मूल ग्रन्थों से मिलाया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

पाठकगण इस पुस्तक को पढ़ें, इस पर मनन और चिन्तन करें। यह ग्रन्थ पाठकों के मन और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भर देगा। इसके अध्ययन से उन्हें वैदिक सिद्धान्तों की महत्ता और सार्वभौमिकता का ज्ञान होगा, एवं पुराणों की अश्लीलता, खोखलेपन और अनर्गलता का भान होगा।

—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

दो शब्द

जिस समय भारत में अविद्या और अन्धकार छा रहा था, नये-नये पन्थ और मत पनप रहे थे, वैदिक धर्मी विधर्मी बन रहे थे, मूर्त्तिपूजा, अन्धविश्वास, गुरुडम, पाखण्डवाद बढ़ रहा था, मन्दिरों में देवदासियाँ रक्खी जाती थीं, पण्डों और पुजारियों ने लूट का बाज़ार गर्म कर रक्खा था, दुराचार और व्यभिचार पनप रहा था—ऐसे भीषण समय में महर्षि दयानन्द सरस्वती भारतीय रंगमञ्च पर अवतरित हुए।

महर्षि दयानन्द बाल ब्रह्मचारी थे, वेदादि शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् और बहुत बड़े योगी थे। भारत के प्राचीन गौरव का प्रत्यावर्तन करने के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। मरती हुई आर्यजाति में उन्होंने सिंह का पराक्रम फूँक दिया। पाखण्डवाद के विरुद्ध उन्होंने क्रान्ति का उद्घोष किया। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने सभी मतों और पन्थों की पोल खोलकर उनकी धज्जियाँ उड़ा दीं। वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द के बलिदान के पश्चात् अनेक लोगों ने महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों पर लेखनी उठाई। अनेक ग्रन्थ उनके खण्डन में लिखे गये। इस प्रकार का एक ग्रन्थ लिखा गया 'आर्यसमाज की मौत'। इस पुस्तक का मुँहतोड़ उत्तर दिया शास्त्रार्थमहारथः पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप' ने।

पुस्तक क्या है, रत्नों से तोलने योग्य है। महर्षि पर जितने भी आक्षेप किये गये हैं, उन सबका मुँहतोड़ उत्तर है। प्रमाणों की झड़ी लगी हुई है। पुस्तक कैसी है? ऐसी कि पढ़ते ही अपने पाठकों के हृदयों पर सिक्का जमा देगी।

यह ग्रन्थ १९३६ में लाहौर [अब पापिस्तान] में छपा था। उस समय हाथोंहाथ बिक गया। बहुत समय से इसकी माँग थी। हमने 'भगवती प्रकाशन' द्वारा इसे छाप दिया है। मूल्य प्रचार की दृष्टि से बहुत कम रक्खा है। सन् ३६ में अखबारी घटिया कागज पर छपी इस पुस्तक का मूल्य चार रुपये था। आज चाँदी का रुपया ५५ रुपये का है। उस दृष्टि से इसका मूल्य २५० रुपये होना चाहिए, क्योंकि इसका काग़ज और छपाई आदि उस संस्करण की अपेक्षा बहुत उत्तम हैं।

आज पाखण्ड फिर बढ़ रहा है; मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद और गुरुडम खुलकर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। आज पुनः इस बात की आवश्यकता है कि इस पौराणिकता के गढ़ पर प्रबल प्रहार किया जाए। यह पुस्तक इस कार्य में अत्यन्त सहायक होगी।

इस ग्रन्थ के सम्पादन और ईक्ष्यवाचन [प्रूफ़ रीडिंग] में हमने बड़ा परिश्रम किया है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रमाण को हमने मूल ग्रन्थ से मिलाया है। जहाँ प्रमाण छूट गये थे, वहाँ ढूँढकर लिख दिये गये हैं। जहाँ पते अशुद्ध थे उन्हें शोध दिया गया है। **महर्षि दयानन्द की आलोचनाओं से घबराकर लोगों ने अपने ग्रन्थों को बदल डाला। यह आर्यसमाज की बहुत बड़ी विजय है।** गीताप्रेस गोरखपुर ने अपने यहाँ से प्रकाशित महाभारत आदि ग्रन्थों से अनेक अध्यायों को और बहुत-से अध्यायों में से अनेक श्लोकों को निकाल डाला। अनेक स्थानों पर पाठ बदल दिये।

इस पुस्तक में दिये सारे प्रमाण ठीक हैं। एक-दो अध्यायों का अन्तर हो सकता है; श्लोक-संख्या में १ से लेकर ४-५ श्लोक आगे-पीछे हो सकते हैं, तथापि सभी प्रमाण हैं अवश्य। अनेक स्थानों पर हमने निर्देश भी दे दिये हैं।

इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण 'भगवती प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित किया गया था। तीसरा संस्करण सर्वश्री विजयकुमार गोविन्दरामहासानन्द, नई सड़क, दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठक पहले संस्करणों की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

वेद-मन्दिर
लेखरामनगर [इब्राहीमपुर], दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष - ७२०२२४९

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती
२०.१.९९

शास्त्रार्थमहारथः पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप'

—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

स्वनामधन्य पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप' आर्यजगत् की उन गिनी-चुनी विभूतियों में से हैं, जिन्होंने अपना जीवन और सर्वस्व लगाकर वेद और वैदिक ज्योति के आलोक से लाखों व्यक्तियों के हृदय, मन और मस्तिष्क को आलोकित किया है।

पण्डितजी का जन्म १८९० में हड्डाँवाला नंगल [जाखल के निकट] हरियाणा प्रान्त में हुआ। आपके पिता लाला शंकरदासजी अन्न-धन से सम्पन्न, सुखी सद्गृहस्थ और अच्छे व्यापारी थे। वे कट्टर पौराणिक और मूर्त्तिपूजक थे। पुत्र भी उन्हीं के रंग में रंग गया।

श्री मनसारामजी की प्राइमरी [चतुर्थ श्रेणी] तक की शिक्षा वामनवाला ग्राम में हुई। तत्पश्चात् टोहाना के मिडल स्कूल में प्रविष्ट हो गये। १९०७ में पण्डितजी आठवीं श्रेणी में प्रविष्ट हुए। इसी वर्ष में पिताजी का देहान्त हो गया। पण्डितजी को स्कूल छोड़कर घर सँभालना पड़ा।

लाला शंकरदासजी के गृह पर एक पटवारी श्री रामप्रसादजी रहा करते थे। ये बड़े सदाचारी, मधुरभाषी और निष्ठावान् आर्यसमाजी थे। जब मनसारामजी घर पर रहने लगे तब वे इन्हें वैदिक धर्म के सिद्धान्तों और तत्त्वज्ञान का परिचय कराया करते थे। मनसारामजी बाल्यकाल से ही अति तार्किक और मेधावी थे। युक्ति और तर्क से समझाने पर सत्य बात को तुरन्त स्वीकार कर लेते थे। महाशय रामप्रसादजी के सत्सङ्ग से आप शीघ्र ही आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो गये।

१९०८ में टोहाना में आर्यों और पौराणिकों के मध्य एक शास्त्रार्थ हुआ। आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत करनेवाले पं० राजारामजी शास्त्री और पौराणिकों की ओर से पं० लक्ष्मीनारायणजी थे। श्री उदमीरामजी पटवारी शास्त्रार्थ के प्रधान नियुक्त हुए।

पं० राजारामजी ने पूछा—'शास्त्रार्थ किस विषय पर होगा?'

'आर्यसमाज के नियमों पर'—पं० लक्ष्मीनारायणजी ने उत्तर दिया।

पं० राजारामजी बोले—'आर्यसमाज के नियम तो आप भी मानते हैं। शास्त्रार्थ तो ऐसे विषय पर हो सकता है, जिसपर आपका हमसे मतभेद हो।' पौराणिक पण्डितजी छूटते ही बोले—'हम आपका एक भी नियम नहीं मानते।' पण्डितजी ने शास्त्रार्थ के प्रधान उदमीरामजी से पूछा—'क्योंजी! क्या आप हमारा कोई भी नियम नहीं मानते?' पटवारीजी भी तैश में आकर बोले—'हम आर्यसमाज का एक भी सिद्धान्त नहीं मानते।' पं० राजारामजी ने कहा—'लिखकर दो।' उदमीरामजी ने लिख दिया—'हम आर्यसमाज का एक भी सिद्धान्त नहीं मानते।' अब पण्डितजी ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—आर्यसमाज का सिद्धान्त है—'वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। पौराणिक मत यह हुआ कि 'न वेद को पढ़ना, न पढ़ाना, न सुनना और न सुनाना।' आर्यसमाज का नियम है कि—'सत्य के ग्रहण करने और 'असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।' पौराणिक मत का नियम बना—असत्य को स्वीकार करने और सत्य के परित्याग में सदैव तत्पर रहना चाहिए।'

श्रोताओं के मस्तिष्क पर पं० राजाराम की युक्तियों की धाक बैठ गई। श्री उदमीरामजी आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये। इस शास्त्रार्थ का मनसारामजी पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। वे आर्यसमाज के दीवाने हो गये और जी-जान से वैदिक धर्म के सेवक बन गये।

अब श्री मनसारामजी के मन में संस्कृत अध्ययन की धुन सवार हुई। सर्वप्रथम आप कुरुक्षेत्र

की सनातनधर्म संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ट हुए। यहाँ से कंखल (हरद्वार) पहुँचे। तीन-चार वर्ष यहाँ भी पढ़ते रहे, परन्तु तृप्ति नहीं हुई। संस्कृत अध्ययन की लगन में आपने गुरुकुल काँगड़ी में चपड़ासी की नौकरी कर ली। उनका विचार था कि गुरुकुल में रहकर जहाँ एक ओर संस्कृत का अध्ययन कर लूँगा तो दूसरी ओर आर्यसमाज की सेवा भी कर सकूँगा, परन्तु यहाँ भी इनकी मन:कामना पूर्ण नहीं हुई। यहाँ से निराश होकर यह ज्ञानपिपासु विद्या-नगरी काशी में पहुँच गया।

काशी में संस्कृत अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिए अनेक क्षेत्र खुले हुए थे, परन्तु इन क्षेत्रों में जन्म के ब्राह्मणों को ही भोजन मिलता था। संस्कृतज्ञान के इस पिपासु ने कितने दिन भूखे रहकर काटे, इसे कौन जानता है? श्री मनसारामजी जंगल से बेर तोड़ लाते थे। उन्हें ही खाकर जीवन-निर्वाह कर लेते थे। एक दिन वे बेर तोड़ रहे थे। एक सेठ उधर आ निकले। उन्हें संस्कृत का विद्यार्थी भाँपकर सेठ ने पूछा—'क्या कर रहे हो?' मनसारामजी ने उत्तर दिया—'संस्कृत पढ़ने के लिए यहाँ आया हूँ। भूखा रहता हूँ। पढ़ने की इच्छा है। इन बेरों को भिगोकर रख दूँगा। जब भूख लगेगी तो खा लूँगा।'

सेठ ने पूछा—'क्षेत्रों में भोजन क्यों नहीं करते?' मनसाराम ने उत्तर दिया—'वहाँ तो केवल ब्राह्मणों को भोजन मिलता है, मैं जन्म से अग्रवाल हूँ।'

सेठ की ग़ैरत [स्वाभिमान] जागी। वह स्वयं भी ऐसे कई क्षेत्रों को दान देता था। उसने मनसाराम से कहा—'तुम अमुक क्षेत्र में जाकर भोजन किया करो, वहाँ कोई तुम्हारी जाति नहीं पूछेगा।'

भोजन-व्यवस्था से निश्चिन्त होने पर मनसारामजी विद्याध्ययन में जुट गये। विद्या समाप्त करके मनसारामजी काशी के पण्डितों की मण्डली में गये और उनके समक्ष एक प्रश्न रखा कि—'मैं जन्म से अग्रवाल हूँ, मुझे अब पण्डित कहलाने का अधिकार प्राप्त है या नहीं?' इसपर बड़ा वाद-विवाद हुआ। मनसारामजी की विजय हुई। उन्हें पण्डित की पदवी प्रदान की गई।

विद्या-प्राप्ति के पश्चात् आप कार्यक्षेत्र में उतरे। आपके गहन स्वाध्याय, तीव्रबुद्धि, अकाट्य तर्कों के कारण आपकी कीर्ति-चन्द्रिका छिटकने लगी। आर्यसमाज के क्षितिज पर एक नया नक्षत्र अपनी प्रभा विकीर्ण करने लगा। पण्डितजी सिरसा में धर्मप्रचार कर रहे थे। उन्हीं दिनों स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी सिरसा पधारे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर वे उन्हें आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में ले-आये। पण्डितजी ने सारे पंजाब को वैदिक नाद से गुँजा दिया। शास्त्रार्थ में उनकी विशेष रुचि थी। शास्त्रार्थ-संग्राम के वे विजयी योद्धा थे। रोपड़ में शास्त्रार्थ हो रहा था। कई दिन हो गये शास्त्रार्थ समाप्त होने में नहीं आ रहा था। अन्त में पं० मनसारामजी को बुलाया गया। आपने अपनी योग्यता, तर्कशीलता और युक्तियों से पाखण्ड का खण्डन कर पौराणिक के छक्के छुड़ा दिये। एक आर्यनेता ने आपको शतप्रतिशत अङ्क दिये।

एक बार भिवानी में पौराणिकों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। पौराणिकों ने पण्डितजी को उनका पूरा समय नहीं दिया। शास्त्रार्थ के नियमानुसार पण्डितजी ने पूरे २५ मिनट माँगे। उत्तर में पण्डितजी पर लाठियों से आक्रमण हुआ। शास्त्रार्थ के पश्चात् पण्डितजी ने एक ट्रैक्ट लिखा—'मेरे पच्चीस मिनट।' इस शास्त्रार्थ का टेकचन्दजी पंसारी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने प्रतिमाएँ फेंक दीं और आस्तिक बन गया।

आर्यों से भिन्न लोगों पर पण्डितजी की कैसी धाक थी, इस विषय में निम्न घटना अति महत्त्वपूर्ण है। एक बार रामाँमण्डी में एक जैन विद्वान् आये। उनके प्रवचन होने लगे। एक दिन सभा-समाप्ति पर एक किसान-वेशधारी ग्रामीण ने जैनियों के अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्त पर कुछ प्रश्न कर दिये। प्रश्न सुनते ही जैन विद्वान् ने कहा—'आप पं० मनसाराम तो नहीं हैं? ऐसे प्रश्न

वे ही कर सकते हैं। साधारण व्यक्ति इतनी बारीकी से सोच ही नहीं सकता।' सचमुच वह ग्रामीण व्यक्ति पं० मनसारामजी ही थे।

पण्डितजी ने हिसार ज़िले में स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थों का आयोजन करके पौराणिकों में खलबली मचा दी। पण्डितजी का नाम सुनते ही पौराणिकों के होश उड़ जाते और शास्त्रार्थ-स्थल से खिसक जाने में ही अपनी वीरता समझते थे। अपनी नाक बचाने के लिए पौराणिकों ने यह प्रसिद्ध कर दिया कि आर्यों के पास पं० मनसाराम के अतिरिक्त और कोई विद्वान् है ही नहीं।

उधर २-३ मई १९३१ को आर्यसमाज जाखल के वार्षिकोत्सव पर शास्त्रार्थ रक्खा गया। इसके अध्यक्ष थे स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी और शास्त्रार्थकर्त्ता थे पं० लोकनाथजी 'तर्कवाचस्पति'। पण्डितजी ने 'शास्त्रार्थ जाखल' नाम से उर्दू में एक पुस्तक लिखी। पौराणिक बौखला उठे। भारी धन व्यय करके उन्होंने 'सनातनधर्म विजय' नामक पुस्तक लिखवाई। पुस्तक क्या थी गाली-गलौज का पुलन्दा था। पण्डितजी ने बड़ी सभ्य भाषा में युक्ति और प्रमाणों से सुभूषित लगभग पाँच गुणा बड़ा १२२४ पृष्ठों का ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम था—'पौराणिक पोप पर वैदिक तोप'। यह पुस्तक केवल तीन रुपये में गुप्ता एण्ड कम्पनी, टोहाना ने प्रचारार्थ छापी थी। इस ग्रन्थ का प्रकाशन होते ही पं० मनसारामजी के नाम की धूम मच गई और उनका नाम ही 'वैदिक तोप' प्रसिद्ध हो गया।

पण्डितजी के तर्क कितने तीखे होते थे इसका आभास भटिण्डा-शास्त्रार्थ से होता है। पण्डितजी ने चार प्रश्न रक्खे—

१. सनातनधर्म में पशुवध आदिकाल से ही है या बाद की मिलावट है?
२. नाविक की पुत्री सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न व्यासजी का वर्ण पौराणिक मत के अनुसार क्या है?
३. पौराणिक मत के अनुसार सिख, जाट, स्वर्णकार और कायस्थ किस वर्ण में हैं?
४. पौराणिक मत के अनुसार दलित भाई ईसाई-मुसलमानों से अच्छे हैं वा नहीं? अच्छे हैं तो उनके साथ अच्छा व्यवहार क्यों नहीं किया जाता?

पं० मनसारामजी के प्रश्नों को सुनकर पौराणिक अधिकारी ने कहा—'मनसाराम को कान से पकड़कर बाहर निकलो!'

निर्भीक मनसारामजी तनिक भी नहीं घबराये और वहीं डटे रहे।

संगरूर-शास्त्रार्थ में मृतकश्राद्ध पर बोलते हुए पण्डितजी ने कहा—'मैं भी तो इस जन्म में कहीं से आया हूँ। यदि मृतकों को श्राद्ध का माल पहुँचता है तो मुझे क्यों नहीं मिलता? यदि श्राद्धों का माल मृतक पितरों तक पहुँचना सम्भव है तो मेरा पार्सल कहाँ जाता है?'

चोटी-सम्बन्धी विवाद छेड़कर पौराणिक आर्यसमाज पर आक्षेप करते रहे हैं। पं० मनसारामजी ने कहा—'यदि चोटी रखने से ही कोई हिन्दू बनता है तो बिना शिखा के सिख व स्त्रियाँ हिन्दू कैसे हो सकती हैं?' पौराणिकों ने कहा कि सिर पर जटाजूट रखने के कारण वे बिना शिखा के ही हिन्दू समझे जाएँगे। इसपर पण्डितजी ने कहा—'फिर तो सनातनधर्म की लुटिया ही समुद्र में डूबेगी। इस प्रकार तो ईसाई और मुसलमानों की सारी स्त्रियाँ हिन्दुओं में सम्मिलित हो जाएँगी।'

पण्डितजी विद्या के सागर थे। एक आर्यसमाज की वेदी पर वे बोलने के लिए बैठे तो श्रोताओं से पूछा—'बोले किस विषय पर बोलूँ?' श्रोता बोले—'जिसपर आप चाहें!' पण्डितजी ने कहा—'जिस भी वैदिक सिद्धान्त पर आप चाहेंगे, मैं उसी पर बोलूँगा।'

पण्डितजी राजनैतिक चटपटी बातों पर अखबारी व्याख्यान नहीं देते थे। उनके व्याख्यान सैद्धान्तिक होते थे। व्याख्यानों में प्रमाणों की बहुलता होती थी और रोचकता अन्त तक बनती रहती थी।

पण्डित मनसारामजी स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कई बार जेल में भी गये। १९२२ ई० में गाँधीजी ने पहला सत्याग्रह चलाया तो पं० मनसारामजी भी जेल गये। उन्हें हिसार जेल में रक्खा गया। अभियोग के दिनों में स्वतन्त्रता के युद्ध में आपने एक ऐसी साहसिक बात कही जो किसी भी क्रान्तिकारी के मुख से न निकली होगी। पण्डितजी को हिसार में मजिस्ट्रेट के सामने वक्तव्य के लिए लाया गया। आपने अपने मुख पर कपड़ा डाल लिया। मजिस्ट्रेट के कारण पूछने पर आपने कहा—''जिस व्यक्ति ने चाँदी के चन्द ठीकरों के लिए अपने-आपको बेच दिया हो मैं उसकी शक्ल देखना नहीं चाहता।'' यह न्यायालय का अपमान था। सत्याग्रह के साथ एक और अभियोग न्यायालय की मानहानि [Contempt of Court] भी चला। यह अभियोग बहुत लम्बा चला।

पण्डितजी ने साहित्य भी बहुत लिखा है। उनका सारा साहित्य खोजपूर्ण है। पौराणिकों के खण्डन में इस साहित्य से उत्तम साहित्य नहीं लिखा गया। उनके कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—

१. पौराणिक पोलप्रकाश—यह पाठकों के हाथ में है।
२. पौराणिक पोप पर वैदिक तोप। उर्दू में लिखा हुआ १२२४ पृष्ठ का बेजोड़ ग्रन्थ है।
३. चेतावनी प्रकाश—इसमें वैदिक सिद्धान्तों का मण्डन और पौराणिक मत का खण्डन किया गया है।
४. पौराणिक दम्भ पर वैदिक बम्ब—इसमें पौराणिकों के आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर है।

शिवपुराण आलोचना, भविष्यपुराण आलोचना, आदि और भी अनेक ग्रन्थ पण्डितजी ने लिखे थे।

आज दुर्भाग्य से वे सभी अप्राप्य हैं।

जून सन् १९४१ में पण्डितजी परलोक सिधार गये। उस समय वे बड़लाढा मण्डी, जिला हिसार में अपने भाँजों के पास थे। उन्हें कारबंकल फोड़ा निकल आया और यही उनकी मृत्यु का कारण बना।

पण्डितजी का पार्थिव शरीर नहीं रहा, परन्तु उनका यशरूपी शरीर अजर और अमर है। अपने विशिष्ट गुणों और साहित्य के रूप में वे सदा अमर रहेंगे।

विषय-सूची

॥ओ३म्॥

पौराणिक पोलप्रकाश

(१) मृत्युञ्जय आर्यसमाज

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ —अथर्व० १०।८।३२

अर्थ—मनुष्य समीप रहनेवाले परमात्मा अथवा अपने आत्मा को नहीं देखता है। उस पास रहनेवाले को छोड़ भी नहीं सकता। हे मनुष्य! ईश्वर के काव्य वेद को देख, वह न पुराना होता है और न मरता है।

आत्मा और परमात्मा इतने सूक्ष्म हैं कि बिना विशेष ज्ञान के उनके दर्शन होने असम्भव हैं, किन्तु अदृश्य होने से कोई उनका त्याग भी नहीं कर सकता। उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए परमगुरु परमात्मा की रचना वेद को पढ़ना-विचारना चाहिए। प्रभु का यह काव्य (रसमय उपदेश) सदा बना रहता है, कभी विनष्ट नहीं होता, कभी पुराना नहीं होता, अर्थात् वेद परिवर्तन-परिवर्धन, न्यूनाधिकता से रहित है और उसका लोप कभी नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है, क्योंकि आर्यसमाज का मूलाधार—धर्म-पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेद है, जैसाकि आर्यसमाज के तीसरे नियम में स्पष्ट है—'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है', अतः आर्यसमाज भी ईश्वरीय ज्ञान वेद के साथ-साथ सदा ही अमर है। हाँ, पौराणिक सनातनधर्म की मृत्यु में सन्देह नहीं है, क्योंकि उसका मूलाधार—धर्मपुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेद अथवा वेदानुकूल स्मृतियाँ नहीं हैं, अपितु उसका मूलाधार अनित्य पौराणिक इतिहास है, जैसाकि गरुड़पुराण में वर्णन है—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्नाः, नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥५१॥

—गरुड० आचारकाण्ड, अध्याय १०९

अर्थ—दलील=तर्क में निश्चलता नहीं, वेदों में विरोध है, एक भी ऐसा ऋषि नहीं है कि जिसकी सम्मति भिन्न न हो। इसलिए धर्म का तत्त्व गुफ़ा में रखा हुआ है। महापुरुष जिस रास्ते से चलें वही धर्म है।

उपर्युक्त प्रमाणों से आर्यसमाज की अमर जोत तथा पौराणिक सनातन धर्म की अकाल मौत स्पष्ट है।

(२) ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥ —यजुः० अ० ३०, मं० ३

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए। जो कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, वे सब हमको प्राप्त कराइए ताकि हम अज्ञानी, वितण्डावादी पौराणिकों के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर वैदिक सिद्धान्तों का संसार में प्रचार करने में समर्थ हो सकें। ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

पौराणिक स्तुति का नमूना—

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥

—न्यायमुक्तावली, प्रथम श्लोक

अर्थ—उस नवीन मेघ के समान कान्तिवाले, गोप लोगों की स्त्रियों के कपड़े चुरानेवाले तथा संसाररूपी वृक्ष के बीजस्वरूप श्रीकृष्णजी के लिए नमस्कार हो।

गोपालो कामिनीजारश्चौरजारशिखामणिः॥ —गोपालसहस्रनाम

मातस्तातजटासु किं सुरसरित्किं शेखरे चन्द्रमाः,
किं भाले हुतभुग्लुठत्युरसि किं नागाधिपः किं कटौ।
कृत्तिः किं जघनद्वयान्तर्गतं यद्दीर्घमालम्बते,
श्रुत्वा पुत्रवचोऽम्बिका स्मितमुखी लज्जावती पातु वः॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार, पार्वतीप्रकरण

क्या मेरे पौराणिक भाइयों को इस प्रकार की ईश्वरस्तुति पढ़कर तनिक भी लज्जा नहीं आती?

(३) ईश्वर का स्वरूप

वेदों में ईश्वर को सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता वर्णन किया है, जैसाकि ऋषि दयानन्दजी ने आर्यसमाज के दूसरे नियम में प्रतिपादित किया है और यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजु:० ४०।८

अर्थ—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (**शुक्रम्**) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान् (**अकायम्**) स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर से रहित (**अव्रणम्**) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य (**अस्नाविरम्**) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित (**शुद्धम्**) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (**अपापविद्धम्**) जो पापयुक्त, पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नहीं होता (**परि, अगात्**) सब ओर से व्याप्त है, जो (**कविः**) सर्वज्ञ (**मनीषी**) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला (**परिभूः**) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला और (**स्वयम्भूः**) अनादिस्वरूप; जिसकी संयोग से उत्पत्ति; वियोग से विनाश; माता, पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि और मरण नहीं होते वह परमात्मा (**शाश्वतीभ्यः**) सनातन, अनादिस्वरूप अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित (**समाभ्यः**) प्रजाओं के लिए (**याथातथ्यतः**) यथार्थभाव से (**अर्थान्**) वेद द्वारा सब पदार्थों को (**व्यदधात्**) विशेषकर बनाता है (**सः**) वही परमेश्वर तुम लोगों के उपासना करने योग्य है।

इसी प्रकार अनेक वेदमन्त्र ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए ईश्वर को निराकार प्रतिपादित करते हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार वर्णन करता हो, क्योंकि साकार होने से ईश्वर एकदेशी हो जाता और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ आदि गुणों के अभाव से वह ईश्वर कहलाने के योग्य ही नहीं रहता, अतएव वेद का सर्वतन्त्र सिद्धान्त यही है कि ईश्वर निराकार है। इसके विपरीत पुराणों में ईश्वर को जन्म धारण करनेवाला, शरीरधारी वर्णन

किया गया है, जैसाकि—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

—भागवत० स्कं० १ अध्याय ३ श्लोक १

अर्थ—आदि में सृष्टि को पैदा करने की इच्छा से परमात्मा ने षोडशकला-सम्पूर्ण महानादि के साथ होनेवाले मनुष्य के रूप को धारण किया। इत्यादि।

अष्टादश पुराणों में अनेक स्थानों पर ईश्वर के विविध प्रकार के अवतारों [पागलपन] का वर्णन है, जोकि वेद के सर्वथा विरुद्ध और मिथ्या है, किन्तु पौराणिक पण्डितों के सिर पर आजकल एक ख़ब्त सवार हो रहा है कि वे ईश्वर के साकार होने के कलंक को वेदों के मत्थे मढ़ने की कोशिश में लगे हुए हैं। कहीं पर वेदों के नाम से अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण देकर जनता को भ्रम में फँसाते हैं तो कहीं किसी ग्रन्थ का अपूर्ण प्रमाण देकर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं, कहीं पर वेदमन्त्र का मनमाना अर्थ करके उससे ईश्वर को साकार सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सारांश यह है कि लोग धर्म-अधर्म के विचार को तिलाञ्जलि देकर वेदविरुद्ध सिद्धान्तों को पुष्ट करने के प्रयत्न में आत्महत्या के भागी बनते हैं। इसका प्रमाण आपको अगले प्रश्न के उत्तर में मिलेगा।

ब्रह्म के दो रूप

(४) प्रश्न—वेद कहता है कि—

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्चेत्यादि।

—शतपथ० कां० १४, अ० १, ब्रा० २, श्रुति० १८

प्रजापति (ईश्वर) दो प्रकार का है—रूपवान् और अरूप (साकार और निराकार)।

उत्तर—(१) प्रथम तो इस प्रश्न में आपने वेद तथा श्रुति का नाम लेकर शतपथब्राह्मण का प्रमाण देकर पाठकों को भ्रम में डालने का यत्न किया है। शतपथ वेद नहीं है अपितु ब्राह्मणग्रन्थ है और वह परतःप्रमाण है।

(२) दूसरे, वेद के नाम से शतपथ का प्रमाण पेश करना इस बात को सिद्ध करता है कि आप वेद में से कोई ऐसा मन्त्र पेश नहीं कर सकते जो ईश्वर को साकार सिद्ध कर सके।

(३) यहाँ शतपथ में भी ईश्वर का प्रकरण नहीं है, अपितु यज्ञ का प्रकरण है। आपने अधूरा पाठ लिखकर और 'ईश्वर' शब्द को अपनी ओर से मिलाकर अर्थ का अनर्थ किया है, जोकि सत्य-शील विद्वानों को शोभा नहीं देता। लीजिए, हम शतपथ का पूरा पाठ लिखकर उसका अर्थ कर देते हैं ताकि जनता को आपकी चालाकी का पता लग जावे। शतपथ में पाठ इस प्रकार है— [कोष्ठक में लिखे पाठ को आपने चुरा लिया है।]

(प्रजापतिर्वाऽएष यज्ञो भवति)। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्यैतेन संस्करोत्यथ यत्तूर्ष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्यैतेन संस्करोति (स ह वाऽएतं सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति यऽएवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः॥१८॥) —शतपथ० का० १४, अ० १, ब्रा० २, मं० १८

पुस्तक में पाठ इस प्रकार है, जिसको पहले और पीछे से छोड़कर आपने बीच का पाठ दे दिया है। पूर्व के पाठ ये स्पष्ट है कि प्रजापति यज्ञ का नाम है, ईश्वर का नाम नहीं है। सम्पूर्ण पाठ का अर्थ इस प्रकार है—

अर्थ—प्रजापति यह यज्ञ है। यह प्रजापति यज्ञ दो प्रकार का है—रूपवान् और अरूप, परिमित और अपरिमित। वह जो यजुर्वेद के मन्त्रों से किया जाता है (अर्थात् जो यज्ञ में वेदी, पात्र, सामग्री, घृत, समिधा, याजक आदि) वह इस यज्ञ का कथनयोग्य परिमित रूप है और जो वह उनसे संस्कार किया हुआ यज्ञ है (अर्थात् जो अग्नि द्वारा सूक्ष्म होकर वायु, जल, आकाश आदि में फैल चुका है) उसके बारे में चुप ही होना पड़ता है। वह उस यज्ञ का न कथन करने योग्य अपरिमित रूप है। वह उस यज्ञ का उनसे किया संस्कार है। वह जो निश्चय से इस सम्पूर्ण यज्ञ को जानता है और जो इस यज्ञ का इस प्रकार से संस्कार करता है, वह उपशाय नामक क्रिया से भोजन को बचाकर प्रायश्चित्त के लिए रखता है॥ १८॥

अब कृपया पक्षपात को छोड़कर बतलावें कि शतपथ में यह यज्ञ के दो रूपों का वर्णन है या ईश्वर के दो रूपों का। ईश्वर की निराकारता वेदानुकूल होने से प्रमाण तथा सत्य और साकारता वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण तथा मिथ्या है।

(५) प्रश्न—ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और ब्रह्माण्ड के बाहर भी व्यापक है। ईश्वर दुनिया से बहुत बड़ा है। **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।** —यजुः० ३१। ३ 'इस ब्रह्म के एक पाद में समस्त ब्रह्माण्डों की रचना है और इसी ब्रह्म के तीन पाद दिव में अमृत (सृष्टिरहित) हैं।' वेद ने हमको यह समझा दिया कि ईश्वर के एक हिस्से में तो दुनिया बनी है और ईश्वर के तीन हिस्से ऐसे हैं, जहाँ पर दुनिया नहीं बनी। ईश्वर के जिन तीन हिस्सों में संसार नहीं बना या यों कहिए कि तत्त्वों की रचना नहीं हुई, वहाँ पर ईश्वर निराकार है, किन्तु ईश्वर के जितने अंश में अनेक ब्रह्माण्ड बन गये उतने अंश में वेद ईश्वर को साकार बतलाते हैं।

उत्तर—वेद तो ईश्वर को साकार नहीं बतलाता, किन्तु आप वेदमन्त्र के अर्थ को तोड़-मरोड़कर साकार सिद्ध करने के यत्न में हैं और इसी कारण से आपने वेद का पूरा मन्त्र नहीं दिया, आधा मन्त्र दिया है। यदि आप पूरे मन्त्र को पढ़ेंगे तो आपको पता लगेगा कि वेद का अभिप्राय ईश्वर की महान् महिमा का और वर्त्तमान जगत् को ईश्वर की अपेक्षा अत्यन्त अल्प वर्णन करने का है, वरना अनन्त तथा सर्वव्यापक परमात्मा में अंश कल्पना नहीं की जा सकती। पूरा मन्त्र तथा उसका अर्थ इस प्रकार है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ —यजुः० ३१। ३

अर्थ—हे मनुष्यो! **(अस्य)** इस जगदीश्वर का **(एतावान्)** यह दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड **(महिमा)** महत्त्वसूचक है **(अतः)** इस ब्रह्माण्ड से यह **(पुरुषः)** परिपूर्ण परमात्मा **(ज्यायान्)** अति प्रशंसति और बड़ा है **(च)** और **(अस्य)** इस ईश्वर के **(विश्वा)** सब **(भूतानि)** पृथिवी आदि चराचर जगत् एक **(पादः)** अंश है और **(अस्य)** इस जगत्-स्रष्टा का **(त्रिपाद्)** तीन अंश **(अमृतम्)** नाशरहित महमिा **(दिवि)** द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है॥ ३॥

भावार्थ—सूर्य-चन्द्रादि सब लोक-लोकान्तर और चराचर जितना जगत् है, वह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्त्व को सिद्ध कर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप से तीनों काल में घटने-बढ़ने से परमेश्वर के एक चतुर्थांश में ही रहता है, इस ईश्वर के चौथे अंश की भी अवधि को नहीं पाता और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशी, मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं॥ ३॥

इस कथन से ईश्वर का अनन्तपन नहीं बिगड़ता, किन्तु जगत् की अपेक्षा उसका महत्त्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है।

हमारे इसी कथन की पुष्टि महीधरजी भी करते हैं। वे लिखते हैं—

यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।

—महीधरभाष्य, यजुः० ३१।३

अर्थ—यद्यपि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है' इत्यादि वेद से प्रतिपादित परब्रह्म के परिमाण के अभाव से उसके चार पाद का निरूपण करना अशक्य है, तथापि यह जगत् ब्रह्म की अपेक्षा अल्प है, यह कहने की इच्छा के कारण पादत्व की कल्पना की है॥ ३॥

अब आप कृपया यह बतलावें कि जब परमात्मा ब्रह्माण्ड के अन्दर तथा बाहर व्यापक है और ब्रह्माण्ड व्याप्य है तो व्याप्य ब्रह्माण्ड के साकार होने से व्यापक परमात्मा भी साकार हो गया, यह कौनसी युक्ति और दलील है। क्या आप कोई ऐसा प्रमाण दे सकते हैं कि जिससे यह सिद्ध हो कि व्याप्य के साकार होने से व्यापक भी साकार हो सकता है? आपकी यह कल्पना सर्वथा वेदविरुद्ध और असत्य है तथा ईश्वर का निराकार होना ही वेदानुकूल और सत्य है।

तीन प्रकार की साकारता

(६) प्रश्न—ईश्वर व्याप्य-व्यापकत्व, सर्वस्वरूपत्व, अवतारत्व—इन तीन प्रकारों से साकार है।

उत्तर—व्याप्य के साकार होने से व्यापक को साकार नहीं माना जा सकता। ईश्वर इस जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है; उपादानकारण प्रकृति है और ईश्वर के अवतार का वेद ने **'अकायम्'** कहकर स्वयं ही खण्डन कर दिया है, अतः आपकी तीनों प्रकार की साकारता वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

व्याप्य-व्यापकत्व साकारता

(७) प्रश्न—एक पण्डित मोहनलाल सज्जन हैं। वास्तव में तो यह फ़र्ज़ी पण्डित मोहनलाल नामशून्य, रूपशून्य, निराकार जीव हैं, निराकार होने पर भी अब यह साढ़े तीन हाथ के शरीर में व्यापक हो गये हैं। यह व्यापक हैं, शरीर व्याप्य है, इसी कारण इनका यह शरीर है, क्योंकि यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि 'व्यापक का व्याप्य शरीर होता है' यह शरीर इनका है, घसीटु धोबी का नहीं है, क्योंकि जिसका कल्पित नाम घसीटु धोबी है, वह आत्मा इस शरीर में व्यापक नहीं है, दूसरे शरीर में व्यापक है। जिस शरीर में घसीटु धोबी नामक आत्मा व्यापक है, वह शरीर घसीटु धोबी का है। इसी प्रकार देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त आदि नामवाले आत्मा जिस-जिस शरीर में व्यापक हैं, वह-वह उनका शरीर है। अब उत्तम रीति से सिद्ध हो गया कि व्याप्य व्यापक का शरीर होता है।

उत्तर—पण्डित मोहनलाल जीव का नाम नहीं है, क्योंकि 'पण्डित मोहनलाल का जीव निकल गया' ऐसा कहा जाता है और न ही शरीर का नाम पण्डित मोहनलाल है, क्योंकि 'पण्डित मोहनलाल के शरीर को जला दिया' ऐसा कहने में आता है, अतः जीव और शरीर के संयोग का नाम पण्डित मोहनलाल है। जीव शरीर में व्यापक नहीं है, अपितु, एकदेशी है और वह हृदय में रहता है। यदि आप जीव को शरीर में व्यापक मानेंगे तो पुनर्जन्म-अनुसार हाथी का जीव कीड़ी के शरीर में जावेगा तो उसको सुकड़ना पड़ेगा, और कीड़ी का जीव हाथी के शरीर में जावेगा तो उसको फैलना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जीव में संकोच-विकास होने के कारण जीव अनित्य हो जावेगा। व्यापक का व्याप्य शरीर नहीं होता अपितु शरीर शब्द उसमें लाक्षणिक रूप से प्रयोग किया जाता है, क्योंकि शरीर का लक्षण करते हुए न्यायदर्शन में लिखा है कि—

'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।' —न्यायदर्शन १।१।११

अर्थ—जो चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय हो उसका नाम शरीर है, अर्थात् जिसमें चेष्टा

हो उसका नाम शरीर है। वायु में चेष्टा होने के कारण उसका नाम शरीर न हो जावे, अत: बताया कि जिसमें चेष्टा तथा इन्द्रियाँ दोनों हों उसका नाम शरीर है। तमाशे की कठपुतली में चेष्टा और इन्द्रियाँ दोनों होने के कारण उसका नाम शरीर न हो जावे, इसलिए बतलाया कि जिसमें चेष्टा और इन्द्रियाँ भी हों तथा उन इन्द्रियों के द्वारा दु:ख-सुख, रूप-रस आदि अर्थों का ग्रहण भी किया जाता हो उसका नाम शरीर है। जहाँ इन तीनों बातों में से एक का भी अभाव होगा उसका नाम वास्तविकरूप से शरीर न होगा, अपितु लाक्षणिक रूप से उसमें शरीर शब्द का प्रयोग होगा। न्यायदर्शन १।१।९ के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि '**भोगायतनं शरीरम्**' जिसमें रहकर जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है, उसका नाम शरीर है, अतएव यह लक्षण सर्वथा अशुद्ध है कि 'व्याप्य व्यापक का शरीर होता है।'

(८) प्रश्न—तुम्हारा ईश्वर व्यापक है और पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश व्याप्य हैं। इस कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तुम्हारे ईश्वर के शरीर हैं।

उत्तर—न तो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँचों तत्त्व चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय हैं और न ही ईश्वर इन पाँचों तत्त्वों के द्वारा दु:ख-सुख आदि कर्मों के फल को भोगता है, अत: इन पाँचों तत्त्वों को ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकता।

(९) प्रश्न—इसी बात को शतपथ १४।६।७ में '**य: पृथिव्यां तिष्ठन्**' इत्यादि पाँच मन्त्रों द्वारा पृथिवी आदि पाँचों तत्त्वों को ईश्वर का शरीर वर्णन किया है। जब समस्त संसार ईश्वर का शरीर हो गया तो फिर ईश्वर निराकार कैसे रहा? इससे सिद्ध है कि ईश्वर व्याप्य-व्यापकभाव से साकर है।

उत्तर—इस स्थान में शतपथ में पाँच मन्त्रों द्वारा नहीं अपितु ७ से लेकर ३१ तक २५ मन्त्रों द्वारा पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु आदित्य, चन्द्र, तारा, दिशा, विद्युत्, स्तनयित्नु, सर्वलोक, सर्ववेद, सर्वयज्ञ, सर्वभूत, प्राण, वाग्, चक्षु, श्रोत्र, मन:, त्वचा, तेज, तम:, रेत:, आत्मा, इत्यादि में ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हुए लाक्षणिक रूप से इन वस्तुओं को ईश्वर का शरीर वर्णन किया है, जैसेकि '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' [यजुर्वेद ३१।११] में भी लाक्षणिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को परमात्मा के शरीर के अङ्ग मुख, बाहु, ऊरू, पादरूप में वर्णन किया है। इन वर्णनों से प्रभु की व्यापकता प्रतिपादन करना ही अभिप्राय है। ये वस्तुएँ वास्तव में परमात्मा का शरीर नहीं है, क्योंकि इन वस्तुओं को वास्तव में परमात्मा का शरीर मानने से प्रथम तो वेद से विरोध आवेगा, क्योंकि यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ८ में स्पष्ट शब्दों में '**अकायम्**' शब्द से परमात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीरों से रहित वर्णन किया है। ऐसी सूरत में वेद के मुक़ाबले में शतपथ का प्रमाण कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि वेद स्वत:प्रमाण और शतपथब्राह्मण परत:प्रमाण है, अत: शतपथ के इस लेख को वेदविरुद्ध होने से मिथ्या ही मानना पड़ेगा। दूसरे, इन वस्तुओं में वास्तविक शरीर के लक्षण मौजूद नहीं हैं। क्या आप यह मानते हैं कि ये वस्तुएँ चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय हैं, अर्थात् परमात्मा जीवात्मा की भाँति इन वस्तुओं द्वारा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, शब्द, सुख-दु:ख आदि भोगों को अनुभव करता है? यदि नहीं तो फिर ये वस्तुएँ परमात्मा का वास्तविक शरीर कैसे मानी जा सकती हैं? शतपथ के इन मन्त्रों का यह अभिप्राय है कि परमात्मा उपर्युक्त सब वस्तुओं में व्यापक है और ये वस्तुएँ अज्ञान के कारण परमात्मा को नहीं जानतीं। ये वस्तुएँ परमात्मा के शरीरवत् हैं, अर्थात् जैसे जीवात्मा शरीर के अन्दर बैठा हुआ शरीर को नियमपूर्वक चलाता है, वैसे ही परमात्मा इन सब वस्तुओं में रहता हुआ उनको नियमपूर्वक चलाता है और अपनी अनन्त शक्ति से इन सब पदार्थों को धारण कर रहा है। वही परमात्मा अमृत, अन्तर्यामी है। इससे सिद्ध हुआ कि व्यापक

परमात्मा निराकार और व्याप्य संसार साकार है।

सर्वस्वरूपत्व साकारता

(१०) प्रश्न—सृष्टि में जितने आकार हैं, वे सब ब्रह्म के स्वरूप हैं। समस्त रूप ब्रह्म के रूप से बने हैं और अन्त में समस्त ही रूप ईश्वर में लय होंगे।

उत्तर—आपका यह कथन वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है, क्योंकि संसार में जितने स्थूल पदार्थ हैं, वे प्रकृति के स्वरूप हैं, ब्रह्म के नहीं, अर्थात् इस संसार का उपादानकारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि यदि इस सृष्टि का उपादानकारण ब्रह्म को माना जावे तो **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।'** [वैशेषिक० २।१।२४] अर्थात् उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं, इस नियम से ब्रह्म के चैतन्यता, सर्वज्ञता आदि गुण पृथिवी आदि समस्त पदार्थों में विद्यमान होने चाहिएँ, या यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म में भी जड़ता आदि गुण विद्यमान हैं, अतः सिद्ध हुआ कि सृष्टि का उपादानकारण प्रकृति, निमित्तकारण ब्रह्म तथा साधारणकारण जीव है। ये तीनों ही अनादि हैं, जैसाकि वेद ने स्पष्टरूप से वर्णन किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० २०

अर्थ—ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, व्याप्य-व्यापकभाव से संयुक्त, परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं और वैसा ही अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो सूक्ष्म होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ—इन तीनों के गुण-कर्म-स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर, अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव, और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तथा तीनों अनादि हैं। इससे सिद्ध है कि इस सृष्टि का न ब्रह्म उपादानकारण है और न ही यह सृष्टि ईश्वर में लय होगी।

(११) प्रश्न—जब हम पृथिवी के बनने की खोज उठाते हैं, तो पता चलता है कि पृथिवी जल से बनी है, वास्तव में पृथिवी कोई चीज़ नहीं है। पृथिवी की सत्ता कोई भिन्न सत्ता नहीं है, किन्तु जल-सत्ता का कठिन रूप पृथिवी कहलाती है।

उत्तर—हम ऊपर वेद का प्रमाण देकर सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति अनादि है और सूक्ष्म परमाणुरूप पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पाँच सूक्ष्म तत्त्वों का नाम ही प्रकृति है। इनमें से कोई एक-दूसरे से नहीं बना अपितु, प्रथम चार के सूक्ष्म परमाणु तथा आकाश ये पाँचों तत्त्व सूक्ष्म रूप से अनादि, हैं। पृथिवी का स्वाभाविक गुण **'व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः'** [वै० २।२।२] गन्ध है, तथा जल का स्वाभाविक गुण **'अप्सु शीतता'** [वै० २।२।५] शीतलता है। यदि जल से ही पृथिवी बनी है, तो पृथिवी में गन्ध गुण कहाँ से आ गया, क्योंकि जल में तो गन्ध मौजूद नहीं था। यदि कहो कि अभाव से भाव हो गया तो यह बात असम्भव है, क्योंकि **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'**—भगवद्गीता २।१६। अभाव से भाव तथा भाव से अभाव नहीं होता, अतः सिद्ध हुआ कि पृथिवी जल से नहीं बनी, अपितु पृथिवी तत्त्व स्वतन्त्र अनादि काल से वर्त्तमान है और जल का कठिन रूप भी बर्फ की शकल में ही बन सकता है, पृथिवीरूप में नहीं बन सकता।

(१२) प्रश्न—अग्नि में संचलन उत्पन्न होने से जल बनता है, अग्नि का रूपान्तर ही जल है।

उत्तर—आपकी यह बात वेद तथा शास्त्र के विरुद्ध होने से अप्रमाण है, क्योंकि जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है और अग्नि का स्वाभाविक गुण **'तेजो रूपस्पर्शवत्'** [वै० २।१।३] रूप है और अग्नि में स्पर्श वायु के योग से है। यदि अग्नि से ही जल बना है तो जल में शीतलता कहाँ से आई, जबकि अग्नि में शीतलता मौजूद नहीं है और अभाव से भाव का होना असम्भव है? इससे सिद्ध हुआ कि जल की उत्पत्ति अग्नि से नहीं हुई। अपितु जल तत्त्व स्वतन्त्रता से अनादिकाल से मौजूद है। वह अग्नि का रूपान्तर नहीं है।

(१३) प्रश्न—दो विरुद्ध धर्मवाले वायु के मिलने से अग्नि उत्पन्न होता है, अग्नि कोई पृथक् चीज़ नहीं है। वायु का दूसरा रूप ही अग्नि है।

उत्तर—आपकी यह बात भी वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है। कृपया यह तो बतलावें कि वे विरुद्ध गुणवाले दो वायु कौन-कौन-से हैं जिनसे अग्नि की उत्पत्ति होती है और इसमें किस वेदशास्त्र का प्रमाण है, क्योंकि वैशेषिक शास्त्र में तो एक ही प्रकार का **'स्पर्शवान् वायुः।'** [वै० २।१।४] ऐसा लिखा है। वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है। यदि वायु से ही अग्नि बना है तो अग्नि का जो स्वाभाविक गुण रूप है वह कहाँ से आया जबकि वायु में रूपगुण मौजूद ही नहीं है, और अभाव से भावका होना असम्भव है? इससे सिद्ध है कि वायु का ही रूपान्तर अग्नि नहीं है, अपितु अग्नि पृथक् तत्त्व अनादिकाल से मौजूद है।

(१४) प्रश्न—आकाश के जो सूक्ष्म परमाणु हैं उनमें जब संचालनशक्ति उत्पन्न होती है तो आकाश के सूक्ष्म परमाणु कुछ कठोर हो जाते हैं और वे धक्का देने लगते हैं। इसी का नाम वायु है। प्रत्यक्ष में आप हाथ में पंखा ले-लीजिए और उसको हिलाइए, पंखे के हिलने से आकाश के परमाणुओं में संचालनशक्ति उत्पन्न हो जावेगी। वे परमाणु धक्का देंगे, वही वायु कहलावेगा। सिद्ध हुआ कि वायु कोई भिन्न सत्तावाला पदार्थ हीं है, किन्तु आकाश का रूपान्तर है।

उत्तर—धन्य हो महाराज! यहाँ पर तो आपने फ़िलासफ़ी की टाँग ही तोड़ दी। वह कौन-सा वेद तथा शास्त्र है जो आकाश के परमाणु मानता है? या यह नया शास्त्र आपके ही कार्यालय से कल्पित होने लगा है? श्रीमान्जी! आकाश के परमाणु नहीं होते; आकाश तो अवकाश अर्थात् पोल का नाम है। पंखे के हिलाने से आकाश के परमाणु हरकत में नहीं आते, अपितु आकाश में जो सूक्ष्मरूप से वायु भरा हुआ है, वही पंखे के चलाने से इकट्ठा हो जाता है। यदि आकाश में वायु न हो तो पंखा न चलानेकी सूरत में भी जो आपको साँस आ रहा है, वह कहाँ से आता है? क्या कहीं आकाश के परमाणु ही तो अन्दर नहीं चले जाते? पक्षपात भी बुरी बला है। इन्सान को अन्धा कर देता है। न आकाश के परमाणु होते हैं, न ही उनमें हरकत होने तथा कठोर होने से वायु पैदा होती है, अपितु वायु एक पृथक् तत्त्व अनादिकाल से मौजूद है। यदि आकाश से ही वायु की पैदाइश मानी जावे तो वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है तथा **'त आकाशे न विद्यन्ते।'** [वै० २।१।५] रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श आकाश में नहीं है, किन्तु शब्द ही आकाश का गुण है। फिर स्पर्श गुण वायु में कहाँ से आया जबकि अभाव से भाव होता ही नहीं? अतः आपकी सम्पूर्ण कल्पना मिथ्या और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण है।

(१५) प्रश्न—सर्वोपरि विज्ञान वैदिक ज्ञान बतलाता है कि वह जो निराकार ब्रह्म है, जहाँ पर सृष्टि नहीं है, जिसको अमृत कहा है, उससे और यह जो दृश्य ब्रह्माण्डरूप ईश्वर है—इससे आकाश उत्पन्न होता है।

उत्तर—महाशयजी! यहाँ पर तो आप चौकड़ी ही भूल गये। आप वर्णन तो कर रहे हैं आकाश की उत्पत्ति का और वायु, अग्नि, जल, पृथिवी अभी पैदा ही नहीं हुए, क्योंकि वे तो आपके सिद्धान्त-अनुसार आकाश से ही क्रमशः पैदा होने हैं। फिर वह दृश्य ब्रह्माण्ड कहाँ से

आ गया जिसको निराकार ब्रह्म से मिलाकर आकाश की उत्पत्ति कर रहे हैं? क्या यहाँ '**अन्योऽन्याश्रयदोष**' तो नहीं आता? क्या आपका यही सर्वोपरि विज्ञान वैदिक ज्ञान है? कृपया वेदों को भी अपनी मिथ्या कल्पनाओं से कलंकित न कीजिएगा। यदि आप ब्रह्म से ही आकाश की पैदाइश मानते हैं, तो बतलावें कि आकाश में जड़त्व कहाँ से आया, क्योंकि ब्रह्म तो चेतन है और अभाव से भाव होता नहीं। या यह मानें कि ब्रह्म भी जड़ है? सारांश यह कि आपकी सम्पूर्ण कल्पनाएँ सर्वथैव मिथ्या हैं। आकाश ब्रह्म से पैदा नहीं हुआ, अपितु आकाश एक पृथक् पदार्थ अनादिकाल से मौजूद है।

(१६) प्रश्न—अब सिद्ध हो गया कि संसार में जितने रूप हैं वे सब ब्रह्म के रूप से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध है कि ईश्वर सर्वस्वरूपत्वभाव से साकार है।

उत्तर—अब सिद्ध हो गया कि संसार में जितने रूप हैं वे सब अनादि प्रकृति के रूप हैं, ब्रह्म के नहीं, क्योंकि ब्रह्म और जीव से भिन्न अनादि प्रकृति संसार में मौजूद है। हमारे दिये हुए वेदमन्त्र तथा सिद्धान्त की पुष्टि अनेक प्रमाणों से होती है। उदाहरणार्थ '**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**' [श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ६, मं० ८] परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उस परमात्मा का कोई कारण भी नहीं है। पाँच तत्त्वों का नाम प्रकृति है। उनमें से आकाश तो अनादि, नित्य, एकरस है तथा वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये चारों प्रत्येक दो प्रकार के हैं—एक तो कारणरूप जो सूक्ष्म तथा अनादि हैं, दूसरे कार्यरूप स्थूल जो दृश्य हैं, वे अनित्य हैं। जैसे—

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च॥ २॥
एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्॥ ३॥ —वै० ७।१।२,३

अर्थ—जो कार्यरूप पृथिव्यादि और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण हैं, ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं॥ २॥ इससे कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में जो गन्धादिगुण हैं, वे नित्य हैं॥ ३॥ '**सदकारणवन्नित्यम्**' [वै० ४।१।१] जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो वह नित्य है, अतः ये सब रूप पाँच तत्त्वस्वरूप अनादि प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा निराकार है। सर्वस्वरूपत्वभाव से साकार नहीं है।

(१७) प्रश्न—वेद में '**तस्मादेतस्मादात्मनः**' इत्यादि [तैत्ति० १ ब्रह्मा० वल्ली अनु० १] आता है कि उस अदृश्य ब्रह्म से तथा इस दृश्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई।

उत्तर—प्रथम तो आपने वेद का नाम लेकर तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रमाण देकर जनता को धोखे में डाला है, क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् स्वतःप्रमाण नहीं हैं। दूसरे आपने यह मन्त्र भी पूरा नहीं दिया अधूरा दिया है। तीसरे, आप आकाश की उत्पत्ति से पूर्व दृश्य ब्रह्म पता नहीं कहाँ से ले-आये। हाँ, यदि दृश्य ब्रह्म से आपका अभिप्राय अनादि प्रकृति से हो तो फिर आपके मत से ईश्वर की सर्वस्वरूपता खटाई में पड़ जाती है। चौथे, आपने 'योग्यता' का ध्यान न रखते हुए सब स्थानों में पंचमी विभक्ति का अर्थ 'से' ही लगाया है, हालाँकि पञ्चमी का अर्थ 'पश्चात्' भी होता है। इस प्रकार से आपका लेख सर्वथा दूषित और वेदविरुद्ध है। हम इस प्रमाण का पूरा पाठ और वेदानुकूल अर्थ नीचे दर्ज करते हैं, ध्यानपूर्वक पढ़िए—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्यो अन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥
—तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १

भावार्थ—उस (निमित्तकारण) परमेश्वर और (उपादानकारण) प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता

है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना अवकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रमाण से आपकी सर्वस्वरूपता से ईश्वर की साकारता की सिद्धि सर्वथा असम्भव है।

(१८) प्रश्न—पुष्पदन्त ने भी **'त्वमर्कस्त्वं सोमः'** इत्यादि लेख से सूर्य-चन्द्रमा आदि को ईश्वर ही बतलाया है।

उत्तर—कहिए महाराज! आपने इस पुष्पदन्त के लेख को वेद के नाम से क्यों दर्ज नहीं किया। आपने तो ऐरा-ग़ैरा नत्थू ख़ैरा प्रत्येक के लेख को वेद कहने का ठेका ले-रक्खा है, फिर पुष्पदन्त के लेख पर यह क्रूर दृष्टि क्यों? अच्छा, अब यह बतलाने की कृपा करें कि यह पुष्पदन्तजी हैं कौन? क्या यह कोई पौराणिक ऋषि हैं या कोई सनातनधर्म के अवतार हैं? यदि यह कुछ भी नहीं तो फिर इनका लेख वेद के मुक़ाबले में क्या हैसियत रखता है, अतः हम इसपर कुछ लिखकर अपने काग़ज़ और स्याही का दुरुपयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं समझते।

(१९) प्रश्न—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र १ में भी **'तदेवाग्निस्तदादित्यः'** इत्यादि मन्त्र से अग्नि, सूर्य आदि को ब्रह्म ही वर्णन किया है।

उत्तर—आपको जो सूझती है उलटी ही सूझती है। इस मन्त्र में अग्नि, सूर्य आदि को ब्रह्म नहीं बतलाया अपितु यह बतलाया है कि परमेश्वर में अनेक गुण होने के कारण अग्नि, आदित्य आदि ईश्वर के अनेक नाम हैं। देखिए—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ —यजुः० ३२।१

पदार्थ—हे मनुष्यो! **(तत्)** वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्ता और सबका अन्तर्यामी **(एव)** ही **(अग्निः)** ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि **(तत्)** वह **(आदित्यः)** प्रलय-समय सबको ग्रहण करने से आदित्य **(तत्)** वह **(वायुः)** अनन्त बलवान् और सबका धारक होने से वायु है। **(तत्)** वह **(चन्द्रमाः)** आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा **(तत् एव)** वही **(शुक्रम्)** शीघ्रकारी वा शुद्धभाव से शुक्र **(तत्)** वह **(ब्रह्म)** महान् होने से ब्रह्म **(ताः)** वह **(आपः)** सर्वत्र व्यापक होने से आपः **(उ)** और **(सः)** वह **(प्रजापतिः)** सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है, ऐसा तुम लोग जानो।

यहाँ पर ईश्वर के अनेक नामों का वर्णन होने से साकारता की गन्ध भी नहीं है।

(२०) प्रश्न—यह समस्त संसार ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, और इस संसार का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** ईश्वर है, अतएव संसार में छोटे-बड़े जितने रूप हैं, वे सब ईश्वर के रूप हैं।

उत्तर—इस संसार का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** ईश्वर नहीं है, अपितु इस संसार का उपादानकारण प्रकृति है और ईश्वर निमित्तकारण तथा जीव साधारणकारण है। प्रकृति की नित्यता तथा उपादानकारण होने को वेद इस प्रकार से वर्णन करता है—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥

—अथर्व० १०।८।३०

भावार्थ—यह सदा रहनेवाली नित्य प्रकृति सदा ही कार्य उत्पन्न करती रहती है, यह पुराणी

प्रकृति सब कार्यों में पूर्णतया रहती है। यह बड़ी तथा कान्तिमयी है तथा कमनीय पदार्थों को विशेष रीति से प्रकाशित करनेवाली है। वह प्रकृति प्रत्येक गतिशील जीव के साथ अपने स्वरूप का कथन कर रही है।

सिद्ध हुआ कि संसार में छोटे-बड़े जितने रूप हैं वे सब प्रकृति के हैं, ईश्वर के नहीं हैं।

(२१) प्रश्न—'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे' इत्यादि बृहदारण्यक में भी इस तत्त्वात्मक जगत् को ब्रह्म का रूप बतलाया है। —पृ० १६०, मं० १७

उत्तर—यहाँ पर ब्रह्म नाम ईश्वर का नहीं है, अपितु प्रकृति से बने हुए जगत् का नाम ब्रह्म है। यह बात पुस्तक के पाठ से स्पष्ट हो जाती है। जैसे—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च। तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षात्।
अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षम्॥ —बृह० अ० २, कं० १-३

अर्थ—उपादानकारण प्रकृति से निमित्तकारण ब्रह्म ने जो जगत् पैदा यिा है, उसके दो रूप हैं—एक मूर्त्त, दूसरा अमूर्त्त। वह यह मूर्त्त है जो वायु और आकाश से भिन्न है, अर्थात् पृथिवी, जल तथा अग्नि मूर्त्त हैं, और वायु तथा आकाश अमूर्त्त।

प्रथम, यहाँ पर पृथिवी, जल, अग्नि को साकार तथा वायु और आकाश को निराकार वर्णन करने से स्पष्ट है कि बृहदारण्यक ने प्रकृति के ही दो रूप वर्णन किये हैं, ब्रह्म के नहीं।

दूसरे, आपने बृहदारण्यक के पाठ को श्रुति अर्थात् वेद के नाम से लिखकर बड़ा अनर्थ किया है, क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् है वेद नहीं हैं, और परत:प्रमाण है।

तीसरे, आपने पृ० १५६ पं० ३ तथा ७ में लिखा है कि 'ईश्वर के जिन तीन हिस्सों में तत्त्वों की रचना नहीं हुई वहाँ पर ईश्वर निराकार है और ईश्वर के जितने अंश में ब्रह्माण्ड बन गये उतने अंश में ईश्वर साकार है।' इस लेख के अनुसार भी यहाँ पर कार्यरूप जगत् का ही वर्णन है। हाँ, आपके दोनों लेखों में परस्पर विरोध भी है।

इस प्रमाण में भी इस तत्त्वात्मक जगत् को प्रकृति का ही रूप बतलाया है, ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का नहीं।

(२२) प्रश्न—'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' [यजुः० ३१।२] में भी सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जगत् को ब्रह्म ही बतलाया है। —पृ० १६०, मं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में जगत् को ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म को जगत् का पैदा करनेवाला वर्णन किया है, जैसाकि—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ —यजुः० ३१।२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो अत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होनेवाला और जो पृथिवी आदि के सम्बन्ध से अत्यन्त बढ़ता है उस इस प्रत्यक्ष, परोक्षरूप समस्त जगत् को अविनाशी, मोक्षसुख वा कारण का अधिष्ठाता, सत्य गुण-कर्म-स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है॥ २॥

उव्वट का अर्थ भी आपके अर्थ की पुष्टि नहीं करता, देखिए—

स एव पुरुषः पूर्वपर्यायविशेषित एव शब्दो मान्यः। इदं वर्त्तमानकं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः। न केवलं कालत्रयस्य ईशानः। उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि। उत शब्दोऽपि शब्दार्थे। कस्मात्कारणात्? यदन्नेनामृतेन अति रोहति अतिरोधं करोति। सर्वस्येश्वर इति॥ ३१।२॥

भावार्थ—वह पूर्व वर्णन किया हुआ अनन्य परमात्मा इस सम्पूर्ण वर्त्तमान, भूत तथा भविष्यत्

तीनों कालों का स्वामी है। केवल तीन कालों का ही स्वामी नहीं है, अपितु मोक्ष का भी स्वामी है, किस कारण से कि जो अमृत से बढ़ाता है। सारांश यह कि वह सबका स्वामी है।

आपने अधूरा मन्त्र देकर वास्तविक अर्थ को छिपाने का यत्न किया, किन्तु हमने पूरा मन्त्र देकर आपकी चालाकी का भाँडा सरे बाज़ार फोड़ दिया। उव्वट ने भी परमात्मा को सबका ईश्वर मानकर ब्रह्म से भिन्न जीव और प्रकृति को स्वीकार करके आपके सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

(२३) प्रश्न—जब वेद संसार के समस्त रूपों को ब्रह्म के रूप कह रहा है, फिर उसे निराकार कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? —पृ० १६०, पं० ११

उत्तर—वेद संसार के समस्त रूपों को प्रकृति के रूप बतलाता है, ब्रह्म के नहीं। संसार का उपादानकारण अनादि प्रकृति है, ब्रह्म नहीं। हम प्रकृति के अनादि होने के कई मन्त्र पेश कर चुके हैं, एक मन्त्र और पेश करते हैं—

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥ —यजुः० २३।५६

भाषार्थ—हे विद्वन्! जन्मरहिता प्रकृति प्रलयकाल में रूपों को निगलनेवाली है। संसारावस्थापन्न होकर कार्यों के रूपों को प्रकट करनेवाली होती है। चतुर, ज्ञानी पुरुष प्रकृति के बन्धन से परे हो जाता है और सर्पवत् कुटिलस्वभाव मनुष्य जन्म-मरण-मार्ग पर विविध रीतियों से जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है।

इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए महीधर भी प्रकृति को अनादि मानते हैं, जैसे—

अजा पिशङ्गिला अजा नित्या माया रात्रिर्वा पिशङ्गिला पिशं रूपं गिलति भक्षयति पिशङ्गिला माया विश्वं ग्रसते। रात्रावपि रूपाणि न प्रतीयन्ते तमसा॥ —महीधर० २३।५६

भाषार्थ—अजा नाम अनादि प्रकृति या रात्रि का है। इन दोनों को पिशङ्गिला भी कहते हैं। प्रकृति को तो इसलिए पिशङ्गिला कहते हैं कि वह सारे संसार को निगल लेती है और रात्रि को पिशङ्गिला इसलिए कहते हैं कि रात्रि में भी अँधेरे के कारण पदार्थों की प्रतीति नहीं होती।

जब वेद से स्पष्ट हो गया कि प्रलयकाल में सारा जगत् प्रकृति में लय हो जाता है तब स्पष्ट है कि वेद सारे संसार की प्रकृति से ही उत्पत्ति मानता है। फिर आपका यह लेख कि 'समस्त रूप ब्रह्म के रूप से बने हैं और अन्त में समस्त रूप ईश्वर में लय होंगे' वेद के सर्वथा विरुद्ध और मिथ्या सिद्ध हो गया। अतएव परमात्मा का सर्वस्वरूपत्व से साकार होना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या तथा परमात्मा का निराकार होना वेदानुकूलता से सत्य सिद्धान्त है।

अवतारत्व साकारता

(२४) प्रश्न—ईश्वर का अवतार धारण करना वेद ने बड़े विस्तृत रूप से लिखा है।
—पृ० १६१, मन्त्र ८

उत्तर—वेद में परमात्मा को **(अकायम्)** शरीररहित **(अस्नाविरम्)** नाड़ी और नस के बन्धन से रहित वर्णित किया है—यह हम पहले दिखा चुके हैं। वेद ने बड़े विस्तार से परमात्मा को अजन्मा प्रतिपादित किया है। वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो परमात्मा के जन्म लेने का अनुमोदन करता हो, अपितु अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म लेने का निषेध करते हैं, जैसे—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥
—ऋ० १।६७।३

भाषार्थ—जैसे न जन्मनेवाला परमेश्वर न टूटनेवाले विचारों से पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्युलोक अथवा सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों को गिरने से रोकता है, प्रीतिकारक प्राप्तव्य पदार्थों को देता है, सम्पूर्ण आयु देनेवाला बन्धन से सर्वथा छुड़ाता है। बुद्धि में स्थित हुआ वह गुह्य पदार्थों को जानता है, वैसे ही हे विद्वान् जीव! तू भी हमें अज्ञान आदि से छुड़ाकर प्राप्तव्य की प्राप्ति करा।

इत्यादि अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म का निषेध करते हैं।

यह तो रही वेद की बात। अब आप कृपा करके यह बतावें कि परमात्मा को जन्म लेने की क्यों ज़रूरत पड़ती है और आपके मत में जब परमात्मा के सर्वव्यापक होने से सारा ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है, तो परमात्मा को एक तुच्छ शरीर और धारण कराने में क्या लाभ होता है? फिर जब आपके मतानुसार सारे ही रूपधारी पदार्थ भी ब्रह्म ही हैं तो फिर अवतार में क्या विशेषता रही? जब ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही संसार में नहीं, तो फिर कौन, किसके गर्भ में प्रवेश करके जन्म लेकर किसकी रक्षा करता है? ऐसी सूरत में यों कहना पड़ेगा कि 'ब्रह्म, ब्रह्म के, ब्रह्म में प्रवेश करके जन्म लेकर ब्रह्म को मारकर, ब्रह्म की रक्षा करता है' यह क्या गोरखधन्धा है, समझाने की कृपा करें।

(२५) प्रश्न—**'एषो ह देवः।'** [यजुः० ३२।४] इस मन्त्र में ईश्वर का गर्भ में आना और जन्म लेना उत्तम रीति से कहा है। —पृ० १६१, मं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में परमात्मा के जन्म लेने का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है। आपने मन्त्र के मनमाने अर्थ करके स्वार्थ-सिद्धि की है। कृपया बतलावें कि आपने **'दृश्यमान'** अर्थ मन्त्र के कौन-से पद का किया है। फिर जो परमात्मा समस्त दिशाओं में व्यापक है वह गर्भ में आया कहाँ से? क्या वह गर्भ में व्यापक नहीं था। इसलिए आपका किया हुआ मन्त्रार्थ स्वयं वेद के अभिप्राय के विरुद्ध है। पूरा मन्त्र और ठीक अर्थ इस प्रकार से है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ —यजुः० ३२।४

भाषार्थ—हे विद्वानो! यह प्रसिद्ध परमात्मा उत्तमस्वरूप, सब दिशा और विदिशाओं में अनुकूलता से व्यापक होकर वही अन्तःकरण के बीच प्रथम कल्प के आदि में प्रसिद्ध, प्रकटता को प्राप्त हुआ। वही प्रसिद्ध हुआ। वह आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा। सब ओर से मुखादि अवयवोंवाला अर्थात् सर्वत्र मुखादि इन्द्रियों के काम करता हुआ प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ अचल, सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ सब दिशाओं में व्याप्त होके इन्द्रियों के बिना, सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है। वह भूत, भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिए पहिले प्रकट होता है। वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है, अन्य के जानने योग्य नहीं है।

वेद में **'उत नो ऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्।'** [ऋ० ६।५०।१४] तथा **'शं नो अज एकपाद्देवः।'** [ऋ० ७।३५।१३] इत्यादि अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म का निषेध करते हैं, अतः पूर्व मन्त्र का अर्थ भी वेद के अन्य मन्त्रों के अनुकूल होने से हमारा किया हुआ अर्थ सत्य है और आपका अर्थ अन्य वेदमन्त्रों के तथा उसी वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से मिथ्या है, अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा जन्म धारण नहीं करता।

कृपया यह बतलावें कि जिन राम, कृष्ण आदि को आप परमात्मा का अवतार मानते हैं उनके शरीरों में जीवात्मा भी था या केवल परमात्मा ही था। यदि जीवात्मा भी था। तो दूसरे मनुष्यों

में तथा अवतारों में क्या भेद हुआ? और यदि उनके शरीर में केवल परमात्मा ही था तो परमात्मा ने कौन-सा बुरा काम किया था कि जिसके बदले परमात्मा को रामादि का शरीर धारण करना पड़ा, जैसेकि श्रीराम स्वयं कहते हैं कि—

किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि॥ १९॥
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः॥ २०॥

—वाल्मीकि० युद्ध० स० १०१

अर्थ—मैंने दूसरे जन्म में कौन-सा ऐसा बुरा कर्म किया है कि जिसके कारण मेरा धार्मिक भाई मेरे सामने मरा हुआ पड़ा है।

(२६) प्रश्न—'प्रजापतिश्चरति' [यजुः० ३१।१९] इत्यादि मन्त्र से ईश्वर का गर्भ में आना और जन्म धारण करना सिद्ध है। —पृ० १६१, मं० १९

उत्तर—आपका अर्थ क्या है, चूँ-चूँ का मुरब्बा है, जिसमें परस्पर-विरोध भरा पड़ा है। आपने इस अर्थ से ईश्वर को जन्म धारण करनेवाला साकार सिद्ध करने का यत्न किया है, किन्तु आपका परिश्रम व्यर्थ है। आप अपने अर्थ को ध्यानपूर्वक पढ़कर उत्तर दें कि यदि उस परमेश्वर में सब ब्रह्माण्ड ठहरे हुए हैं, अर्थात् वह सारे संसार में परिपूर्ण होकर व्यापक है, तो वह विशाल और व्यापक ईश्वर जिसमें सारे ब्रह्माण्ड ठहरे हुए हैं, छोटे-से गर्भ में कैसे समा गया और गर्भ में आया कहाँ से? क्या वह गर्भ में व्यापक न था? और क्या गर्भ उसमें ठहरा हुआ न था? कैसी बेतुकी बात है कि 'सब ब्रह्माण्डों में व्यापक ईश्वर गर्भ में आता है।' क्योंजी, जब वह अजन्मा है तो फिर वह बहुत प्रकार से जन्म कैसे धारण करता है? क्या दो विरुद्ध गुण किसी द्रव्य में रह सकते हैं? यदि आप कहें कि जीव भी तो स्वरूप से अजन्मा है, किन्तु वह जन्म धारण करता है, ऐसे ही परमात्मा भी स्वरूप से अजन्मा, होकर जन्म धारण करता है, तो यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो परमात्मा को जहाँ अजन्मा कहा है वहाँ **'अकायम्'** शरीररहित तथा **'अस्नाविरम्'** नाड़ी और नस के बन्धन से रहित भी कहा है, परन्तु जीव को ऐसा कहीं नहीं कहा। दूसरे, जीव को **'द्वा सुपर्णा'** आदि में कर्मों का फल भोगनेवाला कहा है, जिसके लिए शरीर का धारण करना आवश्यक है, किन्तु परमात्मा न शुभाशुभ कर्म करता है, न उनके फल भोगने के लिए शरीर की ज़रूरत है। तीसरे, जीव अणुपरिमाण एकदेशी है, सारा शरीर में समा सकता है। ईश्वर व्यापक होने से शरीर में नहीं समा सकता। चौथे, जीव का एकदेशी होने से गर्भ में आना-जाना कहा जा सकता है। परमेश्वर के लिए व्यापक होने के कारण आना-जाना नहीं कहा जा सकता, अतः जीव की भाँति परमेश्वर का जन्म नहीं माना जा सकता। फिर भला! यदि ईश्वर साकार और शरीरधारी है तो उसके स्वरूप को धीर पुरुष ही क्यों देखते हैं, आम लोग क्यों नहीं देख सकते? क्या राम और कृष्ण का शरीर, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, कंस, केशी, मधु आदि राक्षसों तथा साधारण पुरुषों को नज़र नहीं आता था? कैसे मख़ौल की बात है कि 'ईश्वर के अवतार धारण किये हुए शरीर को बुद्धिमान् परुष ही देख सकते हैं साधारण पुरुष नहीं!' इस प्रकार आपका सारा ही अर्थ असंगत, परस्पर-विरुद्ध तथा वेदमन्त्र के आशय के विरुद्ध होने से मिथ्या ही है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

—यजुः० ३१।१९

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो अपने स्वरूप से उत्पन्न नहीं होनेवाला, प्रजा का रक्षक जगदीश्वर गर्भस्थ जीवात्मा और सबके हृदय में विचरता है और बहुत प्रकारों से विशेषकर प्रकट होता है,

उस प्रजापति के जिस स्वरूप को ध्यानशील विद्वान्जन सब ओर से देखते हैं, उसी में प्रसिद्ध सब लोक-लोकान्तर स्थित हैं।

भावार्थ—सर्वरक्षक ईश्वर आप उत्पन्न न होता हुआ अपने सामर्थ्य से जगत् को उत्पन्न कर और उसमें प्रविष्ट होके सर्वत्र विचरता है। इस अनेक प्रकार से प्रसिद्ध ईश्वर को विद्वान् लोग ही जानते हैं। उस जगत् के आधाररूप सर्वव्यापक परमात्मा को जानके मनुष्यों को आनन्द भोगना चाहिए।

यह है इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ। बतलाइए, इससे अवतार कैसे सिद्ध हो सकता है? अतः आपका ईश्वर-अवतार-सिद्धान्त वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

(२७) प्रश्न—'**रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव।**' [ऋ० ६।४७।१८] इत्यादि वेद के केवल एक मन्त्र से ही ईश्वर के बहुत ईश्वर-अवतार सिद्ध हो जाते हैं। —पृ० १६२, पं० २

उत्तर—कहिए महाराज! आपका कोई निश्चित सिद्धान्त भी है या नहीं? अभी पीछे ईश्वर को स्वस्वरूपता से साकार सिद्ध करते हुए ईश्वर को संसार का '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' सिद्ध कर रहे थे, अब यहाँ पर आकर 'ईश्वर अपनी माया का आश्रय लेकर असंख्य रूपों को धारण करता है' ऐसा कहने लगे। इन दोनों में से कौन-सी बात सत्य और कौन-सी मिथ्या है? और यह भी बतलाइए कि वह माया क्या वस्तु है? वह माया या अविद्या ब्रह्म का ही गुण है या ब्रह्म से कोई भिन्न पदार्थ है? यदि कहो कि ब्रह्म का ही गुण है तो जिस ब्रह्म का गुण माया या अविद्या है, क्या वह ब्रह्म ब्रह्म कहलाने के योग्य है? और यदि माया ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है तो आपके सिद्धान्त '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' का आपके लेख से ही खण्डन हो गया। और बीच में से ये प्रेमी भक्त कौन निकल आये जिनको ईश्वर अपना रूप दिखाता है? क्या ये अनादि जीव तो नहीं हैं? इससे तो ईश्वर, जीव और प्रकृति का भिन्न-भिन्न तथा अनादि होना, इस एक ही मन्त्र से आपने स्वीकार कर लिया। फिर आपने '**हरयः**' शब्द को सर्वथा छोड़ दिया, इसका कोई अर्थ नहीं किया। सारे संसार को ईश्वर का रूप बनाते-बनाते सैकड़ों पर आ गये और उनको भी छोड़कर केवल दश ही रह गये, किन्तु ये दश भी रहते हुए नज़र नहीं आते, क्योंकि यह मन्त्र ईश्वरपरक है ही नहीं, अपितु इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय जीवात्मा है और इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

—ऋ० ६।४७।१८

भाषार्थ—जीव बुद्धियों के द्वारा प्रत्यक्ष कथन के लिए रूप-रूप का प्रतिरूप होता है और इस कारण वह बहुत शरीर धारण करने के हेतु अनेक रूपोंवाला पाया जाता है। वह सब-कुछ इसके शरीर का रूप है। अथवा यह सब-कुछ जीवात्मा के स्वरूपबोधन के लिए है। इस जीवात्मा के निश्चय से दश इन्द्रियाँ तथा सैकड़ों शक्तियाँ युक्त होकर कार्यों का साधन करती हैं।

भावार्थ—कर्मों के अनुसार जीवात्मा जिस-जिस शरीर में जाता है वैसे ही स्वभाव और वैसी ही चेष्टावाला हो जाता है। मनुष्य शरीर पाकर इसकी चेष्टा मनुष्य की-सी होती है तो पशु-पक्षी की योनि में जाकर वैसी गतिविधि करने लगता है। ये सारी बातें शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता को सिद्ध करती हैं।

इस मन्त्र में कितनी सुन्दरता से शरीर, इन्द्रियादि से आत्मा का भेद कथन किया गया है! इस मन्त्र से ईश्वर-अवतार सिद्ध करना वेदविरुद्ध एवं अनधिकार चेष्टा है।

(२८) प्रश्न—ईश्वर चैतन्य है। वह अवतार धारण करके भक्तों की रक्षा करता है। अब

कोई कैसे कह सकता है कि वेद में ईश्वर के अवतार का लेख नहीं है?—पृ० १६२, पं० २०

उत्तर—हम इस बात को बलपूर्वक कह सकते हैं कि वेदों में एक मन्त्र भी इस प्रकार का नहीं है कि जो ईश्वर के अवतार अथवा साकारता का वर्णन करता हो, अपितु, इस प्रकार के सैकड़ों मन्त्र वेदों में मौजूद हैं जो ईश्वर को निराकार, अजन्मा तथा शरीररहित बताते हैं। रहा आपका यह हेतु कि भक्तों की रक्षा करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है, यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुसार चलते हैं उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस, रावणादि का वध बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा। यह अवतारवाद का सिद्धान्त संसार में पुरुषार्थ का नाश करके आलस्यवाद का फैलानेवाला है, क्योंकि अवतारवादी लोग इस आशा में कि हमारे कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेकर आवेंगे, स्वयं कोई पुरुषार्थ न करके हाथ-पर-हाथ रखकर यह राग आलापते रहते हैं कि—

वंशी वालिया काहना तेरे आवन दी लोड।
वंशी वालिया काहना तेरे आवन दी लोड॥

हमारी यह समझ में नहीं आता कि एक मगरमच्छ ने जब हाथी को खेंचा तो उसकी रक्षा के लिए परमेश्वर झट कूद पड़ा, किन्तु आज दिन निकलने से पहले सत्तर हजार गौओं की गरदन पर छुरा चल जाता है, आज वह इनकी रक्षा के लिए क्यों नहीं कूदता? क्या वे ईश्वर की नहीं हैं? इससे सिद्ध हुआ कि यह ढकोसला ही है कि परमात्मा भक्तों की रक्षा के लिए जन्म धारण करता है, अपितु इसके विरुद्ध पुराणों में लेख मौजूद है। शिवपुराण में लिखा है कि वृन्दा के शाप से श्री रामचन्द्रजी का जन्म हुआ। वह कथा इस प्रकार है—"विष्णु ने माया से दो बन्दरों की सहायता से वृन्दा को छलकर उससे मैथुन करके उसका पतिव्रत-धर्म भंग कर दिया। मैथुन के अन्त में वृन्दा को पता लगा कि यह तो विष्णु है। वृन्दा ने क्रोध में आकर विष्णु को शाप दिया—

रे महाधम दैत्यारे परधर्मविदूषक। गृह्णीष्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्बणम्॥ ४३॥
यौ त्वया मायया ख्यातौ स्वकीयौ दर्शितौ मम। तावेव राक्षसौ भूत्वा भार्यां तव हरिष्यतः॥ ४४॥
त्वं चापि भार्यादुःखार्त्तो वने कपिसहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणायं यस्ते शिष्यत्वमागतः॥ ४५॥

—शिव० रुद्र० २, युद्धखण्ड ५, अध्याय २३

अर्थ—रे महापापी! राक्षसों के शत्रु! दूसरों के धर्म का नाश करनेवाले! मेरे दिये हुए तीक्ष्ण विष के समान शाप को ग्रहण कर॥ ४३॥ जो तूने अपनी माया से प्रकट किये अपने दो साथी मुझे दिखाये, वही दोनों राक्षस बनकर तेरी पत्नी को हरेंगे॥ ४४॥ और तू भी पत्नी के दुःख से व्याकुल हुआ जंगल में बन्दरों की सहायता लेकर अपने इस शिष्य शेषनाग के साथ भ्रमण करेगा॥ ४५॥"

पुराण के इस लेख से स्पष्ट है कि राम का जन्म भक्तों की रक्षा के लिए नहीं हुआ, अपितु वृन्दा के शाप के कारण हुआ था।

इसी प्रकार से कृष्ण के विषय में ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि गोलोक में कृष्ण को राधा ने क्रोध में आकर शाप दिया—

हे कृष्ण वृजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥ ५९॥
शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्। अथवा वनमालां वा रूपेणाप्रतिमां व्रज॥ ६०॥
हे नदीकान्त देवेश देवानां च गुरोर्गुरो। मया ज्ञातोऽसि भद्रं ते गच्छ गच्छ ममाश्रमात्॥ ६१॥

शश्वत्ते मानुषाणां च व्यवहारस्य लम्पट। लभतां मानुषीं योनिं गोलोकाद् व्रज भारतम्॥ ६२॥
हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्त्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्॥ ६३॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म खण्ड ४, पूर्वार्द्ध अध्याय ३

अर्थ—हे कृष्ण! हे हरे! हे वृजा के प्यारे! मेरे सामने से चला जा! हे चंचल! मुझे क्यों दु:ख देता है? हे अति लम्पट और कामचोर, मुझे क्यों कष्ट देता है॥५९॥ शीघ्रता से पद्मावती के पास जा। अथवा सुन्दरी रत्नमाला के पास जा। अथवा अनुपम रूपावाली वनमाला के पास जा॥६०॥ हे वृजा के प्यारे! हे देवेश! हे देवों के गुरु के गुरु! मैंने आपको जान लिया है। तेरा कल्याण हो। जा-जा मेरे आश्रम से चला जा॥६१॥ हे लम्पट! चूँकि आप मनुष्यों की भाँति मैथुन करने में लम्पट हैं, अतः आपको मनुष्य-योनि ही मिले। आप गो-लोक से भारत में चले जावें॥६२॥ हे सुशीले! हे शशिकले! हे पद्मावति! हे माधवि! यह धूर्त है। इसको यहाँ से दूर करो। इसका यहाँ क्या प्रयोजन है॥६३॥

इससे सिद्ध है कि कृष्ण का जन्म भक्तों की रक्षा के लिए नहीं अपितु राधा के शाप के कारण हुआ था।

दूसरे स्थान में इस प्रकार से भी वर्णन मौजूद है कि गोलोक में एक बार राधा की श्रीदामा से लड़ाई हो गई। तब श्रीदामा ने राधा को शाप दिया कि तू पृथिवी पर मानुषी योनि को प्राप्त हो। राधा ने कृष्ण के पास जाकर कहा तो कृष्ण ने कहा चिन्ता मत कर मैं भी भूतल पर जाकर तुम्हारे पास आऊँगा।

अतो हेतोर्जगन्नाथो जगाम नन्दगोकुलम्॥ १६॥
किं वा तस्य भयं कंसाद्भयान्तकारकस्य च।
मायाभयाच्छलेनैव जगाम राधिकान्तिकम्॥ १७॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म ४ पूर्वा० अ० २

अर्थ—इस कारण से जगत् के नाथ कृष्ण नन्द के गोकुल में गये॥१६॥ उनको कंस से क्या भय हो सकता था, क्योंकि वह तो स्वयं भय का अन्त करनेवाले हैं। वह तो माया और भय का छल करके वास्तव में राधा के पास ही गये थे॥१७॥

कहिए महाराज! अब तो स्पष्ट हो गया कि राम तथा कृष्ण का जन्म भक्तों की रक्षार्थ नहीं अपितु शाप के कारण हुआ था, अतः पुराणों के लेखानुसार भी भक्तों की रक्षार्थ ईश्वर का अवतार होना मिथ्या ही है।

यक्षावतार

(२९) प्रश्न—तलवकार अर्थात् केनोपनिषद् में '**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह**' इत्यादि १४ से २४ तक यक्ष अवतार का वर्णन किया गया है। —पृ० १६२, पं० ६

उत्तर—कहिएगा महाराज! यह यक्षावतार आपके २४ अवतारों में से कौन-से अवतार हैं? गुरुडपुराण, आचारकाण्ड अध्याय १ तथा भागवतपुराण, प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में आपके यहाँ अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—विष्णु, ब्रह्मा, कुमार, वराह, देवर्षि, नरनारायण, कपिलदेव, यज्ञ, उरुक्रमः, पृथिवी, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। वैसे तो आपके मत में यह सारा ही संसार ब्रह्म का रूप है। इसमें जितने रूप हैं, वे सब ब्रह्म का अवतार हैं, किन्तु आप तो विशेष अवतारों में से यक्षावतार का वर्णन कर रहे हैं, जबकि हमें आपके पूर्वोक्त विशेष अवतारों में कहीं 'यक्षावतार' का नाम नज़र नहीं आता। यह आपने व्यासजी के पीछे एक नये पच्चीसवें अवतार की कल्पना की है।

क्यों न हो, आप कोई व्यास से कम थोड़े ही हैं! यदि वह ब्रह्म का अवतार हैं तो आप भी तो ब्रह्म का स्वरूप हैं। यदि वह २४ अवतारों की कल्पना कर सकते हैं तो क्या आप एक की भी नहीं कर सकते?

दूसरे, आप केनोपनिषद् का पाठ देकर उसे वेद का प्रमाण प्रकट कर रहे हैं। श्रीमान्जी, उपनिषद् वेद नहीं हैं, अपितु, ऋषि लोगों के रचित होने से परतःप्रमाण माने जा सकते हैं।

तीसरे, इस पाठ में न तो अवतार शब्द ही मौजूद है और न ही इसमें परमेश्वर के जन्म लेने का वर्णन है।

चौथे, इस कथा को यदि सत्य मान लिया जावे तो इसमें असम्भव-दोष आता है, क्योंकि अग्नि, वायु ये दोनों ही चेतनारहित, जड़ पदार्थ हैं। इनका इकट्ठे होकर यह कहना कि 'हमारी ही विजय हुई है' और 'हमारा ही महत्त्व है' तथा अग्नि और वायु का यक्ष के पास जाकर बातचीत करना ये सब बातें असम्भव हैं। जड़ वस्तुओं से ऐसी बातें नहीं हो सकतीं, इस बात को साधारण कवि लोग भी जानते हैं। कालिदासजी मेघदूत में श्लोक संख्या ५ में इसी बात को बतलाते हैं—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः, संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे, कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ ५॥

भावार्थ—आग, पानी, धूम, वायु के मेल से बना हुआ बादल कहाँ? [अचेतन होने से सन्देश पहुँचाने के अयोग्य है, यह भाव है] और समर्थ इन्द्रियवाले चेतन प्राणियों से पहुँचाने के योग्य सन्देश का अर्थ कहाँ? किन्तु यक्ष ने अपने इष्ट पदार्थ की उत्सुकता में इस बात का विचार न करते हुए मेघ से प्रार्थना की, क्योंकि कामवासना से व्याकुल हुए स्वभाव से दीन लोग चेतन-अचेतन में विचार नहीं कर सकते। [कामान्ध लोगों के युक्त-अयुक्त के विवेक से शून्य होने के कारण अचेतन से प्रार्थना असम्भव नहीं है, यह भाव है।]

यदि आप इस कथा को वास्तविक मान लेंगे तो मानना पड़ेगा कि यह लेख 'उन्मत्तप्रलाप' अर्थात् 'पागलों की बड़' ही है, किन्तु यह बात नहीं है। यह कथा वास्तविक नहीं, अपितु, 'अग्नि, वायु आदि से ब्रह्म की शक्ति प्रबल है', इस बात को समझाने के लिए यह अलंकाररूप कथा बनाई गई है और ऐसा प्रत्येक भाषा में पाया जाता है। जैसे—

सोना बोला— **सोना कहे सुनार से, उत्तम मेरी जात।**
यह काले मुख की लालड़ी, क्यों तुले हमारे साथ॥

रत्ती बोली— **लालों की मैं लालड़ी, लाल हमारा रंग।**
काला मुख तब से भया, जब तुली नीच के संग॥

इससे स्पष्ट है कि सोना तथा रत्ती जड़ होने से बातचीत नहीं कर सकते, किन्तु कवि ने लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि 'जो किसी को बुरा कहेगा वह दूसरे से बुरा कहलवाएगा' यह अलंकाररूप सोने तथा रत्तिका का संवाद कल्पित किया है। इसी प्रकार से भाषा तथा उर्दू के साहित्य में 'सोने-चाँदी की अँगूठियों का', 'गिलहरी-पहाड़ का', 'वृक्ष-पक्षियों का', 'पगड़ी-जिह्वा का', 'तीली लौंग का', इत्यादि अनेक संवाद मिलते हैं, जोकि कवियों ने अनेक प्रकार के भाव समझाने के लिए कल्पित किये हैं। इसी प्रकार के शिक्षा देनेवाले अलंकाररूप संवाद संस्कृत साहित्य, उपनिषद्, ब्राह्मण तथा वेदों तक में भी मिलते हैं। इस बात को निरुक्त ने स्पष्ट रूप से लिख दिया है। जैसेकि—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्॥ १॥

अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति॥ २॥
यथो एतच्चेतनावद्विद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं
स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि॥ ३॥
यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्व-
प्येतद्भवत्यभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिरिति ग्रावस्तुतिः॥ ४॥
यथो एतत्पुरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव
'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुतिः॥ ५॥
यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव।
'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिरेव॥ ६॥

—नि० दै० अ० ७ खण्ड ७

भावार्थ—देवता पुरुष से भिन्न भी होते हैं—यह दूसरा पक्ष है॥ १॥

जैसाकि दृष्टिगोचर हो रहा है पुरुष से भिन्न, जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदि॥ २॥

जैसे इनकी चेतनावालों की भाँति स्तुतियाँ हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतनों की भाँति स्तुति किये जाते हैं—अक्ष से लेकर ओषधिपर्यन्त॥ ३॥

जैसे इनकी पुरुषों के समान अंगों से स्तुति करते हैं, अर्थात् अचेतनों में भी चेतन के अङ्गों के समान स्तुति की जाती है, जैसे पत्थरों के लिए आता है कि 'वे हरे-हरे मुखों से बोलते हैं'॥ ४॥

जैसे वे पुरुषों के समान वस्तुओं के संयोग से स्तुति किये जाते हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतनों के समान वस्तुओं के संयोग से स्तुति किये जाते हैं। जैसे नदी के लिए आता है कि 'नदी सुख देनेवाले रथ को जोड़ती है'॥ ५॥

जैसे ये पुरुषों के समान कर्मों से स्तुति किये जाते हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतन के समान कर्मों से स्तुति किये जाते हैं। जैसे पत्थरों के लिए आता है कि ये 'अग्नि और होताओं से पहिले खाने योग्य हवि को खाते हैं'॥ ६॥

निरुक्त ने इस बात को बिल्कुल साफ़ कर दिया है कि यद्यपि अग्नि, वायु, पृथिवी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ जड़ हैं, तो भी इनका वर्णन चोतनों के समान ही किया जाता है। इससे वे चेतन नहीं बन जाते, अपितु यह वर्णन करने की शैलीमात्र है। हम इस विषय में आपके सामने प्रश्नोपनिषत् में से इसी प्रकार का दूसरा वर्णन दिखाते हैं ताकि आपकी पूरे तौर से तसल्ली हो जावे। जैसे—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाश्यन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥ १॥ तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २॥ तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥ ३॥ सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति॥ ४॥ —प्रश्नो० प्र० २ मं० १-४

भावार्थ—प्रथम प्रश्न का उत्तर सुनने के अनन्तर प्रसिद्ध है कि पिप्पलाद ऋषि से भृगुकुलोत्पन्न

वैदर्भि ने पूछा—हे ऐश्वर्यसम्पन्न! कितने देव इस शरीररूपी प्रजा को धारण करते हैं और कितने इसको प्रकाशित करते हैं, फिर इनमें कौन श्रेष्ठ हैं॥ १॥ वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह पिप्पलाद स्पष्टतया बोले—प्रसिद्ध है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँच भूत, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र ये सब देव हैं। ये शरीर को प्रकाशित करके कहने लगे कि हम इस शरीर को आश्रय करके धारण करते हैं॥ २॥ उन सब देवों से श्रेष्ठ प्राण बोला कि मत मोह को प्राप्त होवो—'मैं ही प्राणादि पाँच भेदों से अपने-आपको विभक्त करके इस शरीर को थामे हुआ हूँ और मैं ही इनको धारण करता हूँ'। वे सब देवरूप इन्द्रिय अश्रद्धावाले हुए॥ ३॥ तब वह प्राण अभिमान से ऊपर को उत्क्रमण करने की नाईं उठता दीख पड़ा। उसको निकलता हुआ देख अन्य सब भी निकलने लगे और उसके ठहरने पर सभी ठहर गये। जैसे मधु की सारी मक्खियाँ अपने राजा के निकलने पर उसके पीछे निकल जाती हैं, और उसके स्थिर होने पर सब ही स्थिर हो जाती हैं, इसी प्रकार प्राण के अधीन वागादि सब देव हैं। तब वे वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रिय विश्वासवाले हुए प्राण की स्तुति करने लगे॥ ४॥

अब देखिए, इस प्रकरण में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, श्रोत्र, चक्षु और प्राणों को जड़ होते हुए भी चेतन के समान वादविवाद करते हुए वर्णन किया है। इससे उपर्युक्त पदार्थ चेतन नहीं बन गये, अपितु यह वर्णन करने की शैली है और इस प्रकार वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि शरीर में उपर्युक्त सब पदार्थ प्राण के ही आश्रय हैं, अतः प्राण ही सबमें श्रेष्ठ है। बस, इसी प्रकार से ही केनोपनिषद् के **'ब्रह्म ह देवेभ्यो'** इत्यादि पाठ के वर्णन से अग्नि, वायु आदि चेतन नहीं बन गये और न ही ब्रह्म शरीरधारी बन गया, अपितु यह वर्णन करने की शैली है और इस प्रकार वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्म की शक्ति के सामने सब शक्तियाँ तुच्छ हैं। आपने इस रहस्य को न समझते हुए जो इस लेख से ब्रह्म का अवतार सिद्ध करने का यत्न किया है, वह युक्तिशून्य तथा वेदविरुद्ध होने से मिथ्या ही है।

मत्स्यावतार

(३०) प्रश्न—शतपथ पृष्ठ ५८ में **'मनवे ह वै प्रातः'** इत्यादि। मनु प्रातः हाथ धोने लगे तो उनके हाथ में छोटी-सी मछली आ गई। तब मछली ने मनु से कहा आप मेरी पालना करें तो सबको डुबा देनेवाला जो जलप्रवाह आवेगा उसमें मैं आपकी रक्षा करूँगी। मनु ने उसका पालन करके बड़ा मत्स्य होने पर समुद्र में छोड़ दिया। जब जल का महाप्रवाह आया तो मत्स्य भगवान् ने मनु की किश्ती को हिमालय पर ऊँची जगह पहुँचा दिया। तब सब प्रजा जल में डूबकर नष्ट हो गई, एक मनु ही शेष रह गये। इस लेख से सिद्ध होता है कि वेद में भगवान् के मत्स्य अवतार का वर्णन आता है। —पृ० १६५, पं० २

उत्तर—आपने शतपथ के पाठ को वेद के नाम पर मढ़ दिया। यह सत्य नहीं, क्योंकि शतपथ ईश्वरकृत नहीं, अपितु ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण है।

दूसरे, इस सारे पाठ में न तो अवतार शब्द है, न ईश्वर या ईश्वर के जन्म लेनेका वर्णन है। तीसरे, क्या यह सम्भव है कि मछली सेवकों को नजर न आई? क्या वह अत्यन्त ही सूक्ष्म थी?

चौथे, मछली का बोलना तथा राजा का समझना दोनों असम्भव हैं।

पाँचवें, जो प्राणी राजा से अपनी रक्षा की प्रार्थना कर रहा है, क्या वह स्वयं ईश्वर हो सकता है? यह सर्वथा असत्य है।

छठे, समुद्र के बड़े मत्स्यों से जान का भय खानेवाला ईश्वर कैसे?

सातवें, जल-जन्तुओं को अपना नाशक शत्रु माननेवाला ईश्वर का अवतार नहीं कहा जा सकता।

आठवें, मछली के सींगों का वर्णन और भी हास्यास्पद है, अतः मानना पड़ेगा कि यह वास्तविक कथा नहीं है, अपितु पूर्व-वर्णित केनोपनिषत् की गाथा की भाँति अलंकाररूप गाथा है, जिसका प्रयोजन लोगों को यह शिक्षा देना है कि 'यदि तुम औरों की पालना-पोषणा, और आपत्तिकाल में सहायता करोगे तो वे भी तुम्हारे आपत्काल में काम आवेंगे और तुम्हारी रक्षा करेंगे।' इससे मछली का बातें करना आदि सत्य नहीं होता, अपितु यह वर्णन करने की शैली ही है। ईश्वर का मत्स्य अवतार इस पाठ से सिद्ध करना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या तथा असम्भव और अनधिकार चेष्टा है।

ब्रह्मावतार

(३२) प्रश्न—'ब्रह्मज्येष्ठा संभृता।' [अ० १९।२३।३०] इस मन्त्र में ब्रह्मा के अवतार का वर्णन है। —पृ० १६७, पं० १५

उत्तर—कृपया यह बतलावें कि इस मन्त्र में वे कौन-से शब्द हैं जिनसे ईश्वर का अवतार सिद्ध होता है? प्रकट होने का अर्थ अवतार लेना या जन्म धारण करना नहीं है, अपितु निमित्तकारण ईश्वर का उपादानकारण प्रकृति से सूर्य, चाँद, पृथिवी आदि का पैदा करना ही उसका प्रकट होना है। मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

—अ० १९।२३।३०

भाषार्थ—यथावत् धारण किये हुए वीर कर्म परमात्मा को प्रधान रखनेवाले हैं। महाप्रधान परमात्मा ने पहिले ज्ञान को सब ओर फैलाया है और वह सबसे बड़ा सर्वजनक परमात्मा प्राणियों में सबसे पहिले प्रकट हुआ है। इसलिए महान् परमात्मा की कौन बराबरी कर सकता है?॥ ३०॥

इस मन्त्र से परमात्मा का अवतार सिद्ध करना वन्ध्यापुत्र का विवाह देखने के समान असम्भव और व्यर्थ चेष्टा है।

जिस ब्रह्मा को आप अवतार सिद्ध करने के लिए पानी-पानी हो रहे हैं, जरा यह तो बतलावें कि उसने संसार में आकर क्या उपकार किया, किन भक्तों की रक्षा की और अपने चरित्र से संसार को क्या शिक्षा दी? पुराणों में आपके प्रथमावतार ब्रह्मा का यूँ वर्णन है—

(क) ब्रह्मा ने राक्षसों को पैदा किया, वे राक्षस ब्रह्मा से ही मैथुन करने के लिए उसके पीछे दौड़े। ब्रह्मा भयभीत हुआ, विष्णु के पास आया और बोला—

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः।
ता इमा यभितुं पापा उपक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६॥ —भा० स्क० ३ अ० २०

भाषार्थ—हे परमात्मन्! मेरी रक्षा करो, मैंने आपके भेजने से प्रजा उत्पन्न की थी। वे ये पापी मेरे साथ मैथुन करने के लिए मेरे पीछे भाग रहे हैं॥ २६॥

(ख) **एतस्मिन्नन्तरे वक्त्रात्समुद्भूता च शारदा।**
दिव्याङ्गं सुन्दरं तस्या दृष्ट्वा ब्रह्मा स्मरातुरः॥ २॥
बलाद् गृहीत्वा तां कन्यामुवाच स्मरपीडितः।
रतिं देही मदाघूर्णे रक्ष मां कामविह्वलम्॥ ३॥
इति श्रुत्वा तु सा माता रुषा प्राह पितामहम्।
पंचवक्त्रोऽयमशुभो न योग्यस्तव कंधरे॥ ४॥

—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व ४ अ० १३

भाषार्थ—इतने में ब्रह्मा के मुख से शारदा नामक पुत्री पैदा हुई। उसके अति सुन्दर अङ्गों को देखकर ब्रह्माजी कामातुर हो गये॥ २॥ उस कन्या को जबरदस्ती पकड़कर कामातुर हुए ब्रह्माजी बोले—मस्त नेत्रोंवाली! मुझे जोबन का दान दे और मुझ कामाकुल की रक्षा कर॥ ३॥ यह सुनकर वह माता क्रोध से ब्रह्मा को बोली—यह जो तुम्हारा अशुभ पाँचवाँ मुख है, वह तुम्हारे कन्धे पर रहने योग्य नहीं है॥ ४॥

(ग) ब्रह्मा का पुत्र दक्ष था, दक्ष की पुत्री सती थी। सती का विवाह महादेव से होना निश्चित हुआ, तो दक्ष ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। इसे ब्रह्मा के शब्दों में सुनिए—

ततो मां पितरं प्राह दक्षः प्रीत्या हि मत्सुतः।
प्रणिपत्य त्वया कर्म कार्यं वैवाहिकं विभो॥ ३१॥

—शिव० रुद्र० २ अध्याय १८

तब मेरा पुत्र प्रीति से मुझ बाप को बोला कि—यह विवाह का कार्य आप ही करवावें॥ ३१॥

यह प्रार्थना स्वीकार करके मैं अपनी पोती सती का विवाह महादेव से करवाने लगा। जब विवाह-संस्कार हो रहा था, तब—

प्रदक्षिणां प्रकुर्वन्त्या वह्नेः सत्या पदद्वयम्। आविर्बभूव वसनात्तदद्राक्षमहं मुने॥ १७॥
मदनाविष्टचेताश्च भूत्वांगानि व्यलोकयम्। अहं सत्या द्विजश्रेष्ठ शिवमायाविमोहितः॥ १८॥
यथा यथाहं रम्याणि व्यैक्षमंगानि कौतुकात्। सत्या बभूव संहृष्टः कामार्तो हि तथा तथा॥ १९॥
अहमेवं तथा दृष्ट्वा दक्षजां च पतिव्रताम्। स्मराविष्टमना वक्त्रं द्रष्टुकामोऽभवं मुने॥ २०॥
न शंभोर्लज्जया वक्त्रं प्रत्यक्षं च विलोकितम्। न च सा लज्जयाविष्टा करोति प्रकटं मुखम्॥ २१॥
ततस्तद्दर्शनार्थाय सदुपायं विचारयन्। धूम्रघोरेण कामार्तोऽकार्षं तच्च ततः परम्॥ २२॥
आर्द्रेन्धनानि भूरीणि क्षिप्त्वा तत्र विभावसौ। स्वल्पाज्याहुतिविन्यासादार्द्रद्रव्योद्भवस्तथा॥ २३॥
प्रादुर्भूतस्ततो धूमो भूयांस्तत्र समन्ततः। तादृग् येन तमोभूतं वेदीभूमिविनिर्मितम्॥ २४॥
ततो धूमाकुले नेत्रे महेशः परमेश्वरः। हस्ताभ्यां छादयामास बहुलीलाकरः प्रभुः॥ २५॥
ततो वस्त्रं समुत्क्षिप्य सतीवक्त्रमहं मुने। अवेक्षं किल कामार्तः प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ २६॥
मुहुर्मुहुरहं तात पश्यामि स्म सतीमुखम्। अथेन्द्रियविकारं च प्राप्तवानस्मि सोऽवशः॥ २७॥
मम रेतः प्रचस्कन्द ततस्तद्वीक्षणाद् द्रुतम्। चतुर्बिन्दुमितभूमौ तुषारचयसन्निभम्॥ २८॥

—शिवपु० रुद्र० सती० २ अ० १९

भाषार्थ—अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए सती के दोनों पैर कपड़े से बाहर नंगे हो गये। वे मैंने देख लिये॥ १७॥ मैं काम में व्याकुल होकर उसके और अंगों को देखने लगा, क्योंकि मैं शिव की माया से मोहित था॥ १८॥ मैं कौतुक से जैसे-जैसे उस सती के सुन्दर अंगों को देखता था, वैसे-वैसे मैं कामार्त होता जा रहा था॥ १९॥ मैं इस प्रकार से पतिव्रता दक्ष की पुत्री को देखकर काम से व्याकुल होकर उसके मुख को देखने की इच्छा करने लगा॥ २०॥ मैंने महादेव की लज्जा से प्रत्यक्ष मुख नहीं देखा और वह भी लज्जा से मुख नंगा न करती थी॥ २१॥ तब मैंने उसके दर्शनार्थ अच्छा उपाय विचारा। मैंने कामार्त्त होने से घोर धुआँ पैदा कर दिया॥ २२॥ बहुत गीली-सी लकड़ियाँ वहाँ अग्नि में डालकर और अल्प घी डालने से गीली लकड़ियों से धुआँ पैदा हो गया॥ २३॥ तब वहाँ बहुत धुआँ पैदा हो गया जिससे सारी वेदी धुआँ-धार हो गई॥ २४॥ तब महादेव ने धूएँ से व्याकुल हो अपने नेत्र दोनों हाथों से ढक लिये॥ २५॥ तब मैंने प्रसन्न मन से कामार्त हो कपड़ा उठाकर सती का मुख देख लिया॥ २६॥ मैं सती का मुख बार-बार देखता था। तब मैं बेबस होकर इन्द्रियों के विकार को प्राप्त हो गया॥ २७॥ तब उसके

देखने से शीघ्रता से मेरा वीर्यपात हो गया। वह वीर्य्य चार बिन्दु ओस के क़तरों के समान था॥ २८॥

इस प्रकार के सैकड़ों ब्रह्मचर्य-विरोधी कार्य ब्रह्मा के पुराणों में दिखाये जा सकते हैं, तो क्या इन्हीं कार्यों के लिए ब्रह्मा का अवतार हुआ था?

(३२) प्रश्न—'तदण्डमभवद्धैममिति।' [मनु० १।९] में मनु ने ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मरूप विराट् से ब्रह्मा की उत्पत्ति लिखकर वेदमन्त्र की पुष्टि की है॥ —पृ० १६७, पं० २३

उत्तर—न तो वेदमन्त्र में ही आपके फ़र्ज़ी पौराणिक ब्रह्मा के अवतार का वर्णन है और न ही मनुस्मृति उसकी पुष्टि करती है। मनु ने जिस ब्रह्मा के प्रकट होने का उपर्युक्त श्लोक में वर्णन किया है उस ब्रह्मा का लक्षण वह मनु० अध्याय १ श्लोक ११ में इस प्रकार करके स्पष्ट करते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ ११॥

भाषार्थ—जो वह अदृश्य नित्य सत्-असत्-आत्मिक कारणप्रकृति है, उसे स्थूल कार्यरूप में प्रकट करने के कारण उस परमात्मा को ब्रह्मा कहते हैं।

और सूक्ष्म उपादानकारण प्रकृति को स्थूल कार्यरूप में परिवर्तित करना ही परमात्मा का प्रकट होना है। जैसे—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिंत्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ ७॥ —मनु० १।६-७

भाषार्थ—फिर वह नित्य, बाह्य इन्द्रियों से अगोचर, योगाभ्यास से सेवन करने के योग्य, अखण्डित सृष्टिसामर्थ्यवाला, प्रकृति का प्रेरक, परमात्मा आकाशादि पाँच महाभूतों को सूक्ष्मरूप से स्थूल रूप में प्रकाशित करके प्रकाशित हुआ॥ ६॥ जो वह बाहर की इन्द्रियों से अगोचर, सूक्ष्म, अवयवों से रहित, नित्य, सर्वभूतों में व्यापक परमात्मा है। वह स्वयं ही कारणप्रकृति को कार्यजगत् में परिवर्तित करके प्रकट हुआ॥ ७॥

आशा है अब आप भली-भाँति समझ जावेंगे कि मनुस्मृति में भी परमात्मा के जन्म-धारण तथा अवतार का ज़बरदस्त खण्डन है। अब तीनों श्लोकों की रोशनी में आपके श्लोक के अर्थ इस प्रकार से हुए—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ —मनु० १।९

अर्थ—वह प्रकृतिरूप बीज, अर्थात् सोने के समान चमकनेवाला कारणसूर्य अण्डे के समान गोल रूप हो गया। उसके ऐसा कार्यरूप बनने पर सारे संसार के पितामह ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा अपने-आप ही प्रसिद्धि हो गये, क्योंकि कार्य से ही कर्त्ता प्रसिद्ध होता है।

बस, इस श्लोक का यही अर्थ वेदानुकूल होने से सत्य है। इससे ईश्वर का ब्रह्मा रूप में अवतार लेना सिद्ध नहीं होता।

(३३) प्रश्न—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः' मुण्डकोपनिषत् में यह स्पष्ट है कि संसार के बनानेवाले और संसार की रक्षा करनेवाले ब्रह्मा समस्त देवताओं से पहिले प्रकट हुए। मानना पड़ेगा कि ब्रह्मा ईश्वर-अवतार है॥—पृ० १३८, पं० ५

उत्तर—प्रथम तो यह वेद का प्रमाण नहीं है। उपनिषद् वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, अन्यथा

नहीं। दूसरे, इस लेख में न तो ईश्वर का वर्णन है और न ही ईश्वर के जन्म लेने का वर्णन है, अपितु ब्रह्मा नाम के ऋषि का वर्णन है। यहाँ पर 'देवों में प्रथम' का अभिप्राय 'विद्वानों में अव्वल दर्जा' अर्थात् 'विद्वानों में फर्स्ट क्लास', 'सर्वश्रेष्ठ' ऐसा है, प्रथम पैदा होने का नहीं है। इस पाठ का सत्य, वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

—मुण्डको० १।१

भाषार्थ—ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध, मुख्य, ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा संसार के ज्ञानरूप जन्मदाता तथा रक्षक ब्रह्मा नामक ऋषि प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अथर्वा नामक अपने बड़े पुत्र को सब विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश किया॥ १॥

ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध और ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा अपने शिष्यवर्ग को जन्म देनेवाला 'ब्रह्मा' नामक ऋषि हुआ। उस ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। बस, इसके सिवा यहाँ अवतार की गन्ध भी नहीं है।

वराहावतार

(३४) प्रश्न—'वराहेण पृथिवी संविदाना।' [अथर्व० १२।१।४८] में वराह—सूकररूपधारी प्रजापति ईश्वर-अवतार का वर्णन है। —पृ० १६८, पं० १७

उत्तर—इस मन्त्र को आपने पूरा न देकर धोखा किया है। इस पूरे मन्त्र को पढ़ने से पता लगता है कि न इसमें कहीं ईश्वर का वर्णन है और न ही उसके अवतार की चर्चा है, अपितु यहाँ पर पृथिवी, मेघ तथा सूर्य की विद्या का वर्णन है। केवल वराह शब्द को देखते ही अवतार की कल्पना करना निर्मूल है, क्योंकि निरुक्त ५।४।१ में **'वराहो मेघो भवति'** वराह नाम मेघ का है, स्पष्ट लिखा है। पूरा मन्त्र तथा उसका ठीक अर्थ इस प्रकार है—

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥

—अथर्व० १२।१।४८

भाषार्थ—धारण-सामर्थ्य को और भारीपन रखनेवाले सामर्थ्य को धारण करनेवाली, भले और बुरे के समूह को सहनेवाली, मेघ के साथ मिली हुई पृथिवी सुखद किरणोंवाले गमनशील सूर्य के लिए विविध प्रकार से प्राप्त होती है।

भावार्थ—पृथिवी अपने धारण-आकर्षण से सब पदार्थों को अपने पर रखती है और सूर्य के सन्मुख जल आकाश में चढ़ता और बरसता है, उस पृथिवी को उपयोगी बनाने में मनुष्य प्रयत्न करें।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस मन्त्र में ईश्वर-अवतार का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है।

(३५) प्रश्न—'उद्धृतासि वराहेण।' [तैत्ति० अ० १ अनु० मं० ३०] में भी ईश्वर के वराह अवतार की पुष्टि की गई है। —पृ० १६८, पं० २१

उत्तर—प्रथम तो आपका यह प्रमाण वेद का नहीं है, क्योकि तैत्तिरीय आरण्यक भी परतःप्रमाण है। दूसरे, इस पाठ में भी ईश्वर या ईश्वर के जन्म लेने की लेशमात्र भी चर्चा नहीं है, क्योंकि आप भी वराह भगवान् के सैकड़ों हाथ तथा उसका काला रंग नहीं मानते, अतः यहाँ पर भी भूमि का उद्धार करनेवाले सैकड़ों शक्तियों से सम्पन्न काले रंग के मेघ का ही वर्णन वेदानुकूल है।

उद्‌धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना॥

भाषार्थ—इस पृथिवी का वर्षा की सैकड़ों धारारूप शक्तियों से युक्त काले रंगवाले मेघसमूह ने उद्धार किया है। इसके सिवाय यहाँ पर और अर्थ असम्भव है।

(३६) प्रश्न—'इयती ह वा इयमग्रे।' [शत० १४।१।२।११] में भी वराह अवतार का वर्णन मौजूद है॥ —पृ० १६८, पं० २५

उत्तर—आपको वेद का तो कोई प्रमाण मिलता ही नहीं। यहाँ पर भी वराह शब्द को देखते ही शतपथ का प्रमाण दे मारा। श्रीमान्‌जी! इस पाठ में भी न ईश्वर का वर्णन है और न ही उसके जन्म लेने का प्रतिपादन है, अपितु यहाँ भी यज्ञ से वर्षा द्वारा प्रजा का पालन करनेवाले पृथिवी के पति मेघ का ही वर्णन है। इस पाठ का वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार से है—

इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष
इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिरिति॥

—शत० १४।१।२।११

भाषार्थ—यह इतनी पृथिवी जो सामने है, यह उस सारी पृथिवी का भागमात्र है, (क्योंकि तीन भाग पृथिवी जलों के नीचे है और एक भाग खाली है) उसका यह मेघ उद्धार करता है। सो मेघ इसका पति तथा प्रजा का पालन करनेवाला है।

कहिए, इससे अवतार कैसे सिद्ध हुआ और आपके वराहजी ने अवतार लेकर संसार का उपकार क्या किया? हमें तो पुराणों में वराह की कथा इस प्रकार से मिलती है। देखिए—

वाराहे च वराहश्च ब्रह्मणा संस्तुतः पुरा। उद्दधार महीं हत्वा हिरण्याक्षं रसातलात्॥ २७॥
जले तां स्थापयामास पद्मपत्रं यथार्णवे। तत्रैव निर्ममे ब्रह्मा सर्वं विश्वं मनोहरम्॥ २८॥
दृष्ट्वा तदधिदेवीं च सकामां कामुको हरिः। वराहरूपी भगवान् कोटिसूर्यसमप्रभः॥ २९॥
कृत्वा रतिकरीं शय्यां मूर्तिं च सुमनोहराम्। क्रीडां चकार रहसि दिव्यवर्षमहर्निशम्॥ ३०॥
सुखसंभोगसंस्पर्शान्मूर्च्छां सम्प्राप सुन्दरी। विदग्धया विदग्धेन सङ्गमोऽति सुखप्रदः॥ ३१॥
विष्णुस्तदङ्गसंश्लेषाद् बुबुधे न दिवानिशम्। वर्षान्ते चेतनां प्राप्य कामी तत्याज कामुकीम्॥ ३२॥
दधार पूर्वरूपं हि वाराहं चैव लीलया। पूजां चकार भक्त्या च ध्यात्वा च धरणीं सतीम्॥ ३३॥
बभूव तेन गर्भेण तेजस्वी मंगलग्रहः॥ ४३॥ —ब्रह्मवै० प्रकृति० अ० ८

भाषार्थ—वाराहकल्प में वराह भगवान् हुए, जिनकी ब्रह्मा ने पहिले स्तुति की। हिरण्याक्ष को मारकर रसातल से पृथिवी का उद्धार किया॥ २७॥ उसकी जल में स्थापना की जैसे समुद्र में कमल। वहाँ पर ही ब्रह्मा ने सारा सुन्दर जगत् बनाया॥ २८॥ कामातुर उसकी अधिष्ठात्री देवी को देखकर करोड़ सूर्य के समान कान्तिवाले वराहरूपी कामुक हरि भगवान् कामातुर हो गये॥ २९॥ अपनी मनोहर मूर्त्ति बनाकर और भोग-योग्य चारपाई तैयार करके देवताओं के हज़ारों वर्षों तक दिनरात कामक्रीड़ा की॥ ३०॥ वह सुन्दरी आनन्दभोग के स्पर्श से मूर्च्छा को प्राप्त हो गई। चतुर का चतुर के साथ भोग भी सुखदायक होता है॥ ३१॥ विष्णु उसके अंगों के स्पर्श से दिन-रात बेहोश पड़े रहे। वर्ष के पीछे चेतनता को प्राप्त होकर कामी विष्णु ने कामुकी को छोड़ दिया॥ ३२॥ पहिले की भाँति ही लीला से वराहरूप धारण कर लिया और सती धरणी को याद करके उसकी पूजा करने लगे॥ ३३॥ इस गर्भ से तेजस्वी मंगल नाम का ग्रह पैदा हुआ॥ ४३॥

कहने में आप चाहे कितनी बातें कहें, किन्तु पुराणों में वर्णित अवतारों के आचरण से तो संसार को कोई धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती।

वामनावतार

(३७) प्रश्न—'इदं विष्णुर्विचक्रमे।' [यजुः० ५।१५] इत्यादि मन्त्र में वामन अवतार का वर्णन मौजूद है। —पृ० १६९, पं० १५

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमेश्वर के जन्म लेने का वर्णन है और न ही पौराणिक वामनावतार का नाम है, अपितु इस मन्त्र में 'परमात्मा ने तीन प्रकार के जगत् को बनाकर आकाश में स्थित कर रक्खा है' यह वर्णन किया गया है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा॥ —यजुः० ५।१५॥

भावार्थ—सब जगत् में व्यापक परमेश्वर इस जगत् को रचता हुआ, इस प्राप्त करने योग्य जगत् को तीन प्रकार से धारण करता है। इस प्रकाशवान्, प्रकाश-रहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु-आदिरूप अच्छे प्रकार देखने और दिखलाने योग्य जगत् को अन्तरिक्ष में स्थापित करता है॥ १५॥

कहिएगा, इसमें से आपका वामनावतार कैसे सिद्ध होता है?

(३८) प्रश्न—'मध्ये वामनमासीनम्।' [कठ० ५।३] इस मन्त्र में भी ईश्वर के वामनावतार की पुष्टि की है। —पृ० १६९, पं० २०

कठ उपनिषद् स्वतःप्रमाण नहीं, अपितु वेदानुकूल होने से प्रमाण हो सकता है। आपने पूरा मन्त्र दर्ज नहीं किया, वरना आपको पता लग जाता कि इस मन्त्र में न ईश्वर का वर्णन है और न ही ईश्वर के जन्म का प्रतिपादन है, अपितु इस मन्त्र में 'शरीर में जीवात्मा की स्थिति' कथन की गई है। वामन शब्द का अर्थ 'सूक्ष्म' तथा 'प्रशंसित ज्ञानवाला' है। इस मन्त्र का पूरा पाठ तथा वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार से है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ —कठ० ५।३

भाषार्थ—जो जीवात्मा प्राणवायु को ऊपर ले-जाता है और अपानवायु को हृदयदेश से नीचे फेंकता है, उस बीच में (हृदय में) स्थित सूक्ष्म, परिच्छिन्न, ज्ञानी जीवात्मा को सब इन्द्रियाँ सेवन करती हैं॥ ३॥

बतलाइए, इसमें कहीं पर ईश्वरावतार की गन्ध भी है?

(३९) प्रश्न—'वामनो ह विष्णुरास।' [शथ० १।२।२।५] में भी विष्णु के वामनावतार को सिद्ध किया गया है। —पृ० १६९, पं० २३

उत्तर—जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। आपने स्वयं ही शतपथ का पाठ देकर बतला दिया कि 'वामन नाम विष्णु का है।' चूँकि विष्णु अर्थात् व्यापक परमात्मा का ही नाम वामन है, न कि परमात्मा किसी फ़रज़ी वामनरूप को धारण करके लोगों को ठगता फिरता है।

(४०) प्रश्न—इसी प्रकार वेद में समस्त अवतारों का वर्णन है। —पृ० १७०, पं० १

उत्तर—प्रथम आपने सृष्टि की सारी शक्लों को ब्रह्म की ही शक्लें सिद्ध करके सबको अवतार सिद्ध करने का यत्न किया, जोकि निष्फल गया। फिर आपने कहा कि ब्रह्म के अवतार तो सैकड़ों होते हैं, किन्तु उनमें से दश मुख्य हैं। फिर जब सिद्ध करने का समय आया तो केवल यक्ष, मत्स्य, ब्रह्मा, वराह और वामन, इन पाँच का ही वर्णन कर सके। उनमें से यक्ष का तो अवतारों में नाम ही नहीं है। रह गये चार। उनमें से भी ब्रह्मा का नाम २४ अवतारों में तो है, किन्तु दश विशेष अवतारों में ब्रह्मा का नाम नहीं है। रह गये तीन। उनमें से मत्स्यावतार के लिए वेद का कोई मन्त्र पेश नहीं किया जा सका, शतपथ का प्रमाण देकर रह गये। अब रहे दो। उन दोनों

में से वामनावतार के लिए जो वेदमन्त्र पेश किया है, उसमें वामन शब्द ही नहीं है, अपितु, विष्णु नाम से व्यापक ब्रह्म का वर्णन है। अब रह गये केवल एक वराह भगवान्। उनके लिए वेद का एक मन्त्र पेश किया जिसमें वराह अवतार का नामोनिशान भी नहीं है, अपितु वराह शब्द से मेघ का वर्णन है। जैसे आपने इन अवतारों का वर्णन वेद से सिद्ध किया, यदि समस्त अवतारों का भी इसी प्रकार का वर्णन वेदों में है तो अवतारों का अल्ला ही बेली है। और अवतार आज नहीं तो कल भी नहीं। और यदि वेद के प्रकरण, शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को देखे बिना केवल किसी का नाम ही किसी मन्त्र में आने से वह अवतार माना जा सकता हो तो फिर अवतारों की क्या कमी है! इस प्रकार तो सभी किसी वेद के शब्द पर अपना नाम रखकर सनातन धर्म के पूज्य तथा ईश्वर का अवतार बन जाएँगे; जैसे—

(अ) हज़रत ईसा सनातन धर्म के अवतार हुए, क्योंकि '**ईशावास्यम्।**' [यजुः० ४०।१] में उनका नाम आता है। वास्तविक अर्थ ईश्वर है।

(आ) ईसा की माता मर्यम अवतार हुईं, क्योंकि '**मर्यं न योषा कृणुते।**' [ऋ० १०।४०।२] में उनका नाम आता है। वास्तविक अर्थ मनुष्य है।

(इ) कबीरजी भी अवतार हुए, क्योंकि '**कविर्मनीषी।**' [यजुः० ४०।८] में उनका नाम आता है। सही अर्थ सर्वज्ञ है।

(ई) धयापां धानकी भी अवतार हुई, क्योंकि '**धयापां प्रपीनम्।**' [यजुः० १७।८७] में उसका नाम मौजूद है। शब्दार्थ जल पीना है।

(उ) शंभु भंगी भी अवतार हुआ क्योंकि '**परिभूःस्वयंभूः।**' [यजुः० ४०।८] में उसका नाम आता है। शब्दार्थ नित्य परमात्मा है।

(ऊ) मैं भी सनातन धर्म का अवतार हूँ क्योंकि '**मनसा जुष्टा।**' [यजुः० ४।१७] में मेरा नाम मौजूद है। शब्दार्थ 'मन से' है।

(ऋ) मेरी धर्मपत्नी लक्ष्मी भी अवतार हुई क्योंकि '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च।**' [यजुः० ३१।२२] में उसका नाम आता है। शब्दार्थ ऐश्वर्य है।

(ऋ) मेरा लड़का सत्य भी अवतार हुआ, क्योंकि '**ऋतं च सत्यं च।**' [ऋ० १०।१९०।१] में उसका नाम मौजूद है। शब्दार्थ प्रकृति है।

कहिएगा, क्या आप हम सबको ईश्वर का अवतार मानकर हमारी धूप-दीप से आरती उतारकर पूजने को तैयार हैं? यदि नहीं तो साफ शब्दों में स्वीकार करो कि वेदों में ईश्वर के जन्म लेने का वर्णन एक भी मन्त्र में नहीं है, अपितु वेद के सभी मन्त्र ईश्वर को अकाय, अजन्मा और व्यापक वर्णन करते हैं।

निराकार

(४१) प्रश्न—मन्त्र तथा ब्राह्मण और उपनिषत् भागों में ईश्वर को निराकार भी बतलाया गया है, किन्तु जो ग्रन्थ ईश्वर को निराकार बतलाता है वह साथ में साकार रूप का भी वर्णन कर देता है। —पृ० १७०, पं० ४

उत्तर—एक द्रव्य में दो विरुद्ध गुण नहीं रहा करते, अतः ईश्वर में निराकारता तथा साकारता दो विरुद्ध गुणों का मानना न्याय के विरुद्ध है। चारों मूलवेद, मन्त्रसंहिता ईश्वरकृत होने से स्वतः-प्रमाण हैं तथा ब्राह्मण और उपनिषद् मनुष्यकृत होने से परतःप्रमाण हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार वर्णन करता हो। अपितु चारों वेद ईश्वर को निराकार, सर्वव्यापक तथा अकाय वर्णन करते हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषदों में जहाँ ईश्वर को निराकार वर्णन

किया है वद वेदानुकूल होने से प्रमाण के योग्य है। यदि इन ग्रन्थों में कहीं ईश्वर को साकार वर्णन किया गया हो तो वह वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। यदि कोई ग्रन्थ ईश्वर को निराकार तथा साकार दोनों रूप में वर्णन करता हो तो वह ग्रन्थ व्याघात अर्थात् परस्पर-विरोध होने के कारण प्रमाण के योग्य नहीं समझा जा सकेगा।

(४२) प्रश्न—'स पर्यगात् ।' [यजुः० ४०।८] इस मन्त्र में जहाँ **'अकायम्'** पद से ईश्वर को निराकार वर्णन किया है, वहाँ पर **'परिभूः स्वयंभूः'** इन दो पदों से चारों ओर से प्रकट होनेवाला तथा अपने-आप शरीर धारण करनेवाला बयान किया है। —पृ० १७०, पं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में एक पद भी ईश्वर को साकार वर्णन करनेवाला नहीं है। 'परिभूः' का अर्थ है—'दुष्ट, पापियों का तिरस्कार करनेवाला' तथा **'स्वयंभूः'** का अर्थ है 'अनादिस्वरूप'। इन दोनों पदों के आपके किये हुए अर्थ स्वयं इस मन्त्र के पदार्थ से ही विरुद्ध हैं, क्योंकि जो परमात्मा **'अकायमस्नाविरम्'**—'शरीररहित तथा नाड़ी और नस के बन्धन से रहित' हो उसके लिए 'चारों ओर से प्रकट होनेवाला तथा अपने-आप शरीर धारण करनेवाला' कहना अत्यन्त असम्भव तथा असङ्गत और व्याघातदोष से दूषित है। इस मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ संख्या ३ पर देखने की कृपा करें।

(४३) प्रश्न—जब ईश्वर के शरीर ही नहीं तो फिर यह क्यों कहा कि —'व्रणशून्य, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध, पापशून्य' है? जब शरीर निषेध कर दिया तब तो व्रण, नस-नाड़ी और पाप तीनों का ही निषेध हो गया। शरीरधारियों के ही फोड़ा-फुंसी, नस, नाड़ी और उनसे ही पाप अनुष्ठान होता है; जब शरीर ही नहीं तो फिर व्रणादि का निषेध कैसा?

—पृ० १७०, पं० २०

उत्तर—वेद ने परमात्मा के शरीररहित होने में ये तीन हेतु वर्णन किये हैं, ताकि मनुष्यों को परमात्मा को शरीररहित होने का निश्चित ज्ञान हो जावे और परमात्मा के शरीर-धारण की भ्रान्ति निवृत्त हो जावे।

(क) **'भोगायतनं शरीरम्'** शरीर पापों के फल भोगने का ठिकाना है। शरीर को वही धारण करता है, जिसे अपने पापों का फल भोगना हो, चूँकि परमात्मा पापशून्य है, अतः वह शरीर-धारण नहीं करता।

(ख) शरीर को वही धारण कर सकता है जो परिच्छिन्न होने के कारण शरीर के अन्दर रहते हुए नाड़ी और नसों के बन्धन में फँसकर तादात्मभाव-सम्बन्ध से शरीर को अपनावे और इन्द्रियों के द्वारा सांसारिक विषयों का अनुभव करे। चूँकि परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण किसी एक शरीर के अन्दर रहकर नाड़ी और नसों के बन्धन में फँसकर तादात्मभाव-सम्बन्ध से किसी शरीर को नहीं अपना सकता, इसलिए वह शरीर से रहित है।

(ग) जो शरीर धारण करते हैं, उनके शरीर में धातु-विकार से फोड़े-फुंसी आदि रोग तथा शरीरधारियों का परस्पर द्वेष सम्भव होने से युद्धादि में ज़ख़्मी होना आवश्यक है। चूँकि परमेश्वर निराकार और द्वेष से शून्य है, अतः वह शरीर धारण करके विकारी और ज़ख़्मी नहीं हो सकता।

(४४) प्रश्न—किसी पुरुष ने अपने मित्र से पूछा कि आपके कोई लड़का है? उसने उत्तर दिया कि मेरे कोई लड़का नहीं और उस लड़के के एक आँख तथा एक हाथ नहीं। इसका क्या मतलब? मतलब यही निकलेगा कि इस पुरुष के निज का लड़का नहीं है; गोद लिया है और वह काना-टोंटा है। यही दशा इस अर्थ में है। —पृ० १७०, पं० २५

उत्तर—आपका यह दृष्टान्त इस मन्त्र के अर्थ के अनुकूल नहीं है। इस मन्त्र के अर्थ के अनुकूल तो यह दृष्टान्त हो सकता है कि 'वह यज्ञदत्त अविवाहित, निःसन्तान, विरक्त, विषयशून्य,

ब्रह्मचारी तथा धर्मात्मा है' यहाँ पर निःसन्तान, विरक्त तथा विषयशून्य, ये तीनों यज्ञदत्त के अविवाहित होने में हेतु हैं। इनसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि यज्ञदत्त वेश्यागामी है, क्योंकि ब्रह्मचारी तथा धर्मात्मा ये दो विशेषण यज्ञदत्त को वेश्यागामी सिद्ध नहीं होने देते। इसी प्रकार से '**अव्रणम्**', '**अस्नाविरम्**' तथा '**अपापविद्धम्**' ये तीनों परमात्मा के '**अकायम्**' होने में हेतु हैं। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि परमात्मा का शरीर व्रणशून्य, नस-नाड़ीरहित तथा पापशून्य होता है, क्योंकि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, शुद्ध तथा सृष्टिकर्त्ता विशेषण जो इस मन्त्र में पड़े हैं वे ईश्वर को शरीरधारी सिद्ध नहीं होने देते और न ही व्रणरहित, नाड़ी-बन्धनशून्य तथा पापभोगशून्य शरीर होना सम्भव है, अतः यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है। आपका दृष्टान्त तो उलटा हमारे पक्ष को सिद्ध करता है कि 'ईश्वर के निज का शरीर तो नहीं है, किन्तु पृथिवी, जल, वायु आदि को लाक्षणिक रूप से ईश्वर का शरीरवत् होने से शरीर कहा जा सकता है। वह वास्तविक शरीर न होगा, क्योंकि वास्तविक शरीर में तो व्रण, नाड़ीबन्धन तथा पापफलभोग का होना आवश्यक है। ईश्वर का यह लाक्षणिक शरीर इन तीनों बातों से रहित है। कहिए, महाराज! 'चौबेजी छब्बे बनने चले थे, किन्तु दुब्बे ही रह गये' वही गत आपकी हुई।

(४५) प्रश्न—'**चिञ् चयने**' धातु से '**कायम्**' पद बनता है। अर्थ यह है कि '**चिनोति सुख-दुःखादिकं पापपुण्यात्मकं यस्मिंस्तत्कायम्**=इकट्ठे किये जाते हैं सुख-दुःख और पाप-पुण्य जिसमें उसका नाम काय है।' और ईश्वर कैसा है? वह '**अकाय**' है। उसके शरीर में सुख-दुःख, पाप-पुण्यात्मक कर्मबन्धन नहीं होता। वह स्वेच्छा तनु है—अपनी इच्छा से शरीर धारण करता है, यह अर्थ '**अकायम्**' पद का है। —पृ० १७१ पं० ३

उत्तर—आपके लेख से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर का न तो कोई वास्तविक शरीर है और न ही वास्तव में काया है, क्योंकि शरीर तो कहते हैं 'सुख-दुःखादि कर्मों के फल भोगने के ठिकाने को' और काया कहते हैं 'जिसमें सुख-दुःख, पाप-पुण्य इकट्ठे किये जाते हैं' और सुख-दुःख, पाप-पुण्य और उनका भोग कर्मबन्धनादि ईश्वर में होता नहीं, इससे सिद्ध है कि ईश्वर शरीर या काया धारण नहीं करता। तब फिर वह क्या चीज़ है, जिसको वह धारण करता है? यह भी बतलाइए कि वह 'स्वेच्छा तनु' क्या बला है, जिसको ईश्वर अपनी इच्छा से धारण करता है और उस स्वेच्छा तनु का क्या लक्षण है, क्योंकि वह स्वेच्छा तनु वर्त्तमान मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों-जैसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि ऐसा होगा तो उसमें उपर्युक्त लक्षणों के बिना कोई मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर नज़र नहीं आता कि जिसमें व्रण न हो सके, नस-नाड़ी न हों तथा सुख-दुःखादि पाप-पुण्यकर्मों के फल भोगने का ठिकाना न हो, फिर वह स्वेच्छा तनु क्या वस्तु है? आपके लेखानुसार तो राम, कृष्णादि भी अवतार सिद्ध नहीं हो सकते। राम ने वृन्दा के शाप से तथा कृष्ण ने राधा के शाप से कर्मफल भोगने के लिए जन्म लिया (देखो नं० २८)। राम मेघनाद के बाण से ज़ख़्मी होकर मूर्च्छित हुए और कृष्ण भील के तीर से ज़ख़्मी होकर मरे, अतः राम और कृष्ण दोनों के शरीर में व्रण, नाड़ी, नसबन्धन तथा पापकर्म-फलभोग मौजूद होने से ये दोनों ईश्वर के अवतार नहीं हो सकते।

(४६) प्रश्न—इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में 'परिभूः' शब्द है। परिभूः शब्द का अर्थ चारों तरफ़ से प्रकट होनेवाला है। जब ईश्वर परिभूः है और वह चारों तरफ़ से प्रकट होता है, शरीर धारण कर लेता है, फिर यह निराकार कैसे? —पृ० १७१, पं० १३

उत्तर—'परिभूः' शब्द का अर्थ 'चारों तरफ़ से प्रकट होनेवाला' नहीं, अपितु 'दुष्ट, पापियों का तिरस्कार करनेवाला' यह अर्थ है। महीधर भी इसका अर्थ '**परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः**'—जो सबके ऊपर विराजमान है, उसका नाम परिभूः है, अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है। आपका अर्थ तो स्वयं मन्त्र के अकायम् पद के ही विरुद्ध है और आप स्वयं भी मानते हैं कि

परमेश्वर वास्तविक शरीर वा काया धारण नहीं करता। (देखो नं० ४५)। हाँ, यदि आपका यह अभिप्राय हो कि निमित्तकारण ईश्वर उपादानकारण प्रकृति को कार्यरूप जगत् में प्रकट करता है और यही उसका चारों तरफ़ से प्रकट होना है और इस जगत् को ही लाक्षणिक रूप से ईश्वर का शरीरवत् होने से शरीरधारण मानते हों तो कुछ मानने की बात है, वरना ईश्वर का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर धारण करना वेद से सिद्ध नहीं हो सकता।

(४७) प्रश्न—परिभूः के पश्चात् ईश्वर को 'स्वयम्भूः' लिखा है। इसका अर्थ है **'स्वयं भवतीति स्वयम्भूः'** जो अपने-आप शरीर धारण करे। जब वह अपने-आप शरीर धारण करता है तो फिर उसको निराकार कौन कहेगा? —पृ० १७१, पं० १६

उत्तर—'स्वयम्भूः' का अर्थ स्वयं शरीर धारण करनेवाला नहीं, अपितु स्वयम्भूः का अर्थ अनादिस्वरूप है। इसका अर्थ महीधर भी हमारे अनुकूल ही करते हैं—**'स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः स नित्य ईश्वरः'**—जो अपने-आप ही हो, अर्थात् 'नित्य ईश्वर' स्वयम्भूः का अर्थ है। यही अर्थ भविष्यपुराण में भी किया गया है—

नोत्पद्यत्त्वादपूर्ववत्त्वात् स्वयंभूरिति विश्रुतः॥ —भविष्य० ब्राह्म० १ अ० ७७ श्लो० १५

भावार्थ—चूँकि परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता तथा अनादि है, इसलिए परमात्मा को स्वयम्भूः कहते हैं॥ १५॥

आपका अर्थ तो स्वयं मन्त्र के अकायम् पद के ही विरुद्ध है। हाँ, यदि आप लाक्षणिक रूप से जगत् के पैदा करने को ही शरीर-धारण करना मानते हों तो दूसरी बात है, वरना ईश्वर का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर धारण करना तीन काल में भी स्वयम्भूः पद से सिद्ध नहीं हो सकता।

(४८) प्रश्न—स्वयम्भूः शब्द के ऊपर **'ततः स्वयम्भूर्भगवान्'** मनु० १।६ में मनुजी भी भगवान् को प्रकट होनेवाला लिखते हैं। —पृ० १७१, पं० १९

उत्तर—इसमें परमात्मा के प्रकट होने का यही अर्थ है कि निमित्तकारण परमात्मा उपादानकारण प्रकृति से कार्यरूप जगत् बनाकर प्रसिद्ध हुआ। पूरा अर्थ देखो (नं० २३)

इस मन्त्र का महीधर-भाष्य भी हमारे पक्ष की पुष्टि करता है। यथा—

योऽयमतीतमन्त्रोक्त आत्मा स पर्यगात् परितः सर्वत्र गच्छति नभोवत्सर्वं व्याप्नोति, व्याप्य च शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यो याथातथ्यतः यथाभूतकर्म-फल-साधनतः, अर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधात्। यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। स कीदृशः? शुक्रमित्यादि विशेषणानि लिङ्गव्यत्ययेन पुंल्लिगे नेतव्यानि। शुक्रः शुद्धो दीप्तिमान्। अकायोऽशरीरः। लिंङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽक्षतः। अस्नाविरः शिरारहितः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धो निर्मलः। अपापविद्धोऽ-धर्मादिवर्जितः। कविः सर्वदृक् 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञः। परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः। स नित्य ईश्वरः सर्वं कृतवानित्यर्थः।

—४०।८

भाषार्थ—जो यह पिछले मन्त्र में कहा परमात्मा है वह आकाशवत् सर्वव्यापक है और सर्वव्यापक होकर नित्य प्रजापतियों के लिए जीवों के प्रति यथायोग्य कर्मफल साधन से करने योग्य पदार्थों को बनाता है—यथानुरूप विभाग कर दिया, यह भाव है। वह कैसा है? शुद्ध, दीप्तिमान्, शरीर से रहित। लिंग शरीर से रहित यह अर्थ है। घावशून्य, नाड़ी-नसरहित—घावरहित, नाड़ीशून्य इन दो विशेषणों से स्थूलशरीर का निषेध है। निर्मल, अधर्म से रहित,

सर्वदर्शी, मनीषी—सर्वज्ञ, ऊपर-ऊपर विराजमान नित्य ईश्वर ने सब-कुछ बनाया यह अर्थ है।

(४९) प्रश्न—इस एक मन्त्र को छोड़कर चारों वेदों में कोई दूसरा ऐसा मन्त्र नहीं है जो ईश्वर को निराकार कहता हो। —पृ० १७१, पं० २९

उत्तर—वेदों में ईश्वर को निराकार, अजन्मा वर्णन करनेवाले '**न तस्य प्रतिमास्ति।**' यजुः० ३२। ३, '**स जायत प्रथमः।**' ऋ० ४। १। ११, '**सर्वेनिमेषा जज्ञिरे।**' यजुः० ३२। २, '**अन्तरिच्छन्ति।**' ऋ० ८। ७२। ३, '**स पर्यगात्।**' यजुः० ४०। ८, '**अपादिन्द्रः।**' ऋ० ८। ६९। ११, '**अजो न क्षाम्।**' ऋ० १। ६७। ३, '**उत नोऽहिर्बुध्न्यः।**' ऋ० ६। ५०। १४, आदि-आदि हज़ारों मन्त्र भरे पड़े हैं, किन्तु समस्त वेदों में एक मन्त्र भी ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार अथवा जन्म धारण करनेवाला वर्णन करता हो। यदि हिम्मत हो तो निकालकर दिखाओ!

(५०) प्रश्न—'दुर्जनतोषन्याय' से हम यह भी मान लें कि इस मन्त्र में ईश्वर को निराकर कहा है तो इतने से निराकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि '**ब्रह्म ह देवेभ्यः १**', '**मनवे ह वै २**', '**ब्रह्मा देवानाम् ३**', '**उद्धृताऽसि वराहेण ४**', '**इयती ह वा ५**', '**मध्ये वामनम् ६**', '**वामनो ह विष्णुः ७**', '**तदेवाग्निः ८**', '**पुरुष एवेदं ९**', '**एषो ह देवः १०**', '**प्रजापतिश्चरति ११**', '**ब्रह्मज्येष्ठा १२**', '**वराहेण पृथिवी १३**', '**इदं विष्णुः १४**' प्रभृति प्रमाणों से वेद ने ईश्वर को साकार बतलाया है। क्या इन वेद के प्रमाणों को कोई मनुष्य दबा लेगा?—पृ० १७२, पं० २

उत्तर—दबाने की क्या ज़रूरत है, जबकि इन प्रमाणों से ईश्वर का साकार होना सिद्ध ही नहीं होता। प्रथम के ७ प्रमाण तो आपने जनता को भ्रम में डालने के लिए वेद के नाम से जाली दिये हैं, क्योंकि ये प्रमाण वेद के नहीं हैं, अपितु, ब्राह्मण तथा उपनिषदों के हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषदों के प्रमाण वहाँ तक ही मानने योग्य हैं जहाँ तक वे वेदानुकूल हों। वेद से विरुद्ध होने पर वे प्रमाण नहीं माने जा सकते, तथापि इन समस्त प्रमाणों में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार या अवतार धारण करनेवाला वर्णन करता हो। इन समस्त प्रमाणों के विषय में अपने-अपने स्थान में विस्तारपूर्वक लिख दिया है, वहाँ पर देखने की कृपा करें।

(५१) प्रश्न—उपनिषदों में ईश्वर को निराकार प्रतिपादन किया है, साथ ही साथ परमात्मा को साकार भी बतला दिया है। —पृ० १७२ पं० १२

उत्तर—वेदों में ईश्वर को निराकार ही वर्णित किया है। उपनिषदों के जो प्रमाण ईश्वर को निराकार वर्णन करते हैं, वे वेदानुकूल होने से प्रमाण माने जावेंगे। यदि उपनिषदों का कोई प्रमाण ईश्वर को साकार वर्णन करता होगा तो वह वेदविरुद्ध होने से प्रमाण न माना जा सकेगा, क्योंकि उपनिषदें परत:प्रमाण हैं।

(५२) प्रश्न—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्व प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥ १७॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥ १९॥

—श्वेताश्वतर० अ० ३

भाषार्थ—सब इन्द्रियों के विषयों को प्रकाश देनेवाला, समस्त इन्द्रियरहित, सबका प्रभु, स्वामी, सबका रक्षक, सबसे बड़ा ईश्वर है॥ १७॥ ईश्वर के हाथ और पैर नहीं, किन्तु बिना पैर के चलता है और बिना हाथ के पकड़ता है। ईश्वर के नेत्र नहीं किन्तु वह देखता है, कान नहीं परन्तु सुनता है। वह समस्त जानने योग्य पदार्थों को जानता है, किन्तु उस ईश्वर का जाननेवाला कोई नहीं। उसको अग्र—सबसे प्रथम वर्त्तमान पुराणपुरुष कहते हैं॥ १९॥

इन दो श्रुतियों से निराकार सिद्ध करना कुछ बहुत बड़ी बुराई नहीं है। —पृ० १७२, पं० १८

उत्तर—उपनिषत् के मन्त्रों का नाम श्रुति नहीं। श्रुति केवल वेद के लिए ही कहा जा सकता है। इन प्रमाणों से ईश्वर निराकार सिद्ध करना उत्तम गुण है, और उपनिषत् के ये प्रमाण वेदानुकूल होने से मानने के क़ाबिल हैं।

(५३) प्रश्न—बुराई तो यह है कि इसी श्वेताश्वतरोपनिषद् में '**एषो ह देवः**' २।१६ की श्रुति को, जो ईश्वर का अवतार होना सिद्ध करती है, छिपा लिया जाता है।

—पृ० १७३, पं० ६

उत्तर—न ही उपनिषद् का यह प्रमाण अवतार होना सिद्ध करता है और न ही इसे छिपाने की आवश्यकता है, क्योंकि उपनिषद् में आया हुआ यजुर्वेद (३२।४) का मन्त्र ईश्वर को सर्वव्यापक तथा निराकार वर्णन करता है। पूरा मन्त्र तथा ठीक अर्थ देखो (नं० २५)।

(५४) प्रश्न—यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं
परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥　　　　—मुण्डक १।१

भाषार्थ—जो ईश्वर अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, वर्णरहित है, जिसके चक्षु नहीं, जिसके कान नहीं, हाथ नहीं, पैर नहीं, नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, जो सूक्ष्म है, जो अव्यय है, समस्त भूतों की योनि है। उसको धीरपुरुष देखते हैं। निराकार विषय में इसका प्रमाण देना न्याय है।　　　　—पृ० १७३, पं० १८

उत्तर—ठीक है, मुण्डकोपनिषत् का यह लेख वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

(५५) प्रश्न—किन्तु अन्याय यह है कि '**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्भभूव**' यह मुण्डक की श्रुति जो ईश्वर को साकार बतलाती है, इसको छिपा लिया जाता है। —पृ० १७३, पं० २७

उत्तर—इस मन्त्र में ईश्वर का ज़िक्र ही नहीं है, अपितु ब्रह्मा नामवाले ऋषि का वर्णन है। पूरा पाठ तथा ठीक अर्थ देखो (नं० ३३)।

(५६) प्रश्न—जो लोग यह कहते हैं कि हम वेद को स्वतःप्रमाण और उपनिषदों को वेदानुकूल होने पर प्रमाण मानते हैं वे ही वेद में आई हुई '**एषो ह देवः**' श्रुति को छिपाते हैं और जो '**सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**' तथा '**अपाणिपादः**' श्रुतियाँ वेद में नहीं आई उनको स्वतःप्रमाण मानते हैं।　　　　—पृ० १७३, पं० १२

उत्तर—हम लोग '**सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**' तथा '**अपाणिपादः**' इन उपनिषद् के मन्त्रों को स्वतःप्रमाण नहीं मानते। अपितु '**स पर्यगात्**' इस वेदमन्त्र के अनुकूल होने से प्रमाण मानते हैं। हम '**एषो ह देवः**' प्रमाण को छिपाते भी नहीं हैं। जब आप स्वयं मानते हैं कि यह मन्त्र यजुर्वेद का है तो फिर आप स्वामी दयानन्दजी के यजुर्वेदभाष्य में देखें। इसपर भाष्य किया है या नहीं। यदि किया है तो फिर आपका यह कहना कि इस श्रुति को छिपाते हैं, सर्वथा मिथ्या और भ्रमोत्पादक है।

(५७) प्रश्न—ईश्वर के विषय में वेद का अभिप्राय यह है कि वह प्रलयकाल में अरूप रहता है। वह अरूप ब्रह्म इच्छाशून्य, अविज्ञेय, अनिर्वचनीय है, किन्तु इस ब्रह्म का अंश मायिक ब्रह्म कहलाता है। उसमें जहाँ इच्छा होती है, वहाँ संसार को अपने शरीर से उत्पन्न करता है।

—पृ० १७४, पं० ५

उत्तर—आप वेद का नाम लेकर अपने कपोलकल्पित अभिप्राय को प्रकट कर रहे हैं, वरना आपके इस अभिप्राय का एक भी वेदमन्त्र ने अनुमोदन नहीं किया। वह सनातन ब्रह्म सदा एकरस और निर्विकार है। कालभेद से उसमें परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि परिणामी पदार्थ नित्य नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म सदा ही व्यापक, निराकार, निर्विकार और रूपरहित है। यह माया क्या वस्तु

है, यह ब्रह्म से भिन्न पदार्थ है या माया अथवा अविद्या ब्रह्म का ही गुण है? यदि भिन्न पदार्थ है तो आपने माया कहा हमने प्रकृति कह दिया—भेद क्या पड़ा? और यदि यह अविद्या ब्रह्म का ही गुण है तो वह ब्रह्म अज्ञानी होकर ब्रह्म कहाने के योग्य न रहेगा। कोई गुण किसी पदार्थ के एक अंश में नहीं रहा करता और न ही ईश्वर में अंशांशी भाव हो सकता है, क्योंकि वह अनन्त है। जब आप ब्रह्म को इच्छाशून्य लिख रहे हैं तो उसमें इच्छा आई कहाँ से? क्या अभाव से भाव हो गया? यदि ब्रह्म ने अपने शरीर से जगत् को रचा है तो जगत् में ब्रह्म के गुण क्यों नहीं? अतः आपकी समस्त कल्पना वेदविरुद्ध और मिथ्या है। वास्तव में निमित्तकारण ब्रह्म ने साधारणकारण जीवों के लिए उपादानकारण प्रकृति से जगत् को बनाया। यही सिद्धान्त वेदानुकूल और सत्य है।

(५८) प्रश्न—जिस प्रकार मिट्टी से घट, लोहे से कुल्हाड़ी और सुवर्ण से कटक, अंगूठी बनती है, उसी प्रकार यह समस्त संसार ब्रह्म से बनता है। जैसे घट मिट्टी से और कुल्हाड़ी लोहे से तथा कड़े, अंगूठी सोने से भिन्न नहीं हैं, ऐसे ही यह संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जितनी शकलें छोटी-बड़ी, लम्बी चौड़ी, संसार में दीख रही हैं, ये सब ब्रह्म की शकलें हैं।

—पृ० १७४, पं० ८

उत्तर—जैसे घट में मिट्टी के, कुल्हाड़ी में लोहे के, कटक तथा अंगूठी में सोने के गुण वर्त्तमान हैं, वैसे ही इस समस्त संसार में ब्रह्म के चैतन्य, सर्वज्ञता आदि गुण क्यों वर्त्तमान नहीं हैं? अतः इस संसार का उपादानकारण ब्रह्म नहीं, अपितु प्रकृति है। हाँ, व्याप्य-व्यापकभाव से सारा ही संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं है, स्वरूप से भिन्न है। ये जितनी शक्लें नज़र आ रही हैं, वे सब प्रकृति की हैं, ब्रह्म की नहीं हैं।

(५९) प्रश्न—इस अभिप्राय को लेकर वेद ने व्यापकत्व और सर्वस्वरूपत्व दो भेदों से प्रजापति को साकार बतलाया। संसार में ईश्वर अनेक रूप धारण करके आता है। इसी को अवतार कहते हैं। —पृ० १७४, पं० १२

उत्तर—वेद का कोई मन्त्र आप ईश्वर को साकार सिद्ध करने में पेश नहीं कर सके। व्याप्य के साकार होने से व्यापक साकार नहीं बनता। ब्रह्म संसार का '**अभिन्न-निमित्तोपादानकारण**' नहीं है अपितु ईश्वर, जीव, प्रकृति—संसार के तीन अनादि कारण हैं। ईश्वर अजन्मा, शरीररहित है, वह कभी जन्म-मरण में नहीं आता।

(६०) प्रश्न—किन्तु ब्रह्माण्डों से बाहर जो ब्रह्म है वह अब भी अरूप है, इस कारण से वेद ने प्रजापति को रूपरहित (निराकार) और रूपवान् (साकार) दो प्रकार का बतलाया है।

—पृ० १७४, पं० १८

उत्तर—ईश्वर इस जगत् के अन्दर और बाहर एकरस निर्विकार, व्यापक, निराकार, रूपरहित सदा से वर्त्तमान है। वेद का एक मन्त्र भी आप ब्रह्म के दो रूप होने में पेश नहीं कर सके। आपने जो शतपथ तथा बृहदारण्यक के दो प्रमाण दिये हैं, उनमें से एक में यज्ञ के तथा दूसरे में प्रकृति के दो-दो रूप वर्णन किये हैं, ब्रह्म के नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि वेद ईश्वर को अजन्मा, निर्विकार, निराकार वर्णन करता है, जन्म धारण करनेवाला विकारी तथा साकार वर्णन नहीं करता, क्योंकि जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस, रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला! उस अनन्त गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती

है? और जो कोई कहे कि भक्तजनों का उद्धार करने के लिए जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् का बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस, रावण आदि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो ईश्वर के सदृश न कोई है, न होगा; और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता, जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया वा मुट्ठी में धर लिया—ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता, वैसे ही परमात्मा के अनन्त और सर्वव्यापक होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना वा आना वहाँ हो सकता है जहाँ कोई न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया, और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा! इसलिए परमेश्वर का आना-जाना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता और ईश्वर साकार भी नहीं है, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा वह शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा-रोग, दोष और छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेवाला दूसरा होना चाहिए, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए। जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर बना लिया तो भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व वह निराकार था। परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है। अच्छा, भला यह तो बतलाने की कृपा करें कि एक ही समय में अनेक अवतारों की क्या आवश्यकता थी? ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तीनों अवतार एक ही समय में हुए। कृष्ण, बलराम तथा अर्जुन एक ही समय में, राम और परशुराम एक ही समय में! फिर अवतार की अवतार से लड़ाई! राम और परशुराम तथा विष्णु और शिव तथा ब्रह्मा और शिव की लड़ाइयाँ प्रसिद्ध हैं और यह भी बतावें कि अवतारों में विशेषता क्या थी? राम कौसल्या के गर्भ से तो कृष्ण देवकी के गर्भ से पैदा हुए। कृष्ण भील के तीर से मरे तो राम ने सरयू में डूबकर प्राण त्यागे। कृष्ण के शरीर को चिता में जलाया गया। राम को सुग्रीव तथा बाली में पहिचान न हुई; जटायु के बिना सीता के ले-जानेवाले का पता न लगा। हनुमान् के बिना सीता का पता न लगा। रोते रहे, ढूँढते फिरे। कृष्ण जरासंध से डरकर द्वारका चले गये; द्यूत का पता न लगा इत्यादि इनसानों के लक्षण हैं या परमेश्वर के? अतः सिद्ध हुआ कि राम, कृष्णादि मनुष्य थे, परमेश्वर न थे।

अवतारवाद और स्वामी दयानन्द

(६१) प्रश्न—यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्याय च स्वाय
चारणाय च...इत्यादि —यजुः० २६।२

भावार्थ—हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे (**ब्रह्मराजन्याभ्याम्**) ब्राह्मण, क्षत्रिय (**अर्याय**) वैश्य (**शूद्राय**) शूद्र (**च**) और (**स्वाय**) अपने स्त्री, सेवकादि (**च**) और (**अरणाय**) उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यज के लिए (**च**) भी (**जनेभ्यः**) इन उक्त सब मनुष्यों के लिए (**इह**) इस संसार में (**इमाम्**) इस प्रकट की हुई (**कल्याणीम्**) सुख देनेवाली (**वाचम्**) चारों वेदरूप

वाणी का **(आवदानि)** उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें, इत्यादि।

—स्वामी दयानन्दकृत भाष्य

इस मन्त्र के भाष्य में स्वामीजी ने ईश्वर के स्त्री तथा नौकरों का होना तथा उनका वेद पढ़ना लिखा है। जब ईश्वर के स्त्री है, तो ईश्वर का अवतार लेना तथा साकार होना स्पष्ट है, क्योंकि निराकार के स्त्री तथा नौकर नहीं हो सकते। —पृ० २, पं० ३

उत्तर—यहाँ पर स्त्री शब्द पत्नी (बीवी) अर्थों में नहीं है, अपितु परमात्मा की प्रजा में जो स्त्रीजाति (औरतें) हैं उनके लिए प्रयुक्त किया गया है और सेवक शब्द नौकर के अर्थों में नहीं, अपितु परमात्मा के भक्त, उपासक के अर्थों में आया है। संसार के समस्त स्त्री और पुरुष परमात्मा की प्रजा होने से परमात्मा का '**स्व**' अर्थात् 'मिलकियत' और परमात्मा उन सबका स्वामी अर्थात् 'मालिक' है। यद्यपि परमात्मा का '**स्व**' संसार की समस्त वस्तुएँ तथा सारे ही प्राणी हैं तथापि यहाँ पर वेदवाणी का प्रकरण होने से और मनुष्य से भिन्न प्राणियों का ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वेद का प्रकाश केवल मनुष्यों के लिए ही है। मनुष्य-जाति के दो भेद हैं—स्त्री और पुरुष, अतः परमात्मा ने 'स्वाय' शब्द से वेद के अधिकारी अपनी प्रजा स्त्री-सेवकादि सबका वर्णन कर दिया। निम्न कारणों से यहाँ स्त्री का अर्थ पत्नी नहीं है—

(क) परमात्मा को वेद ने अकाय कहा है, शरीररहित की पत्नी नहीं हो सकती।

(ख) स्वामी दयानन्दजी ने अपने ग्रन्थों में अवतारवाद का बलपूर्वक खण्डन किया है, अतः उनके भाष्य से अवतारवाद सिद्ध करने का यत्न वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अनधिकार चेष्टा है।

(ग) स्त्री शब्द का अर्थ सर्वत्र पत्नी नहीं है। जैसे—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। —मनु० २।३३

स्त्रियों का नाम सुख से उच्चारण करने योग्य, क्रूरतारहित, सुन्दर तथा स्पष्ट अर्थोंवाला हो। यहाँ ११ दिन की आयुवाली को स्त्री कहा है। यह श्लोक नामकरण-संस्कार का विधायक है। क्या यहाँ पत्नी अर्थ सम्भव है?

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। —मनु० २।६६

स्त्रियों के जातकर्मादि सम्पूर्ण संस्कार बिना विचारे ही कर देने चाहिएँ।

इत्यादि अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जहाँ स्त्री शब्द पत्नी का वाचक नहीं अपितु स्त्रीजाति (औरत) का वाची है।

(घ) योग्यता के विरुद्ध होने से यहाँ स्त्री शब्द पत्नीवाची नहीं, जैसे महाभारत में जब कृष्णजी सन्धि-वार्तार्थ जाने लगे तो द्रौपदी ने रोते हुए कहा कि सन्धि के समय मेरे अपमान को याद रखना। तब—

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिरात् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः॥

—महा० उद्योग० अ० ८२, श्लोक ४४

महाभुजा कृष्ण ने शान्त करते हुए द्रौपदी से कहा—'हे कृष्णे! तू भरत की स्त्रियों को शीघ्र ही रोती हुई देखेगी।'

यहाँ पर कृष्ण का संकेत कौरवों की स्त्रियों की ओर है, तो क्या कौरवों की सब स्त्रियाँ भरत की पत्नियाँ थीं? कदापि नहीं, क्योंकि भरत कौरवों के वंश का आदिपुरुष था तथा उसको मरे हुए सैकड़ों वर्ष हो चुके थे। योग्यता के अनुसार जैसे यहाँ पर 'भरत की स्त्रियों' से अभिप्राय

'भरतवंश की स्त्रियाँ' लिया जाएगा।

प्रस्तुत मन्त्र से ईश्वर का अवतार तथा उसका साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता, अत: वेदप्रतिपादित ईश्वर में पत्नी-कल्पना तथा अवतारभ्रान्ति तो निरर्थक ही है; पौराणिक ईश्वर की पत्नियों की सेना अवश्य वर्णन की गई है। जैसे—

(अ) आपने अपनी पुस्तक के पृ० १९३, पं० २२ में ईश्वर के दो स्त्रियाँ बतलाई हैं।

(आ) **साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्टः परमलम्पटः॥ ६१॥**
आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च॥ ६२॥
वृषभानुसुता राधा सुदाम्नः शापकारणात्॥ ८६॥
त्रिंशत्कोटिं च गोपीनां गृहीत्वा भर्तुराज्ञया।
पुण्यं च भारतं क्षेत्रं गोलोकादाजगाम सा॥ ८७॥
ताभिः सार्धं स रेमे च स्वपत्नीभिर्मुदान्वितः।
पाणिं जग्राह राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः॥ ८८॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ११५

भाषार्थ—कृष्णजी गोपियों के साक्षात् यार, दुष्ट तथा अतिलम्पट थे॥ ६१॥ मथुरा में आकर कुब्जा को मैथुन से मार डाला॥ ६२॥ वृषभानु की पुत्री राधा, सुदामा के शाप से॥ ८६॥ पति की आज्ञा से तीस करोड़ गोपियों को साथ में लेकर गोलोक से पवित्र भारतवर्ष में आई॥ ८७॥ वह कृष्णजी उन अपनी पत्नियों के साथ प्रसन्नतापूर्वक रमन करते रहे। स्वयं ब्रह्मा ने पुरोहित बनकर राधा का पाणिग्रहण कृष्ण को करवाया॥ ८८॥

इत्यादि अनेक प्रमाण पौराणिक ईश्वर के विषय में मिल सकते हैं। हम विस्तार-भय से इतने पर ही बस करते हैं। तीस करोड़ पत्नियों के साथ काम-क्रीड़ा से रमण तो करे पौराणिकों का सोलह-कला सम्पूर्ण ईश्वरावतार कृष्ण, तथा अवतार धारण करने और साकार होनेका कलंक लगाया जावे वैदिक निराकार, अजन्मा, सर्वव्यापक ईश्वर पर, यह कहाँ का न्याय है?

(६२) प्रश्न—स्वामीजी ने आर्याभिविनय में नं० ४४ पर **'यो विश्वस्य जगतः।'** [ऋ० १।७।१२।५] मन्त्र का भाष्य करते हुए **'सख्याय हवामहे'** इन पदों का यह अर्थ किया है कि 'परमात्मा को सखा होने के लिए अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद होके बुलावें'; चूँकि बुलाना तथा मित्र बनाना साकार का ही हो सकता है, निराकार का नहीं, इससे ईश्वर का अवतार लेना तथा साकार होना स्पष्ट सिद्ध है। —पृ० ३, पं० २४

उत्तर—यहाँ पर 'बुलावें' के अर्थ दूर देश से बुलाने के नहीं हैं अपितु 'सम्बोधित करें', 'पुकारें' अर्थात् ईश्वर को अपनी तरफ़ 'मुख़ातिब' करें। अपने हृदय से परमेश्वर को 'मित्रता के लिए स्वीकार करें' ऐसा अर्थ है। इसमें निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देने की कृपा करें—

(क) इस मन्त्र में ही आरम्भ में यह लेख विद्यमान है कि 'जो सब जगत् **(स्थावर)** जड़, अप्राणी का और **(प्राणतः)** चेतनावाले जगत् का **(पतिः)** अधिष्ठाता और पालक है।' अधिष्ठाता के अर्थ हैं आधार, सहारा। जो सारे जगत् का सहारा होगा उसे एकदेशी समझकर बुलाना इस मन्त्रार्थ के ही अनुकूल नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापक ही सारे जगत् का सहारा हो सकता है। परमात्मा को सारे जगत् में व्यापक वर्णन करनेवाले के अर्थ में से 'बुलावें' के अर्थ दूर देश से बुलाना संगत ही नहीं हो सकते।

(ख) स्वामीजी ने इसी मन्त्र का अर्थ अपने ऋग्वेदभाष्य में करते हुए इन पदों के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

संस्कृतभाष्य—(**सख्याय**) सख्युः कर्मेणे भावाय वा (**हवामहे**) स्वीकुर्महे।

भाषार्थ—(**सख्याय**) मित्रपन के लिए (**हवामहे**) स्वीकार करते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी का अभिप्राय 'बुलावें' शब्द से दूर देश से बुलाने का नहीं अपितु स्वीकार करने का है, अतः इससे ईश्वर का अवतार तथा उसका साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यदि आपके ईश्वर को बुलाने, उसके आने-जाने आदि के दृश्य देखना स्वीकार हैं, तो वे पुराणों से आपको भली-भाँति दिखाये जा सकते हैं। देखिए, ब्रह्मवैवर्तपुराण में कुब्जा की ईशवरभक्ति का वर्णन इस प्रकार है—

कर्मणा मनसा वाचा चिन्तयन्ती हरेः पदम्।
हरेरागमनं चापि मुखचन्द्रं मनोहरम्॥ ३५॥
जगत् कृष्णमयं शश्वत्पश्यन्ती कामुकी मुने।
कोटिकन्दर्पलीलाभं कामसक्तं च कामुकम्॥ ३६॥
निद्रां च लेभे सा कुब्जा निद्रेशोऽपि ययौ मुदा॥ ५३॥
बोधयामास तां कृष्णो न दासीश्चापि निद्रिताः॥ ५५॥
त्यज निद्रां महाभागे श्रृंगारं देहि सुन्दरि॥ ५६॥
इत्युक्त्वा श्रीनिवासश्च कृत्वा तामेव वक्षसि।
नग्नां चकार श्रृंगारं चुम्बनं चापि कामुकीम्॥ ५९॥
सा सस्मिता च श्रीकृष्णं नवसंगमलज्जिता।
चुचुम्बे गण्डे क्रोडे तां चकार कमलां यथा॥ ६०॥

सुरतेर्विरतिर्नास्ति दम्पती रतिपण्डितौ। नानाप्रकारसुरतं बभूव तत्र नारद॥ ६१॥
स्तनश्रोणियुग्मं वीर्याधानं च चकार ह। भगवान्नखैस्तीक्ष्णैर्दशनैरधरं वरम्॥ ६२॥
निशावसानसमये वीर्याधानं चकार सः। सुखसम्भोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी॥ ६३॥
भगवानपि तत्रैव क्षणं स्थित्वा स्वमन्दिरम्। जगाम यत्र नन्दश्च सानन्दो नन्दनन्दनः॥ ६९॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ७२

भावार्थ—कुब्जा मन, वाणी, कर्म से हरि अर्थात् कृष्ण के पैरों, मनोहर चन्द्र-समान मुख तथा कृष्ण के आने का विचार करने लगी॥ ३५॥ और करोड़ों कामदेव के समान शोभायमान, काम में आसक्त, कामी कृष्ण को याद करते हुए उस कामुकी को निरन्तर सारा जगत् कृष्णमय नज़र आता था॥ ३६॥ वह कुब्जा सो गई और निद्रा के स्वामी कृष्ण भी वहाँ प्रसन्नता से गये॥ ५३॥ कृष्ण ने कुब्जा को जगा लिया। सोई हुई दासियों को नहीं जगाया॥ ५५॥ हे सुन्दरी महाभाग्यवाली! निद्रा को छोड़, श्रृंगार दान कर॥ ५६॥ यह कहकर श्रीकृष्ण ने कुब्जा को बग़ल में लेकर चुम्बन किया और उस कामुकी को नंगा करके भोग करना आरम्भ किया॥ ५९॥ वह नये संगम से लज्जित हुई मुस्कराकर कृष्ण को नंगा करके चुम्बन करने लगी। तब कृष्ण ने उसका कपोल चूमकर उसे लक्ष्मी की भाँति गोद में ले लिया॥ ६०॥ चूँकि दोनों का जोड़ा कामभोग करने में चतुर था, इसलिए कामभोग का अन्त ही न था। हे नारद! वहाँ नाना प्रकार से कामभोग किया गया॥ ६१॥ भगवान् कृष्ण ने उसके स्तनयुगल को तेज़ नाखूनों से ज़ख्मी कर दिया और दाँतों से होठों को काट खाया॥ ६२॥ उस कृष्ण ने रात के अन्त में वीर्याधान कर दिया। सुख-सम्भोग के भोग से वह सुन्दरी मूर्च्छित हो गई॥ ६३॥ भगवान् कृष्ण भी वहाँ थोड़ी देर ठहरकर अपने मकान को चले गये, जहाँ पर नन्दजी आनन्दपूर्वक ठहरे हुए थे॥ ६९॥

आशा है अब भगवान् के याद करने, भगवान् के आने, और भक्त का उद्धार करके वापस

जाने के इस विचित्र दृश्य से आप अवश्य ही प्रसन्न हो गये होंगे।

(६३) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने आर्याभिविनय में मन्त्र नं० ४९ पर **'मा नो वधीरिन्द्र'** इत्यादि (ऋ० १।७।१९।८) का भाष्य करते हुए **'मा नः भोजनानि प्रमोषीः'** का अर्थ किया है कि 'हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चुरवावै'। पदार्थों की चोरी करना बिना शरीरधारी के हो नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि ईश्वर अवतार लेता है और वह साकार है।

—पृ० ४, पं० १८

उत्तर—यहाँ पर 'मत चोरे और मत चुरवावै' का अर्थ वह नहीं है जो कि प्रचलित भाषा में प्रसिद्ध है, अपितु इसका अर्थ यह है कि हे ईश्वर! आप हमारे प्रिय भोगों को हमारे से पृथक् न करें तथा उनकी रक्षा करें। इस बारे में हम निम्नलिखित प्रमाण पेश करते हैं—

(क) आर्याभिविनय में स्वामीजी ने इस मन्त्र के अर्थ करते हुए अन्त में अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए साफ़ लिख दिया है कि 'अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो' इससे सिद्ध है कि 'मत चोरे और मत चुरवावै' से स्वामीजी का अभिप्राय 'यथावत् रक्षा करो और करावो' यही है, अन्यथा नहीं है।

(ख) स्वामीजी का पत्र-व्यवहार प्रथम भाग, जोकि पं० भगवद्दत्तजी ने छपवाया है, उसके पृ० ५३ पर स्वामीजी का पत्र छपा हुआ है जो स्वामीजी ने संस्कृत में अमरीका-निवासी अलकाट साहब को लिखा था। उस पत्र में पंक्ति १३ पर इस मन्त्र का अर्थ करते हुए उपर्युत विवादास्पद पदों का अर्थ इस प्रकार से किया है कि—

नोऽस्माकं प्रियाणि भोजनान्यभीष्टान् भोगान् मा प्रमोषीः पृथङ् मा कुरु।

भावार्थ—हमारे प्यारे भोजन, अभीष्ट भोगों को पृथक् मत करें।

इससे स्वामीजी ने अपने अभिप्राय को साफ़ तौर से वर्णन कर दिया है, अतः इस लेख से ईश्वर का अवतार होना या उसे साकार सिद्ध करना बालू से तेल निकालने के समान असम्भव है।

हाँ, पौराणिक अवतारों में चोरी, धोखा, छल, कपट आदि दुर्व्यसन होने से, वे ईश्वर-अवतार होने के योग्य नहीं हो सकते; जैसे—

(क) राम का झूठ—

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम॥ २॥
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ ३॥ —वाल्मी० अरण्य० सर्ग १८
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन्।
चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः॥ ३४॥ —वाल्मी० बाल० स० ७३

भावार्थ—राम ने शूर्पणखा से कहा—श्रीमतीजी! मैं विवाहित हूँ। यह सीता मेरी प्यारी पत्नी है॥ २॥ यह बलवान् श्रीमान् लक्ष्मण अविवाहित है॥ ३॥ क्या लक्ष्मण अविवाहित था? हर्गिज़ नहीं।

जनक की बात को सुनकर वसिष्ठ की सम्मति के अनुसार राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों ने सीता, ऊर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति चारों स्त्रियों का पाणिग्रहण किया। क्या यह ईश्वर के अवतार राम का सफेद झूठ नहीं?

(ख) राम का अधर्म—

युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि।
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे॥ ५२॥ —वाल्मी० किष्क० सर्ग १७

भावार्थ— बाली ने राम से कहा कि मेरे मरने के पीछे सुग्रीव राज्य को प्राप्त करे यह तो ठीक है, किन्तु आपने मुझे जो धोखे से मारा है यह ठीक नहीं है।

(ग) कृष्ण को वृजा से विषयासक्त देखकर राधा ने कहा—

कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥ ५९॥ —ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ३

भावार्थ—हे चञ्चल! मुझे क्यों दुःख देता है? हे अतिलम्पट! चोरी से पर-स्त्रीभोग करनेवाले, मुझे दुःखी न कर!

(घ) गोपालसहस्रनाम में—**गोपालो कामिनीजारश्चोरजारशिखामणिः।**

भाषार्थ—कृष्ण स्त्रियों का यार तथा चोरों, जारों के सरदार हैं। कहिए, अब भी आपकी तृप्ति हुई या नहीं?

(६४) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद अध्यय ३७, मं० ९ '**अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः**' इसका अर्थ किया है कि 'पृथिवी के बीच यज्ञस्थल में वेगवान् घोड़े की लेंडी (लीद) से तुझको तपाता हूँ।' जो ईश्वर घोड़े के लीद बीन लावे और फिर उसको सुलगाकर विद्वानों को उस आग से तपा दे, वह कभी निराकार हो सकता है?

—पृ० ७, पं० १

उत्तर—इस स्थान में न तो कहीं यह लिखा है कि ईश्वर लीद बीनकर लावे और न ही यह वर्णन है कि ईश्वर आग को सुलगावे, अपितु यहाँ पर वैद्यक का प्रकरण है। 'घोड़े की लीद से तुझको तपाता हूँ' का अर्थ यह है कि मैं तुझे घोड़े की लीद से तपाने की आज्ञा देता हूँ। बहुत-से ऐसे रोग हैं जिनमें धूनी देने से और सेंकने से आराम आता है। यदि चोट लगी हो तो घोड़े की लीद से सेंकना अति लाभदायक है। उसी की ईश्वर ने आज्ञा दी है। इस आज्ञा देने से ईश्वर साकार कैसे हो गया और बीच में से अवतार कहाँ से टपक पड़ा? यहाँ वैद्यक का प्रकरण जानने के लिए मन्त्र के अर्थ के नीचे स्वामीजी का लिखा हुआ भावार्थ पढ़ने की कृपा करें।

भावार्थ—जो मनुष्य रोगादि क्लेश की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का सम्प्रयोग करते हैं, वे सुखी होते हैं॥ ९॥

श्रीमान्जी! इस मन्त्र में तो ईश्वर ने रोगी मनुष्यों को घोड़े की लीद से सेंकने की आज्ञा ही दी है किन्तु आपने तो ईश्वर को ही घोड़े की लेंडी से तपा मारा। देखिए, आपने अपनी पुस्तक पृ० १९१, पं० १२ में यों लिखा है कि—'**अश्वस्य त्वा वृष्णः**, इस मन्त्र से घोड़े की लीद से महावीर को पकावे' तथा महीधर भी लिखते हैं कि '**हे महावीर पृथिव्याः देवयजने मखाय मखस्य शीर्ष्णे च वृष्णः सेक्तुरश्वस्य शक्ना शकृता पुरीषेण त्वा त्वां धूपयामि**' हे महावीर! यज्ञ-स्थल में मैं तुझे घोड़े के पाखाने से धूप देता हूँ। कहिए महाराज! इन महावीरजी से क्या ख़ता हो गई जो इनको भट्टी में झोंका जा रहा है, या महावीरजी इसी सुगन्धित पदार्थ की धूप को अधिक पसन्द करते हैं? क्यों न हो महाराज! आपके तो देवता ही दुनिया से विचित्र हैं। यदि महावीरजी पाखाने की धूनी से प्रसन्न होते हैं तो वराहजी उस पुरीष को समूल ही हड़प करने के लिए व्याकुल रहते हैं। प्रतीत होता है या तो महावीरजी को ज्वर हो जाता होगा अथवा वह पागल हो जाते होंगे, क्योंकि पुराणों ने ऐसे रोगों में ही पाखाने आदि का प्रयोग लिखा है। जैसे—

कूर्ममत्स्याश्वमहिषगोशृगालाश्च वानराः। विडालबर्हिकाकाश्च वराहोल्लूककुक्कुटाः॥ १४॥
हंस एषां च विण्मूत्रं मांसं वा रोमशोणितम्। धूपं दद्याज्ज्वरार्तेभ्य उन्मत्तेभ्यश्च शान्तये॥ १५॥

—गरुड़० आचारखण्ड अ० १९३

भावार्थ—कछुआ, मछली, घोड़ा, भैंसा, गौ, गीदड़, बन्दर, बिल्ला, मोर, काक, वराह, उल्लू, कुक्कुट, हंस—इन जानवरों के मल, मूत्र, मांस, बाल, खून से ज्वरपीड़ित तथा पागलों को शान्त करने के लिए धूप देवे॥ १४। १५॥

आपकी मौज बन गई, अब आपको महावीर के लिए ही नहीं अपितु दूसरे पौराणिकों के लिए भी औषधार्थ बाहर जाने की ज़रूरत न पड़ेगी। अब तो आपके मन्दिर औषधालय का काम देंगे, क्योंकि उपर्युक्त जानवरों में से कूर्म, मत्स्य, वराह आदि कई तो आपके पूज्य अवतार मन्दिरों में ही रहते हैं। हाँ, एक आपत्ति है कि वे मल-मूत्रत्याग नहीं करते। यदि आप इसके लिए यत्न करें तो सम्भव है सफल हो जावें। धन्य है महाराज! आपकी अवतारलीला धन्य है! यही आपके अवतार हैं जिनकी सिद्धि के लिए आप ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों को कलंकित करने का व्यर्थ परिश्रम कर रहे हैं?

(६५) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने **'प्रजापतिश्चरति'** [यजुः० ३१। १९] इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ईश्वर का प्रकट होना और उसके स्वरूप को ध्यानशील पुरुषों का देख लेना लिखा है। यहाँ पर स्पष्टरूप से स्वामी दयानन्दजी ने ईश्वर को साकार माना है, अतः ईश्वर का अवतार लेना स्पष्ट सिद्ध है। —पृ० ८, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र के अर्थों से न तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर साकार है और न ही ईश्वर का अवतार लेना। जब उसमें सारे ब्रह्माण्ड स्थित हैं तो पता लगा कि वह सर्वव्यापक है। जब सर्वव्यापक है तो साकार कैसे हो सकता है? क्योंकि साकार वस्तु व्यापक नहीं हो सकती, अपितु एकदेशी होती है और व्यापक का किसी एक गर्भ में आ जाना भी असम्भव है, अतः वेद ने कह दिया कि वह स्वयं अजन्मा होते हुए गर्भ, गर्भस्थ जीव तथा अन्तःकरण में व्यापक होने से विराजमान है। 'स्वरूप' का अर्थ शक्ल नहीं अपितु स्वरूप का अर्थ लक्षण है। परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। यदि परमात्मा की शक्ल हो तो मूढ़-से-मूढ़ आदमी भी चक्षु आदि इन्द्रियों से देख वा जान सकता है। वह सूक्ष्म होने से बाह्य इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता; योगाभ्यास द्वारा ध्यान से ही जाना जा सकता है, अतः यह कहा कि उसके स्वरूप को ध्यानशील विद्वान् ही जान सकते हैं। वह परमात्मा निमित्तकारण होता हुआ उपादानकारण प्रकृति से अनेक प्रकार के कार्यरूप जगत् को बनाता है। यही उसका बहुत प्रकार से विशेष प्रकट अर्थात् प्रसिद्ध होना है, क्योंकि कर्त्ता की प्रसिद्धि उसके कामों से ही हुआ करती है। इस अर्थ से ईश्वर को साकार वा जन्मधारी सिद्ध करना स्वयं वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से यह कल्पना मिथ्या ही है, (विशेष देखें नं० २६)। हाँ, पौराणिक अवतार अनेक प्रकार के रूप धारण करके अनेक प्रकार की विचित्र लीला करते रहे हैं, जैसे—

एकदा कृष्णसहितो नन्दो वृन्दावनं ययौ॥ १॥
चकार माययाऽकस्मान्मेघाच्छन्नं नभो मुने॥ ३॥
एतस्मिन्नन्तरे राधा जगाम कृष्णसन्निधिम्॥ ८॥
जग्राह बालकं राधा जहास मधुरं सुखात्॥ २८॥
कृत्वा वक्षसि तं कामाच्छ्लेशं श्लेषं चुचुम्ब च॥ ३८॥
एतस्मिन्नन्तरे राधा मायासद्रत्नमण्डपम्।
ददर्शरत्नकलशशतेन च समन्वितम्॥ ३९॥
सा देवी मण्डपं दृष्ट्वा जगामाभ्यान्तरं मुदा।
ददर्श तत्र ताम्बूलं कर्पूरादिसमन्वितम्॥ ४६॥
पुरुषं कमनीयं च किशोरं श्यामसुन्दरम्॥ ४८॥

शयानं पुष्पशय्यायां सस्मितं मनोहरम्॥ ४९॥
क्रोडं बालशून्यं च दृष्ट्वा तं नवयौवनम्।
सर्वस्मृतिस्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ॥ ५४॥
तामुवाच हरिस्तत्र स्मेराननसरोरुहाम्॥ ५७॥
आगच्छ शयने साध्वि कुरु वक्षःस्थले हि माम्॥ ६३॥
तिष्ठत्यहं शयानस्त्वं कथाभिर्यत्क्षणं गतम्॥ ८२॥
वक्षःस्थले च शिरसि देहि ते चरणाम्बुजम्॥ ८३॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्माऽऽजगाम पुरतो हरेः॥ ९०॥
तस्या हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तं विधिः॥ १२४॥
प्रणम्य राधां कृष्णं च जगाम स्वालयं मुदा॥ १३६॥
प्रणम्य श्रीहरिं भक्त्या जगाम शयनं हरेः॥ १३८॥
कृष्णश्चर्वितताम्बूलं राधकायै मुदा ददौ॥ १४३॥
राधा चर्वितताम्बूलं ययाचे मधुसूदनः॥ १४४॥
यः कामो ध्यायते नित्यं यस्यैकचरणाम्बुजम्।
बभूव तस्य स वशो राधासन्तोषकारणात्॥ १४६॥
करे धृत्वा च तां कृष्णः स्थापयामास वक्षसि।
चकार शिथिलं वस्त्रं चुम्बनं च चतुर्विधम्॥ १४८॥
बभूव रतियुद्धेन विच्छिन्ना क्षुद्रघण्टिका।
चुम्बनेनोष्ठरागश्च ह्याश्लेषेण च पत्रकम्॥ १४९॥
पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी बभूव नवसंगमात्।
मूर्च्छामवाप सा राधा बुबुधे न दिवानिशम्॥ १५१॥
प्रत्यंगेनैव प्रत्यंगमंगेनाङ्गं समाश्लिषत्।
शृङ्गाराष्टविधं कृष्णश्चकार कामशास्त्रवित्॥ १५२॥
पुनस्तां च समाश्लिष्य सस्मितां वक्रलोचनाम्।
क्षतविक्षतसर्वांगीं नखदन्तैश्चकार ह॥ १५३॥
बभूव शब्दस्तत्रैव शृङ्गारस्मरोद्भवः॥ १५४॥
निर्जने कौतुकात् कृष्णः कामशास्त्रविशारदः॥ १५६॥
निवृत्ते कामयुद्धे च सस्मिता वक्रलोचना॥ १५९॥
बभूव शिशुरूपं च कैशोरं च विहाय च।
ददर्श बालरूपं तं रुदन्तं पीडितं क्षुधा॥ १६३॥
यशोदायै शिशुं दातुमुद्यता सेत्युवाच ह॥ १७३॥
यशोदा बालकं नीत्वा चुचुम्ब च स्तनं ददौ।
बहिर्निविष्टा सा राधा स्वगृहे गृहकर्मणि॥ १७७॥
नित्यं नक्तं रतिं तत्र चकार हरिणा सह॥ १७८॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० १५

भावार्थ—एक दिन कृष्णसमेत नन्दजी वृन्दावन में गये॥ १॥ कृष्ण ने माया से आकाश को

बादलों से युक्त बना दिया ॥ ३ ॥ इतने में राधा कृष्ण के पास गई ॥ बालक को राधा ने ले-लिया। सुख से मधुर हँसने लगी ॥ २८ ॥ काम से उसे बग़ल में लेकर छती से लगाकर चूम लिया ॥ ३८ ॥ इतने में राधा ने सैकड़ों रत्नों से जड़े कलशों से परिपूर्ण माया से बना सुन्दर मण्डप देखा ॥ ३९ ॥ वह देवी मण्डप को देखकर प्रसन्नता से अन्दर चली गई। वहाँ पर उसने कपूरवाला पान ॥ ४६ ॥ और कामना के योग्य जवान और श्याम-सुन्दर ॥ ४८ ॥ हँसमुख पुरुष को पुष्पशय्या पर सोते देखा ॥ ४९ ॥ अपनी गोदी को बालक से खाली और उस नौजवान को देखकर सब-कुछ जानते हुए भी वह हैरान हो गई ॥ ५४ ॥ उस कमलमुखवाली को कृष्णजी कहने लगे ॥ ५७ ॥ हे प्यारी! चारपाई पर आ जा, मुझे बग़ल में ले ले ॥ ६३ ॥ मैं बैठी हूँ, आप लेटे हैं, इसी प्रकार समय जा रहा है ॥ ८२ ॥ मेरी बग़ल और शिर में चरणकमल अर्पण करो ॥ ८३ ॥ इतने में ब्रह्मा कृष्ण के सामने आया ॥ ९० ॥ ब्रह्मा ने राधा का हाथ कृष्ण के हाथ में पकड़ा दिया ॥ १२४ ॥ ब्रह्मा राधा तथा कृष्ण को प्रणाम करके अपने घर गया ॥ १३६ ॥ राधा कृष्ण को प्रणाम करके कृष्ण के पलङ्ग पर गई ॥ १३८ ॥ कृष्ण ने चबाया हुआ पान राधा को दिया ॥ १४३ ॥ राधा से चबाया पान कृष्ण ने माँगा ॥ १४४ ॥ काम जिसके चरणों को स्मरण करता था; राधा के सन्तोषार्थ वह कृष्ण उसी काम के वश में हो गये ॥ १४६ ॥ कृष्ण ने हाथ से पकड़कर राधा को बग़ल में ले-लिया। उसके कपड़े ढीले कर दिये और चतुर्विध चुम्बन किया ॥ १४८ ॥ रतियुद्ध में एक घण्टा हो गया, चूमने से होंठों का रंग तथा लिपटने से पत्रावली नष्ट हो गई ॥ १४९ ॥ नये समागम से राधा रोमांचित हो गई। बस, राधा मूर्च्छित हो गई और दिन-रात होश में न आई ॥ १५१ ॥ अंग-से-अंग तथा प्रत्यंग-से-प्रत्यंग लिपट गया। कामशास्त्र के जाननेवाले कृष्ण ने आठ प्रकार से भोग किया ॥ १५२ ॥ फिर उस राधा से लिपटकर उस मुस्कराती हुई टेढ़ी नज़रवाली को, नाखुनों और दाँतों से जख़्मी कर दिया ॥ १५३ ॥ कामभोग-युद्ध से बड़ा शब्द हुआ ॥ १५४ ॥ कामशास्त्र में चतुर कृष्ण ने एकान्त में यूँ भोग किया ॥ १५६ ॥ कामयुद्ध की समाप्ति पर वह तिरछी नज़रवाली राधा मुस्कराने लगी ॥ १५९ ॥ वह कृष्णजी युवावस्था को छोड़कर फिर बालकरूप हो गये। राधा ने कृष्ण को बालकरूप में भूख से पीड़ित रोते हुए देखा ॥ १६३ ॥ वह राधा यशोदा को बालक देकर बातचीत करने लगी ॥ १७३ ॥ यशोदा ने बालक को लेकर चूमा और स्तन दिया। राधा बाहर चली गई, अपने घर अपना काम करने लगी ॥ १७७ ॥ वह राधा रात को हमेशा कृष्ण से भोग करती रही ॥ १७८ ॥

अब वह राधा थी कौन, यह अगले तीन श्लोकों से पता लगेगा—

आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः ॥ २५ ॥
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम ॥ २६ ॥

—ब्रह्मवै० ब्रह्म० अ० ५

वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह ॥ ३५ ॥
सार्धं रायाणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार स ॥ ३७ ॥
कृष्णमातुर्यशोदाया रायाणस्तत्सहोदरः ।
गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः ॥ ४१ ॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति अ० ४९

भाषार्थ—कृष्ण के बायें पसवाड़े से एक कन्या पैदा हुई ॥ २५ ॥ उसका नाम विद्वान् द्विजों ने राधा रक्खा ॥ २६ ॥ वह राधा वृषभानु वैश्य की कन्या थी ॥ ३६ ॥ उसने उसका सम्बन्ध रायाण वैश्य से कर दिया ॥ ३८ ॥ कृष्ण की माता जो यशोदा थी, रायाण उसका भाई था। वह रायाण गोलोक में तो कृष्ण का अंश था, किन्तु सम्बन्ध से कृष्ण का मामा लगता था ॥ ४१ ॥

कहिए महाराज! जिस राधा से विवाह करके कृष्ण ने कामक्रीड़ा की, वह सम्बन्ध से कृष्ण की पुत्री, पुत्र-वधू, तथा मामी लगती थी। अब तो आप **'बहुधा विजायते'** तथा **'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव'**—इन दोनों मन्त्रों को अवतारवाद में पूर्णरूप से संगत कर सकेंगे। कुछ शर्म तो नहीं आती! इन्हीं अवतारों की सिद्धि में आत्मघाती बनकर ऋषि दयानन्दजी के अभिप्राय से विरुद्ध उनके ग्रन्थों से अवतारवाद सिद्ध करने की धुन में हैं। एक ओर कृष्ण को ईश्वर का अवतार बतलाते हैं, दूसरी ओर पुराणों में उनपर सैकड़ों कलंक लगाये हैं। वास्तव में कृष्णजी क्या थे यह ऋषि दयानन्दजी के शब्दों में देखो। ऋषि कहते हैं कि—

देखो! श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उसका गुण-कर्म-स्वभाव और चरित्र आप्तपुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण, श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और इस भागवतवाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम, पर-स्त्रियों से रासमण्डल, क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्णजी में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मत वाले श्रीकृष्णजी की बहुत-सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्योंकर होती? —सत्यार्थ० समु० ११

जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्त्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। —सत्यार्थ० समु० ११ प्रकरण, मूर्त्तिपूजा

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम्॥ ७८॥ —गीता अ० १८

भावार्थ—जहाँ योगिराज कृष्ण हों तथा जहाँ धनुषधारी अर्जुन हों वहीं श्री, वहीं विजय, वहीं सम्पत्ति तथा वहीं दृढ़ नीति है, यह मेरी [सञ्जय का] राय है।

अवतार, परिशिष्ट

(६५क) प्रश्न—'प्र तद्विष्णुः' इत्यादि [ऋ० १।१५४।२] मन्त्र में नरसिंहावतार का वर्णन है।

उत्तर—इस मन्त्र में नरसिंहावतार का नाममात्र भी नहीं है, अपितु सिंह के दृष्टान्त से परमात्मा का उग्र पराक्रम दिखाया है। मन्त्र तथा उसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

—ऋ० १।१५४।२

भावार्थ—जिस सर्वव्यापक विष्णु के रचे जन्म, स्थान, नाम—इन तीन विविध सृष्टिकर्मों के आधार में समस्त लोक-लोकान्तर निवास करते हैं, वह सर्वव्यापक परमेश्वर पराक्रम से सब लोकों को प्रस्तुत करता है, जैसे पर्वत-कन्दराओं में स्थित भयानक मृग अर्थात् सिंह॥ २॥

(६५ख) प्रश्न—'भद्रो भद्रया' इत्यादि [साम० उत्तर० ७।२।५।३] में रामावतार का वर्णन स्पष्ट आता है।

उत्तर—इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'अग्नि' है और यहाँ राम का अर्थ 'काला अँधियारा' है। देखिए, इस मन्त्र का अर्थ सायणाचार्य्य ने इस प्रकार किया है—

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥

—साम० उत्तर० ७।२।५।३

भावार्थ—भजनीय भजनीया के सहित आता है। शत्रुओं का नाशक वह अग्नि स्वयं चलनेवाली उषा के सामने आता है तथा भले प्रकार प्रज्ञान=तेजों के साथ सब ओर वर्त्तमान वह अग्नि श्वेतवर्ण, रोकनेवाले अपने तेजों से '**रामम्**' काले, रात्रि के अँधियारे को सायं होमकाल में तिरस्कार करके स्थित होता है॥३॥

(६५ग) प्रश्न—'**कृष्णं त एम**' इत्यादि [अथर्व० ४।७।९] इस मन्त्र में कृष्णावतार का वर्णन है।

उत्तर—इस मन्त्र का देवता भी अग्नि ही है, यहाँ कृष्ण का अर्थ काला है। इस मन्त्र का सायणभाष्य इस प्रकार है—

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥ —ऋ० ४।७।९

भाषार्थ—हे अग्ने! तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। चलनेवाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुए यजमान लोग ज्यों ही तेरे गर्भरूप अरणी को धरते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होते ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है॥९॥

इन मन्त्रों में ईश्वर के अवतार का नाम भी नहीं है।

मूर्त्तिपूजा

(६६) प्रश्न—वेद में ब्रह्म, सूर्य, शक्ति, गणपति, शंकर, विष्णु तथा देवताओं का पूजन स्पष्ट रूप से लिखा है। —पृ० १७९, पं० ३

उत्तर—वेदों में ब्रह्म, सूर्य, शक्ति, गणपति, शंकर, विष्णु इत्यादि ये सब परमात्मा के ही नाम हैं, अतः वेदों में अनेक नामधारी परमात्मा की ही पूजा का वर्णन है। हाँ, यदि उपर्युक्त नामों से आपका अभिप्राय किन्हीं विशेष पौराणिक देवताओं से हो तो यह बात आपकी ग़लत है, क्योंकि वेदों में एक अद्वितीय परमात्मा की ही उपासना का वर्णन है और चारों वेदों में तो 'मूर्त्तिपूजा' शब्द भी मौजूद नहीं है।

(६७) प्रश्न—'**अर्चत प्रार्चत**' [ऋ० ६।५।५८।८] इस मन्त्र में परमात्मा इन्द्र की पूजा की आज्ञा है। —पृ० १७९, पं० ५

उत्तर—आपके अर्थ के अनुसार भी इस मन्त्र में इन्द्र नामवाले परमात्मा की ही पूजा लिखी है और आपके अर्थ में इन्द्र के अर्थ कोष्ठ में देकर (ईश्वर) किये गये हैं। हमारी इन अर्थों से कोई हानि नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में न तो मूर्त्तिपूजा शब्द विद्यमान है और न ही यह आज्ञा वर्त्तमान है कि परमात्मा की 'धातु, लकड़ी वा पत्थर की इतनी लम्बी-चौड़ी मूर्त्ति बनाकर परमात्मा के स्थान में उसकी पूजा करो।' फिर न जाने आपने यह मन्त्र मूर्त्तिपूजा की सिद्ध में क्यों पेश किया है? इस मन्त्र का शुद्धपाठ, ठीक ठिकाना तथा सत्य अर्थ इस प्रकार है—

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥८॥ —ऋग्वेद मण्डल, ८, सूक्त ६९

भाषार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य आपस में एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करें। अतिथि, साधु, महात्मा लोगों का सत्कार करें। अन्न, बल तथा ज्ञान से हमारी रक्षा करनेवाले विद्वानों का सत्कार

विशेषरूप से करें। सब पुत्र लोग धैर्यशील होकर माता, पिता, आचार्य का सत्कार करें। पति-पत्नी भी आपस में एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करें।

इस मन्त्र में इन्द्रियों के स्वामी जीवात्माओं को परस्पर एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करने की आज्ञा परमेश्वर ने दी है। इसमें मूर्त्तिपूजा का नाम भी नहीं है।

(६८) प्रश्न—वेद ने ब्रह्म और संसार का अभेद माना है। इस कारण वेद ने संसारी पदार्थों को पूजना और इस पूजन से ब्रह्म की प्रसन्नता होना मान वेद के अनेक स्थलों में संसारी पदार्थों का पूजन लिखा है। —पृ० १७९, पं० १६

उत्तर—वेद ने तो '**द्वा सुपर्णा**' इत्यादि अनेक मन्त्रों से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि प्रतिपादित किया है, अतः इस संसार का उपादानकारण प्रकृति, निमित्तकारण ईश्वर तथा साधारणकारण जीव है। ये तीनों पदार्थ स्वरूप से एक-दूसरे से भिन्न तथा व्याप्य-व्यापकभाव से अभिन्न हैं। यही वेद का सिद्धान्त है और वेद ने ईश्वर के स्थान में प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों की पूजा को भी '**अन्धतमः प्रविशन्ति**' इत्यादि मन्त्रों द्वारा पाप वर्णन किया है, अतः वेद में कहीं भी परमात्मा के स्थान में किसी और वस्तु की पूजा करने का वर्णन नहीं है। आपने यह सम्पूर्ण प्रतिज्ञा मिथ्या ही की है। भला! यह तो बतलाइए कि आपके मत में यदि ब्रह्म तथा संसार का अभेद है तो फिर आप उपास्य-उपासक-भेद डालकर क्यों दुनिया को गुमराह कर रहे है? जब सारा संसार ही ब्रह्म है तो उपासना कौन किसकी करेगा? और जब संसार की सब वस्तु ब्रह्म हैं तो फिर विशेष शक्ल की मूर्त्तियाँ बना मन्दिरों में स्थापन कर उनकी पूजा का क्यों शोर मचाया जा रहा है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप स्वयं ही अपने लेख से मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर रहे हैं।

(६९) प्रश्न—'**नमस्ते अस्तु विद्युते**' [अथर्व० १।१३।१] इस मन्त्र में बिजली, गर्जना, पाषाण तथा उसकी चोट को प्रणाम करना लिखा है। —पृ० १७९, पं० १६

उत्तर—आपने यह समझ रक्खा है कि 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही होता है, परन्तु ऐसा नहीं है, अपितु नमः के अर्थ वज्र (निरु० ३।११।२०), अन्न (निरु० ३।९।७), सेवन (निरु० ३।१३।५) भी आते हैं, अतः यहाँ पर नमः शब्द के अर्थ यथोयोग्य सेवन अर्थात् उपयोग में लाने के हैं। इस मन्त्र में न तो कहीं मूर्त्तिपूजा शब्द है और न ही किसी की मूर्त्ति बनाने, पूजने का वर्णन है, अपितु विद्युत् आदि पदार्थों के यथायोग्य उपयोग का वर्णन है। इस मन्त्र का ठीक पता तथा अर्थ यों है—

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि॥ —अथर्व० १।१३।१

भाषार्थ—उस प्रकाश करनेवाली बिजली का हम उपयोग करते हैं। उस शब्द करनेवाली बिजली का हम उपयोग करते हैं। जिस पत्थर से चोट लगाना सम्भव है उसका भी हम उपयोग करते हैं, अर्थात् उचित प्रयोग करते हैं।

कृपया बतलावें इससे मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध होती है?

(७०) प्रश्न—'**यो देवेभ्य आतपति**' [यजुः० ३१।२०] इस मन्त्र में ब्रह्म के अवयवभूत सूर्य की प्रशंसा कर उसको प्रणाम करना बतलाया है। —पृ० १७९, पं० २१

उत्तर—आपने यहाँ पर फिर वही भूल की है कि 'नमः' के अर्थ प्रणाम कर दिये। यदि वेद में सर्वत्र नमः के अर्थ प्रणाम ही हैं तो ऊपर लिखे हुए वज्र, अन्न तथा परिचरण आदि अर्थ व्यर्थ हो जावेंगे। और क्या '**तस्कराणां पतये नमः**' [यजुः० १६।२१] तथा '**श्वनिभ्यो नमः**' [यजुः० १६।२७] इत्यादि में भी नमः का अर्थ प्रणाम करके डाकू और भंगियों को भी उपास्यदेव

मान लेंगे? इसलिए नमः का अर्थ सर्वत्र प्रणाम न लेना चाहिए। इस मन्त्र के ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ —यजुः० ३१।२०

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो सूर्यलोक उत्तम गुणोंवाली पृथिवी आदि के अर्थ अच्छे प्रकार तपता है, जो पृथिवी आदि लोकों के हितार्थ प्रथम से बीच में स्थित किया, जो पृथिवी आदि से प्रथम उत्पन्न हुआ, उस रुचि करानेवाले परमेश्वर के सन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न उत्पन्न होता है।

भावार्थ—हे मनुष्यो! जिस जगदीश्वर ने सबके हित के लिए अन्न आदि की उत्पत्ति के निमित्त सूर्य को बनाया है, उसी परमेश्वर की उपासना करो॥ २०॥

इस मन्त्र से किसी सूरत में भी मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सकती। श्रीमान्‌जी! जिस सूर्यदेव की उपासना आप सिद्ध करना चाहते हैं, क्या यह वही तो नहीं हैं, जिनका भविष्यपुराण में इस प्रकार से वर्णन आता है—

इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः।
विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥
—भविष्य० प्रति० स० पर्व ३।१८।२८

तत्र स्थिता प्रिया संज्ञा बडवारूपधारिणी ॥३७॥ —प्रमाण पूर्ववत्
अश्वरूपेण मार्तण्डस्तां मुखेन समासदत्॥५५॥
सा तं वैवस्वतं शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्॥५६॥
—भविष्य० ब्राह्मपर्व अध्याय ७९

भावार्थ—इस वेदानुकूल वाणी को सुनकर अदिति के पुत्र सूर्य ने भी भतीजी से विवाह करके श्रेष्ठता प्राप्त की॥ २८॥ वहाँ पर वह प्यारी संज्ञा घोड़ी का रूप धारण करके खड़ी थी॥ ३७॥ सूर्य भी घोड़े का रूप धारण करके उसको मुख से मैथुनार्थ प्राप्त हुए॥५५॥ उस संज्ञा ने उस सूर्य के वीर्य को नासिका के द्वारों से धारण किया॥५६॥

मुझे इस बात का भय है कि कहीं उपासकों में उपास्य के गुण प्रवेश करने से पौराणिकों को भी यह बीमारी न चिमट जावे।

(७१) प्रश्न—'हिरणमयेन पात्रेण' [यजुः० ४०।१७] इस मन्त्र में सूर्यमण्डल में व्याप्य अधिष्ठातृदेव को ईश्वर कहा गया है। —पृ० १८०, पं० ५

उत्तर—आपको अपना पक्ष सिद्ध करते हुए ईमानदारी से काम लेना चाहिए। देखिए, आपने इस मन्त्र के अर्थों को स्पष्ट करनेवाले वाक्य को मन्त्र में से सर्वथा ही लुप्त कर दिया है। यदि इसी प्रकार से मूर्त्तिपूजा सिद्ध होनी है तो यह बेल मढ़े चढ़ती नज़र नहीं आती। देखिए, इस मन्त्र का पूरा पाठ तथा सत्य अर्थ इस प्रकार है—

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽ सावादित्ये पुरुष सोऽ सावहम्॥ ओ३म् खं ब्रह्म॥ —यजुः० ४०।१७

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस ज्योतिःस्वरूप, रक्षक मुझसे, अविनाशी यथार्थ कारण के आच्छादित मुख के तुल्य उत्तम अङ्ग का प्रकाश किया जाता, जो वह प्राण वा सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है, वह परोक्षरूप में आकाश के तुल्य व्यापक, सबसे गुण-कर्म और स्वरूप करके अधिक हूँ। सबका रक्षक जो मैं उसका 'ओ३म्' ऐसा नाम जानो॥ १७॥

बतलाइए, इसमें सूर्य का तथा उसके अधिष्ठातृदेव का कहाँ वर्णन है?

(७२) प्रश्न—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' (यजुः० ३।३५) इस गायत्री मन्त्र में सूर्य से यह प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धियों को शुभ काम में लगावे। —पृ० १८०, पं० १०

उत्तर—सूर्य अग्नितत्त्व का पुञ्ज है और अग्नि जड़ है। वह जड़ अग्नि हमारी बुद्धियों को शुभ काम में लगाने की सामर्थ्य नहीं रखता। न ही जड़ पदार्थ से प्रार्थना करना बुद्धिमत्ता कही जा सकती है और न ही इस मन्त्र में सूर्य का वर्णन है। यहाँ सविता शब्द से जगत् के उत्पादक परमात्मा से ही प्रार्थना करने का वर्णन है; जैसाकि—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ —यजुः० ३।३५

भाषार्थ—हम लोग सब जगत् के उत्पन्न करने वा प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वर का जो अतिश्रेष्ठ, पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करनेवाला स्वरूप है उसको धारण करें और जो अन्तर्यामी, सब सुखों का देनेवाला है वह अपनी करुणा करके हम लोगों की बुद्धियों को उत्तम-उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में प्रेरणा करें॥ ३५॥

आशा है इस पदार्थ को जानकर आपके दिमाग़ से जड़ पदार्थों को उपास्य मानने का उन्माद अवश्य दूर हो जावेगा।

(७३) प्रश्न—'उद्यते नम उदायते नमः' (अथर्व० १७।१।२२) तथा **'अस्तंयते नमः'** (२३) इन दो मन्त्रों से उदय होते और अस्त होते सूर्य को दोनों समय प्रणाम करना लिखा है। —पृ० १८०, पं० १५

उत्तर—इन दोनों मन्त्रों में भी न सूर्य को प्रणाम किया गया है और न ही सूर्य की उपासना का वर्णन है। यहाँ भी परमेश्वर को ही नमस्कार करने तथा उपास्यदेव मानने का वर्णन है। इन मन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ —अथर्व० १७।१।२२

भावार्थ—प्रसिद्ध होते हुए को नमस्कार है, अति उत्तम होनेवाले को नमस्कार है, प्रसिद्ध हो चुके हुए को नमस्कार है। विशेष राजा को नमस्कार है, स्वयम्भू राजा के लिए नमस्कार है, राजराजेश्वर को नमस्कार है।

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ —अथर्व० कां० १७, सू० १, मं० २३

भावार्थ—अप्रसिद्ध होते हुए को नमस्कार है, अप्रसिद्ध होना चाहनेवाले को नमस्कार है। अप्रसिद्ध हो चुके हुए को नमस्कार है। विशेष राजा को नमस्कार है, स्वयं राजा को नमस्कार है, राजाओं के राजा को नमस्कार है॥ २३॥

इन मन्त्रों में जो 'विराज', 'स्वराज', 'सम्राज' शब्द हैं ये परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं; सूर्य के लिए नहीं। निमित्तकारण परमात्मा का उपादानकारण प्रकृति से कार्यरूप जगत् बनाना ही प्रसिद्ध होना तथा प्रलय कर देना ही अप्रसिद्ध होना है। यह पूर्व भी लिख आये हैं।

(७४) प्रश्न—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' [ऋ० १०।१२५]। इस सूक्त के ६ मन्त्रों में ईश्वरशक्ति दुर्गा का वर्णन है। उसके महत्त्व को वेद ने जैसा बतलाया है, उसको ऊपर देख लें। ईश्वर और शक्ति में वेद अभेद मानता है और वह बलवती पूज्या है। अतएव इन मन्त्रों के अभिप्राय तथा अन्य बहुत-से मन्त्रों के भाव को लेकर वैदिक लोग शक्ति की पूजा करते हैं। —पृ० १८१, पं० ६

उत्तर—इस सूक्त का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'वागाम्भृणी' अर्थात् वेदवाणी को धारण करनेवाला परमात्मा है। यदि ईश्वरशक्ति से आपका अभिप्राय ईश्वर की वेदवाणी को धारण करनेवाली शक्ति से है तो हमें इसमें कुछ वक्तव्य नहीं है। गुण-गुणी में समवाय-सम्बन्ध होने से उस शक्ति का ईश्वर से अभेद होना स्वाभाविक ही है, परन्तु ईश्वरशक्ति से आपका अभिप्राय पौराणिक दुर्गा से है तो आपकी कल्पना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि पौराणिक दुर्गा ईश्वर की शक्ति का नाम नहीं अपितु वह एक अद्भुत व्यक्ति है। वेदों में उसका क़तई वर्णन नहीं है और न ही वैदिक लोगों के लिए वह पूज्या है, अपितु वह पौराणिक लोगों की आश्चर्यजनक कल्पना है। वह पौराणिक दुर्गा कैसी है, उसका संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है—

निशुम्भशुम्भसंहत्री मधुमांसासवप्रिया॥ १०॥ —शिव० वायु० उत्तर० अ० ३१

उग्रदंष्ट्रा चोग्रदण्डा कोटवी च पपौ मधु॥ ३॥
जगर्ज साट्टहासं च दानवा भयमाययुः॥ १२॥
दानवानां बहूनां च मांसं च रुधिरं तथा॥ ३६॥
भुक्त्वा पीत्वा भद्रकाली शंकरान्तिकमाययौ॥ ३७॥

—शिव० रुद्र० युध० अ० ३८

जयति नरमुण्डमुण्डितपिशितसुराहारकृच्चण्डी॥ १२॥
जयति दिगम्बरभूषा सिद्धवटेशा महालक्ष्मीः॥ १३॥
दिग्वसना विकृतमुखा विकरालदेहा रौद्रभावस्था॥ १५॥
जयति भुजगेन्द्रमणिशोभितकर्णा महातुण्डा॥ १७॥
सिंहारूढा विनिर्गत्य दुर्गाभिः सहिता पुरा॥ २४॥
कुमारी विंशतिभुजा घनविद्युल्लतोपमा॥ २५॥

—भविष्य० उत्तर० अ० ६१

भावार्थ—तेज़ दाँतोंवाली, कठोर डण्डेवाली, शराब पीनेवाली, गर्जनेवाली, अट्टहास करनेवाली, मांस भोजनवाली, खून पीनेवाली, मनुष्य-मुण्ड-माला पहननेवाली, मांस-शराब आहारवाली, चण्डी, नंगी, कुरूपा, विकराल देहवाली, डरावनी, कानों में सर्पमणि, लम्बी चोंचवाली, सिंह-सवारी, कुमारी, बीस भुजावाली, बिजली-सी चमकवाली, इत्यादि, इत्यादि।

कहिए महाराज! क्या इस पौराणिक दुर्गा का ही इस सूक्त में वर्णन आप बतला रहे हैं? यदि ऐसा ही है तो क्या उपर्युक्त विशेषण इस सूक्त में मौजूद हैं? यदि नहीं तो क्यों दुनिया की आँखों में धूल झोंक रहे हैं? सीधे होकर मानिए कि इस सूक्त में पौराणिक दुर्गा का वर्णन नहीं है, अपितु वेदवाणीधारक परमात्मा का वर्णन है। इन वेदमन्त्रों का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

भावार्थ—मैं परमेश्वर ज्ञानदाताओं वा दुःखनाशकों, निवास करानेवाले पुरुषों के साथ और मैं ही सर्व दिव्य गुणवाले प्रकाशमान अथवा अदीन प्रकृति से उत्पन्न हुए सूर्य आदि लोकों के साथ वर्त्तमान हूँ, मैं दोनों दिन और रात को, मैं पवन और अग्नि को, मैं ही दोनों सूर्य और पृथिवी को धारण करता हूँ॥ १॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

भावार्थ—मैं प्राप्ति करने योग्य ऐश्वर्य को, मैं रसों के छिन्न-भिन्न करनेहारे सूर्य को, पोषण

करनेहारी पृथिवी को और सेवनीय चन्द्रमा को धारण करता हूँ। मैं भक्ति रखनेवाले, विद्यारस का निचोड़ करनेहारे, यज्ञ का सेवन करनेहारे, पुरुष को सुन्दर-सुन्दर रक्षायोग्य अनेक धन देता हूँ॥ २॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

भावार्थ—मैं धनों की पहुँचानेवाली और संगतियोग्य पूजनीय विषयों को जाननेवाली, नियमन करनेवाली पहली शक्ति हूँ। विद्वानों ने बहुत प्रकारों से अनेक पदार्थों में ठहरी हुई उस मुझको अनेक विधि से अपने आत्मा में अनुभव करके विविध प्रकार से धारण किया है॥ ३॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

भाषार्थ—मेरे द्वारा ही वह अन्न खाता है। जो कोई विशेष करके देखता है, जो श्वास लेता है और जो यह वचन सुनता है, मुझे न जाननेवाले वे पौरुषहीन होकर नष्ट हो जाते हैं। हे सुनने में समर्थ जीव! तू सुन, तुझे आदरयोग्य सत्य बात बताता हूँ॥ ४॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥

भावार्थ—मैं स्वयं ही देवों=विद्वानों और मननशील मनुष्यों का प्रिय यह वचन कहता हूँ, अर्थात् जिस-जिसको मैं चाहता हूँ उस-उसको ही कर्मानुसार तेजस्वी, उसको वृद्धिशील ब्रह्मा, उसी को सन्मार्ग-दर्शक ऋषि, उसी को उत्तम बुद्धिवाला बनाता हूँ॥ ५॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

भाषार्थ—मैं दुःखनाशक शूर के लिए ब्राह्मणों के द्वेषी हिंसक के मारने को ही सब ओर से धनुष तानता हूँ। मैं भक्तजन के लिए आनन्दयुक्त जगत् रचता हूँ। मैंने सूर्य और पृथिवीलोक में सब ओर से प्रवेश किया हुआ है॥ ६॥

अब धर्म और न्याय से बताइए कि इस सूक्त में वाणी के धारक परमात्मा का वर्णन है या आपकी मिथ्या कल्पित पौराणिक दुर्गा का।

(७५) प्रश्न—'गणानां त्वा गणपतिम्।' [यजुः० २३।१९] इस मन्त्र में गणपति का आवाहन है। आह्वान पूजा के समय ही होता है। अतएव आह्वान से गणपति का पूजन सिद्ध है।

—पृ० १८२, पं० २७

उत्तर—आपके भाष्यकार तो इस मन्त्र का देवता अश्व मानते हैं तथा इस मन्त्र का विनियोग स्त्री को घोड़े के समीप सोने में लगाते हैं। जैसाकि महीधर लिखते हैं—

महिषी अश्वसमीपे शेते। अश्वदेवत्यम्। हे अश्व गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। तं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥ १९॥

भाषार्थ—यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोती है। यह मन्त्र अश्वदेवतावाला है। हे अश्व! तेरे गर्भ को धारण करनेवाले वीर्य को मैं खैंचकर डालती हूँ और आप भी खैंचकर डालते हैं।

किन्तु आपने भी यह अनुभव करके कि महीधरभाष्य वेद को कलंकित करनेवाला है, स्वामी दयानन्दजी का अनुकरण करते हुए इस मन्त्र का देवता गणति ही मान लिया है, परन्तु यहाँ पर गणपति शब्द से गणों के पालक परमात्मा का वर्णन है; पौराणिक गणपति का वर्णन नहीं है।

देखिए, पुराणों में गणेशजी का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

विचार्येति च सा देवी वपुषो मलसम्भवम्।
पुरुषं निर्ममौ सा तु सर्वलक्षणसंयुतम्॥ २०॥
हे तात शृणु मद्वाक्यं द्वारपालो भवाद्य मे॥ २५॥
विना मदाज्ञां मत्पुत्र नैवायान्मद् गृहान्तरम्॥ २६॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १३

एतस्मिन्नेव काले तु शिवो द्वारि समागतः॥ ३१॥
ताडितस्तेन यष्ट्या हि गणेशेन महेश्वरः॥ ३५॥ —वही अ० १३
क्रोधं कृत्वा समभ्येत्य मम श्मश्रूण्यवाकिरत्। —अ० १५ श्लो० ३१
अथ शक्तिसुतो वीरो वीरगत्या स्वयष्टितः।
प्रथमं पूजयामास विष्णुं सर्वसुखावहम्॥ ११॥
एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे।
आगत्य च त्रिशूलेन तच्छिरो निरकृन्तत॥ ३४॥ —वही अ० १६
तावच्च गिरिजा देवी चुक्रोधाति मुनीश्वर॥ ४॥ —वही अ० १७
प्रथमं मिलितस्तत्र हस्ती चाप्येकदन्तकः॥ ४९॥
तच्छिरश्च तदानीत्वा तत्र तेऽयोजयन् ध्रुवम्॥ ५०॥ —अ० १७
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूर्वपूज्यो भवाधुना॥ ८॥

—शिव० रुद्र० कु० अ० १८

भाषार्थ—विचार करके पार्वती ने अपने शरीर से मैल उतारकर सब लक्षणों से युक्त पुरुष बनाया॥ २०॥ और कहा कि द्वारपाल बन जा॥ २५॥ मेरी आज्ञा के बिना कोई मेरे घर के अन्दर न आवे॥ २६॥ इतने में शिवजी द्वार पर आ गये॥ ३१॥ गणेश ने महादेव को लाठी से पीटा॥ ३५॥ क्रोध में आकर ब्रह्मा की भी दाढ़ी उखाड़ डाली॥ ३१॥ फिर प्रथम पार्वती के पुत्र गणेश ने डण्डे से विष्णु की पूजा की॥ ११॥ इतने में मौका पाकर शिव ने त्रिशूल से गणेश का सिर काट दिया॥ ३४॥ इसपर पार्वती को क्रोध आ गया॥ ४॥ पहले-पहल एक दाँतवाला हाथी मिला, तब उसका सिर काटकर गणेश के धड़ पर जोड़ दिया॥ ४९-५०॥ पार्वती ने धन्य कहकर पूर्वपूजा का विधान कर दिया॥ ५०॥

कहिए, आपके द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में कहीं आदमी का धड़, हाथी का सूँडवाला शिर और चूहेकी सवारी करनेवाले गणेश का वर्णन है? यदि नहीं तो फिर केवल गणपति शब्द आ जाने से इस विचित्र आकृतिवाले पौराणिक गणेश की कल्पना इस मन्त्र से निकालना सर्वथा निर्मूल है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ १९॥ —यजुः० २३।१९

भावार्थ—हे जगदीश्वर! हम लोग गणों के बीच गणों के पालनेहारे आपको स्वीकार करते हैं। अतिप्रिय सुन्दरों के बीच अतिप्रिय सुन्दरों के पालनेहारे आपकी प्रशंसा करते हैं। विद्या आदि पदार्थों की पुष्टि करनेहारों के बीच विद्या आदि पदार्थों की रक्षा करनेहारे आपको स्वीकार करते हैं। हे परमात्मन्! जिस आपमें सब प्राणी बसते हैं, सो आप मेरे न्यायाधीश हूजिए। जिस गर्भ के समान संसार को धारण करनेहारी प्रकृति को धारण करनेहारे आप जन्मादि दोषरहित भली-भाँति प्राप्त होते हैं, उस प्रकृति के धर्त्ता आपको मैं अच्छे प्रकार जानूँ॥ १९॥

इस मन्त्र में पौराणिक सूँडधारी, मूषक-सवार गणेश की गन्ध भी नहीं है।

(७६) प्रश्न—शतपथ और कात्यायनसूत्र ने अश्वमेध-प्रकरण में अश्व में इसका विनियोग लगाया है। मरे हुए अश्व में ईश्वर का आह्वान होता है, अतएव यहाँ पर भी ईश्वर का ही आह्वान है; अश्व का आह्वान नहीं। इस मन्त्र का देवता गणपति है। जो गणपति है वही ईश्वर है। इस कारण अश्वमेध यज्ञ में किसी अन्य का आह्वान-पूजन नहीं है, अपितु गणपति का है।

—पृ० १८३, पं० १७

उत्तर—श्रीमान्‌जी! महीधरभाष्य में तो कहीं गणपति का आह्वान लिखा नहीं। वहाँ पर 'हे अश्व!' करके घोड़े का ही आह्वान लिखा है और महीधर ने इस मन्त्र का देवता भी अश्व ही माना है, गणपति नहीं। हाँ, किसी साइंस के सिद्धान्त के अनुसार मरे हुए घोड़े से यजमान की पत्नी का '**महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति।**' (मही० मं० २०) इस विधि से नियोजन करने पर बिजली के करण्ट की भाँति यदि गणपति का आह्वान हो जाता हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जब यूरोपियन वैज्ञानक अनेक पदार्थों के मेल से आदमियों से बुलाने के साधन टेलीफोन, टेलीविज़न आदि अनेक यन्त्र बना सकते हैं तो क्या पौराणिक अश्वमेध यज्ञ में अश्व तथा यजमान-पत्नी के संयोजन से गणपति के बुलाने का एक यन्त्र भी आविष्कार नहीं कर सकते?

(७७) प्रश्न—'**तं यज्ञं बर्हिषि**' [यजुः० ३१।९] इस मन्त्र में विष्णु की पूजा वेद ने लिखी है।

—पृ० १८३, पं० १७

उत्तर—आप सिद्ध तो करना चाहते हैं मूर्त्तिपूजा और एक भी मन्त्र अभी तक ऐसा पेश नहीं कर सके कि जिससे सूर्य, विद्युत्, शक्ति, विष्णु आदि की मूर्त्ति बनाकर ईश्वर के स्थान में उनकी पूजा करने की आज्ञा सिद्ध हो सके। कहिए, यह 'प्रतिज्ञा-हानि' निग्रह-स्थान तो नहीं है जिसमें फँसकर आप पराजित हो रहे हैं।

इस मन्त्र का देवता भी पुरुष अर्थात् परमात्मा है। वृन्दा के सतीत्व को छल से भंग करनेवाले किसी विष्णु का इस मन्त्र में नाममात्र भी नहीं है और आपके भाष्यकार महीधर ने भी इस मन्त्र को साकार पूजा में नहीं लगाया, अपितु निराकार-पूजा में लगाया है, जैसे—'**यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः**'—यज्ञ के साधनभूत पुरुष=परमात्मा को मानसिक यज्ञ में प्रयुक्त करते हैं। जब मन्त्र में विष्णु का नाम ही नहीं है और यह मन्त्र भी पुरुषसूक्त का है, तो इसमें आप विष्णु लाये कहाँ से? इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं से अब वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजा का संसार में जीवित रहना असम्भव है। देखिए, मन्त्र का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। —यजुः० ३१।९

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो विद्वान् और योगाभ्यास आदि साधन करते हुए मन्त्रार्थ जाननेवाले ज्ञानी लोग जिस सृष्टि के पूर्व प्रसिद्ध हुए सम्यक् पूजनेयोग्य पूर्ण परमात्मा को मानस ज्ञानयज्ञ में सींचते अर्थात् धारण करते हैं, वे ही उसके उपयोग किये हुए वेद से उसका पूजन करते हैं। उसको तुम लोग भी जानो॥९॥ इस मन्त्र का इसके सिवा कोई और अर्थ नहीं हो सकता।

(७८) प्रश्न—'**अदो यद्दारु प्लवते**' [ऋ० १०।१५५।३] इस मन्त्र में जगन्नाथरूप विष्णु की पूजा मौजूद है।

—पृ० १८३, पं० २३।

उत्तर—इस मन्त्र में न तो मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है, और न ही जगन्नाथ या विष्णु आदि का नाम है। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'अलक्ष्मीघ्नम्' अर्थात् 'दरिद्रता-नाश' है। इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि पुरुषों की कंगाली कैसे दूर हो सकती है। वेद कहता है कि

जहाज़ के द्वारा दूर-दूर देशों की समुद्रयात्रा करने से पुरुष अपनी निर्धनता का नाश करके धन-सम्बन्धी वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। इसी विषय का इस मन्त्र में प्रतिपादन है। जैसे—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

—ऋ० १०।१५५।३

भाषार्थ—यह जो काष्ठमय जहाज़ तैरता है और बिना पुरुषों के चप्पू आदि के खेने से ही, भापादि से समुद्र के पार पहुँचा देता है, उसको बहुत मज़बूत बनाकर उसका आश्रय लो तथा उससे दूर-दूर की यात्रा करो, ताकि तुम्हारी दरिद्रता का नाश हो।

ज़रा बतलाइए तो सही इसमें जगन्नाथजी के जूठे भात और जगन्नाथपुरी के मन्दिर पर खुदी हुई आदमी के क़द के बराबर चौरासी आसनों से विषयभोग करती हुई नंगी स्त्री तथा पुरुषों की मूर्त्तियाँ का कहाँ वर्णन है?

(७९) प्रश्न—'त्र्यम्बकं यजामहे' [यजुः० ३।६०] इस मन्त्र में तीन नेत्रवाले रुद्र परमात्मा की पूजा का विधान है। —पृ० १८४, मं० ६।

उत्तर—इस मन्त्र में भी परमेश्वर के स्थान में मूर्त्ति बनाकर पूजने का विधान नहीं हैं। यहाँ पर त्र्यम्बक शब्द से परमेश्वर का ही ग्रहण है; किसी कल्पित पौराणिक देवता का नाम नहीं है। अग्नि, चाँद और सूर्य ये तीनों परमात्मा के चक्षुवत्, अर्थात् सब संसार के दिखाने में सहायक हैं, इसलिए परमात्मा को त्र्यम्बक कहा गया है। इस बारे में महाभारत में भी लेख आता है कि—

तिस्रो देव्यो यदा चैनं भजन्ते भुवनेश्वरम्। द्यौरापः पृथिवी चैव त्र्यम्बकस्तु ततः स्मृतः॥

—महा० द्रोण० अ० २०३, श्लो० १२८

भाषार्थ—तीन देवियाँ उस परमात्मा का सेवन करती हैं—द्युलोक, जल तथा पृथिवी, अतः परमात्मा को त्र्यम्बक कहते हैं। [गीताप्रेस संस्करण में पाठभेद से यह श्लोक २०२।३० है। —सं०]

इससे स्पष्ट है कि परमात्मा के हमारी तरह से शारीरिक नेत्र नहीं हैं, अपितु लाक्षणिक रूप से सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को ही नेत्रवत् वर्णन किया है, अतः कहीं त्र्यम्बक आता है तो कहीं सहस्राक्षः आता है, अतः सिद्ध है कि परमात्मा निराकार है। दुष्टों को दण्ड देने के कारण उसे रुद्र कहते हैं। मन्त्र के ठीक अर्थ इस प्रकार से हैं—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

—यजुः० ३।६०

भाषार्थ—हम लोग शुद्धगन्धयुक्त; शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाला जो रुद्ररूप जगदीश्वर है, उसकी निरन्तर स्तुति करें। उसकी कृपा से जैसे ख़रबूज़ा-फल पककर लता के सम्बन्ध से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हम लोग भी प्राण वा शरीर के वियोग से छूट जावें और मोक्षरूप सुख से श्रद्धारहित कभी न होवें।

आशा है इस मन्त्र के अर्थ को समझकर मूर्त्तिपूजा के भ्रम को आप हृदय से अवश्य निकाल देंगे।

(८०) प्रश्न—'भवाशर्वौ मृडतम्' इत्यादि [अथर्व० ११।२।१, मं० १-१६] इन सोलह मन्त्रों में शंकर के पूजन का वेद में विस्तारपूर्वक वर्णन है। —पृ० १८४, पं० २३।

उत्तर—इन मन्त्रों में मूर्त्ति बनाने या परमेश्वर के स्थान में मूर्त्तिपूजने का क़तई वर्णन नहीं है। मन्त्रों का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'रुद्र' है, जिसके अर्थ हैं दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला; अतः इन मन्त्रों में राजा तथा सेनापति का वर्णन है, क्योंकि ये दोनों दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा को सुखी करते हैं। इन सोलह मन्त्रों में न तो शंकर और महादेव शब्द ही मौजूद

हैं और न ही इन मन्त्रों में महादेवजी के विशेषस्वरूप-प्रतिपादक शब्द ही विद्यमान हैं। देखिए, पौराणिक महादेव का विशेष स्वरूप इस प्रकार का है—

कपाली, वृषांकः, वृषवाहनः, नीलकण्ठः, कपर्दी, श्मशाननिलयः, श्मशानस्थः, कामपालः, भस्मप्रिय, भस्मशायी, कामी, कान्तः, भस्मोद्धूलितविग्रहः, भृत्यमर्कटरूपधृक्, व्याघ्रचर्माम्बरः, व्याली, उन्मत्तवेषः, कण्डलुधरः, नृत्यप्रियः, नित्यनृत्यः, ललाटाक्षो, मुण्डी, विरूपोः, विकृतः, पिंगलाक्षः, बह्वक्षः, नीलग्रीवः, सहस्त्रबाहुः, विरूपाक्षः, वराहशृंगधृक्, भूशया, शूली, जटी। —शिव० कोटिरुद्र० अ० ३५।

इससे सिद्ध हुआ कि इन मन्त्रों में पौराणिक शंकर का वर्णन नहीं है, अपितु राजा और सेना का वर्णन है। इन मन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ १॥

भाषार्थ—हे भव और शर्व! सुख उत्पन्न करने और शत्रुनाशक राजा तथा सेनापते! तुम दोनों प्रसन्न होओ। हमारे विरुद्ध मत चलो। हे सत्ता के पालको! हे सब दृष्टिवालों के रक्षको! तुम दोनों को नमस्कार है। लक्ष्य पर लगाये और ताने हुए तीर को तुम दोनों मत छोड़ो, न हमारे दोपायों और चौपायों को मारो, अर्थात् सबकी रक्षा करो॥ १॥

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त॥ २॥

भाषार्थ—कुत्ते के लिए, गीदड़ के लिए, अपने बल से भय देनेवाले के लिए, खाऊ गिद्धादिकों के लिए और जो हिंसाकारी कौवे हैं उनके लिए हमारे शरीरों को तुम दोनों मत करो—उन्हें मत दो। हे प्राणियों (प्रजा) के रक्षक! तेरी मक्खियाँ और तेरे पक्षी भोजन पर न प्राप्त होवें अर्थात्, इन सब दुःखदायक प्राणियों से हमारी रक्षा का प्रबन्ध करें॥ २॥

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्त्राक्षायामर्त्य॥ ३॥

भाषार्थ—हे भव! सुख उत्पन्न करनेवाले राजन्! हे दुःखनाशक सेनापते! हे अमरकीर्तिवाले! सहस्त्र कर्मों में दृष्टिवाले! तुझको अपना रोदन मिटाने के लिए, तुझे अपना जीवन बढ़ाने के लिए और जो पीड़ाएँ है, उन्हें हटाने के लिए हम तुझे नमस्कार करते हैं॥ ३॥

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्य्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

भाषार्थ—हे राजन्! हे सेनापते! तुझे आगे से, ऊपर से और नीचे से नमस्कार। तुझे आकाश के अवकाश से अन्तरिक्षलोक को जानने के लिए हम नमस्कार करते है॥ ४॥

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतिचीनाय ते नमः॥ ५॥

भाषार्थ—हे दृष्टिवालों के रक्षक! तुझे हमारे मुख के हित के लिए, हे सुखोत्पादक! तुझे जो हमारे दर्शन साधन हैं उनके लिए, हमारी त्वचा के लिए, सुन्दरता के लिए, आकार के लिए प्रत्यक्ष तुझे नमस्कार करते हैं॥ ५॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः॥ ६॥

भाषार्थ—हे राजन्! तुझे हमारे अंगों के हित के लिए, उदर के हित के लिए, तुझे हमारी जिह्वा के हित के लिए और मुख के हित के लिए, तुझे हमारे दाँतों के हित के लिए, गन्ध-ग्रहण करने के लिए नमस्कार है॥ ६॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्त्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि॥ ७॥

भाषार्थ—प्रकाश करनेवाले, नीली निधियों के पहुँचानेवाले, सहस्त्रों कर्मों में दृष्टिवाले,

बलवान्, हिंसकों के मारनेवाले राजा वा सेनापति के साथ हम लड़ाई न करें॥७॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आपइवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै॥८॥

भाषार्थ—वह सुख उत्पन्न करनेवाला राजा हमें दुष्ट कर्मों से सब ओर वर्जता, रोकता रहे। जैसे जल और अग्नि एक-दूसरे को रोकते हैं, वैसे भव=सुख उत्पन्न करनेवाला राजा हमें रुकवाता रहे। हमें वह न सतावे। इस राजा को नमस्कार होवे॥८॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥९॥

भाषार्थ—सुखोत्पादक राजा को चार बार, आठ बार नमस्कार है। हे दृष्टिवाली प्रजा के रक्षक! तुझे दश बार नमस्कार है। तेरे ही बाँटे हुए ये पाँच दृष्टिवाले गौवें, घोड़े, पुरुष, बकरी और भेड़ें हैं॥९॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद यत् प्राणत् पृथिवीमनु॥१०॥

भाषार्थ—हे तेजस्वी सेनापते! तेरी चारों बड़ी दिशाएँ हैं। तेरा प्रकाशमय सूर्य, तेरी फैली हुई भूमि, तेरा यह चौड़ा आकाशलोक है। तेरा ही यह सब है जो आत्मावाला और प्राणवाला पृथिवी पर है॥१०॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यंत्वघरुदो विकेश्यः॥११॥

भाषार्थ—हे सभापते! तेरा यह चौड़ा कोष श्रेष्ठ पदार्थों का आधार है, जिसके भीतर ये सब प्रजा हैं। हे दृष्टिवाली प्रजा के रक्षक! तू हमें सुखी रख। तेरे लिए नमस्कार हो। चिल्लानेवाले गीदड़, सम्मुख चमकती हुई विपत्तियाँ, घूमनेवाले कुत्ते और केश फैलाये हुए भयानक पाप की पीड़ाएँ दूर चली जावें॥११॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्निं शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः॥१२॥

भाषार्थ—हे परम उद्योगी सेनापते! शत्रुनाशक, बलयुक्त, सहस्रों शत्रुओं के मारनेवाले, सैकड़ों हथियारोंवाले धनुष को तू धारण करता है। दुःखविनाशक सेनापति का बाण, दिव्य वज्र चलता रहा है। उस बाण के रोकने के लिए यहाँ से चाहे जौन-सी दिशा हो, उसमें नमस्कार है॥१२॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति। पश्चादनु प्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव॥१३॥

भाषार्थ—जो हारा हुआ दुष्कर्मी छिप जाता है और हे दुःखनाशक! जो मुझे हराना चाहता है, उसका तू पीछे-पीछे अनुप्रयोग करता है, अर्थात् यथापराध उसे दण्ड देता है, जैसे घायल का पद खोजा जाता है॥१३॥

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः॥१४॥

भाषार्थ—समान संयोगवाले, समान ज्ञानवाले, तेजस्वी दोनों भव और रुद्र अर्थात् राजा तथा सेनापति वीरता देने को विचरते हैं। यहाँ से चाहे जौन-सी दिशा हो उसमें उन दोनों को नमस्कार है॥१४॥

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥१५॥

भाषार्थ—आते हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार होवे, दूर जाते हुए के हित के लिए नमस्कार होवे। हे रुद्र! दुःखनाशक सेनापते! खड़े होते हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार और बैठे हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार है॥ १५॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ १६॥

भाषार्थ—सायंकाल में नमस्कार, प्रातःकाल में नमस्कार, रात्रि में नमस्कार, दिन में नमस्कार। भव अर्थात् सुख उत्पन्न करनेवाले राजा और शर्व अर्थात् दुःखनाश करनेवाले सेनापति दोनों को मैंने नमस्कार किया है॥ १६॥

आशा है कि अब आप पौराणिक महादेव की पूजा का विचार हृदय से निकालकर एक ईश्वर की पूजा में ही चित्त लगाने की कृपा करेंगे।

महावीर

(८१) प्रश्न—यज्ञ में महावीर नामक प्रजापति की प्रतिमाएँ बनती हैं। —पृ० १८८, पं० ७

उत्तर—श्रीमान्‌जी! यह महावीर नाम के प्रजापति कौन थे? क्या किसी पुराण में इनका इतिहास मिलता है और क्या महावीर को कहीं प्रजापति भी लिखा है? आपके ग्रन्थों में दश ही प्रजापतियों का वर्णन मिलता है। जैसे मनुस्मृति में आता है कि—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥ ३४॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥ ३५॥

—मनु० १। ३४-३५

मैंने प्रजा पैदा करने की इच्छा से कठोर तप करके आदि में दश महर्षियों को प्रजाओं का पति पैदा किया॥ ३४॥ मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, और नारद ये दश प्रजापति थे॥ ३५॥

कहिए महाराज! इन दशों में तो महावीरजी का नाम नज़र नहीं आता। आपने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध यह ग्यारहवाँ प्रजापति कहाँ से घड़ डाला? आपके इस प्रकरण में भी, जिसका आप वर्णन करने लगे हैं **'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति।'** [शतपथ १४। १। २। १८] यज्ञ का नाम तो प्रजापति लिखा है, किन्तु महावीर को प्रजापति कहीं भी नहीं लिखा। फिर तनिक यह भी बताने की कृपा करें कि उन महावीर की मूर्त्तियों से यज्ञ में क्या काम लिया जाता है? क्या वे राम-लक्ष्मण की भाँति धनुष-बाण लेकर राक्षसों से यज्ञ की रक्षार्थ बनाई जाती हैं? आखिर कुछ तो बताइए! यदि आप नहीं बता सकते तो लीजिए हम आपको बतलाते हैं कि यह महावीरजी क्या वस्तु है।

यद्यपि हम शतपथ को स्वतःप्रमाण नहीं मानते और उसकी वेदविरुद्ध कल्पनाओं का उत्तर देने की हमारी कोई ज़ुम्मेवारी नहीं है, तथापि हम आपकी भ्रान्ति दूर करने के लिए बतला देना चाहते हैं कि शतपथ के लेखानुसार महावीर एक घृतपात्र का नाम है, जिसका यज्ञ में प्रयोग किया जाता है। यह उसी पात्र के बनाने का वर्णन है। किसी पूँछवाले महावीर प्रजापति की मूर्त्ति बनाने का वर्णन नहीं है।

(८२) प्रश्न—**'देवी द्यावापृथिवी'** [यजुः० ३७। ३] इस मन्त्र में महावीर की मूर्त्ति बनाने के लिए जल तथा मिट्टी के ग्रहण करने का वर्णन है। —पृ० १८८, पं० ९

उत्तर—बस महाराज! बस कीजिए। यह पौराणिक खुराफ़ात वेदों के सिर मढ़ने की कृपा न कीजिएगा। जब वेद परमात्मा को **'अकायम्'** कह रहा है और **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** से परमात्मा की मूर्त्ति का निषेध करता हुआ मूर्त्तिपूजा को **'अन्धन्तमः प्रविशन्ति'** से नरक का रास्ता

बता रहा है तो वेद में मूर्त्तिनिर्माण की विधि कहाँ? अच्छा आप यह बतलाने की कृपा करें कि 'महावीर की मूर्त्ति बनाऊँगा' तथा 'महावीर के बनाने के हेतु यह तुम्हारा ग्रहण है' यह मन्त्र के कौन-से शब्दों का अर्थ है और क्या मन्त्र में महावीर तथा मूर्त्ति शब्द कहीं नज़र पड़ता है। यदि नहीं तो फिर वेद के नाम से अपनी मनमानी बात बयान करना क्या ईमानदारी कहला सकती है? सुनो और कान खोलकर सुनो कि वेद में कहीं पर भी महावीरादि की मूर्त्ति बनाने का वर्णन नहीं है। यदि आपके पौराणिक ग्रन्थ किसी वेदविरुद्ध काम को वेदमन्त्र पढ़कर करने का विधान कर डालें तो इसमें वेद का क्या अपराध है? यह दोष तो वेदमन्त्र पढ़कर वेदविरुद्ध काम करनेवाले का है। जैसे आपके पारस्करगृह्यसूत्र ने कां० १ कण्डि० ३ सू० २७ में **'माता रुद्राणाम्'** इत्यादि मन्त्र से गौ मारकर मधुपर्क में मांस-भोजन की आज्ञा दे डाली, यद्यपि मन्त्र में गौ की महिमा तथा मारने का निषेध वर्णन किया गया है। बतलाइए, इसमें अपराध वेद का है या पारस्कर का? बस यही अवस्था सब ग्रन्थों की है। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ३॥

भाषार्थ—उत्तम गुणों से युक्त प्रकाश और भूमि के तुल्य वर्त्तमान अध्यापिका और उपदेशिका स्त्रियो! इस समय पृथिवी के बीच विद्वानों के यज्ञस्थल में तुम दोनों के उत्तम अवयव को मैं सम्यक् सिद्ध करूँ। यज्ञ के उत्तम अवयव की सिद्धि और यज्ञ के लिए तुझको सम्यक् सिद्ध करूँ॥ ३॥

इस वेदमन्त्र में महावीर का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है।

(८३) प्रश्न—इस मन्त्र पर 'कात्यायनश्रौतसूत्र' लिखता है कि **'मृदमादत्ते पिण्डवद्देवी-द्यावापृथिवीति'** [कां० २५।१।४] **'द्यावापृथिवी'** इस मन्त्र से जलमिश्रित मृत्पिण्ड को उठावे।
—पृ० २८८, पं० १४

उत्तर—वेदमन्त्र में मृत्पिण्ड का वर्णन नहीं है। कात्यायन अपनी वा शतपथ की कल्पना को वेद के सिर मढ़कर जनता को भ्रम में डाल रहा है। यह दोष वेद का नहीं अपितु कात्यायन तथा शतपथ का है।

(८४) प्रश्न—इसपर शतपथ **'अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति।'** [शतपथ १४।१।२।९] इत्यादि में लिखता है कि 'और इन ही दोनों वस्तुओं से महावीर की मूर्त्ति बनाते हैं।'
—पृ० १८८, पं० १८

उत्तर—आपको स्वार्थ ने इतना अन्धा कर रक्खा है कि मूर्त्तिपूजा को सिद्ध करने के उन्माद में दूसरी पुस्तकों के पाठ का मनमाना अर्थ कर रहे हैं। भला! बतलाइए तो सही कि शतपथ के इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है? हम शतपथ का पाठ नीचे दे रहे हैं—

अथ मृत्पिण्ड परिगृह्णाति। अभ्र्य दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरो राध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सम्भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इति यज्ञो वै मखो यज्ञाय त्वा यज्ञस्य त्वा शीर्ष्ण इत्येवैतदाह॥ ९॥

इस पाठ में **'महावीराः कृता भवन्ति'**—'महावीर बनाये जाते हैं' यह पाठ तो है, जिसमें यज्ञ के पात्र महावीर बनाने का वर्णन है, किन्तु यहाँ पर 'मूर्त्ति' शब्द का निशान भी नहीं है जोकि आपने अपनी ओर से मिला दिया है। हाँ, शतपथ ने जो अपनी कल्पना को वेदमन्त्र की व्याख्या

प्रकट करने का यत्न किया है, वह मिथ्या ही है, क्योंकि वेदमन्त्र में यह वर्णन नहीं है।

(८५) प्रश्न—इससे आगे **'देव्यो वम्र्यो भूतस्य'** [यजुः० ३७।४] इस मन्त्र से महावीर की मूर्त्ति बनाने के लिए बांबी की मिट्टी ग्रहण करने का वर्णन है। —पृ० १८९, पं० १४

उत्तर—वेद के इस मन्त्र में भी न महावीर का वर्णन है और न ही उसकी मूर्त्ति बनाने का। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'यज्ञ' है। आप यह बतलाने की कृपा करें कि 'अब महावीर की मूर्त्ति को सम्पादन करूँ' और 'महावीर के हेतु तुझे ग्रहण करता हूँ' यह मन्त्र के कौन-से पदों के अर्थ हैं? एक पौराणिक विषय को वेद के सिर मढ़ना ईमानदारी में शामिल नहीं है। देखिए, मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ —यजु: ३७।४

भाषार्थ—हे थोड़ी अवस्थावाली, तेजस्विनी, विदुषी स्त्रियो! सिद्ध हुए यज्ञ की सम्बन्धिनी पृथिवी के उस स्थान में जहाँ विद्वान् लोग संगति करते हैं, आज तुम लोगों को शिर के तुल्य मैं सम्यक् सिद्ध किया करूँ। यज्ञ का निर्माण करनेवाली तुझको शिर के तुल्य वर्त्तमान यज्ञ के लिए सम्यक् उद्यत वा सिद्ध करूँ॥४॥

क्या कोई भी मनुष्य इस मन्त्र से महावीर-निर्माण सिद्ध कर सकता है?

(८६) प्रश्न—इसपर कात्यायनश्रौतसूत्र लिखता है कि **'उत्तरतो देव्यो वम्र्य इति वल्मीकवपाम्।'** [का० २६।१।५६] बाँबी से मिट्टी लेकर मौन धारण कर मृत्पिण्ड से उत्तर की तरफ़ रख दे। —पृ० १८६, पं० १९

उत्तर—कात्यायनसूत्र ने जो इस विधि को वेद के सिर मढ़ा है, यह उसकी मिथ्या कल्पना है, क्योंकि मन्त्र में बाँबी की मिट्टी के लिए कोई शब्द नहीं है। हाँ, यह पौराणिक कल्पना है, किन्तु इसमें भी महावीर नामक यज्ञपात्र के बनाने की विधि है। बन्दररूपधारी पूँछवाले महावीर की मूर्त्ति बनाने का कोई वर्णन नहीं है।

(८७) प्रश्न—इसपर शतपथ लिखता है कि **'अथ वल्मीकवपाम्'** इत्यादि [शत० १४।१।२।१०] बाँबी की मिट्टी लेता है और उससे महावीर की मूर्त्ति को परिपूर्ण करता है। —पृ० १८९, पं० २३

उत्तर—यद्यपि हम शतपथ को स्वत:प्रमाण नहीं मानते और इसकी वेदविरुद्ध कल्पनाओं के हम उत्तरदाता नहीं हैं, और शतपथ का अपनी कल्पना को वेद के मन्त्र में बतलाने का यत्न करना सर्वथा मिथ्या और निर्मूल है, तथापि शतपथ के इस पाठ में भी महावीर-पात्र के ही बनाने का वर्णन है, 'मूर्त्ति' शब्द वहाँ भी नहीं है, और न ही किसी पूँछवाले महावीर का वर्णन है। देखिए, शतपथ का पाठ यह है—

अथ वल्मीकवपाम्। देव्यो वम्र्य इत्येता वा एतदकुर्वत यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोतीति॥१०॥

बतलाइए, इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है?

(८८) प्रश्न—**'इत्यग्र आसीन्मखस्य।'** [यजुः० ३७।५] इस मन्त्र द्वारा वराह की खोदी हुई मिट्टी लेकर उससे यज्ञशिर महावीर के बनाने का वर्णन है। —पृ० १९०, पं० ३

उत्तर—हम इस बात को फिर बतला देना चाहते हैं कि इस महावीर यज्ञपात्र के बनाने का वर्णन वेदमन्त्रों में नहीं है, अपितु यह शतपथ तथा कात्यायन की अपनी ही कल्पना है, जिसे वे वेद के सिर मढ़ना चाहते हैं। देखिए, इस मन्त्र में भी न वराह का वर्णन है न उससे खोदी

हुई मिट्टी का, न ही कहीं महावीर का वेदमन्त्र में निशान है। वेदमन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'यज्ञ' ही है और मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ यूँ है—

इयत्यग्र आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥

—यजुः० ३७।५

भाषार्थ—हे विद्वन्! मैं पहले सत्काररूप यज्ञ के लिए तुझको, संगतीकरण की उत्तमता के लिए तुझको सिद्ध करूँ। जिस आपके यज्ञ का उत्तम गुण है उस आपको आज भूमि के बीच इतने विद्वानों के पूजने में सम्यक् सिद्ध होऊँ॥५॥

क्योंजी! यह वराह से खोदी हुई मिट्टी में क्या विशेषता होती है जो उसको महावीर-निर्माण में आवश्यक अङ्ग समझा गया है? क्या उसकी थूथनी से लगे हुए किसी विशेष पदार्थ से मिट्टी में विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं? और क्या वराह और महावीर का क़ारूरः (मूत्र) आपस में मिलता-जुलता है? बात क्या है? क्या हमारे पौराणिक भाई इसपर कुछ प्रकाश डालेंगे?

(८९) प्रश्न—इसपर कात्यायनश्रौतसूत्र लिखता है कि **'इयत्यग्रे इति वराहविहितम्।'** [का० २६।१।७] इस मन्त्र से जंगली वराह की खोदी हुई मिट्टी को लेकर मौन होकर वल्मीक की मिट्टी के उत्तर की ओर मृगचर्म पर रख दे। —पृ० १९०, पं० ८

उत्तर—वेदमन्त्र में उक्त विधि का प्रतिपादन बतलाना तो सर्वथा निर्मूल ही है। हाँ, कात्यायन तथा शतपथ की अपनी ही यह कल्पना यज्ञ के मुख्य घृतपात्र महावीर के बनाने की है। इसमें भी मूर्त्ति वा किसी प्राणिविशेष की आकृति बनाने का वर्णन नहीं है।

(९०) प्रश्न—इसपर शतपथ **'अथ वराहविहितम्।'** [शत० १४।१।२।११] लिखता है कि मूर्त्ति बनाने को वराहविहित मृत्तिका लेता है। —पृ० १९०, पं० १२

उत्तर—कहिए महाराज! आपके ख़याल में यदि वराह ने सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी का उद्धार कर दिया था तो क्या सारे ही वराह पृथिवी के पति हो गये और पूज्य होकर उनकी खोदी मिट्टी भी यज्ञ में उपयोगी बन गई? और यदि यही बात है तो वराह की मिट्टी से महावीर की मूर्त्ति बनाना अन्याय है; क्यों न यज्ञ में वराह की ही मूर्त्ति बनाई जावे? क्या महावीर ने वराह से भी बढ़कर कोई उपकार किया है? इस विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डालना चाहिए। हाँ, फिर आप मूर्त्ति शब्द कहाँ से ले-आये? इस पाठ में तो कहीं मूर्त्ति शब्द नज़र नहीं आता। देखिए, पाठ यूँ है—

अथ वराहविहितम्। इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्या स प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेनाप्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोतीति॥११॥

कृपया अब बतलाइए, इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है?

(९१) प्रश्न—इससे आगे **'इन्द्रस्य'** इस मन्त्र से महावीर बनाने के लिए रोहिष तृण (घास) का ग्रहण किया है। मन्त्र में घास को विष्णु-तेज कहकर महावीर बनाने के लिए ग्रहण किया है। —पृ० १९०, प० १८

उत्तर—'इन्द्रस्यौजः' [यजुः० ३७।६] इस मन्त्र में न तो महावीर के बनाने का वर्णन है और न ही उसके लिए घास को विष्णु-तेज कहकर ग्रहण किया है। इस मन्त्र का विषय यज्ञ है और और इसमें यह वर्णन है कि जो मनुष्य धर्मयुक्त कार्यों को करते हैं, वे सबसे शिरोमणि होते हैं, अतः आपकी कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

(९२) प्रश्न—कात्यायनश्रौतसूत्र कहता है कि इस घास को लेकर मौन धारण कर वराह की मिट्टी के उत्तर की ओर मृगचर्म पर रख दे। —पृ० १९०, पं० २

उत्तर—कात्यायन की यह विधि यज्ञपात्र बनाने की स्वयं कल्पित है, वेद में इसका वर्णन नहीं है।

(९३) प्रश्न—शतपथ **'अथ यत्पूयन्'** [१४।१।२।१२] कहता है कि यह घास विष्णु-तेज से उत्पन्न हुआ है। इसलिए यज्ञ के मुख्य महावीर-निर्माण में इसको लिया जाता है।

—पृ० १९०, पं० २२

उत्तर—यह यज्ञार्थ महावीर नाम घृतपात्र की कल्पना शतपथ की स्वयं कल्पित है, वेद की नहीं है।

(९४) प्रश्न—'चत्वारि शृङ्गा' [यजुः० १७।९१] इस मन्त्र में यज्ञ को **'त्रिधा बद्धः'** लिखा है। इसकी भाषा यह है कि यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पबद्ध है। यज्ञप्रकरण में जो अर्थ मन्त्र का होता है, उसी अर्थ को ब्राह्मण कहता है और क्रिया बतलाता हुआ उसी अर्थ को कल्पसूत्र कहता है। यज्ञप्रकरण होने के कारण इस प्रकरण में मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प तीनों ही मिलकर चलते हैं।

—पृ० १९०, पं० २५

उत्तर—यह ठीक है कि मन्त्र जिस बात को कहता है ब्राह्मण उसका अनुवाद करता है और कल्प उसकी विधि वर्णन करता है। इनमें वेद ही ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण है; ब्राह्मण तथा कल्प ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण हैं, ये दोनों वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक कि वेद के अनुकूल हों। जहाँ ये वेद के प्रतिकूल हों वहाँ ये प्रमाण न हो सकेंगे। यहाँ पर वेदमन्त्रों में महावीर का नाम तथा उसके बनाने की विधि का सर्वथा अभाव है और ब्राह्मण तथा कल्प ने स्वतन्त्ररूप से उसकी कल्पना की है, अतः यह विधि मानने के योग्य नहीं है। चूँकि ब्राह्मण तथा कल्प महावीर को यज्ञपात्र मानते हैं, अतः यहाँ पर किसी प्रजापति की अथवा पूँछवाले हनुमान्‌जी की मूर्त्ति की कल्पना करना सर्वथा ही ब्राह्मण तथा कल्प के भी विरुद्ध होने से मिथ्या प्रलाप ही है।

(९५) प्रश्न—आगे **'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः।'** [यजुः० ३७।७] मन्त्र है। उसका अर्थ है कि वेद के रक्षक परमात्मा महावीररूप में हमारे यज्ञ में आवें।

—पृ० १९१, पं० ५

उत्तर—आपने तो जनता को भ्रम में डालने का ठेका ही ले-रक्खा है, वरना इस मन्त्र में न तो महावीर का नाम है और न ही परमात्मा से महावीररूप में आने की प्रार्थना है। अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो मनुष्य और जो स्त्रियाँ स्वयं विद्या आदि गुणों को पाकर एवं अन्यों को प्राप्त कराके विद्या, सुख और धर्म की वृद्धि के लिए सुशिक्षित जनों को अधिक विद्वान् करते हैं, वे पुरुष और स्त्रियाँ निरन्तर आनन्दित होते हैं।'

(९६) प्रश्न—इसपर कात्यायनसूत्र लिखता है कि **'कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृत्तं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति।'** [का० २६।१।१२] **'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः'** इस मन्त्र को बोलकर उस समस्त सामग्रीवाले कृष्ण-मृगचर्म को यज्ञस्थल के अन्दर ले-जावे ओर तीन महावीर बनावे।

—पृ० १९१, पं० ६

उत्तर—कोई किसी मन्त्र को बोलकर कुछ भी करे यह कर्त्ता की स्वतन्त्र इच्छा है, वरना इस मन्त्र में इस विधि का नाम तक नहीं है। हाँ, वेद में न होते हुए भी शतपथ तथा कात्यायन ने महावीर नाम के यज्ञपात्र के बनाने की कल्पना अवश्य की है। यहाँ पर आपने शतपथ तथा कात्यायन के उस लेख को छोड़ दिया जिसमें यह लिखा है कि वह महावीर किस शक्ल का बनावें। इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह महावीर किसी कल्पित प्रजापति की मूर्त्ति है या यज्ञपात्र ही है। हम उस समस्त पाठ को नीचे देते हैं, पाठक ध्यान से पढ़ें—

मृत्पिण्डमादाय महावीरं करोति प्रादेशमात्रं प्रादेशमात्रमिव
हि शिरो मध्ये संग्रहीतं मध्ये संग्रहीतमिव
हि शिरोऽथास्योपरिष्टात्त्र्यंगुलं मुखमुन्नयति
नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तं निष्ठितमभिमृशति। —शत० १४।१।२।१७
मृदमादाय मखायेति महावीरं करोति। प्रादेशमात्रमूर्ध्वमा-
सेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंग्रहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यंगुलम्।
—का० २६।१।१६

महावीरपर्याप्तं तूष्णीं मृत्पिण्डमादाय मन्त्रेण महावीरं करोति।
कीदृशम्? प्रादेशोच्चं गर्तवन्तं मेखलायुतं मध्ये संकुचितं
मेखलोपरि त्र्यंगुलोच्चमिति सूत्रार्थः। —महीधरभाष्य यजुः० ३७।७

भाषार्थ—मिट्टी लेकर, मन्त्र पढ़कर, पर्याप्त महावीर बनाता है। एक बालिश्त ऊँचा, गढ़ेवाला, सिंचन करने में समर्थ, मध्य में खाली, ऊपर मेखला तीन अंगुल ऊँची मुख के समान, नासिका भी उसी में बनाता है। उस पड़े हुए को मसलता है।

अब बतलाइए, उपर्युक्त शक्ल महावीर नामक यकज्ञपात्र की हो सकती है या महावीर नामक प्रजापति हनुमान् की? यदि यह हनुमान् की मूर्त्ति है तो आँखें, कान, हाथ, पैर, पैट, पूँछ आदि अङ्गों के बनाने का विधान क्यों नहीं है। बीच में से संकुचित, सेंचन में समर्थ, गढ़ेवाला, मेखला तीन अंगुलवाला इत्यादि विधान प्रजापति हनुमान् की मूर्त्ति में कैसे संगत हो सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि महावीर यज्ञ-पात्र का ही नाम है। हनुमान् की मूर्त्ति का नाम नहीं है।

(९७) प्रश्न—फिर **'मखस्य शिरोऽसि'** इस मन्त्र से अपने बायें हाथ में रक्खे हुए महावीर को दाहिने हाथ से छुए और इसी मन्त्र को पढ़कर इससे महावीर की स्तुति करे।
—पृ० १९१, पं० १०

उत्तर—उपर्युक्त मन्त्र [यजुः० ३७।८] में न महावीर का नाम है, न बायें हाथ में रखकर दायें हाथ से छूने का वर्णन है, न ही स्तुति करने की गन्ध भी है। इस मन्त्र में तो यह वर्णन किया गया है कि 'जो लोग सत्कार करने में उत्तम हैं, वे दूसरों को भी सत्कारी बनाके मस्तक के तुल्य उत्तम अवयवोंवाले हों'। आपने यहाँ पर शतपथ और कात्यायन को क्यों चुरा लिया? इसलिए कि आपकी महावीर-स्तुति की पोल न खुल जावे। श्रीमान्जी! यहाँ महावीर प्रजापति हनुमान् की स्तुति नहीं, अपितु महावीर यज्ञपात्र को घासविशेष की कूँची से घिसकर खुरदरापन हटाकर मृदु करने का वर्णन है। वह समस्त पाठ इस प्रकार है—

अथ गवेधुकाभिर्हिन्वति। —शत० १४।१।२।१९
गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२२
गवेधुकाभिः महावीरान् घर्षणेन मृदून् करोति मखायेति प्रतिमन्त्रमेकैकम्।
—महीधरभाष्य यजुः० ३७।८

भाषार्थ—'मखाय' इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र से अलग-अलग महावीरों को घासविशेष की कूँची से घिसकर मृदु करता है।

श्रीमान्जी! फरमाइए, यह घासविशेष की कूँची से घिसकर यज्ञ-पात्र महावीर को मृदु किया जा रहा है या महावीर प्रजापति की स्तुति हो रही है? झूठे का सत्यनाश हो!

(९८) प्रश्न—फिर **'अश्वस्य त्वा वृष्णः'** [यजुः० ३७।९] इस मन्त्र से घोड़े की लीद से महावीर को पकावे।
—पृ० १९१, पं० ११

उत्तर—इस मन्त्र को पढ़कर कोई कैसा ही काम करे, किन्तु इस मन्त्र में न तो कहीं पर महावीर का नाम है और न ही लीद से उसके पकाने का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में वैद्यक का प्रकरण होने से यह वर्णन है कि 'जो मनुष्य रोगादि क्लेश की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का प्रयोग करते हैं वे सुखी होते हैं।'

कृपया यह तो बतलावें कि यहाँ आप शतपथ और कात्यायन को क्यों छोड़ गये? इसलिए कि महावीर प्रजापति की मूर्त्ति को पाखाने की धूनि देने से कुछ शेख़ी किरकिरी होने लगी? देखिए, शतपथ तथा कात्यायन क्या कहते हैं—

अथैनान् धूपयति। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामीति। —शत० १४।१।२।२०
अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्येति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२३
प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२४
दक्षिणाग्निदीप्तेनाश्वपुरीषेण त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरान् धूपयेत्।
एकैकधूपेन सप्तसप्ताश्वशकृन्ति गृह्णाति (२३) मखाय मखस्य शीर्ष्णे त्वा त्वां निर्दहामि (२४)

भाषार्थ—दक्षिण अग्नि के जलने पर घोड़े के पाखाने से तीन मन्त्रों से तीन महावीरों को धूप दे। एक-एक महावीर के धूप देने में सात-सात घोड़ों का पाखाना ग्रहण करता है। मखाय इत्यादि मन्त्र से तुझे जलाता हूँ वा तपाता वा पकाता हूँ।

कहिए महाराज! यह यज्ञ-पात्र महावीर को पकाया जा रहा है या महावीर प्रजापति हनुमान्‌जी को सात-सात घोड़ों के पाखाने की धूनि देकर प्रसन्न किया जा रहा है? आपके महावीरजी ने धूप तो अच्छी पसन्द की है! हींग लगे न फटकड़ी रङ्ग भी चोखा हो! आपकी तो मौज हो गई, क्योंकि महावीर की धूपार्थ तथा वराह भगवान् के भोगार्थ तो आपको कौड़ी खर्चने की ज़रूरत ही न पड़ेगी। धन्य हो अन्धी देवी के गंजे पुजारी! जैसे को तैसे मिल गये!

(९९) प्रश्न—बाद में **'ऋजवे त्वा'** इस मन्त्र से पके हुए महावीरों को पकने के स्थान से निकाले। —पृ० १९१, पं० १३

उत्तर—'यजुर्वेद ३७।१०' में न तो महावीर का नाम है, न ही पके हुए महावीरों को निकालने का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो लोग विनय और सीधेपन से युक्त प्रयत्न के साथ सर्वोपकाररूप यज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे बड़े राज्य को प्राप्त होते हैं'। आपने यहाँ पर फिर शतपथ और कात्यायन को छिपा लिया, जिनमें लिखा है कि उन महावीरों को बकरी के दूध में धोवे। प्रतीत होता है कि उसके लिखने से महावीर प्रजापति हनुमान् की मूर्त्ति का सिद्ध होना असम्भव बन जाता है। धोने से यज्ञ-पात्र ही सिद्ध होते हैं। लीजिए, हम सारा पाठ दे देते हैं—

अथैनानाच्छृणत्ति। अजायै पयसा। —शत० १४।१।२।२५
अजापयसावसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२६
अजादुग्धेन त्रीन् महावीरांस्त्रिभिः तुल्यमन्त्रैः सिञ्चतीत्यर्थः। —महीधरभाष्य ३७।१०

भाषार्थ—पके हुए महावीरों को तीन-तीन समान मन्त्रों से तीनों को बकरी के दूध से धोते हैं। महावीरों को धोने के पीछे यज्ञ-पात्रों के यज्ञशाला में रखने का वर्णन शतपथ में आता है और उन यज्ञ-पात्रों में महावीर-पात्र को भी गिना गया है। देखिए—

कुशान्त्सः स्तीर्य द्वन्द्वं पात्राण्युपसादयत्युपयमनीं महावीरं परीशासौ पिन्वने रौहिणकपाले रौहिणहवन्यौ स्रुचौ यदु चान्यद् भवति। —शत० १४।१।३।१

भाषार्थ—कुशाएँ बिछाकर दो-दो पात्र रखता है। उपयमनी, महावीर, परीशा, पिन्वन, रौहिणकपाल, रौहिनहवनी, स्रुच, और भी जो दूसरे पात्र हों।

कहिए श्रीमान्‌जी! अब तो तसल्ली हो गई कि महावीर किसी पौराणिक प्रजापति वा हनुमान्‌की मूर्त्ति नहीं है, अपितु यज्ञ का एक विशेष पात्र है, क्योंकि महावीरों को धोकर यज्ञपात्रों के साथ यज्ञशाला में रक्खा जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है।

(१००) प्रश्न—फिर **'यमाय त्वा'** इस मन्त्र से महावीर का तीन बार प्रोक्षण करे।

—पृ० १९१, पं० १४

उत्तर—यहाँ पर 'यजुः० ३७।११' में न तो महावीर का नाम है और न ही उसके तीन बार प्रोक्षण का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो लोग यथार्थ व्यवहार से प्रकाशित कीर्तिवाले होते हैं, वे दुःख के स्पर्श से अलग होकर तेजस्वी होते हैं और दुष्टों को दुःख देकर श्रेष्ठों को सुखी करते हैं।' हाँ, शतपथ तथा कात्यायन में महावीरों को प्रोक्षण करके अर्थात् पोंछकर उनमें घी भरना लिखा है। आपने प्रोक्षण तो लिख दिया किन्तु घी चुरा गये, क्योंकि घी भरने से स्पष्ट सिद्ध है कि महावीर यज्ञपात्र है, हनुमान्‌जी की मूर्त्ति नहीं हैं, क्योंकि मूर्त्ति में घी नहीं भरा जाता, अपितु पात्रों में भरा जाता है।

लीजिए, हम पूरा पाठ यहाँ पर दर्ज करत देते हैं—

तदेतं प्रचरणीयं महावीरमाज्येन समनक्ति देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति।

—शत० १४।१।३।१३

तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति। —२६।३।४

तेषु मुञ्जेषु संस्कृताज्यपूर्णं प्रचरणीयं महावीरं निदधातीति सूत्रार्थः। —३७।११

भाषार्थ—उन कुशाओं पर शुद्ध घी से भरा हुआ महावीर धरता है, यह सूत्र का अर्थ है। अब तो आपको महावीर के यज्ञपात्र होने में सन्देह न रहा होगा!

(१०१) प्रश्न—फिर **'अनाधृष्टा'** [यजुः० ३७।१२] इस मन्त्र से महावीर के ऊपर अंगूठा और अंगुली रखकर महावीर की स्तुति करे। —पृ० १९१, पं० १४

उत्तर—यहाँ पर मन्त्र में न तो महावीर का नाम है और न ही उसपर अंगुली और अंगूठा रखकर उसकी स्तुति करने का वर्णन है, अपितु मन्त्र में यह वर्णन है कि 'हे मनुष्यो! जैसे अग्नि जीवन को, जैसे बिजली प्रजा को, जैसे सूर्य दृष्टि को धारण करता है, ईश्वर लक्ष्मी और शोभा को और महाशयजन बल को देता है, वैसे ही सुलक्षणी पत्नी सब सुखों को देती है, उसकी तुम रक्षा किया करो।'

श्रीमान्‌जी! यह अंगुली और अंगूठा महावीर पर रखकर स्तुति करने का क्या तरीका है? और यह अंगुली और अंगूठा महावीर के कौन-से अंगों पर रक्खे जाते हैं? क्या यही तरीका अंगुली और अंगूठा रखने का शिव, विष्णु, गणेश आदि की मूर्त्तियों के साथ भी बरता जाता है या यह विशेषता महावीर के साथ ही है? फिर यह स्तुति करना किन पदों का अर्थ है और आपने कहाँ से यह अभिप्राय लिया है? या घर से ही घड़कर डाल दिया ताकि महावीर के साथ स्तुति शब्द मिला दिया तो मूर्त्तिपूजा सिद्ध हो जावेगी? देखिए, कात्यायनसूत्र का अर्थ करते हुए महीधर लिखते हैं कि **'महावीरोपर्यंगुष्ठांगुलिदेशं धरन्तं यजमानमध्वर्युर्मन्त्रान् वाचयतीति सूत्रार्थः'** महावीर के ऊपर अंगूठा और अंगुली धरनेवाले यजमान को अध्वर्युमन्त्र बुलवाता है, यह सूत्र का अर्थ है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महावीर की स्तुति करना कहीं भी नहीं लिखा है। यह आपने मूर्त्तिपूजा की सिद्धि के लोभ में घर से ही मिला दिया है। यह है आपकी ईमानदारी का नमूना!

(१०२) प्रश्न—इस प्रकार इस प्रकरण में महावीर की परिक्रमा आदि पूजन की सब क्रियाएँ लिखी हैं।

—पृ० १९१, पं० १६

उत्तर—इससे इस प्रकरण में कहीं भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि महावीर नामक प्रजापति की मूर्त्ति बनाई जावे, या उसकी स्तुति-प्रार्थना-परिक्रमा आदि पूजा की जावे, अपितु बनाने, पकाने, घिसाने, गढ़ेवाली शक्ल बनाने, घी भरने, पात्रों में गिनती होने तथा मूर्त्ति शब्द कहीं भी न होने से यह सिद्ध होता है कि महावीर नामक घृत रखने का एक यज्ञपात्र है, जिसकी शतपथ तथा कात्यायन ने स्वयमेव कल्पना की है, वेद में इसका नाममात्र भी नहीं है। यह कल्पना वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं मानी जा सकती। इस कल्पना में सृष्टिक्रम के विरुद्ध अश्लीलता भी है। हम नमूने के तौर से एक दिखा देते हैं, देखिए—

शतपथ—**अथ पत्न्यै शिरोऽपावृत्य। महावीरमीक्षमाणां वाचयति त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेमेति वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।** —शत० १४।४।१६

कात्यायन—**त्वष्टृमन्त इत्येनां वादयति।** —का० २६।४।१३

महीधर—**महावीरमीक्षमाणामपनीतशिरोवस्त्रां घर्मं पश्यन्तीं पत्नीमध्वर्युर्वाचयति... मैथुनाय त्वामुपस्पृशामः।**

भाषार्थ—महावीर को देखती हुई, शिर से कपड़ा उतारनेवाले गरमी को अनुभव करती हुई यजमानपत्नी को अध्वर्यु बुलाता है कि हम तुझको मैथुन के लिए स्पर्श करते हैं।

कृपया इसपर प्रकाश डालें कि इस महावीर के प्रकरण में कौन किसको मैथुन के लिए स्पर्श करता है।

(१०३) प्रश्न—इसको देखकर सन्देह हुआ कि महावीर ईश्वर नहीं है, हमारी बनाई एक मूर्त्ति है। इस सन्देह को दूर करने के लिए शतपथ ने **'उभयं वा एतत्प्रजापतिः'** इस लेख द्वारा परमेश्वर को निराकार तथा साकार दो रूपवाला बतलाकर सन्देह दूर कर दिया।

—पृ० १९१, पं० २७

उत्तर—न तो यह किसी को सन्देह ही हो सकता है कि 'महावीर ईश्वर नहीं, हमारी बनाई मूर्त्ति है'—क्योंकि यह निश्चय है कि महावीर एक यज्ञपात्र है और इस प्रकरण में कोई ऐसा शब्द नहीं है कि सन्देह हो सके, न ही इस सन्देह को दूर करने के लिए शतपथ ने **'उभयं वा'** कहा है और न ही **'उभयं वा'** ईश्वर के दो रूप वर्णन करता है; वह तो यज्ञ की दो सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाओं का वर्णन करता है। यहाँ पर 'प्रजापति' नाम यज्ञ का है और **'उभयं वा'** से पहले **'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति'** पाठ मौजूद है, जिसको आपने चुराकर अपनी ईमानदारी का सबूत दिया है (विशेष देखें नं० ४)। हम इस महावीर के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व एक प्रमाण आपको और देते हैं कि महावीर यज्ञपात्र का नाम है अथवा प्रजापति का, न कि हनुमान् की मूर्त्ति का—

प्रश्न—**तदाहुः। यद्वानस्पत्यैर्देवेभ्यो जुह्वत्यथ कस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोतीति तन्मृदश्मापां च महावीराः कृता भवन्ति।** —शत० १४।२।२।५३

भाषार्थ—महावीर संज्ञक यज्ञपात्र मिट्टी के क्यों बनावे? काठ के पात्रों से देवताओं के लिए हवन किया करते हैं। सो वे भी काष्ठ के क्यों न बनाये जावें, ऐसा प्रश्न करते हैं।

उत्तर—**स यद्वानस्पत्यः स्यात्प्रदह्येत। यद्धिरण्मयः स्यात्प्रलीयेत। यल्लोहमयः स्यात्प्रसिच्येत। यदयस्मयः स्यात् प्रदहेत्। परीशासावथैष एवैतस्मा अतिष्ठत। तस्मादेतं मृण्मयेनैव जुहोति।**

—शत० १४।२।२।५४

भाषार्थ—वह यदि काष्ठ का हो तो जल जावे, स्वर्ण का गल जावे, अयोमय फुँकने लगे, लोहे का चू जावे, इसलिए यही ठीक है कि मिट्टी का हो, उससे होम करे।

इस प्रश्नोत्तर से स्पष्टतर हो गया कि महावीर यज्ञपात्र का नाम है, हनुमान् की मूर्त्ति का नहीं।

सारांश

(क) वेद में न महावीर का नाम है, न उसके बनाने आदि का वर्णन है।

(ख) यह कल्पना शतपथ तथा कात्यायन ने स्वयं करके वेद के सिर मढ़ने का यत्न किया है, जोकि वेदविरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं है।

(ग) शतपथ तथा कात्यायन में भी महावीर नाम यज्ञ के विशेष घृत-पात्र का है, हनुमानादि की मूर्त्ति का नाम नहीं है।

(घ) इसको मूर्त्तिपूजा की सिद्धि में पेश करना उन्मादमात्र है।

(ङ) इस प्रकरण में अश्लीलता होने से सबके लिए त्याज्य है।

(१०४) प्रश्न—जैसे माता-पिता का पूजन पञ्चतत्त्वात्मक शरीर के द्वारा होता है, उसी प्रकार ईश्वर का पूजन भी उसके शरीर—पञ्चतत्त्वों के द्वारा होता है, अतएव यह शरीर परिच्छिन्न पूज्य है और सृष्टि के बाहर जो ब्रह्मरूप है, वह अविज्ञेय, अनिर्वचनीय है। —पृ० १९२, पं० १

उत्तर—वह परमात्मा सृष्टि के अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक है। वह एकरस है। वह अनिर्वचनीय नहीं है, अपितु वेद उसका **'स पर्यगात्', 'ईशा वास्यम्', 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इत्यादि अनेक मन्त्रों से वर्णन करते हैं। वह अविज्ञेय नहीं है अपितु बाह्य स्थूल इन्द्रियों से अविज्ञेय है; आत्मा के द्वारा परमात्मा का ज्ञान होता है। **'भोगायतनं शरीरम्'** अच्छे और बुरे कर्मों के फल भोगने के ठिकाने को शरीर कहते हैं। हमारे माता-पिता जीव हैं। उन्होंने अपने पिछले कर्मों के फल भोगने के लिए परमात्मा की व्यवस्था से यह शरीर प्राप्त किया है। उनको शरीर के द्वारा सुख तथा दुःख दोनों का अनुभव होता है, अतः वे हमारी पूजा से सुख तथा अपमान से दुःख महसूस करते हैं। माता-पिता के शरीर की भाँति ईश्वर का शरीर नहीं है। परमात्मा न पापकर्म करता है न उसको उन कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। पाँच तत्त्व उसका वास्तविक शरीर नहीं है, अपितु लाक्षणिक रूप से पाँचों तत्त्वों को परमात्मा का शरीर कहा गया है। परमात्मा उनके द्वारा सुख-दुःख महसूस नहीं करता। यदि आप पाँचों तत्त्वों को परमात्मा का वास्तविक शरीर मानकर माता-पिता की भाँति पाँच तत्त्व की पूजा से परमात्मा की प्रसन्नता मानेंगे, तो ज़मीन खोदने से, लकड़ी फाड़ने से, पत्थर तोड़ने से, रोटी खाने आदि से परमात्मा को दुःख और कष्ट होना भी मानना पड़ेगा, अतः पाँच तत्त्व न उसका वास्तविक शरीर है और न ही उनकी पूजा से परमात्मा की पूजा होती है। अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करना ही परमात्मा की पूजा है। अच्छा भला! यह तो बतलाएँ कि यदि पाँच तत्त्वों की पूजा ही परमात्मा की पूजा है, तो आप विशेष मूर्त्ति-निर्माण, प्राणप्रतिष्ठा आदि पचासों ढोंग क्यों रचते हैं? प्रत्येक ईंट, पत्थर, ढेले के द्वारा पूजा हो सकती है, फिर मूर्त्ति में विशेषता क्या है? और जब हमारा शरीर भी पाँच तत्त्वों का बना हुआ है तो फिर हम अपने शरीर द्वारा ही परमात्मा का पूजन क्यों न करें, इधर-उधर मन्दिरों में क्यों धक्के खाते फिरें? अस्तु, पाखण्ड की बातों को छोड़ो और अपने आत्मा के द्वारा परमात्मा की पूजा करो। यही वेद का सिद्धान्त है।

असलियत

(१०५) प्रश्न—इनका कहना है कि वेद मूर्त्तिपूजन का स्वतः ही निषेध करता है।

—पृ० १९२, पं० ८

उत्तर—इसमें क्या सन्देह है! वेद ने परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय नहीं माना वरन् सर्वथा निषेध किया है। यह निषेध इस प्रकार है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳬरताः॥ १॥ —यजुः० ४०।९
न तस्य प्रतिमा अस्ति॥ २॥ —यजुः० ३२।३
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ १॥

—केनोपनिषत्

जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृतिकारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार, अर्थात् अज्ञान और दुःख-सागर में डूबते हैं और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे महामूर्ख उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार, अर्थात् चिरकाल तक घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं॥ १॥

जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है॥ २॥

जो वाणी की इयत्ता, अर्थात् यह जल है लीजिए, वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर; जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं है॥ १॥ इत्यादि अनेक प्रमाण हैं।

प्रकरण-विच्छेद

(१०६) प्रश्न—यहाँ पर वेद प्रकरण बाँधकर ईश्वर का ज्ञान करा रहा है, किन्तु इन लोगों के इस अनोखे अर्थ से प्रकरण का मतलब ही लुप्त हो जाता है। —पृ० १९३, पं० ८

उत्तर—यह आपको भ्रम है कि स्वामीजी का अर्थ प्रकरण के विरुद्ध है; स्वामीजी का अर्थ प्रकरण के सर्वथा अनुकूल है। जैसे—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ १॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥ २॥

—यजुः० अ० ३२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! वह परमात्मा ही ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि, वह प्रलय-समय सबको ग्रहण करने से आदित्य, वह अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु, वह अनन्तस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा, वही शीघ्रकारी वा शुद्धभाव से शुक्र, वह महान् होने से ब्रह्म, वह सर्वत्र व्यापक होने से आपः, और वह सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति नामवाला है, ऐसा तुम लोग जानो॥ १॥

हे मनुष्यो! जिस विशेषकर प्रकाशमान् पूर्ण परमात्मा से सब निमेष, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव उत्पन्न होते हैं, उस परमात्मा को कोई भी न ऊपर, न तिरछा, न सब दिशाओं में वा नीचे और न बीच में सब ओर से ग्रहण कर सकता है, उसको सेवो॥ २॥

इनसे आगे विवादास्पद मन्त्र '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' है, फिर इसका अर्थ प्रकरण के विरुद्ध कैसे है?

(१०७) प्रश्न—पुरुषसूक्त के अन्त में '**श्रीश्च ते**' इस मन्त्र में श्री और लक्ष्मी ईश्वर की स्त्रियाँ बतलाई हैं। —पृ० १९३, पं० २०

उत्तर—धन्य है आपकी बुद्धि को! वेदमन्त्रों के अर्थ भी आप खूब समझते हैं! आपने इस

मन्त्र से यह समझा कि ईश्वर के भी वैसे ही दो स्त्रियाँ हैं जैसे कृष्ण के तीस करोड़, और ईश्वर भी उन दोनों से वैसे ही लीला करता है जैसे कृष्ण तीस करोड़ गोपियों से, (देखो नं० ६१)। यदि आपने ऐसा ही समझा है तो यह आपकी महाभूल है। इससे परमात्मा का साकार या मूर्त्तिमान् सिद्ध होना असम्भव है, क्योंकि यहाँ पर उपमा अलंकार है। जैसे—

वेद—'**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।**' —यजु:० ३१।२२

स्वामी दयानन्द—हे जगदीश्वर! आपकी समग्र शोभा और सब ऐश्वर्य भी दो स्त्रियों के तुल्य वर्त्तमान है।

महीधर—श्री: लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ। जायास्थानीये त्वद्वश्ये इत्यर्थ:। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्री: श्रीयतेऽनया श्री: सम्पदित्यर्थ:। यया लक्ष्यते दृश्यते जनै: सा लक्ष्मी:। सौन्दर्यमित्यर्थ:।

भाषार्थ—श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, अर्थात् पत्नी के स्थान में आपके वश में हैं। जिससे सब जनता आश्रय लेनेवाली होती है वह श्री सम्पत्ति है। जिससे लोगों से देखा जाता है वह लक्ष्मी, सौन्दर्य है।

कहिए महाराज! यह तो आपके भाष्यकार महीधरजी भी स्वामी दयानन्दजी का अनुमोदन कर रहे हैं। हमारा क्या क़ुसूर है? आपके भाष्यकार ने ही आपके सारे मनसूबे ख़ाक में मिला दिये। '**इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से।**'

(१०८) प्रश्न—अब '**तदेवाग्नि:**' इस मन्त्र से ईश्वर के व्यापकत्व और सर्वस्वरूपत्व से यह दिखलाया है कि अग्नि आदि जितनी साकार मूर्त्तियाँ हैं, वे सब ब्रह्म की मूर्त्तियाँ हैं। —पृ० १९३, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनेक होने से उसके अनेक नाम हैं (देखो नं० १९)। व्याप्य के साकार होने से व्यापक साकार नहीं हो सकता (देखो नं० ६ से ९)। '**द्वा सुपर्णा**' इत्यादि अनेक मन्त्र संसार के उपादानकारण प्रकृति को नित्य वर्णन कर रहे हैं, अत: अग्नि आदि जितनी साकार मूर्त्तियाँ हैं वे प्रकृति की हैं, ब्रह्म की नहीं हैं, क्योंकि निराकार परमात्मा संसार का निमित्तकारण है, प्रकृति उपादानकारण है (देखो नं० १० से २३)।

(१०९) प्रश्न—'**सर्वे निमेषा**' इस मन्त्र में यह दिखलाया है कि कालविभाग और बिजलियाँ जो पैदा हुई हैं वे सब ब्रह्म से पैदा हुई हैं, अर्थात् ब्रह्म सब जगत् का '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' है। —पृ० १९३, पं० २३

उत्तर—ब्रह्म जगत् का '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' नहीं है, अपितु नित्य प्रकृति उपादानकारण तथा ब्रह्म निमित्तकारण है, अत: उस निमित्तकारण परमात्मा ने जब नित्य प्रकृति उपादानकारण से जगत् को बनाया तो समय की गणना आरम्भ हुई, क्योंकि नित्य पदार्थों में काल का उपयोग नहीं होता, अपितु कार्यरूप अनित्य पदार्थों से काल का सम्बन्ध है। इस मन्त्र ने जहाँ निमित्तकारण परमात्मा से संसार की उत्पत्ति बतलाई है, वहाँ परमात्मा को सूक्ष्म और निराकार भी वर्णन किया है।

(११०) प्रश्न—अब '**न तस्य**' इस मन्त्र में यह कहना है कि ब्रह्म के तुल्य महत्त्व रखनेवाली कोई वस्तु संसार में नहीं। —पृ० १९३, पं० २५

उत्तर—प्रतिमा शब्द का अर्थ महत्त्व होता ही नहीं, अपितु प्रतिमा शब्द का अर्थ '**नाप का साधन**', '**परिमाण**', '**सादृश्य**', '**प्रतिबिम्ब**' तथा '**मूर्त्ति**' होता है। आपने महत्त्व अपनी ओर से ही कल्पना किया है। देखिए, इसपर उव्वट क्या लिखते हैं—

'**न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किंचिद्विद्यते।**'

भाषार्थ—उस पुरुष परमात्मा की प्रतिमा अर्थात् प्रतिनिधि, सादृश्य, माप आदि कोई वस्तु नहीं है, अतः प्रतिमा का 'महत्त्व' अर्थ सर्वथा निर्मूल है।

श्रीमान्‌जी! भला! यह तो बतलाने की कृपा करें कि जब ब्रह्म के सदृश महत्त्व रखनेवाली कोई वस्तु संसार में नहीं तो फिर ये मूर्त्तियाँ उसके सदृश महत्त्व रखनेवाली कैसे हो सकती हैं? परमात्मा के स्थान में उनकी पूजा व्यर्थ ही है।

(१११) प्रश्न—इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति होता ही नहीं। प्रतिमा का अर्थ तुल्य होता है। —पृ० १९४, पं० १४

उत्तर—जब आप अपनी पुस्तक के पृ० १८८, पं० ७ में यह लिखते हुए कि 'यज्ञ में महावीर नामक प्रजापति की प्रतिमा बनती हैं' स्वयं प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति कर रहे हैं तो फिर यहाँ प्रतिमाएँ शब्द का अर्थ मूर्त्ति क्यों नहीं होता, इसमें क्या हेतु है? यदि प्रतिमा का अर्थ केवल तुल्य ही है, तो फिर इसका यह अर्थ होगा कि परमात्मा के तुल्य कोई नहीं। जब परमात्मा के तुल्य किसी बात में भी कोई नहीं, तो पता लगा कि ये मूर्त्तियाँ किसी बात में भी परमात्मा के तुल्य नहीं हैं। जब मूर्त्तियाँ किसी बात में भी परमात्मा के तुल्य नहीं हैं तो फिर परमात्मा के स्थान में इनको प्रतिनिधि बनाकर इनकी पूजा करना व्यर्थ हो गया।

(११२) प्रश्न—उव्वट, महीधर, शंकर, गिरिधरमिश्र सबने प्रतिमा शब्द के 'तुल्य' अर्थ किये हैं। —पृ० १९४, पं० १७

उत्तर—आप असत्य लिख रहे हैं। इस समय दो भाष्य तो हमारे सामने मौजूद हैं। दोनों ने ही सदृश अर्थ नहीं किया। जैसे—

उव्वट—**न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किंचिद्वद्यते।**

महीधर—**तस्य पुरुषस्य प्रतिमानमुपमानं किंचद्वस्तु नास्ति।**

अमरकोश—**प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।**
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्। —अ० २।१०।३५-३६

स्वामी दयानन्द—**न निषेधे तस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा प्रतिमीयते यया तत्परिमापकं सदृशं तौलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा अस्ति वर्तते।** —वेदभाष्य

भाषार्थ—उस परमात्मा की प्रतिमानभूत कोई वस्तु नहीं है। —उव्वट

उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नहीं है। —महीधर

प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्चा, प्रतिनिधि—ये आठ नाम प्रतिमा के हैं। —अमरकोश

उस परमेश्वर की प्रतिमा, माप, सादृश्य, तोलसाधन, प्रतिकृति, आकृति नहीं है। —दयानन्द

अब फ़रमाइए, स्वामीजी ने कौन-सा नया अर्थ किया है जो आपके आचार्यों ने नहीं किया? उव्वट, महीधर ने प्रतिमान, उपमान दो अर्थ किये हैं और अमरकोश ने प्रतिबिम्ब तथा प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, प्रतिनिधि शब्दों को प्रतिमान शब्द का पर्य्याय बतलाया है। भाषा में इन शब्दों का अर्थ मूर्त्ति, तस्वीर, फोटो के सिवाय और क्या हो सकता है? अतः सिद्ध हुआ कि स्वामीजी ने वही अर्थ किया है जो सनातनधर्म के आचार्य उव्वट, महीधर आदि करते हैं। जैस इन दोनों का अर्थ है, वैस ही सबका समझ लेना चाहिए।

(११३) प्रश्न—यजुर्वेद के '**सहस्रस्य**' [१५।६५] में जब '**प्रतिमासि**' आया और इनको मालूम हुआ कि यहाँ पर मूर्त्ति अर्थ हो जाने से मूर्त्तिपूजा सिद्ध हो जावेगी, तब घबराये। —पृ० १९५, पं० १

उत्तर—श्रीमान्‌जी! इसमें घबराने की कौन-सी बात है। प्रतिमा शब्द के आठ अर्थ है (नं० ११२)। उनमें से जो अर्थ जहाँ लेना उचित हो वहाँ वही लेना बुद्धिमत्ता है। इस मन्त्र में प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति करने से मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्यविषय ईश्वर नहीं है अपितु 'विद्वान्' है। चूँकि यहाँ पर प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति संगत नहीं हो सकते थे, इस कारण यहाँ मूर्त्ति अर्थ करना उचित ही न था। मन्त्र तथा अर्थ दोनों को ध्यानपूर्वक पढ़ने की कृपा करें—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा।

—यजुः० १५।६५

भाषार्थ—हे विद्वान् पुरुष विदुषी स्त्री वा! जिस कारण तू असंख्यात पदार्थों से युक्त जगत् के **(प्रमा)** प्रमाण, यथार्थ ज्ञान के तुल्य है, असंख्य विशेष पदार्थों के **(प्रतिमा)** तोलसाधन के तुल्य है, असंख्य स्थूल वस्तुओं के **(उन्मा)** तोलने की तुला के समान है, असंख्य पदार्थों और विद्याओं से युक्त है, इस कारण असंख्यात प्रयोजनों के लिए तुझको परमात्मा व्यवहार में स्थित करे॥६५॥

अब इस प्रकरण में मूर्त्ति अर्थ करके स्वयं देख लें, संगत ही न हो सकेगा। इसीलिए तो सनातनधर्म के आचार्य भी इस मन्त्र को मूर्त्तिपूजा में न लगाकर यज्ञ की अग्नि में लगाते हैं। देखिए—

हे अग्ने सहस्रस्येष्टकानां प्रमा प्रमाणं त्वमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्योन्मोन्मानं तुलासि। साहस्रः सहस्रार्होऽसि। सहस्रायानन्तफलाप्त्यै त्वा त्वां प्रोक्षामि।

—महीधर

भाषार्थ—हे अग्नि! तू सहस्र ईंटों का अन्दाज़ा है। तू सहस्र का प्रतिनिधि है। तू सहस्र की तकड़ी है। तू सहस्र के योग्य है। अनन्द फलप्राप्ति के लिए मैं तेरा प्रोक्षण करता हूँ।

जब आपके आचार्यों ने ही इस मन्त्र में प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति नहीं किये तो स्वामीजी को उलाहना देना पागलपन नहीं तो क्या है?

(११४) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'मासि प्रमासि प्रतिमासि'** के भाष्य में लिख दिया कि **'वेदेषु प्रतिमा शब्देन मूर्त्तयो न गृह्यन्ते'** वेदों में प्रतिमा शब्द से मूर्त्ति का ग्रहण नहीं होता। फिर **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इस मन्त्र में प्रतिमा से मूर्त्ति का ग्रहण कैसे हो जावेगा? —पृ० १९५, पं० ३

उत्तर—आपने उत्सर्गापवाद के न्याय को भुला दिया है, वरना आपको यह शंका ही न होती। जब स्वामीजी इसी प्रकरण में **'न तस्य प्रतिमा'** इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति करते हैं और फिर आगे चलकर थोड़ी दूर पर ही यह कहते हैं कि वेदों में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति नहीं लिया जाता तो उत्सर्गापवादन्याय से इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि **'न तस्य'** इस मन्त्र के सिवाय और स्थानों में जहाँ-जहाँ प्रतिमा शब्द आता है, वहाँ मूर्त्ति के अर्थों में नहीं आता, अपितु परिमाण अर्थों में आता है और इसके लिए उन्होंने अथर्ववेद का प्रमाण भी उपस्थित कर दिया है, जिसमें प्रतिमा शब्द के मूर्त्ति अर्थ संगति नहीं खाते, अपितु परिमाण अर्थ ही संगति खाते हैं, अतः स्वामीजी के लेख में परस्पर विरोध नहीं है, अपितु उत्सर्गापवादन्याय से दोनों ही लेख ठीक और युक्तियुक्त हैं।

(११५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश में उसी मन्त्र के अर्थ में यह लिखा है कि 'जो जगत् में व्यापक है' यह अर्थ वेदमन्त्र के किसी भी पद का हो नहीं सकता। —पृ० १९५, पं० ७

उत्तर—लीजिए,हम आपको बतलाते हैं कि यह अर्थ मन्त्र के कौन-से पद का है। इस मन्त्र

में जो '**तस्य**' शब्द है यह पूर्व में पड़े हुए '**पुरुषादधि**' पुरुष शब्द की ओर संकेत कर रहा है। इसी लिए उव्वट और महीधर दोनों ने '**तस्य पुरुषस्य**' ऐसा अर्थ किया है (देखो नं० ११२)। अब पुरुष शब्द के अर्थ देख लीजिए क्या हैं? निरुक्त में पुरुष शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं—

निरुक्त—**पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा।**

दुर्गाचार्य्य—'**पूरयतेर्वा' पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्त्वात् जगदिति पुरुषः।**

—निरु० अ० २ खं० ३।१

भाषार्थ—चूँकि परमात्मा व्यापक होने से सारे जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिए परमात्मा को पुरुष कहते हैं।

कहिएगा, अब तो आपको पता लग गया कि स्वामीजी ने 'जो जगत् में व्यापक है' यह कौन-से पद का अर्थ किया है।

(११६) प्रश्न—फिर इसमें लिखा है कि 'उस निराकार परमात्मा की', '**न तस्य**' इस मन्त्र में 'निराकार' इस इतने अर्थ को कहनेवाला कोई पद नहीं। —पृ० १९५, पं० १६

उत्तर—श्रीमान्जी! हम आपको यह भी अवश्य बतलावेंगे कि निराकार किस पद का अर्थ है। यह तो आपको (नं० ११५ से) पता लग गया कि '**तस्य**' पद का अर्थ '**पुरुषस्य**' है। अब वह पुरुष कैसा है यह भी इससे पूर्वमन्त्र में ही देखिए। हम '**सर्वे निमेषा**' इस पूर्वमन्त्र का अर्थ (नं० १०६ में) कर आये हैं, जिसमें लिखा है कि उस परमेश्वर को कोई ऊपर, तिरछा, सब दिशाओं में वा नीचे तथा बीच में सब ओर से ग्रहण नहीं कर सकता। इससे साफ़ सिद्ध है कि वह निरवयव, निराकार है। बस '**तस्य**' पद के इशारे से पुरुष शब्द का ग्रहण होता है और पुरुष शब्द के ग्रहण से व्यापक तथा निराकार ये दोनों अर्थ स्वयं इस मन्त्र में आ जाते हैं। इस पूर्वमन्त्र का महीधर का अर्थ भी परमात्मा को निराकार ही वर्णन करता है। देखिए—

सर्वे निमेषाः त्रुटिकाष्ठाघट्यादयः कालविशेषाः पुरुषात् अधि पुरुषसकाशाज्जज्ञिरे। कीदृशात्पुरुषात्। विद्युतः विशेषेण द्योतते विद्युत् तस्मात्। किञ्च कश्चिदपि एनं पुरुषमूर्ध्वमुपरि भागेन न परिजग्रभत् परिगृह्णाति। एनं तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परिगृह्णाति। मध्ये मध्यदेशेऽपि न गृह्णाति। न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषय इत्यर्थः।

भाषार्थ—सब निमेष, काष्ठा, घड़ी आदि कालविशेष पुरुष से पैदा हुए हैं। कैसे पुरुष से? विशेष प्रकाशमान् पुरुष से और कोई भी इस पुरुष को ऊपर से नहीं पकड़ सकता। इसको चारों ही दिशाओं में नहीं पकड़ सकता। बीच में से भी नहीं पकड़ सकता। 'वह प्रत्यक्ष आदि का विषय ही नहीं है।'

आशा है अब आपको यह भी समझ में आ गया होगा कि यह निराकार अर्थ किस पद का है?

(११७) प्रश्न—इस मन्त्र के अर्थ में '**प्रतिमा**' शब्द के तीन अर्थ किये गये—परिमाण, सादृश्य, और मूर्त्ति। परिमाण ईश्वर का नहीं, इसमें ईश्वर की उत्कर्षता है और सादृश्य में भी उत्कर्षता है। ये दोनों अर्थ ठीक हैं, क्योंकि इनमें प्रमाण मिलते हैं, किन्तु मूर्त्ति अर्थ में कोई प्रमाण नहीं। —पृ० १९५, पं० २१

उत्तर—परमात्मा की उत्कर्षता को वर्णन करनेवाले '**अतो ज्यायाँश्च पूरुषः**' इत्यादि अनेक मन्त्र वेदों में भरे पड़े हैं। इस मन्त्र में परमात्मा को परिमाणरहित बतलाने का प्रयोजन परमात्मा की उत्कर्षता वर्णन करना नहीं, अपितु परमात्मा को अनन्त, व्यापक वर्णन करना है, और सादृश्यरहित बतलाने का प्रयोजन भी उत्कर्षता वर्णन नहीं है, अपितु यह बतलाना अभीष्ट है कि परमात्मा अनुपम है और संसार का कोई भी पदार्थ किसी अंश में भी परमात्मा के सदृश नहीं

है। इन दोनों अर्थों के ठीक मानने से भी ईश्वर की मूर्त्ति बनाना मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जो परमात्मा अनन्त और व्यापक है उसकी मूर्त्ति बन ही नहीं सकती, क्योंकि मूर्त्ति जो भी होगी वह सीमित और एकदेशी ही होगी, और जब संसार की कोई वस्तु किसी भी अंश में परमात्मा के सदृश नहीं है तो फिर मूर्त्ति परमात्मा के सदृश कैसे हो सकती है? रह गया यह प्रश्न कि प्रतिमा का अर्थ मूर्त्ति करने में कोई प्रमाण है वा नहीं तो हमने नं० ११२ में विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है; देखने की कृपा करें।

हेतुवाद

(११८) प्रश्न—'**न तस्य**' इस मन्त्र में हेतु भी है। मन्त्र का सीधा-सादा अर्थ यह है कि जो महत् यशवाला ईश्वर है, उसके तुल्य कोई पदार्थ नहीं। जब यह विरुद्ध हेतु पड़ते देखा तो सत्यार्थप्रकाश में '**यस्य नाम महद्यशः**' यह पाठ ही नहीं लिखा। यदि हम इसको मिला लें तो सत्यार्थप्रकाश-लिखित मन्त्रोक्त हेतु विरुद्धहेतु हो जाता है, क्योंकि अर्थ यह होगा कि 'जो ईश्वर महत् यशवाला है उसकी मूर्त्ति नहीं होती।' संसार में यशवालों की ही अधिक मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं। —पृ० १९६, पं० १

उत्तर—स्वामीजी महाराज ने पुस्तक में विस्तार-भय से सारा मन्त्र नहीं लिखा। आपकी यह कल्पना निरर्थक है कि विरुद्धहेतु पड़ने के कारण अगला पाठ नहीं दिया, क्योंकि स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मूर्त्तिपूजाप्रकरण में ही इस मन्त्र का पूरा अर्थ किया है। स्वामीजी के अर्थ-अनुसार विरुद्ध हेतु बनता ही नहीं। यदि स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश के अर्थ के साथ '**यस्य नाम महद्यशः**' के अर्थ को जोड़ना है तो इस वाक्य का स्वामीजी का ही किया हुआ अर्थ जोड़ना उचित है। आपने अपना मनघड़न्त अर्थ जोड़कर और असल पाठ में से निराकार तथा व्यापक शब्द चुराकर अपने मतलब का पाठ बना लिया और स्वयं ही विरुद्धहेतु बताकर खण्डन करने लगे। यदि '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' के अर्थ के साथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में से '**यस्य नाम महद्यशः**' के अर्थ को जोड़ें तो पाठ इस प्रकार बन जावेगा कि 'जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषण आदि कर्म हैं उनका करना ही जिसका नामस्मरण कहता है, जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है'। अब बतलाइए, आपका वह विरुद्धहेतु पर लगाकर किधर उड़ गया? अजी श्रीमान्जी! ईश्वर की मूर्त्ति न बनने के हेतु तो सत्यार्थप्रकाश के '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' के अर्थ में ही पड़े हुए हैं और वे हैं सर्वव्यापकता तथा निराकारता। 'चूँकि परमात्मा सारे जगत् में व्यापक और निराकार है, इसलिए उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती, क्योंकि मूर्त्ति साकार और एकदेशी की ही बन सकती है' इसका नाम है हेतुवाद। आपका विरुद्ध हेतुवाद तो 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' के समान था, जो हमारे यथार्थ हेतुवाद के आते ही ऐसे गायब हो गया, जैसे गधे के सिर से सींग।

(११९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने '**न तस्य**' इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध को बिलकुल छुपा लिया, पब्लिक के आगे नहीं आने दिया। इसका कारण कोई बतला सकता है? लेखक जानता है कि इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वेद ने मूर्त्तिपूजा का मण्डन किया है। —पृ० १९६, पं० १३

उत्तर—स्वामीजी ने '**न तस्य**' इस पूरे मन्त्र का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मूर्त्तिपूजा प्रकरण में ही दिया है और यजुर्वेद के भाष्य में भी। आपकी यह कल्पना मिथ्या है कि उत्तरार्द्ध में मूर्त्तिपूजा का मण्डन है। उत्तरार्द्ध में भी निराकार, अजन्मा, व्यापक परमात्मा का ही वर्णन है। स्वामीजी ने पुस्तक में विस्तार-भय से सारा मन्त्र नहीं दिया। पूरा मन्त्र तथा उसका अर्थ इस प्रकार है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिꣳ सीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥ —यजु:० ३२।३

भाषार्थ—जो सब जगत् में परिपूर्ण, व्यापक, निराकार है, जो जन्म नहीं लेता, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषण आदि कर्म हैं उनका करना ही जिसका नामस्मरण कहाता है, जो पमरेश्वर तेजवाले सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है, कि 'हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिए।' कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिए तो उत्तर यह है कि जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा और न वह कभी शरीरधारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सादृश्य, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है, क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सबमें व्यापक है। इससे निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए।

फरमाइए, इसमें मूर्त्तिपूजा का मण्डन मन्त्र के कौन-से पदार्थ से होता है?

(१२०) प्रश्न—उत्तरार्द्ध में सबसे पहले **'हिरण्यगर्भ इत्येष'** इस मन्त्र में ईश्वर का शरीर धारण और मनुष्यों का उसको हवि देकर पूजन करना बतलाया, फिर हम कैसे मान लें कि उसकी मूर्त्ति नहीं? —पृ० १९६, पं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा के शरीर धारण करने का वर्णन है और न ही हवि शब्द स्थूल पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र के अर्थों से परमात्मा का शरीरधारण सिद्ध करना स्वयं वेदमन्त्र के अभिप्राय के विरुद्ध है। मन्त्र में परमात्मा को प्रकाशरहित पृथिवी आदि तथा प्रकाशसहित सूर्यादि लोक-लोकान्तरों को धारण करनेवाला लिखा है। भला! शरीरधारी और भोजन ग्रहण करनेवाला तुच्छ शक्तिधारी इन लोक-लोकान्तरों को धारण करने में कैसे समर्थ हो सकता है? अत: इस मन्त्र से ईश्वर के शरीरधारी होने की कल्पना करना सर्वथैव निर्मूल है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ निम्न प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —यजु:० १३।४

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जैसे हम लोग जो इस उत्पन्न हुए संसार को रचने और पालन करनेहारा, सहाय की अपेक्षा से रहित, सूर्य आदि तेजोमय पदार्थों का आधार, जगत् रचने के पहले वर्त्तमान था वह इस संसार को रचके और प्रकाशरहित भूगोल आदि तथा प्रकाशसहित सूर्यादि लोकों को धारण करता हुआ वर्त्तमान है, उस सुखरूप, प्रजा पालनेवाले, प्रकाशमान परमात्मा की आत्मा आदि सामग्री से सेवा में तत्पर हैं, वैसे तुम लोग भी इस परमात्मा का सेवन करो॥४॥

क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि मूर्त्तिपूजा का मण्डन इस मन्त्र के कौन-से पदों से होता है?

(१२१) प्रश्न—इतना ही नहीं किन्तु **'हिरण्यगर्भ'** इस मन्त्र से मूर्त्तिनिर्माण होकर उसका पूजन होता है। —पृ० १९७, पं० ११

उत्तर—कोई आदमी किसी मन्त्र को पढ़कर किसी प्रकार के काम को करे या करना लिख दे तो इसमें मन्त्र का क्या दोष? परन्तु ऐसा करने से यह कैसे सिद्ध हो गया कि मन्त्र में भी ऐसा ही करना लिखा है? उदाहरणार्थ एक दुराचारी आदमी **'विश्वानि देव'** मन्त्र पढ़कर शराब पीता है या पीना लिख देता है तो इसमें मन्त्र का क्या दोष? तथा यह कैसे मान लिया जावे कि यह मन्त्र शराब पीने का विधान करता है जबतक इस मन्त्र के अर्थों से शराब पीने की विधि

सिद्ध न हो? इसी प्रकार यदि कोई सूत्रकार '**हिरण्यगर्भ**' इस मन्त्र से मूर्त्ति बनाकर उसके पूजन का विधान लिख दे तो इससे सिद्ध नहीं हो सकता कि यह मन्त्र मूर्त्तिपूजा का विधान करता है, जबतक कि उसके अर्थों से मूर्त्तिपूजा का विधान सिद्ध न हो।

अब आप यह बतलावें कि इस मन्त्र के वे कौन-से शब्द हैं जिनका अर्थ मूर्त्तिनिर्माण तथा पूजन का विधान करते हैं। यदि नहीं तो कात्यायन का या शतपथ अथवा किसी और का लिखना हमारे लिए क्या मूल्य रखता है? हम इस प्रकार वेदविरुद्ध लेख का इतना भी मूल्य नहीं समझते जितना कि उस काग़ज का जिसपर कि वह लिखा हुआ है। यदि आपको प्रमाण हो तो आप शहद लगा-लगाकर चाटा करें, हमारे सामने पेश करने की आवश्यकता नहीं।

(१२२) प्रश्न—इस विषय में कात्यायनकल्पसूत्र लिखता है कि—

अथ पुरुषमुपदधाति स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरणमयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः॥ १॥

उत्तानम्प्राञ्चां हिरण्यपुरुषं तस्मिन् 'हिरण्यगर्भ' इति। —कात्यायनकल्पसूत्र १७।४।३

उत्तर—आप कृपया सच बतलावें आपने कभी जन्मभर में कात्यायनकल्पसूत्र की शक्ल भी देखी है? यदि देखी है तो ईमानदारी के साथ बतलावें कि यह इतना लम्बा-चौड़ा पाठ जो आपने कात्यायन के नाम से नम्बर॥ १॥ तक दिया है क्या कात्यायनसूत्र में है? हमारे सामने कात्यायनश्रौतसूत्र 'चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला' का बनारस में १९०३ सन् का विद्याविलास प्रेस का छपा हुआ विद्यमान है। इसके पृ० ७५२ पर '**उत्तानम्**' इत्यादि सूत्र तो है, परन्तु इससे पूर्व का जो पाठ है, वह नहीं है। क्या इसी का नाम ईमानदारी है? जो आदमी इतना बड़ा पाठ किसी पुस्तक के नाम से लिख सकता है, उससे धर्मनिर्णय की क्या आशा की जा सकती है? यद्यपि हम इस कात्यायनसूत्र को स्वत:प्रमाण नहीं मानते और न ही इसके लेख के हम उत्तरदाता हैं तथापि सनातनधर्म्म के लेखकों की ईमानदारी की परीक्षा के लिए आपको यह सब-कुछ बतला रहे हैं। लो, एक बात और बतलाते जावें कि इस '**उत्तानम्**' इत्यादि सूत्र में भी मूर्त्ति के पूजने का नाममात्र भी नहीं है। इस सूत्र की टीका जो कर्काचार्य ने की है वह यह है कि '**तस्मिन् रुक्मे प्राञ्चं उत्तानं हिरण्यपुरुषमुपदधाति हिरण्यगर्भ इत्यनेन मन्त्रेण॥ १७।७५॥**'

इसका भाषार्थ यह है कि 'उस रुक्म आसन पर पूर्व की ओर ऊँचे उठाये हुए हिरण्यपुरुष नामक यज्ञपात्र को रखता है—'**हिरण्यगर्भ**' इस मन्त्र से।'

अब बतलाइए, इस सूत्र में परमात्मा की मूर्त्ति बनाना तथा उसकी पूजा करने का वर्णन कहाँ है? झूठे पर खुदा की लानत!

(१२३) प्रश्न—इस '**हिरण्यगर्भ**' इस मन्त्र पर शतपथ भी है, उसकी भी सुनिए, '**अथ साम गायति ऐतद् वै देवा।**' इत्यादि [शत० ७।४।१।२२-२५]।

पाठको! अब आप ही बतावें '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' इस मन्त्र में ईश्वर की मूर्त्ति का खण्डन है वा मूर्त्तिपूजा का विधान। —पृ० १९७, पं० १७

उत्तर—सुनाइए महाराज! वह भी सुना दीजिए। यद्यपि हम शतपथ को स्वत:प्रमाण नहीं मानते तथापि सुनने में क्या हर्ज है! यह पता तो लगेगा कि आपकी दौड़ कहाँ तक है, परन्तु हमें विश्वास नहीं कि आप सच बोलेंगे, क्योंकि अभी आप कात्यायन के नाम से एक मनघड़न्त पाठ दे चुके हैं। सम्भव है आप यहाँ पर भी वैसा ही करें। परन्तु ख़ैर, हमारा क्या हर्ज है—कीजिए, पेश कीजिए, तो क्या सचमुच '**अथ......गायति**' शतपथ का यह पाठ हिरण्यगर्भ पर ही है? इस सारे पाठ में '**हिरण्यगर्भ**' या इस मन्त्र का कोई शब्द तो नज़र आता नहीं! अच्छा तो पुस्तक खोलकर देख लेते हैं। यह लो वही हुआ, जिसकी आशा थी।

आपने '**हिरण्यगर्भ**' का शतपथ न देकर अगले मन्त्रों का दे दिया है और उसे '**हिरण्यगर्भ**' का प्रकट करके एक बड़ा भारी पाप किया है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता। इस मन्त्र के शतपथ में आपके सिद्धान्त की पुष्टि करनेवाली कोई भी बात नहीं है। लीजिए, हम इस मन्त्र का शतपथ तथा निरुक्त दोनों दर्ज कर देते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रऽइति। हिरण्यगर्भो ह्येष समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामित्येष वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्॥
—शथ० ७।४।१।१९

यह है इस मन्त्र का शतपथ, अब इसमें से एक शब्द ही ऐसा निकालकर दिखलावें जिससे मूर्त्ति का निर्माण या पूजन सिद्ध हो सके।

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा॥ यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति, समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं च दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्॥ विधतिर्दानकर्मा॥ १॥
—निरु० अ० १०, ख० २३

क्या आप इस निरुक्त में से कोई शब्द बतला सकते हैं कि जिससे मूर्त्तिनिर्माण अथवा मूर्त्तिपूजन सिद्ध हो सके? यदि नहीं तो यह निश्चय है कि यह मन्त्र तथा इसपर शतपथ और निरुक्त सभी परमात्मा को निराकार, अजन्मा और व्यापक वर्णन करके मूर्त्तिपूजा का घोर खण्डन करते हैं।

(१२५) प्रश्न—'**न तस्य**' इस मन्त्र में दूसरा प्रतीक '**मा मा हिंऽसी**' है। मन्त्र में ईश्वर को 'प्रथम शरीरी' कहा है। शरीर मूर्त्ति ही होता है। इसी मन्त्र में ईश्वर को हवि देना लिखा है, फिर हम कैसे मान लें कि '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' इस मन्त्र में मूर्त्तिपूजा का खण्डन है?
—पृ० १९८, पं० ५१

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा को शरीर धारण करनेवाला वर्णन किया है और न ही हवि के अर्थ भोजन करने के पदार्थ हैं। मन्त्र में परमात्मा को पृथिवी तथा द्युलोक को पैदा करके सबमें व्याप्त वर्णन किया है। भला! यदि वह शरीरधारी भोजन करनेवाला हो तो वह पृथिवी तथा द्युलोक का कर्त्ता तथा व्यापक कैसे हो सकता है? अतः परमात्मा निराकार तथा व्यापक है। इस मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

मा मा हिंऽ सीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवंऽ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—यजुः० १२।१०२

भाषार्थ—जो जन्मादि से रहित, आदिपुरुष, सत्य धर्मवाला जगदीश्वर पृथिवी का उत्पन्न करनेवाला अथवा जो सूर्य आदि जगत् को, जल और वायु को उत्पन्न करके व्याप्त होता है और जो चन्द्रमा आदि लोकों को उत्पन्न करता है, जिस सुखस्वरूप, सुख करनेहारे, दिव्य गुणों के दाता, विज्ञानस्वरूप ईश्वर का ग्रहण करने योग्य भक्तियोग से हम लोग सेवन करें, वह जगदीश्वर मुझको कुसंग से ताड़ित न होने दे॥ १०२॥

भला! इस मन्त्र में वे कौन-से पद हैं, जो ईश्वर को शरीरधारी और भोजन करनेवाला वर्णन करते हैं?

(१२५) प्रश्न—'**न तस्य**' मन्त्र में तीसरा प्रतीक '**यस्मान्न जातः**' है। इस मन्त्र में ईश्वर को प्रजारूप कहा। प्रजा में बिना रूप के कोई पदार्थ रहता नहीं, समस्त रूप उसी से निकले

हैं, इससे वह मूर्त्तिमान् है। फिर मूर्त्ति का निषेध करना हठ नहीं तो और क्या है?

—पृ० १९९, पं० ९

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा को प्रजारूप कहा है और न ही रूपधारी वर्णन किया है, अपितु परमात्मा को प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालक और समस्त लोकों में व्यापक वर्णन किया है। भला! जो व्यापक है वह कभी शरीरधारी हो सकता है या उसकी कोई मूर्त्ति बना सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा निराकार, अजन्मा तथा सर्वव्यापक है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

यस्मान्न जातः परो अन्य अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।

प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ —यजुः० ८।३६

भाषार्थ—जिस परमेश्वर से उत्तम और दूसरा नहीं हुआ, जो परमात्मा समस्त लोकों में व्याप्त हो रहा है, वह सब संसार से उत्तम दाता होता हुआ इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दशों इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम इन सोलह कलाओं और संसारमात्र का स्वामी परमेश्वर तीन ज्योति, अर्थात् सूर्य, बिजली और अग्नि को सब पदार्थों में स्थापित करता है॥ ३६॥

बताइए, इस मन्त्र में वह कौन-सा पदार्थ है, जिससे ईश्वर का रूपधारी होना सिद्ध होता है?

आपने देख लिया कि ये तीनों मन्त्र भी परमात्मा को व्यापक, अजन्मा और निराकार ही वर्णन करते, हैं, अतः **'न तस्य'** इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भी पूर्वार्द्ध का बलपूर्वक समर्थन करता है कि उस सब जगत् में व्यापक, निराकार परमात्मा की मूर्त्ति नहीं बन सकती।

(१२६) प्रश्न—आर्यसमाजी लोग मूर्त्तिपूजा के खण्डन में निम्न भजन गाते हैं—

तुम्हीं हो मूर्त्ति में भी तुम्हीं व्यापक हो फूलों में।
भला भगवान् पर भगवान् को क्योंकर चढ़ाऊँ मैं॥

यदि यही बात है तो हम भी कहते हैं कि—

तुम्ही हो पेट में व्यापक तुम्हीं व्यापक हो भोजन में।
भला भगवान् को भगवान् में क्योंकर घुसाऊँ मैं॥

इस प्रकार से दुनिया चलेगी तो पैर के ईश्वर से पृथिवी का ईश्वर दब जाएगा। बैठोगे तो आदमी के ईश्वर से चारपाई का ईश्वर दबा धरा है। पाख़ाना फिरोगे तो आदमी के ईश्वर में से ईश्वर निकल भागेगा, पेशाव करोगे तो पेशाब का व्यापक ईश्वर लुढ़क चलेगा—इत्यादि, इत्यादि। आज से सब काम बन्द करो और सीधे टिकट कटाकर यमराज के वेटिंग रूमों में पहुँचो।

—पृ० २००, पं० २५

उत्तर—धन्य हो महाराज! आप आर्यसमाज के सवाल को खूब समझे और उसका जवाब भी खूब दिया। एक ने कहा—'जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट'। दूसरे ने जवाब दिया—'तेली रे तेली तेरे सिरपर कोल्हू'। तीसरे ने कहा कि तुक जुड़ी नहीं। चौथे ने कहा जुड़े न जुड़े, बोझ से तो मरेगा ही! वही हाल आपका है। बात बने न बने, लोग यह तो कहेंगे कि खूब जवाब दिया। लेकिन इसपर विचार भी किया था कि कहीं यह दृष्टान्त उलटा न पड़ जावे और लेने के देने पड़ जावें?

श्रीमान्‌जी! आर्यसमाज परमात्मा को सारे संसार में एकरस व्यापक मानता है और प्राकृतिक जगत् तथा जीवों को व्याप्य मानता है। आर्यसमाज मानता है कि व्याप्य के दुःख-सुख, हानि-

लाभ से व्यापक को दु:ख-सुख वा हानि-लाभ नहीं होता। इसके विपरीत सनातनधर्म मानता है कि जैसे 'माता-पिता का पूजन पञ्चतत्त्वात्मक शरीर के द्वारा होता है, इसी प्रकार ईश्वर का पूजन भी उसके शरीर पञ्चतत्त्वों के द्वारा होता है।' —आपकी पुस्तक पृ० १९२, पं० १

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सनातनधर्म पाँच तत्त्वों को माता-पिता के शरीर की भाँति ईश्वर का शरीर मानता है। जैसे माता-पिता को शरीर के द्वारा सुख-दु:ख, हानि-लाभ की प्रतीति होती है, वैसे ही ईश्वर को भी पाँच तत्त्वों के द्वारा सुख-दु:ख, हानि-लाभ होता है। सनातनधर्म यह मानता है कि पञ्चतत्त्वात्मक मूर्त्ति की पूजा से परमेश्वर प्रसन्न होता है, अत: आर्यसमाज यह शंका करता है कि जब परमात्मा फूलों में भी व्यापक है और मूर्त्ति में भी व्यापक है तो फिर फूलों को मूर्त्ति पर चढ़ाना ईश्वर को ईश्वर पर चढ़ाने के समान है। फिर सनातनधर्म यह भी मानता है कि 'सृष्टि में जितने आकार हैं वे सब ब्रह्म के स्वरूप हैं', (आपकी पुस्तक पृ० १५८, पं० १२)। अब फूल भी ब्रह्म है और मूर्त्ति भी ब्रह्म है, इसलिए मूर्त्ति पर फूलों का चढ़ाना ईश्वर पर ईश्वर का चढ़ाना है। आपने जितने भी प्रश्न किये हैं वे आपपर ही लागू होते हैं। आर्यसमाज का यह भजन ठीक है और मूर्त्तिपूजा पर घोर प्रहार है। हम लोग जो भोजन करते हैं वह ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए थोड़े ही करते हैं; हम तो अपनी तृप्ति के लिए करते हैं और हम लोग व्याप्य के दु:ख-सुख, हानि-लाभ से व्यापक का दु:ख-सुख, हानि-लाभ भी नहीं मानते और न ही इस संसार के आकारों को ब्रह्म का आकार मानते हैं, अत: आपके भजन का जो फिक़रा है वह भी सनातनधर्म पर ही विकट सवाल है। इन दोनों शेरों में की गई शंकाओं का सनातनधर्म प्रलय तक भी उत्तर नहीं दे सकता। अब इस प्रश्न का उत्तर सोचने के लिए चाहे आप यमराज से मशविरा करने के लिए यमपुरी को पधारें, चाहे विष्णु से पूछने के लिए समुद्र में गोते खावें, यह आपकी इच्छा पर निर्भर है।

(१२७) प्रश्न—मूर्त्तिपूजा के उड़ाने के लिए **'अन्धन्तमः प्रविशन्ति'** इस मन्त्र के अर्थ में सम्भूति और असम्भूति इन दो पदों के अर्थों में घपला मचाकर वेद से मूर्त्तिपूजा का खण्डन निकाला गया है। —पृ० २०१, पं० १९

उत्तर—स्वामीजी ने वेदमन्त्र के अर्थ में कोई घपला नहीं डाला, मन्त्र का अर्थ बिलकुल साफ़ है (देखो नं० १०५)। आपके भाष्यकार महीधर भी इस मन्त्र के वही अर्थ करते हैं जो स्वामीजी महाराज ने किये हैं। तनिक ध्यान से पढ़ने की कृपा करें—

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीर्षया प्रत्येकं निन्दोच्यते। सम्भवनं सम्भूतिः कार्यस्योत्पत्तिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्यम्। तामसम्भूति-मव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्याकामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकां ये उपासते ते तदनुरूपमेवान्धन्तमोऽदर्शनात्मकं संसारं प्रविशन्ति। ये सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ते ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति॥ ९॥

भाषार्थ—अब कारण-कार्यरूप प्रकृति की उपासना को छुड़ाने की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा कहते हैं। सम्भूति कार्यरूप में उत्पन्न हुई प्रकृति का नाम है तथा उससे भिन्न अविकारिणी कारणरूप प्रकृति का नाम असम्भूति है। जो लोग उस अनुत्पन्न, नित्य, अविकारिणी कारणरूपा अविद्या तथा काम से हुए कर्मों की बीजभूत अदृश्य प्रकृति की उपासना करते हैं वे तदनुरूप हो अदर्शनरूप, अन्धकारमय संसार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ मन्त्र में प्रतिपादित ब्रह्म से कार्यरूप जगत् में तब्दील हुई प्रकृति में रत हैं, वे उससे भी अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं॥ ८॥

कहिए महाराज! अब तो आप ऐसा न कहेंगे कि स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा के खण्डन के लिए

मन्त्र के अर्थों में घपला कर दिया।

(१२८) प्रश्न—इस मन्त्र का देवता आत्मा है। जाति अर्थ में आत्मापरक अर्थ ही नहीं बनता। वेदमन्त्र का जो देवता होता है वही मन्त्र का वर्णनीय विषय होता है। नये अर्थ में वेद के साथ यह अन्याय किया गया है कि आत्मा के वर्णन को उड़ाकर प्रकृति और लकड़ी-पत्थर का वर्णन कर दिया। —पृ० २०२, पं० ४

उत्तर—आप तो यूँ ही बिना सोचे-समझे अकारण रो-पीट रहे हैं। यदि इस मन्त्र का देवता आत्मा है तो अर्थ भी तो यही किया गया है कि जो लोग परमात्मा के स्थान में प्रकृति या प्रकृति के बने पदार्थों की पूजा करते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं।

फिर यह अर्थ आत्मापरक क्यों नहीं? और जब आपके आचार्य भी वही अर्थ करते हैं तो फिर आपको इसे जाली कहने का क्या हक़ है?

(१२९) प्रश्न—मन्त्र का अर्थ यह है—जो असम्भूति शरीर की उपासना करते हैं वे नरक को जाते हैं और जो सम्भूति केवल आत्मा के ज्ञान में रत हैं, अपने-आपको ब्रह्म मानते हैं, वे उनसे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं। —पृ० २०३, पं० ५

उत्तर—आपने असम्भूति का अर्थ शरीर किया है जो सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि असम्भूति की व्युत्पत्ति यह है कि **'सम्भवनं सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः'** पैदा होनेवाली वस्तु का नाम सम्भूति तथा उससे भिन्न का नाम असम्भूति है। इससे दो वस्तुओं का नाम असम्भूति हो सकता है—ईश्वर का या प्रकृति का, क्योंकि दोनों ही अनुत्पन्न और नित्य हैं। यहाँ ईश्वर अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अर्थ करने से यह वाक्य बनेगा कि 'जो ईश्वर की उपासना करते हैं वे नरक में जाते हैं', अतः मानना पड़ेगा कि यहाँ यही अर्थ ठीक है कि 'जो लोग असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न, नित्य प्रकृति की उपासना करते हैं अर्थात् उसको ईश्वर के स्थान में पूजते हैं वे नरक में जाते हैं।' आगे आपने सम्भूति का अर्थ आत्मा किया है, क्योंकि सम्भूति नाम पैदा हुई वस्तुओं का है और आत्मा अनुत्पन्न, अनादि है, अतः यह अर्थ भी संगत नहीं होता कि 'जो लोग आत्मा की उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं।' यही अर्थ ठीक है कि 'जो लोग सम्भूति अर्थात् प्रकृति के कार्य पृथिवी, वृक्ष, पाषाण आदि वस्तुओं को परमात्मा के स्थान में पूजते हैं, वे उनसे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं।'

यह तो रही अर्थों के ग़लत होने की बात, किन्तु यदि आपके अर्थ को ठीक भी मान लिया जावे तो भी बोरी-बिस्तरा गोल करके आपको ही नरक में पधारना पड़ेगा, क्योंकि आप मूर्त्तिपूजा और अवतारपूजा में शरीर की ही पूजा करते हैं और भयंकर नरक में भी आप ही तशरीफ़ ले जावेंगे, क्योंकि आप एक ब्रह्म के बिना कोई भिन्न सत्ता न मानकर अपने-आपको भी ब्रह्म ही कहते हैं। बस दोनों अवस्थाओं में आप ही नरक के अधिकारी होंगे।

(१३०) प्रश्न—जितने भाष्य मिलते हैं सबमें यही अर्थ हैं जो हमने किये हैं।

उत्तर—आप ग़लत कह रहे हैं। हमने महीधरभाष्य अपनी पुष्टि में लिख दिया है। वैसे भी सिद्धान्तानुसार आपका अर्थ ग़लत है।

(१३१) प्रश्न—वेद ने स्वंय **'सम्भूतिं च विनाशं च'** इस मन्त्र में सम्भूति शब्द का अर्थ आत्मा तथा असम्भूति शब्द का अर्थ शरीर किया है। बनावटी अर्थ कैसे सत्य सिद्ध होगा? —पृ० २०२, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में असम्भूति शब्द है ही नहीं। यदि आप चाहें कि **'तीर्त्वा सम्भूत्या'** में से सन्धिविच्छेद करके **'तीर्त्वा असम्भूत्या'** इस प्रकार से असम्भूति शब्द निकाल लेंगे तो नहीं निकाल सकते, क्योंकि आप उत्तरार्ध में वही शब्द निकाल सकेंगे जो पूर्वार्द्ध में दिये हुए हैं। पूर्वार्द्ध

में तो सम्भूति और विनाश शब्द दिये हैं। तब यदि आप असम्भूति शब्द निकालेंगे तो अर्थ यूँ होगा कि 'जो आदमी सम्भूति और विनाश को इकट्ठा जानता है वह विनाश से मौत को तैरकर असम्भूति से अमृतपान करता है।' अब बतलाइए यह बात कैसे बनेगी? 'जानता तो है वह सम्भूति को और अमृतपान करता है असम्भूति से', अतः आपका अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। वास्तव में इस मन्त्र में असम्भूति के स्थान में उसका पर्यायवाची शब्द 'विनाश' आया है, जिसको आपने समझा नहीं। यहाँ विनाश का अर्थ नाशवान् नहीं, अपितु **'विनश्यन्ति अदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् स विनाशः।'** इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ —यजुः० ४०।११

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो विद्वान् **(सम्भूतिम्)** जिसमें सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्यरूप सृष्टि और उसके गुण-कर्म-स्वाभावों को तथा **(विनाशम्)** जिसमें पदार्थ नष्ट होते उस कारणरूप जगत् और उसके गुण-कर्म-स्वभावों को अर्थात् उन दोनों कार्य और कारणस्वरूपों को एक-साथ जानता है वह विद्वान् **(विनाशेन)** नित्यस्वरूप, जाने हुए कारण के साथ, शरीर छूटने के दुःख से पार होकर **(सम्भूत्या)** शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई, कार्यरूप धर्म में प्रवृत्त करानेवाली सृष्टि के साथ मोक्षसुख को प्राप्त होता है॥११॥

आशा है कि आप इस प्रकरण को भली-भाँति समझने का यत्न करेंगे।

शिवलिंग पूजा

(१३२) प्रश्न—वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानता है। यजुर्वेद अध्याय १६ और अथर्ववेद काण्ड ११ में शंकर को ब्रह्म तथा सर्वस्वरूप कहा है। शंकर की वे अष्ट मूर्त्तियाँ प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी हैं। इन्हीं अष्ट मूर्त्तियों में शंकर का पूजन होता है। —पृ० २०३, पं० १२

उत्तर—वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं मानता अपितु वेद **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि अनेक मन्त्रों से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि वर्णन करता है। इन तीनों में से प्रकृति संसार का उपादानकारण है, ईश्वर निमित्तकारण तथा जीव साधारण कारण है। यजुर्वेद अध्याय १६ तथा अथर्ववेद काण्ड ११ में रुद्र शब्द से दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाले ईश्वर, राजा, सभापति, सेनापति तथा ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले ब्रह्मचारियों और पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, ग्यारहवाँ मन—इन ग्यारह का भी वर्णन आता है। शंकर नाम से भी कल्याणकारी परमेश्वर का ही वर्णन वेदों में मिलता है, सती और पार्वती के पति, गणेश तथा कार्तिकेय के पिता, भस्मधारी, नर-मुण्डमालाधारी, भस्मभूषणभूषित, वृषारोही, सर्पकण्ठ, नटवर, नृत्यप्रिय, नन्दा वेश्यागामी, अनसूया-धर्मनाशक, हस्ते लिंगधृक्, व्यभिचारप्रवर्तक महादेव नामक पौराणिक व्यक्ति का वर्णन चारों वेदों में क़तई नहीं है और न ही वेदों में कहीं शंकर को सर्वस्वरूप कहा गया है। महतत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु इत्यादि ये प्रकृति के ही रूपान्तर हैं, ब्रह्म के नहीं हैं। इसीलिए वेद ने **'अन्धन्तमः'** इत्यादि मन्त्र में परमात्मा के स्थान में प्रकृति की पूजा करनेवाले को नरकगामी बतलाया है, अतः उपर्युक्त प्रपञ्च सर्वथैव मिथ्या, निर्मूल तथा वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।

(१३३) प्रश्न—जो मनुष्य अष्टक प्रकृति में इकट्ठा ही शंकर का पूजन करे उसके लिए ब्रह्माण्ड का पूजन है। इसका छोटा रूप ऋषियों ने शिवलिंग बनाया। शिवलिंग ब्रह्माण्ड का नक्शा है। जैसे यह ब्रह्माण्ड ऊपर से नीचे तक और चारों तरफ कुछ गोल होता है, इसी प्रकार शिव के लिंग की आकृति का वर्णन है। —पृ० २०३, पं० २०

उत्तर—चूँकि वेद ने ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की पूजा को पाप वर्णन किया है और प्रकृति के विकार ब्रह्माण्ड की पूजा को महापाप और भयंकार नरक में ले-जाने का साधन बतलाया है, इसलिए यह शिवलिंग वैदिक ऋषियों का बनाया हुआ ब्रह्माण्ड का छोटा रूप नहीं है और न ही शिवलिंग ब्रह्माण्ड का नक्शा है, न ही ब्रह्माण्ड की शिवलिंग से शक्ल मिलती है, क्योंकि ब्रह्माण्ड की शक्ल आपने स्वयं ही पृ० १५५, पं० १४ में बतलाई है कि 'मटर या गेंद की शक्ल का ब्रह्माण्ड है', और शिवलिंग की शक्ल गोलगोल, लम्बी, मूसल के समान है, और न ही शिवलिंग का इस प्रकार से पुराणों में वर्णन मौजूद है। पुराणों के पढ़ने से पता लगता है कि शिवालयों में जो नीचे गोल दायरे की शक्ल है, वह पार्वती की योनि तथा जो बीच में गोल मूसल-सा गड़ा हुआ है वह शिव का लिंग, अर्थात् दोनों के मूत्रेन्द्रि की आकृति अर्थात् मूर्त्ति है। इसके पूर्ण ज्ञानार्थ हम नीचे शिवपुराण का पूरा प्रमाण उपस्थित करते हैं। पढ़िए—

शिवलिंग की स्थापना

दारुनाम वनं श्रेष्ठं तत्रासनृषिसत्तमाः। शिवभक्ताः सदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः॥ ६॥
ते कदाचिद्वने याताः समिधाहरणाय च। सर्वे द्विजर्षभाः शैवाः शिवध्यानपरायणाः॥ ८॥
एतस्मिन्नन्तरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः। विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः॥ ९॥
दिगम्बरोऽतितेजस्वी भूतिभूषणभूषितः। स चेष्टामकरोद् दुष्टां हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥ १०॥
मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम्। जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम्॥ ११॥
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः। विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुनः॥ १२॥
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा परा। परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा॥ १३॥
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्। विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः॥ १४॥
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथाब्रुवन्। समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिताः॥ १५॥
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः। ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः॥ १६॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्। ततस्त्वदीयं तल्लिंगं पततां पृथिवीतले॥ १७॥
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिङ्गं च पतितं क्षणात्। अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः॥ १८॥
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम्। यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः॥ १९॥
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च। भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत्॥ २०॥
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽतिदुःखिताः॥ २१॥
दुःखिता मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः॥ २२॥
मुनीशाँस्ताँस्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा॥ ३१॥
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्। योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत॥ ३२॥
पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तदा। सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः॥ ४४॥
हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः शृणुतादरात्। योनिरूपेण मल्लिंगं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम्॥ ४५॥
पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा। तया धृतं च मल्लिंगं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥ ४६॥
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च। पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिंगमुत्तमम्॥ ४८॥

—शिव० कोटिरुद्रसंहिता ४, अध्याय १२

भाषार्थ—दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्यप्रति शिव का ध्यान किया करते थे॥ ६॥ वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिए वन को गये। वे सब-के-सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, शिव के भक्त, तथा शिव का ध्यान करनेवाले थे॥ ८॥ इतने

में साक्षात् महादेवजी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे॥ ९ ॥ नंगे, अति तेजस्वी, विभूतिभूषण से शोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके॥ १० ॥ मन से उन वनवासियों का भला करने के लिए भक्तों पर प्रसन्न होकर शिवजी स्वयं प्रीति से उस वन में गये॥ ११ ॥ उसको देखकर ऋषियों की पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो गईं, व्याकुल तथा हैरान हुईं, कई वापस आ गईं॥ १२ ॥ कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ में धारण कर लिया तथा परस्पर के संघर्ष में वे स्त्रियाँ मग्न हो गईं॥ १३ ॥ इतने में ही ऋषि महात्मा आ गये। इस प्रकार के विरुद्ध काम को देखकर वे दुःखी हो क्रोध से मूर्च्छित हो गये॥ १४ ॥ तब दुःख को प्राप्त हुए वे कहने लगे—ये कौन है, ये कौन है? वे सब-के-सब ऋषि शिव की माया से मोहित हो गये॥ १५ ॥ जब उस नंगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयंकर पुरुष को यों कहने लगे॥ १६ ॥ तुम जो यह वेद के मार्ग को लोप करनेवाला विरुद्ध काम करते हो, इसलिए तुम्हारा यह लिंग पृथिवी पर गिर पड़े॥ १७ ॥ उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी, अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा॥ १८ ॥ उस लिंग ने सब-कुछ जो आगे आया अग्नि की भाँति जला दिया। जहाँ-जहाँ वह जाता था वहाँ-वहाँ सब-कुछ जला देता था॥ १९ ॥ वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग में भी गया, वह भूमि में सब जगह गया, किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ॥ २० ॥ सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल हो गये तथा वे ऋषि अति दुःखित हुए॥ २१ ॥ वे दुःखी हुए सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये॥ २२ ॥ तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे॥ ३१ ॥ हे देवताओ! पार्वती की आराधना करके शिव की प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनिरूप हो जावे तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा॥ ३२ ॥ जब उन ऋषियों ने परमभक्ति से शंकर की प्रार्थना और पूजा की, तब अति प्रसन्न होकर महादेवजी उनसे बोले॥ ४४ ॥ हे देवता और ऋषि लोगो! आप सब मेरी बात को आदर से सुनें। यदि मेरा लिंग योनिरूप से धारण किया जावे तब शान्ति हो सकती है॥ ४५ ॥ मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता। उससे धारण किया हुआ मेरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा॥ ४६ ॥ पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके और पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया॥ ४८ ॥

अब इन्साफ़ से बतलावें कि क्या यह ब्रह्माण्ड का नक्शा है या पार्वती की योनि में शिव का लिंग स्थापित किया हुआ है?

(१३४) प्रश्न—लौकिक ग्रन्थों में योनि और लिंग इन शब्दों से स्त्री-पुरुष की मूत्रेन्द्रिय का भी बोध होता है; किन्तु वेद, पुराण और दर्शन—इनमें इन अर्थों का बोध नहीं होता।

—पृ० २०३, पं० २८

उत्तर—यह ठीक है कि लिंग और योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय से भिन्न और अर्थ भी हैं, परन्तु यह प्रतिज्ञा निर्मूल है कि पुराण आदिकों में लिंग, योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय अर्थ होते ही नहीं। हाँ, यह ठीक है कि अर्थ प्रकरणानुसार लिये जाने चाहिएँ। जैसे (नं० १३३ में लिखी हुई कथा में महादेवजी ने जो लिंग को हाथ में पकड़ रक्खा था और ऋषियों के शाप से कटकर गिर पड़ा। यहाँ लिंग से मूत्रेन्द्रिय ही अभीष्ट है और पार्वती की योनि में स्थिर होना, यहाँ योनि का अर्थ भी मूत्रेन्द्रिय ही है, क्योंकि महादेव का सर्वथा नंगा होना, महादेवजी का अश्लील चेष्टा करना, ऋषियों का उसको आचार से हीन देखना और ऋषियों का यह कहना कि तू जो आचार के विरुद्ध कर रहा है यह तेरा काम वेदमार्ग का लोप करनेवाला है—इत्यादि बातों के कारण यहाँ लिंग का अर्थ मूत्रेन्द्रिय के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता तथा महादेव का यह कहना कि 'मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई स्त्री धारण नहीं कर सकती' सिद्ध करता है कि इस कथा में योनि का अर्थ पार्वती की मूत्रेन्द्रिय ही है। इसके अतिरिक्त हम और प्रमाण भी उपस्थित करते

हैं—

दक्षिणावर्तलिंगश्च नरो वै पुत्रवान् भवेत्। वामावर्ते तथा लिंगे नरः कन्यां प्रसूयते॥ १॥
स्थूलैः शिरालैर्विषमैर्लिंगैर्दारिद्र्यमादिशेत्। ऋजुभिर्वर्तुलाकारैः पुरुषाः पुत्रभागिनः॥ २॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० २५

कटुतैलं भल्लातकं बृहतीफलदाडिमम्॥ १७॥
कल्कैः साधितैर्लिप्तं लिंगं तेन विवर्द्धते॥ १८॥ —गरुड० आचार० अ० १७६

कर्पूरं देवदारुं च मधुना सह योजयेत्।
लिंगलेपाच्च तेनैव वशीकुर्यात् स्त्रियं किल॥ २॥ —गरुड० आचार० अ० १८०

सैंधवं च महादेव पारावतमलं मधु।
एभिर्लिप्ते तु लिंगे वै कामिनीवशकृद् भवेत्॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० १८५

ब्रह्मचर्येऽपि वर्तन्त्याः साध्व्या ह्यपि च श्रूयते।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः॥ २८॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ७३

सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धं मलवर्जितम्।
योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृते पात्रादिवोदकम्॥ ३१॥ —शिव० उमा० अ० २४

पुलकांकितसर्वाङ्गं धर्मकर्मसमन्वितम्।
बभूव काममत्ताया योनौ कंडूयनं जलम्॥ २४॥ —ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० २३

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७॥ —भागवत० स्कं० १० अ० २२

कर्पूरमदनफलमधुकैः पूरितः शिव।
योनिः शुभा स्याद् वृद्धाया युवत्याः किं पुनर्हर॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० २०२

नमस्ते ईश वरदाय आकर्षिणि विकर्षिणि मुग्धे स्वाहा इति।
योनिलिंगस्य तैलेन शंकर म्लक्षणात्ततः॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० १८४

प्रजग्मुर्गोपिका नग्ना योनिमाच्छाद्य पाणिना॥ ८३॥ —ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० २७

भाषार्थ—जिस आदमी का लिंग दायीं तरफ झुका हुआ हो वह पुत्रवाला होता है, जिसका लिंग बायीं तरफ को झुका हुआ हो उसके कन्या पैदा होती हैं॥ १॥ मोटे रगोंवाले, टेढ़े लिंगों से दरिद्रता होती है। जिन पुरुषों के लिंग सीधे, गोल होवें, वे पुत्रों के भागी होते हैं॥ २॥
—भविष्य

कड़वा तेल, भिलावा, बहेड़ा तथा अनार—इसकी चटनी से लेप करने से लिंग बढ़ता है॥
—गरुड

काफूर, देवदारु को शहद के साथ मिलाकर लिंग के लेप करें तो स्त्री वश में हो जाती है॥ २॥

हे महादेव! नमक और कबूतर की बीठ शहद में मिलाकर यदि लिंग पर लेप करे तो स्त्री वश में हो जाती है॥ १६॥
—गरुड

ब्रह्मचर्य में रहती हुई साध्वी स्त्री की योनि भी सुन्दर पुरुष को देखकर टपकने लग जाती है॥ २८॥
—भविष्य

स्नान किये हुए निर्मल सुगन्धित पुरुष को देखकर स्त्रियों की योनि ऐसे टपकने लगती है जैसे मशक में से पानी॥ ३१॥
—शिव

रोमांचित हुई धर्मयुक्त स्त्री के भी काम में मत्त होने पर योनि में खुजली तथा जल टपकने लगता है॥ २५॥ —ब्रह्मवैवर्त

तब तालाब से सारी स्त्रियाँ जाड़े से काँपती हुई, दुःखी, दोनों हाथों से योनि को ढककर बाहर निकल आईं॥ १७॥ —भागवत

हे शिव! यदि योनि को काफ़ूर, मैनफल तथा शहद से भर दिया जावे तो बूढ़ी स्त्री की योनि भी बढ़िया हो जाती है, जवान का तो कहना ही क्या॥ १६॥ —गरुड

नमस्ते इत्यादि मन्त्र को पढ़कर तेल से योनि और लिंग की मालिश करे॥ १६॥—गरुड

योनि को हाथ से ढककर सब गोपियाँ चलीं॥ ८३॥ —ब्रह्मवैवर्त

हम बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि इन स्थानों में लिंग तथा योनि के अर्थ सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और कुछ हो ही नहीं सकते, अतः आपकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल तथा असत्य है।

(१३५) प्रश्न—'लिंगानां च क्रमं वक्ष्ये' [शिव० विद्येश्वर० अ० १८] इत्यादि से शिवपुराण में बतलाया है कि शंकर का सूक्ष्म लिंग प्रणव (ओंकार) है तथा स्थूललिंग यह समस्त ब्रह्माण्ड है, फिर प्रकृति, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और पाषाण ये शंकर के अनेक लिंग हैं। पृथिवी विकारलिंग, स्वयम्भूलिंग १, विंदुलिंग २, प्रतिष्ठा किये लिंग ३, चरलिंग ४, गुरुलिंग ५, बस इतने ही लिंगों के पूजने की विधि है तथा इतने ही लिंग पूजे जाते हैं।

—पृ० २०४, पं० ४

उत्तर—यदि आपका यह अभिप्राय हो कि ओंकार परमात्मा का वाचक होने से तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, पाषाणादि समस्त ब्रह्माण्ड अपने कर्त्ता ईश्वर की महिमा का वर्णन करने से, परमात्मा की महिमा के प्रकाशक होने से लिंग कहाते हैं तो इनके विषय में तो आर्यसमाज के प्रश्न ही नहीं हैं। हाँ, ये जो आप पाँच प्रकार के लिंगों की पूजा बतला रहे हैं, ये वही शिवालयों में गड़े हुए लिंगों की तरफ़ आपका संकेत है या ये भी कुछ और ही हैं? यदि ये कुछ और प्रकार के हैं तो आपको इनकी व्याख्या करनी चाहिए थी और यदि ये पाँच भी उन्हीं में से हैं जोकि शिवालयों में गड़े हुए हैं तो फिर आप ग़लत कह रहे हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति पुराणों ने और ही प्रकार से वर्णन की है। शिवपुराण का एक वर्णन तो हम (नं० १३३ में) बयान कर आये हैं; दूसरी कथा जो लिंगों की पैदाइश के विषय में आती है, वह इस प्रकार है—

देवाद्या ऊचुः—

भूत्वा तु दक्षकन्या त्वं शंकरं परिमोहय। अस्माकं वाञ्छितश्चैतत् कुरु सिद्धिं सदा शिवे॥ १॥
एतत् श्रुत्वा वचस्तेषां निरीक्ष्य कमलासनम्। उवाच विस्मयाविष्टा कालिका जगदीश्वरी॥ २॥

देव्युवाच—

शंभुरद्यतनो बालः किं मां संतोषयिष्यति। मम योग्यं पुमांसं तु अन्यं वै परिकल्पय॥ ३॥

ब्रह्मोवाच—

शंभुः सर्वगुरुर्देवो ह्यस्माकं परमेश्वरः। महासत्त्वो महातेजाः स ते तोषं करिष्यति॥ ४॥
शंभुतुल्यः पुमान् नास्ति कदाचिदपि कुत्रचित्। इत्युक्ता ब्रह्मणा देवी वाढमित्याह चेश्वरी॥ ५॥
ततो विवाहं निर्वर्त्य कृतकृत्या तथा गताः। गताः सर्वे महेशोऽपि सत्या सह तदा गृहम्॥ ६॥
जगाम रेमे सत्या च चिरं निर्भरमानसः। अथ काले कदाचित्तु सत्या सह महेश्वरः॥ ७॥
रेमे न शेके तं सोढुं सती श्रान्ताभवत्तदा। उवाच दीनया वाचा देवदेवं जगद्गुरुम्॥ ८॥
भगवन्नहि शक्नोमि तव भारं सुदुःसहम्। क्षमस्व मां महादेव कृपां कुरु जगत्पते॥ ९॥

निशम्य वचनं तस्या भगवान् वृषभध्वजः। निर्भरं रमणं चक्रे गाढं निर्दयमानसः॥ १०॥ कृत्वा सम्पूर्णरमणं सती च त्यक्तमैथुना। उत्थानाय मनश्चक्रे उभयोस्तेज उत्तमम्॥ ११॥ पपात धरणी पृष्ठे तैर्व्यासमखिलं जगत्। पाताले भूतले स्वर्गे शिवलिंगास्तदाभवन्॥ १२॥ तेन भूता भविष्याश्च शिवलिंगाः सयोनयः। यत्र लिंगं तत्र योनिर्यत्र योनिस्ततः शिवः॥ १३॥ उभयोश्चैव तेजोभिः शिवलिंगं व्यजायत॥ १४॥

इति शिवलिंगोत्पत्तिकथनमिति नारदपंचरात्रान्तर्गततृतीयरात्रे प्रथमाध्याये नारदब्रह्मासंवादः॥

—शब्दकल्पद्रुमः, चतुर्थो भागः, पृ० २२२ लिंग शब्द पर

भाषार्थ—देवता इकट्ठे होकर ब्रह्मा के पास गये कि हम तो विवाहित हैं, किन्तु महादेव अविवाहित है। उसका भी विवाह कराना चाहिए, यह सोचकर सब देवता ब्रह्मा तथा विष्णु को साथ लेकर दुर्गा के पास गये और दुर्गा से प्रार्थना की कि आप दक्ष की कन्या बनकर महादेवजी को मोहित करें। हे सदाशिवे! यही हमारी इच्छा है, आप सिद्ध कीजिए॥ १॥ उनकी यह बात सुनकर ब्रह्मा की तरफ़ देखते हुए हैरान होकर जगदीश्वरी काली दुर्गा बोली॥ २॥ यह शम्भू आज का बालक क्या मुझे सन्तुष्ट कर सकेगा? मेरे योग्य कोई और आदमी तजवीज़ करें॥ ३॥ ब्रह्माजी बोले कि यह शम्भुदेव सबके गुरु तथा हमारे स्वामी हैं। बड़े बलवान् और वीर्यवान् हैं, यह आपकी सन्तुष्टि कर देंगे॥ ४॥ शम्भु के तुल्य कोई आदमी नहीं है, न ही कोई कहीं इनके तुल्य होगा। ब्रह्मा की यह बात सुनकर देवी बोली कि 'बहुत अच्छा'॥ ५॥ तब देवी दक्ष के यहाँ सती-रूप में पैदा हुई, तब देवता लोग विवाह से निवृत्त होकर कृतार्थ हो गये और अपने घर चले गये। महादेवजी भी सती के साथ अपने घर चले गये॥ ६॥ और सती के साथ रमण करके मनभर प्रसन्न हुए। कुछ दिनों के पीछे कभी महादेवजी सती के साथ॥ ७॥ रमण करने लगे तो सती थक गई और महादेवजी के बोझ को सह न सकी, तब बड़ी दीन वाणी के साथ जगत् के गुरु महादेव को कहने लगी॥ ८॥ हे भगवन्! मैं आपके दुःसह भार को सह नहीं सकती। हे महादेवजी! मुझे क्षमा करो! हे जगत्पते! मुझपर कृपा करो॥ ९॥ भगवान् महादेव ने उसके वचन को सुनकर खूब पेट भरकर निर्दयता से मैथुन किया॥ १०॥ सम्पूर्ण मैथुन करके छोड़ी हुई सती ने उठने की इच्छा की, तब दोनों का उत्तम वीर्य॥ ११॥ पृथिवी पर गिर पड़ा और उस वीर्य से सारा जगत् व्याप्त हो गया। और उससे पृथिवी, स्वर्ग, पाताल में योनियोंसमेत शिवलिंग पैदा हो गये॥ १२॥ जितने लिंग हो चुके, जितने आगे को होंगे वे योनियोंसमेत इस तेज से ही पैदा हुए तथा होंगे। जहाँ लिंग होगा वहाँ योनि अवश्य होगी और जहाँ योनि होगी वहाँ शिव अवश्य होंगे॥ १३॥ दोनों के तेज से ही शिवलिंग पैदा हुआ॥ १४॥

अब आप बतलावें कि लिंगों की पैदाइश के बारे में आपका लेख ठीक है या पुराणों का? और यहाँ पर लिंग तथा योनि मूत्रेन्द्रिय का नाम है या किसी और वस्तु का? आपका लेख 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' के सदृश ही है॥

(१३६) प्रश्न—लिंग के चारों तरफ़ जलहरी होती है। यह जल को बाहर नहीं जाने देती, इससे इसका नाम जलहरी है। जलहरी का अपभ्रंश जलरुरी है। वह साप्तावरण का नक़्शा है। ब्रह्माण्ड के चारों तरफ़ सात आवरण रहते हैं। वह ब्रह्माण्ड की चीज़ को बाहर नहीं जाने देते। उनका ही नक़्शा यह जलहरी है, यह वेद-शास्त्रों का अभिप्राय है। —पृ० २०५, पं० २७

उत्तर—कृपया वेद-शास्त्रों को बदनाम और कलंकित न कीजिए, क्योंकि वेद-शास्त्रों में शिवलिंग तथा जलहरी का वर्णन है ही नहीं तो फिर उनका अभिप्राय यह कैसे हो सकेगा? हाँ, पुराणों में इसका वर्णन है और पुराणों ने स्पष्टरूप से बतलाया है कि लिंग और योनि मूत्रेन्द्रिय का नाम है और उसी योनि की शक्ल जलहरी रूप में बनाकर उसमें लिंग स्थापित किया गया

है। आप हज़ार बनावटी बातें बनावें, इससे इस बात पर पर्दा नहीं पड़ सकता। भला! जो जल को बाहर जाने से रोकती है, अर्थात् जल की रक्षा करती है उसका नाम जलहरी, अर्थात् जल को हरनेवाली क्योंकर हुआ? हाँ, यह अर्थ तो हो सकता है कि जो लिंग के जल अर्थात् वीर्य को हर लेती है, अतः जलहरी योनि का ही नाम है। जब लिंग ही ब्रह्माण्ड का नक़्शा नहीं तो फिर जलहरी यानी योनि ससावरण का नक़्शा कैसे होगा? अच्छा यह तो बतलावें कि शिवलिंग पर पानी डालने का क्या प्रयोजन है? आपकी यह सारी ही कल्पना मिथ्या है। वास्तव में पूर्वकथा (नं० १३३ की) साफ़ बतला रही है कि शिव के लिंग को पार्वती की योनि में स्थापित किया गया और उस योनि का नाम बाण रक्खा गया। देखिए—

गिरिजां योनिरूपां च बाणं स्थाप्य शुभं पुनः। तत्र लिंगं च तत्स्थाप्य पुनश्चैवाभिमन्त्रयेत्॥ ३७॥

—शिव० कोटिरुद्र० अ० १२

भाषार्थ—गिरिजा को योनिरूप शुभ बाण (जलहरी) बनाकर उसमें लिंग का स्थापन करना चाहिए, फिर उसका अभिमन्त्रण करे॥ ३७॥

इसके अतिरिक्त (नं० १३५ में भी) वर्णन है कि शिव तथा सती के वीर्य से योनिसमेत लिंग पैदा हुए। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक कथा नीचे और देते हैं ताकि आपकी भ्रान्ति दूर हो जावे। पढ़िए—

न शुश्रुम यदन्यस्य लिंगमभ्यर्चितं सुरैः॥ २२६॥
कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम्।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः॥ २२७॥
यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः।
अर्चयेथाः सदा लिंगं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः॥ २२८॥
न पद्मांका न चक्रांका न वज्रांका यतः प्रजा।
लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः॥ २२९॥
देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगांकाः स्त्रियो
लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नांकितम्।
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्मतिः॥ २३०॥
पुल्लिंगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्॥ २३१॥

—महाभारत अनुशा० अ० १४

भाषार्थ—हमने यह नहीं सुना कि देवताओं ने किसी और के लिंग को पूजा हो॥ २२६॥ महेश्वर को छोड़कर दूसरे किसी के लिंग को सब देवताओं ने पूर्व या अब पूजा हो, ऐसा आपने सुना हो तो कहिए॥ २२७॥ जिसके लिंग को ब्रह्मा और विष्णु तथा आप सब देवताओं के साथ सदा पूजते हैं, इसलिए वह ही श्रेष्ठतम है॥ २२८॥ प्रजा न तो पद्मचिह्नवाली है, न चक्र चिह्नवाली और न वज्र चिह्नवाली है अपितु सारी प्रजा लिंग तथा भग के चिह्न से अंकित है, इसलिए सारी प्रजा महादेव की है॥ २२९॥ देवों ने कारणरूप-भाव से भग के चिह्न से अंकित सब स्त्रियाँ पैदा कीं और सारे ही पुरुष प्रत्यक्ष में महादेव के लिंग से चिह्नित हैं। जो महादेव से भिन्न किसी और को कारण कहता है और जो देवी से अंकित नहीं है वह पुरुष चराचर त्रिलोकी से बाहर करने के योग्य है, क्योंकि वह मूर्ख है॥ २३०॥ जितने पुल्लिंग हैं, वे सब महादेव हैं तथा जो स्त्रीलिंग

हैं वे सब पार्वती हैं। इन दोनों के शरीर से ही सारा जगत् व्याप्त है॥ २३१॥

[गीताप्रेस संस्करण में कुछ पाठभेद से इन श्लोकों की संख्या २३० से २३५ है। —सं०]

अब तो आपको निश्चय हो गया होगा कि लिंग के चारों तरफ जो गोल वृत्त (दायरा) बना हुआ है वह केवल जलहरी ही नहीं है, अपितु पार्वती के भग की तस्वीर है।

(१३७) प्रश्न—इससे भिन्न लिंग तथा जलहरी का जो कोई मनमाना अर्थ करता है वह मिथ्या और अमान्य है।

उत्तर—पुराणों के इन प्रकरणों में लिंग तथा योनि का मूत्रेन्द्रिय ही अर्थ है। हम कितने प्रमाण दे चुके हैं और भी देते हैं, पढ़िएगा—

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिंगमस्य यदा स्थितम्। महयन्त्यस्य लोकाश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः॥ १५॥
विग्रहं पूजयेद्यो वै लिंगं वापि महात्मनः। लिंग पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते॥ १६॥
ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरस्तथा। लिंगमेवार्चयन्ति स्म यत्तदूर्ध्वं समास्थितम्॥ १७॥

—महा० अनुशा० अ० १६१

भाषार्थ—इसका लिंग नित्य ब्रह्मचर्य में स्थित है और लोग उसको पूजते हैं, महात्माओं को यही प्रिय है॥ १५॥ जो महात्मा के शरीर को पूजता है या महात्मा के लिंग को पूजता है वह बड़ी भारी सम्पत्ति को प्राप्त होता है॥ १६॥ ऋषि और देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ उसी लिंग की पूजा करते थे, जो ऊपर को खड़ा है॥ १७॥

इस प्रमाण में लिंग का 'ब्रह्मचर्य से रहना' तथा 'ऊपर को खड़ा हुआ' ये दोनों विशेषण सिद्ध करते हैं कि जिस लिंग की पूजा होती है वह महादेव की मूत्र-इन्द्रिय ही है, कोई और वस्तु नहीं है। जब लिंग नाम मूत्र-इन्द्रिय का है तो इसके सहयोग से योनि नाम भी पार्वती की मूत्रेन्द्रिय का ही है और उसी की पौराणिक लोग पूजा करते हैं। हम इस बारे में एक अन्तिम प्रमाण और देते हैं, जिससे आपकी पूर्ण तसल्ली हो जावेगी। देखिए—

कदाचिद्भगवानत्रिर्गङ्गाकूलेऽनसूयया ॥ ६७॥
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन्॥ ७०॥
लिंगहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः।
रतिं देहि मदाघूर्णे नोचेत्प्राणाँस्त्यजाम्यहम्॥ ७१॥
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः॥ ७३॥
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया॥ ७४॥
महादेवस्य वै लिंगं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः।
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः॥ ७५॥

—भविष्य० प्रति० पर्व ३ अ० १७

भाषार्थ—कभी भगवान् अत्रि अपनी धर्मपत्नी अनसूया के साथ गङ्गा के किनारे रहते थे॥ ६७॥ उसके भाव को देखकर सनातनधर्म के तीनों देवता उसकी पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे॥ ७०॥ हाथ में लिंग लिये हुए महादेवजी और विष्णु उसके रस को बढ़ाते हुए तथा

ब्रह्माजी कामवश वेद का लोप करते हुए उस अनसूया के वश में होकर स्थित हो गये। हे मस्त आँखोंवाली! हमें जवानी का दान कर, वरना हम प्राण छोड़ते हैं॥७१॥ मोहित होकर वहाँ वे देवता अनसूया को जबरन पकड़कर मैथुन करने के लिए यत्न करने लगे॥७३॥ तब उस मुनिपत्नी ने क्रोध में आकर उनको शाप दिया॥७४॥ कि संसार में महादेवजी का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के चरण मनुष्यों से पूजे जावेंगे और हे देवताओ! तुम्हारा उपहास होगा॥७५॥

इस प्रमाण में सिर और पाँव के सहयोग से लिंग भी शरीर के अंग मूत्रेन्द्रिय का ही नाम है और किसी वस्तु का नाम नहीं है।

पुराणों के इन तमाम प्रमाणों से सिद्ध है कि शिवालयों में जो नीचे गोल आकार का दायरा है वह पार्वती की भग तथा जो गोल-गोल मूसल-सा गड़ा हुआ है वह शिव का लिंग है और पौराणिक लोग इनकी पूजा करते हैं।

(१३८) प्रश्न—स्वामीजी ने यह मज़ा किया कि पति के लिए उसकी स्त्री को पूज्या लिख दिया। —पृ० २१९, पं० २८

उत्तर—आप पूजा शब्द के ग़लत अर्थ समझने के कारण भ्रम में पड़े हुए हैं। पूजा शब्द के अर्थ धूप-दीप देना, आरती उतारना, घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाना तथा परिक्रमा करना नहीं है। पूजा शब्द शास्त्रों में तीन अर्थों में आता है—(१) किसी वस्तु का उचित आदर, (२) किसी वस्तु का उचित प्रयोग, (३) किसी वस्तु की उचित रक्षा। यह बात हम ज़बानी नहीं कहते अपितु प्रमाणों के आधार पर कहते हैं—

विवाह-संस्कार में वर जब वधू के मकान पर पहुँचता है तो वधू तथा कार्यकर्त्ता आदि कहते हैं कि **'साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्'**—आप आइए, हम आपकी पूजा करेंगे। वर उत्तर देता है **'अर्चय'**—आप पूजा करें। अब वहाँ क्या पूजा होती है? क्या वर की धूप-दीप देकर आरती उतारी जाती है या घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाया जाता है या उसकी परिक्रमा की जाती है? कदापि नहीं, अपितु उसे बैठने के लिए आसन, पाँव तथा मुख धोने तथा पीने के लिए जल और भोजनार्थ मधुपर्क एवं उसकी भेंटार्थ गौ दी जाती है। इसी का नाम पूजा या उचित सत्कार है।

पूजा किसने किसकी की?

वसिष्ठ ने विश्वामित्र की

तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया॥ —महा० आदि० अ० १७४ श्लो० ७

ब्राह्मणों ने विदुर की

ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैः॥ १॥
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २॥ —महा० सभा० अ० ५८

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर की

ऐते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः शंसितव्रताः।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः॥ २५॥ —महा० वन० अ० २६

ब्राह्मणों ने अर्जुन की

स तथ्यं मम तच्छुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमाँश्चाभवन्मयि॥ १३॥ —महा० वन० अ० १६७

ब्राह्मणों ने कर्ण की

शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २८॥ —महा० वन० अ० २५३

ब्राह्मणों ने बलराम की

ततः प्रायाद् बलो राजन्पूज्यमानो द्विजातिभिः॥६०॥ —महा०शल्य०अ० ३७

ऋषियों ने राजा की

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि॥२॥ —महा०शान्ति०अ० १२६

तपस्वियों ने शूद्र की

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः॥११॥ —महा० अनु० अ० १०

प्रत्येक ने शूद्र की

ज्यायाँसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमपि पूजयेत्॥४८॥ —महा० अनुशा० अ० ४८

ऋषियों ने राम की

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा॥२४॥ —वाल्मी०बाल०स० ३०

राम-लक्ष्मण ने अहल्या की

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ॥१७॥ —वाल्मी० बाल० स० ४९

गौतम-अहल्या ने राम की

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी।
रामं संपूज्य विधिवत्तपस्तेपे महातपाः॥२१॥ —वाल्मी० बाल० स० ४९

इत्यादि अनेक स्थलों में छोटे-बड़े इत्यादि सबके लिए यथायोग्य सत्कार के अर्थों में पूजा शब्द आता है। जैसे और सबके लिए आता है, वैसे ही स्त्रियों के लिए भी यथायोग्य सत्कारार्थ पूजा शब्द आता है। देखिए—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥५६॥
तस्मादेताः सदा पूज्याः भूषणाच्छादनाशनैः॥ भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥५९॥

—मनु० अ० ३

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी। मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥१४॥

—महा० विराट० अ० ३

भाषार्थ—पिता, भाई, पति तथा देवरादि को चाहिए कि यदि वे कल्याण की इच्छा रखते हैं तो वे स्त्रियों की पूजा करें तथा उन्हें भूषित करें॥५५॥ जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता सन्तान होती है। जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ सारे ही काम निष्फल होते हैं॥५६॥ इसलिए कल्याण चाहनेवालों को हमेशा सत्कार, उत्सवों में इनकी गहने, कपड़ों तथा खाने की चीज़ों से पूजा करनी चाहिए॥५९॥

इसकी पुष्टि करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—यह हमारी प्रिय पत्नी जो प्राणों से भी प्यारी है, माता के समान पालन करने के योग्य है तथा बड़ी बहिन के समान पूजने के योग्य है॥१३॥

यह तो रही स्त्री की पूजा, अर्थात् यथायोग्य सत्कार की बात। हाँ, यदि आपको पत्नी के

पाँव पड़ने का शौक़ है तो उसकी पुष्टि में आपको दशरथ का प्रमाण याद रखना चाहिए—

अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पर्शाम्येष प्रसीद मे॥ १५॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते॥ ३६॥

—वाल्मी० अयो० स० १२

भाषार्थ—यह मैं तेरे पैरों को सिर से स्पर्श करता हूँ, मुझपर कृपा करो॥ १५॥ हे कैकेयि! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पाँव को छूता हूँ॥ १६॥

आशा है अब आपको पत्नी के पूज्या होने में सन्देह न रहेगा।

किन्तु हम आपको पूजा शब्द के और भी विचित्र अर्थ बताते जावें तो आपकी और भी तृप्ति हो जावेगी। शिवपुराण में देखें, जब गणेशजी चौकीदारी का काम कर रहे थे तो महादेवजी ने विष्णु को गणेश को समझाने के लिए भेजा। तब—

अथ शक्तिसुतो वीरो वीरगत्या स्वयष्टितः।
प्रथमं पूजयामास विष्णुं सर्वसुखावहम्॥ ११॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १६

अर्थ—पार्वती के वीर पुत्र गणेश ने अपनी लाठी से प्रथम ही सुखकारी विष्णु की पूजा की॥ ११॥

कहिए महाराज! यहाँ पूजा के अर्थ मरम्मत करना है या धूप-दीप देना, आरती उतारना और परिक्रमा करना? पूजा के अर्थ यथायोग्य वर्ताव के हैं, जोकि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को परस्पर करना चाहिए।

(१३९) प्रश्न—जड़ शरीर के द्वारा जैसे औरत का व्यापक आत्मा प्रसन्न होकर आर्यसमाजियों को मोक्ष देता है, वैसे ही जड़ मूर्त्ति के द्वारा उसमें व्यापक ईश्वर प्रसन्न होकर वैदिक लोगों को मोक्ष देता है।

—पृ० २२०, पं० २५

उत्तर—औरत का जीवात्मा अपने पुण्य-पापों का फल भोगने के लिए शरीर धारण करता है और उस शरीर में रहते हुए इन्द्रियों के द्वारा सुख-दुःख को अनुभव करता है, किन्तु ईश्वर न तो पुण्य-पाप करता है और न ही पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए शरीर धारण करता है, न ही वह व्यापक होते हुए मूर्त्ति आदि व्याप्य वस्तुओं के द्वारा मनुष्य-शरीरवत् सुख वा दुःख अनुभव करता है। यदि परमात्मा व्यापक होने से मूर्त्ति के द्वारा प्रसन्न हो जाता है तो लोहे-पीतल को कूटने से, पहाड़-पत्थर तोड़ने से, कुआँ खोदने से, लकड़ी फाड़ने आदि कर्मों से नाराज़ होकर पौराणिकों को नरक में अवश्य भेजेगा। स्त्री का आत्मा आर्यसमाजियों को मोक्ष नहीं दे सकता, क्योंकि मोक्ष का दाता निराकार, व्यापक परमात्मा है।

हाँ, स्त्री का ग्रहण गृहस्थ के मोक्ष में साधन अवश्य है, जैसाकि मनुजी ने लिखा है—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

—मनु० ३।७९

भाषार्थ—अक्षय स्वर्ग की इच्छा करनेवाले तथा इस संसार में नित्यसुख की इच्छा करनेवाले को प्रयत्न से इस गृहस्थ का धारण करना चाहिए, किन्तु यह निर्बलेन्द्रिय लोगों से ग्रहण करने के योग्य नहीं है॥ ७९॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥

—मनु० ९।२८

अर्थ—सन्तान, धर्म-कार्य, सेवा, उत्तम रति और अपना तथा पितरों का स्वर्ग—सब पत्नी

के अधीन है॥ २८॥

फ़रमाइए, अब तो स्त्री के मोक्ष-हेतु होने में आपको सन्देह न रहेगा!

(१४०) प्रश्न—'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादि केनोपनिषत् की श्रुतियों पर हमारी कुछ शंकाएँ हैं। —पृ० २२०, पं० २८

उत्तर—हाँ, महाराज! आप श्रुतियों पर शंका कर लीजिए। आज तक तो हम यही समझते थे कि श्रुतियों पर नास्तिक लोगों को ही शंका हुआ करती है, किन्तु अब पता लगा कि आप-जैसे पौराणिकों को भी शंका है।

(१४१) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी केवल चार संहिताओं को स्वत:प्रमाण मानते हैं, उपनिषदों को नहीं। उपनिषद् वेदानुकूल होने पर प्रमाण हैं। वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं जो ईश्वर को निराकार कहे, ऐसी दशा में केन की श्रुतियों का वेदानुकूलत्व क्या लट्ठ के ज़ोर से सिद्ध होगा? —पृ० २२१, पं० ३

उत्तर—बस श्रीमान्‌जी! यही शंका है—**'खोदा पहाड़ और निकला चूहा'** ऐसी बातों पर ही संगत होता है। **'केन'** का यह पाठ जहाँ स्वामीजी ने दिया है वहाँ पर पहले **'अन्धन्तमः'** तथा **'न तस्य प्रतिमा'** ये दो मन्त्र देकर फिर 'केन' का पाठ दिया है। ये दोनों मन्त्र परमात्मा को निराकार तथा परमात्मा के स्थान में और किसी की पूजा के निषेध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों मन्त्रों के अनुकूल होने से ही 'केन' का यह पाठ प्रमाण है। आपको 'केन' का पाठ तो नज़र आ गया, किन्तु वेद के दो मन्त्र नज़र न आये, यह हमें भी आश्चर्य है!

(१४२) प्रश्न—इन्हीं श्रुतियों के आगे मूल में यक्षावतार का वर्णन आता है।

उत्तर—न तो वहाँ अवतार शब्द है न परमात्मा के जन्म लेने का वर्णन आता है, अपितु ब्रह्म को सर्वोत्कृष्ट वर्णन करने के लिए लाक्षणिक शैली से वर्णन किया गया है (देखो नं० ९)। यदि आप यह मानते हैं कि इस लेख में वास्तव में परमात्मा का वर्णन है तो वह **'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'** इस वेदमन्त्र के विरुद्ध होने के कारण मानने योग्य नहीं है।

(१४३) प्रश्न—जब वेद ब्रह्म को रूप और अरूप कह रहा है तब उसके रूप-प्रतिपादक मन्त्र पब्लिक के आगे क्यों नहीं आने देते?

उत्तर—परमात्मा निराकार, एकरस, रूपरहित और सब संसार में व्यापक है। वेद का एक मन्त्र भी आप पेश नहीं कर सके जो परमात्मा के दो रूप वर्णन करता हो। यदि किसी भी पौरुषेय पुस्तक में परमात्मा के दो रूप वर्णन हों तो वह पुस्तक अपौरुषेय, वेद के विरुद्ध होने से अप्रमाण मानी जावेगी, क्योंकि वेद परमात्मा को **'स पर्यगात्', 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इत्यादि मन्त्रों द्वारा निराकार, शरीररहित, परिमाणशून्य और व्यापक वर्णन करता है।

(१४४) प्रश्न—यदि ब्रह्म हमेशा न आँख से दीखता है, न कान से सुनाई देता है, न वाणी उसको कह सकती है और न वह किसी के मन में आता है तो फिर ऐसे ब्रह्म का ध्यान, पूजन कोई कैसे कर सकेगा? निराकार का ध्यान आज तक कभी हुआ नहीं और आगे कभी हो नहीं सकेगा।

उत्तर—नि:सन्देह वह ब्रह्म आँख, नाक, वाणी, जिह्वा तथा स्पर्श का विषय नहीं है और न ही वह ब्रह्म मन का विषय है, क्योंकि प्राकृतिक शरीर की ये प्राकृतिक इन्द्रियाँ प्राकृतिक विषयों को ग्रहण कर सकती हैं। परमात्मा प्रकृति से परे है। वह प्राकृतिक इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। परमात्मा तो समाधि द्वारा आत्मा से ही अनुभव किया जा सकता है। हाँ, परमात्मा की बनाई हुई स्थूल सृष्टि को प्राकृतिक इन्द्रियों से जानकर और परमात्मा की अद्‌भुत कारीगरी का मन से ध्यान करके परमात्मा की हस्ती का निश्चय किया जा सकता है। वरना साकार वस्तुओं

के प्रतीक के द्वारा निराकार परमात्मा का अनुभव न आज तक हुआ है और न ही होगा। इस बात को वेद स्वयं कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजुः० ३१।१८

भाषार्थ—मैं आत्मा उस व्यापक, महान्, प्रकाशस्वरूप, अन्धकार से दूर परमात्मा को जानता हूँ। उसको जानकर ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है; और कोई रास्ता मोक्षप्राप्ति का नहीं है॥ १८॥

इसी को स्पष्ट करने के लिए वेदान्तदर्शन कहता है—

न प्रतीके न हि सः॥ —४।१।४

भाषार्थ—प्रतीक में परमात्मा की उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रतीक परमात्मा नहीं है।

सारांश यह है कि प्राकृतिक इन्द्रियाँ परमात्मा की कारीगरी से परमात्मा की हस्ती का निश्चय ही करा सकती हैं, परमात्मा का साक्षात्कार तो केवल आत्मा ही समाधि द्वारा कर सकता है। हाँ, यदि आप परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हैं तो परमात्मा की आज्ञानुसार वेदानुकूल काम करें, और आपको अपने विचारानुसार भी परमात्मा की पूजा करने के लिए परमात्मा की मूर्त्ति कल्पित करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि आपने अपनी पुस्तक के पृ० ३१०, पं० ६ में इस प्रकार से लिखा है कि—

'जहाँ वेद ने ईश्वर के मुख का पूजन लिखा है, वहाँ ब्राह्मण का पूजन होगा, जहाँ ईश्वर की भुजाओं का पूजन होना है, वहाँ क्षत्रियों का और ईश्वर के ऊरु-पूजन में वैश्यों का पूजन तथा पाद के पूजन में शूद्रों का पूजन हो जावेगा।'

आपके इस लेखानुसार चारों वर्णों की पूजा ही समस्त ईश्वर की पूजा है। बस, अब आपको मूर्त्ति कल्पना की आवश्यकता नहीं है। चारों वर्ण की सेवा कीजिए। इसी से ईश्वर आपपर प्रसन्न हो जावेगा।

(१४५) प्रश्न—**'यथाभिमतध्यानाद्वा'** [योग० पाद १, सू० ३९] में लिखा है कि अत्यन्त प्रिय पदार्थ के ध्यान से मन स्थिर होता है। प्रिय पदार्थ साकार ही हो सकता है, अतः साकार के बिना ध्यान न होगा। —पृ० २२१, पं० २२

उत्तर—अत्यन्त प्रिय पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—एक ईश्वरकृत, दूसरे मनुष्यकृत। यदि ईश्वर की बनाई हुई वस्तुओं में मन को लगाया जावेगा तो मन को उन वस्तुओं का ज्ञान हो जावेगा और उन वस्तुओं में विद्यमान कारीगरी को जानकर उन वस्तुओं के बनानेवाले ईश्वर की महान् महिमा को जानकर उसके अस्तित्व में निश्चय हो जावेगा, किन्तु उसका साक्षात् अनुभव आत्मा ही कर सकेगा, मन नहीं। यदि मनुष्य जीवकृत पदार्थों में ध्यान लगावेगा तो उन पदार्थों का ज्ञान होकर उनके बनानेवाले मनुष्य की कारीगरी से, उसकी महिमा से, उसके कर्त्ता होने का निश्चय हो जावेगा, इससे मूर्त्ति के कर्त्ता की कारीगरी ही जानी जा सकेगी, ईश्वर को नहीं जाना जा सकता, अतः मूर्त्ति में ईश्वर का ध्यान निरर्थक है।

(१४६) प्रश्न—**'परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः'** [यो० पा० १, सू० ४०] में लिखा है कि परमाणु से लेकर परम महत् तक इस चित्त का वशीकार होता है। इससे सिद्ध होता है कि ध्यान साकार में ही हो सकता है, निराकार में नहीं। —पृ० २२१, पं० २६

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि परमाणु से परम महत् तक ध्यान करने से मन को इन वस्तुओं का ज्ञान हो जावेगा; परन्तु उसको परमात्मा का साक्षात्कार न हो सकेगा, क्योंकि प्राकृतिक मन

प्राकृतिक वस्तुओं को ही जान सकता है, परमात्मा को नहीं। परमात्मा को तो आत्मा ही समाधि द्वारा अनुभव करके साक्षात्कार कर सकता है, अतः परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए मूर्त्ति की कल्पना निरर्थक है। मूर्त्ति के ध्यान से तो परमात्मा की कारीगरी तथा उसकी महिमा का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा, अपितु मूर्त्ति की कारीगरी तथा मूर्त्ति की सुन्दरता का ही ज्ञान हो सकेगा।

(१४७) प्रश्न—'अर्चत प्रार्चत' इस मन्त्र को स्वामीजी ने ईश्वर की पूजा से हटाकर स्त्री की पूजा में लगा दिय। —पृ० २२२, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। ऐश्वर्यवाला होने से इन्द्र ईश्वर का भी नाम है तथा इन्द्रियों का स्वामी होने से जीव को भी इन्द्र कहते हैं। यदि इस मन्त्र को परमात्मा की पूजा में लगा दिया जावे तब भी इससे मूर्त्तिपूजा सिद्धि नहीं होती, अपितु, ईश्वरपूजा ही सिद्ध होगी। वास्तव में यह मन्त्र मनुष्यों को परस्पर सत्कार की आज्ञा देता है (विशेष देखें नं० ६७)

(१४८) प्रश्न—स्वामीजी कहते हैं कि 'जो फूल संसार को सुगन्धित करते हैं वे मूर्त्तिपूजा के जल में सड़कर बदबू देने लगते हैं, इस कारण मूर्त्तिपूजा छोड़ दो'। यह रूल आर्यसमाज को मान्य है तो आर्यसमाजियों को खाना-पीना सब छोड़ देना चाहिए, क्योंकि घृत, दूध, फल, मिठाई, अन्न जो पदार्थ सुगन्धित और सुहावने हैं, उन्हें खाने से उन सबका बदबूदार पाख़ाना बन जाता है। —पृ० २१३, पं० २०

उत्तर—आपको कभी तो ईमानदारी से काम लेना चाहिए। क्या स्वामीजी ने यही लिखा है जो आपने ऊपर दिया है? आप अपनी ही पुस्तक के पृ० २१५, पं० १२ पर देखें। स्वामीजी का मूल लेख यह है—

'सोलहवाँ'—पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प-चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका के साथ संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर, सड़के इतना उससे दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते और सड़ते हैं। ऐसे-ऐसे अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिए सर्वथा पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है और जिन्होंने पाषाणमय मूर्त्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

(१४९) प्रश्न—स्वामीजी ने आर्याभिविनय पृ० १८ में **'वायवा याहि दर्शत'** [ऋ० १।२।१] में ईश्वर से प्रार्थना की है कि 'हे परमेश्वर! हमने सोमादि ओषधियों का रस बनाया है आप स्वीकार करें (सर्वात्मा से पान करो)।' यहाँ पर आर्यसमाज ने निराकार ईश्वर को गुर्च के अर्क का भोग लगाया है। गुर्च के अर्क का ईश्वर को भोग लगानेवाला आर्यसमाज स्पष्ट रूप में मूर्त्तिपूजक है। —पृ० १३, पं १

उत्तर—इस मन्त्र में प्रथम तो 'स्वीकार करो' इस वाक्य को ही कोष्ठ में (सर्वात्मा से पान करो) लिखकर स्पष्ट किया है, अतः यह स्वतन्त्र वाक्य नहीं अपितु इसका अभिप्राय 'स्वीकार करो' ही है। दूसरे, इसमें मुख से पान करना नहीं लिखा अपितु सर्वात्मा से पान करना लिखा है, जिससे ईश्वर की सर्वव्यापकता दिखाना ही अभिप्रेत है। तीसरे, 'पान करना' का अर्थ भी पीना नहीं है, अपितु रक्षा करना है, क्योंकि यह रूप **'पा पाने'** का नहीं है अपितु **'पा रक्षणे'** का है, जिससे पिता, पति शब्द भी बनते हैं, अतः इसका अर्थ यह हुआ कि 'आप स्वीकार करें अर्थात् सर्वात्मा से रक्षा करो'। इसी मन्त्र का ऋग्वेद के भाष्य में अर्थ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि—

(तेषां) तान् पदार्थान्। षष्ठी शेषे अष्टा० २।३।५० इति शेषत्वविवक्षायां षष्ठी **(पाहि)** रक्षयति वा (पृ० ३६ प्रथमभाग)

भाषार्थ—(**तेषां**) आप ही उन पदार्थों के रक्षक हैं, इससे उनकी (**पाहि**) रक्षा भी कीजिए।

यहाँ पर ईश्वर को भोग लगाने की कल्पना करके मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का यत्न वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध दुराग्रहमात्र ही है।

स्वामी दयानन्द और मूर्त्तिपूजा

मनसा परिक्रमा

(१५०) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० १९४ में आर्यसमाज की सन्ध्या में मनसा परिक्रमा लिखी है। प्रथम तो ऊपर लिखा है कि—'**अथ मनसापरिक्रमामन्त्राः।**' इस हैडिङ्ग के बाद नीचे '**प्राची दिगग्निरधिपतिः**' इत्यादि वेद के छह मन्त्र परिक्रमा करने के लिखे हैं, जिन मन्त्रों से हमारे समाजी भाई नित्यप्रति ईश्वर की मानसिक परिक्रमा करते हैं। मन से परिक्रमा करना तब ही हो सकता है जब कि ईश्वर की मूर्त्ति कायम कर ली जावे। मूर्त्ति कायम करके उसके चारों तरफ घूमना मूर्त्तिपूजा है, क्योंकि विना स्वरूप, शरीर या मूर्त्ति के परिक्रमा हो ही नहीं सकती। हमारे आर्यसमाजी भाइयों को ईश्वर की मूर्त्ति नित्य बनानी पड़ती है। यह बात दूसरी है कि सनातनधर्मी चार अंगुल या दो बालिश्त की मूर्त्ति बनाते हैं और आर्यसमाजी सौ दौ-सौ मील लम्बी और पचास-साठ मील चौड़ी बनाते हैं, परन्तु बिना मूर्त्ति के इनकी सन्ध्या हो ही नहीं सकती। जब ये प्रतिदिन परमात्मा की मूर्त्ति बनाकर उसकी परिक्रमा करते हैं तो क्या कोई विचारशील मनुष्य कह सकता है कि ये मूर्त्तिपूजा नहीं करते? —पृ० ९, पं० १९

उत्तर—न्यायदर्शन में गौतमाचार्य ने लिखा है—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। —न्याय०१।२।१२

जहाँ विशेष अर्थ न किया हो, साधारणतया जो बात कही गई हो, वहाँ वक्ता के अभिप्राय को न लेकर उससे उलटा परिणाम निकालना वाक्छल यानी वाणी का छल होता है।

जितने भी प्रमाण महर्षिकृत पुस्तकों में से पौराणिक मूर्त्तिपूजा की पुष्टि में पेश करते हैं, उन सबमें वाक्छल होता है। इस बात को हम स्थान-स्थान पर दर्शाएँगे, ताकि पाठकों को पता लग जावे कि ये किस ढंग से अपना कार्य सिद्ध करते हैं।

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के विषय में ऋषि संस्कारविधि में लिखते हैं—नीचे लिखे मन्त्रों से 'सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करे। इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहिर-भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय, निःशंक, उत्साही, आनन्दी, पुरुषार्थी रहना।'

उपर्युक्त लेख में कितनी साफ़ परमात्मा की सर्वव्यापकता वा पूर्णता दिखलाई है! कभी साकार मूर्त्तिवाला सर्वव्यापक हो सकता है? ऐसा साफ़ ऋषि का लेख होने पर भी उससे मूर्त्तिपूजन सिद्ध करना दुराग्रह नहीं तो और क्या है? यहाँ परिक्रमा का अर्थ परमात्मा के चारों ओर चक्कर लगाना है, किन्तु जो मनुष्य सन्ध्या करता है उसकी अपेक्षा से चारों तरफ़, नीचे-ऊपर भाग से है। जब अघमर्षण मन्त्र में मन परमात्मा की महिमा को देखता है तो पाप की इच्छा से घबराकर चारों ओर भागता है, किन्तु जिधर भी जाता है उधर भगवान् को मौजूद, सर्वव्यापक पाता है, परिणामस्वरूप थककर उसी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। बस, यह सिद्ध हो गया कि परिक्रमा के अर्थ हमारे शरीर की अपेक्षा से चारों तरफ़, नीचे-ऊपर भागने के हैं, परमात्मा के चारों ओर घूमने के नहीं।

(१५१) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश पृ० ९९ तथा संस्कारविधि में पृ० १९८ में बलिवैश्वदेव विधि में इन्द्र, यम, वरुण, सोम, मरुत्, जल देवताओं को तथा ओखल-मूसल,

लक्ष्मी, भद्रकाली और दुर्गा को भोग लगाना लिखा है। इससे मूर्त्तिपूजा स्पष्ट सिद्ध है।
—पृ० १०, पं० ७

उत्तर—प्रतीत होता है कि आपने झूठ बोलने तथा जनता को भ्रम में डालने का ठेका ही ले-रक्खा है, वरना आपको यह मालूम है कि यह बलिवैश्वदेव का प्रकरण है जोकि पंचमहायज्ञों में चौथा यज्ञ है, जिसकी विधि मनु में अध्याय ३ श्लोक ८४ से ९२ तक में दी गई है। उसी के आधार पर स्वामीजी का यह लेख है, जोकि स्वामीजी ने '**अहरहर्बलिमित्ते**' इत्यादि अथर्व १९।५५।७ के अनुकूल होने से ग्रहण किया है। मनु ने इसका प्रयोजन भी लिख दिया है कि '**भूतानि बलिकर्मणा**' [मनु० ३।८१] प्राणियों का बलिवैश्वदेवयज्ञ से सत्कृत करे। इससे स्पष्ट है कि बलिवैश्वदेव का प्रयोजन अन्न से प्राणियों को तृप्त करना है। फिर न मालूम आपको प्रकरणविरुद्ध झूठ बोलकर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का क्यों ख़ब्त समाया है? आपकी कल्पना निम्न हेतुओं से सर्वथा मिथ्या है—

(क) यह बलिवैश्वदेवयज्ञ का प्रकरण है, उपासना का प्रकरण ही नहीं है।

(ख) स्वामीजी के लेख में कहीं भी '**भोग**' शब्द नहीं है।

(ग) स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि दोनों में '**सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः**' इत्यादि मन्त्रों के नीचे यह पाठ [जिसको आपने चुरा लिया है] दिया है—'इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना।' और स्वामीजी का यह लेख भी स्वयं कल्पित नहीं है। देखिए, व्यासजी कहते हैं कि—

एवं कृत्वा बलिं सम्यग्दद्याद् भिक्षां द्विजाय वै।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत्॥ १५॥ —महा० अनु० अ० ९७

इससे भला! मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध हो सकती है?

(घ) स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा को वेदविरुद्ध सिद्ध करते हुए उसका घोर खण्डन किया है। उनके लेख से तोड़-मरोड़कर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना महा धोखा और झूठ है।

(ङ) इन मन्त्रों में आपके कल्पित देवताओं का नाम तक भी नहीं है। स्वामीजी ने इन मन्त्रों के अर्थ स्वयं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञ-प्रकरण में किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

इन्द्र—परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उसके गण।

यम—सत्यन्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्यन्याय करनेवाला सभासद्।

वरुण—सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन।

सोम—पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाला परमात्मा और वे लोग।

मरुत्—प्राण—जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना।

आपः—सर्वव्यापक परमात्मा।

वनस्पति—ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि, सबके पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी।

श्री—जो सेवा करने योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना।

भद्रकाली—जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति और सामर्थ्य है उसका सदा अश्रय करना।

ब्रह्मपति—वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिए करना।

वास्तुपति—गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर।

इत्यादि में मूर्त्तिपूजा का नाममात्र भी नहीं है, अपितु परमात्मा का नाम लेकर समस्त प्राणियों के उपकार का काम करना लिखा है।

स्वामीजी सोलह हेतुओं से मूर्त्तिपूजा को त्याज्य बतलाते हैं। आपने पन्द्रह हेतुओं को तो छुआ तक नहीं, केवल एक हेतु पर ही आप नुक्ताचीनी कर सके हैं और उसका भी आपने अधूरा और मनमाना पाठ देकर जनता को भ्रम में डालना चाहा है। इसके अतिरिक्त आपने जो इस काम को मनुष्य के भोजन के साथ तुलना दी है, यह युक्तिशून्य है। क्या मनुष्य के किये हुए भोजन का मल बनना और मूर्त्ति के ऊपर चढ़े हुए पदार्थों का सड़कर बदबू पैदा करना बराबर है? अन्न का भोजन करना मनुष्य के प्राणों का आधार है, भोजन के बिना पुरुष की मृत्यु हो जाती है, तो क्या पुष्प आदि पदार्थ भी मूर्त्ति के प्राणों का आधार हैं वा उनके बिना मूर्त्ति मर जाती है? फिर जिस भोजन को पुरुष खाता है मेदा उसको हज़्म करके उसके रस को खेंचकर उसका खून बनाकर सारे शरीर की पुष्टि करता है, और फोक—सारहीन को पाखाने के रास्ते बाहर फेंक देता है, किन्तु मूर्त्ति पर चढ़ाये पदार्थों का कोई भी उपयोग नहीं होता, तथा मूर्त्ति को उससे कोई लाभ नहीं होता, अपितु वे पदार्थ व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं, अतः पुरुषों का भोजन करना सार्थक और भोजन में प्रयुक्त पदार्थों का सदुपयोग तथा मूर्त्ति पर पुष्पादि का चढ़ाना निरर्थक और मूर्त्ति पर चढ़ाये पदार्थों का दुरुपयोग है। इससे स्वामीजी का लेख सत्य और आपका असत्य सिद्ध होता है।

(१५३) प्रश्न—स्वामीजी ने **'घृतेन सीता'** इत्यादि [यजुः० १२।७०] इस मन्त्र के भाष्य में लकड़ी के पटेले अर्थात् जिससे खेत की मिट्टी एक-सी की जाती है, उसपर जल, घी, दूध, शक्कर, शहद चढ़ाकर पूजा करना लिखा है। इससे मूर्त्तिपूजा साफ़ तौर से सिद्ध होती है।

—पृ० १४, पं० १०

उत्तर—प्रथम, स्वामीजी के अर्थ में कहीं 'पूजा करो' शब्द नहीं है, आपने चालाकी करके अपनी तरफ़ से शामिल कर दिया है। दूसरे, 'पटेले के ऊपर शहदादि चढ़ाना, स्वामीजी के भाष्य में नहीं अपितु 'पटेला, घी तथा शहद वा शक्कर आदि से संयुक्त करो' ऐसा पाठ है। तीसरे, यहाँ उपासना का प्रकरण नहीं अपितु कृषि का प्रकरण है, क्योंकि इस मन्त्र का देवता कृषि है।

चौथे, पटेला से स्वामीजी का अभिप्राय खेत में हल चलाने से पैदा हुई उस गहरी लकीर का है, जिसमें बोया हुआ बीज उगता है, क्योंकि यह अर्थ मन्त्र में विद्यमान सीता शब्द का है और सीता शब्द का अर्थ हल या सुहागा हो ही नहीं सकता। जैसाकि—

सीता लांगलपद्धतिः। —अमरकोष २।९।१४

अर्थात् सीता यह एक नाम हल की रेखा का है।

इसी का स्वामी जी ने पटेला शब्द से वर्णन किया है। आपने अपनी स्वार्थसिद्धि से मनमाना अर्थ लकड़ी का सुहागा निकाल मारा।

पाँचवें, स्वामीजी के स्वयं लिखे हुए मन्त्र के नीचे के भावार्थ को आपने चुरा लिया है, जिससे स्वामीजी का अभिप्राय स्पष्ट होता है। वह यह है कि—

'सब विद्वानों को चाहिए कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी, मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को अन्न से सिद्ध करनेवाली करें। जैसे बीज सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं, वैसे इस पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें।'

कहिए, इस भावार्थ में साफ़ तौर से 'पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें' लिखा है या नहीं और अब बतावें कि पटेले का अर्थ सुहागा कैसे हो सकता है? इस मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय

यह प्रकट हो गया कि जैसे नमक, हड्डी, मछलियाँ, राख, पाखाना, खून आदि ख़ास-ख़ास पौधों की परवरिश के लिए आवश्यक हैं, वैसे जल, दूध, घी, शक्कर, शहद आदि पदार्थों से ज़मीन को खाद देकर ठीक संस्कारयुक्त करो, ताकि अन्नादि पदार्थ पुष्कल पैदा हों। इस लेख से मूर्त्तिपूजा निकालना बालू से तेल निकालने के समान सर्वथा असम्भव है।

(१५४) प्रश्न—स्वामीजी ने संस्कारविधि के मुण्डनसंस्कार में लिखा है कि—

'ओं औषधे त्रायस्व एनं मैनः हिं सीः।'

जिसका अर्थ यह है कि 'हे औषध कुश! इस बालक की रक्षा कर, इसको मत मार।' कुशा तृण है, तृण से जीवन की प्रार्थना करना निःसन्देह मूर्त्तिपूजा है। —पृ० १५, पं० ११

उत्तर—हमारे सामने संस्कारविधि विद्यमान है। इसमें केवल यह लिखा है कि ''तत्पश्चात्—

ओं औषधे त्रायस्वैनम्।

इस मन्त्र को बोलके, तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबाके' इसके अतिरिक्त संस्कारविधि में न तो इस मन्त्र के अर्थ हैं और न ही तृण से जीवनों की प्रार्थना की गई है। किसी वाक्य के स्वयं मनमाने अर्थ करके स्वयं ही आक्षेप करना कहाँ की ईमानदारी है[१]? यदि आप आक्षेप करना ही चाहते हैं तो इस मन्त्र का अर्थ भी स्वामीजीकृत लिखिए। यजुर्वेद [४।१] में स्वामीजी ने इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार से किये हैं—

'हे विद्वन्! जैसे सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगों से रक्षा करता है, वैसे तू भी हम लोगों की रक्षा कर। इस यजमान वा प्राणिमात्र को कभी मत मार।'

अब बतलाइए, इस अर्थ में से मूर्त्तिपूजा कहाँ से सिद्ध होती है?

(१५५) प्रश्न—संस्कारविधि के मुण्डन-संस्कार में लिखा है कि—

'ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि।'

इसका अर्थ यह है कि—'हे छुरे! तू विष्णु की दाढ़ है।' क्या निराकार की दाढ़ हो सकती है? इससे ईश्वर का साकार होना तथा मूर्त्तिपूजा सिद्ध है। —पृ० १५, पं० १६

उत्तर—झूठ बोलना आपका पैतृक पेशा मालूम होता है। संस्कारविधि का मुण्डन-संस्कार हमारे सामने पड़ा है, इसमें यह लिखा है कि—**'ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि'** इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके'

बस इसके अतिरिक्त संस्कारविधि में न तो मन्त्र के अर्थ लिखे हैं और न छुरे को विष्णु की दाढ़ बतलाया गया है। आपने स्वयं ही मनमाने अर्थ करके प्रश्न भी कर डाला। यह शरीफ़ आदमियों का काम नहीं है। हाँ, यदि आपको प्रश्न करना है तो पहले आर्यसमाज से इसके अर्थ पूछें, फिर प्रश्न करें। देखिए, **'यज्ञो वै विष्णुः'** [शत० १।१।२।१३] विष्णु नाम यज्ञ का है और **'दंश्यतेऽ नेनेति दंष्ट्रः'**, जिससे काटा जावे उसका नाम दंष्ट्र है। अब ऊपर के मन्त्र के अर्थ यह हुए कि—'छुरा यज्ञ में वस्तुओं को काटने का साधन है।'

अब बतलाइए, इसमें ईश्वर का साकार होना तथा मूर्त्तिपूजा किस प्रकार से सिद्ध हो सकती है?

---

१. स्वामीजी के लेख पर शंका करने के लिए स्वामीजी के ही अर्थ लिखने चाहिएँ, जैसाकि स्वामीजी ने स्वयं लिखा है कि 'यहाँ सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है, इसलिए विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है और जहाँ-जहाँ अर्थ करना आवश्यक है वहाँ-वहाँ अर्थ भी कर दिया है। और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे हैं, जो देखना चाहें वहाँ से देख लेवें।' —संस्कारविधि की भूमिका

(१५६) प्रश्न—संस्कारविधि के मुण्डन-संस्कार में लिखा है कि—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिꣳ सीः॥

इसका अर्थ यह है कि—'हे तेज़ धारवाले छुरे! शिव तेरा नाम है और लोहा तेरा बाप है, मैं तुझे नमस्ते करता हूँ। हे छुरे! तू इस बच्चे को मत मार'।

छुरे को सम्बोधन करके नमस्ते कहना तथा छुरे से यह प्रार्थना कि 'तू बच्चे को मत मार' निःसन्देह मूर्त्तिपूजा है।

—पृ० १६, पं० १

उत्तर—या बेईमानी तेरा आश्रय! हमारे सामने संस्कारविधि का मुण्डन-संस्कार प्रकरण है। इसमें केवल यह लिखा हुआ है कि—

'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳ सीः।

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।' इसके सिवाय यहाँ कुछ भी नहीं लिखा। न तो यहाँ पर मन्त्र का अर्थ किया हुआ है, न ही कहीं छुरे को नमस्ते लिखा हुआ है और न ही कहीं पूजा शब्द है। स्वयं ही मनमाने ऊटपटाँग अर्थ करके स्वयं ही उसपर प्रश्न करना यह शराफ़त नहीं है। हाँ, यदि आपको अर्थ पर शंका करनी है तो इस मन्त्र का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ यजुः० ३।६३ में देखें—

'हे जगदीश्वर! और उपदेश करनेहारे विद्वन्! जो आप अविनाशी होने से वज्रमय (निश्चल=दृढ़) हैं, जिस आपका सुखस्वरूप, विज्ञान का देनेवाला नाम है, सो आप मेरे पालन करनेवाले हैं। आपके लिए मेरा सत्कारपूर्वक नमस्कार विदित हो।'

अब फरमाइए, इसमें छुरे को सम्बोधन करना और उसे नमस्ते करना कहाँ है, और इससे मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध होती है?

पौराणिक लोग इसी तरह से संस्कारविधि का नाम लेकर कहा करते हैं कि स्वामीजी ने डण्डे की पूजा, जूते की पूजा, ऊखल की पूजा, मूसल की पूजा इत्यादि लिखी है। ऐसा सवाल करने पर बुद्धिमानों को निम्न बातों का ध्यान रखकर उत्तर देना चाहिए—

(१) 'संस्कारविधि में लिखा हुआ दिखाओ कि 'डण्डे की पूजा करो,' 'जूते की पूजा करो' इत्यादि, कहाँ है।

(२) जिस मन्त्र का अर्थ करके प्रश्न कर रहे हो वह अर्थ स्वामीजी का किया हुआ है या किसी और का? स्वामीजी के लिखित मन्त्र पर स्वामीजी का किया हुआ अर्थ ही प्रामाणिक हो सकता है, अन्य का नहीं। बस, इतने से ही सनातनधर्म के प्रश्न इस तरह से अदृश्य हो जावेंगे जैसे गधे के सिर से सींग।

मूर्त्तिपूजा (परिशिष्ट)

प्रश्न—वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ३१, श्लोक ४२-४३ में लिखा है कि रावण शिवलिंग की पूजा करता था।

उत्तर—प्रथम तो उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है, क्योंकि फलश्रुति युद्धकाण्ड के अन्त में आ जाती है तथा उत्तरकाण्ड में प्रथम छह काण्डों के विरुद्ध घटनाएँ हैं। उत्तरकाण्ड के नाम से ही प्रकट है कि यह पीछे से बनाकर शामिल किया है। कलकत्ते से छपी रामायण में यह काण्ड है ही नहीं। दूसरे, यह रावण-जैसे राक्षसों का ही काम है। राम तो सन्ध्या किया करते थे। रावण का काम वेदविरुद्ध होने से पापसूचक है।

प्रश्न—राम ने सेतुबन्ध के समय शिवलिंग की पूजा की।

उत्तर—सेतुबन्ध के समय राम ने कोई मूर्त्तिपूजा नहीं की। लंका से वापसी पर राम ने सीता को पुल दिखाकर कहा कि—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः। —युद्ध० १२३, श्लोक० २०

उस व्यापक, देवों के देव परमेश्वर ने यहाँ हमपर कृपा की। **'विभुः'** से तात्पर्य व्यापक परमात्मा से है, शिवलिंग से नहीं।

प्रश्न—महाभारत में आता है कि एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्त्ति बनाकर शस्त्रविद्या सीखी।

उत्तर—(१) एकलव्य ने परमेश्वर के स्थान में उसकी पूजा नहीं की।

(२) अभ्यास से शस्त्रविद्या सीखी, मूर्त्ति ने नहीं सिखाई।

(३) द्रोणाचार्य को इसका पता भी नहीं लगा।

(४) मूर्त्ति बनाने का फल अंगूठा काटा गया।

(५) एक भील का कर्म अनुकरणीय नहीं।

(६) यदि आपके विचार में ठीक है तो आप भी मूर्त्तियों से वेद पढ़कर दिखलावें।

प्रश्न—**'देवताभ्यर्चनं चैव'** (मनु० २।१७६) में देवताओं की पूजा से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है।

उत्तर—यहाँ देवता-पूजा से विद्वानों की पूजा, सेवा-सत्कार का अभिप्राय है। अथवा यदि सूर्य, चाँद, हवादि को देवता माना जावे तो मनु स्वयं कहते हैं कि **'होमैर्देवान् यथाविधि'** [मनु० ३।८१] देवताओं की विधिपूर्वक होम से पूजा करे। यहाँ देवता-पूजा से देवयज्ञ अर्थात् विद्वानों की सेवा तथा हवन करना लिखा है, मूर्त्तिपूजा का विधान नहीं है।

प्रश्न—पत्थर में भी परमात्मा व्यापक है, हम उसकी पूजा करते हैं।

उत्तर—पत्थर में परमात्मा तो है, आत्मा नहीं है, किन्तु तुम्हारे शरीर में परमात्मा तथा आत्मा दोनों हैं, अतः अपने शरीरस्थ आत्मा द्वारा परमात्मा का अनुभव करो।

प्रश्न—पाषाण मूर्त्तिपूजा सीढ़ी है।

उत्तर—हिमालय पर्वत की प्राप्ति के लिए पाषाण सीढ़ी हो सकती है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा ही सीढ़ी है। इससे ज्ञान-प्राप्ति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होगी।

प्रश्न—प्रकृति की पूजा क्यों न करें?

उत्तर—जीव सत्, चित् है, अतः उसे सत् प्रकृति की उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सत् गुण तो उस-[जीव]-में विद्यमान है। हाँ, परमात्मा सत्-चित्-आनन्द है, अतः आनन्द की प्राप्त्यर्थ परमात्मा की पूजा करनी चाहिए, प्रकृति की नहीं।

प्रश्न—मूर्त्ति के कारण नोटों, रुपयों का व्यवहार सुखदायक है। इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा सुखदायक है।

उत्तर—राजा शरीरधारी है उसकी मूर्त्ति नोटों आदि पर बन सकती है, निराकार परमात्मा की नहीं।

नोट, रुपये राजा की आज्ञा से राजा के ही कारखाने में बने हुए सुखदायक हैं। यदि कोई राजा की आज्ञा के विरुद्ध जाली सिक्का घर में बनावे तो जेल की हवा खाता है। इसी प्रकार से परमात्मा की आज्ञानुसार, परमात्मा की बनाई हुई मूर्त्तियों चाँद, सूर्य, पहाड़, हवा, पानी, भूमि, इन्सान, पशु, पक्षी आदिकों से यथायोग्य व्यवहार करके सुखलाभ करो। परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध परमात्मा के स्थान में पाषाण आदि की मूर्त्तियों की पूजा करके नरकगामी न बनो।

प्रश्न—जैसे काल की मूर्त्ति घड़ी है, वैसे परमात्मा की मूर्त्ति भी बन सकती है।

उत्तर—यह मूर्त्ति काल की नहीं सूर्य की है, क्योंकि सूर्य से ही काल का परिमाण है। यदि

सूर्य संसार में न रहे तो काल का कोई व्यवहार न रहे और न ही घड़ी की ज़रूरत।

प्रश्न—शब्दों की तस्वीर अक्षरों की सूरत में बना लेते हैं, वैसे ईश्वर की मूर्त्ति बन सकती है।

उत्तर—शब्द की मूर्त्ति नहीं बनती। एक ही शब्द की विविध देशों में विविध मूर्त्तियाँ हैं। यदि वास्तव में मूर्त्ति बन सकती तो एक-सी बनती। हाँ, जो एक इन्द्रिय का विषय हो उसका दूसरी इन्द्रिय के लिए संकेत बनाया जा सकता है। शब्द चूँकि कान का विषय है, अतः उसे अक्षरों की सूरत में आँखों का विषय संकेत रूप से बनाया जा सकता है। परमात्मा चूँकि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, अतः उसका कोई संकेत भी नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न—जैसे पानी से बर्फ बन जाती है और दियासलाई से अग्नि प्रकट होती है, ऐसे ही परमेश्वर साकार होकर प्रकट हो जाता है।

उत्तर—आग, पानी, मिट्टी, हवा इन चारों तत्त्वों के चूँकि परमाणु हैं, अतः ये चारों तत्त्व साकार हैं। जब ये परमाणुरूप होते हैं तो सूक्ष्म होने से नज़र नहीं आते, स्थूल अवस्था में नज़र आते हैं, वरना ये प्रत्येक अवस्था में साकार होते हैं, निराकार नहीं हैं, अतः ईश्वर के लिए इनका दृष्टान्त युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तथा ये चारों तत्त्व साकार होने से सर्वव्यापक नहीं हैं।

साकार पानी का साकार बर्फ बनता है तथा दिसासलाई से साकर अग्नि प्रकट होती है।

त्रित्ववाद

(१५७) प्रश्न—वेद ने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को माना है तथा वेद ने सृष्टि बनने का मैटर भी ब्रह्म को ही माना है। जैसे मिट्टी से घट, लोहे से कुठार, सूत से वस्त्र, और सुवर्ण से कटक-कुण्डल बनते हैं, इसी प्रकार यह समस्त संसार ब्रह्म से बना है। —पृ० २२३, पं० ४

उत्तर—जहाँ वेद ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानता है, वहाँ वेद सृष्टि बनने का मैटर नित्य प्रकृति को मानता है। ईश्वर ऐसे है जैसे घड़े में कुम्हार, कुठार में लुहार, वस्त्र में जुलाहा तथा कटक-कुण्डल में सुनार। जैसे कर्त्ता कुम्हार के गुण घड़े में, लुहार के गुण कुठार में, जुलाहे के गुण वस्त्र में तथा सुनार के कटक-कुण्डल में विद्यमान नहीं हैं, जैसे घड़े में उपादानकारण मिट्टी के गुण, कुठार में लोहे के गुण, वस्त्र में सूत्र-कपास के गुण, तथा कटक-कुण्डल में स्वर्ण के गुण विद्यमान हैं, इसी प्रकार इस सृष्टि में ईश्वर के चैतन्यता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदि गुण विद्यमान नहीं हैं अपितु जड़ता, एकदेशिता आदि प्रकृति के गुण विद्यमान हैं चूँकि उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं—**'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** [वै० अ० २, अ० १, सू० २४]। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर इस सृष्टि का मिट्टी आदि की भाँति उपादानकारण नहीं अपितु कुम्हारादि की भाँति निमित्तकारण है और मिट्टी आदि की भाँति सृष्टि का उपादानकारण नित्य प्रकृति है, जिसको वेद के अनेक मन्त्र वर्णन करते हैं, जैसेकि—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ —अ० १।५०।१०

भाषार्थ—हम सब अन्धकार अर्थात् प्रकृति से ऊपर उठकर अधिक उच्च, प्रकाशमान, देवों में देव उस उत्तम प्रकाशपूर्ण, गतिदाता प्रभु को अनुभव करते हुए प्राप्त करें।

इस मन्त्र में अन्धकार (तम) नाम प्रकृति का है, इसी का वर्णन करते हुए मनुजी महाराज कहते हैं कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ —मनु० १।५

भाषार्थ—यह जगत् प्रलयकाल में न जानने के योग्य, लक्षण में भी न आने योग्य, तर्क से भी न जानने योग्य, अज्ञातरूप में सब ओर से सोये हुओं की भाँति प्रकृति में लीन था॥ १॥

इसपर कुल्लूकभट्ट लिखते हैं कि—

तमः शब्देन गुणवृत्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः॥ १॥

भाषार्थ—यहाँ '**तम**' शब्द से गुणवृत्ति से प्रकृति की ओर संकेत है। जैसे अँधेरे में लीन पदार्थ नज़र नहीं आते वैसे ही प्रकृति में लीन पदार्थ भी जाने नहीं जाते। यही अँधेरे तथा प्रकृति में समानगुण होने से प्रकृति को भी '**तम**' कहते हैं। प्रलयकाल में सूक्ष्मरूप से यह जगत् प्रकृति में लीन था यह अर्थ है। इसपर व्यासजी कहते हैं कि—

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः। सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान्॥ ३३॥
पृथग्भूतौ तु प्रकृत्या सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा। यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत्तथा॥ ३४॥

—महा० शान्ति० अ० २८५

भाषार्थ—प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ दोनों सूक्ष्मों का यह भेद जानों—एक तो गुणों को पैदा करता, दूसरा गुणों को पैदा नहीं करता॥ ३३॥ ये दोनों प्रकृति से भिन्न हैं और सदा मिले रहते हैं जैसे मछली जल से भिन्न है, किन्तु जल से मिली रहती है॥ ३४॥

इस प्रकार ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों स्वरूप से अनादि तथा व्याप्य-व्यापकभाव से मिले रहते हैं। स्वरूप से अनादिकाल से भिन्न हैं तथा अनन्तकाल तक भिन्न रहेंगे।

(१५८) प्रश्न—'**नासदासीत्**', '**न मृत्युरासीत्**' [ऋ० १०। १२९। १-२] इन दो मन्त्रों से प्रकृति, जीव का अभाव होकर केवल ईश्वर-सत्ता का प्रलय में होना सिद्ध है। इसी से वेद ने ईश्वर को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' माना है। —पृ० २२, पं० ९

उत्तर—वेद ईश्वर को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं मानता, अपितु नित्य प्रकृति को संसार का उपादानकारण तथा ईश्वर को संसार का निमित्तकारण मानता है और ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों ही स्वरूप से भिन्न, अनादिकाल से अनन्तकाल तक विद्यमान रहते हैं। आपने जो दो मन्त्र दिये हैं, इस स्थान पर इस सूक्त में इस विषय के सात मन्त्र हैं, जिनका सामूहिक रूप में प्रकरणानुसार अर्थ लगाने से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों अनादि सिद्ध होते हैं। आपने केवल दो मन्त्र लिखकर मनमाना अर्थ करके प्रकरण-विच्छेद किया। लीजिए, हम आपके सामने इस सारे सूक्त का संगत अर्थ करके बतलाते हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

भाषार्थ—(**तदानीं**) उस समय (**न असत् आसीत्**) अभाव न था (**नो सत् आसीत्**) भावपदार्थ प्रकट न था (**रजः न आसीत्**) स्थूल मिट्टी न थी (**यत् परः व्योमा नो**) खाली स्थान भी न था। उस समय (**कुह**) कहाँ (**किम्**) क्या (**आवरीवः**) ढका हुआ था और (**कस्य शर्मन्**) किसके आश्रय से क्या था (**किं**) क्या (**गहनं गभीरम्**) बड़ा गम्भीर (**अम्भः**) पानी-सा उस समय (**आसीत्**) था॥ १॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

भाषार्थ—उस समय मृत्यु नहीं थी, क्योंकि अमृत प्रकट न था। रात्रि और दिन के विभाग

का कोई ज्ञान न था। उस समय वह एक आत्मा प्रकृति के साथ प्राणवायु के बिना ही प्राणरूप में था। उससे भिन्न निश्चय से कोई भी श्रेष्ठ नहीं था॥ २॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽ प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

भाषार्थ—आरम्भ में अन्धकार से व्यापी हुई मूल प्रकृति थी और यह सब जगत् अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जब शून्यता से यह व्यापक प्रकृति ढकी हुई थी, उस समय ज्ञानमय तप की महिमा से वह एक बन गया॥ ३॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

भाषार्थ—इस पूर्वसमय में मन का वीर्य जो पहले था उसके ऊपर काम, अर्थात् संकल्प हुआ। ज्ञानी लोगों ने हृदय में बुद्धि से ढूँढकर जान लिया कि असत् में सत् का भाईपन है अथवा असत् में सत् बँधा है॥ ४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

भाषार्थ—इन तीनों का किरण तिरछा फैला है। नीचे भी आश्चर्यकारक रीति से है और ऊपर भी वैसा ही आश्चर्यकारक है। वीर्य का धारण करनेवाले जीव थे, बलशाली महान् जीव थे। इधर आत्मा की धारणशक्ति अथवा प्रकृति थी और परे प्रयत्न का बल था॥ ५॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव॥ ६॥

भाषार्थ—वास्तविक रूप में कौन जानता है और कौन इस विषय में कह सकता है कि कहाँ से बनी और कहाँ से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई है। इसकी उत्पत्ति के पश्चात् सूर्य, अग्नि आदि दिव्य पदार्थ बने हैं। अब कौन जान सकता है कि जिससे यह संसार बना है॥ ६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

—ऋग्वेद १०।१२९

भाषार्थ—जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई वह क्या इसको धारण करता है या नहीं। परम अगाध आकाश में इसका जो अधिष्ठाता है, वह निश्चय से जानता है वा नहीं॥ ७॥

इन मन्त्रों को एक-साथ पढ़ने से स्पष्ट है कि ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों परस्पर भिन्न, अनादिस्वरूप हैं। इसी बात को आपके यहाँ गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, ब्रह्मकाण्ड अध्याय २८ में स्पष्ट वर्णन किया है—

जीवश्च सत्यः परमात्मा च सत्यस्तयोर्भेदः सत्ये एतत्सदापि।
जडश्च सत्यो जीवजडयोश्च भेदो भेदः सत्यः किं च जडेशोर्भिदा॥ ६९॥
भेदः सत्यः सर्वजीवेषु नित्यं सत्या जडानां च भेदाः सदापि।
एतत्सर्वं यदि मिथ्या भवेत्तु तदा त्वसौ दशतु मां ह्यहीन्द्रः॥ ७०॥

—गरुड० उत्तर० ब्रह्म० अ० २८

भाषार्थ—जीव सत्य है, परमात्मा सत्य है और उनका भेद भी सदा से सत्य है। जड़ सत्य है, जीव-जड़ का भेद सत्य है, जड़ और ईश्वर का भेद सत्य है॥ ६९॥ सारे जीवों में सदा से भेद सत्य है और सदा ही जड़ों में परस्पर भेद सत्य है। यदि यह सब-कुछ मिथ्या हो तो

वह सर्पराज मुझको काट खाये॥७०॥

आशा है कि अब 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' का ख़ब्त आपके दिमाग़ से अवश्य ही निकल जावेगा।

(१५९) प्रश्न—'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादि [शतपथ १४।४।२।१] से सिद्ध है कि इसी ब्रह्म से समस्त संसार जड़-चेतन की उत्पत्ति हुई। —पृ० १२४, पं० ९

उत्तर—आपकी प्रतिज्ञा तो यह है कि वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानता है, किन्तु आप प्रमाण दे रहे हैं शतपथ का जोकि वेद नहीं है, फिर शतपथ का भी आपने पूरा पाठ नहीं दिया, अधूरा पाठ देकर मनमाना अर्थ कर डाला। लिजए, हम शतपथ का पूरा पाठ और ठीक-ठीक अर्थ नीचे देते हैं—

आत्मैवेदमग्र आसीत्। पुरुषविधः सोऽ नुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति॥

—शतपथ १४।४।२।१

भाषार्थ—यह परमात्मा पहले ही था। वह व्यापक था। उसने विचारा, अपने बिना और परमात्मा न देखा। तब उसने **'अहमस्मि'** मैं हूँ, यह पहले कहा। तब से **'अहं'** नामवाला हो गया। इसलिए भी तो इस संसार में यहाँ **'अहम्'** यह पहले ही कहकर उसके पश्चात् और कोई नाम जो उसका हो, बोलते हैं।

इसमें परमात्मा के **'अहम्'** नाम की उत्कृष्टता वर्णन की गई है। सारे पाठ में एक पद भी ऐसा नहीं है जिसके ये अर्थ किये जा सकें कि इसी ब्रह्म से समस्त संसार जड़-चेतना की उत्पत्ति हुई। न जाने आपने यह इतना लम्बा अर्थ कहाँ से निकाल मारा? वेद तो ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अनादि मानता है तथा इन तीनों से संसार की पैदाइश मानता है। देखिए—

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचिभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥

—ऋ० १।१६४।४४

भाषार्थ—तीन प्रकाशमय पदार्थ नियमानुसार विविध कार्य कर रहे हैं। इनमें से एक वासयोग्य संसार के लिए बीज डालता है, एक शक्तियों से, कर्म से, बुद्धि से संसार को दोनों ओर से देखता है, एक का वेग तो दीखता है, किन्तु रूप नहीं दीखता।

व्यासजी भी कहते हैं कि—

उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ। सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम्॥८॥
प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया। विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम्॥९॥
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम्। अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिंगत्वादसंहितौ॥१०॥

—महा० शान्ति० अ० २१७

भावार्थ—जीव तथा ब्रह्म दोनों अनादि, अचल, बड़ों से बड़े हैं—यह दोनों में समानता है। ऐसे ही और एक-दूसरे में विशेषताएँ हैं॥८॥ प्रकृति तीन धर्मोंवाली तथा पैदा करने के धर्मवाले से विपरीत है। इससे परमात्मा की विलक्षणता जाननी चाहिए॥९॥ वह स्वयं गुणों से रहित और प्रकृति के विकारों का द्रष्टा है। ये दोनों पुरुष न मिले हुए, निशानशून्य होने से इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं॥१०॥

आशा है अब आप अवश्य ही मान लेंगे कि ब्रह्म इस संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं है, अपितु प्रकृति उपादानकारण तथा ब्रह्म निमित्तकारण है।

(१६०) प्रश्न—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादि [तैत्ति० ब्रह्म० वल्ली० अनु० १] में वर्णन है कि उस परमात्मा से ही आकाश आदि क्रमशः पैदा हुए। —पृ० २२४, पं० १६

उत्तर—आपने अपनी प्रतिज्ञा-विरुद्ध फिर वेद का प्रमाण न देते हुए उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया। उपनिषद् वेद नहीं है तथापि इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि निमित्तकारण ईश्वर ने उपादानकारण प्रकृति से क्रमशः आकाशादि उत्पन्न किये (विशेष देखो नं० १७)। वेद ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को नित्य तथा भिन्न मानते हैं। जैसेकि—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

—ऋ० १।१६४।२२

भाषार्थ—जिस वृक्ष पर मीठा फल खानेवाले पक्षी रहते हैं और सब सन्तान उत्पन्न करते हैं उसी का ही मीठा फल है, ऐसा कहते हैं। जो आरम्भ में उस अपने पिता को नहीं जानता वह उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता॥२२॥

प्रकृति के जगद्रूपी वृक्ष पर जो मीठे फल लगते हैं उनको जीवात्मागण खाते हैं और उसी वृक्ष पर रहकर सन्तान उत्पन्न करते हैं। इनका पिता परमात्मा है, जो उसको जानते हैं वे बन्धन से छूट जाते हैं, परन्तु जो उसको जानने की परवाह नहीं करते, वे सुख से दूर हो जाते हैं।

इसी बात को व्यासजी कहते हैं कि—

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्। जीर्यते म्रियते चैव चक्षुभिर्लक्षणैर्गतम्॥३०॥
विपरीतमतो यत्तु तदव्यक्तमुदाहृतम्। द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ॥३१॥

—महा० शान्ति० अ० २३६

भाषार्थ—जो पूर्व कही प्रकृति प्रकट है वही पैदा होती, बढ़ती, क्षीण होती और मरती है और आँखों से नज़र आती है॥३०॥ इसके विपरीत जो अव्यक्त कहा गया है वह कारण द्रव्य है। वेदों में सिद्धान्तरूप से वर्णन किया गया है कि आत्मा दो हैं, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा॥३१॥

आशा है कि अब आपका 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' का भ्रम दूर हो जावेगा।

(१६१) प्रश्न—'सर्वे निमेषा जज्ञिरे' इत्यादि [यजुः० ३२।२] इस मन्त्र में कालविभाग और बिजली की उत्पत्ति ब्रह्म से बतलाई है। —पृ० २२४, पं० २४

उत्तर—बिल्कुल ठीक है कि उस निमित्तकारण परमात्मा से काल-विभागादि उत्पन्न हुए। इसमें उपादानकारण प्रकृति का कहाँ निषेध है। इस मन्त्र में ईश्वर की व्यापकता तथा निराकारता का वर्णन है, प्रकृति का निषेध नहीं है (देखो नं० १०६ व ११६)।

वेद प्रकृति को नित्य वर्णन करता है। जैसे—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता। तस्य रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः।

—अथर्व० १०।८।३१

भाषार्थ—निश्चय से अवि=प्रकृति नामक एक देवता=दिव्य गुणयुक्त पदार्थ है जो सदा सत्य नियम से ढकी रहती है, अर्थात् जिसमें सब परिणाम नियमानुसार होते हैं। अथवा सर्वव्यापक परमात्मा से सब ओर से—अन्दर-बाहर से आच्छादित रहती है। अथवा जीव-समुदाय से अपने-अपने अभिलषित भोग की प्राप्ति के लिए घिरी रहती है, गृहीत की जाती है। उसी के रूप से ये हरी मालाओंवाले वृक्ष हरे-भरे रहते हैं।

इसके अनुकूल ही व्यासजी फ़रमाते हैं—

मशकोदम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सदा। अन्योऽन्यमेतौ स्यातां च सम्प्रयोगस्तथा तयोः॥ ३९॥
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा। यथा मत्स्यो जलं चैव सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ॥ ४०॥

—महा० शान्ति० अ० १९४

भाषार्थ—जैसे गूलर के फल में मच्छर हमेशा ही मिले हुए रहते हैं, इसी प्रकार से ही उन दोनों जीव तथा परमात्मा का एक-दूसरे से मेल रहता है॥ ३९॥ वे दोनों प्रकृति से भिन्न हैं, और सदा मिले रहते हैं। जैसे मछली और जल मिले हुए रहते हैं वैसे ही जीव और परमात्मा मिले रहते हैं॥ ४०॥

आशा है अब आप ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानने की ग़लती न करेंगे।

(१६२) प्रश्न—'तदेवाग्निः' इत्यादि [यजुः० ३२। १] इस मन्त्र में अग्नि, आदित्य आदि सबको ही ब्रह्म बतलाया है। —पृ० २२५, पं० ७

उत्तर—इस मन्त्र में एक ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव से अनेक नामों का वर्णन है। यहाँ अग्नि और आदित्य, ये ब्रह्म के नाम हैं, यह बतलाया है। यह नहीं कहा कि अग्नि आदि परमात्मा हैं (देखो नं० १९)। इस मन्त्र में प्रकृति तथा जीव का निषेध क़तई नहीं किया गया। वेद ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को भिन्न-भिन्न और तीनों को अनादि मानता है। जैसे—

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥

—अथर्व० १०। ८। १७

भाषार्थ—जो विद्वान् इस समय, बीच में अथवा पूर्वकाल में पुरातन वेद के जाननेवाले का सब ओर वर्णन करते हैं, वे सब मानो अखण्डनीय, एकरस प्रभु की तथा दूसरे ज्ञानस्वरूप जीव की और त्रिगुणात्मक प्रकृति की पूर्णतया स्तुति करते हैं।

इसी सिद्धान्त का व्यासजी भी प्रतिपादन करते हैं—

परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम्। सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः॥ २२॥
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान्। पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा॥ २३॥
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ। मशकोदम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सह॥ २४॥
इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक् च सह चैव च। तथैव सहितावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ॥ २५॥

—महा० शान्ति० अ० २४८

भाषर्थ—गुणों के देखनेवाले तथा गुणों का यथायोग्य विभाग करनेवाले जीव और ईश्वर दोनों सूक्ष्मों में यह भेद जानना चाहिए॥ २२॥ यहाँ एक तो गुणों अर्थात् कर्मों को करता है तथा एक कर्मों को नहीं करता। ये दोनों प्रकृति से भिन्न हैं और दोनों सदा मिले रहते हैं॥ २३॥ जैसे मछली पानी से भिन्न है, किन्तु पानी तथा मछली मिले रहते हैं। जैसे मच्छर तथा गूलर आपस में साथ मिले रहते हैं॥ २४॥ सरकण्डे की तीली अपने छिलके मुञ्ज में जैसे पृथक् भी है और इकट्ठी भी है, वैसे ही ये दोनों जीव तथा ईश्वर इकट्ठे एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हैं॥ २५॥

कहिए महाराज! अब तो आप ईश्वर को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' न मानेंगे।

(१६३) प्रश्न—'पुरुष एवेदम्' इत्यादि [यजुः० ३१। २] इस मन्त्र में भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सब जगत् को ही ब्रह्म बतलाया है। —पृ० २२५, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र में भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सबको ब्रह्म नहीं कहा गया, अपितु यह बतलाया गया है कि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब जगत् का बनानेवाला परमात्मा है। महीधर ने भी

यही अर्थ किया है कि ईश्वर सबका स्वामी है। इस मन्त्र में प्रकृति तथा जीव की हस्ती का निषेध नहीं, अपितु उनका स्वामी ईश्वर है यह प्रतिपादन किया गया है, जिससे तीनों अनादि सिद्ध होते हैं (मन्त्र का विशेष अर्थ देखें नं० २२)। वेद सब स्थानों में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों को परस्पर भिन्न तथा अनादि मानता है। जैसेकि **'द्वा सुपर्णा सयुजा'** इत्यादि में स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है (देखो नं० १०)। आपका ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानने का सिद्धान्त वेदविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या ही है। वेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए व्यासजी कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

—महा० भीष्म० अ० ३९

इस संसार में दो पुरुष हैं—एक क्षर दूसरा अक्षर। क्षर ये सारे भूत अर्थात् पाँच स्थूल तत्त्व हैं और अक्षर वह है जो प्रकृति में वास करता है॥ १६॥ एक और दूसरा उत्तम पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उनको धारण करता है और स्वयं कभी नाश को प्राप्त नहीं होता॥ १७॥

यहाँ पुरुष से जीव, पुरुषोत्तम से परमात्मा तथा तीन लोक और सब भूतों से स्थूल तथा सूक्ष्म प्रकृति अभीष्ट है। ये तीनों स्वरूप से भिन्न तथा अनादि हैं।

(१६४) प्रश्न—'एकः सुपर्णः' इत्यादि [ऋ० १०।११४।४] इस मन्त्र में समस्त जगत् की प्रलयकाल में ही लीनता बतलाई है। —पृ० २२५, पं० २०

उत्तर—आपका अर्थ क़तई कल्पित है। यह मन्त्र ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता, अपितु जीव का ही प्रतिपादन करता है। इस मन्त्र का देवता, अर्थात् प्रतिपाद्य विषय **'विश्वेदेवाः'** अर्थात् समस्त देवता हैं। ईश्वर केवल एक है, उसे **'विश्वेदेवाः'** नहीं कहा जा सकता; जीव अनन्त हैं अतः उन्हीं का **'विश्वेदेवाः'** से वर्णन किया गया है। फिर मन्त्र का अन्तिम भाग जिसका अर्थ है—**'उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है'** ईश्वर में घटता ही नहीं, क्योंकि ईश्वर तथा प्रकृति का माता-पुत्र का सम्बन्ध नहीं, अपितु स्व-स्वामी-सम्बन्ध है। हाँ, जीव के साथ प्रकृति का माता-पुत्र का सम्बन्ध कहा जा सकता है। यहाँ निश्चित रूप से ईश्वर का वर्णन नहीं अपितु जीवात्मा तथा प्रकृति का वर्णन है—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥

—ऋ० १०।११४।४

भाषार्थ—एक सुपर्ण पक्षी है। वह इस संसार-अन्तरिक्ष के समुद्र में आया है। वह इस सम्पूर्ण संसार को विविध प्रकार से देखता है, इसका मज़ा लेता है। मैंने उसे परिपक्व ज्ञानवाले मन से समीपता से देखा है। मैं देखता हूँ कि उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है॥ ४॥

इस मन्त्र में पक्षी शब्द से जीवात्मा का तथा माता शब्द से प्रकृति का नित्य तथा अनादि होना वर्णन किया है, अतः यह मन्त्र आपके मत का मण्डन नहीं, अपितु खण्डन करता है और वेदान्तशास्त्र भी प्रकृति तथा जीव की हस्ती को स्वीकार करता है। जैसे—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। —वेदान्त० १।४।२३
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। —वेदान्त० १।२।११

भाषार्थ—प्रतिज्ञा और दृष्टान्त में रुकावट न पाये जाने से प्रकृति भी जगत् का कारण है। ब्रह्म से भिन्न जगत् का कोई उपादानकारण मानने पर ही प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त ठीक रह सकते हैं। इसलिए प्रकृति भी जगत् का कारण है यह अभिप्राय है॥ २३॥ अन्तःकरणरूप गुहा में दो आत्मा हैं, क्योंकि श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है। अन्तःकरणरूपी गुहा में जीव और ईश्वर दोनों को विराजमान करके भिन्न वर्णन किया है, यह अभिप्राय है॥ ११॥

अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्म संसार का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं है, अपितु प्रकृति उपादानकारण और परमात्मा संसार का निमित्तकारण है।

(१६५) प्रश्न—'स वै नैव रेमे' इत्यादि [शत० १४।४।२।४] में लिखा है कि आदि में केवल ब्रह्म ही अकेला था। —पृ० २२६, पं० ३

उत्तर—आपनेअपनी प्रतिज्ञानुसार यहाँ भी वेद का प्रमाण न देकर शतपथ का प्रमाण दिया है जोकि वेदानुकूल होने से ही प्रमाणित हो सकता है अन्यथा नहीं। शतपथ का भी आपने पूरा पाठ नहीं दिया, आधा चुरा लिया है। शतपथ का पूरा पाठ भी हमारे सिद्धान्त की पुष्टि करता है। यहाँ पर हम पूरा पाठ और वेदानुकूल यथार्थ अर्थ देते हैं—

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्
स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ॥ ४॥

—शत० १४।४।२।४

भाषार्थ—उसने सृष्टि-रचनारूप क्रीड़ा नहीं की, क्योंकि अकेला सृष्टि-रचनारूप क्रीड़ा नहीं कर सकता। उसने दूसरे (प्रकृतिरूप उपादान) की इच्छा की। वह सृष्टि के आरम्भ में (प्रकृतिसहित) इस प्रकार का था जैसे स्त्री-पुरुष आपस में मिले हुए होते हैं॥ ४॥

कैसा साफ़ लेख है कि जैसे स्त्री-पुरुष की अर्द्धाङ्गी कहाती है और दोनों का मिला हुआ एक शरीर माना जाता है वैसे ही पुरुष की भाँति परमात्मा भी अकेला रचना नहीं कर सकता, रचना के लिए उसे भी प्रकृति की इच्छा रहती है, अतः परमात्मा भी प्रकृतिसहित ऐसा ही एक शरीर माना जाता है, जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए।

कहिए महाराज! इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि अकेला ब्रह्म ही सृष्टि का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' है, जबकि स्पष्ट लिखा है कि वह प्रकृति के बिना अकेला रचना कर ही नहीं सकता। देखिए, वेद क्या कहता है—

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽ पचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥

—अथर्व० ४।३५।१

भाषार्थ—सत्य के प्रथम प्रवर्तक प्रजापति ने अपने ज्ञान से जिस प्रकृतिरूप ओदन को जीव के लिए कार्य में परिणत किया, जो लोगों का विशेष धारणकर्त्ता और जो सबका केन्द्र है, उसकी उस प्रकृति के ज्ञान से मैं भी मृत्यु के पार हो जाऊँ॥ १॥

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकृति को संसार का उपादानकारण माना है। वेदान्तसूत्र भी ब्रह्म को संसार का उपादानकारण नहीं मानता, जैसे—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा॥ २६॥ —वे० २।१।२६

भाषार्थ—जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर उसके सारे देश में परिणाम की आपत्ति और निरवयव प्रतिपादक शास्त्र का विरोध होगा॥ २६॥

स्वपक्षदोषाच्च॥ २९॥—वेदान्त० २।१।२९

भाषार्थ—और मायावादियों के पक्ष में दोष पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं। मायावादियों के मत में यह दोष आता है कि निराकार ब्रह्म जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' कैसे बन गया, क्योंकि उक्त कारण में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता, इसलिए मायावादियों का उक्त कथन आदरणीय नहीं है॥ २९॥

(१६६) प्रश्न—'यस्मिन् सर्वाणि' इत्यादि [यजुः० ४०।७]। इसमें वर्णन है कि यह समस्त प्रपञ्च आत्मा ही है। —पृ० २२६, पं० ७

उत्तर—इस मन्त्र में प्रपञ्च अर्थ का कहनेवाला कोई शब्द नहीं है तथा इस मन्त्र से पूर्व के तथा पीछे के सारे मन्त्र ईश्वर, जीव, प्रकृति को भिन्न-भिन्न तथा नित्य वर्णन कर रहे हैं। आपने इस मन्त्र का मनमाना, प्रकरणविरुद्ध अर्थ किया है। देखिए, प्रकरणानुसार ठीक अर्थ इस प्रकार है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ ६॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥
स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

—यजुः० ४०।६-८।

भाषार्थ—जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, तब वह संशय में नहीं पड़ता॥ ६॥ जिस ज्ञानी की दृष्टि में सब प्राणी अपने समान हैं, उस एक-सा देखनेवाले में शोक और मोह क्या?॥ ७॥ वह परमात्मा व्यापक, शीघ्रकारी, शरीररहित, व्रणशून्य, नस-नाड़ी-बन्धन से रहित, शुद्ध, पापशून्य, सर्वज्ञ, मन का ज्ञाता, श्रेष्ठ तथा नित्य है। उस परमात्मा ने अपनी नित्य प्रजा—जीवों के लिए अनेक प्रकार के पदार्थों को रचा है॥ ८॥

कहिए, प्रकरण में ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों का वर्णन मौजूद है या नहीं? फिर केवल एक मन्त्र का प्रकरण के विरुद्ध मनमाना अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करना ईमानदारी नहीं है। देखिए, वेदान्तशास्त्र भी इस जगत् को आत्मा का प्रपञ्च नहीं कहता। जैसे—

आत्मकृतेः परिणामात्। —वेदान्त० १।४।२६

भाषार्थ—परमात्मा के यत्न तथा जगद्रूप परिणाम के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। परमात्मा के यत्न और प्रकृति के परिणाम से यह जगत् उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति को परिणामी, उपादानकारण और ब्रह्म को कूटस्थ, नित्य होने से केवल निमित्तकारण वर्णन किया गया है॥ २६॥

इससे सिद्ध है कि संसार का उपादानकारण प्रकृति तथा निमित्तकारण परमात्मा है। यही मत वेदशास्त्रसम्मत है।

(१६७) प्रश्न—ब्रह्म ही समस्त प्रपञ्च का उपादानकारण है, इसको वेदों की सैकड़ों श्रुतियाँ कह रही हैं। यह इतना अकाट्य विषय है कि किसी का हिलाया नहीं हिलता।

—पृ० २२६, पं० १२

उत्तर—यह संसार प्रपञ्च नहीं है अपितु वास्तविक है। इसका उपादानकारण प्रकृति तथा निमित्तकारण ब्रह्म है। इस बात को समस्त वेद अनेक मन्त्रों द्वारा वर्णन करते हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो ब्रह्म को इस जगत् का उपादानकारण वर्णन करता हो। प्रपञ्चरूपी विषय इतना वेदविरुद्ध और युक्तिशून्य है कि इसको एक साधारण बुद्धि का मनुष्य भी युक्ति और दलीलों से चीर-चीर कर सकता है। वास्तव में यह गुप्त नास्तिक मत है और संसार को पाप-

सागर में डुबोने के लिए कल्पित किया गया है। मनुष्य अपने-आपको निर्लेप ब्रह्म मानकर इन्द्रियों के विषय-विकारों को झूठा बतलाकर खूब मद्यपान, मांसाहार, पर-स्त्रीगमन आदि कुकर्म इस मायावाद की ओट में करते हैं। यह बात हम ही नहीं कहते अपितु महादेवजी स्वयं पार्वती के सामने इस प्रकार से वर्णन करते हैं कि—

अतएव पद्मपुराणे ब्रह्मयोगदर्शनातिरिक्तानां दर्शनानां निन्दाप्युपपद्यते। यथा तत्र पार्वतीं प्रतीश्वरवाक्यम्—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥ १॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितम्। कर्म स्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥ २॥
सर्वकर्म परिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते। परात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥ ३॥
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितं मया। सर्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौ युगे॥ ४॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्। मयैव कथितं देवि! जगतां नाशकारणात्॥ ५॥

[सांख्यदर्शनम्। विज्ञानभिक्षुविरचितभाष्यसहितम्। पण्डितकुलपतिना बी०ए० उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण संस्कृतं च प्रकाशितं द्वितीयसंस्करणं कलिकातानगरे सरस्वती यन्त्रे मुद्रितम्। ई० १८९३]—भूमिकायां पृ० ५-६ [कुछ पाठभेद से पद्मपुराण उ० खण्ड २३६।७-११—सं०]

भावार्थ—इसलिए पद्मपुराण में ब्रह्मयोगदर्शन को छोड़कर अन्य दर्शनों की निन्दा भी गई है, जैसे वहाँ पार्वती के प्रति शिव का वाक्य है—

मायावाद झूठा शास्त्र है और वह गुप्त बौद्धमत है। हे देवि! वह ब्राह्मण का रूपधारण करके मैंने ही कथन किया है॥ १॥ उसमें संसार से निन्दित श्रुतिवाक्यों का झूठा अर्थ और कर्मस्वरूप का त्यागभाव प्रतिपादन किया है॥ २॥ सब कर्मों से भ्रष्ट होकर निकम्मेपन का उसमें उपदेश किया गया है। परमात्मा तथा जीवात्मा का एक होना मैंने इसमें प्रतिपादन किया है॥ ३॥ मैंने उसमें ब्रह्म का परमरूप निर्गुणता दिखाया है। यह काम मैंने कलियुग में सारे जगत् को नाश करने के लिए किया है॥ ४॥ वेदों के अर्थ-जैसा मायावाद का महाशास्त्र वास्तव में वेदविरुद्ध है। हे देवि! जगत् को नष्ट करने के लिए यह उपदेश मैंने ही किया है॥ ५॥

कहिए महाराज! अब तो हमारे कथन में सन्देह की गुंजाइश नहीं है? आपके घर से ही आपके 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' का ज़बरदस्त खण्डन निकल आया। अब माथे पर हाथ रखकर इन पुराणों की जान को रोवो तथा यह शे'र भी पढ़ते जावो कि—

'इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से'

(१६८) प्रश्न—यहाँ पर **'नासदासीत्'** प्रभृति सैकड़ों मन्त्र जो अद्वैत का प्रतिपादन करते थे, वे तो छिपा लिये गये और **'द्वा सुपर्णा'** इस एकमन्त्र को लेकर द्वैत का प्रतिपादन कर दिया।

—पृ० २३१, पं० १९

उत्तर—आपने सत्यार्थप्रकाश का वह प्रकरण अपनी पुस्तक में उद्धृत तो किया किन्तु विवेचन करते समय तारे नज़र आने लगे। ज़रा स्वामीजी के प्रमाण और युक्तियों की विवेचना तो की होती! किन्तु स्वामीजी के लेख का उत्तर देना कोई 'खालाजी का घर' थोड़ा ही है। हमने यह सिद्ध कर दिया कि **'नासदासीत्'** इत्यादि सूक्त के सात मन्त्र समष्टिरूप से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों सत्ताओं को भिन्न-भिन्न तथा अनादि मानते हैं। और **'द्वा सुपर्णा'** पर तो आपकी लेखनी ही टूट गई। इसपर कुछ लिखने का तो आप साहस ही न कर सके। आप ये भूल करते हैं कि वेद में दोनों प्रकार के मन्त्र हैं। यदि वेद द्वैत तथा अद्वैत दोनों का ही प्रतिपादन करें तो

न्याय के—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। —न्याय० २।१।५८

अर्थ—जिस ग्रन्थ में झूठ, परस्पर-विरोध तथा पुनरुक्ति हो वह ग्रन्थ प्रमाण के योग्य नहीं होता।

इस सूत्रानुसार वेद प्रमाण के योग्य ही न रहेंगे, अतः हम इस बात की डंके की चोट घोषणा करते हैं कि वेदों में एक मन्त्र भी ऐसा नहीं है जो ब्रह्म को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' वर्णन करता हो, और '**द्वा सुपर्णा**' इत्यादि अनेक मन्त्र विद्यमान हैं जो प्रकृति को जगत् का उपादानकारण, ब्रह्म को निमित्तकारण तथा जीव को साधारणकारण वर्णन करते हुए तीनों को भिन्न तथा अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहनेवाला मानते हैं, अतः आपकी कल्पना सर्वथा वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

(१६९) प्रश्न—वेदान्तदर्शन को तो छिपा लिया और सांख्य दिखला दिया।

—पृ० २३१, पं० २१

उत्तर—हम यह दिखला चुके हैं कि वेदान्त भी प्रकृति को जगत् का उपादानकारण तथा ब्रह्म को निमित्तकारण मानता है, अतः वेदान्त और सांख्य में विरोध नहीं है अपितु दोनों ही वैदिक सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। हाँ, यदि आपके विचार से दोनों में विरोध है तो आप स्पष्टरूप से घोषणा क्यों नहीं करते कि सांख्य का मत वेदविरुद्ध है? यदि सांख्य भी वेदानुकूल है तो आपकी यह शिकायत व्यर्थ है कि स्वामीजी ने वेदान्त को छिपाकर सांख्य दिखला दिया। हर हालत में स्वामीजी ने आपके विचार-अनुसार भी सांख्य को दिखाते हुए वैदिक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।

(१७०) प्रश्न—'न्यायशास्त्र परमाणुओं को नित्य मानता है और सांख्य प्रकृति-पुरुष इन दो को'—इस झगड़े का भी स्वामी दयानन्दजी फैसला न कर सके। —पृ० २३२, पं० ७

उत्तर—जहाँ न्याय परमाणुओं को नित्य मानता है वहाँ जीव तथा ब्रह्म दोनों का ही आत्मा शब्द से प्रतिपादन करता है। परमाणु तथा प्रकृति दो वस्तु नहीं है। जहाँ पर न्यायशास्त्र, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी के परमाणु तथा आकाश को विभू कहकर पाँच तत्त्वों का वर्णन करता है वहाँ सांख्य इन्हीं पाँच तत्त्वों को पञ्चतन्मात्रा कहकर इनकी समष्टि को प्रकृति कह देता है और सांख्य 'पुरुष' शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन करता है, जैसे—

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः। —सांख्य० ६।४५

भाषार्थ—यह निश्चय है कि जीव बहुत हैं।

इससे जीवों का तथा—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। —सांख्य० ५।११६

अर्थ—जीव को समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव होता है।

इससे परमात्मा का प्रतिपादन करता है। सारांश यह कि न्याय और सांख्य दोनों ही ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अनादि तथा जगत् का कारण मानते हैं, अतः दोनों में विरोध नहीं है अपितु दोनों वैदिक सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं और यही स्वामी दयानन्दजी का फ़ैसला है।

(१७१) प्रश्न—सांख्य प्रकृति, पुरुष दो को और वेदान्त केवल ब्रह्म को मानता है। सनातन धर्म के सम्प्रदाय में भी दो भेद हैं। शंकर अद्वैत और भगवान् माधव द्वैत मानते हैं। इसी प्रकार वेद '**एकः सुपर्णः**' इस मन्त्र से अद्वैत और '**द्वा सुपर्णा**' इस मन्त्र में द्वैत कह रहा है। तो क्या अब हम वेदान्तदर्शन, जगद्गुरु शंकराचार्य का सिद्धान्त और अद्वैत बतलानेवाले वेदमन्त्र इन सबको

मिथ्या कहकर जान बचाते हुए धर्मनिर्णय पर धूल डाल दें? —पृ० २३२, पं० ११

उत्तर—सांख्य प्रकृति को मानता हुआ पुरुष शब्द से ईश्वर तथा जीव को भी अनादि मानता है तथा वेदान्त '**प्रकृतिश्च**' तथा '**गुहां प्रविष्टावात्मानौ**' इन दोनों सूत्रों में ईश्वर, जीव, प्रकृति को अनादि मानता है (देखो नं० १६४)। और मोक्ष में भी जीव को—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च। —वेदान्त० ४।४।२१

अर्थात् मोक्ष में जीव केवल आनन्द भोगने में ईश्वर के सदृश होता है, सत्ता उसकी भिन्न ही रहती है।

इस सूत्र से वेदान्त जीव का ब्रह्म में लय होना नहीं मानता, अतः सांख्य और वेदान्त में विरोध नहीं है, अपितु दोनों ही वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। और '**एकः सुपर्णः**।' यह वेदमन्त्र ब्रह्म का वर्णन नहीं करता अपितु जीव का प्रतिपादन करता है (देखो नं० १६४)।

रही सनातनधर्म की बात, यह तो चूँ-चूँ का मुरब्बा है। इसमें सब बादी, बलग़म समा जाती है। जब मांसाहारी भी सनातनधर्मी और अनामिषभोजी भी सनातनधर्म्मी, शराबी भी सनातनी, मद्यत्यागी भी सनातनी, ब्रह्मचारी भी सनातनी, रण्डीबाज़ भी सनातनी, राम और कृष्ण भी सनातनी, रावण और कंस भी सनातनी, अद्वैतवादी शंकर भी सनातनी, तथा द्वैतवादी माधव भी सनातनी, तो ऐसी सूरत में इस सनातनधर्म की आप कब तक खैर मनावेंगे? दो किश्तियों में सवार होनेवाले की भाँति सनातनधर्म यदि आज नहीं तो कल भी नहीं। इसकी जान बचाने के खयाल को बालाये-ताक़ रखकर आप इसकी कफ़न-काठी का प्रबन्ध करें। यह तपेदिक इसके प्राण लेकर ही छोड़ेगा। रही वेदशास्त्र की बात, सो न तो वेद का कोई मन्त्र ब्रह्म को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' वर्णन करता है और न ही वेदान्तदर्शन ऐसा मानता है। ऐसी सूरत में विरोधभण्डार सनातनधर्म के धर्मनिर्णय पर तो धूल पड़ ही चुकी, अब यह धूल वेदशास्त्रों पर डालने की कृपा न करें।

(१७२) प्रश्न—विश्व का उपादानकारण ब्रह्म है। जिस प्रकार घट मिट्टी से उत्पन्न होकर मिट्टी में ही लय होता है, इसी प्रकार यह समस्त विश्व प्रलय के पश्चात् ब्रह्म से उद्भूत होकर फिर प्रलय होने के अवसर पर ब्रह्म में मिल जाता है। यह बात सत्य है और इसी का नाम पारमार्थिक सत्ता है। —पृ० २३२, पं० २३

उत्तर—विश्व का उपादानकारण ब्रह्म नहीं अपितु प्रकृति है। जैसे घट मिट्टी से उत्पन्न होकर मिट्टी में ही लय होता है, वैसे ही यह समस्त विश्व प्रकृति से पैदा होकर प्रकृति में ही लय हो जाता है। ब्रह्म निमित्तकारण है, क्योंकि जैसे घट में मिट्टी के जड़त्व आदि गुण मौजूद होते हैं, वैसे समस्त विश्व में चैतन्यता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, आनन्दस्वरूपता आदि गुण विद्यमान नहीं हैं, अतः प्रकृति के उपादानकारण होने की बात सत्य तथा ब्रह्म के उपादानकारण होने की बात मिथ्या है। इस कारण इसका नाम पारमार्थिकता नहीं अपितु मिथ्यार्थिकता है।

(१७३) प्रश्न—संसार का व्यवहार चलाने के लिए हमको मिट्टी से भिन्न घट, हाँडी, नाँद, श्राव मानने होंगे, ऐसा न मानें तो पारमार्थिक सत्ता सत्य रहने पर भी व्यवहार नहीं चलता तथा उपास्य-उपासकभाव नहीं बनता। सत्ता का व्यवहार चलाने और जीव को अपवर्ग-पद पर पहुँचाने के लिए व्यावहारिक सत्ता का मानना आवश्यकीय है। —पृ० २३३, पं० ७

उत्तर—संसार का व्यवहार भी सचाई से ही चलता है, मिथ्या कल्पनाओं से नहीं। जब हम यथार्थरूप से यह मान लेंगे कि घट, हाँडी, नाँद, श्राव आदि मिट्टी उपादानकारण के कार्यरूप हैं तो हमें इनको मिट्टी से भिन्न मानने की आवश्यकता ही न रहेगी, और यदि भिन्न मानेंगे तो वह मिथ्या ज्ञान होगा जो हमारे व्यवहार में मिथ्यात्व पैदा कर देगा तथा हम घट आदि को मिट्टी से भिन्न स्वर्ण आदि मानकर व्यवहार में धोखा खावेंगे। वास्तविक बात के मानने से उपास्य-

उपासकभाव भी नहीं बिगड़ेगा, क्योंकि जीव जानता है कि मैं अनादि होने पर भी अल्पज्ञ-अल्पबल होने से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु का उपासक हूँ। स्वयं ब्रह्म होने का मिथ्या ज्ञान होने पर न वह ब्रह्म को उपास्य मानेगा और न उसे अपवर्ग-पद पर पहुँचने की आवश्यकता अनुभव होगी, क्योंकि वह जानता है कि जब मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, स्वयं मोक्षस्वरूप हूँ तो उपासना की क्या आवश्यकता है, अतः संसार का व्यवहार चलाने के लिए भी यथार्थ ज्ञान ही उपयोगी हो सकता है, मिथ्या ज्ञान नहीं।

(१७४) प्रश्न—वेद ने **'नासदासीत्'** प्रभृति मन्त्रों में पारमार्थिक सत्ता और **'द्वा सुपर्णा'** मन्त्र में व्यावहारिक सत्ता दिखलाई है। —पृ० २३३, पं० २३

उत्तर—आपके लेख से सिद्ध है कि ईश्वर मिथ्याज्ञान का उपदेश भी करता है। क्या ऐसा करनेवाला ईश्वर कहलाने का अधिकारी हो सकता है? चक्कर में न पड़िएगा। वेद का अटल सिद्धान्त है कि संसार का उपादानकारण प्रकृति, निमित्तकारण ईश्वर तथा साधारणकारण जीव है। तीनों स्वरूप से भिन्न, व्याप्य-व्यापकभाव से एक हैं और अनादिकाल से अनन्तकाल तक विद्यमान रहेंगे। यही पारमार्थिक सत्ता है और इसी का **'नासदासीत्'** तथा **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि मन्त्रों ने वर्णन किया है। यही व्यावहारिक सत्ता भी है। ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होना न कभी पारमार्थिक सत्ता हुई, न है, न होगी और न ही इसका किसी भी वेदमन्त्र ने वर्णन किया है, न ही इसके व्यवहार में आने से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। हाँ, इस सिद्धान्त के माननेवालों को गरुडपुराण ने मूर्ख बताया है, जैसाकि—

एक एव हरिः पूर्वं ह्यविद्यावशतः स्वयम्।
अनेको भवति ह्यारादादर्शप्रतिबिम्बवत्॥ १८॥
एवं वदन्ति ये मूढास्तेऽपि यान्त्यधरं तमः॥ १९॥ —गरुड० उत्तर० ब्रह्म० अ० २

भाषार्थ—पहले एक ही ब्रह्म था फिर वह स्वयं अविद्या के कारण अनेक हो गया जैसेकि अनेक दर्पणों में एक सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब हो जाते हैं॥ १८॥ जो मूढ लोग ऐसा कहते हैं वे भी अत्यन्त नीच गति को प्राप्त होते हैं॥ १९॥

कहिए महाराज! अब वैदिक सिद्धान्त को मानकर उच्च गति को प्राप्त करने की इच्छा है या इसी नीच गति में ही पड़कर सड़ने का इरादा है?

सृष्टि

(१७५) प्रश्न—वेद ने यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में सृष्टि कही है, किन्तु क्रमशः न कही। —पं० २३३, पं० २६

उत्तर—ठीक है महाराज! ईश्वर ने तो क्रमशः नहीं कही, अब आप कहेंगे। आप ईश्वर के दादागुरु जो हुए! यदि आप ही ईश्वर की ग़लतियाँ न निकालें तो और कौन निकालेगा? अच्छा तो अब आप ही क्रमशः वर्णन कीजिए।

(१७६) प्रश्न—**'स वै नैव रेमे तस्माद्'** इत्यादि [शत० १४।४।२।४ से १०] में क्रमशः सृष्टि की पैदाइश लिखी है कि ईश्वर बहुत स्थूल पैदा हुआ, फिर अपने दो हिस्से करके पति-पत्नी बन गया। उससे मनुष्य पैदा हुए। स्त्री लज्जा की मारी गौ, घोड़ी, गधी, बकरी, भेड़, चींटी आदि बनती गई तथा पुरुष भी क्रमशः बैल, घोड़ा, गधा, बकरा, भेड़, च्यूँटी आदि बनकर सन्तान पैदा करता गया। इस प्रकार सारी सृष्टि पैदा हुई। —पृ० २३४, पं० २

उत्तर—धन्य हो महाराज! अब आप सृष्टि का क्रमशः वर्णन करने लगे हैं। प्रथम तो वेद का नाम लिखकर शतपथ का पाठ नकल कर दिया। धर्म से बतलाइए क्या शतपथ वेद है? यदि

नहीं तो वेद के नाम से शतपथ का पाठ लिखना कहाँ की ईमानदारी है और फिर शतपथ का भी पाठ पूरा नहीं लिखा, बीच में से वाक्य-के-वाक्य चुरा गये! फिर अर्थ करने में तो ईमानदारी का दिवाला ही निकाल दिया! 'वह बहुत स्थूल हुआ', 'उसने अपने स्थूल शरीर के', 'वह लज्जा की मारी' इत्यादि, इस पाठ में से किन वाक्यों का अर्थ है? यह भी पता नहीं लगा कि इस पाठ के देने से आपका प्रयोजन क्या है, क्योंकि यह सारा ही पाठ आपके सिद्धान्त का खण्डन तथा स्वामीजी के सिद्धान्त का मण्डन करता है। लीजिए, हम पूरा पाठ तथा उसका वेदानुकूल अर्थ नीचे देते हैं—

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ॥ ४॥ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳसमभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥५॥ सो हेयमीक्षां चक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति॥६॥ सा गौरभवत्। वृषभ इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततो गावो अजायन्त॥७॥ वडवेतराभवत्। अश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳसमेवाभवत्तत एकशफमजायत॥८॥ अजेतराभवत्। वस्त इतरोऽविरितरो मेष इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किं च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत॥९॥ सोऽवेत्। अहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳहीदꣳसर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳहास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥१०॥

भाषार्थ—वह निश्चय रचनारूप क्रीडा न कर सका, इस कारण से कि अकेला रचना न कर सकता था। उसने दूसरे को चाहा, वह ऐसा था जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए इकट्ठे॥४॥ उसने जीवात्माओं को दो हिस्सों में विभाजित किया, उससे पति-पत्नियाँ हुईं। 'यह पुरुष [विवाह से पूर्व] आधी सीप के समान था' ऐसा याज्ञवल्क्य का कथन है। इसलिए यह आकाश स्त्री से पूर्ण किया जाता है। उससे संगम किया, उससे मनुष्य पैदा हुए॥५॥ उसने यह इच्छा की कैसे मैं जीवात्माओं को पैदा करके सृष्टि उत्पन्न करूँ, मैं गुप्त ही रहूँ॥६॥ वे गौवें हुईं, वे बैल हुए, दोनों आपस में मिले, उनसे गाय-बैल पैदा हुए॥७॥ बडवा अलग हुई। घोड़े-बैल अलग पैदा हुए। गधी अलग हुई, गधा पृथक् हुआ। वे आपस में मिले इससे एक खुरवाले पैदा हुए॥८॥ बकरियाँ अलग पैदा हुईं। भेड़ें अलग हुईं, भेड़े अलग हुए, बकरे अलग। वे आपस में मिले। उससे बकरी, भेड़ पैदा हुए, ऐसे ही यह जो कुछ जोड़े कीड़ियों तक हैं वे सब पैदा किये॥९॥ उसने जाना मैं ही पैदा करनेवाला हूँ। यह सब-कुछ पैदा किया उससे सृष्टि हुई और निश्चय वह इस सृष्टि में ही है, जो इस प्रकार से जानता है॥१०॥

बतलाइए, इसमें आपकी वर्णन की हुई आँख-मिचौनी कहाँ है? आपने लिखा कि वेद ने सृष्टि क्रमशः नहीं कही। यहाँ चाँद, सूरज, सितारे, पृथिवी, जलवायु, अग्नि की पैदाइश का वर्णन ही नहीं है। क्या इनके बिना ही यह भेड़-बकरी आदि के जोड़े पैदा हो गये? इससे तो हज़ार दर्जा बेहतर यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। आप कृपया इस लेख में कोई ऐसी बात तो बतलावें जो यजुर्वेद में न हो और यह भी बतलाने की कृपा करें कि वह इसमें कौन-सी बात है जो आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध तथा आपके अनुकूल है? यदि नहीं तो वेद को छोड़कर शतपथ का प्रमाण देना निरर्थक है।

(१७७) प्रश्न—'मनुष्या ऋषयश्च ये' वेद में यह कोई मन्त्र ही नहीं। स्वामीजी ने ताज़ा बनाकर तैयार किया है। —पृ० २३५, पं० १२

उत्तर—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने **'मनुष्या ऋषयश्च ये'**—यह पाठ लिखकर यजुर्वेद

के अध्याय तथा मन्त्र का ठिकाना नहीं लिखा अपितु '**यह यजुर्वेद में लिखा है**' ऐसा पाठ है। प्रायः स्वामीजी के ग्रन्थों की शैली इस प्रकार की है कि जहाँ वे वेद का पाठ वेद के शब्दों में देते हैं वहाँ वह अध्याय, मण्डल, सूक्त तथा मन्त्र का नम्बर भी साथ में देते हैं और जहाँ वे वेद के अभिप्राय को अपने शब्दों में रखना चाहते हैं वहाँ वे '**यह वेद का वचन है**' '**वेद कहता है**' '**यह वेद में लिखा है**' ऐसा कहकर वेद-अभिप्राय को अपने शब्दों में लिख देते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि वेद का पूरा पाठ देने से पुस्तक बढ़ न जाए। यहाँ पर भी ऐसी ही बात है। यजुर्वेद के अध्याय ३१ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। स्वामीजी ने सारा अध्याय न देकर उसका सारांश अपने शब्दों में रख दिया है। वैसे यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र ९ में यह पाठ मौजूद है कि '**साध्या ऋषयश्च ये**', अब स्वामीजी के तथा वेद के पाठ में यह अन्तर है कि जहाँ वेद में '**साध्याः**' पाठ है वहाँ स्वामीजी के लेख में '**मनुष्याः**' लिखा गया है। यहाँ केवल शब्दों का अन्तर है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का अर्थ एक ही है। महीधर ने '**ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः**', 'जो सन्तान पैदा करने के योग्य प्रजापति आदि' ऐसा अर्थ किया है, अतः यहाँ पर स्वामीजी का और वेद का अभिप्राय एक ही है। यह शैली केवल स्वामीजी की ही नहीं है अपितु '**भावप्रधाना आचार्या भवन्ति**' सब आचार्य भावप्रधान होते हैं, अर्थात् सब आचार्यों की यह शैली है कि वे ग्रन्थों के भाव का अपने शब्दों में वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ आप वेदव्यासजी को लेवें, वे महाभारत आदिपर्व[1] अध्याय १०४, श्लोक ६ में नियोग की व्यवस्था करते हुए लिखते हैं कि '**पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्**' अर्थात् नियोग से पैदा हुआ पुत्र विवाहित पति का ही कहाता है—यह वेदों में निश्चित है। यहाँ व्यासजी ने वेद के अभिप्राय को अपने शब्दों में वर्णन किया है। वरना अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त ३, मन्त्र २ में '**हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदम्**' यह पाठ है। '**पाणिग्रहास्य**' यह पाठ बिल्कुल '**हस्तग्राभस्य**' का अनुवाद है। इससे व्यासजी की नीयत पर शक नहीं किया जा सकता। ऐसे ही स्वामीजी का पाठ '**मनुष्या ऋषश्च ये**' भी '**साध्या ऋषयश्च ये**' का अनुवाद ही है। इससे स्वामीजी की नीयत पर शक नहीं किया जा सकता। यदि आपको ताज़े बने हुए मन्त्रों के देखने का शौक हो तो निम्न मन्त्रों की पड़ताल करके बतलाएँ कि ये मन्त्र कौन-से वेद के हैं या व्यासजी ने ताज़ा बनाकर रखे हैं—

अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते॥ ७॥

—महा० अनुशा० अ० १९

पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः॥ १७॥

—महा० शान्ति० अ० २६६

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः॥ २७॥

—महा० शान्ति० अ० ९०

वचनं सामवेदोक्तं सन्तो जानन्ति सर्वतः॥ १०४॥
सूर्य्याद्धि जायते तोयं तोयात्सस्यानि शाखिनः॥ १०६॥

—ब्रह्मवैवर्त० खण्ड ४ अ० २७

मन्त्रस्तु सामवेदोक्तोऽयातयामः सबीजकः।
ओम् श्री दुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नम इति॥ ८॥

—ब्रह्मवैवर्त० खण्ड ४ अ० २७

१. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक नहीं है। पूना-संस्करण में ९८।५ पर उपलब्ध है। —सं०

'ओम् सर्वेश्वरेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहेति' अयं मन्त्रो महागूढ़: सर्वेषां कल्पपादप:। सामवेदे च कथित: सिद्धानां सर्वसिद्धिद:॥ ३७॥

—ब्रह्मवैवर्त०ख० ४ अ० ७८

आशा है आचार्यों की यह शैली आपकी समझ में आ जावेगी।

(१७८) प्रश्न—'ततो मनुष्या अजायन्त' यह शतपथ की श्रुति का टुकड़ा है। इसको यजुर्वेद के नाम से लिखा है। —पृ० २३५, पं० १३

उत्तर—प्रथम तो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि 'यह यजुर्वेद के ब्राह्मण में लिखा है' और शतपथ ही यजुर्वेद का ब्राह्मण है।

दूसरे, यदि यजुर्वेद का ही लिखा हो तो क्या हानि है, क्योंकि स्वामीजी ने यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय का अभिप्राय अपने शब्दों में वर्णन कर दिया है और यह आचार्यों की शैली है (नं० १७७)। तीसरे, आप तो शतपथ को यजुर्वेद ही मानते हैं, आपको एतराज़ करने का क्या अधिकार है कि यह वेद का पाठ नहीं है?

(१७९) प्रश्न—जवान-जवान मनुष्य, स्त्रियाँ, घोड़े, घोड़ियाँ, भैंस और भैंसे प्रभृति सब सृष्टि जवान-जवान पैदा हुई। नहीं मालूम ये निराकार के जवान-जवान जोड़े किसी के घर से भागे या आसमान से टपके। इनकी पैदाइश कैसे हुई? —पृ० २३५, पं० १८

उत्तर—अमैथुनीसृष्टि में सब प्राणी-माँ-बाप के बिना पैदा होते हैं यह सिद्धान्त निर्विवाद है। अब सवाल यह है कि वे प्राणी किस अवस्था में पैदा होते हैं। इसपर स्वामीजी लिखते हैं कि 'आदिसृष्टि में मनुष्य आदि की सृष्टि युवावस्था में हुई, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती। इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है।' इसमें स्वामीजी ने जो सृष्टि के युवावस्था में उत्पन्न होने में युक्ति दी है, आप उसपर एक अक्षर भी नहीं लिख सके। स्वामीजी का यह लेख निराधार नहीं है, अपितु वेद के आधार पर है। देखिए, वेद क्या कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधु: सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्नि: सुदिना मरुद्भ्य:॥

—ऋ० ५।६०।५

भाषार्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न मनुष्य ज्येष्ठता-कनिष्ठतारहित होते हैं। ये भाई कल्याण के लिए एक-से बढ़ते हैं। सदा जवान, सदा श्रेष्ठकर्मा, पापियों को रुलानेवाला शक्तिशाली प्रभु इनका पिता है और उद्यमी मनुष्यों के लिए सुकाल उपस्थित करनेवाली प्रकृति अथवा पृथिवी सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाली होती है॥ ५॥

वेद ने कैसे स्पष्ट शब्दों में सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों की युवावस्था वर्णन की है!

अपने भी जो **'स नैव रेमे'** के अर्थ में पति-पत्नी, गौ-बैल, घोड़ा-घोड़ी, भेड़ा-भेड़ी, बकरा-बकरी आदि के जोड़े पैदा हुए लिखकर उनके मैथुन से फिर मनुष्य, गौवें, भेड़, बकरी आदि का पैदा होना लिखा है, उन जोड़ों की उस समय क्या आयु थी? यदि वे जोड़े बालक वा बूढ़े थे तो उन्होंने मैथुन करके सन्तान कैसे पैदा की। निराकार परमेश्वर के तो जवान जोड़े प्रकृति के घर से निकल पड़े, किन्तु आपके निर्गुण ब्रह्म के ये मनुष्य से कीड़ी तक मैथुन करके सन्तान पैदा करनेवाले नौजवान जोड़े कहाँ से टपक पड़े? 'छाज तो बोले छलनी क्या बोले जिसमें सत्तर छेद'! पौराणिक भी जवान पैदा होने में शक कर सकते हैं, जिनके सरस्वती नौजवान पैदा हुई

जिसको देखकर ब्रह्माजी विवश हो गये! पार्वती ने गणेश को जवान पैदा किया जिसने ब्रह्म की दाढ़ी उखेड़ी, विष्णु को डण्डे से पीटा तथा महादेव से युद्ध किया! वसिष्ठ की गौ के शरीर से नौजवानों की फ़ौज पैदा हुई, जिसने विश्वामित्र से लड़ाई की! दक्ष के यज्ञ को नाश करने के लिए महादेव ने जटों से नौजवान वीरभद्र को पैदा किया, नारदजी एक तालाब में स्नान करने से स्त्री बन गये, राजा तालध्वज ने विवाह कर गर्भाधान किया, तब—

ततस्त्रयोदशे वर्षे तस्या गर्भोऽभवन्महान्॥ ७५॥
पञ्चाशत संख्यया जाता उपसर्गादिवर्जिताः।
आरूढयौवनाः सर्वे सुताः संग्रामकोविदाः॥ ७६॥

—भविष्य० उत्तर० अ० ३

भाषार्थ—इसके पीछे तेरहवें वर्ष में उसके बड़ा भारी गर्भ हुआ, जिसमें से पचास नौजवान युद्धविशारद लड़के पैदा हुए॥ ७५। ७६॥

कहिए, कुछ और पौराणिक लीलाएँ सुनाएँ या तसल्ली हो गई?

(१८०) प्रश्न—शतपथ की समस्त श्रुति को छिपाकर **'ततो मनुष्या अजायन्त'** केवल इस टुकड़े को लिखना और मनमानी युवासृष्टि का पैदा होना स्वामीजी ने क्यों लिखा?

—पृ० ३२५, पं० २३

उत्तर—स्वामीजी ने प्रकरण के लिए आवश्यक वेदानुकूल पाठ को लिख दिया, किन्तु शेष पाठ भी स्वामीजी के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। आपने प्रकृति को नित्य सिद्ध करनेवाला पाठ पाँचवें मन्त्र में से आधा मन्त्र जिसमें 'आकाशः स्त्रिया पूर्यत' आकाश उस प्रकृतिरूपी स्त्री से पूर्ण था, छिपा लिया। नौजवान स्त्री, पुरुष भेड़, बकरी आदि के जोड़े जिन्होंने मैथुन करके सन्तान पैदा की इस पाठ में आपने भी स्वीकार किये हैं, अतः शतपथ का यह पाठ ईश्वर, जीव, प्रकृति को नित्य तथा सृष्टि के तीन कारण वर्णन करने से वेदानुकूल है और आपकी कल्पनाएँ वेदविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या हैं।

देवजाति

(१८१) प्रश्न—'त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः—[यजुः० २०। ११] इस मन्त्र में तीन तथा ग्यारह और तेतीस देवताओं का वर्णन है। —पृ० २३६, पं० ४

उत्तर—यहाँ पर वेदों में कपोलकल्पित पौराणिक देवताओं का वर्णन नहीं है और न ही बृहस्पति से अभिप्राय यहाँ कल्पित देवताओं के गुरु से है। यहाँ देवता से अभिप्राय दिव्य गुणोंवाले संसार की उत्पत्ति में कारण पृथिवी आदि तेतीस देवताओं से है। तीन और ग्यारह देवता भी इन्हीं तेतीस में आ जाते हैं। मन्त्र के यथार्थ अर्थ इस प्रकार हैं—

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा॥ —यजुः० २०। ११

भाषार्थ—जो तीन प्रकार के दिव्य गुणवाले, जिनमें कि बड़ों का पालन करनेहारा सूर्य प्रथम धारण किया हुआ है। जिनसे अच्छे प्रकार कार्यों की सिद्धि होती वे ग्यारह और तेतीस दिव्य गुणवाले पदार्थ सब जगत् की उत्पत्ति करनेहारे, प्रकाशमान ईश्वर के परमैश्वर्ययुक्त उत्पन्न किये हुए जगत् में हैं। उन पृथिव्यादि तेंतीस पदार्थोंसहित विद्वान् लोग मेरी रक्षा और मुझे बढ़ाया करें॥ ११॥

भावार्थ—जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, नक्षत्र ये आठ और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय तथा ग्यारहवाँ जीवात्मा, बारह महीने,

बिजली और यज्ञ इन तेंतीस दिव्य गुणवाले पृथिव्यादि पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव के उपदेश से सब मनुष्यों की उन्नति करते हैं, वे सर्वोपकारक होते हैं॥ ११॥

समस्त शास्त्रों में तेंतीस देवताओं से अभिप्राय उपर्युक्त सब व्यवहारसिद्धि के लिए हैं। सब मनुष्यों को उपासना के योग्य तो एक देव ब्रह्म ही है। उपर्युक्त समस्त लेख में प्रमाण निम्न प्रकार है—

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच॥ १॥ कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति अध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति॥ २॥ स होवाच। महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमेते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति॥ ३॥ कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳसर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ४॥ कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ ५॥ कतम आदित्या इति। द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ ६॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति॥ ७॥ कतमे षडिति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडित्येते ह्येवेदꣳसर्वं षडिति॥ ८॥ कतमे ते त्रयो देवा इति इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥ ९॥ तदाहुः। यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳसर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते॥ १०॥ —शत० १४। ६। ९१-१०

भाषार्थ—उसके पीछे उसको चतुर शाकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? उसने उसी बुद्धि से प्रतिपादन किया जिससे सारे विद्वान् प्रतिपादन करते हैं—तीन और तीन सौ और तीन, और तीन हज़ार ऐसा-ऐसा कहा॥ १॥ कितने देव हैं हे याज्ञवल्क्य! ऐसा पूछा। तेतीस हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? छह हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? तीन हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य! दो हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य! डेढ़ है, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य! एक है, तब ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा वे कौन-से तीन और तीन सौ तीन और तीन हज़ार देव हैं?॥ २॥ वह बोला—ये सब इनकी ही महिमाएँ हैं, वैसे देवता तो तेतीस ही हैं। वे कौन-से तेतीस देवता हैं? आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य ये इकतीस, इन्द्र और प्रजापति कुल तेतीस हुए॥ ३॥ कौन-से वसु हैं? अग्नि, पृथिवी, वायु, आकाश, आदित्य, जल, चन्द्रमा, नक्षत्र—ये आठ वसु हैं। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और यही सबके निवास करने के स्थान हैं॥ ४॥ कौन-से रुद्र हैं? ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवाँ जीवात्मा है, क्योंकि जब ये इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम

रुद्र है॥५॥ इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि सब जगत् के पदार्थों का आदान, अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं। इसी से इनका नाम आदित्य है॥६॥

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजली का है, क्योंकि यह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है॥७॥ कौन-से छह देवता हैं? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और जल ये छह देवता हैं॥८॥ कौन-से तीन देवता है? यही तीन लोक अर्थात् स्थान, नाम और जन्म, क्योंकि इनमें ही सब देवता हैं। कौन-से दो देवता हैं? अन्न और प्राण दो देवता हैं? कौन-सा अध्यर्ध देव है?॥९॥ वायु का नाम अध्यर्ध देव इसलिए है कि वह सबका धारण और वृद्धिकर्त्ता है। कौन एक देव है? ब्रह्म एक देव है, ऐसा कहा जाता है॥१०॥

ये हैं वेदमन्त्रों में प्रतिपादित तेतीस देवता और चौंतीसवाँ इन सबका स्वामी महादेव ब्रह्म, बस, दुनिया के समस्त पदार्थ इन्हीं चौंतीस के अन्तर्गत आ जाते हैं। रह गये आपके कल्पित पौराणिक देवता, उनका न वेदों में वर्णन है और न वे इस योग्य ही हैं कि उनका किसी भली पुस्तक में वर्णन हो सके। उदाहरणार्थ हम यहाँ पर समस्त देवताओं के गुरु बृहस्पति के जीवन की एक पौराणिक गाथा का वर्णन पर्याप्त समझते हैं। महाभारत में वर्णन है कि—

अथोतथ्य इति ख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा। ममता नाम तस्यासीद्भार्या परमसम्मता॥८॥
उतथ्यस्य यवीयाँस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम्। बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत॥९॥
उवाच ममता तं तु देवरं वदतां वरम्। अन्तर्वर्त्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति॥१०॥
अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते। औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत॥११॥
अमोघरेतास्त्वं चापि द्वयोर्नास्त्यत्र सम्भवः। तस्मादेवं च न त्वद्य उपारमितुमर्हसि॥१२॥
एवमुक्तस्तदा सम्यग्बृहस्पतिरधीरधीः। कामात्मानं तदात्मानं न सशाक नियच्छितुम्॥१३॥
स बभूव ततः कामी तया सार्द्धमकामया। उत्सृजन्तन्तु तं रेतः स गर्भस्थोऽभ्यभाषत॥१४॥
भोस्तात मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह सम्भवः। अल्पावकाशो भगवन् पूर्वं चाहमिहागतः॥१५॥
अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्त्तुमर्हसि। अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः॥१६॥
जगाम मैथुनायैव ममतां चारुलोचनाम्।
शुक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्या गर्भगतो मुनिः। पद्भ्यामारोधयन् मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः॥१७॥
स्थानमप्राप्तमथ तद्रेतः प्रतिहतं तदा। पपात सहसा भूमौ ततः क्रुद्धो बृहस्पतिः॥१८॥
तं दृष्ट्वा पतितं शुक्रं शशाप स रुषान्वितः। उतथ्यपुत्रं गर्भस्थं निर्भर्त्स्य भगवानृषिः॥१९॥
यन्मां त्वमीदृशे काले सर्वभूतेप्सिते सति। एवमात्थ वचस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यति॥२०॥
स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत। बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्बृहस्पतिरिवौजसा॥२१॥
जात्यन्धो वेदवित् प्राज्ञः पत्नीं लेभे स विद्यया॥२२॥ —महा० आदि० अ० १०४[१]

भाषार्थ—पूर्वकाल में उतथ्य नाम का बुद्धिमान् प्रसिद्ध ऋषि था। उसकी अति सुन्दरी ममता नामक पत्नी थी॥८॥ उतथ्य का छोटा भाई देवताओं का गुरु महान् तेजस्वी बृहस्पति ममता के पास समागम की इच्छा से गया॥९॥ ममता उस वागीश देवर को कहने लगी मैं तुम्हारे बड़े भाई

---

१. गीताप्रेस संस्करण में ये श्लोक नहीं है, परन्तु महाभारत प्रकाशक मण्डल, चाँदनी चौक, दिल्ली द्वारा १९९२ विक्रमी में प्रकाशित श्री पण्डित गङ्गाप्रसादजी शास्त्री द्वारा अनूदित संस्करण में ये श्लोक अध्याय १०३ में ९ से २४ तक उपलब्ध हैं। पूना, संस्करण में अध्याय ९८ में भी ये श्लोक हैं। —सं०

से गर्भवती हूँ, इसलिए, सब्र कर॥ १० ॥ हे बृहस्पते! यह मेरी कोख में ही महाभाग उतथ्य का पुत्र यहाँ भी षडङ्गवेद पढ़ रहा है॥ ११ ॥ और तू भी अनिष्फल वीर्यवाला है और दो की यहाँ गुँजाइश नहीं। इसलिए आज ऐसा होना उचित नहीं, सब्र करना चाहिए॥ १२ ॥ इस प्रकार कहने पर अधीरबुद्धि बृहस्पति काम में लिप्त हुई अपनी आत्मा को रोक न सका॥ १३ ॥ वह कामी उस अकामा के साथ प्रवृत्त हो गया। उसे वीर्य छोड़ते हुए देखकर गर्भ में बैठा मुनि बोला॥ १४ ॥ हे चाचा! काम को मत प्राप्त हो, यहाँ दो का रहना सम्भव नहीं। हे भगवन्! यहाँ स्थान बहुत कम है और मैं पहले आ चुका हूँ॥ १५ ॥ आपका वीर्य भी व्यर्थ जानेवाला नहीं, मुझे कष्ट न दें। उस गर्भवाले की बात को सुने बिना ही बृहस्पति॥ १६ ॥ उस सुन्दर नेत्रोंवाली ममता के साथ मैथुन में प्रवृत्त हो गये। वीर्य के गर्भ में गिरने के समय को जानकर गर्भ में बैठे मुनि ने बृहस्पति के वीर्य जाने का रास्ता पाँवों से रोक लिया॥ १७ ॥ रोकने से स्थान को न प्राप्त हुआ वीर्य अचानक पृथिवी पर गिर पड़ा, तब बृहस्पति क्रोध में आ गये॥ १८ ॥ अपने वीर्य को गिरा हुआ देखकर बृहस्पति ने क्रोध से शाप दिया। गर्भ में बैठे हुए उतथ्य के पुत्र को धमकाते हुए ऋषि ने कहा॥ १९ ॥ जो तूने मुझे ऐसे समय में जोकि सब प्राणियों को प्रिय है इस प्रकार की बात कही, इसलिए तेरे में तीव्र अन्धकार प्रविष्ट होगा॥ २० ॥ इस शाप से दीर्घतमा नाम का ऋषि पैदा हुआ, जोकि बृहस्पति के समान तेजवाला था॥ २१ ॥ जन्म से अन्धा, वेद का जाननेवाला, बुद्धिमान् दीर्घतमा विद्या के बल से धर्मपत्नी को प्राप्त हुआ॥ २२ ॥

क्या वह यही बृहस्पति हैं, जिनको देवताओं का पुरोहित वर्णन कर रहे हैं और जिनका ज़िक्र वेदों में बतला रहे हैं? और क्या 'स्थालीपुलाक' न्याय से सारे ही देवता इसी प्रकार के हैं? यदि इनका नाम देवता है तो फिर न मालूम राक्षस किनका नाम है? इसलिए कृपया इन पौराणिक देवताओं की करतूतों को ढके ही रक्खें और वेदों में इनका वर्णन बतलाकर वेदों को कलंकित करने की कुचेष्टा से बाज रहें।

(१८२) प्रश्न—'अग्निर्देवता वातो देवता' इत्यादि [यजुः० १४। २०] इस मन्त्र में वसु ८, रुद्र ११, आदित्य १२, मरुत ७, विश्वे देवा १३—ऐसे सब मिलाकर ५८ देवता हैं।

—पृ० २३६, पं० ९

उत्तर—आपने बतलाया नहीं कि वे सात मरुत देवता और तेरह विश्वेदेवा कौन-कौन-से हैं तथा ५८ किस प्रकार से हो जाते हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तो आठ वसुओं में शामिल हैं ही और मरुत नाम वायु का तथा वरुण नाम जल का है। ये दोनों भी वसुओं में आ गये। रहा बृहस्पति, यह नक्षत्रों में होने के कारण वसु संज्ञा में आ गया। विश्वेदेवा सम्पूर्ण देवताओं का नाम है। इस हिसाब से ये सब तेतीस में ही शामिल हो गये। इन्द्र नाम भी बिजली का है वह भी तेतीस में शामिल है अब बतावें ५८ कैसे बन गये? और फिर जब अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, मरुत, विश्वे-देवा, बृहस्पति तथा वरुण ये सब वसु, रुद्र तथा आदित्यों में ही शामिल हैं तो इनको भिन्न क्यों गिनवाया गया, अतः पता लगा कि इस मन्त्र में पूर्वोक्त ३३ देवताओं के अतिरिक्त दिव्य गुणों के कारण परमेश्वर तथा विद्वानों का नाम भी देवता वर्णन किया गया है, अतः इस मन्त्र का निर्दोष, ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार होगा—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥ —यजुः० १४। २०

भाषार्थ—प्रकाशस्वरूप होने से परमात्मा अग्नि देवता है। बलस्वरूप होने से परमात्मा वायु देवता है। चराचर में व्यापक होने से परमात्मा ही सूर्य देवता है। आनन्दकारक होने से परमात्मा ही चन्द्रमा देवता है। आठ वसु देवता हैं। ११ रुद्र देवता हैं। १२ आदित्य देवता हैं। मनन करनेवाले

ऋत्विगादि विद्वान् लोग मरुत देवता हैं। सब अच्छे गुणोंवाले विद्वान् मनुष्य विश्वेदेवा देवता हैं। बड़े वचन वा ब्राह्माण्ड का रक्षक परमात्मा बृहस्पति देवता है। ऐश्वर्य से युक्त होने से राजा इन्द्र देवता है। श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के कारण परमात्मा बृहस्पति देवता है। ऐश्वर्य से युक्त होने से राजा इन्द्र देवता है। श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के कारण परमात्मा वरुण देवता है॥ २०॥

इस मन्त्र में तेतीस देवताओं के अतिरिक्त परमात्मा तथा विद्वानों का भी देवता शब्द से प्रतिपादन किया गया है। विद्वानों के देवता होने में निम्न प्रमाण हैं—

(अ) देवाः पितरः पितरो देवाः॥ —अथर्व० ६।१२३।३

(आ) वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहाँस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥ —मनु० ३।२८४

(इ) अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च।
विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम्॥ १५३॥ —ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० अ० १०

(ई) द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमी' ति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ —शत० १।१।१।४

(उ) उशिजो वह्नितमानिति। विद्वाꣳसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति॥
—शत० ३।७।३।१०

(ऊ) देवा योगिनः कपिलादयश्च॥ —उव्वट, यजुः० ३१।९

(ऋ) एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवाः॥ —उव्वट, यजुः० ३१।१६

(ॠ) देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम्॥ १५॥ —वाल्मी० अयो० स० १६

(ऌ) धर्मनित्या यथाकालमग्न्यागारपरा भव।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय॥ १८॥ —वाल्मी० अयो० स० ५८

भाषार्थ—देवों का नाम पितर तथा पितरों का नाम देव है (अ)। २५ वर्ष के ब्रह्मचारी को पिता, ४४ वर्षवाले को पितामह तथा ४८ वर्षवाले को प्रपितामह कहते हैं, अतः पितर होने से देव हुए (आ)। अन्नदाता, भयत्राता, पत्नीतात, विद्यादाता और जन्मदाता ये पाँच पितर होने से देवता हुए (इ)। ये दो हैं तीसरा नहीं है—सत्य और झूठ। सत्य ही देवता हैं, झूठ मनुष्य हैं, यह मैं झूठ से सत्य को प्राप्त होता हूँ, सो मनुष्यों से देवताओं को प्राप्त होता हूँ (ई)। विद्वानों का नाम देवता है (उ)। कपिल आदि योगी देवता हैं (ऊ)। इस प्रकार से योगी भी दीप्तिमान् होने से देव हैं (ऋ)। जब दशरथ ने राम को कैकेयी के महल में बुलाया तो राम सीता से बोले—हे देवि सीते! देव दशरथ तथा देवी कैकेयी इकट्ठे होकर मेरे पीछे से अभिषेक के विषय में कुछ परामर्श कर रहे हैं। (ॠ)। राम ने सूत के द्वारा कौसल्या को सन्देश दिया—सदा अग्निहोत्र करती हुई धर्म पर दृढ़ रहना। हे देवि कौसल्ये! देव दशरथ के पाँवों को देव परमात्मा की भाँति पूजना (ऌ)।

इन प्रमाणों में सर्वत्र विद्वानों के लिए देव शब्द आया है।

श्रीमान्जी! इस मन्त्र में पौराणिक देवताओं का वर्णन नहीं है। न मालूम आप इन कल्पित पौराणिक देवताओं की क्यों वकालत कर रहे हैं? महाराज! जाने दीजिए, पौराणिक देवता इस योग्य हैं ही नहीं कि वे धर्म-ग्रन्थों में स्थान प्राप्त कर सकें। ज़रा उनका स्वरूप देखिए—

अग्नि— **पावकोऽपि जगच्छ्रेष्ठो मोहितः शिवमायया।**
कामाधीनः कृतो गर्वात्ततस्तेनैव चोद्धृतः॥ १९॥

वायु—	जगत् प्राणोऽपि गर्वेण मोहितः शिवमायया।
	कामेन निर्जितो व्यासश्चक्रेऽन्यस्त्रीरतिं पुरा॥ २०॥
सूर्य—	चण्डरश्मिस्तु मार्तण्डो मोहितः शिवमायया।
	कामाकुलो बभूवाशु दृष्ट्वाश्वीं हयरूपधृक्॥२१॥
चन्द्र—	चन्द्रश्च मोहितः शम्भोर्मायया कामसंकुलः।
	गुरुपत्नीं जहाराथ युतस्तेनैव चोद्धृतः॥ २२॥
वरुण—	पूर्वं तु मित्रावरुणौ घोरे तपसि संस्थितौ।
	मोहितौ तावपि मुनी शिवमायाविमोहितौ॥ २३॥
	उर्वशीं तरुणीं दृष्ट्वा कामुकौ संबभूवतुः।
	मित्रः कुम्भे जहौ रेतो वरुणोऽपि तथा जले॥ २४॥
	ततः कुम्भात्समुत्पन्नो वसिष्ठो मित्रसम्भवः।
	अगस्त्यो वरुणाज्जातो बडवाग्निसमद्युतिः॥ २५॥
बृहस्पति—	बृहस्पतिर्मुनिवरो मोहितः शिवमायया।
	भ्रातृपत्न्या वशी रेमे भरद्वाजस्ततोऽभवत्॥ ३८॥
इन्द्र—	इन्द्रस्त्रिदशयो भूत्वा गौतमस्त्रीविमोहितः।
	पापं चकार दुष्टात्मा शापं प्राप मुनेस्तदा॥ १८॥
विश्वेदेवा—	कामेन स्वसहायेन प्रबलेन मनोभुवा।
	सर्वः प्रधर्षितो वीरो विष्णवादिः प्रबलोऽपि हि॥ १६॥

—शिव० उमा० अ० ४

भाषार्थ—अग्नि कामाधीन हुआ, वायु ने परस्त्री-गमन किया, सूर्य ने घोड़ी से मैथुन किया, चन्द्रमा ने गुरुपत्नी से मैथुन किया, वरुण का वीर्य उर्वशी को देख स्खलित हो गया, बृहस्पति ने भाई की स्त्री से भोग किया, इन्द्र ने गौतम की स्त्री से भोग किया, सबको कामाधीन होना पड़ा।

ये हैं आपके पौराणिक देवताओं की करतूतें, जिनकी वकालत में ईमानदारी को भी आप धता बतला रहे हैं। प्रार्थना यही है कि इस आचारहीन देवतासमूह को सनातनधर्म मन्दिर में ही निमन्त्रित कीजिए, इन श्लोकों को वेदमन्त्रों पर मढ़ने की कृपा न करें।

(१८३) प्रश्न—'देवानां पत्नीः' इत्यादि [अथर्व० ७।४९।१] इस मन्त्र में देवताओं की पत्नियों का वर्णन है। —पृ० २३६, पं० १७

उत्तर—यहाँ पर आपके पौराणिक देवताओं की पत्नियों का नाममात्र भी नहीं है, अपितु विद्वानों की धर्मपत्नियों का वर्णन है। देखिए, इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥

—अथर्व० ७।४९।१

भाषार्थ—जो उपकार की इच्छा करती हुई विद्वानों वा राजाओं की पत्नियाँ हमें तृप्त करें और बल वा स्थान के लिए और अन्न देनेवाले संग्राम जीतने के लिए हमारी अच्छी प्रकार रक्षा करें, और भी जो पृथिवी की नारियाँ जलों के समान उपकार करनेवाली हों, वे, सब सुन्दर बुलाने योग्य देवियाँ हमें घर वा सुख देवें॥ १॥

आपको पौराणिक कल्पित देवता तथा उनकी पत्नियों के सिद्ध करने का व्यर्थ ख़ब्त समाया हुआ है। इन देवताओं की पत्नियों के वर्णन से भला संसार का क्या उपकार होगा? यदि आपको इनके वर्णन देखने का शौक़ है तो देखिए—

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥ २६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥ २७॥
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः। विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥ २८॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १८

भावार्थ—जो ज्ञानवाली स्त्री हो वह चाहे किसी शुभ पुरुष को वर ले। वह चाहे उसका पुत्र लगता हो, चाहे पिता वा भाई लगता हो, वही उसका पति बन जाता है॥ २६॥ ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को, विष्णु ने अपनी माँ को तथा महादेव ने अपनी बहिन को पत्नी ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त किया॥ २७॥ इस वेदानुकूल वाणी को सुनकर सूर्य ने भी भतीजी से विवाह करके श्रेष्ठता को प्राप्त किया॥ २८॥

यह है पौराणिक देवता तथा उनकी पत्नियों की वास्तविकता! कृपया इस पौराणिक शिक्षा तथा तदनुकूल आचरण को सनातनधर्म की चारदीवारी तक ही सीमित रक्खें तो उत्तम है!

(१८४) प्रश्न—'इन्द्राणीमासु' इत्यादि [अथर्व० २०।१२६।११] इस मन्त्र में इन्द्र देवता की पत्नी इन्द्राणी के सौभाग्य का वर्णन है। —पृ० २३७, पं० ४

उत्तर—इस मन्त्र में न तो इन्द्र की पत्नी का वर्णन है और न उसके सौभाग्य की चर्चा है, अपितु ऐश्वर्यवान् पुरुष की शक्ति का वर्णन है। देखिए, मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

—अथर्व० २०।१२६।११

भाषार्थ—इन चलाई गई प्रजाओं के बीच बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की विभूति वा शक्ति को बड़ी भगवती ऐश्वर्यवाली मैंने सुना है। इस विभूति का पालन करनेवाला यह मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान वयोहानि से नहीं मरता है। बड़े ऐश्वर्यवाला मनुष्य सब प्राणिमात्र से उत्तम है॥ ११॥

इन्द्र तथा इन्द्र-पत्नी के वर्णन से आप क्या लाभ समझते हैं? क्या इन्द्र देवता कहलाने के योग्य था। हम आपको पौराणिक इन्द्र की एक और करतूत सुनाते हैं—

सुचन्द्रस्य गृहे रम्भा ललाभ जन्म भारते॥ ४४॥
नानाकौतुकसंयुक्तां ददौ जन्मेजयाय च॥ ४६॥
एकदा नृपतिश्रेष्ठश्चाश्वमेधेन दीक्षितः॥ ४७॥
अश्वसंगोपनं कृत्वा तस्थौ शक्रश्च मन्दिरे। यज्ञाश्वं रुचिरं मत्वा कौतुकेन च सुन्दरी॥ ४८॥
द्रष्टुं जगाम सा साध्वी चाश्वमेकाकिनी मुदा। शक्रोऽश्वनिकटे भूत्वा धर्षयामास तां सतीम्॥ ४९॥
तया निवार्यमाणश्च रेमे तत्र तया सह। मूर्छामवाप शक्रश्च बुबुधे न दिवानिशम्॥ ५०॥
सा च संभोगमात्रेण देहं तत्याज योगतः। नृपस्य लज्जया भीत्या शक्रः स्वर्गे जगाम ह॥ ५१॥

—ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण जन्म० खं० ४ अ० १४

भाषार्थ—राजा चन्द्र के घर में, भारत में, रम्भा ने जन्म लिया॥ ४४॥ उसने नाना प्रकार की सजधज से अपनी कन्या जन्मेजय को ब्याह दी॥ ४६॥ एक बार राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया॥ ४७॥ इन्द्र मकान में घोड़े के पीछे छिपकर बैठ गया। यज्ञ के घोड़े को खूबसूरत जानकर आनन्दपूर्वक वह सुन्दरी देखने गई॥ ४८॥ वह साध्वी प्रसन्नता से अकेली गई। इन्द्र ने घोड़े के समीप जाकर

उस सती को क़ाबू कर लिया॥ ४९॥ उसके मना करने पर भी इन्द्र ने उससे भोग किया। इन्द्र मूर्च्छा को प्राप्त हो गया, दिन-रात न जागा॥ ५०॥ उस स्त्री ने सम्भोगमात्र से योग द्वारा शरीर छोड़ दिया और राजा के भय तथा लज्जा से इन्द्र स्वर्ग को चला गया॥ ५१॥

कहिए महाराज! क्या पौराणिक देवताओं की इन्हीं कारनामों के लिए कल्पना की गई है या कोई और प्रोयजन भी है? परमात्मा इन देवताओं से भारत को बचावे।

(१८५) प्रश्न—'उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीः' इत्यादि [अथर्व० ७।४९।२] इस मन्त्र में इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी, अग्नि की पत्नी अग्नायी, रुद्र की पत्नी रोदसी तथा वरुण की पत्नी वरुणानी और अश्विनीकुमारों की पत्नी का वर्णन मौजूद है।—पृ० २३७, पं० ११

उत्तर—जब इन्द्र अर्थात् बिजली, अग्नि और वरुण अर्थात् जल जड़ पदार्थ हैं तो इनकी पत्नी होना असम्भव है। अश्विनीकुमारों का तेतीस देवों में कहीं नाम ही नहीं है, और रुद्र ११ हैं, उनकी पत्नी की कल्पना निरर्थक है। हाँ, इन गुणों से युक्त पुरुषों की स्त्रियों का वर्णन ठीक है। देखिए, इस मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥

—अथर्व० ७।४९।२

भाषार्थ—और भी विद्वानों वा राजाओं की पत्नियाँ ऐश्वर्यवाली, बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, अग्नि-सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, शीघ्रगामी पुरुष की स्त्री, प्रजा की वाणियों को प्राप्त हों और ज्ञानवान् पुरुष की स्त्री अथवा श्रेष्ठजन की पत्नी वाणियों को सुनें और जो स्त्रियों के न्याय का काल है, ये सब देवियाँ उसकी चाहना करें॥ २॥

भावार्थ—स्त्रियाँ स्त्रियों को अपनी न्यायसभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहर के झगड़ों का उचित समय पर निर्णय करें और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें॥ २॥

(१८६) प्रश्न—'ब्रह्मचारिणं पितरो' इत्यादि [अथर्व० ११।५।२] इस मन्त्र में पितर, गन्धर्व तथा छह हज़ार तीन सौ तीस देवताओं का वर्णन है। —पृ० २३७, पं० २०

उत्तर—वे छह हज़ार तीन सौ तीस देवता कौन-कौन-से हैं ज़रा उनकी गिनती तो गिना दी होती! वैसे देवता तेतीस ही हैं। जहाँ अधिक गिनाये गये हैं वहाँ उनकी ही महिमामात्र है (देखो नं० १८१)। इस मन्त्र में तो देवता आदि विद्वानों का ही नाम है, क्योंकि यज्ञ में उनका ही सम्मिलित होना सम्भव है। संख्या अधिक उपस्थिति की सूचक है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति।

—अथर्व० ११।५।२

भाषार्थ—सब व्यवहारकुशल, पालन करनेवाले, विजय चाहनेवाले पुरुष नाना प्रकार से ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे चलते हैं। तेतीस, तीन और छह सहस्र [६३३३ अर्थात् बहुत-से] पृथिवी के धारण करनेवाले (पुरुषार्थी पुरुष) इस ब्रह्मचारी के साथ-साथ चलते हैं। वे सब विजय चाहनेवालों को अपने तप से भरपूर करता है॥ २॥

भावार्थ—सब विद्वान् पुरुषार्थीजन पूर्वकाल से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के अनुशासन में आनन्द पाते आये हैं और पाते हैं। इस प्रकरण में इस मन्त्र से पूर्व और पश्चात् भी वेदारम्भ-संस्कार का वर्णन है, अतः पूर्वोक्त हमारा अर्थ ही ठीक है, आपका नहीं।

(१८७) प्रश्न—'त्रीणि शता त्री सहस्राणि' इत्यादि [यजुः० ३३।७] इस मन्त्र में किसी

के मत में तो ३३३० में ९ को मिलाकर ३३३९ तथा किसी के मत में ३००० को ३०० से गुणा करके ३० तथा ९ का योग देकर ९०००३९ तथा किसी के मत में ३३३० को इन ही के स्वरूप में ९ अंक करके ३३३३३३३३० देवताओं का वर्णन पाया जाता है। —पृ० २३८, पं० ४

उत्तर—देवता तेतीस ही हैं। आप चाहे करोड़ की गिनती गिनें, चाहे तेतीस अर्ब की , वे सब तेतीस की ही महिमा हैं (देखो नं० १८१)। परन्तु यहाँ पर तो शिल्पविद्या के जाननेवाले विद्वानों का वर्णन है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥

—यजु:० ३३।७

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जैसे पृथिवी आदि तीस और नव प्रकार के—ये सब और विद्वान् लोग तीन सौ तीन हज़ार कोस मार्ग में अग्नि का सेवन करें, घी वा जलों से सींचें, अन्तरिक्ष को आच्छादित करें, इस अग्नि के अर्थ हवन करनेवाले को सब ओर से ही निरन्तर स्थापित करें, वैसे तुम लोग भी करो॥७॥

भावार्थ—जो शिल्पी-विद्वान् लोग अग्नि, जलादि पदार्थों को यानों में संयुक्त कर उत्तम, मध्यम, निकृष्ट वेगों से अनेक सैकड़ों, हज़ारों कोस मार्ग को जा सकें वे आकाश में भी जा-आ सकते हैं॥७॥

इसका नाम है अर्थ जो प्रकरण तथा सृष्टिनियम के सर्वथा अनुकूल है।

(१८८) प्रश्न—'**इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे**' इत्यादि [निरुक्त दैवतकाण्ड ७।२।१] तथा '**आ द्वाभ्यां हरिभ्यामित्यादि**' [निरुक्त दैवत० ७।६।२] में देवताओं को चैतन्य वर्णन किया है। —पृ० २३८, पं० २४

उत्तर—भला! इन दोनों प्रमाणों से आपकी क्या प्रयोजन-सिद्धि हुई? आपने इन प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि देवता चेतन वर्णन किये हैं। हम पहले से ही विद्वानों का नाम भी देवता मानते हैं और वे चेतन होते ही हैं। आपके दिये हुए मन्त्र में इन्द्र शब्द के कितने अर्थ हैं देखिए—

इन्द्रः—**(अग्निर्विद्युत् सूर्यो वा)** अग्नि, बिजली, सूर्य **(अध्यापको राजा वा)** अध्यापक, राजा **(सभाऽध्यक्षः)** सभापति **(दुःखविदारकः)** दुःख का नाशक **(परमैश्वर्यवान् सभा-शाला-सेना-न्यायाधीशः)** सम्पत्तिवाला, सभापति, शालापति, सेनापति, न्यायपति, **(इन्द्रियवान् जीवः)** जीव इत्यादि-इत्यादि इन्द्र शब्द के सैकड़ों अर्थ हैं (देखो वेदार्थकोष पृ० १८२ से १८७ तक)। प्रकरण-अनुसार जहाँ जैसा अर्थ उचित हो वैसा ले-लेना चाहिए। जहाँ जडत्वादि गुणों से इन्द्र का वर्णन होगा वहाँ इन्द्र शब्द से बिजली, सूर्य आदि अर्थ लिये जावेंगे, और जहाँ चेतनता आदि गुणों से इन्द्र का वर्णन होगा वहाँ इन्द्र शब्द से राजा, सेनापति, जीवात्मा आदि अर्थ लिया जावेगा, अतः आपका लेख निष्प्रयोजन ही है।

(१८९) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी शतपथ के आधार पर तेतीस देवता मानते हैं, और उन देवताओं को चैतन्य नहीं मानते, वरन जड़ मानते हैं। —पृ० २४०, पं० १

उत्तर—आप बिल्कुल झूठ कह रहे हैं। प्रथम तो तेतीस देवताओं में से भी ग्यारह रुद्रों में दश प्राण तथा ग्यारहवाँ जीवात्मा है। जीवात्मा चेतन है। तथा स्वामीजी विद्वानों का नाम देवता मानते हैं। स्वामीजी देवता शब्द से चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का ग्रहण मानते हैं।

(१९०) प्रश्न—'**अथाकारचिन्तनं देवतानाम्**' इत्यादि [निरुक्त दैवत० ७।६।१] इसमें यास्क ने जड़ और चेतन दोनों को वेद से दिखलाया है। यह नियम अटल है कि जहाँ पर श्रुति

में विरोध होगा वहाँ दोनों श्रुतियों का कथन सत्य स्वीकार किया जावेगा। यहाँ पर भी सूर्य आदि ग्रहमण्डल जड़ और इनके अधिष्ठातृदेव चेतन हैं। —पृ० २४२, पं० ६

उत्तर—आप यों ही, बिना प्रयोजन निरुक्त आदि के लम्बे-लम्बे पाठ दर्ज कर देते हैं। हम स्वयं मानते हैं कि देवता दो प्रकार के होते हैं। बत्तीस देवता जड़ तथा जीवात्मा, परमात्मा, विद्वान् चेतन देवता हैं। वेदों में परस्पर-विरोध नहीं है। यह नियम अटल है कि जिस पुस्तक में व्याघातदोष अर्थात् परस्पर-विरोध हो वह पुस्तक प्रमाण के योग्य नहीं होती। विकल्प अर्थात् दोनों पक्ष तभी सत्य माने जाते हैं यदि उनका अधिकरण एक न हो। यहाँ चेतन तथा अचेतन देवताओं का अधिकरण एक नहीं है, अतः विरोध ही नहीं है। 'इनके अधिष्ठातृदेव चेतन हैं' यह निरुक्त के किस पाठ का अर्थ है? आपको झूठ बोलते ज़रा भी शर्म नहीं आती। यदि अधिष्ठातृदेव से कोई पौराणिक कल्पित देवता इष्ट है तो उसके लिए प्रमाण चाहिए, अन्यथा आपका लिखना मिथ्या ही है। हाँ, सूर्य, पृथिवी आदि बत्तीस देवता जड़ तथा जीवात्मा, परमात्मा, विद्वान् चेतन—इस प्रकार से जड़ और चेतन देवता दो प्रकार के हैं। यही वेद का सिद्धान्त है, इसी का उपर्युक्त निरुक्त ने प्रतिपादन किया है।

(१९१) प्रश्न—'ब्रह्मचारिणं' में ६३३३ और **'त्रीणि शता'** इस मन्त्र में ३३३३३३३३० देवता वेद ने बतलाये, स्वामी दयानन्दजी इन दोनों मन्त्रों को गपोड़ा मानते हुए देवताओं की संख्या केवल तेतीस लिखते हैं। —पृ० २४२, पं० १२

उत्तर—स्वामीजी वेद के अक्षर-अक्षर को सत्य मानते हैं। आप किसी ऐसी वस्तु का नाम तो लें जो तेतीस देवता तथा एक उनका स्वामी महादेव ब्रह्म—इन चौंतीस से बाहर हो। इसीलिए शतपथ ने लिखा कि **'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति'**—देवता तो तेतीस ही हैं बाकी सब इनकी ही महिमा है। इससे साफ़ है कि चाहे देवताओं की गिनती करोड़ नहीं अरब भी हो, वे सब तेतीस में ही आ जाते हैं, अतः स्वामीजी का मानना वेदानुकूल एवं सत्य है।

(१९२) प्रश्न—स्वामीजी मनुष्यों से भिन्न देवजाति नहीं मानते; मनुष्यों में जो लिख-पढ़ गये हैं, उन्हीं को आप देवता मानते हैं। —पृ० २४२, पं० १७

उत्तर—बेशक तेतीस देवताओं को मानते हुए स्वामीजी मनुष्यों में से विद्वान्, योगी, माता-पिता आदि को देवता मानते हैं और इसमें अनेक प्रमाण हैं (देखो नं० १८२), किन्तु आपके कपोलकल्पित, आचारहीन पौराणिक देवों की हस्ती में कोई प्रमाण ही नहीं है।

(१९३) प्रश्न—'द्विधा देवा' इत्यादि दो प्रकार के देवता हैं—एक देवयोनि के देवता, दूसरे मनुष्यों में देव। देवयोनि के सभी देवता जन्म से विद्वान् होते हैं—यह शतपथ का कथन है। इसमें से **'विद्वाꣳसो हि देवाः'** श्रुति के इस छोटे-से टुकड़े को चुराकर विद्वानों को देवता लिखते हैं। —पृ० २४२, पं० २०

उत्तर—प्रथम तो आपने इस प्रमाण का पता नहीं लिखा कि यह पाठ कहाँ का है। दूसरे, आपने इसके अर्थ भी मनमाने किये हैं। भला! आप बतलावें आपने **'योनि'** और **'जन्म से'** यह अर्थ किन शब्दों का किया है और यह कहाँ लिखा है कि देवयोनिवाले ही विद्वान् होते हैं? लीजिए, हम इसका ठीक-ठीक अर्थ करते हैं—

द्विविधा देवा देवदेवा मनुष्यदेवाश्च विद्वाꣳसो हि देवाः।

भाषार्थ—देव दो प्रकार के होते हैं—देवदेव तथा मनुष्य देव। विद्वान् ही देव होते हैं।

फरमाइए, इस सारे पाठ के अर्थ में कौन-सी बात स्वामीजी के सिद्धान्त के विरुद्ध है? स्वामीजी ने विस्तार-भय से प्रकरणानुसार जितनी आवश्यकता थी उतना पाठ दे दिया। चोरी तो आपने की है कि प्रमाण का ठिकाना ही नहीं दिया। विशेष प्रमाण देखिए (नं० १८२)

(१९४) प्रश्न—इसी प्रकार दैत्य, गन्धर्व और अप्सरा प्रभृति देवयोनियों के वेद ने जातिभेद माने हैं। स्वामी दयानन्दजी की दृष्टि में ये सब मनुष्य ही हैं। —पृ० २४२, पं० २७

उत्तर—बेशक दैत्य, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा, देव ये सब देश, गुण, नाम के कारण मनुष्यजाति के ही भेद हैं। इनकी पशु-पक्षीवत् भिन्न जाति नहीं है। वेद में एक शब्द भी ऐसा नहीं मिलता जो इनकी भिन्नजाति वर्णन करता हो। आपके पुराणों से भी इन सबका एक जाति होना सिद्ध होता है। इन्द्र, धर्म, वायु ने कुन्ती से, अश्विनीकुमारों ने माद्री से युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव पैदा किये तथा विश्वामित्र आदि ने मेनका आदि में शकुन्तला आदि को पैदा किया। देवों की स्त्रियों से मनुष्यों का तथा मनुष्यों की स्त्रियों से देवों का भोगविलास-सन्तानोत्पत्ति आदि व्यवहार होना लिखा है, अतः देव तथा मनुष्यजाति एक है, केवल कर्मभेद ही है। रावण राक्षस सीता को रानी बनाना चाहता था तथा शूर्पणखा राम मनुष्य को पति बनाना चाहती थी; भीम मनुष्य ने हिडम्बा राक्षसी में घटोत्कच पैदा कर लिया, अतः मनुष्य और दैत्य जाति एक ही हुई। गन्धर्वों के साथ दुर्योधन की लड़ाई हुई। गन्धर्वों ने दुर्योधन को स्त्रियों-समेत क़ैद कर लिया, पाण्डवों ने छुड़ाया, अतः गन्धर्व तथा मनुष्यजाति एक हुई। इसके अतिरिक्त देव, गन्धर्व, दैत्य, मनुष्य, अप्सराओं का विवाहों, स्वयंवरों, युद्धों, बरातों, जंगलों में एक स्थान में निवास, खान-पान, नृत्य-गीत, युद्ध-यात्रा आदि अनेक सम्मिलित व्यवहार पुराणों में पाये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि ये सब मनुष्यजाति के ही गुण, देश, नाम के कारण भेद हैं, इनकी जाति भिन्न नहीं है।

स्वामी दयानन्द और देवजाति

(१९५) प्रश्न—स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश पृ० १०० में इन्द्र, यम, वरुण, सोम, मरुत्, जल, वनस्पति, श्री, भद्रकाली, वास्तुपति देवताओं को एक-एक ग्रास का भोग लगाना लिखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी देवजाति को मनुष्यजाति से भिन्न मानते हैं। —पृ० २५, पं० ४

उत्तर—स्वामीजी ने न तो इनको देवता लिखा है और न इनको भोग लगाना लिखा है, अपितु इन मन्त्रों से पत्तल पर भोजन के भाग रखकर अतिथि को खिलाना तथा अग्नि में होम करना लिखा है। और ये उपर्युक्त नामवाले पदार्थ तैंतीस देवता तथा चौंतीसवाँ इनका स्वामी ब्रह्म इनसे बाहर भी नहीं है। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी इन चौंतीस और मनुष्ययोनि से भिन्न कोई देवयोनि नहीं मानते। इस विषय में विशेष देखें (नं० १५१)

(१९६) प्रश्न— नामकरण-संस्कार में स्वामीजी ने सोलह तिथियों के सोलह देवता और सत्ताईस नक्षत्रों के सत्ताईस देवता लिखे हैं। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी देवताजाति को मनुष्यजाति से भिन्न मानते थे। —पृ० २५, पं० २१

उत्तर—ये जो तिथि और नक्षत्रों के देवता लिखे हैं, ये तिथि और नक्षत्रों के दूसरे नाम हैं, जोकि इनके द्योतक (प्रकाशक) होने के कारण इनके देवता कहाते हैं। ये इन तिथि और नक्षत्रों को प्रकट करने के लिए सांकेतिक नाम हैं। इस प्रकार के सांकेतिक नामों का व्यवहार प्रत्येक भाषा और प्रत्येक जाति में पाया जाता है। उदाहरणार्थ इस समय भी वायसराय की तरफ़ से जो विलायत को तार भेजे जाते हैं वे साधारण तारों की भाँति नहीं होते, अपितु उनमें वाक्यों के लिए अङ्क नियत हैं, जिनको या वायसराय जानते हैं या भारत के मन्त्री जानते हैं, और लोग नहीं जानते। इनका व्यवहार प्रायः प्रबन्ध-कार्यों में या सेना में युद्ध के समय होता है। इनको अँग्रेज़ी में 'कोडवर्ड' कहते हैं। ऐसे ही चनों को बादाम, प्याज़ को रूपाप्रसाद, मिर्चों को लड़ाकियाँ, बासी रोटी को मिट्ठा परशादा, दूध को समुद्र, घी को पंजवाँ, इत्यादि अनेक सांकेतिक नाम हैं जो उन वस्तुओं के द्योतक होने से देवता कहे जा सकते हैं। जैसे संस्कृतसाहित्य में चाँद-सूर्य से एक का, चक्षु से दो का, राम से तीन का, वेद से चार का, इन्द्रिय से पाँच का, अङ्ग से छह का,

मुनि से सात का, वसु से आठ का, अङ्क से नौ का बोध होता है, ये नाम भी अङ्कों के द्योतक होने से उनके देवता कहा सकते हैं, ऐसे ही तिथि और नक्षत्रों के लिए भी कर्मकाण्ड में उनके दूसरे सांकेतिक नाम नियत हैं, जिनको तिथि तथा नक्षत्रों का द्योतक होने से उनके देवता कहते हैं, जैसाकि गोभिलीय गृह्यसूत्र में प्रपाठक २ काण्डिका ८ के सूत्र नं० १२ की टीका में श्रीचन्द्रकान्त तर्कालंकार लिखते हैं—

अथ जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवताया इति॥ १२॥

—(गोभिलीयगृ प्र० २ का० ८,) पृ० ३८४, पं० १२

तत्र तिथयः प्रतिपदाद्याः। तासां देवताश्चामावस्यापर्यन्तानां ब्रह्म, त्वष्ट्, विष्णु, यम, सोम, कुमार, मुनि, वसु, पिशाच, धर्म, रुद्र, वायु, मन्मथ, यक्ष, पितरः। पौर्णमास्यास्तु विश्वेदेवाः।

—पृ० ३८५, पं० ३

नक्षत्रदेवताश्च यथाक्रमम्—अश्वि, यम, अग्नि, प्रजापति, सोम, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, पितृ, भग, अर्यमन्, सवितृ, त्वष्ट्र, वायु, इन्द्राग्नी, मित्र, इन्द्र, निर्ऋति, अप, विश्वेदेवा, विष्णु, वसु, वरुण, अजपात्, अहिर्बुध्य, पूषण्। —पृ० ३८६, पं० ७

—गोभिलगृह्यसूत्रम्। श्रीचन्द्रकान्ततर्कालंकारकृतभाष्यसहितम् कलिकाता राजधान्यां वासिस्तभिषणयन्त्रे मुद्रितम्। शकाः १८०२

तैत्तिरीय-संहिता में भी नक्षत्रों तथा उनके देवताओं का वर्णन इस प्रकार से आता है—

कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवता...रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षं नक्षत्रं सोमो देवतार्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता पुनर्वसु नक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवता श्लेषा नक्षत्रं सर्पो देवता मघा नक्षत्रं पितरो देवता फाल्गुनी नक्षत्रम्॥ १॥ अर्यमा देवता फाल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता हस्तो नक्षत्रं सविता देवता चित्रा नक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्रं वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवतानुराधा नक्षत्रं मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विचृतौ नक्षत्रं पितरो देवता अषाढा नक्षत्रमापो देवताऽषाढा नक्षत्रं विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्रं वसवः॥ २॥ देवता शतभिषङ् नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमज एकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्न्यो देवता रेवतीनक्षत्रं पूषा देवताश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवता भरणीर्नक्षत्रं यमो देवता॥ ३॥ —तैत्तिरीय-संहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे कां० ४ प्र० ४

अ० १० पृ० ४८१-४८२। कलकत्ता १८८१

इसी को स्वामीजी ने अपनी संस्कार-विधि में लिखा है, अतः यह सिद्ध है कि ये तिथि तथा नक्षत्रों के द्योतक दूसरे नाम होने से देवता कहाते हैं, और कोई विशेष बात नहीं है। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी उन तेतीस देव, चौंतीसवाँ उनका स्वामी ब्रह्म तथा विद्वानों के सिवाय देवजाति को कोई भिन्नजाति नहीं मानते थे।

वेदोत्पत्ति

(१९७) प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति वैदिक साहित्य में ब्रह्म से मानी है। इस विषय में वेद का सिद्धान्त यह है कि उस निराकार ब्रह्म ने ब्रह्मा-शरीर धारण किया, ब्रह्मा ने अपने मुख से ऋषियों को वेदों का उपदेश दिया। —पृ० २४३, पं० १

उत्तर—वेद ने परमात्मा को **'अकाय'** वर्णन किया है। वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो परमेश्वर को शरीरधारी वर्णन करता हो। परमात्मा सर्वव्यापक होने से सबके हृदयों में विराजमान है, अतः परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा के हृदय में चारों वेदों का प्रकाश कर दिया। उन्होंने आगे ब्रह्मादि ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया।

यही वैदिक सिद्धान्त है।

(१९८) प्रश्न—'स यथार्द्रैधनाग्नेः' इत्यादि [शतपथ १४।५।४।१०] इससे सिद्ध है कि वेदों का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से ही हुआ है। —पृ० २४३, पं० ४

उत्तर—आपने वेद-प्रमाण देने की प्रतिज्ञा करके शतपथ का प्रमाण लिख दिया, क्या शतपथ वेद है? और क्या इस प्रकार का धोखा ईमानदारी में शामिल है? यह ठीक है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु इस प्रमाण में यह कहाँ लिखा है कि परमेश्वर ने ब्रह्मा-शरीर धारण करके वेदों को पढ़ाया। यदि श्लोक, सूत्र आदि सारे ही ब्रह्म से हुए तो फिर वेदों में दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा क्या विशेषता है? आपने इस प्रमाण का अर्थ भी ठीक नहीं किया। इसका ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार से है—

स यथार्द्रैधनाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमाविनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ —शत० १४।५।४।१०

भाषार्थ—जैसे अग्नि में गीली लकड़ी लगाने से धुआँ उठता है और वह धुआँ चारों तरफ फैलता है वैसे ही उस महान् सत्यस्वरूप परमात्मा से निःश्वास की भाँति सहज से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के ज्ञान द्वारा पुराण, इतिहास, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि सब विद्याएँ इनसे ही प्रकट हुईं।

इससे सिद्ध हुआ कि संसार की सारी विद्याओं का आदिस्रोत वेद ही है।

(१९९) प्रश्न—'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि [यजुः० ३१।७] जिस यज्ञ भगवान् का सबसे प्रथम उत्पन्न होना **'तं यज्ञं'** इस मन्त्र में लिखा है, उसी ईश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, गायत्री आदि छन्द और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। —पृ० २४३, पं० १३

उत्तर—परमात्मा का पैदा होना वेदों का एक भी मन्त्र प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि परमात्मा अजन्मा, अजर, अमर है। **'तं यज्ञम्'** [यजुः० ३१।९] में परमात्मा का पैदा होना नहीं लिखा अपितु ऋषियों से परमात्मा का पूजा जाना वर्णन किया है। यज्ञ शब्द का अर्थ भी पूजनीय है। जब वेदों में गायत्री आदि छन्द हैं तो फिर गायत्री आदि छन्दों का पैदा होना पृथक् लिखना व्यर्थ होने से छन्द शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ —यजुः० ३१।७

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुमको चाहिए कि उस पूर्ण, अत्यन्त पूजनीय, जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते, उस परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न होते, उस परमात्मा से ही अथर्ववेद उत्पन्न होता और उससे ही यजुर्वेद उत्पन्न होता है, उसको जानो॥७॥

इससे सिद्ध हुआ कि चारों वेदों को उस निराकार, अजन्मा परमात्मा ने संसार के उपकारार्थ प्रकट किया।

(२००) प्रश्न—'ऋचः सामानि' इत्यादि [अथर्व० ११।७।२४] प्रलयकाल में शेष रहनेवाले परमात्मा से ऋक्, साम, अथर्व और पुराण यजुर्वेद के साथ उत्पन्न हुए।

—पृ० २४३, पं० २०

उत्तर—आपने आधे मन्त्र का अर्थ ही छोड़ दिया, क्योंकि उससे परमात्मा की व्यापकता सिद्ध होकर परमात्मा निराकार सिद्ध होता है। देखिए, मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ —अथर्व० ११।७।२४

भाषार्थ—ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेदसहित अथर्ववेद और पुरातनवृत्तान्त—यह सब और आकाश में वर्त्तमान सूर्य के आकर्षण में ठहरे हुए सब गतिमान लोक शेष रहनेवाले परमात्मा से उत्पन्न हुए॥ २४॥

ये सब उपर्युक्त पदार्थ उस व्यापक, निराकार परमात्मा से उत्पन्न हुए।

(२०१) प्रश्न—'ब्रह्मज्येष्ठा' इत्यादि [अथर्व० १९।२३।३०] इस मन्त्र में 'प्रथम ब्रह्म ने ब्रह्मा-अवतार धारण किया' यह वर्णन है। —पृ० २४४, पं० ५

उत्तर—इस मन्त्र में परमात्मा के ब्रह्मावतार का धारण नाममात्र भी नहीं है, अपितु इसमें परमात्मा की उत्कृष्टता दिखलाई गई है। पूरा मन्त्र और अर्थ देखो (नं० ३१)

(२०२) प्रश्न—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' [श्वेताश्वतर ६।१८] यहाँ पर परमात्मा के दो रूप माने हैं—एक ब्रह्म निराकार और एक ब्रह्मावतार। इस कारण यह कहा गया कि उस निराकार और ब्रह्म ही की कृपा से ब्रह्मा के अन्तःकरण में वेद आये। —पृ० २४४, पं० १४

उत्तर—प्रथम तो यह प्रमाण वेद का नहीं है, अपितु उपनिषत् का है। वेद-प्रमाण की प्रतिज्ञा करके उपनिषत् का प्रमाण देना प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में आकार पराजय प्राप्त करना है। दूसरे, इस पाठ में कहीं भी ब्रह्म के दो रूप नहीं लिखे और न कहीं ब्रह्मावतार का वर्णन है। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ —श्वेताश्व० ६।१८

भाषार्थ—जो परमात्मा सृष्टि-आरम्भ में ब्रह्मा को पैदा करता है और जो उस ब्रह्मा के लिए वेदों को भेजता है। मैं मोक्ष की इच्छा करनेवाला आत्मा में बुद्धि का प्रकाश करनेवाले उस देव की शरण में जाता हूँ।

यहाँ पर ब्रह्मावतार का लेशमात्र भी नहीं है, अपितु 'परमात्मा ने ब्रह्म के लिए अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा द्वारा वेद भेजे' ऐसा सिद्ध होता है। परमात्मा ने आदि में चार ऋषियों पर वेद प्रकाशित किये, एक पर नहीं, जैसाकि **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** योग० समाधि० सू० २६। वह ईश्वर प्रथम उत्पन्न होनेवालों का भी गुरु है, क्योंकि वह नाशरहित है। यहाँ **'पूर्वेषाम्'** पद से सिद्ध है कि वेद का प्रकाश चार पर हुआ; यदि एक पर होता तो यहाँ 'पूर्वस्य' पद होता।

(२०३) प्रश्न—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः' इत्यादि [मुण्डकोपनिषत्] यहाँ पर ब्रह्मा द्वारा ही सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश हुआ, ऐसा लिखा है। —पृ० २४५, पं० १

उत्तर—आपने आरम्भ में प्रतिज्ञा की थी कि वेद का प्रमाण देंगे। अब मुण्डक का प्रमाण दे दिया। यद्यपि मुण्डकोपनिषत् वेद नहीं है, तथापि इस पाठ में न तो सृष्टि के आरम्भ का वर्णन है और न ही ब्रह्मा द्वारा चारों वेदों के प्रकट होने का ज़िक्र है। यहाँ तो 'एक ब्रह्मा नामक ऋषि ने अपने पुत्र को पढ़ाया' इत्यादि वर्णन है। हम पूरा पाठ और अर्थ नीचे देते हैं—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥ २॥

—मुण्डकोपनिषत् प्रथममुण्डके प्रथमखण्डे

भाषार्थ—ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा सबका उत्पादक, संसार का रक्षक ब्रह्मा नामक ऋषि उत्पन्न हुआ। उसने अथर्वा नामक अपने बड़े पुत्र को सब विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश किया॥ १॥ पहले अथर्वा को जिस विद्या का ब्रह्मा ने उपदेश किया, अथर्वा ने अङ्गिरा ऋषि के लिए उस ब्रह्मविद्या को कहा, उसने भारद्वाज गोत्रवाले सत्यवाह को और सत्यवहा ने अङ्गिरा ऋषि को पर और अपर विद्या का उपदेश किया॥ २॥

बतलाइए, इसमें चारों वेदों के प्रादुर्भाव का वर्णन कहाँ है?

(२०४) प्रश्न—ईश्वर का ज्ञान अग्नि, वायु, रवि—इन ऋषियों के अन्त:करण में आया। तब इन्हीं ने अपने मुँह से जो कहा वही वेद है। चोखी रही! सम्भव है ऋषियों ने अपने ही तरफ़ से कुछ कहा हो! उनके अन्त:करण में ईश्वरीय ज्ञान आया इसका क्या प्रमाण?

—पृ० २४७, पं० १

उत्तर—संसार में कोई मनुष्य बिना पढ़ानेवाले के अपने-आप ज्ञानी वा विद्वान् नहीं बन सकता। यदि अपने-आप विद्या आ जावे तो अफ़रीका के हब्शी भी एम०ए० हो जावें, किन्तु ऐसा नहीं होता। सृष्टि के आरम्भ में जो चार ऋषि हुए उन्हें अपना कोई ज्ञान न था, क्योंकि उस समय उनको ज्ञान देनेवाला सिवाय परमात्मा के और कोई न था, अत: उनके अन्त:करण में जिस ज्ञान का प्रकाश हुआ वह ईश्वर का ही ज्ञान था, ऋषियों का अपना ज्ञान न था। ऋषि तो ग्रामोफोन के रिकार्ड की भाँति निमित्तमात्र ही थे, अत: आपकी शंका सर्वथा निर्मूल है, और यही शंका आपके सिद्धान्त पर भी की जा सकती है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं कि ब्रह्मा ईश्वर के अवतार थे। सम्भव है किसी चालाक आदमी ने अपना नाम ब्रह्मा रखकर और अपने को ईश्वर का अवतार बताकर मनमाना ज्ञान वेद के नाम से सनातनियों के गले मढ़ दिया हो! भला! एक बात तो बतलावें कि आप जो कहते हैं कि चारों वेद चार मुखवाले आठ हाथोंवाले ब्रह्मा पर प्रकट हुए, इसमें फ़र्क क्या हुआ? सिर्फ इतना ही न कि आपने चार आदमियों को जोड़कर एक बना दिया और हमने चार पृथक्-पृथक् रक्खे, जिसमें हमारा कहना सम्भव तथा सत्य है तथा आपकी कल्पना असम्भव और असत्य है।

(२०५) प्रश्न—मनुस्मृति और शतपथब्राह्मण दयानन्द की दृष्टि में बहुत पश्चात् बने, इस कारण यह नहीं माना जा सकता कि वेदों के प्रादुर्भूत काल में वह ज्ञान ईश्वरीय समझ लिया गया हो, क्योंकि उस समय कोई ग्रन्थ साक्षी देनेवाला नहीं था। —पृ० २४७, पं० ५

उत्तर—सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों की ओर से चारों वेदों के ज्ञान का प्रादुर्भूत होना उस ज्ञान के ईश्वरीय होने का स्वयं प्रमाण है, क्योंकि उस समय ईश्वर के बिना कोई ज्ञानदाता था ही नहीं और अपने-आप ज्ञान होता नहीं। सृष्टि के आरम्भ के लोग इस बारे में स्वयं साक्षी थे। उन्हीं की साक्षी से शतपथ और मनु ने लिखा जोकि वेदानुकूल और सम्भव होने से हमें प्रमाण हैं। और यही सवाल तो आपपर भी हो सकता है, क्योंकि उपनिषत् भी आरम्भ-सृष्टि में न थे और किसी ग्रन्थ की साक्षी के बिना ब्रह्मा के ज्ञान को भी ईश्वरीय न समझा गया हो यह भी सम्भव है, अत: यह युक्ति किसी स्वस्थ दिमाग़ से निकली प्रतीत नहीं होती।

(२०६) प्रश्न—'**ब्रह्मज्येष्ठा**' इस मन्त्र ने जो वेद में ब्रह्मा का अवतार बतलाया '**यो ब्रह्माणम्**' इस श्रुति में ब्रह्मा के अन्त:करण में वेदों का आगमन बतलाया, इसी प्रकार मुण्डकोपनिषत् ने ब्रह्मा का अवतार और ब्रह्मा के द्वारा संसार में जो वेदों का आगमन बतलाया—इन सब श्रुतियों को तो स्वामी दयानन्दजी चाट गये, केवल मनु और शतपथ से ऋषियों द्वारा वेद-आगमन मानते हैं।

—पृ० २४७, पं० ९

उत्तर—'**ब्रह्मज्येष्ठा**' में न तो ईश्वर के ब्रह्मा-अवतार का वर्णन है और न ब्रह्मा पर वेदों

के प्रकाश का ज़िक्र है, अपितु ईश्वर की उत्कृष्टता का वर्णन है। **'यो ब्रह्माणम्'** इसमें यह वर्णन है कि 'परमात्मा ने पहले ब्रह्मा को बनाया, फिर उसके लिए वेद भेजे'; वेद कैसे भेजे इसका कोई वर्णन नहीं। यदि आप कहें हृदय में प्रकाशित किये तो भेजना शब्द उसके लिए उचित नहीं। इसलिए हमारा ही पक्ष ठीक है कि अग्नि आदि चार ऋषियों के द्वारा ही ब्रह्मा को चारों वेद प्राप्त करवाये या भेजे। फिर जब ब्रह्मा स्वयं ही ईश्वर थे तो यह क्या बात बनी कि ईश्वर ने ब्रह्मा के लिए वेद भेजे? इससे तो ब्रह्मा ईश्वर के अवतार सिद्ध नहीं होते। अब रही बात मुण्डकोपनिषत् की, सो यहाँ पर जिन ब्रह्माजी का वर्णन है वह आपके सृष्टि के आरम्भवाले ब्रह्मा प्रतीत नहीं होते, क्योंकि सृष्टि के आरम्भवाले आपके अवतार ब्रह्मा के पुत्रों की गणना जहाँ पुराणों में है, वहाँ अत्रि, पुलस्त्य पुलह, मरीचि, भृगु, अंगिरा, क्रतु, वसिष्ठ, वोढ, कपिल, आसुरि, कवि, शंकु, शंख, पंचशिख, प्रचेता, (ब्रह्मवै० खं० ४ अ० ३०।३३-३४) आदि नाम तो ब्रह्मा के पुत्रों के आते हैं, किन्तु अथर्वा नाम ब्रह्मा के पुत्र का कहीं नहीं आता, इससे पता लगा कि यह सृष्टि के आदिवाले वेदों के निर्माता पौराणिक ब्रह्मा न थे, अपितु यह कोई और ब्रह्मा थे जिन्होंने अपने पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या पढ़ाई। आप कोई ऐसा प्रमाण पेश नहीं कर सके जिससे ब्रह्मा का सृष्टि के आदि में पैदा होना तथा उसका वेद कथन करना सिद्ध हो सके, हमारे पास प्रमाण हैं—

(क) **अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात् समावेदः।** —शत० ११।५।८।३॥

(ख) **यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसो अहरहः स्वाध्यायमधीते।**
—शत० ११।५।६।७

(ग) **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।**
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ —मनु० १।२३

(घ) **श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्॥** —मनु० ११।३३

भाषार्थ—(क) अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद प्रकट हुए। (ख) जो अथर्ववेदवाला अंगिरा मुनि वह जो इस प्रकार से जानता है कि अथर्वाङ्गिरा हमेशा स्वाध्याय करता है। (ग) ब्रह्मा ने अग्नि-वायु-रवि से तीनों सनातन वेद ऋग्, यजु, साम लक्षणवाले यज्ञ की सिद्ध के लिए प्राप्त किये। (घ) बिना किसी सन्देह के अंगिरा ऋषि पर प्रकट हुई अथर्ववेद की श्रुतियों का पाठ करे।

अब आप स्वयं न्यायपूर्वक सोचें कि आपका पक्ष कितना निर्बल और स्वामीजी का पक्ष कितना प्रबल है!

(२०७) प्रश्न—स्वामीजी की दृष्टि में मनुस्मृति और शतपथब्राह्मण जिसको स्वामी दयानन्दजी ने पुराण माना है—ये दोनों ही ग्रन्थ स्वत:प्रमाण नहीं है, वेदानुकूल होने पर प्रमाण हैं, किन्तु **'अग्निवायुरविभ्यस्तु'** इत्यादि मनु के प्रमाण और **'अग्नेर्ऋग्वेदः'** इत्यादि शतपथ के प्रमाण की वेदानुकूलता पाई नहीं जाती, फिर स्वामी दयानन्दजी ने इन दो प्रमाणों को स्वत:प्रमाण कैसे माना?
—पृ० २४७, पं० १४

उत्तर—प्रथम आप ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं और श्लोकग्रन्थों को भी वेदवत् ब्रह्म से ही प्रकट हुआ मानते हैं। इससे शतपथ और मनस्मृति आपके लिए तो दोनों ही स्वत:प्रमाण हैं, आपको ननुनच करने का क्या हक़ है? दूसरे, आप इन दोनों प्रमाणों के साथ वेद का विरोध नहीं दिखा सके। यदि आप वेद से ब्रह्मावतार द्वारा वेदों का प्रकट होना सिद्ध कर देते तो ये दोनों प्रमाण वेदविरुद्ध होने से न मानने के योग्य हो जाते, किन्तु ऐसा करने में आप कृतकार्य नहीं हुए, अत: विरोधाभाव में विधान वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

तीसरी, इस विषय में वेद स्वयं भी इसकी पुष्टि करते हैं। जैसे—

अग्नि से ऋग्वेद— **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**
होतारं रत्नधातमम्॥ —ऋ० १।१।१
अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः। —ऋ० ९।६६।२०

वायु से यजुर्वेद— **इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे**—इत्यादि। —यजुः० १।१

आदित्य से सामवेद— **अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये**—इत्यादि। —साम० १।१।१।१
अग्निर्वार्कः। —शत० २।५।१।४

अङ्गिरा से अथर्ववेद— **ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।**
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ —अथर्व० १।१।१
अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। —अथर्व० १०।७।२०

भाषार्थ—मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ जो पुरोहित तथा यज्ञ का ऋत्विज देव है तथा होता है और वेदरूपरत्न का धारण करनेवाला है।

जो पवित्र सब मनुष्यों का पुरोहित है, वह ऋषि अग्नि है।

श्रेष्ठ कर्मों के लिए हमारा ज्ञानदाता, वेदविज्ञान के बल के लिए वह वायुदेव उपस्थित है।

हे अग्ने! तू हमें वेदवाणी का दान करने के लिए आ। यहाँ अग्नि नाम सूर्य का है।

वाचस्पति वेदवाणी का धारण करनेवाला है। अङ्गिरा का अथर्ववेद मुख है।

अर्थात् जिस ऋषि पर ऋग्वेद प्रकाशित हो उसका नाम अग्नि, जिसपर यजुर्वेद प्रकाशित हो उसका नाम वायु, जिसपर सामवेद प्रकट हो उसका नाम आदित्य और जिसपर अथर्ववेद प्रकाशित हो उस ऋषि का नाम अङ्गिरा है।

शतपथ तथा मनु के प्रमाण उपर्युक्त वेदमन्त्रों के अनुकूल होने से प्रमाण करने के योग्य हैं।

(२०८) प्रश्न—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव' ब्रह्मा सब देवताओं से प्रथम प्रकट हुआ, मनु के प्रथम अध्यायानुकूल आदि में अयोनिज ऋषियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है, फिर वे चार ऋषि आये कहाँ से? इन ऋषियों के द्वारा ब्रह्मा ने वेद पढ़ा—इसका लेख वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास किसी में भी नहीं है। —पृ० २४७, पं० २२

उत्तर—हम यह सिद्ध कर आये हैं कि **'ब्रह्मा देवानाम्'** इत्यादि मुण्डक में जिस ब्रह्मा का वर्णन है, वह पौराणिक चतुर्मुख, अष्टभुज अवतार ब्रह्मा न थे, अपितु वह अन्य ब्रह्मा थे, क्योंकि पौराणिक ब्रह्मा के पुत्रों में कहीं भी अथर्वा का नाम पुराणों में नहीं आता, अतः अथर्वा के पिता ब्रह्मा चतुर्मुख ब्रह्मा से भिन्न थे और वह सृष्टि के आदि में भी नहीं हुए। यहाँ पर आदि का अर्थ श्रेष्ठ तथा प्रसिद्ध है अर्थात् 'विद्वानों में प्रसिद्ध ब्रह्मा नामक ऋषि हुए'। रही मनु के प्रथम अध्याय की बात, वहाँ भी सृष्टि के पैदा करनेवाले, चतुर्मुख पौराणिक ब्रह्मा नहीं हैं, अपितु ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा हैं। जैसाकि—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टिः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
—मनु० १।११

भाषार्थ—जो वह सदसदात्मक, नित्य, अप्रकट, कारण, अर्थात् सूक्ष्म प्रकृति है उसके सहित उस व्यापक परमात्मा को ब्रह्मा कहते हैं॥११॥ उसी ने सारी सृष्टि को बनाकर आरम्भ में—

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। —यजुः० ३१।९

देवा योगिनः कपिलादयश्च साध्याश्चापरे ऋषयः। —उव्वट-भाष्य

भाषार्थ—योगी कपिलादि मनुष्य और ऋषियों को पैदा किया।

यही बात मनुस्मृति कह रही है कि—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ —मनु० १।२२

भाषार्थ—उस परमात्मा ने कर्मशील देवों को और मनुष्यों की अल्प संख्या तथा सनातन यज्ञ को पैदा किया॥ २२॥

इन सृष्टि के आदि में पैदा होनेवालों में अग्नि आदि चार ऋषि और ब्रह्मा भी थे। तब परमात्मा ने ब्रह्मा को इन चार ऋषियों के द्वारा चार वेद प्राप्त करवाये और ब्रह्मा ने प्राप्त किये। यह तो वेद तथा धर्मशास्त्र का प्रमाण है। अब पुराण, इतिहास का प्रमाण भी सायणाचार्य की सम्मतिसहित उपस्थित है। ज़रा पढ़िए—

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐतरे० ब्रा० ५।३२॥ इति। श्रुतेरीश्वरस्याग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्॥
—सायणभाष्यभूमिकासंग्रह पृ० ४

भाषार्थ—अग्नि, वायु, आदित्य विशेष जीवों से वेदों के पैदा होने से ऋग्वेद ही अग्नि से पैदा हुआ, यजुर्वेद वायु से, सामवेद आदित्य से, ऐसी श्रुति होने से, ईश्वर के अग्नि आदि के प्रेरक होने से, ईश्वर से वेदों का निर्माण जानना चाहिए। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि चारों वेद चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा प्रकट नहीं हुए, अपितु अग्नि आदि चार ऋषियों द्वारा परमात्मा ने प्रकट किये और उनके द्वारा ही ब्रह्मा ऋषि को प्राप्त कराये।

(२०९) प्रश्न—मनु और शतपथ इन दोनों में अग्नि, वायु, रवि इन तीन का नाम आता है। यह चौथा अङ्गिरा कहाँ से कूद बैठा? —पृ० २४७, पं० ३०

उत्तर—चौथे वेद अथर्व के साथ प्रायः अङ्गिरा का स्वयं ही नाम आता है, अतः इन तीन के साथ उसका नाम नहीं दिया गया। वैसे शतपथ तथा मनु में नाम भी मौजूद है, (देखो नं० २०६)। और आपने अपने पुस्तक में पृ० ६७, पं० २७ में स्वयं भी लिखा है कि 'अङ्गिरा ऋषि अवश्य थे', फिर अब बतलावें चौथे में क्या सन्देह है?

(२१०) प्रश्न—(१) अग्नि, वायु, रवि, अङ्गिरा ये ऋषि किस ज़माने में हुए? (२) इनका होना वेद, धर्मशास्त्र, दर्शन, पुराण कहीं पर नहीं मिलता। (३) इन ऋषियों की उत्पत्ति कहाँ लिखी है? (४) यदि ये ऋषि थे तो इनकी माताओं का क्या नाम था? (५) और किन-किन मनुष्यों के ये पुत्र थे? (६) ये किस देश में हुए? (७) इनके कितने-कितने भाई एवं कितनी-कितनी बहिनें थीं? (८) फिर ये किस-किसके यहाँ विवाहे गये। (९) इनके श्वसुरों और इनकी स्त्रियों का क्या-क्या नाम था? (१०) तथा इन ऋषियों में से किस-किस ऋषि के कितने-कितने पुत्र हुए? (११) इन ऋषियों के गोत्र और प्रवर क्या थे? —पृ० २४८, पं० ४

उत्तर—(१) सृष्टि के आरम्भ में प्रथम दिवस प्रातःकाल हुए। (२) इनका होना वेद में (देखो नं० २०७), धर्मशास्त्र में (देखो नं० २०६), पुराणों में (देखो नं० २०८) लिखा हुआ है। (३) इनकी उत्पत्ति यजुः० ३१।९ में (देखो नं० २०८) लिखी है। (४) अमैथुनी सृष्टि में होने के कारण इनकी गर्भधारण करनेवाली माँ न थी। (५) तथा नस्ली पिता भी न थे। (६) ये त्रिविष्टिप् अर्थात् तिब्बत देश में हुए। (७) नस्लन् इनके कोई भाई-बहिन न थे, आत्मिक सम्बन्ध से सब पुरुष भाई तथा स्त्रियाँ बहिनें थीं। (८) ये आयुभर ब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं करवाया। (९) जब विवाह ही नहीं हुए तो श्वसुर और स्त्रियाँ कहाँ?

(१०) इनके नस्ली पुत्र न थे; आत्मिक पुत्र सब शिष्यवर्ग थे, जिनमें आपके ब्रह्मा भी शामिल हैं। (११) मनुष्यों के गोत्र और प्रवर इनके पीछे कल्पित किये गये हैं।

(२११) प्रश्न—'**स ब्रह्मविद्याम्**' मुण्डक की इस श्रुति में ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को वेद पढ़ाये और अथर्वा ने अंगिरा को, अंगिरा ने सत्यवाह को वेदों का उपदेश किया—यह जो क्रम वेद ने बतलाया है क्या यह झूठा है? —पृ० २४८, पं० १५

उत्तर—यह क्रम वेद ने नहीं बतलाया, उपनिषत् ने बतलाया है। उपनिषत् वेद नहीं है। इस क्रम को हम झूठा नहीं कहते, किन्तु यह क्रम पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं है, क्योंकि पुराणों में कहीं ब्रह्मा के पुत्र अथर्वा का वर्णन नहीं है और क्योंकि प्रत्येक चार वेदवक्ता का नाम ब्रह्मा है, अतः यह क्रम किसी और ब्रह्मा का है, जिसके पुत्र का नाम अथर्वा था। इससे ब्रह्मा पर वेदों का प्रकट होना सिद्ध नहीं होता।

(२१२) प्रश्न—यह सब रचना ब्रह्मा ने की है। वही ब्रह्मा '**अग्निवायुरविभ्यस्तु**' इस श्लोक में 'दुदोह' क्रिया का कर्त्ता है, अर्थात् इस श्लोक में '**ऋग्यजुः सामलक्षणम्**' यह कर्म है। ब्रह्मा कर्त्ता है दुदोह क्रिया है अर्थ हुआ कि अग्नि, वायु, रवि से ब्रह्मा ने वेदों को दुहा। —पृ० २४९, पं० ५

उत्तर—इस सारे संसार की रचना ब्रह्मा नामक परमात्मा ने की है, जिसमें अग्न आदि तथा ब्रह्मादि ऋषि भी शामिल हैं। '**अग्निवायुरविभ्यस्तु**' इस श्लोक में ब्रह्मा कर्त्ता है तथा ऋग्यजुः साम और अग्नि आदि ऋषि कर्म हैं और दुदोह क्रिया है। दुह धातु द्विकर्मक है तथा 'ण्यन्तगर्भा' है, अतः अर्थ यह हुआ कि 'परमात्मा ने अग्नि, वायु, रवि के द्वारा ब्रह्मा को चारों वेद प्राप्त कराये।' जब आपको संस्कृत का व्याकरण नहीं आता तो आप व्यर्थ में टाँग क्यों अड़ाते हैं?

(२१३) प्रश्न—जो पदार्थ किसी पदार्थ में व्यापक होता है वह उसमें से दुहा जाता है जैसे गौ के अङ्ग-अङ्ग में दूध है, वह स्तनों से दुह लिया जाता है। तो क्या इन तीन ऋषियों के हाड़, मांस, रुधिर, चमड़े में वेद व्यापक हो गया जो ईश्वर ने तीनों को पकड़कर दुह लिया? —पृ० २४९, पं० २२

उत्तर—कुरबान जाएँ आपकी दर्शनविद्या पर! यहाँ तो आपने फ़िलासफ़ी की टाँग ही तोड़ दी। क्योंजी! क्या दूध गाय के हाड़, मांस, रुधिर, चमड़ा, गोबर, पेशाब सबमें व्यापक है? यदि यही बात है तो आप उपर्युक्त वस्तुओं का दूध के स्थान में प्रयोग क्यों नहीं करते? और यदि दूध व्यापक है तो स्तनों द्वारा ही क्यों निकलता है मुख, नाक, कान, आँख, योनि, गुदा, द्वारा क्यों नहीं निकलता? जैसे खून गौ के शरीर में व्यापक है तो जहाँ ज़ख़्म होगा वहीं से खून निकल पड़ेगा, इसी प्रकार से प्रत्येक स्थान से दूध निकलना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः पता लगा कि दूध गौ के शरीर में व्यापक नहीं है, अपितु कुछ नाड़ियाँ दूध बनाती हैं जिनका स्तनों से सम्बन्ध है जिनसे दूध निकलता है। फिर दूध का उदाहरण ग़लत है, क्योंकि वेदज्ञान शारीरिक वस्तु नहीं अपितु आत्मिक वस्तु है और वह ज्ञान परमात्मा ने ऋषियों की आत्मा में व्यापक होते हुए प्रकाशित किया और उनसे ब्रह्मा ने पढ़ा, इसी का नाम दोहना या प्राप्त करना है। कहिए, अब भी अक़्ल ठिकाने आई या नहीं?

(२१४) प्रश्न—अग्नि, वायु, सूर्य इन पद-पदार्थों में जो सूक्ष्म होके वेद सर्वव्यापक बन गया था, उसको ब्रह्मा ने खैंचकर वेद के स्थूल रूप में कर दिया, यह असली अर्थ है। —पृ० २५०, पं० १

उत्तर—वेद ज्ञान है। वह आत्मा का गुण है, अतः वह या तो परमात्मा में रह सकता है या जीवात्मा में; किन्तु अग्नि, वायु, सूर्य, ये तीनों जड़ पदार्थ हैं। इनमें वेद का ज्ञान सूक्ष्म होकर कैसे व्यापक बन गया था और ब्रह्मा ने उनमें से कहाँ से खैंचकर स्थूलरूप में कर दिया? यह फ़िलासफ़ी किस दर्शन के अनुसार है, ज़रा बतलाने की कृपा करें वरना सोच-समझकर बात किया

करें। व्यर्थ गप्पबाज़ी से वैदिक सिद्धान्त का खण्डन नहीं हो सकता। अग्नि, वायु, सूर्य नामवाले ऋषि थे, जिनके द्वारा परमात्मा ने ब्रह्मा को वेद प्राप्त करवाये।

(२१५) प्रश्न—चतुर्थ अथर्ववेद को दयानन्दजी के मत में पता नहीं कि अब्दुल रहमान ने बनाया या डाक्टर स्मिथ ने। —पृ० २५०, पं० ६

उत्तर—यह सनातनधर्म में ही सम्भव हो सकता है कि ऐरे-ग़ैरे नत्थू खैरे की बनाई हुई किताब को भी वेद का दर्जा दिया जा सके। वैदिक सिद्धान्त अटल हैं। उनमें मनुष्यकृत, बनावटी वस्तु शामिल नहीं हो सकती। यह ठग्गी सनातनधर्म में ही चल सकती है कि 'आग़ाखाँ' और 'ग़ुलाम अहमद कादयानी' जैसे लोग अपने-आपको कृष्ण का अवतार और अपनी वाणी को वेद बताकर हज़ारों हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे हैं। रही चौथे वेद अथर्व की बात, सो वह अंगिरा ऋषि द्वारा परमात्मा ने ब्रह्मा को प्राप्त करवाया जिसका वर्णन शतपथ तथा मनु में मौजूद है (देखो नं० २०६)। तथा अथर्ववेद में स्वयं **'अथर्वांगिरसो मुखम्'** इन शब्दों में वर्णन मौजूद है (देखो नं० २०७)।

(२१६) प्रश्न—जिस मनु के श्लोक को आगे रखकर तीन ऋषियों से वेदोत्पत्ति बतलाई उसके पहले श्लोक में मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने देवता और साध्यों को पैदा किया। दयानन्द के मत में मनुष्यों से भिन्न देवता और साध्य होते ही नहीं। दयानन्दजी तो पढ़े हुए मनुष्यों को देवता एवं साध्य मानते हैं। जब हम यह श्लोक आर्यसमाजियों के आगे रखते हैं कि देखो मनु ने मनुष्यों की उत्पत्ति तो पहले लिख दी और अब इस श्लोक में देवता तथा साध्यों की उत्पत्ति बतलाई गई है इस कारण देवता तथा साध्यसृष्टि मनुष्य-सृष्टि से भिन्न है, तब आर्यसमाजी कहते हैं कि **'कर्मात्मनाम्'** यह श्लोक वेदानुकूल नहीं है, अतएव हम इसको नहीं मानते। जैसे **'कर्मात्मनाम्'** वेदानुकूल नहीं है वैसे ही 'अग्निवायु' यह श्लोक भी वेदानुकूल नहीं है, फिर इसको दयानन्दजी ने क्यों माना? —पृ० २५०, पं० ९

उत्तर—बेशक वैदिक सिद्धान्तानुसार देव, साध्य, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व आदि सबकी एक ही मनुष्यजाति है (देखो नं० १९४)। केवल देश, कर्म, नाम का भेद है। **'कर्मात्मनाम्'** मनु० १।२२ से पूर्व मनुस्मृति में कहीं भी मनुष्यों की उत्पत्ति लिखी हुई नहीं है। आपने यह सुफ़ैद झूठ बोला है। यदि हिम्मत हो तो दिखलावें वरना इस झूठ के लिए प्रायश्चित्त करें। इस श्लोक का अर्थ यह है कि ब्रह्मा=परमात्मा ने कर्मात्मप्राणी देव तथा साध्य पैदा किये जिनमें ब्रह्मादि ऋषि भी थे। अगले श्लोक में बतलाया कि ब्रह्मा=परमात्मा ने अग्नि आदि चार ऋषियों द्वारा चार वेद ब्रह्मा ऋषि को प्राप्त करवाये, अतः ये दोनों श्लोक वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं और आपकी सारी कल्पना निर्मूल तथा मिथ्या है।

(२१७) प्रश्न—**प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदिति** [शत० ११।५।८।१ से ४] इन श्रुतियों में स्पष्ट लिखा है कि तप के द्वारा प्रजापति ने तीन लोकों को बनाया और उन तीन लोकों को तपाकर अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन ज्योतियों को बनाया, एवं इन तीन ज्योतियों को तपाकर उनसे तीन वेदों को बनाया। अब पाठक विचार करें कि अग्नि, वायु, सूर्य—ये तीनों ही ज्योतियाँ तत्त्व हैं या ऋषि और फिर इन ज्योतियों को तपाया है, क्या वे ऋषि तपाये गये थे?

—पृ० २५०, पं० २५

उत्तर—यदि ऋषि न तपाये गये थे तो क्या ज्ञानशून्य, जड़ तत्त्वों से वेद टपक पड़े थे? कभी तो बुद्धिपूर्वक विचार किया करें। यहाँ पर तप नाम तपाने का नहीं है अपितु ज्ञानविचार का नाम तप है, वरना वहाँ कोई लुहार की भट्टी थोड़ा ही थी जिसमें सबको तपाया जाता था। आपने पाठ का अर्थ भी पूरा नहीं किया। हम इसका ठीक-ठीक अर्थ नीचे कर देते हैं—

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात् त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः॥ १॥ स इमाँस्त्रींलोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतिꣳष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः॥ २॥ स इमानि त्रीणी ज्योतीꣳष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ ३॥ स इमाँस्त्रीन् वेदानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद् भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम॥ ४॥

—शत० ११।५।८।१-४

भाषार्थ—यह एक ही प्रजापति पहले था, उसने सोचा कि मैं प्रजा के सहित हो जाऊँ। उसने ज्ञानपूर्वक प्रयत्न किया। उस ज्ञान तथा यत्न से उसने तीन लोक बनाये—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ॥ १॥ उसने इन तीन लोकों को रचा, इन तीन लोकों के रचने पर उसने संसार को ज्ञान से प्रकाशित करने के लिए तीन प्रकाशमान् ऋषि पैदा किये—अग्नि, वायु, सूर्य॥ २॥ उसने इन तीन ज्योतिष्मान् ऋषियों को ज्ञान दिया, उनके ज्ञानवान् होने पर तीन वेद प्रकाशित हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद॥ ३॥ उसने इन तीन वेदों को प्रकाशित किया—उनके प्रकाशित होने पर तीन शक्तियाँ पैदा हुईं। भूः ऋग्वेद से, भुवः यजुर्वेद से, स्वः सामवेद से। सो ऋग्वेद से ही होता हवन करता है, यजुर्वेद से अध्वर्यु घी का हवन करता है, सामवेद से मङ्गल गाया जाता है और इन तीनों विद्याओं से ज्ञानवान् होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ ४॥

अब बतलावें यहाँ तीन ज्योतियाँ तत्त्व हैं या ऋषि? क्या ज्ञान तत्त्वों को दिया जा सकता है और क्या तत्त्वों से वेदों का ज्ञान प्रकाशित होना सम्भव है?

(२१८) प्रश्न—अभी ब्रह्मलोक में बैठे हुए प्रजापति ब्रह्मा ब्रह्माण्ड की रचना कर रहे हैं, इस समय तो पृथिवी आदि लोकों में प्राणधारण करनेवाले प्राणियों की उत्पत्ति ही नहीं हुई, अभी तो पृथिवी पर एक मनुष्य भी पैदा नहीं हुआ, फिर ये अग्नि, वायु, रवि—तीन ऋषि आये कहाँ से? —पृ० २५१, पं० २१

उत्तर—आप भंग की तरंग में कहाँ की बातें कर रहे हैं? प्रजापति परमात्मा ने तीनों लोक पैदा करके मनुष्य-सृष्टि पैदा कर दी और मनुष्यों को ज्ञान देने के लिए तीन प्रकाशमान् ऋषि पैदा किये जिनके द्वारा वेद प्रकाशित किये। यदि आपको यह बात नज़र न आवे तो हमारा क्या क़ुसूर!

(२१९) प्रश्न—अब तीन लोकों को तपाया गया, उनका सारभूत तीन तत्त्व निकलेंगे या तीन लोकों में से तीन ऋषि कूद पड़ेंगे? —पृ० २५१, पं० २४

उत्तर—अब तीन लोकों में ज्ञान देने के लिए तीन ऋषियों की ज़रूरत है या तीन तत्त्वों की। तत्त्व तो पूर्व थे ही और तत्त्वों से ज्ञानप्रकाश असम्भव होने के कारण तीन ऋषि ही पैदा हुए, तत्त्व नहीं।

(२२०) प्रश्न—जब शतपथ स्वयं अग्नि, वायु, रवि को ज्योति लिख रहा है, फिर ये ऋषि कैसे होंगे? —पृ० २५१, पं० २६

उत्तर—जब शतपथ स्वयं वेदों का प्रकाश करनेवाली तीन ज्योतियाँ लिख रहा है तो फिर ये ज्ञान-शून्य जड़तत्त्व कैसे होंगे? ज्ञानज्योति से प्रकाशित ऋषि ही हो सकते हैं, तत्त्व नहीं।

(२२१) प्रश्न—दयानन्दजी ने शतपथ की श्रुति से ज़रा-से टुकड़े को चुराकर आर्यसमाजियों को जो धोखे में डाला है, यह दयानन्दजी की चोरी और सीनाज़ोरी है। —पृ० २५१, पं० २७

उत्तर—यहाँ तप के अर्थ तपाना और वेद के प्रकाश करनेवाली ज्योति का तत्त्व अर्थ करके

जो आपने सनातनधर्मियों की आँखों में धूल डालकर अपने-जैसा बनाना चाहा है, यह आपकी ईमानदारी नहीं है।

(२२२) प्रश्न—फिर यह श्रुति दयानन्द के अद्वैत सिद्धान्त पर चौका लगा देती है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि अकेला प्रजापति कामना करता है कि 'मैं प्रजा बनूँ।' श्रुति 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' कह रही है। इसलिए दयानन्दजी ने सब श्रुतियों को नहीं उठाया, जान गये कि अग्नि, वायु, रवि ऋषि न होकर तत्त्व बन जाएँगे और इससे भिन्न प्रकृति से जो हमने संसार की उत्पत्ति मानी है, वह भी मिट जाएगी। —पृ० २५२

उत्तर—आप गहरी भंग की तरंग में लिखने बैठे हैं तभी तो स्वामी दयानन्द का अद्वैत सिद्धान्त बतला रहे हैं। होश से बात करें। स्वामी दयानन्दजी न द्वैतवादी हैं न अद्वैतवादी। वह तो त्रित्त्ववादी हैं। वे ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अनादि मानते हैं और शतपथ का यह पाठ स्वामीजी के सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है। प्रजापति एक ही था यह ठीक, किन्तु उसकी प्रजा प्रकृति और जीव भी थे तभी तो प्रजापति नाम हुआ। यदि प्रजा का अभाव होता तो प्रजापति नाम कैसे होता? क्या कभी 'बेमुल्क नवाब' भी होता है? इसमें 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' की गन्ध भी नहीं है। ऋषि दयानन्दजी ने उतना पाठ दे दिया जितने की आवश्यकता थी वरना यह पाठ शेष पाठ का विरोधी नहीं है। ऋषि जानते थे कि वेदज्ञान का प्रकाश होना चैतन्य ऋषियों द्वारा ही सम्भव है, जड़ तत्त्वों द्वारा नहीं, अतः उन्होंने सिद्धान्त निश्चित कर दिया कि परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों द्वारा ब्रह्मादि ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया। स्वामीजी के इस सिद्धान्त की पुष्टि वेद, शतपथ, ऐतरेय, सायणाचार्य, मनुस्मृति तथा कुल्लूकभट्ट भी करते हैं, अतः यही सिद्धान्त वेदानुकूल सत्य है तथा चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा वेद का प्रकाश वेदविरुद्ध और मिथ्या पौराणिक कल्पना है।

परिणाम

इस सारे लेख का परिणाम यह है कि सृष्टि के आरम्भ में केवल एक ऋषि ही पैदा नहीं हुआ अपितु अनेक ऋषि पैदा हुए जैसे कि **'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।'** [यजुः० ३१।९] में साफ़ लिखा है कि परमात्मा से देवता, साध्य और ऋषि पैदा हुए। यहाँ बहुवचन से सिद्ध है कि अनेक देवता, साध्य तथा ऋषि पैदा हुए। यदि एक ब्रह्मा ही आदि में पैदा हुआ होता तो वेद उसी का वर्णन करता। फिर इसकी पुष्टि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥—योगसू० समाधिपादे सू० २६

अर्थात् वह परमेश्वर सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा को वेदों का उपदेश करने के कारण गुरु नामवाला है।

अब यहाँ भी सिद्ध होता है कि परमात्मा ने आरम्भ में कई ऋषियों को वेदों का उपदेश किया तभी तो **'पूर्वेषाम्'** शब्द बहुत का वाची आया, वरना यदि एक ब्रह्मा ही आदि में होता तो सूत्र में **'पूर्वस्यापि गुरुः'**, 'पहले ब्रह्मा का गुरु' ऐसा पाठ होता। इससे सिद्ध है कि परमात्मा ने चारों ऋषियों पर चारों वेदों का प्रकाश किया। उनसे ब्रह्मा ने पढ़े, यही निश्चित सिद्धान्त है।

फलित ज्योतिष

(२२३) प्रश्न—'यानि नक्षत्राणि' इत्यादि [अथर्व० १९।८।१] इस मन्त्र में नक्षत्रों से कल्याण करने की प्रार्थना करना लिखा है। —पृ० २५२, पं० १४

उत्तर—इस मन्त्र में नक्षत्रों से कल्याण की प्रार्थना नहीं की गई, क्योंकि सभी नक्षत्र जड़ हैं। इनका हमारी तबीयत के अनुसार हमारे साथ गर्मी-सर्दी और प्रकाश का सम्बन्ध तो है, इनका

हमारे कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता है और परमात्मा की व्यवस्था से अपने पुण्य-पापकर्मों का फल सुख और दुःख के रूप में पाता है। यदि सुख-दुःख के देनेवाले नक्षत्र हों तो वेद का उपदेश कि—

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥ —यजुः० ४०। २

भाषार्थ—मनुष्य इस संसार में धर्मयुक्त कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे। इस प्रकार धर्मयुक्त कर्मों में प्रवर्त्तमान तुझ नर में अधर्मयुक्त, अवैदिक कर्म का लेप नहीं होगा। इसके बिना कोई रास्ता नहीं है॥ २॥''

सर्वथा निरर्थक हो जावेगा। वेद का उपदेश स्पष्ट है कि कर्म करने से ही कल्याण है। किये कर्मों का फल अवश्य मिलता है। ग्रहों के कारण किये कर्म के फल से छुटकारा नहीं मिल सकता है। जैसे—

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्त्तारमभिमुञ्चति।
कर्त्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते॥ ८॥ —महा० शान्ति० अ० २९८

भाषार्थ—अधर्म किसी कारण से कर्त्ता को छोड़ता नहीं। निश्चय रूप से करनेवाला यथासमय उसके फल को अवश्य पाता है॥ ८॥

और ग्रहों के कारण बिना किये का फल मिलता नहीं। जैसे—

भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम्।
स्वकृतेनाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा॥ १७॥ —म० शान्ति० अ० २८८

भाषार्थ—भोजन-आच्छादन तथा माता-पिता का संग्रह जीव अपने कर्मों से प्राप्त करते हैं। बिना कर्म किये फल नहीं मिलता॥ १७॥

जब ग्रह किये हुए पापों के फल को टाल नहीं सकते तो उनका उपयोग क्या है? आप यदि फलित-ज्योतिष को सिद्ध करना चाहते हैं तो ऐसा प्रमाण उपस्थित कीजिए जिससे यह सिद्ध हो कि ग्रह किये कर्मों के फल को टाल सकते हैं या बिना कर्म किये भी फल दे सकते हैं। यदि कोई प्रमाण नहीं तो जनता को ग्रहों का झूठा भय दिखला-दिखलाकर लूटना परले दरजे की बेईमानी है। ये सब नक्षत्र, ग्रह, पृथिवी की भाँति जड़ हैं, न प्रार्थना से प्रसन्न और न निन्दा से अप्रसन्न होते हैं। हमारे विचार में तो फलित-ज्योतिष के जानने, बताने, ठगनेवाले ज्योतिषी ही जनता पर ग्रहरूप हैं। यदि जनता इनके पाखण्ड से परिचित हो जाए तो जनता को शान्ति प्राप्त हो जाए। इस मन्त्र में ग्रहों से प्रार्थना नहीं अपितु आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना है। मन्त्र का अर्थ नीचे दिया जाता है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥ १॥ —अ० १९। ८। १

भाषार्थ—हे परमेश्वर! जिन सितारों को आकाश के अन्दर, मध्यलोक में, जिनको जल के ऊपर और जिनको पहाड़ों के ऊपर सब दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है, ये सब नक्षत्र मुझे सुख देनेहारे हों॥ १॥

भावर्थ—जो नक्षत्र अपने तारागणों के साथ चन्द्रमा के आकर्षण और गतिमार्ग में घूमकर वायु द्वारा जल, पृथिवी आदि पर प्रभाव डालकर अन्न, स्वास्थ्य आदि बढ़ाने का कारण हैं, विद्वान् लोग उन नक्षत्रों के ज्योतिषज्ञान से लाभ उठावें॥ १॥

इस मन्त्र में फलितज्योतिष का लेशमात्र भी नहीं है।

(२२४) प्रश्न—'शन्नो ग्रहाश्च' इत्यादि [अथर्व० १९।९।१०] इस मन्त्र में ग्रहों से कल्याण की प्रार्थना करनी लिखी है। —पृ० २५२, पं० २०

उत्तर—इस मन्त्र में भी परमात्मा से आधिदैविक दुःखों को दूर करने की प्रार्थना है। आपको फलित-ज्योतिष की सिद्धि के लिए कोई ऐसा मन्त्र पेश करना चाहिए जिससे यह सिद्ध हो जाए कि जन्म-नक्षत्र के ज्ञान से उसके भविष्य-सौभाग्य का ज्ञान हो जाता है, किन्तु आप इस बारे में कोई मन्त्र पेश नहीं कर सकते, किन्तु आये दिन बच्चों की जन्मपत्रियाँ बना-बनाकर जनता से हज़ारों रुपये ठगते हैं। जिस नक्षत्र वा मुहूर्त्त में एक राजा का लड़का पैदा होता है उसी नक्षत्र में हज़ारों मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली आदि प्राणी पैदा होते हैं, किन्तु सबका सौभाग्य एक-सा नहीं होता। और भविष्य-कर्मफल या सौभाग्य का यदि पता लग जाए तो संसार बहुत-से कष्टों से बच जाए किन्तु ऐसा होता कदापि नहीं। सैकड़ों ज्योतिषियों की अपनी लड़कियाँ विधवा हो जाती हैं, किन्तु उनको पहले से उनके सौभाग्य का ज्ञान नहीं होता। ज्योतिषी सैकड़ों लोगों को यह बतलाकर कि तुमपर ग्रह चढ़ा हुआ है जप, पूजा, पाठ के बहाने से हज़ारों रुपया लोगों से ठगते हैं। लोगों को भविष्य में अनाज का भाव बतलाकर सैकड़ों के दिवाले कर देते हैं। यदि इनको इन अन्नों का भाव पता लग जावे तो ये स्वयं करोड़पति न बन जावें, दो-दो पैसे पर धक्के क्यों खाते फिरें? सिद्ध करने की तो ये उक्त बातें हैं जो सिद्ध नहीं हो सकतीं। मन्त्र का अर्थ नीचे दिया जाता है—

शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥१०॥ —अथर्व० १९।९।१०

भाषार्थ—हे परमात्मन्! चन्द्रमा के ग्रह कृत्तिकादि हमें शान्तिदायक होवें और सूर्य राहु के साथ शान्तिदायक होवे। मृत्युरूप धूमकेतु=पुच्छल तारा हमें शान्तिदायक हो, तीक्ष्ण तेजवाले गतिमान बृहस्पति आदि ग्रह शान्तिदायक होवें॥१०॥

कहिए, इस मन्त्र से फलित-ज्योतिष कैसे सिद्ध होता है? यह तो ऐसी ही शान्ति के लिए प्रार्थना है जैसे हम नित्यप्रति प्रार्थना करते हैं—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥
—यजुः० ३६।१७

भाषार्थ—हे परमात्मन्! हमारे लिए द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, समस्त देव, ब्रह्म, सब-कुछ तथा शान्ति भी शान्तिदायक हो।

बतलाइए, आपके दिये हुए मन्त्रों में से कौन-सी वस्तु शेष रह गई? ऐसी प्रार्थनाओं का यही प्रयोजन है कि इन पदार्थों का हमारे साथ जितना सम्बन्ध और उपयोग है उतने अंश में हमें उनसे सुख मिले। इससे ग्रहों का किसी पर चढ़कर पीड़ा देना, जन्मपत्र में भविष्य-भोगों का वर्णन करना, विवाह-शादी के शुभलगन, सफ़र में दिशाशूल तथा योगिनी, विवाह आदि में शुभाशुभ मुहूर्त, वैधव्ययोग आदि फलित-ज्योतिष की सिद्धि कैसे हो गई?

(२२५) प्रश्न—'ज्येष्ठघ्न्यां जातो, व्याघ्रेऽ ह्न्यजनिष्ट' इत्यादि [अथर्व० ६।११०।२-३] इन दोनों मन्त्रों में ज्येष्ठा तथा मूल नक्षत्र में पैदा हुए बालक की कुशलता के लिए मूलशान्ति करनी लिखी है। —पृ० २५३, पं० ३

उत्तर—आपने प्रतिज्ञा तो की है वेद से फलित-ज्योतिष सिद्ध करने की और समय टाल रहे हैं इधर-उधर की बातों में। भला, इन मन्त्रों में उपर्युक्त जन्मपत्रादि फलित-ज्योतिष का वर्णन कहाँ है? इन मन्त्रों में तो माता-पिता की सेवा तथा नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने का वर्णन

है। हम इन दोनों मन्त्रों का अर्थ देते हैं—

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ —अथर्व० ६।११०।२

भाषार्थ—ज्येष्ठ अर्थात् अतिवृद्ध वा उत्तम ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली, क्रिया में प्रसिद्ध, अन्धकार से छुड़ानेवाले सूर्य और चन्द्रमा के नियम के मूलछेदन से इस जीव को सब प्रकार बचा। सब विघ्नों को उलाँघकर सौ वर्षवाले दीर्घ जीवन के लिए इसको आप ले-चलें॥ २॥

भावार्थ—मनुष्य श्रेष्ठ जनों के अनुकरण से पुरुषार्थ के साथ विघ्नों को हटाकर सूर्य और चन्द्रमा के समान सदा नियम में चलकर यश प्राप्त करे॥ २॥

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥

—अथर्व० ६।११०।३

भाषार्थ—यह वीर पुरुष नक्षत्र के समान गति, उपाय उत्पन्न करनेवाला, महावीर होता हुआ व्याघ्र के समान बलवान्, दिन में माता-पिता के बल के समय उत्पन्न हुआ है। वह बढ़ता हुआ पिता को न मारे और जन्म देनेवाली माता को कभी न सतावे॥ ३॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष सुरक्षित, बलवान् माता-पिता से जन्म पाकर उनको कष्ट से बचाकर सदा सुखी रखकर अपना सौभाग्य बढ़ावे॥ ३॥

न तो इन मन्त्रों में 'मूल नक्षत्र में पैदा हुए को विघ्न आता है' ऐसा वर्णन है, न उसकी शान्ति के उपाय का ज़िक्र है।

(२२६) प्रश्न—'मा ज्येष्ठं वधीत्' इत्यादि [अथर्व० ६।११२।१] इस मन्त्र में भी मूलनक्षत्र में पैदा हुए बालक के कल्याण की प्रार्थना है। —पृ० २५३, पं० १६

उत्तर—इस मन्त्र में न तो मूलनक्षत्र में पैदा हुए बालक के विघ्न का वर्णन है और न ही उसके कल्याण की प्रार्थना है, अपितु इस मन्त्र में ज्येष्ठ पुरुष की रोगों से रक्षा का वर्णन है। हम इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ नीचे देते हैं—

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥

—अथर्व० ६।११२।१

भाषार्थ—हे विद्वान् पुरुष! यह रोग इनके बीच विद्या और वय में बहुत बड़े पुरुष को न मारे। इस पुरुष को मूलछेद से सर्वथा बचा। सो तू ज्ञानी होकर जकड़नेवाले गठिया आदि रोग के फन्दों को खोल दे। सब विद्वान् लोग तुझे अनुमति देवें॥ १॥

भावार्थ-मनुष्य विद्वानों की सम्मति से श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा का सदा उपाय करें॥ १॥

बतलाइए! इससे फलित-ज्योतिष कैसे सिद्ध हो सकता है? वास्तव में किसी भी काल के साथ मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई किसी समय भी पैदा हो वह अपने कर्मों का फल भोगता है, अतः किसी भी काल को मनुष्य के कर्मों से जोड़ना सिद्धान्त के विरुद्ध है। देखिए, महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि—

यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्। कस्मात्त्वपचित्तिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः॥ ५४॥
कस्माद्देवासुराः पूर्वमन्योऽन्यमभिजघ्निरे। यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ॥ ५५॥
भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिनः। यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम्॥ ५६॥

प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः। यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तृषु॥ ५७॥

—महा० शान्ति० अ० १३९

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ ७९॥

—महा० शान्ति० अ० ६९

भाषार्थ—यदि तुझे काल प्रमाण है तो किसी से वैर नहीं होना चाहिए। फिर सम्बन्धी-सम्बन्धियों से मारे हुए क्यों क्षय को प्राप्त होते हैं॥ ५४॥ पूर्वकाल में देव और असुरों ने एक-दूसरे को क्यों मारा? यदि सुख-दुःख, जन्म-मरण काल से ही होते हैं॥ ५५॥ वैद्य रोग की दवाई करने की क्यों इच्छा करते हैं? यदि काल से ही सब पकाये जाते हैं तो दवाई से क्या प्रयोजन?॥ ५६॥ शोक से मूर्च्छित हुए लोग महान् रोना-पीटना क्यों करते हैं? यदि तुझे काल ही प्रमाण है तो कर्त्ता में धर्म की स्थिति क्यों है?॥ ५७॥ काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण है, तुम्हें यह सन्देह नहीं होना चाहिए; राजा ही काल का कारण है॥ ७९॥

इससे सिद्ध है कि हमारे कर्मों में काल कारण नहीं है अपितु काल का सम्बन्ध उत्पद्यमान चाँद-सूर्य ग्रहों से है। इससे सिद्ध है कि नक्षत्र हमारे अच्छे-बुरे कर्मों में कारण नहीं हैं, प्रत्युत हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं।

(२२७) प्रश्न—वेद ने नक्षत्र और ग्रहों से कल्याण की प्रार्थना करनी लिखी है। साथ ही साथ छह नक्षत्र मूल के हैं। उनमें पैदा हुए बालक की कुशलता के लिए मूलशान्ति करनी लिखी है। निःसन्देह वेदों ने नक्षत्र-ग्रहों से कल्याण चाहकर मूलशान्ति द्वारा अरिष्टागमन की निवृत्ति कही है। स्वामी दयानन्दजी ने एक भी प्रमाण न देकर वेद के लेख पर चौका लगा दिया।

—पृ० ५५५, पं० १०

उत्तर—**'द्वा सुपर्णा'** से सिद्ध है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति नित्य हैं। इनमें से जीव और परमात्मा चेतन तथा प्रकृति जड़ है। जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता और परमात्मा कर्मों का फलदाता है। परमात्मा ने प्रकृति से जीवों के कर्म-भोगार्थ **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता'** इस सृष्टि को उसी प्रकार से बनाया जैसे पहले बनाया करता था। परमात्मा ने दो प्रकार का जगत् बनाया। प्राणी जैसे मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्षादि; अप्राणी, आग, पीना, मिट्टी, हवा, आकाश, चाँद, सूर्य्य, सितारे आदि। इस जगत् में परमात्मा द्रष्टा, फलदाता, जीव भोक्ता और शेष जगत् भोग्यपदार्थ है। मनुष्य पृथिवी पर रहता, अन्न पैदा करता, अग्नि से प्रकाश और गरमी ग्रहण करता, जल से प्यास बुझाता, हवा से साँस लेता, आकाश में रहता, चाँद, सूर्य, सितारों से अपनी इच्छानुसार गरमी, सरदी, प्रकाश, बरसात तथा जलवायु की शुद्धता से स्वास्थ्य ग्रहण करता, ओषधियों से भूख दूर करता और भी धातु, पत्थर, लकड़ी आदि से आवश्यकतानुसार उपकार लेता है। इसके दुःख-सुख भी तीन प्रकार के हैं। **आध्यात्मिक**—जो अपनी आत्मा से ही मानसिक दुःख-सुख मिलते हैं। **आधिभौतिक**—जो दूसरे प्राणियों से मिलते हैं। **आधिदैविक**—जो उपर्युक्त पृथिवी, सूर्य, सितारों आदि से सरदी, गरमी, प्रकाश, वर्षा, आँधी, भूचाल आदि द्वारा मिलते हैं।

आत्मा स्वतन्त्रता से स्वयं कर्म करता है, परमात्मा कर्मानुसार फल उपर्युक्त तीन प्रकार से दुःखों-सुखों द्वारा देता है। अब यदि मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करता है कि पृथिवी, जल, नक्षत्र, ओषधि मेरा कल्याण करें तो भी, और यदि इन्हीं पदार्थों से कल्याण की प्रार्थना करता है तो भी उसका यही अभिप्राय या इच्छा होती है कि इन पदार्थों के साथ मेरा जितना सम्बन्ध या उपयोगिता है उस बारे में मुझे इनसे सुख मिले, दुःख न मिले। इस प्रकार की प्रार्थना से वस्तुओं की वास्तविकता में फ़र्क नहीं आता, चेतन चेतन ही रहते हैं, जड़ जड़ ही रहते हैं, अतः नक्षत्र और ग्रह हमारे भोग्य पदार्थ हैं और जड़ हैं, उनसे या परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना का यही

अभिप्राय या हमारी इच्छा है कि इनके साथ हमारा जितना सम्बन्ध है उतने सम्बन्ध में इनसे हमको सुख मिले, दु:ख न मिले। इससे ये पदार्थ चेतन या हमारे कर्मों के फलदाता नहीं बन जाते और न वे प्रसन्न या नाराज़ होकर हमें स्वयं सुख या दु:ख दे सकते हैं, अपितु परमात्मा हमारे कर्मों के अनुसार उन द्वारा हमें आधिदैविक सुख या दु:ख देते हैं, अत: उनको नाराज़ कल्पना करके उनकी शान्ति के लिए कोई क्रिया करनी सर्वथा निर्मूल और व्यर्थ है।

अब रही काल की बात, इसका सम्बन्ध नित्य पदार्थों से नहीं, अनित्य पदार्थों से है। सृष्टि के पैदा होने के कारण सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ से इसका सम्बन्ध है। कौन वस्तु कब हुई, कब कैसी अवस्था में थी, है, और होगी इत्यादि। काल का पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। काल जड़ वस्तु है। वह भी नक्षत्रों की भाँति ही हमारे अच्छे या बुरे कर्मों में कारण नहीं है। कर्म करने में हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं। हम अच्छे कर्म करें या बुरे, इसमें नक्षत्रों की भाँति ही काल का कोई हस्ताक्षेप नहीं है। काल तीन हैं भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान। परमात्मा में भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान का हमारी अपेक्षा से ही व्यवहार होता है। परमात्मा भूतकाल की समस्त घटनाओं को सम्पूर्ण जानता है। जीव होश आने के पीछे अपनी और अपने से सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियों की भूतकाल की घटनाओं को जानता है या किन्हीं कार्यों को देखकर उनके कारणों का अनुमान करते हुए दूसरों के भूतकाल को भी किसी हद तक जान सकता है। पिछले जन्म के भूत को योगी अपने विषय में योगाभ्यास द्वारा जान सकता है, ज्योतिष से नहीं, क्योंकि उसकी आत्मा में कार्यसंस्कार विद्यमान हैं। दूसरों के पिछले जन्म के भूतकाल को योगी भी नहीं जान सकता, क्योंकि उनके संस्कार उनकी आत्मा में हैं, योगी की आत्मा में नहीं हैं। वर्त्तमानकाल को सर्वव्यापक होने से परमात्मा सबको सम्पूर्णता से जानता है। जीव अपने वर्त्तमान को तथा समीपस्थ दूसरों के वर्त्तमान को भी जान लेता है और योगी जिस स्थान का भी ध्यान करे उस स्थान के वर्त्तमान को योगावस्था में जान सकता है, ज्योतिष से नहीं।

अब रह गई भविष्य की बात, सो परमात्मा सृष्टि-सम्बन्धी बातों को तथा जीवों के कर्मफलों के सम्बन्ध में किस कर्म का क्या फल किस काल में देना है, इसको सम्पूर्णतया जानता है। जीवात्मा भी जो वस्तु नियम के अनुसार निश्चित हो, उसके भविष्यत्काल को जान लेता है। जैसे तिथियों और ऋतुओं के परिवर्तन का हिसाब, सूर्य-चाँद का ग्रहण इत्यादि, क्योंकि ये सब-कुछ चाँद, सूर्य, ज़मीन, सितारों के नियमित भ्रमण पर निर्भर हैं, जो नियम के अनुसार निश्चित हैं जिसमें एक सैकिण्ड का भी फ़र्क नहीं पड़ सकता। कारण को देखकर भविष्यत् के कार्य को भी जान सकता है, जैसे विवाह को देखकर सन्तान होने के भविष्य को, बादलों को देखकर वर्षा के भविष्य को, गरमी-सरदी आदि की जाँच से आनेवाली आँधी या वर्षा को इत्यादि-इत्यादि और भविष्य के विषय में ऐसा अनुमानिक ज्ञान ९० प्रतिशत ठीक निकलना सम्भव है, किन्तु मनुष्य से भविष्य में किये जानेवाले कर्मों के बारे में 'आज से आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट गुज़रने पर मैं क्या करूँगा'—इस बारे में मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, इसको तो ईश्वर भी नहीं जानता। कारण यह कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है; जिस काम के करने का अभी मैंने संकल्प भी नहीं किया उसके बारे में ईश्वर भी यही जानता है कि मेरे दिल में संकल्प नहीं है। जब मेरे दिल में संकल्प पैदा होगा तो संकल्प के बारे में, जब काम करूँगा तो काम के बारे में ईश्वर को तुरन्त ज्ञान हो जाएगा। ईश्वर की सर्वज्ञता में इससे दोष नहीं आता, क्योंकि सर्वज्ञ के अर्थ हैं जो सब-कुछ जानता हो। सब-कुछ क्या, जो दुनिया में विद्यमान है। जो चीज़ दुनिया में अविद्यमान है, उसके विषय में ईश्वर भी यही जानता है कि वह अविद्यमान है। 'संकल्प से संकल्प का और कर्म से कर्म का ईश्वर को ज्ञान होने पर ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि मानने से ईश्वर अनित्य हो जावेगा,' यह दोष नहीं आता, क्योंकि ईश्वर सैद्धान्तिक रूप से इस बात को

जानता है कि जीव शरीर को धारण करके दुनिया में क्या कुछ कर सकता है। उसमें से जीव जो करता है उसका फल ईश्वर दे देता है, इससे ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि क्या हुई?

जो आदमी सौ तक गिनना जानता है उसके सामने कोई ५० या ७० अथवा ९० तक गिने तो उसके ज्ञान में वृद्धि क्या हुई, वह तो पहले से ही सौ गिनना जानता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर ऋषि दयानन्दजी ने लिखा है कि 'जो ईश्वर जानता है वह जीव करता है, जो जीव करता है वह ईश्वर जानता है' इसमें पहले हिस्से के यही अर्थ हैं कि ईश्वर जिन बातों को जानता है कि जीव क्या कुछ कर सकता है, उन्हीं में से जीव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर जीव से भविष्यत् में किये जानेवाले कर्मों को नहीं जानता। यदि एक मिनट के लिए हम यह मान लें कि वह जानता है कि आज से आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट व्यतीत होने पर मैं चोरी करूँगा तो बतलाओ कि मैं उस चोरी करने के संकल्प को तब्दील कर सकता हूँ या नहीं? यदि कहो तब्दील कर सकता हूँ तो ईश्वर का ज्ञान ग़लत होने से वह ईश्वर कहाने के क़ाबिल न रहा। यदि कहो तब्दील नहीं कर सकता तो मेरे काम ईश्वर के ज्ञान में नियत हो गये और मुझे मजबूरन करने पड़ेंगे, फिर उसके फल का ज़ुम्मेवार मैं क्यों? उसका फल उसी को भोगना चाहिए जिसने कोई काम जबरन करवाया। इससे सिद्ध हो गया कि मनुष्य के भविष्य में किये जानेवाले कर्मों को जब ईश्वर भी नहीं जानता तो मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है! अतः जन्मपत्री तथा सम्पूर्ण भविष्यवाणियाँ सिद्धान्तरूप में ग़लत हैं। उनमें से यदि कोई बात सच निकल जाती है तो वह 'घुनाक्षरन्याय' से सत्य हो जाती है, पाण्डित्य से नहीं। हम आपको आपके ही घर से एक प्रमाण देते हैं कि जब राजा मुञ्ज ने ज्योतिषी के कहने पर अपने मन्त्री वत्सराज को भोज के क़त्ल के लिए कहा तो वत्सराज ने जो उत्तर दिया, वह यह है—

त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः। तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत्॥ २०॥
तन्मुहूर्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनिं विना। सीतापहारोऽप्यभवद्विरंचिवचनं वृथा॥ २१॥
जातः कोऽयं नृपश्रेष्ठ किंचिज्ज्ञ उदरम्भरिः। यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हन्तुमिच्छसि॥ २२॥

—भोजप्रबन्ध, वल्लालपण्डितविरचित

भाषार्थ—श्री रामचन्द्रजी त्रिलोकी के नाथ थे और वसिष्ठ ब्रह्मा का पुत्र था। उस त्रिलोकीनाथ के गद्दी पर बैठने का मुहूर्त ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ ने निकाला॥ २०॥ उसी महूर्त में श्रीराम पृथिवी के राज्य को छोड़कर वन को चले गये, सीता भी चुराई गई वसिष्ठ का कहना व्यर्थ ही गया॥ २१॥ तो यह थोड़ा-सा जाननेवाला पेटू क्या है, जिसके कहने पर आप कामदेव के समान-सुन्दर कुमार को मारने को तैयार हुए हो॥ २२॥

जो ज्योतिषी दो-दो पैसे पर जूती खोई जाने पर पचास गप्प मारते हैं, वे भगोड़ों को बताकर लाखों रुपया क्यों नहीं प्राप्त करते? खुफ़िया पुलिस (सी० आई० डी०) के स्थान में ज्योतिष से माल और मुल्ज़िम बतलाकर क्यों लखपति नहीं बनते? इनकी लड़कियाँ क्यों विधवा हो जाती हैं? इनके लड़के क्यों मरते हैं? जिन्स [वस्तुओं] के मन्दे-तेज़ को जानकर व्यापार से करोड़पति क्यों नहीं बनते? पता लगा कि ये बातें जनता को धोखे से ठगकर अपने खाने-कमाने की हैं, वास्तव में उपयोग में आने की नहीं हैं। हमारी पुष्टि में आपके यहाँ साफ़ लिखा है—

अश्वप्लुतं वासवगर्जितं च, स्त्रीणां च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम्।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः॥ १४३॥ —भोजप्रबन्ध

भाषार्थ—घोड़े का कूदना, इन्द्र का गर्जना, स्त्री का हृदय, मनुष्य का भाग्य, न बरसना तथा अति बरसना इनको देवता भी नहीं जानते, फिर मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है॥ १४३॥

अतः सूर्य, चाँद आदि ग्रहों को चेतन माननेवालों की बुद्धि चेतनतारहित और भविष्यवाणी

से जनता को ठगकर खानेवालों की सर्वथा मक्कारी है। है कोई माई का लाल सनातनधर्म में पैदा हुआ जो ग्रहों को चेतन और भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध करके फलित-ज्योतिष को मृत्यु-मुख से निकाल सके?

स्वामी दयानन्द और फलित-ज्योतिष

(२२७क) प्रश्न—गर्भाधान-संस्कार में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि 'उन ऋतुदान के सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवें।' इन तिथियों का छोड़ना ज्योतिष के जातक और मुहूर्तग्रन्थों में लिखा है। गर्भाधान में एकादशी आदि तिथियों का फल नेष्ट लिखा है, इस कारण स्वामी दयानन्दजी ने इनका त्याग किया है। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी फलित-ज्योतिष को मानते थे। —पृ० २४, पं० ३०

उत्तर—स्वामीजी के इस लेख का आधार कोई फलित-ज्योतिषग्रन्थ नहीं है अपितु स्वामीजी ने यह समस्त विधि मनुस्मृति अध्याय तीन श्लोक ४५ से ५० तक के आधार पर लिखी है। स्वामीजी ने तथा मनु ने जिस स्वास्थ्य की दृष्टि से पहली चार रात्रियाँ मैथुन में वर्जित की हैं उसी दृष्टि से ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रि मना की है। यहाँ एकादशी तथा त्रयोदशी रात्रि हैं, तिथियाँ नहीं हैं। उसी बात को दृष्टि में रखकर पर्व अर्थात् पूर्णिमा, अमावास्या, चतुर्दशी तथा अष्टमी को छोड़ा है, क्योंकि ऋतु का समुद्र के समान चन्द्रमा से सम्बन्ध है। इन रात्रियों में ऋतु कुपित होता है, अतः वैद्यक की दृष्टि से इन रात्रियों में समागम से नपुंसकता, सोज़ाक, आतशक आदि रोगों के हो जाने का अन्देशा है। इसी कारण मना किया है। फिर युग्म रात्रि में पुत्र, आयुग्म में कन्या; पुरुष-वीर्य-आधिक्य से पुत्र, स्त्री-रजाधिक्य से कन्या तथा समान से नपुंसक वा वन्ध्या पैदा होना इत्यादि सारा प्रकरण ही ऋतु के उतार-चढ़ावों तथा वैद्यक की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें फलित-ज्योतिष की गन्ध भी नहीं है।

(२२७ख) प्रश्न—तिथि, तिथि-देवता, नक्षत्र, नक्षत्र-देवताओं की नामकरण में आहुतियाँ देना—इसको गोभिलीय गृह्यसूत्र शुभ फलदायक मानता है। इस कारण स्वामीजी ने संस्कारविधि में आहुतिचतुष्टय का ग्रहण किया है, फिर कौन कहता है कि स्वामीजी फलित-ज्योतिष को नहीं मानते? —पृ० २४

उत्तर—गोभिलीय गृह्यसूत्र में इन आहुतियों को कहीं भी ज्योतिष की दृष्टि से शुभ फलदायक नहीं लिखा। वैसे आहुतियाँ जितनी दी जाएँ जल-वायु की शुद्धि का हेतु होने से उतनी ही शुभ फलदायक हैं। रहा तिथि और तिथिदेवता, सो हम लिख चुके हैं कि ये तिथि तथा नक्षत्रों के सांकेतिक दूसरे नाम हैं और तिथि तथा नक्षत्रों को द्योतित, अर्थात् प्रकाशित करने के कारण देवता कहाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन देखो नं० १९६।

अतः स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थों से फलित-ज्योतिष की सिद्धि का प्रयत्न वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध वाक्छलमात्र है।

तीर्थ

(२२८) प्रश्न—'**नमः पार्याय चावार्याय**' [यजुः० १६।४२] इस मन्त्र में तीर्थों का माहात्म्य वर्णन किया गया है। —पृ० २५६, पं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में पौराणिक तीर्थों का चिह्न भी नहीं है, क्योंकि पौराणिक लोग जलों और स्थलों में स्नान, भ्रमण, दर्शन, मरण आदि से मुक्ति मानते हैं। जैसे—

स्नान से— **पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः।**
पश्चाद् गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम्॥ ३०॥ —महा० अनु० अ० २६

दर्शन से—	**भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा ताक्ष्र्यस्य दर्शनात्**	।	
	गङ्गाया दर्शनात्तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते	॥ ४४ ॥	—महा० अनु० अ० २६
मरण से—	**इह ये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो**	।	
	ते गमिष्यन्ति सुकृतान् लोकान् पापविवर्जितान्	॥ ७ ॥	—म० शां० अ० ५३
भ्रमण से—	**पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः**	।	
	अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम्	॥ ३ ॥	—महा० वन० अ० ८३
नाम लेने से—	**गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि**	।	
	मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति	॥ ७१ ॥	—ब्र० प्रकृति खं० अ०१०

भाषार्थ—जो मनुष्य अपनी पूर्व आयु में पापकर्म करके पीछे से गङ्गा का सेवन करते हैं वे भी परमगति को प्राप्त होंगे॥ ३० ॥ जैसे गरुड़ के देखने से साँप विषरहित हो जाते हैं वैसे ही गङ्गा के देखते ही मनुष्य सब पापों से छूट जाता है॥ ४४ ॥ हे इन्द्र! जो लोग इस क्षेत्र में मरेंगे वे पापों से छूटकर पुण्यलोकों को प्राप्त होंगे॥ ६ ॥ हवा से उड़े हुए रेणु भी कुरुक्षेत्र में जिस किसी पर पड़ेंगे वे अति पापी को भी परमगति प्राप्त करावेंगे॥ ३ ॥ यदि कोई आदमी चार सौ कोस से 'गङ्गा-गङ्गा' ऐसा कहेगा तो वह सब पापों से छूटकर विष्णुलोक को प्राप्त होगा॥ ७१ ॥

पौराणिक सिद्धान्तानुसार इसका नाम तीर्थ है। हमारा यह दावा है कि मनुष्य की मुक्ति श्रेष्ठ कर्मों से होती है, जल-स्थल आदि में स्नान, दर्शन, भ्रमण, मरण आदि से नहीं हो सकती। आपने जो मन्त्र पेश किया है उससे पौराणिक तीर्थों की पुष्टि नहीं होती। हम मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ नीचे कर देते हैं—

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च
कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च॥ —यजुः० १६।४२

भाषार्थ—जो मनुष्य दुःखों से पार हुए और इधर के भाग में आये हुए का भी सत्कार तथा उस तट से नौकादि द्वारा इस पार पहुँचे या पहुँचाने और इस पार से उस पार पहुँचने वा पहुँचानेवाले का सत्कार करें, वेदविद्या के पढ़ानेवालों और समुद्र तथा नदी आदि के तटों पर रहनेवाले को भी अन्न देवें, तृण आदि कार्यों में साधु और फेन-बुद्‌बुदादि के कार्यों में प्रवीण पुरुष को भी अन्न आदि देवें, वे कल्याण को प्राप्त होवें॥ ४२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रख, समुद्रादि के इस पार उस पार, जा-आके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरों में व्यवहार से धन की उन्नति करके अपना अभीष्ट सिद्ध करें॥ ४२ ॥

बतलाइए, इस मन्त्र में जलस्थल में स्नान, भ्रमण, दर्शन, मरण आदि से मुक्ति बतानेवाले कौन-कौन-से पद हैं? यदि नहीं तो फिर इन पौराणिक भ्रमजालों को वेदों के सिर मढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है।

(२२९) प्रश्न—'आपो भूयिष्ठा' इत्यादि [ऋ० १।१६१।९] इस मन्त्र में वर्णन है कि जितेन्द्रिय, सत्यवादी को तीर्थ फल देते हैं। —पृ० २५६, पं० ९

उत्तर—प्रतीत यह होता है कि अब पुराणप्रतिपादित तीर्थों पर आपका भी विश्वास नहीं रहा। वरना आप जल-स्थल में स्नान, दर्शन, मरण आदि से पापनाश तथा मुक्ति की पुष्टि में कोई प्रमाण पेश करते, किन्तु आप भी विवश हैं। वेद पौराणिक तीर्थों की पुष्टि करते ही नहीं, क्योंकि वेद ज्ञान और कर्म से मोक्ष मानते हैं, जैसेकि—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ —यजुः० ४०।१४

भाषार्थ—जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके, विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है॥१४॥

इससे सिद्ध है कि पुराणों का जल-स्थल को तीर्थ मान, मुक्ति का साधन बताना वेद के विरुद्ध होने से मिथ्या ही है। रही आपके पेश किये मन्त्र की बात। न तो वेदमन्त्र में तीर्थों का प्रतिपादन है और न ही इस मन्त्र का यह विषय है। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्यविषय '**ऋभवः**' अर्थात् 'विद्वान् लोग' है। इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्ती बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत॥

—ऋ० १।१६१।९

भाषार्थ—एक तो कहता है कि जल बहुत हैं। दूसरा कहता है कि अग्नि बहुत हैं। एक उत्तमता से कहता है कि पृथिवी बड़ी है। इस प्रकार से सत्य बातों को कहते हुए सज्जन बादलों की भाँति पदार्थों को भिन्न करें।

भावार्थ—इस संसार में स्थूल पदार्थों के बीच कोई जल अधिक, कोई अग्नि अधिक और कोई भूमि को बड़ी बतलाते हैं, परन्तु स्थूल पदार्थों में भूमि ही अधिक है। इस प्रकार सत्य ज्ञान से मेघों के अंशों का जो ज्ञान, उसके समान सब पदार्थों को अलग-अलग कर सिद्धान्तों की सब परीक्षा करें। इस काम के बिना ठीक प्रकार से पदार्थविद्या को नहीं जान सकते॥९॥

बतलाइए, इस मन्त्र में वे कौन-से पद हैं, जो पौराणिक तीर्थों का वर्णन करते हों? आपने लिखा कि तीर्थ जितेन्द्रिय, सत्यवादी को फल देते हैं। श्रीमान्‌जी, जो सत्यवादी और जितेन्द्रिय होगा उसको पौराणिक तीर्थों की आवश्यकता ही क्या है? पौराणिक तीर्थों की तो उनको आवश्यकता है, जिन्हें कुकर्म करते हुए मोक्ष प्राप्त करना हो और सहज ही पापों का नाश करना हो। जैसे—

अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम ।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते ॥४२॥ —महा० अनु० अ० २६
यत्किंचिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषस्य वा॥१९८॥
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नात्र संशयः ॥१९९॥ —म० वन० अ० ८१
यद्यकार्यं शतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम् ।
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥९०॥ —महा० वन० अ० ८५
ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥१॥ —महा० वन० अ० ८३
सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे। पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च॥६२॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥३२॥

—महा० अनु० अ० २६

भाषार्थ—हे उत्तम द्विज! जैसे रूई अग्नि को प्राप्त होकर जल जाती है, वैसे ही गङ्गा में स्नान करनेवाले के पाप नाश हो जाते हैं॥४२॥ स्त्री या पुरुष का चाहे जो भी बुरा कर्म हो॥१९८॥ वह स्नानमात्र से ही नष्ट हो जाता है, इसमें संशय नहीं है॥१९९॥ यदि सैकड़ों पाप करके भी गङ्गा में स्नान किया है तो उस पाप को गङ्गा का पानी ऐसे ही नाश कर देता है जैसे

ईंधन को अग्नि॥ ९०॥ हे राजेन्द्र! फिर स्तुति के योग्य कुरुक्षेत्र में जावे जहाँ पर सारे जीव दर्शन से ही पापों से छूट जाते हैं॥ १॥ सात वरे के तथा सात परे के और उनसे भी जो आगे के पितर हैं उन सबको मनुष्य गङ्गा के स्पर्श, दर्शन तथा स्नान से तार देता है॥ ६२॥ मनुष्य की हड्डियाँ जबतक गङ्गा के पानी में रहती हैं तबतक सहस्रों वर्ष स्वर्गलोग में रहता है॥ ३२॥

यह है पौराणिक तीर्थों का प्रयोजन! इसको वेदानुकूल सिद्ध करने की कृपा करें।

(२३०) प्रश्न—'तीर्थैस्तरन्ति' इत्यादि [अथर्व० १८।४।७] में लिखा है कि बड़ी आपत्ति को तीर्थों से तर जाते हैं, अर्थात् बड़े-बड़े भयंकर पाप तीर्थों से क्षय हो जाते हैं।

—पृ० २५६, पं० २०

उत्तर—हाँ, अबके आपने पौराणिक सिद्धान्त की बात कही कि बड़े-बड़े पाप तीर्थों से क्षय हो जाते हैं, किन्तु उपर्युक्त वेदमन्त्र में इस भाव का प्रकट करनेवाला कोई भी पद नहीं है, अपितु इस वेदमन्त्र में यह प्रतिपादन किया गया है कि तरने के साधनों—वेदशास्त्रों से लोग दुःखों से छुटकारा पा जाते हैं। देखिए, मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥ —अथर्व० १८।४।७

भाषार्थ—तरने के साधनों—शास्त्रों वा घाटों आदि द्वारा मनुष्य बहुत गतियोंवाली बड़ी-बड़ी विपत्तियों वा नदियों को इस प्रकार से पार करते हैं जिस प्रकार से यज्ञ करनेवाले सुकर्मी लोग चलते हैं, ऐसा निश्चय है। यहाँ संसार में यजमान के लिए स्थान उन पुण्यात्माओं ने दिया है जबकि दिशाओं को सत्तावाले प्राणियों ने समर्थ बनाया है॥ ७॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान्, धर्मात्माओं के वेदविहित मार्ग पर चलकर विपत्तियाँ से पार होवें, धर्मात्मा लोग ही संसार में मान्य होते हैं, क्योंकि वे पुरुषार्थी जीव सब दिशाओं को उपकारी बनाते हैं॥ ७॥

इस मन्त्र में कहीं भी पाप दूर होने की बात नहीं लिखी और किये हुए पाप कभी दूर नहीं होते, अपितु उनका फल अवश्य ही भुगतना पड़ता है। देखिए, वेद क्या कहता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —यजुः० ४०।३

भाषार्थ—जो कोई भी लोग आत्मा के विरुद्ध पापाचरण करनेवाले हैं, वे जीते हुए भी दुःख पाते हैं और मरने पर भी वे ऐसे जन्म-जन्मान्तरों को प्राप्त होते हैं जो ज्ञान से रहित, अन्धकार से युक्त, दुःखमय लोक हैं॥ ३॥

यह मन्त्र स्पष्टरूप से वर्णन करता है कि किये हुए पापकर्मों का फल अवश्य मिलता है, वह टल नहीं सकता। महाभारत में लिखा है कि—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥ २२॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नाति वर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्॥ २३॥ —महा० अनु० अ० ७

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ १७॥
—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० ३७

भाषार्थ—जैसे हज़ारों गौवों में से बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ लेता है, ऐसे ही पूर्व किया हुआ कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है॥ २२॥ बिना प्रेरणा के ही जैसे फूल और फल अपने समय

का उल्लंघन नहीं करते, वैसे ही पूर्व में किया हुआ कर्म समय का उल्लंघन नहीं करता॥ २३॥ सौ करोड़ कल्पों तक भी किया हुआ कर्म बिना भोगे क्षय नहीं होता। किया हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म अवश्य ही भोगना पड़ता है॥ १७॥

इससे यह तो सिद्ध हो गया कि किया हुआ पाप क्षय नहीं होता, अपितु भोगना पड़ता है। अब देखना यह है कि वे कौन-से तीर्थ हैं कि जिनसे मनुष्य आपत्तियों तथा दुःखों को तर सकता है। क्या वे जल-स्थलरूप तीर्थ हैं या विद्यालय, वेद, शास्त्र, सत्सङ्ग आदि तीर्थ हैं। सो इस विषय में प्रमाण उपस्थित हैं—

मन तीर्थ— **मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च।**
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत् स्नानं तत्त्वदर्शिनः॥ १३॥

—महा० अनु० अ० १०८

सत्संग—**व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः।**
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत्॥ ९२॥ —महा० वन० अ० २००

आत्मा—**आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।**
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव॥ २१॥

—महा० उद्योग० अ० ४०

सत्संग—**तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज। वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि॥ ६॥**

—महा० उद्योग० अ० १०५

ब्रह्मध्यानं परं तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। दमस्तीर्थं तु परमं भावशुद्धिः परं तथा॥ २३॥
ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ २४॥

—गरुड० पूर्व० अ० ८१

योग—**योगिकं स्नानमाख्यातं योगेन हरिचिन्तनम्॥ १२॥**
आत्मतीर्थमिति ख्यातं सेवितं ब्रह्मवादिभिः॥ १३॥ —गरुड० पूर्व० अ० ५०

भाषार्थ—मन से प्रकाशित ब्राह्मज्ञानरूप जल से जो मन के तीर्थ में स्नान करता है, तत्त्वदर्शियों का यही स्नान है॥ १३॥ घर में वा जंगल में जहाँ ज्ञानी लोग रहते हैं, उसी का नाम नगर है, उसी को तीर्थ कहते हैं॥ ९१॥ हे भारत! आत्मा नदी है। यही पवित्र तीर्थ है। इसमें सत्य का जल, धैर्य के किनारे तथा दया की लहरें हैं। इसमें स्नान करनेवाला पुण्यात्मा पवित्र हो जाता है। आत्मा पवित्र है, नित्य एवं निर्लोभ है॥ २१॥ हे राजपुत्र दुर्योधन! विरोध छोड़ दे, शान्त हो। तू कृष्णरूप तीर्थ से अपने कुल की रक्षा कर॥ ३६॥ ब्रह्म का ध्यान परम तीर्थ है। इन्द्रियों का निग्रह तीर्थ है। मन का निग्रह तीर्थ है। भाव की शुद्धि परम तीर्थ है। ज्ञानरूप तालाब में ध्यान-जल में जो मन के तीर्थ में स्नान करके राग-द्वेषरूप मल को दूर करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है॥ २३-२४॥ योग से हरि का चिन्तन यौगिक स्नान है॥ १२॥ आत्मारूप तीर्थ का प्रसिद्ध ब्रह्मवादियों ने सेवन किया॥ १३॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि मोक्ष के हेतु जलस्थल-स्नान, दर्शन, भ्रमण आदि तीर्थ नहीं, अपितु उपर्युक्त तीर्थ ही दुःखविनाशक, ज्ञानप्रकाशक तथा मोक्षदायक हैं।

(२३१) प्रश्न—'सरस्वती सरयुः' इत्यादि [ऋ० १०।६४।९] इस मन्त्र में सरस्वती, सरयु आदि नदियों से रक्षा की प्रार्थना की गई है। —पृ० २५७, पं० ९

उत्तर—इस मन्त्र में जल-स्थल को तीर्थ मानने तथा उनके दर्शन, स्नान, भ्रमण आदि से मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन नहीं है और न ही इस मन्त्र में नदियों से प्रार्थना की गई है, अपितु इस

मन्त्र में कृषियज्ञ का वर्णन है। इस मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय **'विश्वेदेवाः'** अर्थात् समस्त विद्वान् हैं। इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत॥ ९॥

—ऋ० १०।६४।९

भाषार्थ—हे विद्वान् लोगो! आपकी कृपा से बड़ी-से-बड़ी लहरोंसहित सरस्वती, सिन्धु, सरयु आदि जो २१ प्रकार की नदियाँ हैं वे हमारे खेत-सिंचन आदि से हमारी रक्षा हेतु आवें, हमारे कृषियज्ञ में प्राप्त हों और दिव्यशील माता के समान प्रेरणावाली, उनका जो मधुरतायुक्त जल है, वह जल देवें॥ ९॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उक्त प्रकार की नदियों में से नहरें निकालकर प्रजा की कृषि को पानी से सिंचन करके उन्हें सुखी बनावें॥

कहिए महाराज! इस मन्त्र में आपके जल-स्थल-स्नान, दर्शन, भ्रमण से मोक्ष देनेवाले तीर्थों का वर्णन कहाँ है? वास्तव में ये तीर्थ हो भी नहीं सकते, क्योंकि जल-स्थल मोक्ष का हेतु नहीं हो सकते। जैसे—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ १०९॥ —मनु० अ० ५
यमो वैवस्वतो देवो यस्त्वैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥ ९२॥ —मनु० अ० ८

जटाभाराजिनैर्युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः। भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि॥ ६३॥
गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः। चरन्ति गर्दभाद्याश्च विरक्तास्ते भवन्ति किम्॥ ६५॥
मृद्भस्मोद्धूलनादेव मुक्ताः स्युर्यदि मानवाः। मृद्भस्मवासी नित्यं श्वा स किं मुक्तो भविष्यति॥ ६६॥
तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः। जम्बूकाखुमृगाद्याश्च तापसास्ते भवन्ति किम्॥ ६७॥
आजन्म मरणान्तं च गंगादितटिनीस्थिताः। मण्डूकमत्स्यप्रमुखा योगिनस्ते भवन्ति किम्॥ ६८॥
पारावताः शिलाहाराः कदाचिदपि चातकाः। न पिबन्ति महीतोयं व्रतिनस्ते भवन्ति किम्॥ ६९॥
तस्मान्नित्यादिकं कर्म लोकरञ्जनकारकम्। मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्वज्ञानं खगेश्वर॥ ७०॥

—गरुड़० प्रेत० अ० ४९

भाषार्थ—जलों से शरीर शुद्ध होता है। मन सत्य से शुद्ध होता है। विद्या और तप से आत्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है॥ १०९॥ संसार को नियम में रखनेवाला प्रकाशमान देव परमात्मा जो हृदय में विद्यमान है यदि तेरा उसके साथ विवाद नहीं है तो न गंगा को जा और न कुरुक्षेत्र को॥ ९२॥ जटाओं के भार और मृगछाला से युक्त वेषधारी मक्कार, ज्ञानियों की भाँति संसार में जल-स्थलों में भ्रमण करते हैं और लोगों को भ्रमण करवाते हैं॥ ६३॥ जिनके लिए घर और जंगल समान है, नंगे, लज्जा को छोड़कर संसार में फिरनेवाले गधे क्या विरक्त हो जाते हैं?॥ ६५॥ भस्म और धूल में लिप्त होने से यदि मनुष्य मुक्त हो जावे तो मिट्टी और भस्म में निवास करनेवाले कुत्ते की क्या मोक्षगति हो जावेगी?॥ ६६॥ घास, पत्ते, पानी का आहार करनेवाले तथा नित्य वन में रहनेवाले गीदड़, चूहे, मृगादि क्या तपस्वी हो जावेंगे?॥ ६७॥ जन्म से लेकर मरने तक गङ्गादि नदियों के किनारे रहनेवाले मेंढक, मछली आदि क्या योगी हो जाते हैं?॥ ६८॥ पत्थरों का आहार करनेवाले कबूतर और कभी भी पृथिवी का पानी न पीनेवाले चातक क्या व्रती हो जाते हैं?॥ ६९॥ इसलिए नित्यादि कर्म लोगों को प्रसन्न करने के लिए हैं, मोक्ष

का साक्षात् कारण तो ज्ञान ही है॥७०॥

अब आपको निश्चय हो गया होगा कि मोक्ष का कारण जल-स्थल-स्नान, दर्शन, भ्रमणादि नहीं है, अपितु ज्ञानादि ही मोक्ष के कारण होने से सच्चे तीर्थ हैं। जैसे—

अगाधे विपुले सिद्धे सत्यतीर्थे शुचिह्रदे।
स्नातव्यं मनसा युक्तं स्नानं तत् परमं स्मृतम्॥३४॥ —शिव० उमा० अ० १२

भाषार्थ—मनुष्य को अति गहरे, विशाल तथा सिद्धियों से सम्पन्न सत्यरूपी तीर्थ तथा पवित्रतारूप तालाब में मानसिक स्नान करना चाहिए। वही अत्यन्त श्रेष्ठ स्नान समझने योग्य है॥३४॥

सर्वेषामेव तीर्थानां क्षान्तिः परमपूजिता। तस्मात् पूर्वं प्रयत्नेन क्षान्तिः कार्या क्रियासु वै॥४७॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ १७१

यत्स्नातं ज्ञानसलिलैः शीलभस्मप्रमार्जितम्। तत्पात्रं सर्वपात्रेभ्य उत्तमं परिकीर्तितम्॥७९॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० १८७

भाषार्थ—सब तीर्थों में शान्ति परम पूजित है। इसलिए पहले प्रयत्न से हर एक काम में शान्ति करनी चाहिए॥४७॥

जो ज्ञान के जल से स्नान करना तथा शील की भस्म से माँजना है—यह पात्र सब पात्रों से उत्तम कहा गया है॥७९॥

इत्यादि पुराणों में भी सैकड़ों श्लोक हैं जो जल-स्थल-स्नान, दर्शन, भ्रमण आदि से मुक्ति का खण्डन करके ज्ञान आदि से मुक्ति मानते हैं।

(२३२) प्रश्न—'इमं मे गंगे यमुने' इत्यादि [ऋ० १०।७५।५]। इस मन्त्र में गङ्गा-यमुना का सेवन करने और प्रार्थना सुनने का वर्णन है। —पृ० १५७, पं० १७

उत्तर—इस मन्त्र में भी नदियों में स्नान, दर्शन, स्पर्शन आदि से पाप दूर होने तथा मुक्ति मिलने का वर्णन नहीं है, अपितु इस मन्त्र में नदियों के प्रकार बताये गये हैं। ऋषियों ने जिस नदी को जिस प्रकार का देखा वैसा ही उसका नाम वेद में से लेकर रख दिया। इस मन्त्र में नदियों के लक्षण और नाम इस प्रकार वर्णित हैं—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया॥
—ऋ० १०।७५।५

भाषार्थ—हे गङ्गे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, परुष्णि, असिक्नि, मरुद्वृधे, वितस्ता, सुषोमा, आर्जीकीये! तुम मेरे इस स्तोत्र को सेवन करो तथा सुनो।

इस मन्त्र में से आप कोई एक ही शब्द बतलावें जिससे इन नदियों में स्नान से पापनाश तथा मोक्ष-प्राप्ति वर्णन की गई हो। रहा नदियों को सम्बोधित करने तथा स्तुति सुनने को कहना, सो यह वर्णन करने की वेद की शैली है कि अचेतनों की भी चेतनों की भाँति स्तुति की जाती है। जैसाकि ईश्वरस्वरूप के बारे में हम विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं। इन नदियों के उपर्युक्त नाम किन गुणों के कारण होते हैं इसका वर्णन निरुक्त में इस प्रकार से किया गया है—

अथैकपदनिरुक्तम्—**गङ्गा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छति प्रवियुतं गच्छतीति वा।**
सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रन्द्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा।
इरावती परुष्णीत्याहुः—पर्ववती कुटिलागामिनी।
असिक्न्यशुक्लासिता—सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्।

मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्द्धयन्ति। वितस्ताऽ विदग्धाविवृद्धा महाकूला। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। ऋजीकप्रभवावर्जुगामिनी वा, सुषोमा सिन्धुपदेनाभिप्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्॥ १॥ —निरु० अ० ९ख० २६

भाषार्थ—अब एक-एक पद का निरुक्त कहते हैं। गमन से गङ्गा, अर्थात् गति वा चाल वा बहाव जिसका प्रशंसित हो उसका नाम गङ्गा। जोड़ती हुई चलने वा जुड़ी हुई चलनेवाली यमुना। सर यह पानी का नाम है, उत्तम जलवाली का नाम सरस्वती। शीघ्र भागनेवाली, शीघ्र व्यथित-सी चलनेवाली शुतुद्री जानो। पर्वों=जोड़ोंवाली, प्रकाशवाली, कुटिलगामिनी को परुष्णा जानो। अशुक्ला वा असिता होने से असिक्न्या। सित वर्ण का नाम है, उसका उलट असित। मरुद्वृधा सब नदी हैं, क्योंकि मरुत् इनको बढ़ाते हैं। विदग्धा वा विशेष बड़ी वा बड़े किनारोंवाली को वितस्ता जानो। ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो वा ऋजीक पर्वत से निकले उसको। सिन्धु उसको कहते हैं जिसमें सब नदियाँ गिरें वा जो विशेष रूप से बहे।

इस निरुक्त के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इन-इन लक्षणोंवाली नदी होती हैं और जिस-जिस नदी में जो-जो लक्षण पाये गये, लोक में उस-उस नदी को पीछे से उस-उस नाम से पुकारने लगे। जैसाकि निरुक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि आर्जीकीया ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम पड़ गया और पर्वोंवाली आदि लक्षणों से इरावती का दूसरा नाम परुष्णी पड़ा।

इससे यह जानना चाहिए कि वेद में आये गङ्गादि नाम भागीरथी आदि के वाचक नहीं, किन्तु वेदोक्त लक्षणयुक्त होने से भागीरथी आदि के गङ्गा आदि नाम पीछे से प्रचलित हुए हैं।

इससे सिद्ध है कि वेद में जलस्थल के दर्शन, स्नान, भ्रमणादि को तीर्थ नहीं माना गया अपितु ज्ञान, योग, सत्संगादि को तीर्थ माना गया है और पुराण भी उसका अनुमोदन करते हैं।

अब हम आपको पौराणिक तीर्थों का अनुपयोग आपके पुराणों से ही दिखाते हैं कि इनकी मियाद=अवधि भी समाप्त हो चुकी है। जैसे—

नन्द उवाच — **तीर्थान्येतानि सर्वाणि तिष्ठन्त्येव कियद्दिनम्।**
साधवो ग्राम्यदेवाश्च शास्त्राण्येतानि वत्सक॥ ३१॥

श्रीकृष्ण उवाच — **कलौ दशसहस्राणि हरिस्तिष्ठति मेदिनीम्।**
देवानां प्रतिमा पूज्या शास्त्राणि च पुराणकम्॥ ३२॥
तदर्धमपि तीर्थानि गंगादीनि सुनिश्चितम्।
तदर्धं ग्रामदेवाश्च वेदाश्च विदुषामपि॥ ३३॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ९०

भाषार्थ—नन्दे ने पूछा कि हे बेटा! ये सारे तीर्थ कितने दिन तक ठहरेंगे तथा साधु, ग्रामों के देवता तथा शास्त्र ये कितने दिन तक ठहरेंगे॥ ३१॥ कृष्णजी ने कहा कि कलियुग में दस हज़ार वर्ष तक हरि पृथिवी पर ठहरेंगे और मूर्त्तिपूजा, शास्त्र और पुराण भी दस हज़ार वर्ष ठहरेंगे॥ ३२॥ इससे आधा समय अर्थात् पाँच हज़ार वर्ष तक निश्चय रूप से गंगा आदि तीर्थ ठहरेंगे, उससे भी आधे समय तक अर्थात् ढाई हज़ार वर्ष तक ग्रामों के देवता ठहरेंगे तथा वेद और विद्वान् भी ढाई हज़ार वर्ष तक ठहरेंगे।

इस समय कलियुग के ५०३४ वर्ष[1] व्यतीत हो चुके हैं, इससे पुराणों के कथनानुसार अब कोई गङ्गादि तीर्थ पृथिवी पर मौजूद नहीं है, अतः पौराणिकों को चाहिए कि वे तीर्थों को सिद्ध करने के स्थान में उनकी अन्त्येष्टि आदि क्रियाकर्म में विशेष ध्यान दें।

---

१. प्रथम संस्करण, प्रकाशन काल सन् १९३६। इस समय ५०९७ वर्ष। —सं०

(२३३) प्रश्न—स्वामीजी कहते हैं कि पण्डों के बही-खाते देख लो, उनसे मालूम हो जाएगा कि तीर्थ थोड़े ही काल से बने हैं। पण्डों की बही क्यों देखें? ईश्वर का बही-खाता वेद क्यों नहीं देखें, जिसमें तीर्थों का महत्त्व भरा है? क्या स्वामीजी की दृष्टि में वह पण्डों के बही-खाते के तुल्य भी महत्त्व नहीं रखता? —पृ० २५९, पं० १८

उत्तर—स्वामीजी तीर्थ मानते हैं वेद, शास्त्र-अध्ययन, सत्सङ्ग, ज्ञान, ध्यान आदि को, जो मनुष्य को सांसारिक दु:खों से तराने के हेतु हैं, या मानते हैं किश्ती को जो जलों से तराने का हेतु है और पुराण तीर्थ मानते हैं जलों और स्थलों को, और उनमें स्नान, दर्शन, भ्रमण, निवास, मरण आदि से मानते हैं मुक्ति। स्वामी दयानन्दजी के माने हुए तीर्थों का तो वेदों में वर्णन है, किन्तु पौराणिक तीर्थों का वेदों में क़तई वर्णन नहीं है। इसका प्रमाण स्पष्ट है कि आपने जितने भी वेदमन्त्र दिये हैं उनसे आपके किये अर्थों के अनुसार एक भी वेदमन्त्र जलस्थल में स्नान-दर्शनादि से पापों का क्षय और मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन नहीं करता, अत: स्वामीजी ने लिखा है कि आजकल जो जल, स्थल, तीर्थ, पापनाशक और मुक्तिदायक माने जाते हैं वे प्राचीन नहीं हैं अपितु उनकी कल्पना एक हज़ार वर्ष से इधर-इधर हुई है, क्योंकि पण्डों के पास एक हज़ार वर्ष से अधिक कोई भी लेख विद्यमान नहीं है, अत: स्वामीजी का लिखना ठीक है। आपमें हिम्मत हो तो एक हज़ार वर्ष से प्राचीन कोई ताम्रपत्र या बहीखाता इन तीर्थों की प्राचीन स्थिति की सिद्धि में पेश करें।

(२३४) प्रश्न—इस मन्त्र का तो समस्त भाष्यकारों ने यह अर्थ किया है कि—हे रुद्र! आप समस्त तीर्थों में विचरते हैं। इस कारण आप तीर्थ हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। अब आर्यसमाजी विचारें कि '**नमस्तीर्थाय च**' इसमें तीर्थ का खण्डन है या मण्डन॥ —पृ० २६०, पं० ४

उत्तर—श्रीमान्‌जी! तीर्थ शब्द पर कोई झगड़ा नहीं है। झगड़ा तो तीर्थ शब्द के अर्थ पर तथा उससे पाप-नाश और मोक्ष-प्राप्ति पर है। यद्यपि हम इस मन्त्र के सत्य अर्थ (नं० २२८ में) कर आये हैं तथापि यदि आपके और आपके पौराणिक भाष्यकारों के अर्थ को ही सामने रखा जावे तो भी उससे आपकी प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, क्योंकि इन अर्थों से न तो यह सिद्ध होता है कि गङ्गादि नदियों या कुरुक्षेत्रादि स्थलों का नाम तीर्थ है, और न ही इनमें स्नान, भ्रमण, मरणादि से पापनाश तथा मोक्ष होने का वर्णन है। रुद्र के समस्त तीर्थों में विचरने तथा रुद्र को तीर्थ मानने से तो पौराणिक जलस्थलों की तीर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि हम आपके अर्थों के अनुसार भी यह कह सकते हैं कि 'रुद्र सत्य, ज्ञान, ध्यान, शास्त्रादि तीर्थों में विचरने से स्वयं भी तीर्थ रूप थे', अत: प्रत्येक अवस्था में उपर्युक्त मन्त्र पौराणिक तीर्थों का खण्डन ही करता है। आपमें हिम्मत हो तो वेद का कोई ऐसा मन्त्र पेश करें, जिससे यह सिद्ध हो सके कि 'गङ्गा, कुरुक्षेत्र आदि जलस्थलों में स्नान, दर्शन, भ्रमण, निवास, मरण आदि से पापनाश तथा मोक्ष-प्राप्ति होती है।'

(२३५) प्रश्न—रही बात '**समानतीर्थे वासी**' इस सूत्र की, इसपर तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं—**तीर्थं शास्त्राऽध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु योनौ जलावतारे च इति विश्व:**। शास्त्र, मार्ग, क्षेत्र, उपाय, उपाध्याय, मन्त्री, योनि, जलावतार—इनका नाम तीर्थ है। —पृ० २६०, पं० ७

उत्तर—प्रथम आपने तत्त्वबोधिनी तो दे दी, किन्तु सिद्धान्तकौमुदी के जिस पाठ पर तत्त्वबोधिनी है उसे हज़म कर गये। मूल के बिना टीका किसकी? लीजिए, हम पहले सिद्धान्तकौमुदी का मूल पाठ बतलाते हैं, देखिए—

समानतीर्थे वासी। (४।४।१०७)

साधुरिति निवृत्तम्। वसतीति वासी। समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्य:।

—सिद्धान्तकौमुदी तद्धिते प्राग्घितीयप्रकरणम्।

इसमें सिद्धान्तकौमुदीवाले ने स्पष्ट लिखा है कि तीर्थ नाम गुरु का है।

दूसरे, आपने तत्त्वबोधिनी-टीका नहीं दिखाई, केवल कोश का प्रमाण दिखाया है। सो कोश में तीर्थ का अर्थ उपाध्याय विद्यमान है और उसी का इस सूत्र के साथ सम्बन्ध है। तीसरे, तीर्थ शब्द के कितने अर्थ होते हैं? इस कोश के अर्थों में भी आपने चालाकी से काम लिया है। कोश में आपने 'मार्ग' कौन-से शब्द का अर्थ किया है? वहाँ तो 'अध्वरक्षेत्र' शब्द है जिसका अर्थ है 'यज्ञस्थल'। आपने अध्वर का अर्थ मार्ग करके क्षेत्र को भिन्न दिखाकर धोखा दिया है। चौथे, आपने जलावतार का अर्थ क्यों नहीं किया? जलावतार के अर्थ हैं जल से पार ले-जानेवाली किश्ती, अतः कोश के अनुसार 'शास्त्र, यज्ञस्थल, उपाध्याय, मन्त्री, योनि, किश्ती' ये अर्थ तीर्थ शब्द के हैं। आपके इस लेख से स्वामीजी के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जैसाकि—

'**प्रश्न**—तो कोई तीर्थ, नामस्मरण सत्य है वा नहीं?

उत्तर—है, वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का सत्संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैरता, निष्कपटता, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभगुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से तीर्थ हैं, और जो जलस्थलमय हैं वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते, क्योंकि '**जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि**' मनुष्य जिनके द्वारा दुःखों से तरें उनका नाम तीर्थ है। जलस्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है, क्योंकि उनसे समुद्रादि को तरते हैं।'

—सत्यार्थ० समु० ११

स्वामीजी के इस सिद्धान्त की पुष्टि वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, यहाँ तक कि पुराण भी करते हैं, यह हम दिखा चुके हैं।

(२३६) **प्रश्न**—क्या कोई सनातनधर्मी यह कहता है कि तीर्थ शब्द से केवल जलसमूह का ही ग्रहण है, शास्त्रादिकों का नहीं। —पृ० २६०, पं० १०

उत्तर—तीर्थ शब्द के अर्थ जलस्थल के बिना और भी होते हैं—चाहे सनातनधर्मी यह मानते भी हों, तो भी वे पाप काटने और मोक्ष होने में तीर्थों के मुक़ाबले में वेद-शास्त्रादि किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि वेद-शास्त्र के तीर्थ मानने से तो गङ्गादि में स्नान का तथा काशी आदि निवास का कोई विशेष महत्त्व रहता ही नहीं। जलस्थल तीर्थों का तो महत्त्व ही इस बात में माना जाता है कि उनमें स्नान, दर्शन, स्मरण, भ्रमण, निवास, मरणमात्र से ही जन्म-जन्मान्तर के पाप कटकर मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। जैसेकि—

इदं गुह्यतमं क्षेत्रं सदा वाराणसी मम। सर्वेषामेव जन्तूनां हेतुर्मोक्षस्य सर्वथा॥ ७॥
अत्र तीर्थे विशेषोऽस्त्यविमुक्ताख्ये पुरोत्तमे। श्रूयतां तत्त्वया देवि परशक्ते सुचित्तया॥ १३॥
सर्वे वर्णा आश्रमाश्च बालयौवनवार्द्धकाः। अस्यां पुर्यां मृताश्चेत् स्युर्मुक्ता एव न संशयः॥ १४॥
अशुचिश्च शुचिर्वापि कन्या परिणता तथा। विधवा वाथवा वन्ध्या रजोदोषयुतापि वा॥ १५॥
प्रसूता संस्कृता कापि यादृशी तादृशी द्विजाः। अत्र क्षेत्रे मृता चेत्स्यान्मोक्षभाङ् नात्र संशयः॥ १६॥
स्वेदजश्चाण्डजो वापि ह्युद्भिजोऽथ जरायुजः। मृतो मोक्षमवाप्नोति यथात्र न तथा क्वचित्॥ १७॥
ज्ञानापेक्षा न चात्रैव भक्त्यपेक्षा न वै पुनः। कर्मापेक्षा न देव्यत्र दानापेक्षा न चैव हि॥ १८॥
संस्कृत्यपेक्षा नैवात्र ध्यानापेक्षा न कर्हिचित्। नामापेक्षार्चनापेक्षा सुजातीनां तथात्र न॥ १९॥
मम क्षेत्रे मोक्षदे हि यो वा वसति मानवः। यथा तथा मृतः स्याच्चेन्मोक्षमाप्नोति निश्चितम्॥ २०॥

—शिव० कोटिरुद्र० अ० २३

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका॥ ५॥
पुरी द्वारवती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः॥ ६॥

—गरुड० प्रेत० अ० ३८

नर्मदा— **तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्॥ ५३॥**
वसिष्ठाश्रम—**तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत॥ ५६॥**
पिङ्गतीर्थ— **पिंगतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचरी जितेन्द्रियः।**
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते॥ ५७॥
ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे॥ ६०॥
गो-सहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति॥ ६१॥
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम्॥ ६५॥
सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत॥ ६८॥
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा॥ ६९॥
दमीतीर्थ— **जन्मप्रभृति यत्पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति॥ ७३॥**
वसुधारा— **गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत्॥ ७६॥**
पञ्चनद— **पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः॥ ८३॥**
वासव— **सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत् परमां गतिम्॥ ८८॥**
नागभवन—**तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात्।**
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम्॥ ९१॥

—महा० वन० अ० ८२

भाषार्थ—यह काशी मेरा सदा से गुप्ततर क्षेत्र है जोकि सर्वथा सर्वप्राणियों के लिए मोक्ष का हेतु है॥ ७॥ इस अविमुक्ताख्य तीर्थ में विशेष उत्तमता है। हे देवि! तुम्हें चित्त देकर सुनना चाहिए॥ १३॥ सारे वर्ण, सब आश्रम, बालक, जवान, बूढ़े यदि इस पुरी में मरें तो मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ १४॥ शुद्ध हो, चाहे अशुद्ध हो, कन्या हो चाहे विवाही हो, विधवा हो वा वन्ध्या हो, चाहे रजोदोष से दूषित हो॥ १५॥ प्रसूता हो, असंस्कृता हो, वा जैसी-कैसी हो, इस क्षेत्र में यदि मर जावे तो मोक्षभागिनी होगी इसमें संशय नहीं॥ १६॥ स्वेदज हो, वा अण्डज हो, उद्भिज हो वा जरायुज हो, जैसे मरकर यहाँ मोक्ष को प्राप्त होता है वैसा कहीं नहीं॥ १७॥ यहाँ ज्ञान की आवश्यकता नहीं, न यहाँ पर भक्ति की अपेक्षा है। हे देवि! न यहाँ कर्म की अपेक्षा है, न ही दान की अपेक्षा है॥ १८॥ न संस्कारयुक्त होने की आवश्यकता है और यहाँ पर न कभी ध्यान की अपेक्षा है, न यहाँ पर नाम की अपेक्षा है, न पूजा की ज़रूरत, न यहाँ सुजाति होने की अपेक्षा है॥ १९॥ मेरे मोक्ष देनेवाले क्षेत्र में जो भी मनुष्य बसता है, जैसे-कैसे भी मरा हुआ निश्चितरूप से मोक्ष को प्राप्त होता है॥ २०॥ अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काँची, अवन्तिका तथा द्वारवतीपुरी ये सात मोक्ष के देनेवाली हैं॥ ५-६॥ नर्मदा नदी में पितरों तथा देवों का तर्पण करके अग्निष्टोमयज्ञ के फल को प्राप्त होता है॥ ५३॥ एक रात वसिष्ठाश्रम में निवास करने से सहस्र गोदान के फल को पाता है॥ ५६॥ पिंगतीर्थ में स्नान से सौ कपिला-दान के फल को पाता है॥ ५७॥ तब सरस्वती और सागर के संगम में जाकर॥ ६०॥ हज़ार गोदान के फल को तथा स्वर्गलोक को प्राप्त होता है॥ ६१॥ पिंडारक स्नान करके मनुष्य बहुत सोने को प्राप्त होता है॥ ६५॥ हे भारत! सागर और सिन्धु के संगम को प्राप्त होकर॥ ६८॥ अपने तेज से दीप्त वरुणलोक को प्राप्त होता है॥ ६९॥ दमीतीर्थ में स्नान करके जन्मभर के पाप का नाश कर

लेता है॥७३॥ वसुधारा में जानेमात्र से ही अश्वमेध के फल को पाता है॥७६॥ पञ्चनद में स्नान करने से पञ्चमहायज्ञ के फलों को प्राप्त होता है॥८८॥ नागभवन तीर्थ में स्नान करने से निश्चय मनुष्य वाजपेय यज्ञ के फल को प्राप्त होता है। सब पापों से छूट, शुद्धात्मा होकर परमगति=मोक्ष को प्राप्त होता है॥९१॥

इत्यादि हज़ारों प्रमाण हैं जोकि जलस्थल में स्नान, दर्शन, निवास, भ्रमण, मरणमात्र से पाप का छूटना और मोक्ष को प्राप्त होना मानते हैं। क्या सनातनधर्म में कोई माई का लाल ऐसा पैदा हुआ है जो इस प्रकार के तीर्थों को वेदों में से सिद्ध कर सके? रहा ऋषि दयानन्दजी का सिद्धान्त—उसका जहाँ वेद प्रतिपादन करते हैं, वहाँ सनातनधर्म के समस्त ग्रन्थ भी स्पष्ट शब्दों में मानते हैं। जैसेकि—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥९॥
प्रतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्। अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥१०॥
अकल्पको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः। विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते॥११॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः। आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥१२॥

—महा० वन० अ० ८२

भाषार्थ—जिसके हाथ और पैर तथा मन क़ाबू में है और जिसके पास विद्या, तप और कीर्ति है, वह तीर्थ के फल को भोगता है॥९॥ जो दान नहीं लेता, जिस-किस प्रकार से सन्तुष्ट है, अहंकार से मुक्त है, वह तीर्थ के फल को भोगता है॥१०॥ जो बुद्धिमान्, शीघ्रकारी, अल्प-भोजन से सन्तुष्ट तथा जितेन्द्रिय और सब पापों से मुक्त है, वह तीर्थ के फल को भोगता है॥११॥ हे राजेन्द्र! जो क्रोध से हीन, सत्यशील, दृढ़प्रतिज्ञ, सब प्राणियों को आत्मा के समान देखनेवाला है, वह तीर्थ के फल को भोगता है॥१२॥

कहिए, महाभारत ऋषि के सिद्धान्त का अक्षरशः अनुमोदन करता है या नहीं, अतः इस सारे लेख का परिणाम यह है कि—

(१) पौराणिक सनातनधर्म के सिद्धान्त में जलस्थल में स्नान, दर्शन, भ्रमण, निवास, मरण आदि से पापों का दूर होना तथा मोक्षप्राप्ति का नाम तीर्थ है, इसमें ज्ञानादि साधनों की अपेक्षा नहीं।

(२) वैदिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान, शास्त्र, सत्संगादि तीर्थ हैं तथा किश्ती नामक भी तीर्थ हो सकता है; जलस्थल का नाम तीर्थ नहीं है।

(३) वेदों में कहीं भी जलस्थल को तीर्थ नहीं कहा।

(४) वेदों में कहीं भी जलस्थल-स्नान, भ्रमण आदि से मोक्ष नहीं माना।

(५) वेदों में जहाँ गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु आदि नाम आते हैं वहाँ नदियों के प्रकार तथा लक्षण और उनका उपयोग वर्णन है। न उनको तीर्थ कहा है, न उनको पापनाशक माना है और न ही उनको मोक्ष का साधन वर्णन किया है।

(६) वेदों में जहाँ-जहाँ तीर्थ शब्द आया है, वहाँ-वहाँ ज्ञान, वेद, शास्त्र, सत्संग, माता-पिता-गुरु आदि का नाम है, जलस्थल का नहीं, क्योंकि मनुष्य को दुःखसागर से ज्ञानादि ही तैरा सकते हैं, जलस्थल नहीं।

(७) वेद की आज्ञा है कि ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है अन्यथा नहीं। जैसाकि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१।१८

भाषार्थ—हे जिज्ञासु पुरुष! मैं जिस बड़े-बड़े गुणों से युक्त सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप, अन्धकार वा अज्ञान से पृथक् वर्त्तमान, स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को जानता हूँ, उसी को जानकर आप दुःखदायी मृत्यु को जीत सकते हैं, इससे भिन्न और कोई मार्ग मोक्ष-प्राप्ति का नहीं है।

अतः ऋषि दयानन्दजी का सिद्धान्त वेदानुकूल होने से सत्य तथा पौराणिक सिद्धान्त वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है।

पाप-मोचन

(२३७) प्रश्न—जब यह मनुष्य संसार में दुःखी होता है या अन्यों को दुःखी देखता है, तब यह अपने दुःख दूर करने की आवाज़ों को ईश्वर के पास पहुँचाता है। इस आवाज़ पहुँचाने की विधि और इस क्रन्दन को सुनकर जगदीश्वर मनुष्य के दुःख को दूर करता है।

—पृ० २६०, पं० २२

उत्तर—परमात्मा न्यायकारी है। वह जीवों को उनके कर्मों का फल यथावत् देता है। यदि कोई मनुष्य अपने या दूसरों के दुःखों को देखकर अपने किये हुए पापों की क्षमा के लिए ईश्वर के सामने गिड़गिड़ाता है तो उसका गिड़गिड़ाना व्यर्थ है। परमात्मा किये हुए कर्मों का अवश्य फल देंगे। हाँ, उसकी प्रार्थनाओं का यह फल हो सकता है कि वह अपनी पाप करने की वृत्तियों का नाश करके भविष्य में पाप करना छोड़ दे। बस, जहाँ-जहाँ वेदों में पापमोचन की प्रार्थनाएँ हैं, उनका यही प्रयोजन है कि जीव परमात्मा से प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं भविष्य में पाप न करूँगा।'

(२३८) प्रश्न—**'तच्चक्षुर्देवहितम्'** इत्यादि [यजुः० ३६।२४] इस मन्त्र में अपने स्वतन्त्र जीवन और इन्द्रियों के पुष्ट होने की सूर्य से प्रार्थना की है। —पृ० २६०, पं० २६

उत्तर—इस मन्त्र में सूर्य से नहीं, अपितु परमात्मा से ही प्रार्थना की गई है, क्योंकि सूर्य जड़ है और हमारी भाँति ईश्वर का ही बनाया हुआ है। प्रार्थना करने का प्रयोजन यह है कि 'जिन पदार्थों' के लिए हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—एक प्रकार से परमात्मा के सामने इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि 'हम इन पदार्थों की प्राप्ति के लिए यत्न करेंगे'। इस मन्त्र में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जिसके यह अर्थ हों कि परमात्मा किये हुए पापों को क्षमा कर देता है। इस मन्त्र के यथार्थ अर्थ इस प्रकार हैं—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

—यजुः० ३६।२४

भाषार्थ—हे परमेश्वर! आप जो विद्वानों के लिए हितकारी, शुद्ध, नेत्र के तुल्य सबके दिखानेवाले, पूर्वकाल अर्थात् अनादिकाल से उत्कृष्टता के साथ सबके ज्ञाता हैं, उस चेतन ब्रह्म आपकी कृपा से हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक प्राणों को धारण करें, जीवें, सौ वर्ष तक शास्त्रों वा मङ्गल वचनों को सुनें, सौ वर्षपर्यन्त पढ़ाएँ वा उपदेश करें, सौ वर्षपर्यन्त दीनतारहित हों और सौ वर्ष से अधिक भी देखें, जीवें, सुनें, पढ़ें, उपदेश करें और अदीन रहें॥ २४॥

कहिए महाराज! इसमें पापमोचन कहाँ वर्णन किया गया है! श्रीमान्‌जी! वेद में पापमोचन की आज्ञा नहीं है, अपितु वेद पापकर्मों का फल देना अवश्य वर्णन करता है। जैसे—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —यजुः० ४०।३

भाषार्थ—जो लोक-लोकान्तर वा जन्म-जन्मान्तर अत्यन्त अज्ञानमय वा दुःखमय हैं, उन लोकों को मरने के पश्चात् भी वे लोग जाते हैं जो कोई आत्मा का हनन करनेवाले, अर्थात् पापाचारी जन हैं॥ ३॥

(२३९) प्रश्न—'सुमित्रिया न आप' इत्यादि [यजुः० ३६।२३] इस मन्त्र में परमात्मा से ओषधियों के हमारे लिए मित्र तथा शत्रु के लिए अमित्र होने की प्रार्थना है।

—पृ० २६१, पं० १२

उत्तर—आप अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध करते हुए प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान में आ रहे हैं। इस मन्त्र में भी पापमोचन का ज़िक्र तक नहीं है। न मालूम इन दोनों मन्त्रों के देने से आपकी क्या प्रयोजन-सिद्धि हुई है। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥

—यजुः० ३६।२३

भाषार्थ—हे मनुष्यो! यह प्राण वा जल, जौ आदि ओषधियाँ हमारे लिए उत्तम मित्र के समान होवें वे ही जो अधर्मी, हम धर्मात्माओं से द्वेष करें और जिनसे हम लोग द्वेष करें उनके लिए शत्रु के तुल्य विरुद्ध होवें॥ २३॥

भावार्थ—जैसे अनुकूलता से जीते हुए इन्द्रिय मित्र के तुल्य हितकारी होते हैं, वैसे जलादि पदार्थ भी देश-काल के अनुकूल यथोचित सेवन किये हितकारी और विरुद्ध सेवन किये शत्रु के तुल्य दुःखदायी होते हैं॥ २३॥

यहाँ वेद में पापमोचन का वर्णन तो कहाँ, धर्म से द्वेष करनेवाले पापियों के लिए ओषधियों के शत्रुवत् विरुद्ध होने की प्रार्थना है तथा वेद में भगवान् स्वयं कहते हैं कि—

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तमइवाप हन्मसि॥ —अथर्व० ८।२।१२

भाषार्थ—दान न करने का भाव—दुःखमय अवस्था दूर रहे। न छोड़नेवाली पीड़ा, मांसभक्षक और रुधिर पान करनेवाले और जो दुःखदायी, दुष्ट प्राणी हैं उन सबको अन्धकार के समान नष्ट कर देता हूँ॥ १२॥

इससे साफ़ सिद्ध है कि परमात्मा पापियों को अवश्य दण्ड देते हैं।

(२४०) प्रश्न—'तनूपा अग्नेऽसि' इत्यादि [यजुः० ३।१७] इस मन्त्र में अग्नि से शरीर की रोग आदि से रक्षा करने, दीर्घ आयु करने, तेज देने आदि की प्रार्थना की गई है।

—पृ० २६१, पं० २०

उत्तर—इस मन्त्र में भी पापमोचन का वर्णन नज़र नहीं आता, अपितु अग्नि अर्थात् परमात्मा से आयु आदि देने की प्रार्थना है। जैसे—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥ —यजुः० ३।१७

भाषार्थ—हे जगदीश्वर! जिस कारण आप सब मूर्त्तिमान पदार्थों के शरीरों की रक्षा करनेवाले हैं, इससे आप मेरे शरीर की रक्षा कीजिए। हे परमेश्वर! जैसे आप सबको आयु के देनेवाले हैं, वैसे मेरे लिए पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष तक जीवन दीजिए। हे सर्वविद्यामय ईश्वर! जैसे आप सब मनुष्यों को विज्ञान देनेवाले हैं, वैसे मेरे लिए भी ठीक-ठीक गुण-ज्ञानपूर्वक पूर्णविद्या को दीजिए। हे सब कामों को पूर्ण करनेवाले परमेश्वर! मेरे शरीर में जितना बुद्धि, बल और शौर्यादि गुण-कर्म है उतना अंग मेरा अच्छे प्रकार पूर्ण कीजिए।

कहिए महाराज! इस मन्त्र में पापमोचन का वर्णन करनेवाले कौन-से पद हैं? परमात्मा पापमोचक नहीं, अपितु पापियों को दण्ड देकर रुलाने के कारण रुद्र कहाते हैं। जैसेकि—

रुद्रस्य ये मीळ्हुषः सन्ति पुत्रा याँश्चो नु दाधृविर्भरध्यै।
विदे हि माता महो मही षा सेत्पृश्निः सुभ्वे गर्भमाधात्॥ —ऋ० ६।६६।३

भाषार्थ—एक दानवीर, पापियों को दण्ड देकर रुलानेवाले रुद्रदेव के जो अनेक पुत्र हैं और निश्चय ही जिनके भरण-पोषण-पालन करने की सब शक्ति वह एक अद्वितीय रुद्र धारण करता है, इस महान् रुद्र की शक्ति को वह प्रकृतिरूपी बड़ी माता प्राप्त करती है और जीवों की उत्तम अवस्था होने के लिए वह विविध रंग-रूपवाली प्रकृति माता निश्चय से जीवों को गर्भ में धारण करती है॥ ३॥

परमात्मा का रुद्र नाम ही इस बात को सिद्ध करता है कि वह पापियों के पाप का मोचन नहीं करता, अपितु उनके पापों का दण्ड देकर उनको रुलाता है।

(२४१) प्रश्न—'नमस्ते अग्न ओजसे' इत्यादि [साम० पू० १।१।२।१] इस मन्त्र में अग्नि से शत्रुओं के नाश करने की प्रार्थना की गई है। —पृ० २६२, पं० ५

उत्तर—आप भी अजीब आदमी हैं। प्रतिज्ञा तो करते हैं पापमोचन सिद्ध करने की, किन्तु उसकी सिद्धि के लिए मन्त्र एक भी पेश नहीं कर सकते। भला! बतलाइए, इस मन्त्र में वे कौन-से पद हैं जो यह बतलाते हों कि परमात्मा पापों को क्षमा कर देता है? इस मन्त्र में तो आपके अर्थ के अनुसार ही धर्म के शत्रुओं, अर्थात् पापियों को नाश करने की प्रार्थना की गई है। मन्त्र के ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय॥ —साम० पू० १।१।२।१

भाषार्थ—हे अग्ने! हे देव! परमात्मन्! मनुष्य तुझे बल के लिए नमस्कार करते हैं, तू बलों से धर्म के शत्रु को पीड़ित कर। भक्त भगवान् से प्राण माँगते हैं और वन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों॥ १॥

इस मन्त्र में पापमोचन नहीं अपितु पापियों को दण्ड देने का वर्णन है। वास्तव में यह पापमोचन का सिद्धान्त वैदिक है ही नहीं। और वेद ही क्या, इस ग़लत सिद्धान्त का सभी खण्डन करते हैं। जैसे—

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥ ६॥ —वाल्मी० अयो० स० ६३
अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।
घोरं पर्य्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम्॥ ८॥ —वाल्मी० अरण्य० स० २९

भाषार्थ—हे कल्याणि! मनुष्य जो कुछ भी शुभ-अशुभ करता है, हे भद्रे! करनेवाला वही अपने किये कर्मों के फल को प्राप्त होता है॥ ६॥ करनेवाला अपने पापकर्मों का फल घोरकाल आने पर अवश्य प्राप्त करता है, जैसे मौसम आने पर वृक्ष फूलों को प्राप्त होते हैं॥ ८॥

अतः पापमोचन का सिद्धान्त वेदविरुद्ध तथा मिथ्या है, और जनता को पाप करने के लिए उत्साहित करने में साधन है।

(२४२) प्रश्न—'यद् ग्रामे यदरण्ये' इत्यादि [यजुः० ३।४५] यह मन्त्र पढ़कर पापनाशक देवता ईश्वर को हवि दी जाती है। —पृ० २६२, पं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में भी यह बात नहीं है कि ईश्वर पाप क्षमा कर देता है, अपितु आपके अर्थ के अनुसार ही इससे यह बात सिद्ध होती है कि 'पाप को हम क्षय करते हैं' अर्थात् हम

पाप करना छोड़ते हैं। हम पाप करना छोड़ दें इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है। विवादास्पद तो यह विषय है कि ईश्वर किये हुए पापों का मोचन कर देता है वा नहीं। सो इस बारे में आप अभी तक एक मन्त्र भी पेश नहीं कर सके। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा॥—यजुः० ३।४५

भाषार्थ—कर्म के अनुष्ठान करनेवाले हम लोग, जो गृहस्थों से सेवित ग्राम, वानप्रस्थों ने जिस वन की सेवा की हो, विद्वान् लोग जिस सभा की सेवा करते हों और योगी लोग जिस मन वा श्रोत्रादिकों की सेवा करते हों, उसमें स्थित होके जो पाप वा अधर्म किया वा करेंगे, सो सब दूर करते रहें तथा जो-जो उन-उन उक्त स्थानों में सत्य वाणी से पुण्य वा धर्माचरण करना योग्य है, उस-उसको प्राप्त होते रहें॥ ४५॥

भावार्थ—चारों आश्रमों में रहनेवाले मनुष्यों को मन, वाणी और कर्मों से सत्य कर्मों का आचारण कर पाप वा अधर्मों का त्याग करके विद्वानों की सभा, विद्या तथा उत्तम-उत्तम शिक्षा का प्रचार करके प्रजा के सुखों की उन्नति करनी चाहिए॥ ४५॥

इस मन्त्र में पाप तथा अधर्म की वृत्तियों को बदलकर भविष्य में पाप न करने तथा धर्माचरण करने का प्रतिपादन है, किये हुए पापों के क्षमा होने का वर्णन नहीं है और न ही किये हुए पाप क्षमा हो सकते हैं, अपितु किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और सभी ग्रन्थ इसकी पुष्टि करते हैं। जैसे—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्त्ता नास्त्यत्र संशयः॥ २५॥ —वाल्मी० युद्ध० स० १११
यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥ ५॥ —महा० वन० अ० २०९

भाषार्थ—पापकर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है। हे पते! समय आने पर कर्त्ता फल पाता है, इसमें संशय नहीं है॥ २५॥ हे उत्तम पुरुष! जो कोई शुभ या अशुभ कर्म करता है वह पुरुष अवश्य ही उसके फल को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है॥ ५॥

अतः सिद्ध हुआ कि पापमोचन का सिद्धान्त वेदविरुद्ध होने से पापजनक है।

(२४३) प्रश्न—'**अग्ने रक्षा णो**' इत्यादि [साम० पू० १।१।३।४] इस मन्त्र में प्रार्थना है कि हे अग्निरूप परमेश्वर! तुम हमारी पाप से रक्षा करो। —पृ० २६२, पं० १७

उत्तर—इस मन्त्र में भी आपके अर्थों के अनुसार भी पापमोचन का वर्णन नहीं है, अपितु 'हमारी पाप से रक्षा करो' अर्थात् पाप करने से बचाओ, ऐसा वर्णन है। और 'परमात्मा को धर्म के शत्रुओं का मारनेवाला, तपानेवाला तथा भस्म करनेवाला' वर्णन किया गया है, किये हुए पापों को क्षमा करनेवाला नहीं बताया। ऐसी अवस्था में दुष्टों, पापियों को दण्ड देनेवाला तथा हमारी पाप करने से रक्षा करनेवाला होने से यह मन्त्र हमारे सिद्धान्त का अनुमोदन तथा आपके सिद्धान्त का खण्डन करता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह॥ —साम० पू० १।१।३।४

भाषार्थ—हे उपास्यदेव प्रभो! हे अग्ने! स्वप्रकाश! हमारी पाप और पापी, हिंसक शत्रु से रक्षा कर, हमें उनसे बचा और कभी हीनबल न होनेवाला तू तपानेवाले तेजों, शस्त्रों से पापी को भस्म कर डाल॥ ४॥

कहिए, इस मन्त्र में पापमोचन वर्णन करनेवाले कौन-कौन-से पद हैं? हैं ही नहीं और हों

भी कैसे जबकि पाप क्षमा होते ही नहीं, अपितु किये हुए कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, जैसाकि महाभारत में आता है—

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्। कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते॥ १६॥
निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव। कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते॥ १७॥

—महा० शान्ति० अ० २९०

भाषार्थ—आँख से, मन से, वाणी से, कर्म से, चार प्रकार से मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है॥ १६॥ अकेला वा मिला हुआ कर्म हे राजन्! मनुष्य प्राप्त करता है, चाहे पुण्य हो चाहे पाप हो, इसका नाश नहीं होता॥ १७॥

इससे सिद्ध है कि मनुष्य की पाप करने की वृत्तियों का नाश होकर भविष्य में पाप करने से छूट सकता है, किन्तु किये हुए कर्म के फल का नाश नहीं होता।

(२४४) प्रश्न—'आ नो अग्ने' इत्यादि [साम० पू० १।१।४।९] परमेश्वर! शुद्ध करनेवाले, पापहर्त्ता, अन्न के बढ़ानेवाले, स्तुति योग्य धन को हमारे वास्ते दो, इत्यादि।

—पृ० २६२, पं० २२

उत्तर—इस मन्त्र में भी किये हुए कर्मों के फल के नाश का वर्णन नहीं है, अपितु परमात्मा को पापहर्त्ता इसलिए वर्णन किया गया है कि परमात्मा हमारी पाप करने की वृत्तियों का नाश करके हमें पापकर्म करने से बचाकर शुभकर्म में लगा देता है। इसी से परमात्मा को पापहर्त्ता, शुद्धकर्त्ता वर्णन किया है। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम्॥ —साम० पू० ख० १।१।४।९

भाषार्थ—हे अग्ने! हे पवित्र करनेहारे! हमें प्रशंसा के योग्य, आयु को बढ़ानेवाला धन-ऐश्वर्य दे। हे ज्ञानसम्पन्न! हे सृष्टि के कर्त्ता! उत्तम धर्म की नीति से हमें जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है, वह भी दे॥ ९॥

कहिए, मन्त्र में वे कौन-से पद हैं जो किये कर्मों के कर्मफल का नाश या पापमोचन वर्णन करते हैं? मन्त्र में परमेश्वर को जो पावक अर्थात् पवित्र करनेवाला कहा है उसके अर्थ ये हैं कि वह हमें पाप करने से रोककर पवित्र कर्मों में लगानेवाला है। किये कर्मों के फल का नाश या पापमोचन नहीं हो सकता, किये कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है। जैसे—

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति। शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम्॥ ८॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति। करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते॥ ९॥
येन येन यथा यद्यत् पुरा कर्म समीहितम्। तत्तदेव नरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना॥ १०॥

—महा० शान्ति० अ० १८१

भाषार्थ—जिसने जो कर्म किया है वह कर्म शीघ्र दौड़ते हुए के साथ दौड़ता है, सोये हुए के साथ सोता है॥ ८॥ बैठे के साथ बैठता है, और चलते हुए के साथ चलता है, करते हुए के साथ करता है। सारांश यह कि किया हुआ कर्म छाया के समान मनुष्य के साथ रहता है॥ ९॥ जिस-जिसने जैसे, जो-जो कर्म पहले किया है, वही-वही मनुष्य अपने किये कर्मों को नित्य भोगता है॥ १०॥

अतः सिद्ध है कि पापमोचन का सिद्धान्त वेदविरुद्ध तथा युक्तिशून्य होने से सर्वथैव मिथ्या है।

(२४५) प्रश्न—'अग्ने नय सुपथा राये' इत्यादि [यजुः० ४०।१६] इस मन्त्र में कहा है कि हे परमेश्वर! कुटिल, वञ्चनात्मक पाप को हमसे पृथक् करो। —पृ० २६३, पं० ४

उत्तर—इस मन्त्र में भी परमात्मा से कुटिल, वञ्चनात्मक पापस्वभाव को पृथक् करने की प्रार्थना की गई है, किये हुए पापकर्मों के फलभोग को पृथक् करने की प्रार्थना नहीं है। इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

—यजु:० ४०।१६

भाषार्थ—हे दिव्यस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, करुणामय जगदीश्वर! जिससे हम लोग आपके लिए अधिकतर सत्कारपूर्व प्रशंसा का सेवन करें, इससे सबको जाननेवाले आप हम लोगों से कुटिलतारूप पापाचरण को पृथक् कीजिए। हम जीवों को विज्ञानधन वा धन से होनेवाले सुख के लिए धर्मानुकूल मार्ग से समस्त प्रशस्त ज्ञानों को प्राप्त कीजिए॥ १६॥

श्रीमान्‌जी! बतालाइए, इसमें पापों को क्षमा करने या पापमोचन का वर्णन कहाँ है? यहाँ तो पापाचरण को दूर करने तथा धर्माचरण में प्रवृत्ति की प्रार्थना है। किये हुए पापकर्मों का फल कभी भी क्षमा नहीं हो सकता, देखिए—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम्। तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते॥ १५॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥ १६॥

—महा० शान्ति० अ० १८१

भाषार्थ-बालक हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढ़ा हो, जो भी पुण्य-पापकर्म करता है, उस-उस अवस्था में उसके फल को प्राप्त होता है॥ १५॥ जैसे हज़ारों गौओं में बछड़ा अपनी माता को प्राप्त होता है, वैसे ही पूर्व में किया हुआ कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है॥ १६॥

अत: सिद्ध हुआ कि किये हुए पापकर्मों का फल समाप्त या पापमोचन नहीं हो सकता। हाँ, पापाचरणों को छोड़कर धर्माचरण में मनुष्य की प्रवृत्ति हो सकती है।

(२४६) प्रश्न—'अप नः शोशुचत्' इत्यादि [ऋ० १।९७।१] हमारा जो पाप है वह हमसे निकलकर शोक में पड़कर नष्ट हो जावे। —पृ० २६३, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र में भी पूर्व किये हुए पापकर्मों के फल की क्षमा वा पापमोचन नहीं है अपितु पाप करने की आदत को दूर करके पुण्य करने की आदत डालने का अभिप्राय है। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम्॥ —ऋ० १।९७।१

भाषार्थ—हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! हमारे पापस्वभाव को काष्ठ की आग के समान भस्म करके दूर कीजिए और हमारे प्राण, देह, तथा ऐश्वर्य को शुद्ध, प्रकाशित और उज्ज्वल कीजिए। पुन: प्रार्थना है कि हमारे पाप करने के स्वभाव को भस्म करके दूर कीजिए॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्वकृत पापमोचन सिद्ध नहीं होता, अपितु पाप करने का स्वभाव दूर होकर पुण्य करने का स्वभाव हो जाए यही सिद्ध होता है और पूर्वकृत पाप का फल टल भी नहीं सकता—

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति। कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते॥ ८॥

—महा० शान्ति० अ० २९८

भाषार्थ—अधर्म किसी भी कारण की अपेक्षा से कर्त्ता को नहीं छोड़ता; निश्चयरूप से करनेवाला समयानुसार किये कर्म के फल को प्राप्त होता है॥ ८॥

अत: सिद्ध हुआ कि पापमोचन का सिद्धान्त वेद-विरुद्ध और मिथ्या है।

(२४७) प्रश्न—**'सुक्षेत्रिया सुगातुया'** इत्यादि [ऋ० १।९७।२] आपकी कृपा से हमारा पाप संकट में पड़कर नष्ट हो जावे। —पृ० २६३, पं० १७

उत्तर—इस मन्त्र में भी ईश्वर से अपने पाप करने के स्वभाव को नष्ट करने की प्रार्थना है। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम्॥ —ऋ० १।९७।२

भाषार्थ—हे परमेश्वर! हम लोग उत्तम क्षेत्र को प्राप्त करने की इच्छा से, उत्तम मार्ग को प्राप्त करने की इच्छा से, और उत्तम धन को प्राप्त करने की इच्छा से, तेरी उपासना करें। हे ज्ञानवान्! तेजस्विन्! आप हमारे पाप करने के स्वभाव को भस्म कर डालें॥ २॥

इससे पापमोचन सिद्ध नहीं होता, अपितु पाप करने के स्वभाव को दूर करना सिद्ध होता है। देखिए, पुराण भी यही कहते हैं—

कृतकर्म क्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ ३९॥

—शिव० कोटिरुद्र० अ० २३

भाषार्थ—किये हुए कर्म का सौ करोड़ कल्प तक भी क्षय नहीं होता, किया हुआ शुभ तथा अशुभ कर्मफल अवश्य ही भोगना पड़ेगा॥ ३९॥

इससे स्पष्ट हो गया कि किये हुए पापकर्मों का क्षय नहीं होता, अतः पापमोचन का सिद्धान्त वेद, शास्त्र, पुराणविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है। पाप करने के स्वभाव को छोड़कर आगे को पुण्यकर्म करना ही पाप दूर होने का प्रयोजन है।

(२४८) प्रश्न—इस स्थल में **'अप नः'** इस मन्त्र से लेकर **'स नः सिंधुम्'** इस मन्त्र तक ८ मन्त्र पापक्षमायाचन के हैं। जिनको देखना हो, ऋग्वेद देख लें। —पृ० २६३, पं० २२

उत्तर—इन मन्त्रों में भी किये हुए पाप के फल को क्षमा करने, पापमोचन वा पापक्षमा का वर्णन नहीं है, अपितु पाप करने के स्वभाव का नाश करके सदाचारी बनकर आगे को पापकर्म की निवृत्ति तथा पुण्यकर्म में प्रवृत्ति का वर्णन है। पापों का क्षमा करना ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध है, क्योंकि परमात्मा न्यायकारी है और जो जैसा काम करे उसको वैसा फल देना न्याय है। किसी के पाप क्षमा करने से परमात्मा न्यायकारी नहीं रह सकता। परमात्मा का एक नाम यम है, जिसका अभिप्राय है कि परमात्मा सबको नियम में रखता है। पाप क्षमा करने से परमात्मा का नियम भंग हो जाएगा। परमात्मा का नाम रुद्र है। रुद्र उसको कहते हैं जो पापियों को दण्ड देकर रुलाता है। यदि पाप क्षमा कर दे तो उसका रुद्र नाम व्यर्थ हो जाए। परमात्मा का नाम दयालु है। यदि परमात्मा दुष्टों के पाप क्षमा कर दे तो जिन निर्बलों पर अत्याचार करके दुष्टों ने पाप किया है, उनको दण्ड न देने से उन निर्बलों पर अत्याचार करनेवाला परमात्मा माना जाएगा। परमात्मा को न्यायकारी, यम, रुद्र तथा दयालु प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र निम्नलिखित हैं—

न्यायकारी— **विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्।**
अग्निमीळे स उ श्रवत्॥ —ऋ० ८।४३।२४

यम— **परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।**
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ —ऋ० १०।१४।१

रुद्र— **इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।**
अषाळहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ —ऋ० ७।४६।१

दयालु— **यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।**
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ —ऋ० ५।६४।३

भाषार्थ—प्रजाओं के अद्‌भुत राजा, धर्मकार्यों का योग्य अध्यक्ष, अर्थात् कर्मफल-प्रदाता इस तेजस्वी देव की मैं स्तुति करता हूँ। वही हमारी स्तुति सुनता है॥ २४॥ इस व्यापक भूतसमूह को अर्थात् सब प्राणियों को पुण्य-पाप के मार्गों से नियम में चलानेवाले तेजस्वरूप, सब मनुष्यों को एक ही न्याय के रास्ते में चलानेवाले यम राजा परमात्मा की श्रद्धा-भक्ति से स्तुति करो॥ १॥ ये स्तुतियाँ दृढ़दण्डधारी, सुखदाता, अन्न से पालन करनेवाले, दुष्टों को दण्ड देनेवाले रुद्र के लिए हैं, वे इन स्तुतियों को सुनें॥ १॥ यदि सद्‌गति प्राप्त करना चाहूँ तो स्नेहमय, दयालु प्रभु के बताये मार्ग से जाऊँ, क्योंकि इस हिंसा न करनेवाले, अर्थात् दयाभाव-युक्त परमप्रिय परमेश्वर के कल्याणमय मार्ग से विद्वान् आश्रय पाते हैं॥ ३॥

इससे सिद्ध हो गया कि पापों का क्षमा करना परमेश्वर के न्यायकारी, यम, रुद्र, दयालु आदि गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध है, अतः पापमोचन वेद-विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है।

(२४९) प्रश्न—स्तुति करने का मतलब ईश्वर के सदृश गुण-कर्म-स्वभाव बनाना है। आपकी दृष्टि में ईश्वर में भी गुण-कर्म हैं। आपको यह भी मालूम है कि गुण जब रहेगा तब किसी आधार में रहेगा और आधार जो होगा वह निःसन्देह साकार होगा। जब आपकी दृष्टि में ईश्वर साकार ही नहीं तो उसमें गुण कैसे ठहरेंगे? —पृ० २६५, पं० ४

उत्तर—बेशक स्तुति करने का प्रयोजन ईश्वर में प्रीति तथा उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना है और निःसन्देह ईश्वर में गुण और कर्म हैं, क्योंकि—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि॥

—वैशे० अ० १, आ० १, सू० ५

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं। इन नौ द्रव्यों में आत्मा भी एक द्रव्य है, और—

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥ —वैशे० अ० १, आ० १, सू० १५

जिसमें क्रियागुण या केवल गुण रहें उसको द्रव्य कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, मन और आत्मा—ये छह द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रिया से रहित गुणवाले द्रव्य हैं।

इस प्रमाण से आत्मा क्रिया तथा गुणवाला द्रव्य है। आत्मा दो प्रकार का है—जीवात्मा तथा परमात्मा। जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों स्वरूप से निराकार हैं। वैसे ही आकाश, दिशा और काल भी स्वरूप से निराकार हैं। जीवात्मा को पुण्य-पापकर्म करने के कारण उनका फल सुखदुःख भोगने के लिए नैमित्तिकरूप से शरीर मिलता है, किन्तु शरीर धारण करने पर भी आत्मा के स्वरूप में फ़र्क नहीं आता, रहता वह निराकार ही है। साकार तो शरीर ही होता है, जीवात्मा नहीं। शरीर के सम्बन्ध से वह सुख-दुःख कर्मफल भोगता है। परमात्मा न पुण्य-पाप कर्म करता है, न उसके फल भोगने के लिए शरीर धारता है। उसके कर्म स्वाभाविक ही हैं। यह ठीक है कि गुण आधार अर्थात् द्रव्य में रहते हैं, किन्तु आधार साकार ही होता है, निराकार नहीं—यह वेद, शास्त्र, दर्शन के विरुद्ध युक्तिशून्य उन्मत्त प्रलाप है। मालूम होता है कि आप दर्शन-ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं। वरना यह न लिखते कि आधार साकार ही होता है। देखिए, जैसे निराकार दिशा में परत्व, अपरत्व गुण रहते हैं, काल में भी निराकार होने पर भी पहले, पीछे गुण रहते हैं, निराकार आकाश में शब्द गुण रहता है, निराकार जीवात्मा में शरीररहित होने पर भी मोक्षावस्था में भी ज्ञान-प्रयत्न-आनन्द गुण रहते हैं, वैसे ही निराकार परमात्मा में भी ज्ञान, प्रयत्न, आनन्द, दया, न्याय आदि गुण विद्यमान हैं। देखो यजुर्वेद अध्याय ४० में **'स पर्य्यगात्'** इत्यादि ईश्वर के स्वरूप के प्रतिपादक मन्त्र।

(२५०) प्रश्न—न्यायदर्शन ने उत्क्षेपन, अवक्षेपन, कुञ्चन, प्रसारण, गमन—ये पाँच कर्म माने हैं। क्या ईश्वर में उत्क्षेपन कर्म है। वह किसको उठाकर ऊपर फैंकता है या बराबर में फैंकता है, किसी को लम्बा-चौड़ा करता है या किसी को घिस डालता है, अथवा वह चलता है। उसमें कौन कर्म है? —पृ० २६५, पं० ९

उत्तर—ऊपर-नीचे, दायें-बायें आदि शब्द ईश्वर में प्रयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे परिमित वस्तु के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं और ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण, व्यापक है। हाँ, जीवों की अपेक्षा से ये शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं। सूर्य, चाँद, सितारों को ईश्वर ऊपर को भी चलाता है, नीचे को भी चलाता है, अत: उत्क्षेपण, अवक्षेपन कर्म ईश्वर में हुआ। ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति के समय प्रकृति के बिखरे हुए परमाणुओं को इकट्ठा करता है, इससे कुञ्चन-कर्म ईश्वर में है। प्रलय के समय ईश्वर पृथिवी आदि स्थूल वस्तुओं का नाश करके उनके परमाणुओं को आकाश में बिखेर देता है, इससे ईश्वर में प्रसारण-कर्म है। हाँ, रहा गमन—वह स्वयं नहीं चलता, क्योंकि परिपूर्ण व्यापक में चलना नहीं हो सकता, परन्तु ईश्वर संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को नियम में चलाता है, अत: गमन-कर्म उसमें है। इस प्रकार से ईश्वर में पाँचों प्रकार के कर्म वर्त्तमान हैं।

(२५१) प्रश्न—आपने तो ईश्वर को अविज्ञेय और अनिर्वचनीय तथा इच्छारहित माना है। इच्छारहित में कभी कर्म का करना बन सकता है? —पृ० २६५, पं० १२

उत्तर—स्वामीजी ने ईश्वर को अविज्ञेय तथा अनिर्वचनीय माना है, इसका आपने कोई ठिकाना नहीं लिखा कि कहाँ माना है। अविज्ञेय का यदि यह अभिप्राय हो कि बाह्येन्द्रियों से अगोचर है तो ठीक है। यदि आपका अभिप्राय यह हो कि ईश्वर सर्वथा अविज्ञेय है तो यह स्वामीजी का मत नहीं है। स्वामीजी तो उपासना द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार मानते हैं। फिर वे उसे अविज्ञेय कैसे मान सकते हैं? अनिर्वचनीय हम किसी भी पदार्थ को नहीं मानते और न स्वामीजी ने लिखा है। रहा इच्छा का सवाल सो ईश्वर में नहीं है, क्योंकि इच्छा अप्राप्त वस्तु की होती है और परमात्मा को कोई पदार्थ अप्राप्त नहीं है। हाँ, ईश्वर में ईक्षण अर्थात् दर्शन, विचार और कामना हैं जैसाकि आपने भी अपनी पुस्तक के पृ० २३१, पं० १६ में लिखा है। ईश्वर अपने ईक्षण से सृष्टि-उत्पत्ति, प्रलय, कर्मफल देना आदि कर्म करता है इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है।

(२५२) प्रश्न—एवं ईश्वर-जैसे गुण मनुष्यों में आवेंगे कैसे? वह सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान् है। आपके मत में शरीररहित है, तो क्या दुनिया के मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् बनकर अपने शरीर को छोड़ दें, ज़हर खाकर मर जावें? —पृ० २६५, पं० १४

उत्तर—आपके दिमाग़ में भी कुछ पागलपन का अंश प्रतीत होता है, वरना स्वामीजी ने यह कहाँ लिखा है कि मनुष्य ईश्वर-जैसा बन जाए? अपितु आपने ही अपनी किताब में पृ० २६४, पं० ६ में सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ७, पृ० १८२ का पता देकर पाठ नकल किया है, जिसमें लिखा है कि 'स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना'। बस स्वामीजी के लेखानुसार ईश्वर के प्रत्येक गुण से शिक्षा लेकर मनुष्य अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधार कर सकता है। जैसे परमात्मा की सर्वज्ञता से यह सुधार करें कि हम अधिक-से-अधिक ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करें, थोड़े-से ज्ञान से सन्तुष्ट होकर न बैठ जावें तथा परमात्मा की सर्वव्यापकता से यह सुधार करें कि हम एक ही स्थान में कूपमण्डूक बनकर न बैठे रहें, अपितु देश-देशान्तर में घूमकर विद्या, धन, ऐश्वर्य की वृद्धि करें। परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता से यह सुधार करें कि हम अधिक-से-अधिक शक्ति सम्पादन करके दुष्टों को दण्ड दें, श्रेष्ठों का पालन करें तथा शत्रुओं का पराजय करके चक्रवर्ती राज्य की प्राप्ति का यत्न करें तथा परमात्मा के शरीररहित होने से यह सुधार करें कि जिससे जन्म-मरण से छूट शरीर से रहित

हो परमानन्द को प्राप्त हों। बस, यही स्वामीजी का प्रयोजन है, जिसको आपकी अल्पबुद्धि समझने में असमर्थ रही है।

(२५३) प्रश्न—आपने सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर के चार कर्म बतलाये—सृष्टि का रचना, प्रलय का करना, जीव को उसके कर्मानुसार फलदेना, वेद का बनाना। क्या अब ये चारों काम आर्यसमाजी करने लगेंगे? —पृ० २६५, पं० १७

उत्तर—आर्यसमाजी ही नहीं अपितु प्रत्येक मनुष्य ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव सुधार सकता है। जैसे ईश्वर के सृष्टिरचना-कर्म से मनुष्य यह शिक्षा ले सकता है कि जैसे ईश्वर ने अग्नि, पानी, मिट्टी, हवा, आकाश—इन पाँच ही तत्त्वों की न्यून-अधिकता के हेर-फेर से संसार की अनेक वस्तुएँ बनाकर अपनी कारीगरी का प्रमाण दिया है, वैसे ही मनुष्य को भी धातु, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, आग, पानी, हवा, आकाश आदि वस्तुओं के मेल से यान आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाकर अपनी कारीगरी का प्रमाण देना चाहिए तथा परमात्मा के प्रलयकर्म से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसे परमात्मा इस सृष्टि को पुरानी, शक्तिहीन देखकर इसकी प्रलय करके फिर से उसको नई और शक्तिशाली बनाता है, वैसे ही हम लोगों को भी अपने घर, पुल, चारपाई, रेल के इञ्ज, यन्त्र, कलाएँ इत्यादि सब वस्तुओं को पुरानी तथा शक्तिहीन देखकर उनके पुरज़ों को खोल, ठीक करके फिर से नई तथा शक्तिशाली बना लेना चाहिए। परमात्मा के न्यायपूर्वक सब जीवों को कर्मफल देने से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसे परमात्मा निष्पक्षपात होकर न्याय से दुष्टों को दण्ड, श्रेष्ठों का पालन तथा कर्मों का फल देता है, ऐसे ही हमको भी अपने परिवार, माता, पिता, गुरु, आचार्य, पुत्र, पत्नी, भृत्य, प्रजा आदिकों के साथ निष्पक्ष होकर न्यायानुसार पालन, पोषण, शिक्षा, दण्ड आदि व्यवहार उनके कर्मों के अनुसार यथायोग्य करना चाहिए। परमात्मा के वेद-प्रकाश से हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसे परमात्मा ने सब मनुष्यों के ज्ञानार्थ अपनी कल्याणी वाणी वेद का मनुष्यमात्र के लिए प्रकाश किया है, वैसे ही हम भी वेदविद्या तथा अपनी अन्य भी हर प्रकार की विद्या को मनुष्यमात्र को पढ़ाकर संसार में विद्या तथा ज्ञान की वृद्धि करें। परमात्मा के इन चारों कर्म्मों से शिक्षा लेकर हम इस प्रकार से अपने गुण-कर्म-स्वभाव को सुधार सकते हैं।

(२५४) प्रश्न—स्वभाव नाम तो शरीर का है। '**स्वभवनं स्वभावः**' जो साथ में पैदा हो उसका नाम स्वभाव है। क्या ईश्वर के भी शरीर है? यदि स्वभाव नाम आप आदत का मानें तो ईश्वर-जैसी आदत जीवों की तो नहीं हो सकती, सम्भव है आर्यसमाजियों की हो जावे। —पृ० २६५, पं० १९

उत्तर—स्वभाव शब्द के बहुत-से अर्थ हैं। स्वभाव स्वयं किसी वस्तु के नित्य गुण का भी नाम है, जैसे जल में शीतता, पृथिवी में गन्ध, अग्नि में उष्णता। दूसरे, स्वभाव नाम आदत का है। स्वभाव नाम शरीर का तो हो ही नहीं सकता। स्वभाव की व्युत्पत्ति है—'**स्वयं भवतीति स्वभावः**' जो स्वयं ही हो, पैदा हुआ न हो; वह स्वभाव है। जो पैदा होता है वह स्वभाव नहीं अपितु नैमित्तिक होता है। यदि शरीर स्वभाविक हो तो मोक्ष हो ही न सके, अतः शरीर स्वाभाविक नहीं, कर्मों के निमित्त से कर्म-फल-भोगार्थ मिलता है। ईश्वर के न पाप-पुण्यकर्म हैं न उनके भोगार्थ ईश्वर को शरीर धारना पड़ता है, अतः '**स्वभवनं स्वभावः**' का अर्थ भी यही है कि 'स्वयं होना स्वभाव है'। 'साथ में पैदा होना' अर्थ ग़लत है। जब ईश्वर स्वयं पैदा नहीं होता तो उसके साथ पैदा होने के क्या माने [अर्थ]? अतः स्वभाव शरीर का नाम तो है ही नहीं। जीव विषय में स्वभाव का नाम आदत भी हो सकता है, क्योंकि जीव में नैमित्तिक गुण भी होते हैं, किन्तु ईश्वर-विषय में स्वभाव के अर्थ हैं—ईश्वर के नित्य गुण, आदत अर्थ ईश्वर-विषय

में नहीं है। ईश्वर-जैसे गुण-कर्म-स्वभाव जीव के नहीं हो सकते, अपितु जीव ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से शिक्षा लेकर अपने गुण-कर्म-स्वभाव सुधार सकता है।

(२५५) प्रश्न—फिर आपने यह किस आधार पर माना कि स्तुति करने का मतलब यही है कि ईश्वर के सदृश जीव के गुण-कर्म-स्वभाव हो जाना? स्वभाविक धर्म किसी का बदलता नहीं। नीम में कटुत्व और नींबू में खट्टापन, कोयले में स्याही, नमक में खारापन, ऊख में मिठास कभी बदलते हैं? आप बातें कैसी करते हैं? —पृ० २६५, पं० २३

उत्तर—यह सिद्धान्त वेद से ही लिया गया है कि ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव में सुधार किया जावे। हम इस विषय में वेद के प्रमाण उपस्थित करते हैं—

ईश्वर के अनन्त गुण— **नहि नु ते महिमानः समस्य न मघवन्मघवत्त्वस्य विद्म।**
न राधसो राधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते॥ —ऋ० ६।२७।३

ईश्वर के कर्म— **विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।**
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ —ऋ० १।२२।१९

ईश्वर के गुण-कर्म का अनुकरण— **तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।** —यजुः० १९।९

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥ —यजुः० ३४।४१

भाषार्थ—हे ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र! तेरे सम्पूर्ण गुणों का ज्ञान हमें नहीं है। तेरे ऐश्वर्य का भी पूर्ण ज्ञान हम नहीं कर सकते। तेरी नूतन-नूतन सिद्धियों का भी हमें ज्ञान नहीं है। भगवन्! तेरी शक्तियों का भी हमें दर्शन नहीं हुआ है॥ ३॥ सर्वव्यापक ईश्वर के ये सब कर्म देखिए, जिससे व्रतों को, अर्थात् धर्म नियमों को जाना जाता है। वह जीवात्मा का योग्य मित्र है॥ १९॥ हे सकल शुभ गुणों के भण्डार ईश्वर! जो तुझमें तेज है उस तेज को मुझमें धारण कीजिए। जो तुझमें पराक्रम है उस पराक्रम को मुझमें धरिये। जो तुझमें बल है उस बल को मुझमें भी धरिये। जो तुझमें सामर्थ्य है उस सामर्थ्य को मुझमें धरिये। जो तुझमें दुष्टों पर क्रोध है उस क्रोध को मुझमें धरिये। जो तुझमें सहनशीलता है उस सहनशीलता को मुझमें भी धारण कीजिए॥ ९॥ हे पुष्टिकारक परमेश्वर! हम लोग आपके स्वभाव वा नियम में ऐसे वर्त्तें कि जिससे कभी भी हमारे चित्त न बिगड़ें। इस जगत् में आपके स्तुति करनेवाले होते हुए हम सुखी होते हैं॥ ४१॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल वर्त्तते हैं वे कभी नष्ट सुखवाले नहीं होते॥ ४१॥

कैसे स्पष्ट शब्दों में वेद ने ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव सुधारने का उपदेश दिया है और स्तुति का प्रयोजन बतलाया है!

बेशक किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का नाश नहीं होता, किन्तु नैमित्तिक गुणों का प्रवेश भी पदार्थों में होता है। जैसे जल का स्वाभाविक गुण शीतता है, किन्तु आग पर उबालने से वह इतना गर्म हो जाता है कि मनुष्य पर पड़ जावे तो जला देता है। इससे उसका स्वाभाविक गुण शीतलता नष्ट नहीं होता, क्योंकि ऐसी अवस्था में भी आग को बुझा देता है, किन्तु आग के संयोग से उसमें गर्मी आ जाती है। इस प्रकार से नीम, नींबू, आम, नारंगी आदि वृक्षों में भी एक-दूसरे के साथ पैवन्द लगाने से एक-दूसरे के नैमित्तिक गुण प्रवेश कर जाते हैं। कोयला आग के संयोग से आग की भाँति चमकने लगता है। इसी भाँति नमक और गुड़ में भी दूसरी वस्तुओं के संयोग से नैमित्तिक गुणों का प्रवेश हो जाता है। जैसे प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वाभाविक गुण रहते हुए

भी दूसरे पदार्थों के संयोग से नैमित्तिक गुण आ जाते हैं, ऐसे ही जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों को स्थिर रखते हुए भी परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से शिक्षा लेकर अपने गुण-कर्म-स्वभाव में नैमित्तिक सुधार कर सकता है। आप कैसी बहकी-बहकी बातें करते हैं? क्या आपको पदार्थों में नैमित्तिक गुणों के आ-जाने का भी ज्ञान नहीं है?

(२५६) प्रश्न—आप लिखते हैं कि 'प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहायता का मिलना', 'उपासना से परम ब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना'। प्रार्थना से जो आपने सहाय का मिलना माना है, यह सहाय कौन देगा? आप लिखते हैं कि यदि ईश्वर पापों को क्षमा कर दे तो वह दयालु न रहे। हम भी यही कहेंगे कि ईश्वर प्रार्थना से सहाय करता है तो वह दयालु नहीं रहा, क्योंकि जिन्होंने प्रार्थना की उनको सहाय दी और जिन्होंने नहीं की वे टका-से रह गये। प्रार्थना की रिश्वत खानेवाला ईश्वर कभी दयालु हो नहीं सकता। यह आप ही का सिद्धान्त था कि पाप क्षमा कर देने से ईश्वर दयालु नहीं रहता। —पृ० २६५, पं० २८

उत्तर—कर्म तीन प्रकार के हैं—मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक, इसलिए प्रार्थना भी मानसिक तथा वाचिका कर्म है। यदि प्रार्थना धर्मानुकूल है तो उसे शुभ कर्म तथा यदि प्रार्थना धर्म के प्रतिकूल है तो उसे अशुभ कर्म माना जावेगा। अशुभ प्रार्थनारूप कर्म का फल मन तथा वाणी के द्वारा अशुभ मिलेगा तथा शुभ प्रार्थनारूप कर्म का फल मन-वाणी द्वारा शुभ मिलेगा। इसी का नाम सहायता है और वह सहायता भी कर्मों का फल है। परमेश्वर अपनी तरफ़ से बिना कर्म के सहायतारूप फल नहीं देता, अतः उसके दयालु होने में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि जो शुभ प्रार्थना करता है उसे शुभ फल मिलता है, जो अशुभ प्रार्थना करता है उसको अशुभ फल मिलता है और जो नहीं करता उसको फल नहीं मिलता। इससे ईश्वर पर पक्षपात या रिश्वत का कोई दोष नहीं आता। चूँकि प्रार्थनारूप कर्म मन-वाणी तक ही सीमित है, अतः उसका फल भी मन-वाणी तक ही सीमित रहेगा। उस प्रार्थना का शारीरिक फल तभी मिलेगा यदि वह उस प्रार्थना के अनुकूल शारीरिक कर्म करेगा, अन्यथा शारीरिक फल न मिलेगा। इसी बात का स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय ३ मन्त्र २९ के भाष्य में इन शब्दों में वर्णन किया है—'मनुष्य लोग जैसी परमेश्वर की प्रार्थना करें वैसा ही उनको पुरुषार्थ भी करना चाहिए, जैसे विद्या आदि धनवाला परमेश्वर है ऐसा विशेषण ईश्वर का कह वा सुनकर कोई मनुष्य कृतकृत्य अर्थात् विद्यादि धनवाला नहीं हो सकता, किन्तु अपने पुरुषार्थ से विद्या आदि धन की वृद्धि वा रक्षा निरन्तर करनी चाहिए।'

हाँ, पापकर्मों को क्षमा करने से ईश्वर अवश्य दयालु न रहेगा, क्योंकि पापियों को दण्ड न देने से लोगों को पाप करने में उत्साह होगा तथा पापियों ने जिनपर अत्याचार किया है उनके साथ अन्याय होने से दयालुता नष्ट हो जावेगी, अतः पापमोचन की बात सर्वथा सिद्धान्त-विरुद्ध है।

(२५७) प्रश्न—आप उपासना से ईश्वर-मेल बतलाते हैं, ग़ज़ब कर रहे हैं। समुद्र में मिला हुआ गङ्गाजल कभी पृथक् नहीं हो सकता, फिर आप यहाँ जीव-ब्रह्म का मेल करके अपने लिखे मुक्ति से पुनरागमन का क्यों कचूमर निकाल रहे हैं? —पृ० २६६, पं० ७

उत्तर—स्वामीजी उपासना में ईश्वर तथा जीव का समुद्र और गङ्गाजल की भाँति मेल नहीं मानते अपितु उपासना में जीव-ईश्वर का मछली-जल की भाँति मेल मानते हैं। जीव और ईश्वर उपासना में स्वरूप से भिन्न-भिन्न रहते हैं, किन्तु उपास्य-उपासकभाव से प्रेम में एक हो जाते हैं, अतः मोक्ष से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता।

(२५८) प्रश्न—फिर आप ईश्वर का साक्षात्कार होना भी मानते हैं। क्या ईश्वर शरीरी है

जिसका साक्षात्कार होगा? साक्षात्कार इन्द्रिय और मन से होता है, ये सब साकार हैं। इस कारण ये साकार का ही साक्षात्कार कर सकते हैं। आपने ईश्वर का साक्षात्कार लिखकर यहाँ पर ईश्वर निराकार है, इस सिद्धान्त को रगड़ डाला है। —पृ० २६६, पं० १०

उत्तर—यहाँ पर साक्षात्कार से स्वामीजी का मतलब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से नहीं है, अपितु स्वामीजी का मतलब आत्मानुभव से है। चूँकि आत्मा भी निराकार है और परमात्मा भी निराकार है, अतः निराकार आत्मा निराकार परमात्मा का अनुभव करता है, इससे ईश्वर निराकार है इस सिद्धान्त पर कोई आक्षेप नहीं आता।

(२५९) प्रश्न—आपने यह खूब लिखा कि 'जो केवल भाँड के समान ईश्वर की स्तुति करता है', ईश्वर-स्तुति करनेवालों को भाँड की उपमा देनेवाला या तो नास्तिक चार्वाक हुआ था या आप हुए। —पृ० २६६, पं० १५

उत्तर—आपने स्वामीजी के आधे लेख को चुरा लिया। पूरा पाठ इस प्रकार है—'इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसकी स्तुति करना व्यर्थ है'। अब साफ़ हो गया कि स्वामीजी कहते हैं कि मनुष्य को स्तुति के अनुकूल अपना आचरण भी बनाना चाहिए। जो मनुष्य ईश्वर की स्तुति तो करता है, किन्तु अपने चरित्र को नहीं सुधारता वह केवल भाँड के समान ही है, उसको स्तुति करने का कोई लाभ नहीं है। यही बात गरुडपुराण प्रेतखण्ड, धर्मकाण्ड अ० ४९ में भी लिखी है, जैसे—

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः। मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ॥ ६० ॥
संसारजसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्। कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—जो लोग नाम अर्थात् ईश्वरस्तुतिमात्र से सन्तुष्ट हैं, और केवल मन्त्रोच्चारण, होम आदि यज्ञों के विस्तार में भ्रमते हैं ॥ ६० ॥ और जो मनुष्य संसार के सुखों में फँसा हुआ कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसे कर्म तथा ब्रह्म दोनों से भ्रष्ट हुए मनुष्य को अन्त्यज की भाँति छोड़ देना चाहिए ॥ ६४ ॥

कहिए महाराज! क्या गरुडपुराण के कर्त्ता को भी आपके दरबार से चार्वाक की पदवी मिलेगी? यदि नहीं तो स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है कि चरित्र-सुधार के बिना ईश्वर स्तुति केवल भाँड के सदृश ही है।

(२६०) प्रश्न—आपने यह लिखा है कि 'ऐसी स्तुति कभी न करनी चाहिए कि मेरे शत्रुओं का नाश हो और मेरे धन हो एवं मैं प्रतिष्ठावान् बनूँ' इससे तो यही जाना जाता है कि आपने कभी स्वप्न में भी वेद नहीं देखे। जो मन्त्र हमने दिये हैं, उनमें शत्रुओं के नाश और धनी होने की प्रार्थना स्पष्ट लिखी है। क्या आपकी दृष्टि में इन मन्त्रों के बनानेवाले जगदीश्वर की बेसमझी तो नहीं है? —पृ० २६६, पं० १७

उत्तर—आपने यहाँ पर भी स्वामीजी के लेख को आगे-पीछे से चुराकर बीच में से अधूरा पाठ दे दिया है। जबतक पूरा पाठ न हो परिणाम ठीक नहीं निकल सकता। स्वामीजी के पूरे पाठ का अभिप्राय यह है कि बिना पुरुषार्थ के इस प्रकार की प्रार्थनाएँ व्यर्थ हैं। परमेश्वर इनको नहीं सुनता। परमेश्वर उसी की प्रार्थना सुनता है जो पुरुषार्थ करता है। पूरा पाठ इस प्रकार है—

''जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान भी करना चाहिए, अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना

कभी न करनी चाहिए और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि—जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे अधीन सब हो जाएँ इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो जावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिए। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा कि हे ईश्वर! आप मुझको रोटी बनाकर खिलाइए, मेरे मकान में झाड़ू लगाइए, वस्त्र धो दीजिए और खेती-बाड़ी भी कीजिए। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः॥ —यजु:० अ० ४०। मं० २

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् जबतक जीवे तबतक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।

देखो, सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है। जैसे काम करनेवाले पुरुष को भृत्य करते (रखते) हैं और अन्य आलसी को नहीं, देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं अन्धे को नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है। —सत्यार्थप्रकाश, सप्तमसमुल्लास

इस पाठ से पता लगता है कि स्वामीजी का अभिप्राय यह है कि धर्मानुकूल सबके उपकारार्थ प्रार्थना में ईश्वर सहायक होता है, अधर्म से युक्त स्वार्थ की प्रार्थना में ईश्वर सहायक नहीं होता, अतः यदि मनुष्य धर्म के विरोधी शत्रुओं के नाश की प्रार्थना करे और परोपकार के लिए धन की प्रार्थना करे तथा प्रजा की रक्षार्थ प्रतिष्ठावान् बनने की प्रार्थना करे तो इस प्रकार की प्रार्थना धर्मानुकूल है, करनी चाहिए तथा पुरुषार्थ करना चाहिए, ईश्वर सहायक होंगे, किन्तु इसके विपरीत वैयक्तिक शत्रुता में शत्रु के नाश की तथा स्वार्थ के लिए धन की और प्रजा को दु:ख देने के लिए प्रतिष्ठावान् बनने की प्रार्थना न करनी चाहिए और न परमात्मा ऐसी प्रर्थानाओं को स्वीकार करके सहायता करता है और पुरुषार्थ से हीन किसी प्रकार की भी प्रार्थना व्यर्थ है। वेदमन्त्रों में जो शत्रुओं के नाश तथा धनप्राप्ति की प्रार्थनाएँ हैं, वे सब धर्म के शत्रुओं के नाश तथा परोपकारार्थ धन-प्राप्ति की प्रार्थनाएँ हैं। वैयक्तिक शत्रुता से शत्रु के नाश तथा स्वार्थ के लिए धन की प्रार्थना नहीं है, अतः स्वामीजी ने पुरुषार्थपूर्वक धर्म के शत्रुओं के नाश करने, परोपकारार्थ धनप्राप्ति की प्रार्थनाओं का अनुमोदन तथा आलस्यपूर्वक वैयक्तिक शत्रुता में शत्रुओं के नाश की तथा स्वार्थ के लिए धनप्राप्ति की प्रार्थनाओं का बलपूर्वक खण्डन किया है।

(२६१) प्रश्न—यह आपने खूब लिखा कि हमको रोटी बनाकर खिलाइए, ऐसा तो आपने ही किया होगा। —पृ० २६६, पं० २५

उत्तर—स्वामीजी ने केवल प्रार्थना पर भरोसा रखनेवाले पुरुषार्थहीन लोगों की मनोवृत्ति का खण्डन किया है ताकि लोग धर्मानुकूल प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ भी किया करें, वरना प्रार्थना पर भरोसा करनेवाले आलसी बहुत हैं, जैसे बाबा अटल के पुजारी—

बाबा टल्ल! पकी-पकाई घल्ल

का नारा लगाते हैं। तथा राम के भक्त कहते हैं—

राम राम का नाम लो, रहो खाट पर सोय।
अनहोनी होनी नहीं, होनी हो सो होय॥

और कृष्ण के भक्त इस प्रकार आलस्य का प्रचार करते हैं कि—

ऐहिकं तु सदा भाव्यं पूर्वचरितकर्मणा॥ २६॥
आमुष्मिकं तथा कृष्णः स्वयमेव करिष्यति।
अतो हि तत्कृते त्याज्यः प्रयत्नः सर्वथा बुधैः॥ २७॥

—पद्मपुराण पातालखण्ड अध्याय ८२

भाषार्थ—वर्त्तमान में तो सदा वही होगा जो पूर्वकर्म का फल है॥ २६॥ भविष्य के लिए स्वयं कृष्णजी करेंगे, अतः उसके लिए बुद्धिमानों को यत्न का त्याग कर देना चाहिए॥ २७॥

यह है आलस्यवाद जिसका खण्डन करके स्वामीजी पुरुषार्थ का प्रचार करना चाहते थे।

(२६२) प्रश्न—अनेक ईश्वरभक्त हुए हैं कौन कहता है कि ये सब आलसी थे? आलसी तो आप हैं जो ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना से ही पिण्ड छुड़ा रहे हैं। —पृ० २६६, पं० २५

उत्तर—वैदिक ईश्वरभक्त ऋषि-महर्षि जितने हुए हैं वे सब पुरुषार्थी थे, क्योंकि वेद पुरुषार्थ की शिक्षा देता है; किन्तु जितने भी पौराणिक भक्त हुए हैं वे सभी आलसी थे, क्योंकि पुराण आलस्य की शिक्षा देते हैं और पौराणिकों का परमेश्वर भी अजीब है—धन्ना भक्त के कट्टे-बच्छे चराने लगा, तो नरसी की हुण्डी ही तार दी, द्रौपदी का चीर बढ़ा दिया इत्यादि आलस्य की सैकड़ों मिसालें हैं। आज भी आलसी पौराणिक आलस्य में पड़े कृष्ण की प्रतीक्षा में व्याकुल हैं कि—

'बंशी वालिया काहना तेरे आवन दी लोड।'

इस प्रत्यक्ष में और प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है? रही स्वामीजी की बात! वे स्तुति, प्रार्थना करने का निषेध नहीं करते अपितु 'केवल स्तुति-प्रार्थना के भरोसे पर न रहो साथ में पुरुषार्थ भी करो'—यह उपदेश करते हैं।

(२६३) प्रश्न—आपने यह भी अच्छा न्याय किया कि ईश्वर भक्तों के पापों को क्षमा ही नहीं करता। यदि ऐसा है तो फिर ईश्वर के मानने की क्या आवश्यकता? —पृ० २६६, पं० २८

उत्तर—आपके न मानने से ईश्वर की हस्ती थोड़ा ही मिट सकती है। ईश्वर मोम की नाक नहीं है कि जैसा आप चाहें वैसा ही करे; उसके नियम हैं, वह नियम के अनुसार सृष्टि को चला रहा है। उसकी आवश्यकता है सृष्टि-उत्पत्ति के लिए, वेद का ज्ञान प्रकाशित करने के लिए तथा श्रेष्ठों का पालन और दुष्टों को पापकर्म का फल देने के लिए। वह पापों को क्षमा करके अन्याय का भागी नहीं बन सकता। स्वामी दयानन्दजी भी यही लिखते हैं कि—

"**(प्रश्न)**—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं?

(उत्तर)—नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य महापापी हो जाएँ, क्योंकि क्षमा की बात सुनके ही उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाए। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाए कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जावेंगे, इसलिए सब कर्मों का फल यथावत्

देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।'' —सत्यार्थ० सप्तमसमु०

अतः सिद्ध हुआ कि पापमोचन का सिद्धान्त वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

(२६४) प्रश्न—'त्वं हि विश्वतो मुखः' इत्यादि [ऋ० १।७।५।६] मन्त्र आर्याभिविनय में नं० ३९ पर देकर पाप नष्ट होने की प्रार्थना की है।

—पृ० २६७, पं० ७ [सरल पता १।९७।६—सं०]

उत्तर—यहाँ पर भी किये हुए पापकर्मों के फल अर्थात् पापमोचन की प्रार्थना नहीं है अपितु अपनी पाप करने की वृत्तियों को नष्ट करने की प्रार्थना है। वेदमन्त्र तथा उसका अर्थ यों है—

त्वं हि विश्वतो मुखः विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥ —ऋ० १।७।५।६

भाषार्थ—हे अग्ने! परमात्मन्! आप ही सब जगत् में, सब ठिकानों में व्याप्त हो, अतएव आप विश्वतोमुख हो। हे सर्वतोमुखाग्ने! स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो, वही आपका मुख है। कृपालो! आपकी इच्छा से हमारा पाप (पाप करने का स्वभाव) सब नष्ट हो जाए, जिसे हम लोग निष्पाप (पाप करने के स्वभाव से रहित) होके आपकी भक्ति और आज्ञापालन में नित्य तत्पर रहें॥ ६॥

इसी प्रकार वेद के जितने भी मन्त्रों में यह आता है कि 'हे ईश्वर! आप हमारे पापों का नाश कर दें', उसका यही अभिप्राय है कि ईश्वर हमारे पाप करने के स्वभाव का नाश कर दे, ताकि हम भविष्य में पाप करने की आदत से मुक्त होकर पुण्यकर्म करें। वेदों में किये हुए कर्मों के फल का वा किये हुए कर्मों का नाश या क्षमा या पापमोचन का कहीं भी वर्णन नहीं है, अपितु परमात्मा को न्यायकारी, रुद्र अर्थात् दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला, यम अर्थात् दुष्टों को नियम में रखनेवाला, मन्यु अर्थात् दुष्टों पर क्रोध करनेवाला वर्णन किया गया है, अतः किये हुए पापकर्मों का क्षमा करना ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध होने से पापमोचन की कल्पना सर्वथैव मिथ्या है। वैदिक सिद्धान्त यही है कि पाप की वृत्तियों को दूर करने की प्रार्थना तथा तदनुकूल प्रयत्न किया जावे, जैसेकि—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ —यजुः० ३०।३

हे सुख देनेवाले देव! हे जगदुत्पादक प्रभो! हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों को दूर कीजिए और जो शुभ गुण हैं वे हमको प्राप्त कराइए।

इस मन्त्र के द्वारा मानो जीव प्रार्थना करता हुआ प्रतिज्ञा करता है कि मैं आज से अपने जीवन से दुर्गुणों को निकालकर शुभ गुणों को धारण करने का यत्न करूँगा, आप मेरी सहायता करें। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिए।

नामस्मरण-महत्त्व

(२६५) प्रश्न—'कस्य नूनम्' इत्यादि [ऋ० १।२४।१] इस मन्त्र में परमात्मा के नामस्मरण का वर्णन है। —पृ० २६७, पं० २

उत्तर—इस मन्त्र में नामस्मरण का वर्णन नहीं है, अपितु इसमें तथा इससे अगले मन्त्र में मोक्ष से पुनरावृत्ति का वर्णन है। इस मन्त्र में प्रश्न तथा इससे अगले मन्त्र में उत्तर हैं। हम दोनों मन्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ लिख देते हैं—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ १॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ २॥ —ऋ० १।२४।१-२

भाषार्थ—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है जो हमें मुक्ति का सुख देकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है?॥ १ ॥ हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि, सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमें मुक्ति में आनन्द देकर पृथिवी पर पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता है, सबका स्वामी है ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रों में परमात्मा के नाम को पवित्र तो वर्णन किया है, किन्तु नाम के स्मरण का वर्णन नहीं है। नामस्मरण का मन्त्र हम नीचे पेश करते हैं—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥

—यजुः० ४०। १५

भाषार्थ—हे कर्म करनेवाले जीव! तू ओम् नाम परमात्मा का स्मरण कर, सामर्थ्य के लिए किये हुए कर्म का स्मरण कर, प्राणवायु, अपानवायु, तथा परमात्मा को प्राप्त हो। यह शरीर अन्त में भस्म होनेवाला है॥ १५॥

इस मन्त्र में निम्न आज्ञाएँ हैं—

(१) ओम् नामक परमात्मा का स्मरण कर।

(२) अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उसको याद कर।

(३) किये हुए कर्म को याद कर।

(४) प्राण-अपान को वश में करके परमात्मा को प्राप्त कर।

(५) अन्त में शरीर भस्म होनेवाला है।

चूँकि शरीर नाश होनेवाला है, इसलिए परमात्मा को याद रखकर शुभ कर्म कर, प्राणायाम द्वारा सामर्थ्य बढ़ाकर परमात्मा को प्राप्त कर।

इस मन्त्र में केवल नामस्मरण की आज्ञा नहीं है, अपितु शुभ कर्म करते हुए ओम् नाम के स्मरण द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की आज्ञा है। इसी बात का ऋषि दयानन्दजी ने भी प्रतिपादन किया है कि—

"और नामस्मरणमात्र से कुछ फल नहीं होता। जैसाकि मिश्री-मिश्री कहने से मुँह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़वा नहीं होता, किन्तु जीभ से चखने ही से मीठा वा कड़वापन जाना जाता है।

प्रश्न—क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है?

उत्तर—नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं। जिस प्रकार तुम नामस्मरण करते हो वह रीति झूठी है।

प्रश्न—हमारी कैसी रीति है?

उत्तर—वेदविरुद्ध।

प्रश्न—भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइए?

उत्तर—नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिए, जैसे '**न्यायकारी**' ईश्वर का एक नाम है, इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना। इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।" —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा की आज्ञानुसार शुभ कर्म करना ही परमात्मा का नामस्मरण

है। शुभ कर्म के बिना केवल नाम का रटना व्यर्थ है।

(२६६) प्रश्न—'ओमित्येतदक्षरम्' इत्यादि [छान्दो० १।१] इसमें ओ३म् के जप करने की आज्ञा पाई जाती है। —पृ० २६८, पं० ४

उत्तर—वेदप्रमाण देने की प्रतिज्ञा करके छान्दोग्य उपनिषत् का प्रमाण देना यह आपकी ईमानदारी का नमूना है! क्या छान्दोग्य वेद है? फिर न मालूम आपने यह प्रमाण किस मतलब से दिया है, क्योंकि इसमें नामस्मरण की शिक्षा ही नहीं है। भला इस पाठ में जप करना कौन-से पद का अर्थ है? लीजिए, हम इसका अर्थ कर देते हैं—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥ —छान्दो० १।१।१

भाषार्थ—ओम् जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसकी उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं॥१॥

इसमें एक परमात्मा की पूजा का विधान है। परमात्मा से भिन्न अन्य की पूजा का निषेध है। इस मन्त्र में यह शिक्षा नहीं है कि केवल ओम् नामस्मरण से ही मोक्ष हो जाता है। आप कोई ऐसा वेद का प्रमाण पेश करें जिससे यह पौराणिक सिद्धान्त सिद्ध हो सके कि केवल नामोच्चारण से ही मोक्ष हो जाता है। हम ईश्वर-स्तुति को मानते हैं, किन्तु केवल स्तुति से कोई फल नहीं जबतक तदनुकूल चरित्रसुधार न हो, जैसे—

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए वा नहीं?

उत्तर—करनी चाहिए।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करना?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है।

प्रश्न—क्या है?

उत्तर—स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

प्रश्न—इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर—ईश्वर की स्तुति, जैसे—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० अ० ४०, मं० ८

वह परमात्मा सबमें व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् है। वह शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है—यह सगुण स्तुति, अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना—वह सगुण, **(अकाय)** अर्थात् वह कभी शरीर-धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता—इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है। इसका

फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है।

—सत्यार्थप्रकाश, सप्तमसमुल्लास

इसी बात को वेद भगवान् वर्णन करते हैं कि न केवल कर्म और न केवल उपासना=ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का हेतु है अपितु दोनों इकट्ठे होकर मोक्ष का हेतु हैं, जैसे—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः॥ १२॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ १४॥

—यजुः० ४०।१२, १४

भाषार्थ—वे लोग अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं जो केवल कर्म की उपासना करते हैं, और वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं जो केवल उपासना=ज्ञान को ही मोक्ष-साधन मानते हैं॥ १२॥ जो मनुष्य ज्ञान तथा कर्म को साथ ही साथ इकट्ठा करना जानता है, वह कर्म से मृत्यु के भय को तरकर ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है॥ १४॥

अतः केवल नामस्मरण से मोक्ष मानना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है।

(२६७) प्रश्न—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि [गीता ८।१३] इसमें भी ब्रह्म के नाम ओम्स्मरण से मोक्ष मिलने का वर्णन है। —पृ० २६८, पं० ७

उत्तर—कहिए महाराज! अब तो गीता को भी वेद के नाम से पेश किया जाने लगा! क्या यही वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन है? क्या सचमुच आप गीता को वेद मानते हैं? कुछ होश से काम लो, कहाँ महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग गीता और कहाँ वेद! 'कहाँ गांगला तेली और कहाँ राजा भोज'! फिर इस श्लोक में यह कहाँ लिखा है कि केवल नामोच्चारण से ही मुक्ति हो जाती है? इस श्लोक को गीता के दूसरे श्लोक से मिलाकर अर्थ करें—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

—गी० ८।१३, ४।१५

ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ मुझे याद करके जो देह का त्याग करता है वह परमगति को प्राप्त होता है॥ १३॥ इस प्रकार जानकर पहले मोक्ष की इच्छा करनेवालों ने भी कर्म किया। इसलिए तू कर्म ही कर, जोकि पहलों ने बहुत पहले किया है॥ १५॥

इन दोनों श्लोकों को मिलाकर यदि आप यह सारांश निकाल सकें कि ईश्वर का नामोच्चारण तभी फलदायक होता है यदि तदनुकूल शुभाचरण भी किया जावे तो ठीक, और यदि आप केवल नामोच्चारण से ही मोक्ष इस श्लोक का भाव मानते हैं तो हमें वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण मानना पड़ेगा। हमारे विचार में तो पहला श्लोक ओम् नाम के स्मरण की आज्ञा देता है, कर्म का निषेध नहीं करता तथा दूसरा श्लोक कर्म करने की आज्ञा देता है, नामस्मरण का निषेध नहीं करता। दोनों को मिलाकर यह अभिप्राय हुआ कि नामस्मरण तथा कर्म दोनों ही साथ-साथ मोक्ष का हेतु हैं। दोनों में एक कोई भी अकेला मोक्ष का हेतु नहीं है। यही वेद का सिद्धान्त है, क्योंकि वेद तो कहता है कि सम्पूर्ण वेद भी यदि पढ़ा जावे किन्तु ब्रह्म का ज्ञान न हो तो उच्चारणमात्र से वेद का भी कोई फल नहीं। फिर एक अक्षर का तो हो ही क्या सकता है, जैसे—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते॥

—ऋ० १।१६४।३९

भाषार्थ—ऋग्वेदादि से प्रतिपादित जिस सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापक, विकाररहित, परमेश्वर में सब सूर्य-चन्द्र भूमि आदि आधेयरूप से स्थित हैं; परब्रह्म उस परमेश्वर को जो नहीं जानता, वह वेद से क्या करेगा, अर्थात् उसका वेदाध्ययन निष्फल है, जो मनुष्य उस प्रभु को जान लेते हैं, वे ही ब्रह्म में भली प्रकार स्थित होते हैं॥ ३९॥

भावार्थ—वेद पढ़ने का लाभ तभी है कि वेद से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा जगत् का जो शाब्दिक ज्ञान हुआ है उस ज्ञान को चरितार्थ करने के लिए योग-साधना द्वारा उनका साक्षात् करने का प्रयत्न करें॥ ३९॥

कहिए महाराज! ओम् नाम का तो कहना ही क्या है, चारों वेद भी आचरण के बिना निष्फल हैं, जैसे—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ ११८॥

—मनु० २।११८

आचारहीनान्न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४१, श्लो० ८

भाषार्थ—जो ब्राह्मण सदाचारी हो वह केवल गायत्री जानता हुआ भी श्रेष्ठ है और जो दुराचारी, सर्वभक्षी, सर्वविक्रयी है, वह तीन वेदों को जाननेवाला भी अच्छा नहीं है॥ ११८॥ आचारहीन पुरुषों को वेद भी पवित्र नहीं करते चाहे वे छह अंगों के समेत भी पढ़े हों॥ ८॥

इन सारे प्रमाणों से सिद्ध है कि परमात्मा का नाम उच्चारण तथा वेदाध्ययन तभी फलदायक है यदि हमारा तदनुकूल आचरण हो, वरना केवल नामस्मरण से मनुष्य को कोई लाभ नहीं है। इसी बात को दर्शाते हुए स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि—

प्रश्न—जो-जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य अर्थात् जैसे '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशिक्षेत्रे विनश्यति**' इत्यादि बातें हैं, वे सच्ची हैं वा नहीं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो पाप छूट जाते हों तो दरिद्रों को धन, राजपाट, अन्धों को आँख मिल जाती, कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए पाप वा पुण्य किसी का नहीं छूटता।

प्रश्न— **गङ्गागङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।**
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥ १॥
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्॥ २॥
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशिपापं विनश्यति।
आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम्॥ ३॥

इत्यादि श्लोक पोपपुराण के हैं जो सैकड़ों-सहस्रों कोश दूर से भी गङ्गा-गङ्गा कहे तो उसके पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है॥ १॥ 'हरि' इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का माहात्म्य है॥ २॥ और जो मनुष्य प्रातःकाल में शिव अर्थात् लिंग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्म-भर का, सायंकाल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है। यह दर्शन का माहात्म्य है॥ ३॥ क्या झूठा हो जाएगा?

उत्तर—मिथ्या होने में क्या शंका, क्योंकि गङ्गा-गङ्गा वा हरे राम, कृष्ण, नारायण, शिव और भगवती नामस्मरण से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहे और पाप करने से कोई भी न डरे। जैसे आजकल पोपलीला में पाप बढ़कर हो रहे हैं। मूढ़ों को विश्वास है कि

हम पाप कर नामस्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे तो पापों की निवृत्ति हो जाएगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं, पर किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।

प्रश्न—तो कोई तीर्थ, नामस्मरण सत्य है वा नहीं?

उत्तर—है, वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैरता, निष्कपटता, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्यपालन, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि, शुभगुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से तीर्थ हैं और जो जल-स्थलमय हैं वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते, क्योंकि **'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि'** मनुष्य जिनके द्वारा दुःखों से तरें उनका नाम तीर्थ है। जलस्थल तरानेवाले नहीं किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है, क्योंकि उनसे समुद्र आदि को तरते हैं।

समानतीर्थे वासी॥ —अष्टा:० अ० ४ पा० ४ सू० १०८

नमस्तीर्थ्याय च॥ —यजु:० अ० १६ मं० ४२

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य से और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों वे सब सतीर्थ्य अर्थात् समानतीर्थ-सेवी होते हैं। जो वेदादि शास्त्र और सत्यभाषणादि धर्मलक्षणों में साधु हो उसको अन्नादि पदार्थ देना और उनसे विद्या लेनी इत्यादि तीर्थ कहाते हैं।

नामस्मरण इसको कहते हैं कि—

यस्य नाम महद्यशः॥ —यजु:० अ० ३२ मं० ३

परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है जैसे ब्रह्म, परमेश्वर, ईश्वर, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से हैं। जैसे ब्रह्म सबसे बड़ा; परमेश्वर—ईश्वरों का ईश्वर; ईश्वर—सामर्थ्ययुक्त; न्यायकारी—कभी अन्याय नहीं करता; दयालु—सबपर कृपादृष्टि रखता; सर्वशक्तिमान्—अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता; ब्रह्म—विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा; विष्णु—सबमें व्यापक होकर रक्षा करता; महादेव—सब देवों का देव; रुद्र—प्रलय करनेहारा आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे, अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, सामर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाए, अधर्म कभी न करे, सबपर दया रक्खे, सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे, शिल्पविद्या से नानाप्रकार के पदार्थों को बनावे, सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख-दुःख समझे, सबकी रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे, दुष्टकर्म करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे, इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करते जाना ही परमेश्वर का नामस्मरण है।

प्रश्न—गुरुर्बह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

इत्यादि गुरुमाहात्म्य तो सच्चा है? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना, गुरु लोभी हो तो वामन के समान; क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य और कामी हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहे गुरुजी कैसा ही पाप करे तो भी अश्रद्धा न करनी, सन्त वा गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में अश्वमेध का फल होता है, यह बात ठीक है वा नहीं?

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। यह गुरुमाहात्म्य गुरुगीता भी एक बड़ी पोपलीला है। गुरु तो माता-पिता, आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे विद्या-शिक्षा लेनी-देनी शिष्य और

गुरु का काम है, परन्तु जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी, सहज शिक्षा से न माने तो अर्घ्य-पाद्य अर्थात् ताड़ना, दण्ड, प्राणहरण तक भी करने में कुछ दोष नहीं। जो विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है, ऐसा मानते, और झूठ-मूठ कण्ठी-तिलक, वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं, वे गुरु ही नहीं, किन्तु गड़रिये हैं। जैसे गड़रिये अपनी भेड़-बकरियों से दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही शिष्यों के, चेले-चेलियों का धन हरके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे—

दोहा— लोभी गुरु लालची चेला, दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरु समझें कि चेले-चेली कुछ-न-कुछ देवेंगे ही और चेला समझे कि चलो गुरु झूठे सौगन्ध खाने, पाप छुड़ाने के काम आवेंगे आदि लालच से दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूब मरते हैं। ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूड़-राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहे, जो रहे वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी पोपलीला पुजारी, पुराणियों ने चलाई वैसी ही इन गड़रिये गुरुओं ने भी लीला मचाई है। यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। जो परमार्थी लोग हैं वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते और गुरुमाहात्म्य तथा गुरुगीता आदि भी इन्हीं लोभी, कुकर्मी गुरुओं ने बनाई है॥ —सत्यार्थ० समु० ११

(३६८) प्रश्न—'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि [केन० १।५] इसमें भी ब्रह्म की पूजा, उपासना, नामस्मरण की आज्ञा है। —पृ० २६८, पं० १२

उत्तर—आपने इस केनोपनिषत् के पाठ को वेद के नाम से पेश किया है। यद्यपि 'केन' वेद नहीं, अपितु उपनिषत् है जो कि परतःप्रमाण है, तो भी आपने इसका अर्थ ठीक नहीं किया। इसमें न तो नामस्मरण का वर्णन है और न केवल नामस्मरण से मोक्ष का ज़िक्र है। इसमें तो मन के ज्ञान से अतीत ब्रह्म की उपासना की शिक्षा है तथा प्राकृतिक पदार्थों की उपासना का निषेध है। देखिए, इसका अर्थ यह है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ २॥

—केन० उ० खं० १ मं० ५

भाषार्थ—जो मन से 'इतना है', ऐसा करके मनन में नहीं आता, जो मन को जानता है उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर, जो उससे भिन्न जीव और प्रकृति है उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर॥ २॥

बतलाइए, इसमें केवल नामस्मरण से मुक्ति का कहाँ विधान है? वेद एक नाम तो क्या सम्पूर्ण वेद के भी केवल उच्चारणमात्र से मुक्ति नहीं मानता। देखिए—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

—ऋ० १०।७१।४

भाषार्थ—कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता (अर्थ न जानने से) और कोई वेदवाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता (अर्थ न जानने के कारण) और किसी के लिए वाणी ऐसे अपनी आत्मा को प्रकाशित कर देती है जैसे ऋतुस्नाता पत्नी अपने पति के लिए॥ ४॥

इससे सिद्ध है कि नामोच्चारण वा वेदपठन अर्थ समझे बिना तथा तदनुकूल आचरण किये बिना व्यर्थ ही है।

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्। न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ —मनु० ६।६७

भाषार्थ—यद्यपि निर्मली का फल पानी को साफ करनेवाला है, परन्तु उसके नाममात्र से पानी साफ़ नहीं हो जाता॥ ६७॥

इसी प्रकार परमात्मा मोक्षदाता है, किन्तु परमात्मा के नामस्मरणमात्र से मोक्ष नहीं मिलता, अपितु तदनुकूल आचरण करने से मोक्ष मिलता है। इसी बात का स्वामी दयानन्दजी ने भी वर्णन किया है कि—

"थोड़े दिन हुए कि एक 'रामसनेही' मत शाहपुरा से चला है। उन्होंने सब वेदोक्त धर्म को छोड़के 'राम-राम' पुकारना अच्छा माना है। उसी में ज्ञान, ध्यान, मुक्ति मानते हैं, परन्तु जब भूख लगती है तब 'राम-राम' में से रोटी-शाक नहीं निकलता, क्योंकि खान-पान आदि तो गृहस्थियों के घर ही में मिलते हैं। वे भी मूर्त्तिपूजा को धिक्कारते हैं, परन्तु आप स्वयं मूर्त्ति बन रहे हैं। स्त्रियों के सङ्ग में बहुत रहते हैं, क्योंकि रामजी को 'रामकी' के बिना आनन्द ही नहीं मिल सकता। अब थोड़ा-सा विशेष रामसनेही के मत के विषय में लिखते हैं—

एक रामचरण नामक साधु हुआ है, जिसका मत मुख्यकर 'शाहपुरा' स्थान मेवाड़ से चला है। वे 'राम-राम' पुकारने ही को परममन्त्र और इसी को सिद्धान्त मानते हैं। उनके एक ग्रन्थ कि जिसमें सन्तदासजी आदि की बाणी है, ऐसा लिखा है—

भरम रोग तब ही मिट्या, रट्या निरञ्जन राई।
तब जम का कागज फट्या, कट्या कर्म तब जाई॥ —साखी ६

अब बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि 'राम-राम' कहने से भ्रम जोकि अज्ञान है वा यमराज का पापानुकूल शासन अथवा किये हुए कर्म कभी छूट सकते हैं वा नहीं? यह केवल मनुष्यों को पापों में फँसाना और मनुष्यजन्म को नष्ट कर देना है। अब इनका जो मुख्य गुरु 'रामचरण' हुआ है, उसके वचन—

महमा नाँव प्रताप की, सुणौ सरवण चित लाइ।
रामचरण रसना रटौ, क्रम सकल झड़ जाइ॥
जिन जिन समुर्‍या नाँव कूँ, सो सब उतर्‍या पार।
रामचरण जो वीसर्‍या, सो ही जम के द्वार॥
राम बिना सब झूठ बतायो॥
राम भजत छूट्या सब क्रम्मा। चंद अरु सूर देई परकम्मा॥
राम कहे तिन कूँ भै नाहीं। तीन लोक में कीरती गाहीं॥
राम रटत जम जोर न लागै।
राम नाम लिख पथर तराई। भगति हेति औतार ही धरही॥
ऊँच नीच कुल भेद विचारै। सो तो जनम आपणो हारै॥
सन्तां के कुल दीसै नाहीं। राम राम कह राम सम्हाहीं॥
ऐसो कुण जो कीरति गावै। हरि हरिजन कौ पार न पावै॥
राम सन्तां का अन्त न आवै। आप आपकी बुद्धि सम गावै॥

—नामप्रताप

इनका खण्डन—प्रथम तो रामचरण आदि के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि यह ग्रामीण एक सीधा-सादा मनुष्य था। न वह कुछ पढ़ा था, पढ़ा होता तो ऐसी गपड़चौथ क्यों लिखता? यह केवल इनको भ्रम है कि राम-राम कहने से कर्म छूट जाएँ। केवल ये अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं। जम का भय तो बड़ा भारी है, परन्तु राजसिपाही, चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू और मच्छर आदि का भय कभी नहीं छूटता। चाहे रात-दिन राम-राम किया करें कुछ भी

नहीं होगा। जैसे 'शक्कर-शक्कर' कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे सत्यभाषणादि कर्म किये विना राम-राम करने से कुछ भी नहीं होगा और यदि एक बार राम-राम कहने से इनका राम नहीं सुनता तो जन्मभर कहने से भी नहीं सुनेगा और जो सुनता है तो दूसरी बार भी राम-राम कहना व्यर्थ है। इन लोगों ने अपना पेट भरने और दूसरों का जन्म नष्ट करने के लिए एक पाखण्ड खड़ा किया है सो यह बड़ा आश्चर्य हम सुनते और देखते हैं कि नाम तो धरा रामसनेही और कर्म करते हैं राँडस्नेही का। जहाँ देखो वहाँ राँड-ही-राँड सन्तों को घेर रही हैं। यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती? ये लोग अपने चेलों को जूठ खिलाते हैं और स्त्रियाँ भी लम्बी पड़कर दण्डवत् प्रणाम करती हैं। एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है। —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

(२६९) प्रश्न—ऊपर के मन्त्रों में जो नाममहत्त्व वेद, गीता ने बतलाया था, वह स्वामीजी ने ज़रा-सी हुज्जत में उड़ा दिया। —पृ० २६८, पं० २०

उत्तर—गीता में भी मन्त्र हैं, यह आपसे ही पता लगा। वेद का आपने एक मन्त्र दिया है, वह भी मोक्ष से पुनरावृत्ति का है, नामस्मरण के महत्त्व का नहीं है। शेष जो वेदबाह्य प्रमाण आपने दिये हैं, उनमें भी केवल नामस्मरण से मुक्ति कोई भी नहीं मानता और यह ठीक भी है कि परमेश्वर को जानना तथा वेदानुकूल आचरण करना ही मोक्ष का हेतु है। केवल नामस्मरण मोक्ष का साधन नहीं है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१।१८

भाषार्थ—जो अन्धकार से परे, प्रकाशस्वरूप और महान् पुरुष परमात्मा है, उसको मैं जानता हूँ। उसको जानने से ही मनुष्य मृत्यु के पार हो सकता है, मृत्यु को दूर करने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है॥१८॥

कैसा स्पष्ट मन्त्र है कि परमात्मा को जाने बिना कोई दूसरा मार्ग मोक्ष का नहीं है, अतः केवल नामस्मण से मोक्ष नहीं हो सकता अपितु तदनुकूल कर्म करके ब्रह्म को जानने से मोक्ष हो सकता है।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥ —मनु० १।१०९

भाषार्थ—आचरण से गिरा हुआ ब्राह्मण वेद के फल को नहीं भोग सकता, आचरण से ही सम्पूर्ण फल को भोग सकता है॥१०९॥

अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह वेद तथा धर्मशास्त्र के आधार पर लिखा है। वेदविरुद्ध हुज्जतबाजी करना आप लोगों का काम है, स्वामीजी का नहीं।

(२७०) प्रश्न—रक्षा करने से ओम् कहलाता है तो यह जो ओम् ईश्वर का नाम है, यह स्मरण करने से रक्षा करता है या इस निराकार ओम् की पीतल की शक्ल बनाकर सिर में टाँगने से रक्षा करता है? यद्वा अपने-आप स्वाभाविक धर्म से रक्षा करता है? यहाँ पर स्मरण से ही रक्षा क्यों न मानें। —पृ० २६९, पं० ५

उत्तर—परमात्मा का नाम रक्षा करने से ओम्, न्याय करने से न्यायकारी, दुष्टों को दण्ड देकर रुलाने से रुद्र, सबको नियम में रखने से यम तथा पापियों पर क्रोध करने से मन्यु है। परमात्मा नामोच्चारणमात्र से न तो रक्षा करता है और न दण्ड देता है और न ही टोपी पर पीतल का ओम् लगाना रक्षा या मुक्ति का हेतु है। जो मनुष्य परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल धर्माचरण करते हैं, परमात्मा उनकी रक्षा करता है और जो मनुष्य परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध

अधर्माचरण करते हैं, परमात्मा उनको दण्ड देते हैं। परमात्मा बिना आचरण के केवल नामस्मरणमात्र से न रक्षा करते हैं, न दण्ड देते हैं, अतः केवल नामस्मरणमात्र से रक्षा मानना ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध होने से सर्वथा निर्मूल है।

(२७१) प्रश्न—'प्रणवो धनुः' इत्यादि [मुण्डक० २।४] यहाँ पर ओम् का धनुष और आत्मा का बाण छील-छालकर बढ़ई नहीं बनाता, किन्तु अन्तःकरण में यह घटना होती है। जब ओम् का धनुष बनाया जावेगा तब अन्तःकरण में ओम् का स्मरण होगा, बिना स्मरण किये ओम् का न धनुष बन सकता है और न जीव ब्रह्म बन सकता है। —पृ० २६९, पं० ११

उत्तर—यहाँ पर आत्मा के ब्रह्म बन जाने का वर्णन नहीं, अपितु ब्रह्म में मस्त=मग्न होने का वर्णन है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥ —मुण्डक० २।२।४

भाषार्थ—ओंकार धनुष है। निश्चय करके जीवात्मा बाण है और उसका लक्ष्य परमात्मा कथन किया गया है। प्रमादरहित चित्त से उसका वेधन करे, बाण के सदृश तन्मय हो जाए॥ ४॥

इसमें जीव के ब्रह्म होने का वर्णन नहीं, अपितु ब्रह्म में मग्न होने का वर्णन है। इस मन्त्र में कहाँ वर्णन है कि नामस्मरणमात्र से ही मुक्ति हो जाती है? जबतक आत्मा को यम-नियम, विद्या, तप आदि कर्मों के द्वारा ओंकाररूप धनुष पर चढ़ने के योग्य न बना लिया जावे तबतक वह बाणरूप कैसे बन सकता है? जैसे बढ़ई काष्ठ के बाण को छीलकर बनाता है वैसे ही आत्मा को भी शुभ कर्मों द्वारा बाण बनने के योग्य बनाना पड़ता है। क्या बिना संस्कार किये प्रत्येक आत्मा बाण बनने के योग्य हो सकता है? अन्तःकरण में ओम् का स्मरण हो तो हमें क्या आपत्ति? हम ओम्-स्मरण के विरुद्ध थोड़ा ही हैं। हमारा तो यह पक्ष है कि केवल ओम्-स्मरण से कल्याण नहीं हो सकता जबतक कि तदनुकूल आचरण न किया जावे, अतः मुण्डक का उपर्युक्त प्रमाण हमारी पुष्टि करता है, क्योंकि प्रणवरूपी धनुष में तबतक आत्मा नहीं रखा जा सकता जबतक उसे विद्या, तप से शुद्ध करके शुभ कर्मों द्वारा बाण बनाने के योग्य न बना लिया जावे, अतः पुरुषार्थ और धर्माचरण के बिना केवल नामस्मरण व्यर्थ ही है।

(२७२) प्रश्न—'स पूर्वया निविदा' इत्यादि [ऋ० १।७।३।२] आर्याभिविनय मं० ४२। उसी विज्ञानादि धन देनेवाले को विद्वान् लोग अग्नि मानते हैं। हम लोग उसी को भजें। —पृ० २६९, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में यह कौन-से पदों से सिद्ध होता है कि नामस्मरणमात्र से मोक्ष हो जाता है? मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार—

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ —ऋ० १।९६।२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! आदि सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त अग्नि ही परमात्मा था, अन्य कोई नहीं था। तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर प्रजा की उत्पत्ति की ईक्षणता (विचार) करता भया, सर्वज्ञादि सामर्थ्य से ही सत्यविद्यायुक्त वेदों की तथा मननशील मनुष्यों की तथा अन्य पशुवृक्षादि की प्रजा को उत्पन्न किया। परस्पर मनुष्य और पशु आदि के व्यवहार चलने के लिए, परन्तु मननशीलवाले मनुष्यों को अवश्य स्तुति करने योग्य वही है। सूर्य आदि तेजस्वी सब पदार्थों का प्रकाशनेवाला, बल से स्वर्ग (सुखविशेष) सब लोक, अन्तरिक्ष में पृथिवी आदि मध्यम लोक और निकृष्ट दुःखविशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोक उसी ने रचे हैं। जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वरदेव है, उसी विज्ञान आदि धन देनेवाले को ही विद्वान् लोग

अग्नि जानते हैं। हम लोग उसी को ही भजें॥२॥

यहाँ 'भजें' के अर्थ हैं कि 'हम लोग उसी की ही उपासना करें'। इस मन्त्र के अर्थ से यह सिद्ध नहीं होता कि केवल नामस्मरणमात्र से ही मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है।

(२७३) प्रश्न—इन्द्रियों से अग्राह्य निराकार के नाम का स्मरण ही भजन है, तो भी आप नामस्मरण का खण्डन करते हैं। मिश्री कहने से मुँह मीठा नहीं होता, तो क्या नींबू कहने से भी मुँह में पानी नहीं आता? यदि ऐसा ही है तो आपने दयालु, न्यायकारी आदि ईश्वर के नाम लेने क्यों लिखे? —पृ० २७०, पं० ५

उत्तर—आप बड़ी ग़लतफ़हमी में हैं। हम परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना के विरुद्ध नहीं हैं। स्तुति और नामस्मरण एक ही वस्तु है, किन्तु हम मानते हैं कि केवल स्तुति से या नामस्मरण से कल्याण नहीं हो सकता, अपितु ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव के सुधारने से कल्याण हो सकता है। इसी का नाम स्मरण या स्तुति हो सकता है। बेशक जैसे मिश्री-मिश्री कहने से मुँह मीठा नहीं होता, वैसे ही नींबू-नींबू कहने से भी मुँह खट्टा नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाए तो अचार डालने की ज़रूरत ही न रहे। रोटी खाते समय नींबू-नींबू कह लिया करें। नींबू के स्मरण से उसी के मुँह में पानी आता है, जो यत्न करके एक बार नींबू प्राप्त करके उसका स्वाद ले चुका है। जिसने कभी नींबू न खाया हो उसको नींबू स्मरण करने से तो क्या, देखने से भी मुँह में पानी न आवेगा। ऐसे ही जबतक यम-नियमादि शुभकर्मों द्वारा योगाभ्यास करके परमात्मा का अनुभव न कर लें तबतक केवल नामस्मरणमात्र से कभी भी ब्रह्मानन्द या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्वामीजी ने जो दयालु, न्यायकारी आदि नामों से ईश्वर की स्तुति करना लिखा है, उसका प्रयोजन यही है कि हम भी अपने जीवन में न्याय को धारण करके तथा निर्बलों, निरपराधों पर दया करके अपने जीवन में सुधार करें। बस, यह सिद्ध हो गया कि केवल नामस्मरणमात्र से मोक्ष नहीं होता, अपितु तदनुकूल आचरण करने से मोक्ष होता है, अत: केवल नामस्मरणमात्र से पापक्षय का सिद्धान्त वेदविरुद्ध, निर्मूल, पापजनक तथा सर्वथा असत्य है।

स्वर्ग

(२७४) प्रश्न—वेद ने स्वर्ग आदि लोकों को इस मृत्युलोक से भिन्न माना है।

—पृ० २८५, पं० १९

उत्तर—सबसे पहले हमें इस बात पर विचार करना है कि 'स्वर्गलोक' के अर्थ क्या हैं। यह शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना हुआ है—'स्व:', 'ग' था 'लोक'। सबसे पहले देखें कि 'स्व:' के क्या अर्थ हैं—

स्व:—[स्व:, प्रश्नि:, द्यौ: नाक:, विष्टप्, नभ:], ये छह नाम द्यौ के हैं।

—(निरुक्त अ० २, खण्ड १३)

अब देखना है कि द्यौ: के क्या अर्थ हैं [अथ द्यौ: किमिति सुखनाम] द्यौ नाम सुख का है।

—(निरुक्त० अ० २ खं० १२)

इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त छह नाम सुख के हैं। इन छह में स्व: भी है, अत: स्व: के अर्थ सुख के हुए।

ग—'स्वर्ग' में जो 'ग' है वह (गम्लृ गतौ) गम अर्थात् गति अर्थवाली धातु का है। गति के (ज्ञान, गमन, प्राप्ति) तीन अर्थ हैं। अत: **(स्वर्गम्यते प्राप्यतेऽस्मिन्निति स्वर्ग:)** जिसमें सुख की प्राप्ति हो उसका नाम स्वर्ग है।

लोक—विवाह के समय कन्या कहती है कि—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्।

—मं० ब्रा० १।१।८, गोभि० २।१।१९

भाषार्थ—मेरे जाने के रास्ते कल्याणकारी हों। मैं पतिलोक को प्राप्त होती हूँ।

यहाँ लोक के अर्थ पृथिवी से भिन्न लोक नहीं, अपितु गृहस्थी अवस्था ही पतिलोक है, अतः लोक के अर्थ अवस्था हुए। विवाह में वर कहता है कि—

कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयम्। —मं० ब्रा० १।२।५, गोभि० २।२।८

भाषार्थ—कन्या पितृलोक से पति के लोक को प्राप्त होती है।

इससे स्पष्ट है कि लोक नाम अवस्था का है।

त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः।

—शत० १४।४।३।११

अथ त्रयो वाव लोकः। मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः। —शत० १४।४।३।२४

स्वरिति दिवम्॥११॥

स्वरिति विशम्॥१२॥

स्वरिति पशून्॥१३॥ —शत० २।१।४।११ से १३

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। —अथर्व० १४।२।५२

भाषार्थ—तीन लोक यही हैं—वाणी ही यह लोक है, मन ही अन्तरिक्षलोक है, प्राण ही वह लोक है॥११॥ ये तीन लोक हैं। मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक सो यह मनुष्यलोक पुत्र से ही जीता जाता है, अन्य कर्म से नहीं। कर्म से पितृलोक, विद्या से देवलोक जीता जाता है॥२४॥ स्वः नाम द्यौ का है॥१॥ स्वः नाम वैश्य का है॥१२॥ स्वः नाम पशुओं का है॥१३॥ ये पितृलोक से पतिलोक को प्राप्त होनेवाली कन्या प्राप्त है॥५२॥

स्वः—सुख, द्यौ, वैश्य, पशु

ग—जिसमें स्वः प्राप्त हो

लोक—अवस्था, मन, वाणी, प्राण, पिता का स्थान, पति का स्थान, मनुष्य-अवस्था, पितृ-अवस्था, देव-अवस्था इत्यादि जिस अवस्था तथा जिस स्थान में मनुष्य को सुख के विशेष सामान पशु, वैश्य सम्बन्धित-पदार्थ आदि मिलें उसका नाम स्वर्ग है। चाहे वे इसी पृथिवी पर मिलें चाहे अन्य सूर्य, चाँद, सितारों में मिलें। सारांश ह कि स्वर्ग नाम का कोई पृथक् स्थान नहीं है। जहाँ सुख और सुख की विशेष सामग्री मिले उसी का नाम स्वर्ग है। यही बात स्वामी दयानन्दजी कहते हैं कि—

स्वर्ग—नाम सुखविशेष-भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

—सत्यार्थ० स्वमन्तव्य० ४२

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम्।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गो नात्र संशयः॥८०॥

—[गीता प्रेस संस्करण में यह २००।८२ पर उपलब्ध है। —सं०] महा० वन० १९९।८०

भाषार्थ—वाणी की पवित्रता, कर्मों की पवित्रता, जलात्मक पवित्रता—इन तीन पवित्रताओं से युक्त जो स्थान वा अवस्था हो वही, स्वर्ग है, इसमें संशय नहीं है॥८०॥

संसार में ऐसी अवस्था वा ऐसा स्थान विशेषकर कौन-सा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ७७॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ७८॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ७९॥

—मनु० ३। ७७-७९

भाषार्थ—जैसे वायु का आश्रय लेकर सारे प्राणी वर्त्तमान होते हैं, वैसे ही सारे आश्रम गृहस्थ का आश्रय लेकर वर्त्तमान होते हैं॥ ७७॥ जिस कारण से तीनों ही आश्रम ज्ञान तथा अन्न से प्रतिदिन गृहस्थ से ही धारण किये जाते हैं, इसलिए बड़ा आश्रम गृहस्थ ही है॥ ७८॥ अतः अक्षय मोक्ष और इस संसार में स्वर्ग की इच्छा करनेवाले को वह गृहस्थ धारण करना चाहिए, परन्तु वह निर्बल-इन्द्रियवालों से धारण करने के योग्य नहीं है॥ ७९॥

इससे सिद्ध हुआ कि संसार में स्वर्ग-प्राप्ति चाहे और अवस्थाओं तथा स्थानों में भी हो, कन्तु संसार में गृहस्थ स्वर्ग=सुख का भण्डार है, अतः विशेषकर स्वर्ग गृहस्थ का नाम है। इसमें वेदप्रमाण—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अंगैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ —अथर्व० ६। १२०। ३

भाषार्थ—जहाँ उत्तम हृदय तथा परस्पर मित्रता रखनेवाले, श्रेष्ठ कर्मोंवाले अपने शरीर के रोगों से आरोग्य लाभ करके आनन्द पाते हैं, उस स्वर्गलोक में हम माता-पिता दोनों का तथा पुत्रों का दर्शन करें॥ ३॥

इस मन्त्र में माता, पिता, पुत्रों, मित्रों के दर्शन से गृहस्थ को ही स्वर्ग कहा गया है।

अतः सिद्ध हुआ कि इस पृथिवी से भिन्न किसी विशेष स्थान का नाम स्वर्ग नहीं है, अपितु जिस अवस्था में और जिस स्थान में सुख और सुख की सामग्री का लाभ हो उसका नाम और विशेषकर गृहस्थ आश्रम का नाम स्वर्ग है।

(२७५) प्रश्न—'**अनस्थाः पूताः**' इत्यादि [अथर्व० ४। ३४। २] तथा '**घृतह्रदा मधुकूलाः**' इत्यादि [अथर्व० ४। ३४। ६] इन दो मन्त्रों में बहुत स्त्रियाँ, घी के तालाब आदि तथा दही-दूध की नहरें मिलनी लिखी हैं, अतः पता लगा कि स्वर्ग पृथिवी से भिन्न लोक का नाम है॥

—पृ० २८५, पं० २१

उत्तर—श्रीमान्जी! स्वर्ग इस पृथिवी से भिन्न किसी स्थानविशेष का नाम नहीं है, अपितु गृहस्थाश्रम का नाम ही स्वर्ग है, क्योंकि पशुओं तथा व्यापार-सम्बन्धी तमाम वस्तुओं की मौजूदगी के कारण दूध, दही, शहद आदि की नहरें और तालाब गृहस्थ में ही मनुष्य को प्राप्त हो सकते हैं,अतः इन मन्त्रों में भी गृहथाश्रम का ही वर्णन है। जैसे—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥ २॥
घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः॥ ६॥

—अथर्व० ४। ३४। २,६

भाषार्थ—जिनकी हड्डियाँ नज़र नहीं आतीं अर्थात् मोटे-ताज़े हैं, बाहर से पवित्र तथा व्यायाम-प्राणायाम आदि द्वारा अन्दर से भी पवन द्वारा शुद्ध हुए-हुए उज्ज्वल ब्रह्मचारी लोग इस

पवित्र गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् उक्त प्रकार के जितेन्द्रिय, पवित्र ब्रह्मचारी ही गृहस्थ में प्रवेश करने के योग्य होते हैं। यद्यपि इस स्वर्गलोक गृहस्थ में इनका बहुत-सी अपनी माता, बहिन, चाची, ताई मुहल्ले की, पड़ौसियों की पत्नियों, युवा लड़कियों आदि स्त्रियों के साथ रहने-सहने आदि का सम्बन्ध होता है तथापि इनके उपस्थेन्द्रिय को कामाग्नि प्रदीप्त नहीं कर सकती॥ २॥ इस गृहस्थाश्रम में गौ आदि पशु तथा वैश्य के व्यापार-सम्बन्धी सब वस्तुएँ होने के कारण घी के तालाब, शहद की नहरें, अर्क, दूध-दही और पानी की भारी धारें तुझे आनन्दपूर्वक प्राप्त हों। तेरे चारों तरफ़ मिठास बरसाती हों, कमलों से भरी झीलें हों॥ ६॥

गुरुकुल से गृहस्थ की विशेषता स्त्रियों की नज़दीकी ही तो है। ब्रह्मचारी पहले इस सम्पर्क से दूर था, अब वह पढ़कर, सीखकर और योग की क्रियाओं से पवित्र होकर गृहस्थों के संसार में आया है। यह दुनिया है स्वर्ग, किन्तु उसी सूरत में यदि मनुष्य काम-वासनाओं से ऊपर रहे, अपनी पत्नी के बिना सम्पूर्ण स्त्रियों को माता और बहिन की दृष्टि से देखे। फिर उसे खाने-पीने के लिए इतने दूध, घी, दही, मधु, मीठे जल मिलेंगे कि उनकी अधिकता को नहरों, तालाबों, झीलों से उपमा दी जा सकेगी और तुझे इस स्वर्गलोक गृहस्थ में अनन्त सुख मिलेगा, यह अभिप्राय है।

(२७६) प्रश्न—'स्वर्गे लोके न भयम्' इत्यादि [कठ० १।१२] यहाँ पर वर्णन है कि स्वर्ग में मनुष्य को भय, बुढ़ापा, भूख, प्यास नहीं सताती। —पृ० २८६, पं० ९

उत्तर—बिलकुल ठीक है, इसमें सन्देह ही क्या है? जो गृहस्थ धन, धान्य, गौ आदि पशु, ज्ञान, शस्त्रास्त्र आदि पदार्थों से परिपूर्ण और निश्चिन्त होगा उसमें भूख, प्यास, बुढ़ापा, भय के सताने का क्या काम? जैसेकि—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽ शनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ —कठ० १।१२

भाषार्थ—धन-धान्य, गौ आदि पशु तथा शस्त्रास्त्र की मौजूदगी के कारण स्वर्गलोक, अर्थात् गृहस्थाश्रम में कुछ भी भय नहीं है। न वहाँ पर मौत का डर है, क्योंकि ज्ञानी तथा शूरवीर लोग मौत से डरते ही नहीं और न वहाँ बुढ़ापे का भय है, क्योंकि चिन्ता से ही बुढ़ापा आता है। वहाँ पर भूख और प्यास दोनों पर विजय पाकर शोक से पार हुआ पुरुष स्वर्गलोक गृहस्थ में हर्ष-लाभ करता है॥ १२॥

(२७७) प्रश्न—'सहस्राश्वी' इत्यादि [ऐतरेयब्रा० २।१७] में लिखा है कि अति शक्तिशाली पवन के समान वेग रखनेवाले एक हज़ार घोड़े एक दिन में जितने मार्ग को चल सकते हैं उतनी दूर यहाँ से स्वर्ग है। —पृ० २८६, पं० १७

उत्तर—आपने इस पाठ के अर्थ ग़लत किये हैं तथा यहाँ चक्रवर्ती राज्य का प्रकरण है। ब्राह्मणग्रन्थों ने चक्रवर्ती राज्य को भी स्वर्ग माना है। यहाँ पर उसकी अवधि बतलाई गई है कि—

सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः॥ —ऐतरेयब्रा० २।१७

भाषार्थ—एक हज़ार घोड़े एक दिन में यहाँ से जितना दौड़ सकते हैं उतने वर्गमील के साम्राज्य का नाम स्वर्गलोक है॥ १७॥ इसमें निम्न प्रमाण है—

साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः॥ —ताण्ड्यब्रा० ४।६।२४

चक्रवर्ती साम्राज्य का नाम स्वर्गलोक है। इसलिए हमारा अर्थ प्रकरणानुसार ठीक है, क्योंकि आपके दिये हुए पाठ में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिससे यह अर्थ निकले कि यहाँ से ऊपर को इतनी दूर स्वर्गलोक है। जिस साम्राज्य में न्यायकारी राजा राज्य करता हो वह स्वर्गलोक है और वह तमाम संसार से ऊपर की भाँति है, अर्थात् श्रेष्ठ है और साधारण स्थिति से पृथक् की भाँति

है, अर्थात् विशेषता रखता है। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में आता है कि—

उपरीव स्वर्गो लोकः॥ —तैत्तिरीय० ३।२।१।५

स्वर्गलोक ऊपर की भाँति है, अर्थात् ऊपर को नहीं है, अपितु ऊपर की भाँति श्रेष्ठ है।

पराङ् वि वै स्वर्गो लोकः॥ —शत० १३।१।३।३।

स्वर्गलोक पृथक् की भाँति है, अर्थात् पृथक् नहीं है, किन्तु आम [साधारण] संसार से विशेष गुणवान् होने के कारण पृथक्-सा है, अतः सिद्ध हुआ कि स्वर्ग ऊपर को नहीं है, अपितु इसी पृथिवी पर साम्राज्य का नाम स्वर्ग है जिसका परिमाण इस उपर्युक्त पाठ में बताया है।

(२७८) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि सुख का नाम स्वर्ग और दुःख का नाम नरक है। अब पाठक विचार लें कि आर्यसमाज मत वैदिक है या वेदविरुद्ध है। —पृ० २८६, पं० २१

उत्तर—हम पूर्णरूप से प्रमाणों के साथ यह सिद्ध कर चुके हैं कि सुख और सुख की विशेष सामग्री जहाँ हो उसका नाम स्वर्ग है और वह पृथिवी से भिन्न कोई विशेष स्थान नहीं है। अन्य प्रमाण देखिए—

स्वर्गो वै लोको नाकः॥ —शत० ६।३।३।१४

प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥ —अथर्व० २।३४।५

अर्थ—स्वर्गलोक ही निश्चय से नाक=दुःखरहित लोक है।

हे मनुष्य! तू विद्वानों के मार्ग पर चलता हुआ सुख को प्राप्त हो और अपने शरीरों से प्रतिष्ठित हो।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध है कि इसी पृथिवी पर ही सुखविशेष का नाम स्वर्ग है।

भला! आप किस मुँह से कहते हैं स्वर्ग ऊपर कोई विशेष स्थान है? जब आपके यहाँ ही पृथिवी पर स्वर्ग लिखा है, तभी तो अर्जुन ने पाँच वर्ष स्वर्ग में शस्त्रविद्या की शिक्षा पाई, जैसे—

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् संस्मार पाण्डवः। पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी॥५॥ —महा० वन० अ० ४४

भाषार्थ—अर्जुन ने शस्त्रों को ग्रहण करके अपने भाइयों को याद किया। इन्द्र की आज्ञा से पाँच वर्ष सुखपूर्वक स्वर्ग में निवास किया॥५॥

तथा युधिष्ठिर इसी शरीर से स्वर्ग में गया। जैसे—

अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः। —महा० महाप्रस्थानिक० अ० श्लो० ६

अर्थ—तू इसी शरीर से स्वर्ग में चला जाएगा, इसमें संशय नहीं है॥३॥

फिर गङ्गा का स्वर्ग से शिव के सिर पर गिरना, जैसे—

पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात्।
एतत् श्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम्॥५॥ —महा० वन० अ० १०९

भाषार्थ—स्वर्ग से गिरती हुई गङ्गा को मैं सिर पर धारण करूँगा, राजा ने शिव के मुख से यह बात सुनकर॥५॥ गङ्गा से कहा और वह शिव के सिर पर गिरी।

इसके अतिरिक्त अप्सराएँ भी ऋषियों से सन्तान पैदा करती रही हैं।

परिणाम—अर्जुन का स्वर्ग में शस्त्रविद्या सीखकर आना, युधिष्ठिरादि का स्वर्गार्थ पर्वत पर चढ़ना तथा सशरीर स्वर्ग में जाना, गङ्गा का स्वर्ग से शिव के सिर पर गिरना, स्वर्ग के निवासी स्त्री-पुरुषों का ऋषि तथा ऋषि-पत्नियों से समागम करके सन्तान पैदा करना इत्यादि घटनाओं

से सिद्ध है कि पौराणिक स्वर्ग भी पृथिवी पर ही है और उसका नाम त्रिविष्टप=तिब्बत है। जैसेकि तीर्थों का वर्णन करते हुए प्रत्येक मनुष्य के लिए त्रिविष्टप तीर्थ की भी यात्रा करना लिखा है। वह तीर्थ आस्मान पर नहीं हो सकता, अपितु पृथिवी पर ही हो सकता है। जैसे—

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी॥ ८३॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम्। सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम्॥ ८४॥

—महा० वन० अ० ८३

भाषार्थ—इसके पीछे तीनों लोकों में प्रसिद्ध त्रिविष्टप (स्वर्ग) तीर्थ में जाए। वहाँ पर पापों के नाश करनेवाली वैतरणी नाम की नदी है॥ ८३॥ वहाँ पर स्नान करके और शिव की पूजा करके सब पापों से शुद्धात्मा होकर परमगति को प्राप्त करे॥ ८४॥

इससे सिद्ध हुआ कि पौराणिक स्वर्ग इसी पृथिवी पर है, जिसका नाम त्रिविष्टप=तिब्बत है। वहाँ के राजा का नाम इन्द्र, पुरुषों का नाम देवता और स्त्रियों का नाम अप्सरा है। उनका भारतवर्ष के ऋषियों के साथ आना-जाना, खाना-पीना, लड़ना, व्यभिचार करना-कराना, सन्ताप पैदा करना-कराना आदि प्रत्येक प्रकार का व्यवहार रहा है।

शूद्र को वेद का अधिकार

(२७९) प्रश्न—वेद ने जिन वर्णों को यज्ञ करने का अधिकार दिया है, उन्हीं को वेद पढ़ने का भी अधिकार दिया। —पृ० २९७, पं० २०

उत्तर—आपने कोई ऐसा वेदमन्त्र पेश नहीं किया जिससे यह सिद्ध हो कि वेद ने शूद्रों को यज्ञ का अधिकार नहीं दिया, अथवा सिद्ध हो सके कि शूद्रों को वेद का अधिकार भी नहीं है। लीजिए, हम आपको वेद से बतलाते हैं कि जैसे परमात्मा ने वेद का अधिकार मनुष्यमात्र को दिया है वैसे ही यज्ञ का अधिकार भी मनुष्यमात्र को दिया है। जैसे—

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पंच जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ —ऋ० १०।५३।४

'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वं' गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। 'यत् पाञ्चजन्यया विशा' पञ्चजनीनया विशा। पञ्च पृक्ता संख्या स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशिष्टा।

—निरु० अ० खं० ८।१

भाषार्थ—वह वाणी का अत्युत्तम बल है, जिससे हम असुरों का पराभव करें। हे देवो! आप अन्न-भक्षण करते हुए यज्ञ-सम्पादन करते हुए और हे मनुष्यो! निषाद को मिलाकर पाँचों वर्ण तुम मेरे अग्निहोत्र का सेवन करो॥ ४॥ 'पाँच जन मेरे अग्निहोत्र का सेवन करो' गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस ये पाँच कई मानते हैं। चारों वर्णन पाँचवाँ निषाद—ऐसा उपमन्यु के मत वाले मानते हैं। जो प्राणियों का वध करे वह निषाद, अथवा जिसमें पाप स्थित हो वह निषाद है। पाँच जनसमुदाय ऋत्विजों के साथ हो। पाँच संख्या विशिष्ट अर्थात् पाँच स्त्रियाँ, पाँच पुरुष, पाँच नपुंसक—सारांश यह कि पाँच कोई हों, कोई विशेषता नहीं है (निरुक्त)।

कहिए श्रीमान्‌जी! अब तो आपको शूद्रादि को वेद पढ़ाने में शंका न होगी? जहाँ वेद मनुष्यमात्र को वेद तथा यज्ञ का अधिकारी मानते हैं वहाँ पुराण भी वेदों का अनुमोदन करते हैं। जैसे—

मिस्त्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः॥ ७२॥

शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्॥ ७३॥
—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० २०

भाषार्थ—मिस्र देश के पैदा हुए म्लेच्छों पर कण्व ने शासन किया, उनका शूद्रवर्ण से संस्कार आरम्भ किया, वे ब्राह्मणवर्ण तक को प्राप्त हो गये॥७२॥ सिर पर चोटी रक्खी, गले में जनेऊ पहना और उत्तम वेद को पढ़कर यज्ञों से इन्द्राणी के पति इन्द्र की उन्होंने पूजा की॥७३॥

अब तो आपके घर से ही म्लेच्छों तक का यज्ञाधिकार, वेद-पठन तथा यज्ञोपवीत सिद्ध हो गया। अब आपको वेद तथा ऋषि दयानन्दजी के लेख पर क्या शंका हो सकती है?

(२८०) प्रश्न—'स्तुता मया वरदा' इत्यादि [अथर्व० १९।७१।१] इस मन्त्र में गायत्री द्वारा द्विजों का ही पवित्र होना लिखा है। मन्त्र में यह स्पष्ट है कि गायत्री द्विजों को ही पवित्र करती है। द्विजेतर शूद्र यदि रात-दिन गायत्री जपें तब भी वह शूद्रों को पवित्र नहीं करती।
—पृ० २९७, पं० २२

उत्तर—द्विज उसको कहते हैं जो चार, तीन, दो या कम-से-कम एक वेद को अर्थसहित जानता हो और तदनुकूल आचरण भी करे। जो मनुष्य प्रयत्न करने पर एक वेद भी नहीं पढ़ सका या पाठमात्र ही पढ़ा हो, अर्थ न जानता हो, या अर्थ जानता हुआ भी तदनुकूल आचरण न करे, वह द्विज कहलाने का अधिकारी नहीं है अपितु वही शूद्र है, जैसाकि निरुक्त में लिखा है कि—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ —निरु० १।१८

भाषार्थ—जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़के अर्थ नहीं जानता वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फूल, फल और पशु, धान्य आदि का भार उठाता है वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।

सारांश यह है कि न पढ़नेवाले तथा पढ़कर भी अर्थ न जाननेवाले तथा अर्थ जानकर भी तदनुकूल आचरण न करनेवाले को वेद या वेद का कोई मन्त्र कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकता, अपितु ऐसा मनुष्य शूद्र ही रह जाता है। जो वेदार्थ को जानकर तदनुकूल आचरण करता है वही द्विज है और वही वेद या उसके मन्त्रों से लाभ उठा सकता है। इसी बात को उपर्युक्त मन्त्र कहाता है। जैसे—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ —अथर्व० १९।७१।१

भाषार्थ—मन को उत्साह से प्रेरणा करनेवाली, द्विजों को पवित्र करनेवाली, श्रेष्ठ ज्ञान देनेवाली वेदमाता की मैंने स्तुति की है। मैंने अध्ययन-आचरण किया है। वह वेदमाता आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, ज्ञान, तेज मुझे देकर मुक्ति प्राप्त करावे॥१॥

यदि इससे आपका यह अभिप्राय हो कि जो द्विजों के घर पैदा हुए हैं वही वेद पढ़ सकते हैं, अन्य नहीं, तो आपका यह सिद्धान्त स्वयं वेद के विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर कहता है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥ —यजुः० २६।२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री, सेवकादि

और उत्तम लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के लिए भी—इन उक्त सब मनुष्यों के लिए इस संसार में इस प्रकट की हुई, सुख देनेवाली, चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश किया करें॥ २॥

इससे सिद्ध है कि वेद पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार है। कोई अपने अधिकार का इस्तेमाल करे या न करे इस बारे में प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है। जो वेद को अर्थसहित पढ़कर तदनुकूल आचरण करेगा वह द्विज बन जाएगा। जो नहीं करेगा वह शूद्र रह जावेगा। यही वेद का सिद्धान्त है। आपके पुराण भी यही कहते हैं कि—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्णधर्मिणाम्॥ ६२॥ —भविष्य० उत्तर अ० १३
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्राताम्।
क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वैश्यं तथैव च॥ ४७॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ४०

भाषार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा पवित्र शूद्र—इनको वेदमन्त्र पढ़ाने चाहिएँ, धर्म से भ्रष्ट लोगों को नहीं॥ ९२॥ वेद पढ़ने आदि से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और वेद आदि त्याग से ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। ऐसे ही क्षत्रिय और वैश्य भी शूद्र और ब्राह्मणादि बन सकते हैं।

आपने जो वेदमाता का अर्थ गायत्री किया है यद्यपि वह ठीक नहीं है, क्योंकि वेदमाता का अर्थ है वेदरूप माता तथापि, आपका यह कहना कि गायत्री शूद्रों को पवित्र नहीं करती, यह बात आपके पुराणों के ही विरुद्ध है, यथा—

ते सर्वे तपसा देवीं तुष्टुवुश्च सरस्वतीम्। पञ्चवर्षान्तरे देवी प्रादुर्भूता सरस्वती।
सपत्नीकाँश्च तान् म्लेच्छाञ्छूद्रवर्णाय चाकरोत्॥ १६॥
द्विसहस्रास्तदा तेषां मध्ये वैश्या बभूविरे॥ १७॥
तेषां चकार राजानं राजपुत्रपुरं ददौ॥ १९॥ —भविष्य० प्रति सर्ग० खं० ४ अ० २१

भाषार्थ—उन सबने तप के द्वारा सरस्वती देवी को प्रसन्न किया। पाँच वर्ष के पीछे सरस्वती देवी प्रकट हुई। उनकी पत्नियोंसमेत म्लेच्छों को शूद्र बना दिया॥ १६॥ उनके अन्दर से दो हज़ार वैश्य बन गये॥ १७॥ बाकियों को राजा बना दिया और राजपुत्र नगर उनको दे दिया॥ १९॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आपका लेख वेद तथा पुराणों के भी सर्वथा विरुद्ध होने से निर्मूल है।

(२८१) प्रश्न—'अधीयीरन्' इत्यादि [मनु० १०।१] इसमें आता है कि पढ़नेवाले तीन वर्ण हों? और पढ़ानेवाला ब्राह्मण ही हो। —पृ० २९८, पं० १०

उत्तर—हम पहले यह सिद्ध कर चुके हैं कि जो अर्थसहित वेद को पढ़=जानकर तदनुकूल कर्म करता है वह द्विज है, जो ऐसा नहीं करता वह शूद्र है। यहाँ पर प्रारम्भिक शिक्षा का वर्णन नहीं है, अपितु गृहस्थाश्रम में रहते हुए वर्णों की वृत्ति अर्थात् पेशे का वर्णन है। तभी तो 'स्वकर्मस्था' यह पद आया है तथा इससे अगला श्लोक मिलाकर यह साफ़ हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अपना स्वाध्याय तो जारी रक्खें, उसका कभी भी परित्याग न करें, किन्तु पढ़ाने का काम ब्राह्मण ही करे। वैश्य और क्षत्रिय अपने-अपने वर्णानुकूल काम में स्थिर रहते हुए स्वाध्याय अवश्य करते रहें—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः। प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः॥ १॥
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान्यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत्॥ २॥

—मनु० १०।१-२

भाषार्थ—तीनों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने वर्णानुसार कर्मों में स्थिर रहते हुए स्वाध्याय तो करें किन्तु पढ़ाने का काम ब्राह्मण ही करे; वैश्य-क्षत्रिय पढ़ाने का काम न करें, यह निश्चित व्यवस्था है॥ १॥ सबकी वृत्ति के उपाय ब्राह्मण को विधिपूर्वक जानने चाहिएँ और दूसरों को बताते हुए स्वयं भी वैसा होना चाहिए॥ २॥

जो मनुष्य द्विज बनने के अयोग्य सिद्ध होकर शूद्र वर्ण में व्यवस्थित हो चुका है बेशक उसको पढ़ने और पढ़ाने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह पढ़ने-पढ़ाने की योग्यता ही नहीं रखता। यदि उसमें पढ़ने-पढ़ाने की योग्यता होती तो वह शूद्र ही क्यों बनाया जाता? यह इन श्लोकों का अभिप्राय है।

यदि इस श्लोक से आपका यह अभिप्राय हो कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के घर में पैदा हुए बालक हैं उनमें से शूद्र के बालकों को पढ़ने का अधिकार ही नहीं और वैश्य तथा क्षत्रिय के बालक भी पढ़ने का ही अधिकार रखते हैं पढ़ाने का नहीं, अर्थात् चारों वर्णों में जो बालक जिस वर्ण में पैदा हों वे उसी-उसी वर्ण में रहेंगे, उन्नत या अवनत नहीं हो सकते तो यह बात प्रथम तो वेद के ही विरुद्ध है, क्योंकि वेद मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने तथा उन्नति करने का अधिकार देता है। दूसरे, आपका यह विचार स्वयं मनु के भी विरुद्ध है, क्योंकि मनुजी जन्म के पश्चात् उन्नति और अवनति के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। जैसेकि—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥ ४२॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ ४३॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ ६५॥

—मनु० अ० १०

भाषार्थ—कोई तप के प्रभाव से विश्वामित्र की भाँति, कोई बीज के प्रभाव से ऋष्यशृंग की भाँति सब मनुष्य प्रत्येक युग में इस संसार में जन्म की अपेक्षा उन्नति और अवनति को प्राप्त होते हैं॥ ४२॥ शनैः-शनैः कर्मों के भ्रष्ट हो जाने से और ब्राह्मण-उपदेशकों के दर्शन न होने से ये क्षत्रियों की जातियाँ शूद्रवर्ण को प्राप्त हो गईं॥ ४३॥ शूद्र वेद के पढ़ने तथा तदनुकूल कर्म करने से ब्राह्मण बन जाता है तथा ब्राह्मण वेद के विरुद्ध कर्म करने से शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य भी ब्राह्मण और शूद्र बन जाते हैं॥ ६५॥

इससे सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य को वेद पढ़ने का अधिकार है और तदनुकूल कर्म करने से प्रत्येक को उन्नति कने का अधिकार वेद तथा मनुस्मृति के अनुकूल है।

(२८२) प्रश्न—**'न शूद्रे पातकम्'** इत्यादि [मनु० १०। १२६] तथा **'धर्मेप्सवः'** इत्यादि [मनु० १०। १२७] मनु ने इस प्रकरण में स्पष्ट लिख दिया कि शूद्र वेदमन्त्र का उच्चारण न करे। केवल प्रणाम करता हुआ मन्त्रवर्जित पञ्चयज्ञों को पूर्ण करे। —पृ० २९८, पं० १६

उत्तर—हम बता चुके हैं कि जो अर्थसहित वेद पढ़कर तदनुकूल कर्म करता है, वह द्विज है और जो ऐसा नहीं करता वह शूद्र है। जब वेद के न जानने के कारण ही उसे शूद्र बनाया गया है तो फिर वह वेदमन्त्र उच्चारण करेगा ही कैसे? और यदि वह योग्यता न रखते हुए वेद का उच्चारण करेगा तो वह उच्चारण अशुद्ध व अर्थरहित होगा, जिससे कोई लाभ न होगा। हाँ, यदि वह शूद्र रहते हुए धर्म में श्रद्धा रखता है तो वह मन्त्रों का उच्चारण न करते हुए भी पाँचों महायज्ञ कर सकता है। उसके लिए धर्मानुष्ठान की मनाही नहीं है। इस बात का वर्णन मनुजी ने इस प्रकार किया है—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥ १२६॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः। मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥ १२७॥

—मनु० अ० १०

भाषार्थ—शूद्र में कोई पापकर्म, मांसभक्षण, सुरापान, असत्य-भाषण, चोरी, व्यभिचारादि नहीं होना चाहिए। वेद के पढ़ने तथा तदनुकूल आचरण करने की योग्यता न रखने के कारण वह यज्ञोपवीत आदि वैदिक संस्कारों का अधिकारी नहीं है। इसका ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के धर्मों में प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं तथा साधारण धर्म में प्रवृत्ति रखने का इसको निषेध भी नहीं है॥ १२६॥ धर्म की इच्छा रखनेवाले साधारण धर्म को जाननेवाले और सत्पुरुषों के आचरण का अनुकरण करनेवाले शूद्र यदि मन्त्रों का उच्चारण न करते हुए नित्य कर्मों को करें तो कोई दोष नहीं है, अपितु इससे वे प्रशंसा को प्राप्त होते हैं॥ १२७॥

इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि जो लोग वेद के पढ़ने तथा तदनुकूल आचरण करने की योग्यता न रखने के कारण शूद्र रह गये हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के कर्मों में हस्तक्षेप न करें, क्योंकि वे इन कामों की योग्यता नहीं रखते। हाँ, उनको साधारण धर्म का पालन करते हुए कोई पापाचरण न करना चाहिए, क्योंकि पापाचरण करने से वे शूद्र भी न रह सकेंगे अपितु आचारहीनता के कारण उनकी गणना राक्षसों में हो जावेगी। इन श्लोकों का यही अभिप्राय है।

यदि आपके विचार में इन श्लोकों का यह अभिप्राय है कि जिनका शूद्र के घर जन्म हो गया वे वेदाध्ययन करके उन्नति कर ही नहीं सकते और जिनका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर हो गया वे किसी अवस्था में भी शूद्र नहीं बन सकते, अर्थात् वेद का पढ़ना आदि जन्मानुसार वर्णव्यस्था पर ही है, कर्मानुसार वर्ण तब्दील नहीं हो सकता तो यह बात स्वयं वेद तथा मनुस्मृति के भी विरुद्ध है। देखिए मनुजी क्या कहते हैं—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥ ९२॥
इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः। ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति॥ ९३॥

—मनु० १०

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करण्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ २३८॥

—मनु० ११

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ १६८॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥ १४८॥

—मनु० २

भाषार्थ—मांस बेचने से ब्राह्मण तत्काल पतित हो जाता है। लाख और नमक के बेचने से भी तत्काल पतित हो जाता है। ब्राह्मण दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र हो जाता है॥ ९२॥ अपनी इच्छा से दूसरी वस्तुओं का व्यापार करते हुए ब्राह्मण सात रात्रि में वैश्य वर्ण को प्राप्त हो जाता है॥ ९३। जो कठिनता से तरने के योग्य अर्थात् संसाररूप समुद्र, जो कठिनता से प्राप्त होने योग्य अर्थात् इसी शरीर से शूद्र का ब्राह्मणादि बनना, जो दुःख से जाने योग्य देश-देशान्तर तथा जो दुःख से करने योग्य योगाभ्यास आदि कर्म हैं, वे सब तप से सिद्ध हो जाते हैं। तप का अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता॥ २६८॥ जो द्विज वेद न पढ़के अन्यत्र प्रयत्न करता है वह जीता हुआ इसी जन्म में शीघ्र ही परिवारसहित शूद्रवर्ण को प्राप्त हो जाता है॥ १६८॥ वेदों का पारंगत आचार्य वेद के अनुसार गायत्री से इस ब्रह्मचारी की जिस जाति को कर्मानुसार नियत कर देता है, वही सत्य है, वही अजर है, वही अमर है॥ १४८॥

इससे स्पष्ट हो गया कि मनुजी महाराज मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार मानते हैं। जो वेद को अर्थसहित पढ़कर तदनुकूल कर्म करता है वह द्विज बन सकता है और जो ऐसा

नहीं करता वह शूद्र रह जाता है। उसका जन्म चाहे किसी के घर का भी क्यों न हो वेद पढ़ने तथा उन्नति करने का प्रत्येक को अधिकार है। कोई अपने अधिकार का प्रयोग करके उन्नति करे या न करे इसमें प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है। यही मनुजी का अभिप्राय है। आपकी यह प्रतिज्ञा कि जन्म के शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, वेद तथा स्मृति के भी विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या और निर्मूल है।

(२८३) प्रश्न—'संस्कारपरामर्शात्' इत्यादि [शारी० अ० १ पा० ३ सू० ३६] बताता है कि संस्कार का अभाव होने और अभिलाप से शूद्र वेदविद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं है।

—पृ० २९९, पं० ७

उत्तर—श्रीमान्‌जी! वेदान्त का यह सूत्र तो हमारी ही पुष्टि करता है, आपकी नहीं। भला! बतलाइए तो सही, इस सूत्र में यह कहाँ लिखा है कि 'जिसका जन्म शूद्र के घर का हो उसको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं'? और इस सूत्र में यह भी नहीं है कि 'शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है' अपितु सूत्र यह कहता है कि 'निकृष्ट संस्कारों के कारण जिसमें वेद पढ़ने की सामर्थ्य न हो उसको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है चाहे उसका जन्म किसी के घर का भी क्यों न हो।' जिसमें वेद पढ़ने की योग्यता नहीं है वही शूद्र है और उसे ही वेद पढ़ने के अधिकार का निषेध किया गया है। जैसेकि—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(च) और **(संस्कारपरामर्शात्)** संस्कारों के परिणाम के रूप से **(तदभावाभिलापात्)** सामर्थ्य का अभाव पाये जाने से, अधिकार का निषेध है ॥ ३६ ॥

कहिएगा, इसमें शूद्र को वेद पढ़ने का कहाँ निषेध है और अभिलाप के अर्थों को क्यों हड़प कर गये, जिसका अर्थ सामर्थ्य है?

इससे सिद्ध हुआ कि निकृष्ट संस्कारों के कारण जिसमें वेद पढ़ने की सामर्थ्य नहीं है उसी का नाम शूद्र है और उसे ही अयोग्य होने के कारण वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, चाहे उसका जन्म ब्राह्मणादि किसी के घर का हो, यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

यदि आप इस सूत्र का यह अभिप्राय निकालते हैं कि जिसका जन्म शूद्र के घर का हो और जातकर्मादि संस्कार न होने के कारण उसे वेद वा यज्ञ का अधिकार नहीं तो—

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।
ताँ ऊ न्वस्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि॥ —ऋ० ४।३६।२

भाषार्थ—हे निपुण कारीगरो! जो आप लोग शुद्धचित्त होकर, मन के पूर्ण ध्यान से सुन्दर, गोल, सीधा रथ बनाते हैं, उन आप लोगों को इस यज्ञ का भाग लेने के लिए हम आमन्त्रित करते हैं॥ २॥

निरुक्त-भाष्यकार दुर्गाचार्य रथकार को निषाद मानता है और उसे यज्ञाधिकार में यह प्रमाण देता है तथा पुराणों में कितने ही शूद्र और अन्त्यज बिना संस्कारों के ब्राह्मण बन गये। जैसेकि—

विद्वत्सदसि योऽ प्याह संस्काराद् ब्राह्मणो भवेत्। न्यायज्ञैः स निराकार्यो वाक्यैर्न्यायानुसारिभिः ॥ ७॥
संस्कृतोऽपि दुराचारो नरकं याति मानवः। निःसंस्कारः सदाचारो भवेद्विप्रोत्तमः सदा॥ १६॥
आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः। गर्भाधानादिसंस्कारकलापरहिताः स्फुटम्॥ २०॥
विप्रोत्तमाः श्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः। बहवः कथ्यमाना ये कतिचित्तन्निबोधत॥ २१॥
जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः। शुक्याः शुकः कणादाख्यास्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥ २२॥
मृगीजोऽथर्ष्यशृंगोऽपि वसिष्ठो गणिकात्मजः। मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते॥ २३॥

माण्डव्यो मुनिराजस्तु मण्डूकीगर्भसम्भवः। बहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्ववद् द्विजाः॥ २४॥

—भविष्य० ब्र० अ० ४२

भाषार्थ—विद्वानों की सभा में जो भी कहे कि संस्कार से ब्राह्मण होता है, न्याय के जाननेवालों को न्याय के वचनानुसार उनका खण्डन करना चाहिए॥ ७॥ संस्कार हुआ दुराचारी मनुष्य नरक में जाता है। बिना संस्कारों के भी सदाचारी सदा उत्तम ब्राह्मण होता है॥ १६॥ व्यासादि श्रेष्ठ मुनि गर्भाधान आदि संस्कार-कलाप से रहित भी आचार का अनुष्ठान करते हुए स्पष्ट ब्राह्मण बने॥ २०॥ और शोभा को प्राप्त हुए एवं सारे संसार में पूज्य बने। ऐसे बहुत-से नाम कहे जा सकते हैं, कुछ के नाम सुनो॥ २१॥ व्यास मल्लाहनी=नौका चलानेवाली के पैदा हुए, पराशर चाण्डाली के पैदा हुए, शुकदेव शुकी के पैदा हुए, कणादमुनि उलूकी के पैदा हुए॥ २३॥ मुनिराज माण्डव्य मेंढकी के पैदा हुए; और भी बहुत सारे हैं जो पहले की भाँति ब्राह्मण बन गये॥ २४॥

कहिए महाराज! ये सारे शूद्र, चाण्डाल, अन्त्यज, कंजरादि के घर पैदा होकर क्या बिना वेद पढ़े ही ब्राह्मण बन गये? क्या इनको वेद का अधिकार न था? यदि था तो स्पष्ट स्वीकार करो कि मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने तथा तदनुकूल आचरण करने से ब्राह्मण तक भी बनने का अधिकार है।

(२८४) प्रश्न—'श्रवणाध्ययनार्थ' इत्यादि [शा० अ० १ पा० ३ सू० ३८] स्मृति से शूद्र का वेदश्रवण और अध्ययन का निषेध है। —पृ० २९९, पं० १०

उत्तर—हम सिद्ध कर चुके हैं कि जो मनुष्य प्रयत्न करते हुए भी वेद नहीं पढ़ सकता उसी का नाम शूद्र है। उसी को वेद सुनाने तथा पढ़ाने का स्मृतियों ने निषेध किया है, क्योंकि उसे वेद सुनाना तथा पढ़ाना व्यर्थ है। इसी बात का उक्त सूत्र वर्णन कर रहा है—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च॥ ३८॥ —वे० १।३।३८

भाषार्थ—(**च**) और (**स्मृतेः**) स्मृति से भी (**श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्**) श्रवण तथा अध्ययन का प्रतिषेध पाया जाता है॥ ३८॥

इस सूत्र का वही अभिप्राय है जो हमने ऊपर वर्णन किया है। कोई व्यक्ति किसी के घर भी पैदा हुआ हो, यदि वह अर्थसहित वेद को पढ़के तदनुकूल आचरण नहीं करता तो वह शूद्र है। उसी को योग्यता का अभाव होने से वेद का सुनाना और पढ़ाना मना है। इसके ये अर्थ नहीं हैं कि जो मनुष्य शूद्र के घर पैदा होकर भी पढ़ने की योग्यता रखता हो उसको भी पढ़ने का अधिकार नहीं है।

यदि आप ऐसा मानेंगे तो—

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत।
अस्तृणाद् बर्हणा विपोर्यो मानस्य स क्षयः॥ —ऋ० ८।६३।७

भाषार्थ—जब पञ्चनद समुदाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद के साथ ऋत्विक् लोग वर्षा न होने पर वर्षा के लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं तब उन स्तुतियों को सुनकर प्रसन्नचित्त हुआ इन्द्र वर्षा के लिए मेघों को अपने बढ़े हुए वज्र से ताड़न करता हुआ सारे जगत् का ईश्वर, बल का निवास वर्षा का विस्तार करता है। इस मन्त्र का भाष्य करते हुए दुर्गाचार्य निषाद तथा शूद्रों को यज्ञ तथा वेद का अधिकार स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त पुराण तो शूद्र को यज्ञोपवीत का अधिकार भी स्वीकार करते हैं, जैसे—

कुशसूत्रं द्विजानां स्याद्राज्ञां कौशेयपट्टकम्। वैश्यानां चीरणं क्षौमं शूद्राणां शणवल्कजम्॥ ९॥
कार्पासं पद्मजं चैव सर्वेषां शस्तमीश्वर। ब्राह्मण्या कर्तितं सूत्रं त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम्॥ ११॥

—गरुड० आ० का० अ० ४३

भाषार्थ—कुश का यज्ञोपवीत ब्राह्मणों का, क्षत्रियों का रेशम का, वैश्यों का सूत का और शूद्रों का सन का होना चाहिए॥ ९॥ हे राजन्! अथवा सभी के लिए सूत का है, जो ब्राह्मणी के हाथ का कता हुआ तीन बार तिहरा किया हुआ हो॥ ११॥

इस प्रकार शूद्रों को यज्ञोपवीत का अधिकार देने से यज्ञ तथा वेद का अधिकार देना स्वयं स्पष्ट है।

महाभारत में तो 'एक ब्राह्मण ने व्याध से ब्रह्मविद्या का उपदेश लिया' ऐसा आता है। देखिए—

ब्राह्मण उवाच— **ब्रवीषि सुनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते।**
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे॥ १३॥
व्याध उवाच— **यत्तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम।**
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे॥ १५॥

—महा० वन० अ० २१०

भाषार्थ—ब्राह्मण बोला कि—तू अत्यन्त सत्य धर्मानुकूल बोलता है, जिसका बोलनेवाला कोई नहीं। तुम्हारा बड़ा दिव्य प्रभाव है। मैं तुमको ऋषि मानता हूँ॥ १३॥

व्याध बोला—जो उन ब्राह्मणों को तथा तुमको प्रिय है वह मैं हे ब्राह्मण! कहता हूँ। ब्राह्मणों को नमस्कार करके मुझसे ब्रह्मविद्या का उपदेश सुनो॥ १५॥

कहिए महाराज! यदि व्याध को वेद पढ़ने का अधिकार न था तो उसने ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या का उपदेश कैसे किया? और फिर आपके पुराण भविष्यवाणी बोलते हैं कि—

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्य्युपासकाः॥ ६४॥ —महा० वन० अ० १९०

भाषार्थ—कलियुग में शूद्र धर्म का उपदेश करेंगे और ब्राह्मण उनके उपासक होंगे॥ ६४॥

कहिएगा, शूद्र वेद पढ़े बिना ब्राह्मणों को कैसे उपदेश करेंगे? और जब पुराण कहते हैं कि कलियुग में शूद्र धर्म का उपदेश करेंगे तथा ब्राह्मण उनके उपासक होंगे फिर अब आपका शूद्रों को वेद का अधिकार न देना पुराणों से बग़ावत नहीं है तो और क्या है?

(२८५) प्रश्न—कोई भी न्यायशील, धार्मिक, विवेकी यह नहीं कह सकता कि शूद्र को वेद पढ़ाना वेदाज्ञा है और इसे पढ़ने से शूद्र का कल्याण होगा। —पृ० २९९, पं० १४

उत्तर—प्रत्येक न्यायशील मनुष्य इस बात को स्वीकार करेगा कि परमात्मा के ज्ञान वेद का मनुष्यमात्र को अधिकार है। जो मनुष्य अपने अधिकार को काम में लाकर अर्थसहित वेद को पढ़कर तदनुकूल आचरण करता है वह द्विज बन जाता है। जो वेद के पढ़ने में यत्न नहीं करता या यत्न करने पर भी नहीं पढ़ सकता वह शूद्र रह जाता है; चाहे उसका जन्म किसी के घर का भी क्यों न हो। आपके अभिप्राय के अनुसार भी जिसका जन्म शूद्र के घर का हो उसको वेद पढ़ने का निश्चय ही अधिकार है। यदि उसे अधिकार न होता तो पूर्ववर्णित व्यास आदि शूद्र से ब्राह्मण कैसे बन जाते? यदि शूद्र उन्नति करके ब्राह्मण बन जाए तो क्या उसका कल्याण नहीं है? अवश्य है, अतः वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्यमात्र को है, यही ईश्वर तथा वेद की आज्ञा है।

(२८६) प्रश्न—स्वामीजी शूद्रों को भी वेद पढ़ाना चाहते हैं। स्वामीजी इतने भोले हैं कि अपने लिखे को आप ही भूल जाते हैं। सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८ में लिख आये हैं कि '**शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके**'— सुश्रुत। और जो कुलीन, शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र-संहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे यह मत किन्हीं आचार्यों का है। फिर अपने सत्यार्थप्रकाश के पृ० २८ में लिखा है कि 'शूद्रादि वर्ण को उपनयन किये बिना विद्याभ्यास

के लिए गुरुकुल में भेज दें।' स्वामीजी ने संस्कारविधि में केवल द्विजों का ही उपनयन किया है, शूद्रों का नहीं। बिना उपनयन के वेदारम्भ होता नहीं। इस कारण उपनयन-निषेध से शूद्रों के वेदाधिकार का भी निषेध कर दिया।

—पृ० ३००, पं० २२

उत्तर—स्वामीजी वेद के अनन्य भक्त थे, उन्होंने जो कुछ वेद की आज्ञा थी, उसे संसार के सामने रक्खा कि **'यथेमां वाचम्'**—इस मन्त्र में ईश्वर की आज्ञा है कि 'वेद के पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार है।' स्वामीजी भोले नहीं हैं, आप ही वाक्छल से काम ले-रहे हैं और वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कल्पना कर रहे हैं। आप प्रकरण-विद्या से भी अनभिज्ञ हैं। स्वामीजी ने जो सुश्रुत का प्रमाण दिया है वह केवल इसलिए दिया है कि क्षत्रिय तथा वैश्य को भी यज्ञोपवीत देने का अधिकार है, ऐसा कई-एक आचार्यों का मत है। न ही यह अधिकार-अनाधिकार का प्रकरण है और न ही स्वामीजी ने अधिकार-अनधिकार-निर्णय के लिए यह प्रमाण दिया है। यज्ञोपवीत-प्रकरण में यह प्रमाण दिया है और यज्ञोपवीत के बारे में जो कुछ इस प्रमाण में है वह स्वामीजी मानते हैं। शेष वेद में अधिकार-अनधिकार का आगे प्रतिपादन करते हुए अपना सिद्धान्त **'यथेमाम्'** इस मन्त्र के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि वेद के पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार है।

रही बात सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि की, सो स्वामीजी वेदप्रतिपादित कर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानते हैं। जबतक बालक स्वयं कर्म करने में समर्थ तथा स्वतन्त्र नहीं होते तबतक उनके संस्कार माता-पिता के वर्ण के अनुकूल ही होते हैं, अतः बालकों को उनके माता-पिता के वर्ण के अनुकूल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बालकों को यज्ञोपवीत देकर विद्या आरम्भ करा दी जावेगी। इसीलिए सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास पृ० ३९ पर लिखा है कि 'प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो।' इससे स्पष्ट है कि जिनका यज्ञोपवीत घर में न हुआ हो उनका आचार्यकुल में योग्यता देखकर करवाया जाए। आपके मतानुसार भी यदि बिना यज्ञोपवीत के वेदारम्भ नहीं हो सकता तो विद्यारम्भ तो हो सकता है। विद्यारम्भ के पीछे योग्यता देखकर यज्ञोपवीत करके वेदारम्भ हो सकता है, अतः स्वामीजी के लेख में परस्पर-विरोध नहीं है। आपकी ही बुद्धि में विकार है, इसे ठीक कीजिए।

(२८७) प्रश्न—स्वामीजी लिखते हैं कि 'तुम कुवाँ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पित है।' स्वामीजी ने केवल शतपथब्राह्मण को देखा। उसमें यह श्रुति नहीं है, इस कारण कपोलकल्पित लिख दिया, किन्तु केवल शतपथ ही ब्राह्मण नहीं है, शतपथ से भिन्न भी वेदों के अनेक ब्राह्मण हैं जो इस समय मिलते नहीं। जो यह श्रुति उन ब्राह्मणों में निकल आये तब तो कपोलकल्पित नहीं है?

—पृ० ३०१, पं० १०

उत्तर—श्रीमान्जी! श्रुति तो नाम ही वेद का है। ब्राह्मणग्रन्थों का नाम श्रुति नहीं है, और चारों वेदों में यह पाठ है नहीं, अतः यह पाठ **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतिः'** कपोलकल्पित ही है। यह पाठ यदि किसी आपके कपोलकल्पित ब्राह्मणग्रन्थों में निकल भी आवे, तब भी न इसका नाम श्रुति हो सकता है और न ही वेदविरुद्ध होने से यह प्रमाण हो सकता है।

(२८८) प्रश्न—'स्तुता मया वरदा वेदमाता' यह मन्त्र तो कपोलकल्पित नहीं है। यह तो तीन ही वर्णों को गायत्री और वेद का अधिकार देता है। फिर तुम वेदाज्ञा के विरुद्ध शूद्रों को वेद पढ़ाओगे कैसे?

—पृ० ३०१, पं० १६

उत्तर—हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं कि जो मनुष्य अर्थसहित वेद पढ़कर तदनुकूल आचरण करते हैं वे द्विज कहाते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे ही शूद्र हैं, चाहे उनका जन्म किसी के घर का भी क्यों न हो। बस, यह वेदमन्त्र भी यही कहता है कि जो लोग अर्थसहित वेद पढ़कर

तदनुकूल आचरण करने से द्विज बन गये हैं वेदमाता उन्हीं को पवित्र करती है और जो लोग ऐसा न करके शूद्र रह जाते हैं उनको वेदमाता पवित्र नहीं करती। इस मन्त्र में शूद्र के घर जन्म लेनेवालों को वेद पढ़ने का निषेध नहीं है, अपितु प्रयत्न करने पर भी जो वेद न पढ़ सकें, उन शूद्रों को वेदमाता पवित्र नहीं करती, यह वर्णन है। इससे यह मन्त्र मनुष्यमात्र को वेद-अधिकार का निषेध नहीं करता, अपितु शूद्र रह जानेवालों की निन्दा करता है ताकि प्रत्येक मनुष्य द्विज बनने का यत्न करे। इसका विशेष व्याख्यान देखो (नं० २८०)।

(२८९) प्रश्न—रही बात '**यथेमां वाचं कल्याणी**' की। आज तक जितने भी वेदज्ञाता हुए उन सबने इस मन्त्र का अर्थ माना कि पूर्वमन्त्र में भूतसाधनी वाणी का वर्णन है। उस भूतसाधनी वाणी का इस मन्त्र में भी अध्याहार होता है। —पृ० २०१, पं० २३

उत्तर—आपके भाष्यों के अनुसार भी पिछले मन्त्र में जिस भूतसाधनी वाणी का वर्णन है; वह सब भूतों को सिद्ध करनेवाली वेदवाणी का ही वर्णन है, क्योंकि सब भूतों—अग्नि आदि पाँच तत्त्वों तथा सब प्राणियों के यथायोग्य स्वरूप को वेदवाणी ही सिद्ध अर्थात् वर्णन करती है। हम पिछले मन्त्र के उतने भाग तथा उसपर भाष्य को भी उद्धृत करते हैं—

मन्त्र—**सप्त सꣳसदो अष्टमी भूतसाधनी सकामाँ २ऽ॥ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना॥**
—२६।१

उव्वट—**विज्ञानात्मा वोच्यते। यस्य तव सप्तसंसदः। मनश्च बुद्धिश्च पञ्च बुद्धीन्द्रियानि च। अष्टमी च वाक् भूतसाधनी भूतप्रज्ञप्तिकरी। तं त्वां ब्रवीमि। सकामान् अध्वनः कुरु अस्माकम्। संज्ञानं च अस्तु मे मम अमुना॥ १॥**

महीधर—**विज्ञानात्मा वोच्यते। यस्य तव सप्तसंसदः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणी मनो बुद्धिश्चेति सप्तायतनानि अष्टमी भूतसाधनी भूतानि साधयति वशीकरोतीति भूतसाधनी वाक् स त्वं नोऽस्माकमध्वनः सकामान् कुरु। अमुना सह मे संज्ञानं सङ्गतमस्तु॥ १॥**

भावार्थ—अब विज्ञानस्वरूप परमात्मा का वर्णन किया जाता है। जिस आपके सात—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ज्ञानस्थान हैं, आठवीं भूतसाधनी अर्थात् भूतों का ज्ञान करानेवाली वाणी है वे आप हमारे रास्तों को—कामनाओं से पूर्ण करें। इसके साथ मेरा ज्ञान संगत हो या इस प्रकार से मुझे सम्यक् ज्ञान हो। यह मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ॥ १॥

अब आपके भाष्यों के अनुसार भी विज्ञानस्वरूप परमात्मा की वह वाणी जिससे मनुष्य को सम्यक् ज्ञान हो सके, वेद के बिना और कौन-सी हो सकती है? अतः निश्चय रूप से पिछले मन्त्र में समस्त भूतों का ज्ञान करानेवाली वेदवाणी का ही वर्णन है और आपके मतानुसार उसी वेदवाणी का ही इस '**यथेमाम्**' मन्त्र में अध्याहार है।

(२९०) प्रश्न—मनुष्य को दान देने के लिए जैसे भूतसाधनी 'भोजन दो' इस वाणी को सब मनुष्यों के लिए मैं नम्रता से कहता हूँ, ऐसे ही तुम भी कहो। यह बात यज्ञकर्ता अपने भृत्यों से कहता है। यह कल्याणकारिणी वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र तथा वैश्य स्वीयभृत्य, अतिशूद्र, से बोलो। इन सबको मधुर वचनों के साथ सुन्दर भोजन खाने को दो। मनुष्यमात्र को भोजनादि देने से मैं देवता तथा परमेश्वर का प्रिय बनूँगा। धन, पुत्रलाभ जो मेरा कार्य है यह समृद्धि को प्राप्त हो और मुझे परलोक-सुख मिले। —पृ० ३०१, पं० २६

उत्तर—यहाँ पर आकर आपके भाष्यकार और आप बौखला गये। ऊपर के मन्त्र में जो विज्ञानरूप परमात्मा का तथा सर्वभूतों का ज्ञान करानेवाली और सम्यक् ज्ञान देनेवाली वेदवाणी का वर्णन चला आता था उसे बदलकर यज्ञकर्ता की वाणी '**भोजन दो**' बना डाला। क्यों न हो, यदि ऊपरवाला ही अर्थ यहाँ कर देते तो सनातनधर्म्म की लुटिया डूब जाती और परमात्मा की

वह सम्पत्ति जोकि सबके लिए सबका कल्याण करनेवाली है और जिसपर कि सनातनधर्म के ठेकेदारों ने अकेले ही क़ब्ज़ा करके अपनी ही जायदाद समझकर सबको वञ्चित कर रक्खा था वह लुट जाती और ये ठेकेदार दूसरों के बराबर ही माने जाते तथा यह मुफ़्त की नम्बरदारी ज़ब्त हो जाती। इस नम्बरदारी की रक्षा के लिए प्रकरण को ही बदल डाला! भला हो स्वामी दयानन्दजी का कि जिन्होंने इस कल्याणी वाणी—वेदामृत को इन नाजाइज़ क़ब्ज़ा करनेवाले ठेकेदारों के क़ब्ज़े से निकालकर मनुष्यमात्र को इस कल्याणी वाणी से लाभान्वित कर दिया।

(१) कहिए महाराज! ऊपर के मन्त्र में भूतसाधनी वाणी तो ज्ञानस्वरूप परमात्मा की वर्णन की गई है, यह यज्ञकर्ता की कैसे बन गई?

(२) 'भोजन दो'—यह वाणी सर्वभूतों का ज्ञान करवाकर हमें सम्यक् ज्ञान करानेवाली कैसे होगी?

(३) दोनों मन्त्रों में वे कौन-से पद हैं जिनका अर्थ 'भोजन दो' ऐसा बनता है या घर से ही कल्पना कर ली?

(४) वास्तविक कल्याण तो मोक्ष है, 'भोजन दो' यह वाणी मोक्ष कैसे दिलाएगी जबकि ज्ञान बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता?

इन हेतुओं से स्वामीजी का अर्थ वेदवाणी ठीक है और आपकी तथा आपके भाष्यकारों की कल्पना 'भोजन दो' आपके ही लेखानुसार, प्रकरणविरुद्ध होने से सर्वथा निर्मूल तथा मिथ्या है।

(२९१) प्रश्न—मन्त्र में **'दक्षिणायै'** इससे दक्षिणा और **'दातुः'** इससे दान स्पष्ट है, अर्थात् सबको भोजन-दक्षिणा दो। —पृ० ३०२, पं० २

उत्तर—धन्य हो महाराज! **'दक्षिणायै'** का अर्थ 'भोजन' तथा **'दातुः'** का अर्थ 'दो' कोई आप-जैसा ही विद्वान् कर सकता है। तो क्या हम यह मान लें कि आपको विभक्ति का भी ज्ञान नहीं है और सुबन्त, तिङन्त का भी ज्ञान नहीं है? क्या **'दक्षिणायै'** कर्म में द्वितीय है या चतुर्थी और **'दातुः'** क्रिया है या षष्ठी का एकवचन? और 'भोजन की दक्षिणा' यह भी एक ही कही! क्या श्राद्ध का निमन्त्रण तो याद नहीं आ गया? वरना आपके यहाँ ही स्मृतियों में भोजन की दक्षिणा को पैशाची दक्षिणा लिखा है। वैदिक ग्रन्थों में संस्कारों तथा यज्ञों में तो दक्षिणा का विधान है, किन्तु भोजन पर दक्षिण का विधान नहीं है। जैसे—

सम्भोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि॥ १४१॥ —मनु० अ० ३

भाषार्थ—भोजन के साथ दक्षिणा को द्विजों ने पैशाची दक्षिणा कहा है। वह परलोक-फल नहीं देती, अपितु जैसे अन्धी गौ एक ही मकान में बन्द रहती है, वैसे ही यह दक्षिण भी इसी लोक में रहती है॥ १४१॥

और फिर क्या क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र को भी आप भोजन के साथ दक्षिणा मानते हैं? अतः इन पदों से 'भोजन-दक्षिणा दो' अर्थ की कल्पना करना अतिनिर्मूल तथा मिथ्या है।

इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥
—यजुः० २६। २

भाषार्थ—हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे **(ब्रह्मराजन्याभ्याम्)** ब्राह्मण, क्षत्रिय **(अर्याय)** वैश्य **(शूद्राय)** शूद्र **(च)** और **(स्वाय)** अपने स्त्री-सेवक आदि **(च)** और **(अरणाय)** उत्तम

लक्षण प्राप्त हुए अन्त्यज के लिए **(च)** भी **(जनेभ्यः)** इन उक्त सब मनुष्यों के लिए **(इह)** इस संसार में **(इमाम्)** इस प्रकट की हुई **(कल्याणीम्)** सुख देनेवाली **(वाचम्)** चारों वेदरूप वाणी का **(आवदानि)** उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें। जैसे मैं **(दातुः)** दानवाले के संसर्गी **(देवानाम्)** विद्वानों की **(दक्षिणायै)** दक्षिणा अर्थात् दान आदि के लिए **(प्रियः)** मनोहर, प्यारा **(भूयासन्)** होऊँ और **(मे)** मेरी **(अयं)** यह **(कामः)** कामना **(समृध्यताम्)** उत्तमता से बढ़े तथा **(मा)** मुझे **(अदः)** वह परोक्षसुख **(उपनमतु)** प्राप्त हो वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको भी प्राप्त होवे॥ २॥

भावार्थ—परमात्मा सब मनुष्यों के प्रति यह उपदेश करता है कि यह चारों वेदरूपी कल्याणकारिणी वाणी सब मनुष्यों के हित के लिए मैंने उपदेश की है। इसमें किसी को अनधिकार नहीं है। जैसे मैं पक्षपात को छोड़के सब मनुष्यों में वर्त्तमान हुआ प्यारा हूँ, वैसे आप भी होओ। ऐसा करने से तुम्हारे सब काम सिद्ध होंगे॥ २॥

इसको कहते हैं अर्थ करना। कैसा साफ़ और सीधा अर्थ है! इस मन्त्र का देवता ईश्वर है। और '**वाचम्**' शब्द मन्त्र के अन्दर ही पड़ा हुआ है। इस मन्त्र के अर्थ में न तो अध्याहार की आवश्यकता है, न ही पदों को तोड़-मरोड़ करने की। स्पष्ट होने पर भी यदि किसी को शूद्रों के लिए वेद-अधिकार वेदों में नज़र न आवे तो हम भर्तृहरि के इस श्लोक के पाठ के बिना और क्या कह सकते हैं कि—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्? इत्यादि।

(२९२) प्रश्न—जब ईश्वर निराकार है, तब वह ब्राह्मणादि मनुष्यों को वेद कैसे पढ़ा देगा?

उत्तर—परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। मनुष्यों के हृदयों में भी व्यापक है। परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा के हृदय में चारों वेदों का प्रकाश कर दिया। उन्होंने ब्रह्मा आदि सब मनुष्यों को वेद पढ़ाये (देखो वेदोत्पत्ति-प्रकरण)।

(२९३) प्रश्न—'**स्वाय**' पद का अर्थ इस मन्त्र के वेदभाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है कि 'अपनी स्त्री और सेवक को भी वेद पढ़ाता हूँ'। जब आर्यसमाज के मत में ईश्वर सर्वथा निराकार है तो फिर निराकार ईश्वर के स्त्री और नौकर कैसा? —पृ० ३०२, पं० १

उत्तर—आपने 'पढ़ाता हूँ' अपनी तरफ से घड़ लिया। स्वामीजी ने 'उपदेश करता हूँ' अर्थ किया है। क्या झूठ बोलने का आपने ही ठेका ले-रक्खा है? यहाँ पर स्त्री के अर्थ बीवी और सेवक के अर्थ नौकर नहीं है, अपितु स्त्री के अर्थ स्त्रीजाति तथा सेवक के अर्थ भक्तलोग हैं। यदि कोई आपसे पूछे कि आपके घर में कितनी स्त्री और कितने पुरुष हैं और आप उसका उत्तर दें कि मेरे घर में आठ स्त्री और आठ पुरुष हैं तो क्या इसके यह अर्थ होंगे कि आपके घर में आठ बीवी और आठ खाविन्द=पति हैं? क्या उन औरतों में आपकी, माँ, बहिन, बेटियाँ तथा पुरुषों में भाई, पुत्र, पिता आदि शामिल न होंगे? अतः सिद्ध हुआ कि यहाँ पर स्त्री के अर्थ स्त्रीजाति तथा सेवक के अर्थ पुरुषजाति है और परमेश्वर के निराकार होते हुए मनुष्यमात्र को (चारों ऋषियों के हृदय में व्यापक होते हुए चारों वेदों का प्रकाश करके उनके द्वारा) उपदेश किया। इसकी विशेष व्याख्या देखो (अवतारवाद तथा स्वामी दयानन्द)।

(२९४) प्रश्न—इस मन्त्र का देवता वाणी है। किन्तु आर्यसमाजियों ने ईश्वर बना दिया। —पृ० ३०३, पं० १

उत्तर—आपके उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का कोई देवता नहीं लिखा, अपितु उव्वट तथा महीधर ने यूँ तो लिखा है—

येऽत्र सम्बद्धा मन्त्रास्तेषां तदेवार्षम्। असम्बद्धानां तु आदित्य एव। अविनियुक्तानां

मन्त्राणां लैङ्गिको विनियोगः। यो हि यमर्थं वदितुं समर्थः स तत्र श्रुत्या विनियुज्यते। अग्नि-वायुश्चान्तरिक्षं च आदित्यश्च द्यौश्च आपश्च वरुणश्च सप्तसंसदः परमात्मोच्यते। एवमुत्तरेष्वपि योज्यम्। —यजुः० २६। १ पर उव्वट-भाष्य

भाषार्थ—जो मन्त्र लगाये=जोड़े हुए हैं उनका वही देवता है, जो नहीं लगाये हुए उनका आदित्य ही देवता है। जो मन्त्र नहीं लगाये हुए उनका लैङ्गिक विनियोग है। जो जिस अर्थ को कहने में समर्थ है वह वहाँ श्रुति से लगाया जावे। अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, आप, वरुण ये सात परमात्मा के नाम हैं। इसी प्रकार से अगले मन्त्रों में भी देवता जोड़ लेने चाहिएँ॥ २६। १॥

अब इन नियमों के अनुसार **'यथेमाम्'** का कोई देवता न होने से आदित्य ही देवता माना जाएगा और आदित्य नाम है ईश्वर का। इसलिए इस मन्त्र का देवता ईश्वर हुआ।

दूसरे, यदि लैङ्गिक देवता देवता है तो इस मन्त्र में **'वाचं'** कर्म है और **'आवदानि'** क्रिया है, ईश्वर कर्त्ता है। इसलिए कर्त्ता की प्रधानता से ईश्वर को ही देवता माना जाएगा, वाणी को नहीं। अतएव प्रत्येक अवस्था में इस मन्त्र का देवता ईश्वर ही हो सकता है, वाणी नहीं।

(२९५) प्रश्न—स्वामीजी लिखते हैं कि 'यदि ईश्वर को शूद्रों को वेद पढ़ाना न होता तो वह उनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रियाँ क्यों रचता'? श्रोत्र-इन्द्रियों तो पशु-पक्षियों के भी हैं, फिर आप उनको वेद क्यों नहीं पढ़ाते? वाक् इन्द्रिय से स्पष्ट वर्णात्मक शब्द निकालनेवाले तोता-मैना को भी वेद पढ़ने का अधिकार ईश्वर ने **'यथेमां'** मन्त्र में क्यों नहीं दिया? पूर्वकर्मानुसार वेद पढ़ने का अधिकार जिन आर्यसमाजियों को ईश्वर ने नहीं दिया, जो आज भी निरक्षर हों, उनको श्रोत्र, वाक् इन्द्रियाँ क्यों दीं? —पृ० ३०३, पं० ३

उत्तर—क़ुर्बान जाएँ आपकी मन्तक़दानी (तर्कशीलता) के! आपने तो लालबुझक्कड़ को भी मात कर दिया! क्या आपको इतना भी ज्ञान नहीं है कि मनुष्य से भिन्न सब पशु-पक्षी आदि भोग-योनियाँ हैं? वे सब पिछले कर्मों का फल भोगते हैं; आगे के लिए कोई पुण्य-पाप का कर्म नहीं करते। इसलिए उनके लिए कोई वेद-शास्त्र नहीं हैं। वेद-शास्त्र केवल मनुष्यों के लिए हैं जो कर्म करने में स्वतन्त्र हैं और अपनी इच्छा से पाप-पुण्यकर्म कर सकते हैं। इसीलिए मन्त्र में **'जनेभ्यः'** अर्थात् मनुष्यों के लिए स्पष्ट लिखा हुआ है। यदि परमात्मा ने शूद्रों के लिए वेद न बनाये होते तो वे गाय-भैंस आदि की भाँति यत्न करने पर भी वेद न पढ़ सकते और वे उनको कानों से सुन तथा मुख से उच्चारण न कर सकते, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अपितु शूद्र भी ब्राह्मण आदि की भाँति वेदों को पढ़ तथा सुन सकते हैं, अतः शूद्रों को वेद का अधिकार स्वभाव से सिद्ध है। तोता-मैना भी भोगयोनि हैं तथा वे सिवाय आवाज़ की नक़ल करने के किसी पदार्थज्ञान को नहीं जान सकते, अतः उनके लिए वेदज्ञान नहीं है। रहा मूर्ख आर्यसमाजियों का सवाल, सो उनका मनुष्योनि में जन्म लेना ही इस बात की दलील है कि उनको वेद पढ़ने का अधिकार है और उनके श्रोत्र तथा वाक् इन्द्रिय का होना ही सिद्ध करता है कि परमात्मा की ओर से इनको वेद पढ़ने का अधिकार है। यह उनका अपना क़ुसूर है कि उन्होंने अपने अधिकार का प्रयोग करके वेद नहीं पढ़े। स्वामीजी की यह दलील सर्वथा सत्य है कि मनुष्यों में से यदि किसी को परमेश्वर की तरफ़ से वेद पढ़ने का अधिकार न होता तो परमात्मा उसके वाक् तथा श्रोत्र-इन्द्रिय ही न बनाता। इससे सिद्ध है कि परमात्मा की ओर से वेद पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार है।

(२९६) प्रश्न—फिर आप लिखते हैं कि 'जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं'।

आपकी यह बात भी ग़लत है। गौ आदि कई-एक पशुओं के लिए सूर्य हितकारी है, किन्तु भैंसों के लिए घाम में चलना आफ़त हो जाती है। पक्षियों में चिड़या आदि अनेक पक्षियों को सूर्य ज्योतिवाला कर देता है, किन्तु बाज़ और उल्लू के दोनों फाटक बन्द हो जाते हैं। अग्नि में समस्त पक्षी भस्म हो जाते हैं, किन्तु एक पक्षीविशेष का अग्नि भक्ष्यपदार्थ है। इसी प्रकार भैंस आदि को जल हितकारी और बकरी-प्रभृति कई-एक पशुओं को हानिकारक है, फिर एक-सा कहाँ हुआ? —पृ० ३०३, पं० १०

उत्तर—आपने यहाँ भी वाक्छल से ही काम लिया है। यहाँ पर वेदों का प्रकरण होने से मनुष्यों का ही वर्णन है, पशु-पक्षियों का नहीं है, क्योंकि पशु भोगयोनि है और उनके लिए वेद का ज्ञान नहीं है, अतः ऋषि ने बतलाया कि जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब मनुष्यों के लिए समान लाभदायक बनाये हैं वैसे ही वेद भी मनुष्यमात्र के लिए प्रकाशित किये हैं। यद्यपि यहाँ मनुष्यों का प्रकरण होने से पशु-पक्षियों का दृष्टान्त युक्त ही नहीं है, तथापि आपने समान जातियों में सूर्य, जल, अग्नि आदि का भिन्न प्रभाव नहीं दिखाया, अपितु असमान जातियों में दिखलाया है। आपके विचार में आकृति भिन्न होने के कारण जैसे गौ और भैंस में, चिड़ी और उल्लू में तथा भैंस और बकरी में सूरत-शक्ल आदि का प्राकृतिक अन्तर है, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज आदि में भी परस्पर सूरत-शक्ल बनावट आदि में कोई अन्तर है? यदि नहीं तो मनुष्यों के प्रकरण में पशुओं की परस्पर भिन्न जातियों का दृष्टान्त कैसे संगत हो सकता है? क्योंकि मनुष्यमात्र की बनावट में कोई अन्तर न होने से सबकी एक ही जाति है। ब्राह्मण, शूद्रादि भेद कर्मों के कारण नैमित्तिक हैं जोकि परवर्तित होकर ब्राह्मण से शूद्र और शूद्र से ब्राह्मण इसी जन्म में बन सकता है, किन्तु गाय की भैंस और भैंस की गाय तथा चिड़ी का उल्लू और उल्लू की चिड़ी इत्यादि इस जन्म में नहीं बन सकते, अतः स्वामीजी का लेख युक्तियुक्त होने से सत्य तथा आपका लेख युक्तिविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है।

(२९७) **प्रश्न**—आप लिखते हैं कि 'जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है।' इस लेख से आपने यह तो मान लिया कि शूद्र को वेद पढ़ाने का निषेध वेदादि सच्छास्त्रों में आता है। —पृ० ३०३, पं० १८

उत्तर—आपने न वैदिक सिद्धान्तों को पढ़ा है और न ही मनन किया है, अतएव आपकी अक़्ल सिद्धान्तों के बारे में चक्कर खा जाती है। लीजिए, हम आपको यह भी समझा देते हैं।

वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र दो प्रकार के होते हैं—एक, सम्भावित ब्राह्मणादि; दूसरे, व्यवस्थित ब्राह्मणादि। सम्भावित ब्राह्मणादि वे बालक हैं जो ब्राह्मणादि के घरों में पैदा हुए हैं। वे स्वयं कर्म करने में असमर्थ हैं। ब्राह्मणादि माता-पिता उनकी अपनी-अपनी योग्यता तथा अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार खान-पान, पोषण-संस्कार, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करते हैं और जब वे गुरुकुल में जाने के योग्य हो जाते हैं तब उनको अपने-अपने वर्ण की मर्यादा के अनुसार ही गुरुकुल में प्रविष्ट कर देते हैं। वे बालक वयस्क न होने के कारण स्वयं स्वतन्त्रता से कोई काम नहीं करते, सब-कुछ उनके माता-पिता ही करते हैं, और बालक भी यदि कुछ करते हैं तो अपने माता-पिता की आज्ञा से उनकी आज्ञानुसार ही करते हैं, अतः ऐसी अवस्था में वे अपने माता-पिता के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामों से प्रसिद्ध रहते हैं। जिसका वास्तविक अभिप्राय यह होता है कि ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के बालक हैं। वे वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं होते, अपने माता-पिता के कारण उनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है। इसलिए उनका नाम सम्भावित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र है।

दूसरे, व्यवस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे लोग होते हैं जो गुरुकुल में शिक्षा पाने के पश्चात् विद्यासभा तथा राजसभा की ओर से गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार परीक्षापूर्वक व्यवस्था करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र निश्चितरूप से बना दिये जाते हैं।

सारांश यह है कि जो शूद्रों के बालक हैं उनका नाम सम्भावित शूद्र तथा जिनको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वे निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाते हैं। वे व्यवस्थित शूद्र हैं। जहाँ वेदों में '**यथेमाम्**' इस मन्त्र में शूद्रों को वेद का अधिकार दिया गया है वहाँ पर सम्भावित शूद्र अर्थात् शूद्रों के बालकों से अभिप्राय है और जहाँ '**स्तुता मया वरदा वेदमाता**' इस मन्त्र में आता है कि वेदमाता द्विजों को पवित्र करती है, शूद्रों को नहीं, वहाँ शूद्र से अभिप्राय व्यवस्थित शूद्र अर्थात् प्रयत्न करने पर भी जो वेद न पढ़ सकें उनसे हैं। स्मृतियों में जहाँ '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति,** शूद्र ब्राह्मण बन जाता है' यह आता है, वहाँ शूद्र से अभिप्राय सम्भावित शूद्र अर्थात् शूद्र के बालक से है और जहाँ पर यह आता है कि '**न चास्याधिकारोऽस्ति धर्मे**' शूद्र का धर्म में अधिकार नहीं है, वहाँ शूद्र से अभिप्राय व्यवस्थित शूद्र है। इसी प्रकार से सर्वत्र समझ लेना चाहिए। यदि आप इस व्यवस्था को नहीं मानते तो बतलाइए कि '**यथेमाम्**' इत्यादि वेदों में तथा '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**' इत्यादि स्मृतियों में तथा व्यास, पराशर, वसिष्ठ आदि शूद्र अन्त्यजों को पुराणों में जो वेद का अधिकार देकर ब्राह्मण तक बनने का अधिकार प्रतिपादन किया गया है, उसका क्या मतलब है? अत: स्वामीजी का यह सिद्धान्त कि मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है, वेदानुकूल होने से सर्वथा सत्य और स्मृति, पुराण, इतिहास, दर्शन भी उसकी पुष्टि करते हैं।

वेदों में स्त्रियों का अधिकार

(२९८) प्रश्न—वेद प्रथम उपनयन बतलाता है और उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन।

—पृ० ३०४, पं० ४

उत्तर—आप ठीक कहते हैं कि प्रथम यज्ञोपवीत और फिर वेद का अध्ययन होना चाहिए। चूँकि स्त्री को वेद अध्ययन का अधिकार है, अत: वेद ने स्त्री के लिए यज्ञोपवीत की भी आज्ञा दी है, जैसे—

देव एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥ —ऋ० १०।१०९।४

भाषार्थ—दिव्य शक्तिसम्पन्न, पूर्वनियमानुसार रचित सप्त ऋषि अर्थात् नाक, कान आदि इन्द्रियाँ जो ज्ञान के लिए निरन्तर गति करते रहते हैं, वे इस उपनीत ब्राह्मणी के विषय में मानो कह रही हैं कि वेदाध्येता की जाया अर्थात् पत्नी यज्ञोपवीत धारण करके भयंकर=सबला बन जाती है। अन्य दुष्टप्रकृतिवाले को भी उत्कृष्ट सुखमय अवस्था में धारण कर देती है॥४॥

इस मन्त्र से स्त्री का यज्ञोपवीत स्पष्ट होने से वेदाधिकार भी स्पष्ट है।

(२९९) प्रश्न—'उपनीय तु यः' इत्यादि [मनु० २।१४०] से सिद्ध हो गया कि उपनयन होने के अनन्तर ही वेदाध्ययन होता है और स्त्री के लिए उपनयन की विधि नहीं है, अत: स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। —पृ० ३०४, पं० ६

उत्तर—आपने वेद का नाम ऊपर लिखकर नीचे मनुस्मृति का श्लोक दे दिया। क्या मनुस्मृति वेद है? कुछ शर्म तो नहीं आती? और फिर आपने कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया जिससे यह सिद्ध हो सके कि स्त्री को यज्ञोपवीत तथा वेद का अधिकार नहीं है। रहा आपका '**उपनीय तु**' यह

श्लोक, सो यह भी सामान्य है। जैसे पुरुषों के लिए है वैसे ही स्त्रियों के लिए भी है, अर्थात्—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

—मनु० २।१४०

भाषार्थ—जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे उसे आचार्य कहते हैं॥१४०॥

यह श्लोक जैसे पुरुष को यह आज्ञा देता है कि वह बालकों को यज्ञोपवीत देकर चारों वेद पढ़ाकर आचार्य बने, वैसे ही स्त्री को भी आज्ञा देता है कि वह कन्याओं को यज्ञोपवीत देकर चारों वेद पढ़ाकर आचार्या बने।

यदि आप यह शंका करें कि 'इस श्लोक में **(यः, द्विजः, तम्, आचार्य)** पुरुषवाची शब्द हैं, स्त्रीवाची शब्द नहीं हैं, अतः पुरुष को ही आचार्य बनने का अधिकार है, स्त्री को नहीं', तो यह शंका निर्मूल है, क्योंकि कानून स्त्री-पुरुष के लिए समान होता है चाहे वह पुरुषवाची शब्दों से ही वर्णन किया गया हो, जैसे मनु में आता है कि—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥

—मनु० २।११०

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ —मनु० १।१०८

भाषार्थ—प्रातः सन्ध्या में गायत्री का जप करता हुआ सूर्य के दर्शन तक बैठे तथा सायं की सन्ध्या में बैठा हुआ तारों के नज़र आने तक गायत्री का जप करता रहे॥१०१॥ श्रुति तथा स्मृति में कहा हुआ आचार परम धर्म है। इसलिए ब्राह्मणादि द्विज को चाहिए कि वह इसमें सदा संयुक्त, अर्थात् नित्य लगा हुआ, आत्मवान् बने॥१०८॥

ये दोनों श्लोक भी **(जपन्, समासीनः, युक्तः आत्मवान्, द्विजः)** पूर्वश्लोक की भाँति ही पुरुषवाची शब्दों से कहे गये हैं। तो क्या इसका यह अभिप्राय है कि ये दोनों श्लोक भी पुरुष के लिए ही सन्ध्या करने तथा सदाचारी बनने की आज्ञा देते हैं, स्त्री के लिए नहीं? और क्या पुरुष को ही सन्ध्या करने तथा सदाचारी बनने का अधिकार है, स्त्री को नहीं? यह कदापि मानने योग्य बात नहीं है। ये तीनों श्लोक स्त्री तथा पुरुष के लिए सामान्य होने से समानाधिकार का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् जैसे पुरुष को सन्ध्या करने, सदाचारी बनने तथा आचार्य बनने का अधिकार है, वैसे ही स्त्री को भी सन्ध्या करने, सदाचारिणी बनने तथा आचार्या बनने का अधिकार है। हम इसमें आपके ही घर का एक अन्त्यन्त पुष्ट प्रमाण देते हैं। देखिए—

इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्। —अष्टा० ४।१।४९

'मातुलोपाध्याययोरानुग्वा' मातुलानी, मातुली, उपाध्यायानी, उपाध्यायी, 'या तु स्वयमेवध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' उपाध्यायी, 'आचार्याद् णत्वं च' आर्चायस्य स्त्री आचार्याणी, पुंयोग इत्येव। आचार्या स्वयं व्याख्यात्री। —सिद्धान्तकौमुदी स्त्रीप्रत्ययप्रकरण

इसमें यह स्पष्ट है कि जो उपाध्याय की स्त्री है उसका नाम उपाध्यायानी है और जो स्वयं अध्यापिका है उसका नाम उपाध्याया है। जो आचार्य की स्त्री है उसका नाम आचार्याणी है, किन्तु जो स्वयं वेदों का व्याख्यान करनेवाली है, अर्थात् स्वयं वेद पढ़ाती है, उसका नाम आचार्या है। फिर उपाध्याय किसको कहते हैं—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ —मनु० २।१४१

भाषार्थ—जो वेद के एक हिस्से को या वेद के अङ्गों को अपनी वृत्ति के लिए पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते हैं॥ १४१ ॥

इससे सिद्ध है कि वेद के एक भाग या वेद के अङ्गों के पढ़ानेवाली स्त्री का नाम उपाध्याया तथा चारों वेदों को पढ़ानेवाली स्त्री का नाम आचार्या है—

शिवपुराण भी इसकी पुष्टि करता है—

घृतस्नानं ततः कृत्वा पुत्रस्य गिरिजा स्वयम्। त्रिरावृत्तोपवीतं च ग्रन्थिनैकेन संयुतम्॥ ४२॥
सुदर्शनाय पुत्राय ददौ प्रीत्या तदाम्बिका। उद्दिश्य शिवगयत्रीं षोडशाक्षरसंयुताम्॥ ४३॥

—शिव० कोटि० रुद्र० अ० १३

भाषार्थ—स्वयं पार्वती ने गणेश को घृतस्नान करवाकर तीन लड़ी से युक्त एक ग्रन्थीवाला यज्ञोपवीत॥ ४२॥ अपने सुन्दर पुत्र को पहना दिया और सोलह अक्षरवाली शिवगायत्री का उपदेश कर दिया॥ ४३॥

अतः सिद्ध हुआ कि स्त्री को यज्ञोपवीत देने, आचार्या, उपाध्याया बनकर वेद के पढ़ाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(३००) प्रश्न—**'वैवाहिको विधिः'** इत्यादि [मनु० २।६७], इसमें स्त्रियों के लिए केवल वैवाहिक विधि ही वैदिक संस्कार कहा है। जब उपनयन आदि संस्कारों में से केवल विवाह-संस्कार ही स्त्री को कहा गया है, शेष संस्कारों का मनु निषेध करते हैं तो मनु के विरुद्ध स्त्री का उपनयन-संस्कार कैसे होगा और बिना उपनयन हुए स्त्री वेद कैसे पढ़ेगी?

—पृ० ३०४, पं० १२

उत्तर—आपने स्त्री को यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन निषेध में कोई वेदमन्त्र पेश नहीं किया और मनु के इस श्लोक के आशय को भी आप नहीं समझे। देखिए—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ —मनु० २।६७

भाषार्थ—विवाह की विधि ही स्त्रियों के लिए उपनयन-संस्कार है। पति की सेवा ही गुरुकुल-निवास है। घर का काम ही प्रातः-सायं का अग्निहोत्र है॥ ६७॥

इस श्लोक में विवाहविधि, पतिसेवा और गृहकृत्य की उत्कृष्टता दिखाई गई है। इससे उपनयन, गुरुकुल-निवास, प्रातः-सायं अग्निहोत्र करने का निषेध नहीं है।

यदि आप इस प्रकार से निषेध मानेंगे तो मनु ने माता-पिता तथा आचार्य की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ —मनु० २।२३०

भावार्थ—माता, पिता, तथा आचार्य—ये तीनों लोक हैं, वे ही तीनों आश्रम हैं, वे ही तीनों वेद हैं तथा वे ही तीनों अग्नियाँ हैं॥ २३०॥

तो क्या आप यहाँ पर यह मानने को तैयार हैं कि मनु ने तीनों लोकों, तीनों आश्रमों, तीनों वेदों तथा तीनों अग्नियों के सेवन का निषेध कर दिया है? कदापि नहीं, अपितु यहाँ पर माता, पिता, गुरु की उत्कृष्टता दिखाई है, तीनों लोक आदि का निषेध नहीं है। बस, इसी प्रकार उपर्युक्त श्लोक में भी विवाह आदि की उत्कृष्टता दिखाई है। उपनयनादि का निषेध नहीं है। जैसेकि—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ —मनु० २।६६

भाषार्थ—स्त्रियों के ये सम्पूर्ण संस्कार जो ऊपर पुरुषों के वर्णन किये हैं बिना विचारे ही कर देने चाहिएँ, अर्थात् अवश्य ही कर देने चाहिएँ। यथाकाल, यथाक्रम शरीर के संस्कार के लिए अवश्य कर देने चाहिएँ॥ ६६ ॥

यहाँ 'अमन्त्रिका' का अर्थ 'बिना वेदमन्त्रों के' ऐसा नहीं है, अपितु 'अमन्त्रिका' का अर्थ 'बिना विचार' अर्थात् 'अवश्य है,' जैसे कि—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

—मनु० ८। ३५०

भाषार्थ—चाहे गुरु हो, बालक हो, बूढ़ा हो, ब्राह्मण वा ज्ञानी हो, जो आततायी हो उसे बिना विचारे ही मार देना चाहिए॥ ३५०॥

यहाँ बिना विचारे का यह मतलब नहीं कि विचार करे ही नहीं, अपितु यह तात्पर्य है कि अवश्य ही मार दे। यही तात्पर्य उपर्युक्त श्लोक में 'अमन्त्रिका' का है।

यदि आप 'अमन्त्रिका' का अर्थ 'वेदमन्त्र-वर्जित' करके स्त्रियों के संस्कारों में वेदमन्त्रों का निषेध मानेंगे तो ऐसी अवस्था में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, इन तीन संस्कारों का क्या करेंगे, क्योंकि इनमें बालक या बालिका का निश्चय नहीं किया जा सकता। और द्विजों के गर्भाधान से लेकर सारे ही संस्कार समन्त्रक करने का विधान है, जैसे—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ —मनु० २। २६

भाषार्थ—गर्भाधान से लेकर श्मशान तक जिसकी विधि मन्त्रों से हो, उसको इस शास्त्र के पढ़ने का अधिकार है, दूसरे किसी को नहीं॥ १६॥

दूसरे, ये अर्थ मनु के सिद्धान्त के भी विरुद्ध होंगे, क्योंकि मनुजी स्त्री को यज्ञोपवीत तथा वेद पढ़ना ही नहीं मानते, अपितु यज्ञ का होता होना भी मानते हैं, जैसे—

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥ —मनु० ११। ३६

भाषार्थ—अग्निहोत्र का होता कन्या, युवती, अल्पविद्या, मूर्ख तथा संस्कारशून्य को नहीं होना चाहिए॥ ३६ ॥

यहाँ पर कन्या तथा युवती के निषेध से सिद्ध है कि वृद्ध स्त्री अग्निहोत्र की होता बन सकती है अन्यथा कन्या और युवती के निषेध की क्या आवश्यकता थी? स्त्रीमात्र का ही निषेध कर देते। और यदि स्त्रियों के संस्कारों का निषेध होता तो फिर '**असंस्कृतः**' शब्द से स्वयं ही स्त्रियों का भी निषेध हो जाता। किन्तु '**असंस्कृतः**' पद के होते हुए भी कन्या तथा युवती का निषेध सिद्ध करता है कि स्त्रियों को सम्पूर्ण संस्कारों का समन्त्रक अधिकार है और यज्ञ में भी होता बनने का अधिकार है, अतः सिद्ध हुआ कि अमन्त्रिका का अर्थ मन्त्रवर्जित नहीं, अपितु बिना विचारे अर्थात् अवश्य अर्थ है, और स्त्रियों के उपनयनादि संस्कारों तथा वेदों के पढ़ने का निषेध नहीं है। जैसे कि—

(क) अतएव हारीतेनोक्तम्—द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्य इति॥

(ख) तथा च यमः—पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षाचर्या विधीयते॥
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च।

—पराशरमाधव २ अ० आ० का० पृ० ४८५

(ऋगथर्वसूक्तसंग्रहः। संस्कृतभूषणशुचिव्रतलक्षणपालेन शास्त्रिणा संगृह्य सम्पादितः। रईसेआज़मश्रीभाईमनोहरलालमहोदयेन प्रकाशितः। विक्रमसंवत् १९८५ सप्तमं संस्करणम् २०००) पृ० ५०।

(ग) ततः शैलवरः सोपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्।
कार्यामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च॥ १॥ —शिव० रुद्र० पार्व० अ० ४७

(घ) प्रावृतां यज्ञोपवीतनीमभ्युदानयञ्जपेत्। सोमोऽदद् गन्धर्वायेति॥

—गोभिल० २।१।१८

(ङ) [1]यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी।
सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शना॥ ३०॥ —वाल्मी० युद्ध० स० ८१

(च) श्वेतचम्पकवर्णाभां रत्नभूषणभूषिताम्। वह्निशुद्धांशुकाधानां नागयज्ञोपवीतिनीम्॥ २॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति० अ० ८१

भाषार्थ—(क) इसलिए हारीत ने कहा है—स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। उनमें से ब्रह्मवादिनियों के लिए यज्ञोपवीत, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घरों में भिक्षा माँगना तथा सद्योवधू के लिए विवाह के उपस्थित होने पर किसी प्रकार से यज्ञोपवीत करके विवाह कर देना चाहिए।

(ख) तथा यम ने भी कहा है—पहले कल्प में स्त्रियों के लिए यज्ञोपवीत का विधान था। वेदों का पढ़ना तथा गायत्री का बोलना भी। पिता वा भाई वा चाचे का लड़का उसे पढ़ावे, और कोई न पढ़ावे। अपने ही घरों में कन्या का भिक्षा माँगना ठीक है और चर्मधारण, जटाधारण और वल्कल धारण नहीं करने चाहिएँ। [ये दोनों प्रमाण ऋगथर्वसूक्तसंग्रह जोकि लाहौर के भाई मनोहरलालजी रईसेआज़म ने संवत् १९८५ में सातवीं बार २००० छपवाकर मुफ़्त बाँटा है, उसके पृ० ५० से लिये गये हैं।]

(ग) उसके पश्चात् हिमाचल ने प्रेमपूर्वक उत्साह से मन्त्रों के साथ पार्वती तथा शिव का यज्ञोपवीत करवाया।

(घ) तब कन्या को कपड़े से ढककर जनेऊ पहनाकर पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमोऽददत्' मन्त्र पढ़े।

(ङ) मेघनाद ने छल से बनाई बेचारी सीता को यज्ञोपवीत-मार्ग से काट डाला। वह सुन्दरी पृथिवी पर गिरी पड़ी।

(च) सफ़ेद चमेली के रंग के समान शोभावाली रत्नों के भूषणों से भूषित साफ़ कपड़े पहिने हुए नाग के समान यज्ञोपवीत तथा वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(३०१) प्रश्न—जब स्त्रियों का उपनयन संस्कार ही नहीं कहा तो फिर वेद-अध्ययन का

---

१. **यज्ञोपवीतमाधूय भिन्ना तेन तपस्विनी।** —वारा० युद्ध० ८।३१, मद्रास-संस्करण
मेघनाद ने पहले सीता का यज्ञोपवीत तोड़ डाला और फिर उसे मार दिया। यह सीता के यज्ञोपवीत पहनने का प्रबल प्रमाण है। —सम्पादक

अपने-आप निषेध हो गया। —पृ० ३०४, पं० २०

उत्तर—हम सिद्ध कर चुके हैं कि स्त्री को यज्ञोपवीत लेने का ही नहीं, देने का भी अधिकार है। जब उपनयन का अधिकार सिद्ध हो गया तो वेदाधिकार तो स्वयं ही सिद्ध है। स्त्रियों के पढ़ने का तो कहना ही क्या है, ऋषि बनने तक का अधिकार है। परिणामस्वरूप कितनी स्त्रियाँ ऋषिका हो चुकी हैं, जिनके नाम वेद के मन्त्रों पर ऋषि के रूप में अंकित हैं।

संख्या	नाम ऋषिका	कौन-से वेदमन्त्र की	प्रतीक
१.	सार्पराज्ञी कद्रू:	यजु:० ३।६	आयङ्गौ:
२.	लोपामुद्रा	यजु:० १७।११	नमस्ते हरसे
३.	सरस्वती	यजु:० २८।२४	होता यक्षत्
४.	गायत्री	साम० पू० १।२।४।१	अग्न ओजिष्ठ
५.	वाजिनां स्तुति	साम० पू० ५।१।५।९	आविर्मर्या
६.	शस्वत्याङ्गिरस्यासङ्गस्य पत्नी	ऋ० ८।१।३४	अन्वस्य
७.	आपालात्रेयी	ऋ० ८।९१।१	कन्या वारवायती
८.	सिकता निवावरी	ऋ० ९।८६।११	अभिक्रन्दन्
९.	यमी वैवस्वती	ऋ० १०।१०।१	ओ चित्
१०.	अदितिर्वा दाक्षायणी	ऋ० १०।७२।१	देवानां नु
११.	वागाम्भृणी	ऋ० १०।१२५।१	अहं रुद्रेभि:
१२.	रात्रिर्वा भारद्वाजी	ऋ० १०।१२७।१	रात्री व्यख्यद्
१३.	इन्द्राणी	ऋ० १०।१४५।१	इमां खनामि
१४.	श्रद्धा-कामायनी	ऋ० १०।१५१।१	श्रद्धयाग्नि:

इत्यादि अनेक स्त्रियाँ मन्त्रों की ऋषिका वेदों में लिखी पड़ी हैं। मन्त्रों के अर्थों को साक्षात् करके प्रचार करनेवाले को ऋषि कहते हैं। स्त्रियों को वेदमन्त्र के अर्थ को साक्षात् करके उसके प्रचार का अधिकार है तो कौन कह सकता है कि स्त्रियों को उपनयन तथा वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है?

(३०२) प्रश्न—क्या मज़ा है, धोखेबाज़ हों तो ऐसे हों।

उत्तर—जिसको पित्त का रोग होता है, उसको दूध भी पीला ही दिखाई देता है। वरना बताया तो होता, धोखा क्या किया है? मन्त्र में अर्थ स्पष्ट रूप से किये गये हैं। जैसे आपने अपनी ही पुस्तक के पृ० ३०५, पं० ४ में दे रखे हैं—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। —अथर्व० ११।५।१८

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे **(कन्या)** कुमारी **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य-सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़, पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् **(युवानम्)** पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को **(विन्दते)** प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

—सत्यार्थ० समु० ३

कहिएगा महाराज! इन अर्थों में आपको क्या धोखा नज़र आता है?

(३०३) प्रश्न—**'ब्रह्मचर्येण युवानम्'** यह **'पतिम्'** का विशेषण है, किन्तु स्वामी 'ब्रह्मचर्येण' इस पद को कन्या में लगाते हैं, यह धोखा है। —पृ० ३०५, पं० १४

उत्तर—हमारा अनुमान सत्य ही निकला। आपकी अपनी नीयत में ख़लल है, परन्तु धोखेबाज़ औरों को बता रहे हैं। यहाँ **'युवानम्'** दोनों के साथ लग सकता है और स्वामीजी ने लगाया भी दोनों के साथ है—**'जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से'** ऐसा अर्थों में लिखा हुआ है, किन्तु आपने **'ब्रह्मचर्येण'** को **'युवानम्'** के साथ जोड़कर, फिर **'पतिम्'** का विशेषण बताकर धोखा देने की कोशिश की है। स्वामीजी का **'ब्रह्मचर्येण'** हेतु को लड़कों तथा कन्या दोनों में लगाना ठीक तथा आपका उसे विशेषण बताना सर्वथा मिथ्या है।

(३०४) प्रश्न—यहाँ पर **'युवानम्'** में **'ब्रह्मचर्येण'** हेतु है, अर्थात् ब्रह्मचर्य से युवान हुए पति को कन्या प्राप्त करती है। —पृ० ३०५, पं० १८

उत्तर—**'ब्रह्मचर्येण'** केवल **'युवानम्'** में हेतु नहीं है, अपितु **'कन्या'** में भी हेतु है, अर्थात् ब्रह्मचर्य से युक्त कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त जवान प्रति को प्राप्त करती है।

(३०५) प्रश्न—**'पतिम्'** पुल्लिङ्ग है। उसका विशेषण **'ब्रह्मचर्येण युवानम्'** यह भी पुल्लिङ्ग है। फिर कोई लिखा-पढ़ा मनुष्य यह कैसे मान लेगा कि 'ब्रह्मचर्येण' इस हेतु को कन्या में लगाओ? क्या हमको यह मानना पड़ेगा कि स्वामीजी को हेतु का ज्ञान नहीं या हम मान लें कि स्वामीजी को अभी तक लिंग का ज्ञान न हुआ? —पृ० ३०५, पं० १९

उत्तर—हमें इस बात के मानने में कोई संकोच नहीं कि स्वामीजी का लिंगविषयक ज्ञान व्याकरण तक ही सीमित था और आपने इस लिंग के विषय को बचपन से ही बड़े परिश्रम से अध्ययन करके अनुभव किया है, तथापि जब आप **'ब्रह्मचर्येण'** को हेतु मान रहे हैं और हेतु में तृतीया विभक्ति विद्यमान है तो भला फिर कोई पढ़ा-लिखा आदमी यह कैसे मान सकता है कि **'द्वितीयान्त पतिम्'** का विशेषण **'तृतीयान्त ब्रह्मचर्येण'** भी बन जावेगा? अत: होश-हवास से बात कीजिए। 'युवानं' तो 'पतिं' का विशेषण है और ब्रह्मचर्येण 'युवानं तथा कन्या' दोनों में हेतु है, क्योंकि कन्या संज्ञा होती ही उसकी है जो ब्रह्मचारिणी, अर्थात् अक्षतयोनि हो, इसमें निम्न प्रमाण है—

अकन्येति तु य: कन्यां प्रब्रूयाद् द्वेषेण मानव:॥ —मनु० ८।२२५

नेयं कन्या, क्षतयोनिरियमिति यो मनुष्यो द्वेषेण ब्रूयात्। —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—'यह कन्या नहीं है, अपितु क्षतयोनि है, ऐसा जो मनुष्य कहे'—यहाँ अकन्या का नाम क्षतयोनि तथा कन्या का नाम अक्षतयोनि है और अक्षतयोनि का वर्णन करने के लिए ब्रह्मचर्य शब्द से बढ़कर दूसरा कोई सुन्दर शब्द नहीं मिल सकता। यहाँ कन्या को ब्रह्मचारिणी कहना इसलिए भी ज़रूरी था कि विवाह के मन्त्र कन्या अर्थात्, अक्षतयोनि ब्रह्मचारिणी में ही प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा: कन्यास्वेव प्रतिष्ठिता:।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ता:॥ —मनु० ८।२२६

अर्थ—विवाह के मन्त्र कन्याओं में ही प्रतिष्ठित हैं अकन्याओं में नहीं, क्योंकि मनुष्यों में अकन्या धर्म को लुप्त करनेवाली है॥ २२६॥

कन्या के विषय में पूछने की आवश्यकता ही न रहे, इसलिए बलपूर्वक कह दिया कि जो ब्रह्मचर्य से युक्त कन्या हो, वह ब्रह्मचर्य से जवान पुरुष से ही शादी करे। सारांश यह कि ब्रह्मचारी अर्थात् अक्षतवीर्य कुमार अब्रह्मचारिणी, अर्थात् क्षतयोनि कन्या से तथा ब्रह्मचारिणी अर्थात् अक्षतयोनी कन्या अब्रह्मचारी अर्थात् क्षतवीर्य जवान पुरुष से शादी न करे। ब्रह्मचारिणी ब्रह्मचारी से तथा अब्रह्मचारिणी अब्रह्मचारी से विवाह करे यह वेद का दृढ़-नियम है, अत: 'ब्रह्मचर्येण' हेतु 'पतिम्' तथा कन्या दोनों के साथ लगाना आवश्यक था। अब अर्थ इस प्रकार होंगे कि ब्रह्मचर्य

से युक्त कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त जवान पति को प्राप्त हो। आशा है अब आपको इसके समझने में कठिनता न रहेगी।

(३०६) प्रश्न—वीर्यरक्षा का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। वीर्य पुरुषों में ही होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का साधन पुरुष ही कर सकता है। स्त्री के शरीर में वीर्य नहीं होता 'रज' होता है। रज को शास्त्र ने कहीं पर भी ब्रह्मचर्य के नाम से स्मरण नहीं किया। फिर कन्या में ब्रह्मचर्य का लगाना शास्त्रानभिज्ञता और पागलपन नहीं तो क्या है? —३०५, पं० २३

उत्तर—आप इस प्रकार के विचित्र जन्तु हैं कि आपको जो सूझती है अनोखी ही सूझती है। आप दुनियाभर में पहले आदमी हैं जिनको न्यूटन को पृथिवी में आकर्षण की भाँति यह बात सबसे पहले सूझी है कि स्त्री में वीर्य नहीं होता। वैद्यक ग्रन्थों में जो लिखा है कि मनुष्य के शरीर में रस, रुधिर, मांस, चर्बी, मज्जा, हड्डी तथा वीर्य—ये सात धातुएँ होती हैं तो स्त्री के शरीर में आपके विचार से एक धातु वीर्य होती ही नहीं, अर्थात् स्त्री के शरीर में छह ही धातु होती हैं, सातवीं होती ही नहीं? हमें दुःख से कहना पड़ता है कि आपकी यह सूझ सर्वथा मिथ्या है। स्त्री में भी वैसे ही सातों धातुएँ होती हैं जैसे पुरुष में। जैसे पुरुष में वीर्य होता है वैसे ही स्त्री में भी वीर्य होता है। बोलने-चालने में भेद प्रतिपादन के लिए स्त्री के वीर्य को ही रज के नाम से पुकारते हैं। यह रज वह नहीं होता जो स्त्री को प्रत्येक मास में प्रथम चार रात्रि में आता है तथा जिसके शुद्ध होने पर गर्भाधान की आज्ञा है। ऋतुमती होने पर चार दिन जो विकृत रक्त आता है वह और वस्तु है, और जिसका पुरुष के वीर्य के साथ मिलाप होकर स्त्री को गर्भ ठहरता है वह और वस्तु है। शास्त्रों में स्त्री और पुरुष दोनों के वीर्य का शुक्र या बीज के नाम से भी वर्णन किया है, जैसे—

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ —मनु० ३।४९

पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्री बीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। स्त्री पुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्नपुंसकं जायते। पुंस्त्रियाविति यमौ च। निःसारेऽल्पे चोभयोरेव बीजे गर्भस्यासम्भवः॥ ४९॥ —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—पुरुष के बीज अधिक होने पर अयुग्म रात्रियों में भी पुत्र ही होगा। स्त्री के बीज अधिक होने पर युग्म रात्रियों में भी कन्या ही होगी। स्त्री और पुरुष के बीज बराबर होने पर नपुंसक पैदा होता है वा लड़के-लड़की का जोड़ा। यदि स्त्री तथा पुरुष दोनों का बीज साररहित हो अथवा थोड़ा हो तो गर्भ ठहरना असम्भव है॥ ४९॥

अब यहाँ पर स्त्री तथा पुरुष दोनों को वीर्य के शुक्र तथा बीज के नाम से वर्णन किया गया है, अतः आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा मिथ्या है कि स्त्री में वीर्य नहीं होता। फिर ब्रह्मचर्य केवल वर्यरक्षा का नाम नहीं है, अपितु वीर्य की रक्षा करते हुए वेद के पढ़ने तथा ईश्वर की उपासना का नाम ब्रह्मचर्य है। इस ब्रह्मचर्य के धारण करने का स्त्री को भी अधिकार है, जैसेकि स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य शब्द आता है कि—

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम्॥ १५८॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ १६०॥
—मनु० अ० ५

शृणुयाच्चैव या नारी तद्भक्ता ब्रह्मचारिणी। पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति देववत्॥ १९८॥
—महा० शान्ति० अ० २८४

भाषार्थ—मरने तक नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहे। एक पुरुष की पत्नियों का जो उत्तम धर्म है उसकी इच्छा करती रहे॥ १५८॥ पति के मरने पर साधु स्वभाववाली स्त्री ब्रह्मचर्य में स्थिर रहते हुए बिना पुत्र के भी स्वर्ग में जाती है, जैसेकि धार्मिक ब्रह्मचारी स्वर्ग में जाते हैं॥ १६०॥ जो स्त्री स्तुति को सुने और भक्ति में मस्त ब्रह्मचारिणी रहे, वह पिता तथा पति के पक्ष में देवता के समान पूजा के योग्य होती है॥ १३२॥

कहिए महाराज! अब तो पूर्णरूप से सिद्ध हो गया कि स्त्री के साथ ब्रह्मचर्य का शब्द शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। फिर ब्रह्मचर्य शब्द को कन्या के साथ लगाने पर शंका करना शास्त्रानभिज्ञता और पागलपन है या नहीं?

(३०७) **प्रश्न**—रही बात यह कि '**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**' यह लेख किसी भी गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र में कहीं पर भी नहीं है। —पृ० ३०६, पं० ७

उत्तर—पक्षपात ने आपकी अक़्ल पर ऐसा ताला लगा दिया है कि आपको सीधी बात भी उलटी नज़र आती है। आपने यह समझ लिया कि '**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**' यह किसी वेदशास्त्र, गृह्यसूत्र वा श्रौतसूत्र का मन्त्र, सूत्र वा पाठ है। श्रीमान्‌जी! ऐसा नहीं है। यदि यह अक्षरशः किसी पुस्तक का पाठ होता तो स्वामीजी इसका ठिकाना नोट कर देते। स्वामीजी ने कर्मकाण्ड के पुस्तकों का यह अभिप्राय लिखा है कि यज्ञ में स्त्री को मन्त्र उच्चारण करने पड़ते हैं, यदि स्त्री को वेद का अधिकार न होता तो यज्ञ में उसको मन्त्र-उच्चारण का अधिकार क्यों दिया जाता? स्वामीजी के लेख को तनिक ध्यान से पढ़ने की कृपा करें—

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें?

उत्तर—अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में—**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**, अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेद आदि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके? —सत्यार्थ० समु० ३

इससे स्पष्ट है कि '**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**' इस पाठ के देने से स्वामीजी का यह अभिप्राय नहीं है कि उपर्युक्त पाठ अक्षरशः श्रौतसूत्रादि में है, अपितु स्वामीजी का यह अभिप्राय है कि श्रौतसूत्रादि में स्त्री को यज्ञ में मन्त्र उच्चारण की आज्ञा विद्यमान है और स्वामीजी की यह बात सोलह आने ठीक है कि यज्ञ में स्त्री को वेदमन्त्रों के बोलने की आज्ञा और अधिकार श्रौतसूत्रादि पुस्तकों में विद्यमान है। ध्यानपूर्वक पढ़ने की कृपा करें—

(१) कात्यायनश्रौतसूत्र—

प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहमजानीति। (का० २०।६।१४)।

भाषार्थ—पशु के प्राणों के शुद्ध होने पर यजमान की पत्नी घोड़े के पास सोती है और '**आहमजानि**' इत्यादि [यजुः० २३।१९] मन्त्र को बोलती है, (देखो इसी मन्त्र का महीधर-भाष्य)।

(२) कात्यायनश्रौतसूत्र—

अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। —का० २०।६।१६

भाषार्थ—यजमान की स्त्री घोड़े के लिंग को योनि में डालकर '**वृषा वाजी**' इत्यादि [यजुः० २३।२०] इस मन्त्र को बोले, (देखो इसी मन्त्र का महीधर-भाष्य)।

(३) गोभिलगृह्यसूत्र—

पश्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवञ्जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्तयन्तीं वाचयेत्—प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति। —गोभिल० २।१।१९

भाषार्थ—अग्नि के पीछे स्थापित कर या इसी प्रकार का अन्य आसन कन्या के पैर से लेकर अग्नि के समीप बिछाये हुए बर्हि तक ले आवे, उस समय वधू को '**प्र मे**' मन्त्र का पाठ करावे।

(४) आश्वलायनश्रौतसूत्र—

वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि। —आश्व० श्रौ० १।११।१

भाषार्थ—वेद पत्नी को देकर होता वा अध्वर्यु यह मन्त्र बुलवावे—'**वेदोऽसि वित्तिरसि**' इत्यादि।

(५) ऋग्विधान—

इमामिति जपेत् कन्या नाभिमालभ्य नित्यशः॥ ११७॥

एवमेव जपेद्भर्ता ततो दीर्घायुषौ नु तौ॥ ११८॥

—शौनकाचार्यकृत ऋग्विधान अ० ३ खं० २२

भाषार्थ—'**इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः**' इत्यादि [ऋ० १०।८५।४५]। कन्या नाभि का स्पर्श करके इस मन्त्र का जप करे। ऐसे ही पति भी जप करे तो निश्चय से दोनों की दीर्घायु हो जावेगी।

(६) ऋग्विधान—

इमामिति त्रिसूक्तेन दशकृत्वो दशावरम्। सपत्नीं बाधते तेन पतिश्चातीव मन्यते॥ ६३॥

—शौनकाचार्यकृत ऋग्विधान अ० ४ खं० १२

भाषार्थ—'**इमाम्**' इत्यादि ऋग्वेद के इस सूक्त को यदि दश वार जपें तो सौत को हानि पहुँचावे तथा उसका पति भी उसका आदर करे।

(७) चारों वर्ण की स्त्रियों को वेदाधिकार—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां स्त्रीजनेश्वर।

यथाक्रमेण पूज्यैनां गन्धपुष्पजलाक्षतैः॥ ८२॥

कुंकुमालक्तकैर्दीपैर्माषान्नवटकैः शुभैः।

कुसुमैर्वत्सकञ्चापि मन्त्रेणानेन पाण्डव॥ ८३॥

"ओं माता रुद्राणा दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट" नमो नमः स्वाहा॥ ८४॥

इत्थं सम्पूज्य गां पृष्ट्वा पश्चात्तां च क्षमापयेत्॥ ८५॥ —भविष्य० उ० अ० ६९

भाषार्थ—हे राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की स्त्रियाँ क्रमशः इस गौ को गन्ध, पुष्प, जल, अक्षत से पूजा करके और कुंकुम, पुष्पयुक्त दीपक तथा उड़द अन्न की बड़ियों से तथा फूलों से गौ की बछड़े समेत '**ओं माता रुद्राणाम्**' मन्त्र से पूजा करके पीछे गौ को विसर्जन करे। यह ऋग्वेद का [मं० ८ सूक्त १०१ मं० १५] मन्त्र है। जब चारों ही वर्णों की स्त्रियों को इसके उच्चारण का अधिकार है तो कौन कह सकता है कि स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है?

(८) वेश्या को वेदाधिकार—

कोऽदादिति पठेन्मन्त्रं ध्यायंश्चेतसि माधवम्।

ततः प्रदक्षिणीकृत्य विसृजेद् द्विजपुङ्गवम्।

शय्यासनादिकं सर्वं ब्राह्मणस्य गृहं नयेत्॥ ५४॥ —भविष्य० उत्तर० अ० १११

भाषार्थ—वेश्या को चाहिए कि वह '**को अदादिति**' इस वेदमन्त्र को पढ़े और माधव का

चित्त में ध्यान करके फिर ब्राह्मण की प्रदक्षिणा करके उसे उसके घर भेज दे और शय्या, आसन आदि सब ब्राह्मण के घर पहुँचा देवे॥५४॥ यह मन्त्र यजुर्वेद [७।४८] का है। जब वेश्या को भी इसके उच्चारण का अधिकार है तो कौन कह सकता है कि स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है?

(९) शिव द्वारा पार्वती को मन्त्रोपदेश—

उपदिष्टास्त्वया देव मन्त्राः सप्रणवा मताः।

तत्रादौ श्रोतुमिच्छामि प्रणवार्थं विनिश्चितम्॥२१॥ —शिव० केलास० अ० २

भाषार्थ—पार्वती ने शिव से कहा कि हे देव! आपने जो प्रणवसहित मन्त्रों का मुझे उपदेश किया है, इनमें से मैं पहले प्रणव का अर्थ निश्चितरूप से सुनना चाहती हूँ॥२१॥

शिव का पार्वती को मन्त्रोपदेश करना स्त्रियों के वेदाधिकार को स्पष्ट सिद्ध करता है—

(१०) राधा-कृष्ण के विवाह में—

श्रीकृष्णहस्तं राधायाः पृष्ठदेशे प्रजापतिः।

स्थापयामास मन्त्रास्त्रीन् पाठयामास राधिकाम्॥१२६॥

पुटाञ्जलिं कारयित्वा माधवं राधिकां विधिः॥१२९॥

पाठयामास वेदोक्तान् पंच मन्त्राँश्च नारद॥१३०॥ —ब्रह्मवैवर्त्त० खण्ड ४ अ० १५

भाषार्थ—ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के हाथ को राधा की पीठ पर रखवाकर तीन मन्त्र राधा को पढ़ाये॥१२६॥ फिर ब्रह्मा ने कृष्ण तथा राधा की पुटाञ्जलि करवाकर॥१२९॥ वेद के पाँच मन्त्र दोनों को पढ़ाये॥१३०॥

जब ब्रह्मा ने स्वयं राधा को वेदमन्त्र पढ़ाये तो कौन कह सकता है कि स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है?

(३०८) प्रश्न—स्त्रियों को केवल मन्त्रभाग के पढ़ने का निषेध है, अन्य शास्त्रों का नहीं। गार्गी प्रभृति जितनी भी विदुषियाँ भारतवर्ष में हुई हैं वे सब शास्त्रों की विदुषियाँ थीं, किन्तु मन्त्रभाग से सबकी-सब अनभिज्ञ थीं। फिर स्त्रियों का वेद पढ़ना तो इतिहास से भी सिद्ध नहीं।

—पृ० ३०६, पं० १५

उत्तर—आपका यह लिखना कि 'स्त्रियों को केवल मन्त्रभाग के पढ़ने का निषेध है' यह सिद्ध करता है कि ब्राह्मणभाग के पढ़ने का स्त्रियों को अधिकार है, तो क्या आप ब्राह्मणभाग को वेद नहीं मानते? यदि मानते हैं तो आपके कथन से ही स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार सिद्ध हो गया। फिर आपने स्वयं अपने पुस्तक के पृष्ठ २९७, पं० २२ पर लिखा है कि 'वेद ने जिन वर्णों को यज्ञ करने का अधिकार दिया है, उन्हीं को वेद पढ़ने का भी अधिकार दिया है' और फिर आप पृ० ३३७, पं० १९ में लिखते हैं कि 'अग्निहोत्र बिना स्त्री के होता नहीं' तो इससे आपके कथन से ही स्त्री को वेद का अधिकार सिद्ध हो गया।

आप अपनी पुस्तक के पृ० २७२, पं० २ पर स्वयं लिखते हैं कि इस **(आयं गौः)** मन्त्र का सर्पराज्ञी कद्रू ऋषि है और ऋषि कहते ही उसको हैं जो वेद के तत्त्व को जानता हो, अतः आपके लेख से ही स्त्री को वेद का अधिकार सिद्ध हो गया।

(१) 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' इत्यादि [अथ० ६।१२२।५]।

ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियाँ यज्ञ के योग्य हैं॥४॥

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥ —ऋ० ८।३१।५

स्त्री-पुरुष को इकट्ठे प्रसन्नतापूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिए॥५॥

ये दोनों मन्त्र बतलाते हैं कि स्त्री-पुरुष को इकट्ठे, मिलकर यज्ञ में शामिल होना चाहिए।

(२) यजमानः सपत्नीकः पुत्रपौत्रसमन्वितः।
पश्चिमं द्वारमासाद्य प्रविशेद् यागमण्डपम्॥ १६॥ —भवि० म० भाग० २ अ० २०

यजमान अपनी पत्नी तथा पुत्र-पौत्रसहित पश्चिम द्वार को प्राप्त होकर यज्ञमण्डप में प्रवेश करे॥ १६॥

(३) इसी विधि को पूरा करने के लिए राम ने सोने की सीता बनवाई—

कांचनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि॥ २५॥ —वाल्मी० उत्तर० स० ९१

न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः।
यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत्॥ ७॥ —वाल्मी० उत्तर० स० ९८

यज्ञकर्म की दीक्षा में सीता के स्थान में सोने की पत्नी बनाओ॥ २५॥ सीता के पश्चात् राम ने दूसरी पत्नी स्वीकार नहीं की। प्रत्येक यज्ञ में पत्नी के स्थान में सोने की सीता रक्खी जाती थी॥ ७॥

(४) कौसल्या तथा द्रौपदी यज्ञ में—

होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा॥ ३५॥ —वाल्मी० बाल० स० १४

ततः संज्ञाप्य तुरगं विधिवद्याजकास्तदा। उपसंवेश्यन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम्।
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम्॥ २॥ —महा० अश्वमे० आ० ८९

इन श्लोकों में कौसल्या को दशरथ के साथ तथा द्रौपदी को युधिष्ठिर के साथ यज्ञ के कर्मों में प्रयुक्त किया जाना स्पष्ट है।

(५) कौसल्या का हवन करना—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥ १५॥ —वाल्मी० अयोध्या० स० २०

धर्मनित्या यथाकालमग्न्यागारपरा भव।
देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय॥ १८॥ —वाल्मी० अयो० स० ५८

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥ १४॥ —वाल्मी० अयो० स० ७५

भाषार्थ—जब राम कैकेयी के महलों से कौसल्या के हमलों में पहुँचा तब वह कौसल्या अतसी के वस्त्र पहने प्रसन्नचित्त व्रतपरायण होकर मङ्गलार्थ वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र कर रही थी॥ १५॥ राम ने वन से सारथी के हाथ कौसल्या को सन्देश दिया। हे देवि! नित्यधर्म का पालन करते हुए समयानुसार अग्निहोत्र का पालन करना। और देव दशरथ के पाँवों को ईश्वर की भाँति पूजना॥ १८॥ जब भरत मामा के घर से आया तब कौसल्या ने कहा—अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को साथ लेकर सुखपूर्वक अग्निहोत्र को आगे करके वहीं चली जाऊँगी जहाँ राम है॥ १४॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम्।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्॥ ३३॥ —वाल्मी० अयो० स० ४

पुत्र के अभिषेक को सुनकर कौसल्या ने प्राणायाम द्वारा ईश्वर का ध्यान किया॥ ३३॥

(६) सीता का सन्ध्या तथा अग्निहोत्र करना—

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥ ४९॥ —वाल्मी० सुन्दर० स० १४
वैदेही शोकसंतप्ता हुताशनमुपागमत्॥ २५॥ —वाल्मी० सु० स० ५३
गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्॥ १॥
प्रगृह्य शिरसापात्रीं हविषो विधिवत्ततः।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले॥ २॥ —वाल्मी० अयो० स० ६

भाषार्थ—हनुमान् सीता को ढूँढते-ढूँढते जब अशोकवाटिका में पहुँचे तब प्रातः अनुमान किया—सन्ध्या का काल हो जाने से सन्ध्या करने के लिए वह श्यामा, सुन्दरी सीता इस शुद्ध जलवाली नदी पर अवश्य आवेगी॥ ४९॥ जब हनुमान्जी के पकड़े जाने का समाचार सीता को मिला तो—सीता शोक से दुःखित होकर अग्निहोत्र करने चली गई॥ २५॥ पुरोहित ने अभिषेक का समाचार सुनाया तो—पुरोहित के चले जाने पर राम ने स्नान किया और मन को एकाग्र करके अपनी सुन्दर नेत्रोंवाली पत्नी सीता के साथ प्रथम सन्ध्या की॥ १॥ फिर प्रतिष्ठापूर्वक सामग्री के पात्र को लेकर विधि-अनुसार परमात्मा की आज्ञा पालन के लिए घृत से अग्नि का हवन किया॥ २॥

(७) कैकेयी वेदज्ञाता थी—

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह॥ ६१॥ —वाल्मी० अयो० स० १४

तब मन्त्रों को जाननेवाली कैकेयी ने सुमन्त्र को कहा।

(८) द्रौपदी पण्डिता थी—

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत्॥ २॥ —महा० वन० अ० २७

भाषार्थ—प्रेम के योग्य, दर्शन के योग्य, पण्डिता और पतिव्रता द्रोपदी ने धर्मराज से ये वचन कहे।

(९) स्त्री को योगाधिकार तथा संन्यासाधिकार—

सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम्। भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम्॥ १२॥
ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम्। पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत्॥ १४॥
अथ भुक्तवता प्रीत्या राजानं मन्त्रिभिर्वृत्तम्। सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी॥ १५॥
सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया। सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः॥ १६॥
नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः। सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह॥ १७॥
जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्। प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम॥ १८॥
—महा० शान्ति० अ० ३२०

भाषार्थ—वह योगिनी संन्यासिनी सुलभा जनसमूह से पूर्ण मिथिला में भिक्षा के उद्देश्य से राजा जनक के पास गई॥ १२॥ तब राजा ने उसका स्वागत करके श्रेष्ठ आसन दिया। पाँव धोकर उसकी पूजा की तथा श्रेष्ठ अन्न से उसको तृप्त किया॥ १४॥ प्रेम से भोजन करके मन्त्रियों से युक्त राजा को सब भाष्य जाननेवालों के मध्य में उस संन्यासिनी ने प्रेरणा की॥ १५। सुलभा को संशय हुआ कि यह राजा धर्मों में युक्त हैं वा नहीं। योग के जाननेवाली अपने सत्त्व से राजा के सत्त्व में प्रवेश कर गई॥ १६॥ तब उस सुलभा ने अपने नेत्रों की ज्योति से राजा के नेत्रों की ज्योति को वश में करके योग बन्धनों से राजा को बाँधकर प्रेरणा की॥ १७॥ राजा जनक ने भी मुस्कराते

हुए भाव को विशेष रूप से जानकर अपने भाव से उसके भाव को ग्रहण कर लिया॥ १८॥

(१०) स्त्री को राज्याधिकार—

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि॥ ४५॥ —महा० शान्ति० अ० ३

भाषार्थ—जिनके लड़का न हो वहाँ पर कन्या का राज्याभिषेक कर दो। कामनाओं की आशा करनेवाला स्त्रीवर्ग होता है। उनके शोक को तू इस प्रकार कम कर सकेगा॥ ४५॥

(११) स्त्री को युद्धाधिकार—

प्रिये गच्छ रणं शीघ्रं हरिनागरमास्थिता। मम वेषं शुभं कृत्वा तारकं जहि मा चिरम्॥ १९९॥
तदा वेला महाशत्रुं तारकं बलवत्तरम्। छित्वा शस्त्राणि खड्गेन शिरः कायादपाहरत्॥ २०६॥
—भविष्य० प्रति सर्ग० ख० २ अ० ३२

भाषार्थ—ब्रह्मा ने अपनी स्त्री वेला से कहा कि हे प्यारी! तू घोड़े पर चढ़कर शीघ्र युद्धस्थल में जा। वेष धारण करके तारक को मार, देर मत कर॥ १९९॥ तब वेला ने महाशत्रु बलवान् तारक के शस्त्रों को अपने खड्ग से तोड़-फोड़कर उसके शिर को धड़ से अलग कर दिया॥ २०६॥

(१२) चारों वेदों की पण्डिता स्त्री—

कुशध्वजस्य पत्नी च देवी मालावती सती। सा सुषाव च कालेन कमलांशां सुतां सतीम्॥ ३॥
सा च भूतलसम्बन्धाज्ज्ञानयुक्ता बभूव ह। कृत्वा वेदध्वनिं स्पष्टमुत्तस्थौ सूतिकागृहे॥ ४॥
वेदध्वनिं सा चकार जातमात्रेण कन्यका। तस्मात्तां ते वेदवतीं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५॥
सततं मूर्त्तिमन्तश्च वेदाश्चत्वार एव च। सन्ति यस्याश्च जिह्वाग्रे सा च वेदवती स्मृता॥ ६४॥
—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० १४

भाषार्थ—कुशध्वज की धर्मपत्नी मालावती नाम की सती स्त्री थी। कुछ समय के पश्चात् उसने कमला के अंश सतीपुत्री को पैदा किया॥ ३॥ वह जन्म लेते ही पृथिवी के सम्बन्ध से ज्ञानवाली हो गई। प्रसूतिगृह में वेद की स्पष्ट ध्वनि करके खड़ी हो गई॥ ४॥ वह कन्या पैदा होते ही वेद की ध्वनि करने लगी। इस कारण से वे बुद्धिमान् लोग उसको वेदवती कहने लगे॥ ५॥ निश्चय से चारों वेद मूर्त्तिमान होकर सदा उसकी जिह्वा के अग्रभाग में रहते थे। इसलिए उसका नाम वेदवती था॥ ६४॥

(१३) अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणी वेदपारगा। अधीत्य सकलान् वेदान् लेभेऽसन्देहमक्षयम्।
—महा० उद्योग० अ० १०९ श्लो० १८-१९

भाषार्थ—यहाँ पर शिवा नामवाली सिद्धा ब्राह्मणी वेदों का पार पानेवाली सब वेदों को पढ़कर अक्षय विश्वास को प्राप्त हुई। (१८-१९)॥

कहिए महाराज! अब तो स्त्रियों का वेदाध्ययन-अधिकार वेद, स्मृति, शास्त्र, इतिहासादि सबसे सिद्ध हो गया। कहिए, अब और क्या शंका है?

विवाह-काल

(३०९) प्रश्न—सोलह संस्कारों का वर्णन वेद में नहीं है, न ही धर्मशास्त्रों में उनका विधान है। जब समस्त सोलह संस्कारों का विधान स्मार्त है तो विवाह भी स्मृति-प्रतिपाद्य ही हुआ।
—पृ० ३३५, पं० ९

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा कि सोलह संस्कारों का वर्णन वेदों में नहीं है सर्वथा ग़लत है। वेदों में सोलह संस्कारों के करने की आज्ञा तथा सोलह संस्कारों का मूल विद्यमान है। उसी मूल के आधार पर धर्मशास्त्रों तथा गृह्यसूत्रों ने विस्तारपूर्वक संस्कारों की व्याख्या की है।

सोलह संस्कारों के करने की आज्ञा—

षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ —यजुः० ८।३३

भाषार्थ—सोलह संस्कारों से युक्त परमैश्वर्य देनेवाले गृह-आश्रम करने के लिए तुझे आज्ञा देता हूँ॥ ३३॥

इस मन्त्र में परमेश्वर ने गृहस्थों के लिए सोलह संस्कारों के करने की स्पष्ट आज्ञा दी है।

अब हम आपको सोलह संस्कारों का मूल वेदो में से दिखाते हैं—

(१) गर्भाधान संस्कार—

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत्॥ —अथर्व० कां० ५ सूक्त २५ मं० १

भाषार्थ—जननेन्द्रिय गर्भ में वीर्य का धारणा करनेवाला है। जननेन्द्रिय वीर्य के कारणरूप मेरुदण्ड, मस्तिष्क और प्रत्येक अङ्ग से इकट्ठे हुए वीर्य को बाण में पंख की तरह योनि में धारण कराता है॥ ११॥

(२) पुंसवन संस्कार—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रिष्वा भरामसि॥ —अथ० ६।११।१

भाषार्थ—घोड़े के सदृश बलवान् मनुष्य शान्त स्वभाववाली स्त्री पर आरोहण कर चुका है। इसलिए यह पुंसवन संस्कार किया गया है। यह संस्कार ही सन्तान-प्राप्ति करानेवाला है। वही संस्कार हम स्त्रियों का करते हैं॥ १॥

(३) सीमन्तोन्नयन संस्कार—

राकामहं सुहवां सुष्टुती हवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ —ऋ० २।३२।४

भाषार्थ—मैं दान देनेवाली, अच्छी प्रकारसे बुलाये जाने योग्य स्त्री को अच्छी स्तुति द्वारा बुलाता हूँ। वह उत्तम ऐश्वर्यवाली मेरे आह्वान को सुने और अपने आत्मा से मुझे अच्छी प्रकार समझे। जैसे बारीक सूई से वस्त्र के छिद्रों को सीकर पूरा कर लेते हैं, वैसे ही वह भी हमारे प्रजनन-कर्म को अच्छे प्रकार सी दे और बलवान्, सैकड़ों प्रकार से दानादि देनेवाले प्रशंसनीय पुत्र मुझे दे॥ ४॥

(४) जातकर्म संस्कार—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ —ऋ० ५।७८।९

भाषार्थ—हे परमात्मन्! दश महीने तक माता के उदर में सोनेवाला सुकुमार जीव प्राण धारण करता हुआ जीती हुई अपनी माता से बिना किसी दुःख के अर्थात् सुखपूर्वक बाहर निकले॥ ९॥

(५) नामकरण संस्कार—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ —यजुः० ७।२९

भाषार्थ—हे बालक! तू प्रकाशरूप है। अतिशय प्रकाशरूप है। तू परमात्मा का रस है। तू आत्मा नामवाला है। जिस तेरे नाम को हम जानते हैं, जिस तुझे शान्तिदायक पदार्थों से हम तृप्त करते हैं। परमात्मा की कृपा से अनेक गुणयुक्त सन्तानों से मैं सुन्दर सन्तानवाला होऊँ। वीर सन्तानों से अच्छे वीरों से युक्त होऊँ। अन्य पोषणीय भृत्यादि से सुन्दर पोषण, रक्षा करनेवाला होऊँ॥ २९॥

(६) निष्क्रमण संस्कार—

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ —अथ० ८।२।१५

भाषार्थ—हे बालक! तेरे लिए ओषधियाँ कल्याणकारी हों। मैं तुझे अन्दर से बाहर लाया हूँ। प्रकाशमान् सूर्य और चन्द्रमा दोनों तेरी रक्षा करें॥ १५ ॥

(७) अन्नप्रकाशन संस्कार—

अन्नपतेऽ न्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ —यजुः० ११।८३

भाषार्थ—हे अन्न के स्वामी परमात्मन्! रोगरहित, बलकारक अन्न को हमारे लिए दीजिए, हमें बढ़ाइए। हमारे भृत्यों और गौ आदि पशुओं के लिए भी बलकारक अन्न दीजिए॥ ८३॥

(८) मुण्डन संस्कार—

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥ —अथ० कां० ६ सू० ६८ मं० २

भाषार्थ—अखण्डित अर्थात् तेज़ छुरा केशों को काटे। जल वेगयुक्त स्वभाव से केशों को गीला करे। सन्तान का पालक पिता इस बालक को दीर्घ जीवन तक देखने के लिए रोग को निवृत्त करे॥ २॥

(९) कर्णवेध संस्कार—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि। अकर्त्तामश्विना लक्ष्य तदस्तु प्रजया बहु॥
—अथ० ६।१४१।२

भाषार्थ—धातु के शस्त्र से दोनों कानों को छेदे। वैद्य उस शोभावर्धक कार्य को करें। वह प्रजा के कल्याण का निर्वाह करनेवाला हो॥ २॥

(१०) उपनयन संस्कार—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः॥
—अथ० ११।५।३

भाषार्थ—ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत देनेवाला आचार्य अपने अन्दर करता है। उस ब्रह्मचारी को अपने उदर में तीन रात्रि तक रखता है। जब वह ब्रह्मचारी द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है तब उसे देखने के लिए सब विद्वान् सब ओर से इकट्ठे होते हैं॥ ३॥

(११) वेदारम्भ संस्कार—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्। यथेह पुरुषोऽ सत्॥ —यजुः० २।३३

भाषार्थ—हे विद्यादान से रक्षा करनेवाले पुरुषो! तुम जिस प्रकार यह ब्रह्मचारी इस संसार में शारीरिक और आत्मिक बल प्राप्त कर विद्या और पुरुषार्थयुक्त मनुष्य होवे उस प्रकार गर्भ के समान कोमल, विद्याग्रहण के लिए पुष्पों की माला धारण किये हुए ब्रह्मचारी को स्वीकार करो॥ ३॥

(१२) समावर्त्तन संस्कार—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ —अथ० ११।५।६

भाषार्थ—तेज से प्रकाशित कृष्णचर्म धारण करता हुआ, व्रत के अनुकूल आचरण करनेवाला और बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला ब्रह्मचारी प्रगति करता है। वह लोगों को इकट्ठा करता हुआ बारम्बर उनको उत्साह देता है और पूर्व से उत्तर समुद्र तक शीघ्र ही पहुँचता है॥६॥

(१३) विवाह संस्कार—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥
—अथ० ११।५।१८

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥
—अथ० १४।१।५१

भाषार्थ—ब्रह्मचारिणी कुमारी ब्रह्मचर्य-सम्पन्न युवा पति को प्राप्त करती है। ब्रह्मचर्य-बल सम्पन्न होने पर ही वृषभ और अश्वसंज्ञक पुरुष भोग्य पदार्थों का भोग कर सकते हैं॥१८॥ हे वरानने! ऐश्वर्ययुक्त मैं तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूँ। धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूँ। तू धर्म से मेरी पत्नी है। मैं तेरा स्वामी हूँ॥५१॥

(१४) वानप्रस्थ संस्कार—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती॥१॥
—ऋ० १०।१४६।१

भाषार्थ—यह वन-वन में घूमनेवाला वानप्रस्थ गाँवों से दूर प्राप्त होता है, अर्थात् गाँवों में नहीं रहता, उनसे दूर रहता है। तू नगरों तथा गाँवों में जाने की बात या दशा को क्यों नहीं पूछता? तुझे इस निर्जन वन में घूमते हुए क्या भय नहीं लगता है?॥१॥

(१५) संन्यास संस्कार—

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे॥
—अथ० १९।४३।१

भाषार्थ—जिस लोक को वेदवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी, संन्यासी लोग अहिंसा, सत्यभाषण आदि व्रतों से और तप के द्वार प्राप्त करते हैं, सर्वाग्रणी प्रभु मुझे उसी अवस्था में पहुँचाए और मुझमें सदसद्विवेकिनी उत्तम बुद्धि को धारण कराए॥१॥

(१६) अन्त्येष्टि संस्कार—

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते। शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥
—अथ० १८।३।७१

भाषार्थ—हे अग्ने! इस मृतदेह को प्राप्त हो और तेरा हरण-सामर्थ्य तेजस्वी हो। इस प्राणी के मृत शरीर को जला दे, और इसे पुण्यात्माओं के लोक=स्वर्गलोग में धारण कर॥७१॥

आपने देख लिया कि जैसे और संस्कारों का वेद में वर्ण है वैसे ही विवाह संस्कार का भी वेद में वर्णन है, अतः और संस्कारों की भाँति विवाह भी वैदिक ही है, केवल स्मार्त नहीं है।

(३१०) प्रश्न—स्मृतियों में विवाह-काल निम्न प्रकार से वर्णित है, पढ़कर देखिए—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥१॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २॥

[अंगिरास्मृति में अनुपलब्ध परन्तु संवर्तस्मृति में ये ६६-६७वें श्लोक हैं। —सं०]—आंगिरास्मृति

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति। मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम्॥ ७॥

यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः। असम्भाष्यो ह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः॥ ९॥

—पराशरस्मृति अ० ७

तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्।
विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते॥ ६८॥ —संवर्तस्मृति

यावन्तः ऋतवस्तस्याः समतीयुः पतिं विना।
तावन्त्यो भ्रूणहत्याः स्युस्तस्य यो न ददाति ताम्॥ —नारदस्मृति १२। २६

कन्या द्वादशवर्षाणि याऽ प्रदत्ता वसेद् गृहे।
ब्रह्महत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्स्वयम्॥ —यमस्मृति [अनुपलब्ध—सं०]

भाषार्थ—आठ वर्ष की कन्या की गौरी और नौ वर्ष की कन्या की रोहिणी तथा दश वर्ष की कन्या की कन्या संज्ञा होती है। दश वर्ष पश्चात् कन्या रजोधर्मवाली होती है। माता, पिता तथा ज्येष्ठ भाई यदि रजस्वला होने तक कन्या का विवाह न करें तो ये तीनों नरक को जाते हैं। **—अंगिरा**

जो बारहवें वर्ष में कन्या का विवाह नहीं करता उस कन्या के जो मास-मास में ऋतुधर्म द्वारा शोणित प्रस्रवित होता है, उस शोणित को उसके पितर स्वयं पीते हैं। बारह वर्षकी कन्या होने के पश्चात् जो वर ब्राह्मण कन्या से विवाह करता है, वह मदमोहित है। उसके साथ में कभी न बोलना चाहिए, उसको पंक्ति में भोजन न खिलाना चाहिए, उसको वृषलीपति समझो। **—पराशर**

कन्या को ऋतुमती होने से पहले विवाह दे और कन्या के अष्टम वर्ष में विवाह करना बहुत ही श्रेष्ठ है। **—संवर्त**

पति के बिना कन्या की जितनी ऋतुएँ बीतती हैं, उतनी ही भ्रूणहत्या का पाप उसको लगता है, जो ऋतुकाल से पहले कन्या का विवाह नहीं करता। **—नारद**

बारह वर्ष तक बिना ब्याही हुई कन्या के घर में रहने से उस कन्या के माता-पिता को ब्रह्महत्या लगती है, इसके पश्चात् कन्या को स्वयंवर द्वारा विवाह करने का अधिकार है। **—यम**

उत्तर—आपकी ये सम्पूर्ण स्मृतियाँ तथा उनके श्लोक वेदविरुद्ध होने से कपोलकल्पित और मिथ्या हैं, क्योंकि वेद स्त्री तथा पुरुषों को जवान आयु में विवाह करने की आज्ञा देते हैं—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥ —अथर्व० ११।५।१८

भाषार्थ—ब्रह्मचर्य्य से युक्त कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त जवान पति को प्राप्त होती है।

फिर वेद कहता है कि—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभि रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥ —ऋ० २।३५।४

भाषार्थ—जैसे जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त शुद्ध जवान कन्याएँ ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण शुभलक्षणयुक्त जवान पति को अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। वह ब्रह्मचारी शुद्धगुण और वीर्य आदि से युक्त होके हमारे मध्य में अत्यन्त

श्रीयुक्त कर्म को और अपने तुल्य युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे अन्तरिक्ष वा समुद्र में जल को शोधन करनेहारा स्वयंप्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान परन्तु भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री-पुरुष प्राप्त होवें॥ ४॥

मनुस्मृति भी इसकी पुष्टि करती है—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ —मनु० ९।९०

भाषार्थ—कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्षपर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ बार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ —मनु० ९।८९

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें और कन्या ऋतुमती भी घर रहे परन्तु गुणहीन के साथ कभी भी विवाह न करना चाहिए, अर्थात् सदृश गुण-कर्म-स्वभाववालों का ही विवाह होना योग्य है।

सुश्रुत भी इसका विस्तृतरूप से वर्णन करता है कि—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ ४७॥
जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ ४८॥

—[वर्तमान संस्करणों में श्लोकसंख्या ५९-६० है। —सं०] सुश्रुत, शरीरस्थान अ० १०

भाषार्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ की स्थापना करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता, अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता॥ ४७॥ अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अति बाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भस्थापन न करे॥ ४८॥

आपकी स्मृतियों के प्रमाण वेदविरुद्ध होने से निष्फल ही हैं, क्योंकि—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

—मनु० १२।९५-९६

भाषार्थ—जो स्मृतियाँ वेदविरुद्ध हैं और भी जो कोई कुशिक्षा देनेवाले ग्रन्थ हैं, वे सब-के-सब संसार-विषयक तथा परलोक-विषयक निष्फल हैं, क्योंकि वे अज्ञान में स्थित हैं॥ ९५॥

जो वेद से बाहर स्मार्तग्रन्थ हैं वे चाहे जो कोई हों, पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वे सब नवीनकालिक होने के कारण निष्फल और झूठे हैं॥ ९६॥

इस सिद्धान्त के अनुकूल आपके दिये प्रमाणों तथा स्मृतियों की गति वेदविरुद्ध होने से निष्फल तथा असत्य है। इसके अतिरिक्त ये प्रमाण असम्भव तथा परस्पर विरोध-दोष से दूषित हैं—

(१) आपने अर्थ करते हुए आठ तथा नौ वर्ष की लड़की का नाम भी कन्या ही माना है, फिर गौरी और रोहिणी संज्ञा कहाँ गई और कन्या संज्ञा में क्या विशेषता हुई?

(२) मनु० ९।८९ '**कन्यर्तुमत्यपि**' कहकर मरने तक ऋतुमती की भी कन्या ही संज्ञा मानी है, जब प्रत्येक अवस्था में लड़की का नाम कन्या है तो आपकी संज्ञाएँ व्यर्थ हुईं।

(३) 'रजोदर्शन के रक्त को प्रत्येक मास में पितर पीते हैं'—क्या यह भी कोई स्वधा पदार्थ है और इसमें पितरों का क्या कुसूर? आपने पितरों की भी अच्छी दुर्गति बनाई!

(४) उधर तो आप बारह वर्ष की कन्या के साथ शादी करनेवाले ब्राह्मण को पंक्ति से निष्कासित करने की धमकी देते हैं, इधर बारह वर्ष से पीछे कन्या को स्वयंवर रीति से विवाह की आज्ञा देते हैं।

(५) उधर तो मनुजी [९।८९] माता-पिता को आज्ञा देते हैं कि कन्या को अयोग्य वर से न विवाहा जाए, चाहे कन्या मरने तक कुमारी रहे, इधर विवाह न करनेवाले को नारकी, ब्रह्महत्यारा और गर्भघातक बतलाया जा रहा है।

इत्यादि हेतुओं से ये समस्त श्लोक अत्यन्त दूषित हैं, अतः इन स्मृतियों का यह कथन कि 'ऋतुमती होने से पहले कन्या की शादी करे' वेद तथा युक्तिविरुद्ध होने से अधर्म है, क्योंकि वेद की आज्ञा है कि 'ब्रह्मचर्य से युक्त जवान लड़की का ब्रह्मचर्य से युक्त जवान लड़के से विवाह हो', यह धर्म है।

(३११) प्रश्न—और भी प्रमाण पढ़िए—

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥ —मनु० ९।९४

भाषार्थ—तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की मनोहर कन्या के साथ ब्याह करे अथवा चौबीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की कन्या को विवाहे, वह शीघ्र ही धर्म में दुःख पाता है।
—पृ० ३३७, पं० ११

उत्तर—श्रीमान्जी! यह श्लोक तो हमारी ही पुष्टि करता है कि जो आदमी ३० वर्ष की आयु में बारह वर्ष की कन्या से तथा २४ वर्षवाला ८ वर्ष की कन्या से विवाह करेगा वह गृहस्थ धर्म में शीघ्र ही दुःख पावेगा, क्योंकि वेद से विरुद्ध काम का नाम पाप होता है और पाप का फल दुःख है। जब वेद जवान आयु में लड़का-लड़की के विवाह की आज्ञा देता है तो कम आयु में शादी करनेवाला अवश्य ही दुःख पावेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? वेद की आज्ञा है कि—

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ —ऋ० ३।५५।१६

भाषार्थ—जो दुही नहीं हैं ऐसी गौवों की तरह अविवाहित, बालकावस्था से रहित, सब उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेवाली, कुमारावस्था का उल्लंघन कर यौवनावस्था को प्राप्त होती हुई नवीन-नवीन शिक्षा से युक्त विद्वानों द्वारा दिये गये विज्ञान को प्राप्त, पूर्ण शिक्षित युवतियाँ गर्भ धारण करें॥ १९॥

इससे सिद्ध है कि वेद स्त्रियों का युवावस्था में विवाह होना मानता है, बालावस्था में नहीं।

(३१२) प्रश्न—जो द्विज चौबीस वर्ष की अवस्था में वेदाध्ययन छोड़े उसको आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना योग्य है, क्योंकि वेदाध्ययन छोड़ने से दूसरे दिवस ही अग्निहोत्र लेना पड़ेगा और अग्निहोत्र बिना स्त्री के होता नहीं, इस कारण आठ वर्ष की कन्या से विवाह होना शास्त्र ने लिखा है। इस बात को मनु ने भी स्पष्ट कर दिया है। तीस वर्ष की अवस्था में जो वेदाध्ययन छोड़े वह बारह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे। —पृ० ३३७, पं० १७

उत्तर—कहिए महाराज! क्या ब्रह्मचारी अध्ययन-अवस्था में अग्निहोत्र नहीं करता जो उसे वेदाध्ययन छोड़ने पर दूसरे ही दिन अग्निहोत्र लेना पड़ता है? यह आपकी बात सर्वथा बनावटी है। जब ब्रह्मचर्य-अवस्था में बिना स्त्री के अग्निहोत्र कर सकता है तो अध्ययन छोड़ने पर अकेले

को अग्निहोत्र करने में क्या मनाही है? और जो भीष्म की भाँति आयुभर ब्रह्मचारी रहना चाहे, क्या उसे स्त्री के बिना अग्निहोत्र करना मना होगा? देखिए—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्। आसमावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥

—मनु० २।१०८

भाषार्थ—उपनयन करने से लेकर समावर्तन संस्कार तक द्विज को चाहिए कि वह अग्निहोत्र, भिक्षाचरण, नीचे सोना और गुरु का हित करता रहे॥१०८॥

आपकी यह प्रतिज्ञा तो निराधार है, क्योंकि ब्रह्मचारी को प्रत्येक अवस्था में बिना स्त्री के अग्निहोत्र करने का अधिकार है।

आपका यह लिखना कि 'अग्निहोत्र बिना स्त्री के होता नहीं' स्त्री को अग्निहोत्री, यज्ञ तथा वेदाध्ययन का अधिकार सिद्ध करता है।

फिर यदि आपकी बात मान भी ली जाए कि 'वेदाध्ययन छोड़ने पर अग्निहोत्र लेने के लिए स्त्री से विवाह करना ज़रूरी है' तो तीस वर्षवाला बीस वर्ष की कन्या से तथा चौबीस वर्षवाला सोलह वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है। यह क्या आवश्यक है कि बारह और आठ वर्ष की कन्या से ही विवाह करे और इसमें क्या प्रमाण है? जब वेद युवा तथा युवती का ही विवाह होना बताता है तो बालकावस्था का विवाह वेदविरुद्ध होने से पाप तथा दुःख का कारण है। जैसाकि मनु ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'तीस वर्ष का बारह वर्ष की से तथा चौबीस वर्षवाला आठ वर्ष की कन्या से विवाह करके गृहस्थधर्म में दुःख पाता है'। आपका इस श्लोक से यह भाव निकालना सर्वथा ग़लत है कि जो तीस वर्षवाला बारह वर्ष से कम आयुवाली कन्या से चौबीस वर्षवाला आठ वर्ष से कम आयुवाली कन्या से विवाह करेगा वह गृहस्थ धर्म में दुःख पावेगा, अपितु वही अर्थ ठीक है जो हमने किया है, क्योंकि बारह तथा आठ वर्ष की आयु में कन्या का विवाह करना वेदविरुद्ध होने से पाप है। जैसे—

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥ —ऋ० १०।१८३।२

भाषार्थ—हे वधू! सौन्दर्ययुक्त अपने शरीर का ऋतुकालीन संयोग चाहती हुई तुझको मैं मन से चाहता हूँ। हे सन्तान चाहनेवाली वधू! अत्यन्त तरुणावस्थासम्पन्न तू मुझे विवाह द्वारा प्राप्त कर और सन्तानोत्पत्ति कर॥२॥

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि जवान स्त्री उस समय विवाह करे जब वह ऋतुस्नाता होकर पुत्र की कामना से गर्भ धारण करने को तैयार हो। बारह तथा आठ वर्ष की कन्या उक्त प्रकार की होती ही नहीं, अतः आठ तथा बारह वर्ष की लड़की का विवाह वेदविरुद्ध होने से पाप है।

(३१३) प्रश्न—शास्त्र कन्याओं का विवाह थोड़ी उम्र में और पुरुषों का विवाह अधिक उम्र में लिखता है। —पृ० ३३७, पं० २०

उत्तर—'**ब्रह्मचर्येण कन्या**' इत्यादि वेद के मन्त्रों में स्पष्ट वर्णन है कि जवान कन्या जवान पति से ही शादी कर सकती है, वृद्ध से या अयुवा से नहीं, जैसाकि आपके शास्त्रों में भी वृद्ध-विवाह की निन्दा लिखी है—

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः॥ —महा० सभा० ६३।१५

भाषार्थ—वह मन्दबुद्धि दुर्योधन कल्याण की ओर नहीं ले-जाया जा सकता, जैसे वेदपाठी की दुराचारिणी स्त्री। दुर्योधन धृतराष्ट्र की बात को वैसे ही नहीं मानता जैसे कुमारी साठ वर्ष

के बुड्ढे को पति बनाना नहीं चाहती॥ १५॥

[गीताप्रेस-संस्करण में यह श्लोक ६४।१४ पर है। —सं०]

जब वृद्ध पिप्पिलाद ने अनरण्य राजा से युवती पद्मा को भार्यार्थ माँगा तो—

रुरोद राजा सगणो दृष्ट्वा विप्रं जरातुरम्॥ २०॥

राजा सर्वान् परित्यज्य दत्वा वृद्धाय चात्मजाम्। ग्लानिं चित्ते समाधाय जगाम तपसेवनम्॥ ३३॥

तद्भार्यापि वनं याते प्राणनाथे तदा गिरे। भर्त्तुश्च दुहितुश्शोकात्प्राणाँस्तत्याज सुन्दरी॥ ३४॥

—शिव० रुद्र० पार्वती अ० ३४

भाषार्थ—मन्त्रियोंसहित राजा ब्राह्मण की वृद्धावस्था को देखकर रो पड़ा॥ २०॥ राजा वृद्ध को कन्या देकर तथा सब-कुछ त्यागकर, चित्त में ग्लानि को धारण करके वन को चला गया॥ ३३॥ उसकी स्त्री भी पति के वन जाने पर पति तथा पुत्री के शोक से प्राणों को छोड़ गई॥ ३४॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वृद्धविवाह को शास्त्र अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए आपकी यह प्रतिज्ञा कि पुरुषों का विवाह अधिक आयु में ठीक है, वेद तथा शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। जवान लड़की का जवान पति से ही विवाह वेद-शास्त्रसम्मत है।

(३१४) प्रश्न—शास्त्र ने यह भी लिखा है कि स्त्रियों का विवाह यदि अधिक उम्र में किया जाए तो रजस्वला होने के पहले हो, इसके बाद शास्त्रसम्मत नहीं। भारतवर्ष में गर्मी-सर्दी की अधिकता और न्यूनता से देश-भेदानुसार कन्या रजस्वला शीघ्र और देर में होती है, अतः समस्त देशों में रजस्वला होने से पहले ही विवाह की विधि है। —पृ० ३३७, पं० २१

उत्तर—आपके समस्त लेख का सार यह है कि अधिक-से-अधिक कन्या का विवाह रजस्वला होने से पूर्व हो जाना चाहिए, किन्तु आपकी यह प्रतिज्ञा वेद तथा शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि विवाह का एक बड़ा भारी प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है, वह रजस्वला होने से पहले पूर्ण हो नहीं सकता, अतः ऋतुकाल से पूर्व विवाह का करना व्यर्थ है। देखिए—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।

—ऋ० १०।८५।४२

भाषार्थ—विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए ईश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहस्थ-आश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो, विरोध करके अलग कभी मत होओ। सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगो। अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो॥ ४२॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है जो रजस्वला होने से पहले सिद्ध नहीं हो सकता, अतः रजस्वला होने से पूर्व विवाह करना वेदविरुद्ध तथा निष्प्रयोजन है।

(३१५) प्रश्न—विवाह अन्य जातियों की भाँति स्त्री-सुख का साधन नहीं, क्योंकि धर्मशास्त्रों ने इस संस्कार को भुक्ति और मुक्ति का दाता माना है। —पृ० ३३७, पं० २६

उत्तर—श्रीमान्जी! भुक्ति के क्या अर्थ हैं? कहीं इसके अर्थ स्त्रीसुख तो नहीं है? खैर, आपने विवाह के बड़े प्रयोजन का जिक्र ही नहीं किया। लीजिए, हम आपको विवाह के प्रयोजन बतलाते हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः॥ —मनु० ९।२६

उत्पादनमपत्यस्य॥ —मनु० ९।२७

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥

—मनु० ९।२८

भाषार्थ—सन्तान पैदा करना स्त्रियों की महाभाग्यता है॥ २६॥ सन्तान का पैदा करना विवाह का प्रयोजन है॥ २७॥ सन्तान पैदा करना, धर्म के काम, सेवा तथा उत्तम रति, अपना और पितरों का सुख स्त्री, अर्थात् विवाह के अधीन है॥ २८॥

(३१६) प्रश्न—पुरुष के उपनयन-संस्कार का अष्टम वर्ष से आरम्भ होकर द्वादश वर्ष तक समय रहता है। स्त्रियों का उपनयन-संस्कार है नहीं, किन्तु उपनयन-संस्कार के स्थान में विवाह-संस्कार है। इस कारण स्त्रियों के विवाह का समय पुरुषों के उपनयन के होने से मिलता-जुलता रक्खा है और यही शास्त्रों का अभिप्राय भी है। —पृ० ३३८, पं० २

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा ग़लत है कि स्त्री का यज्ञोपवीत नहीं है, क्योंकि वेद कहता है कि '**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**' इस मन्त्र में स्त्री को यज्ञोपवीत की आज्ञा है (देखो नं० २९८)। जब स्त्री को उपाध्याया, आचार्या तथा ऋषि बनने और यज्ञ करने-कराने का अधिकार है तो कौन कह सकता है कि स्त्री को यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं है? अत: आपकी इस प्रतिज्ञा के खण्डन से आपके सारे ताने-बाने का खण्डन हो गया। यद्यपि आपका सम्पूर्ण लेख वेदविरुद्ध है तथापि आपके लेखानुसार भी कन्या के विवाह का समय ५ से २४ वर्ष तक सिद्ध हो जाता है। इससे आपकी दोनों मर्यादाएँ कि 'ऋतु के पीछे शादी करनेवाला नारकी, ब्रह्महत्यारा और गर्भघातक होता है' और 'आठ तथा बारह वर्ष से पूर्व विवाह करनेवाला गृहस्थ में दु:ख पाता है' खण्डित हो जाती हैं, क्योंकि यज्ञोपवीत का समय ५ से २४ वर्ष तक है, जैसे—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥
आषोडषाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते। आद्वाविंशात्, क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥

—मनु० २। ३७-३८

भाषार्थ—ब्रह्मतेज की कामनावाले ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में यज्ञोपवीत हो। बल की कामनावाले क्षत्रिय का छठे और धन की कामनावाले वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत हो॥ ३७॥ सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की सावित्री अर्थात् यज्ञोपवीत का समय अतिक्रमण नहीं होता। क्षत्रिय का बाईस वर्ष तथा वैश्य का चौबीस वर्ष तक यज्ञोपवीत का समय अतिक्रमण नहीं होता॥ ३८॥

इससे स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत ५ वर्ष से २४ वर्ष तक किया जा सकता है, अत: आपके मत में कन्या का विवाह भी पाँच वर्ष से चौबीस की आयु तक किया जा सकता है। चूँकि वेद कन्या का विवाह युवावस्था में करने की आज्ञा देता है और युवावस्था सोलह से पूर्व कन्या की होती नहीं, अत: सोलह से कम आयु में कन्या का विवाह वेदविरुद्ध होने से निषिद्ध तथा १६ तथा १६ वर्ष से २४ तक वेदानुकूल होने से ठीक है। वाह! वाह!! कैसी बढ़िया बात हुई—

'आप अपने जाल में सय्याद आ गया'।

(३१७) प्रश्न—शास्त्रों ने यह काल विवाहकाल नियत किया है। यह सहवासकाल नहीं। सहवासकाल स्त्री की सोलह वर्ष की अवस्था से पाया जाता है। —पृ० ३३८, पं० ७

उत्तर—अजी महाराज! जिनका नाम आपने शास्त्र मान रखा है उनकी तो चुप ही भली है। आपके शास्त्रों में तो इसी अवस्था में सन्तानोत्पत्ति होने की भविष्यवाणी विद्यमान है। तनिक देखिए—

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप॥ ६०॥
दशद्वादशवर्षाणां पुंसा पुत्रः प्रजायते॥ ६१॥ —महा० वन० अ० १८८
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते॥ ४९॥
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा॥ ५०॥ —महा० वन० अ० १९०

भाषार्थ—सात तथा आठ वर्ष की स्त्रियाँ गर्भधारण करनेवाली होंगी ॥ ६० ॥ दश तथा बारह वर्ष के पुरुषों के पुत्र पैदा होंगे ॥ ६१ ॥ पाँचवें या छठे वर्ष में कन्या प्रसूता बनेगी ॥ ४९ ॥ सात वा आठ वर्ष के पुरुष औलाद पैदा करेंगे ॥ ५० ॥

यह तो है आपके शास्त्रों की अवस्था, जिनकी कोई एक सम्मति ही नहीं है, अतः इनकी बात तो रहने दीजिए। आपने विवाहकाल में तथा सहवासकाल में जो अन्तर रक्खा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया। क्या कोई शास्त्र विवाहकाल और सहवासकाल में आठ वर्ष वा चार वर्ष का अन्तर मानता है? यदि कोई प्रमाण हो तो पेश करो वरना आपके यहाँ तो विवाह-पद्धतियों के साथ स्थान-स्थान में चतुर्थीकर्म की विधि दी है, जिसके अर्थ हैं चौथी रात्रि में गर्भाधान करना—

अथातश्चतुर्थीकर्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, **'अतः'** इत आरभ्य **'चतुर्थीकर्म'** विवाहरात्रितः चतुर्थ्यातिथौ करणीयम् वच्मीति शेषः ॥ १ ॥ (सामश्रमी)

भाषा—अब चतुर्थी कर्म को, जो विवाह की रात से चतुर्थी तिथि को होता है, कहता हूँ ॥ १ ॥

ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके। यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

—गोभिलगृह्यसूत्र प्र० २ खं० ५ सू० १, ७, ८

भाषार्थ—विवाह-रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्य में व्यतीत कर चौथी रात्रि में स्त्री-प्रसंग करे, यह कई-एक आचार्यों का मत है।

गोभिल के मत से नवोढा पत्नी पति के घर पर आकर पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उसका शोणितवेग कम होगा वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम संगमकाल होगा ॥ ७,८ ॥

तामुदुह्य यथर्तुप्रवेशनम् ॥ ७ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण तां वधूमुदुह्य विवाहयित्वा विवाहकर्मणा भार्यात्वं सम्पाद्य यथर्तुप्रवेशनमृतुकालमृतुकालं प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादिति शेषः ॥

—पारस्करगृह्यसूत्र, काण्ड १, कण्डिका ११ हरिहरभाष्य

भाषार्थ—इस प्रकार से विवाह करके प्रत्येक ऋतुकाल में उसके साथ समागम करे ॥ ७ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं द्वादशरात्रम् ॥ ७ ॥ —आश्वलायन० १ । ८ । ११

भाषार्थ—विवाह के तीन रात या बारह रात्रि के पीछे समागम करे ॥ ११ ॥

गृह्यसूत्रेषु तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥ ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भवः। तथा च स्मृतयः—

विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वमागता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके ॥

—निरुक्त पं० शिवदत्त शर्म्मा महामहोपाध्यायकृत
'कुहस्विद् दोषा' इत्यादि पर टिप्पणी—पृ० २२२-२३

भाषार्थ—गृह्यसूत्रों में आता है कि स्त्री और पुरुष दोनों विवाह से लेकर तीन रात खारा तथा नमकीन न खाते हुए ब्रह्मचारी रहकर इकट्ठे पृथिवी पर सोएँ। तीन रात पीछे समागम करें और स्मृतियाँ कहती हैं कि विवाह से निवृत्त होने के पीछे चौथे दिन रात्रि को पति के साथ पिण्ड, गोत्र तथा सूतक में एक हो जाती हैं।

यह हमने चतुर्थीकर्म का नियम दिखलाया कि विवाह से चौथी रात्रि में गर्भाधान का विधान गृह्यसूत्रों में विद्यमान है। इसी विधि के अनुसार शिवजी ने हिमाचल के घर में ही पार्वती का

गर्भाधानसंस्कार किया, जैसाकि—

चतुर्थे दिवसे प्राप्ते चतुर्थीकर्म शुद्धितः। बभूव विधिवद्येन विना खण्डित एव सः॥ २२॥

—शिव० रुद्र० पार्वती० अ० ५३

भाषार्थ—चतुर्थी कर्म की शुद्धि से चौथा दिन आने पर बिना किसी नियम के भंग किये विधिपूर्वक शिव ने पार्वती से समागम किया॥ २॥

पाँच पाण्डवों के द्रौपदी के साथ पाँच दिन में फेरे हुए। प्रत्येक रात्रि में उसके साथ प्रत्येक का समागम हुआ, जैसे—

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम्।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्द्धनाः॥ १३॥
इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद देवर्षिरतीतमानुषम्।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥ १४॥

—महा० आदि० अ० १९४[1]

भावार्थ—इसी क्रम से पाण्डु-पुत्रों ने उत्तम स्त्री द्रौपदी के हाथ को एक-एक दिन में ग्रहण किया। वे पाण्डव उत्तम रूप के धारण करनेवाले महारथी तथा कौरवों के वंश की वृद्धि करनेवाले थे॥ १३॥

उसमें एक अद्भुत बात अत्युत्तम रूप से देवर्षि ने कही जो मनुष्यों के ज्ञान से अतीत थी कि वह महानुभावा युवती, सुन्दरी, द्रौपदी प्रत्येक दिन गुजरने पर कन्या ही हो जाती थी॥ १४॥

हम पहले लिख आये हैं कि कन्या का अर्थ अक्षतयोनि है। ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि जब द्रौपदी के पाँच दिन में पाँचों पाण्डवों से फेरे हुए तो प्रतिदिन जिसके साथ फेरे होते थे वही रात्रि में द्रौपदी के साथ समागम करके उसके कन्यात्व को नष्ट कर देता था। तभी तो महाभारतकार को लिखना पड़ा कि वह प्रत्येक दिन में कन्या ही हो जाती थी। यदि उसका कन्यात्व समागम से खण्डित न किया जाता तो यह लिखने की क्या आवश्यकता थी कि वह प्रतिदिन कन्या ही हो जाती थी?

इन सम्पूर्ण प्रमाणों से यह सिद्ध है कि चतुर्थी कर्म, अर्थात् गर्भाधान विवाह का आवश्यक अङ्ग है, अतः ऐसे समय में विवाह होना चाहिए जब कन्या गर्भाधान के योग्य हो और वह समय १६ वर्ष है, अतः सिद्ध हुआ कि कन्या का विवाह-कम-से-कम १६ वर्ष की आयु में होना चाहिए, अतः आपका विवाहकाल तथा सहवासकाल में ४ वा ८ वर्ष का अन्तर वेद तथा गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थों के सर्वथा विरुद्ध है।

चतुर्थीकर्म के अतिरिक्त विवाह के साथ ही गर्भाधान

ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि ब्रह्माजी जब राधा और कृष्ण की शादी करवाकर गये तभी कृष्ण ने राधा का गर्भाधन-संस्कार किया, जैसे—

गते ब्रह्मणि सा देवी सस्मिता वक्रचक्षुषा॥ १३७॥
सा ददर्श हरेर्वक्त्रं चच्छाद व्रीडया मुखम्॥ १३८॥
करे धृत्वा च तां कृष्णः स्थापयामास वक्षसि।
चकार शिथिलं वस्त्रं चुम्बनं च चतुर्विधम्॥ १४८॥
शृङ्गाराष्टविधं कृष्णश्चकार कामशास्त्रवित्॥ १५२॥ —ब्रह्मवैवर्त० खण्ड ४ अ० १५

१. गीताप्रेस-संस्करण में ये श्लोक अध्याय १९७ में हैं। —सं०

भाषार्थ—ब्रह्मा के चले जाने पर उस राधा देवी ने टेढ़ी आँख से॥ १३७॥ कृष्ण के मुख को देखा तथा लज्जा से मुख छिपा लिया॥ १३८॥ कृष्ण ने उसको हाथ से पकड़कर बग़ल में बिठा लिया। और उसकी साड़ी ढीली कर दी तथा उसे चार प्रकार से चूमा॥ १४८॥ कामशास्त्र के जाननेवाले कृष्ण ने आठ प्रकार से राधा के साथ शृङ्गार किया॥ १५२॥

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला से गान्धर्व विवाह करते ही गर्भाधान किया, जिससे भरत पैदा हुआ, जैसेकि—

जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः॥ २०॥ —महा० आदि० अ० ७३

भाषार्थ—दुष्यन्त ने शकुन्तला का विधिपूर्वक हाथ ग्रहण किया और वहाँ पर कण्व के आश्रम में ही उसके साथ सोया और उसको विश्वास दिलाकर वह चला और बार-बार बोला॥ २०॥

जब पराशर ने सत्यवती से गान्धर्व विवाह किया तो किश्ती में उसी समय गर्भाधान किया जिससे व्यासजी पैदा हुए, जैसाकि—

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता। जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा॥ ७७॥
—महा० आदि० अ० ६३ [गीताप्रेस-संस्करण में ६३।८१ पर उपलब्ध। —सं०]

भाषार्थ—तब वर प्राप्त करके प्रीति से स्त्री के भावों से भूषित सत्यवती उस अद्भुत कर्मवाले पराशर से संसर्ग को प्राप्त हुई॥ ७७॥

जब सूर्य ने कुन्ती से गान्धर्व विवाह किया तो तत्काल की कुन्ती में गर्भाधान किया, जिससे कर्ण पैदा हुआ। जैसाकि—

एवमुक्त्वा स भगवान् कुन्तिराजसुतां तदा॥ १७॥
प्रकाशकर्त्ता तपनः सम्बभूव तया सह॥ १८॥ —महा० आदि० अ० ११०

भाषार्थ—यह कहकर प्रकाश करनेवाले भगवान् सूर्य ने कुन्ती के साथ समागम किया॥ १७-१८॥

इससे सिद्ध है कि विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है, अतः कन्या का विवाह ऐसी अवस्था में होना चाहिए जब वह सन्तान उत्पन्न करने के योग्य हो। आठ वा बारह वर्ष की कन्या सन्तान उत्पन्न करने के योग्य नहीं होती, अतः उसका विवाह व्यर्थ है।

(३१८) प्रश्न—इतिहास में १६ वर्ष से पहले भी गर्भस्थिति हुई है, ऐसा भी लेख मिलता है। इस विषय में अभिमन्यु, उत्तरा प्रभृति के अनेक उदाहरण हैं। फिर हम किस तरह से मान लें कि सन्तान कमज़ोर होती है? परीक्षितादि थोड़ी अवस्था के रहने पर भी जो गर्भ में आये वह कमज़ोर नहीं थे। —पृ० ३३८, पं० ९

उत्तर—आपको यह मालूम होना चाहिए कि इतिहास वहीं तक प्रमाण होता है जहाँ तक वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के अनुकूल हो। जहाँ इतिहास वेद तथा वेदानुकूल स्मृति के विरुद्ध होगा वहाँ वह धर्म के विषय में प्रमाण नहीं हो सकता। यदि युधिष्ठिर ने जुआ खेला तो युधिष्ठिर ने उसका फल पाया, किन्तु वेदविरुद्ध होने के कारण वह धर्म में प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार चूँकि वेद की आज्ञा है कि युवा कन्या नवयुवक से विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे, अतः यदि इतिहास में कोई ऐसे प्रमाण भी हों कि जिनसे यह सिद्ध हो सके कि किन्हीं लोगों ने छोटी अवस्था में विवाह करके गर्भाधान-संस्कार किया, तो भी वे वेद के विरुद्ध होने से धर्म में प्रमाण नहीं माने जा सकते।

अब रही बात अभिमन्यु की तथा उत्तराकुमारी की। आपने इस बारे में कोई प्रमाण नहीं दिया

कि अभिमन्यु तथा उत्तरा कुमारी ने छोटी अवस्था में सोलह वर्ष से पहले ही विवाह या गर्भस्थिति की। यद्यपि हमें अभिमन्यु की आयु पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आप स्वयं पुरुष विवाह की आयु कम-से-कम २४ वर्ष मानते हैं (पृ० ३११ से ३१३) तथापि हम आपको बतलाना चाहते हैं कि जब पाण्डवों को वनवास हुआ तो जंगल में भीमसेन ने युधिष्ठिर के सामने प्रस्ताव पेश किया कि दुर्योधन ने हमारे साथ मक्कारी से काम लिया है, अतः हमें इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए और अभी दुर्योधन से युद्ध करके उससे अपना राज्य ले-लेना चाहिए। आप जो कहते हैं कि प्रतिज्ञा का पालन करना धर्म है तो जहाँ पर प्रतिज्ञा धर्मानुकूल हो उसका पालन करना धर्म है। आपकी यह ज़िद कि आवश्यक रूप से प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए, मैं आपकी इस सम्मति का अनुमोदन नहीं करता और न ही नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा अभिमन्यु अनुमोदन करते हैं। जैसाकि—

नैव धर्मेण तद्राज्यं नार्जवेन न चौजसा। अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै॥ ३॥
भवतः प्रियमित्येवं महद् व्यसनमीदृशम्। धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत॥ ८॥
यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृञ्जयाः। न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुताविमौ॥ १२॥
भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्षितः। कश्चिद्राजन्न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम्॥ १३॥
कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा। व्यसनं नाम तद्राजन् न स धर्मः कुधर्मस्तत्॥ २१॥
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान्। धार्तराष्ट्रबलं पार्थ मया पार्थेन नाशय॥ ५२॥

—महा० वन० अ० ३३

भाषार्थ—दुर्योधन ने न धर्म से राज्य लिया है और न नम्रता और बहादुरी से लिया है, अपितु द्यूत की धोखेबाज़ी से छीन लिया है॥ ३॥ यह इस प्रकार का बड़ा भारी व्यसन आपको प्यारा है। हे युधिष्ठिर! धर्मकार्य में हम आपके पीछे लगे हुए हैं॥ ८॥ आपकी इस अवस्था का न कृष्ण, न अर्जुन, न अभिमन्यु, न सृञ्जय, न नकुल और सहदेव तथा न मैं अनुमोदन करता हूँ॥ १२॥ आप धर्म-धर्म इस व्रत से खिंचे हुए हे राजन्! किसी प्रकार से दुःखपूर्वक नपुंसकों की जीविका को प्राप्त हो रहे हैं॥ १३॥ जो धर्म मित्रों तथा अपने को दुःख देने के लिए हो, हे राजन्! उसका नाम व्यसन है, वह धर्म नहीं कुधर्म है॥ २१॥ आप धर्म को प्राप्त हों। प्राप्त हुए शत्रुओं को मारें। हे पार्थ! दुर्योधन की सेना का आप मेरे तथा अर्जुन द्वारा नाश करें॥ ५२॥

यह वनवास का प्रथम वर्ष है। इस समय कृष्ण, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव के साथ-साथ अभिमन्यु की राय को भी वज़नदार माना जाता था? इससे पता लगा कि उस समय अभिमन्यु सम्मति देने के योग बालिग़ अर्थात् कम-से-कम १८ वर्ष के लगभग था, वरना उसकी सम्मति को क्यों वज़नदार समझा जाता? इसके १२ वर्ष पीछे अभिमन्यु की शादी होती है। इससे सिद्ध है कि शादी के समय अभिमन्यु कम-से-कम ३० वर्ष के लगभग आयु में था।

अब रही उत्तराकुमारी की बात, सो इस प्रकार से पता लगेगा कि उत्तराकुमारी के विवाह-प्रस्ताव के समय जब अभिमन्यु की आयु ३० के लगभग थी तो अर्जुन की आयु ५० वर्ष व ५५ से कम क्या होगी? तो जिस उत्तराकुमारी की शादी के लिए ५० वर्ष की आयुवाले अर्जुन से प्रार्थना की जाती है वह अठारह-बीस वर्ष से कम नहीं हो सकती। यह हमारा अनुमान ही नहीं है अपितु जब अर्जुन से उत्तराकुमारी के विवाह का प्रस्ताव किया गया तब अर्जुन ने जहाँ यह कहा कि मै इसका आचार्य तथा पिता के समान हूँ, वहाँ यह भी कहा कि जवान अवस्था में उत्तरा मेरे पास एक वर्ष एकान्त में रही है। यदि मैं शादी कर लूँ तो लोग हमारे पूर्व-एकान्तवास में भी सन्देह करेंगे और आपकी बदनामी होगी। इसलिए उसे मैं पुत्रवधू स्वीकार करता हूँ—

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः । अतिशंका भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो ॥ ४ ॥

—महा० विराट० अ० ७२

भावार्थ—हे राजन्! उस आयु-आरूढ़=वयस्क उत्तरा के साथ मैं एक वर्ष रहा हूँ। ऐसा करने पर आपको तथा संसार को अति शंका होगी, अर्थात् यदि मैंने इससे शादी कर ली तो लोग कहेंगे कि इनकी तो पहले से ही शादी हो रही थी॥ ४॥ जब जवान लड़की एकान्त में एक वर्ष तक नाचना-गाना सीख रही तो क्या ये दोनों आचरण में पवित्र रहे होंगे।?

इससे अति स्पष्ट है कि उस समय उत्तरा वयःस्थ अर्थात् यौवन आरूढ़ थी।

इस सारे लेख से सिद्ध हुआ कि अभिमन्यु तथा उत्तरा दोनों ही विवाह के समय युवावस्था में थे और उन्होंने युवावस्था में ही गर्भाधान-संस्कार किया, फिर उनकी सन्तान परीक्षित निर्बल कैसे हो सकता था? हाँ, अत्यन्त शोकातुरा होने के कारण परीक्षित उत्तरा के समय से पहले पैदा हुआ, अतः वह जन्म-समय मृतवत् पैदा हुआ जो कृष्ण के उपाय से होश में आया। आपका ऐतिहासिक प्रमाण भी आपकी पुष्टि नहीं करता, अपितु हमारा अनुमोदन करता है।

(३१९) प्रश्न—इससे भिन्न शास्त्रदृष्टि से सहवास में कन्या की उम्र सोलह वर्ष की ली है और पुरुष की पच्चीस वर्ष के ऊपर, फिर कमज़ोर सन्तान का प्रश्न ही नहीं रहता।

—पृ० ३३८, पं० १३

उत्तर—'कुफ्र टूटा ख़ुदा ख़ुदा करके' आखिर आपको यह बात माननी ही पड़ी कि 'शास्त्र की दृष्टि में कन्या की आयु १६ वर्ष तथा वर की आयु पच्चीस वर्ष से ऊपर गर्भाधान के लिए ली गई है' अब कृपया आप यह बतलावें कि गर्भाधान की योग्यता से पूर्व विवाह करने का क्या प्रयोजन तथा लाभ है? आपके लेखानुसार यदि २४ वर्ष का पुरुष ८ वर्ष की कन्या से विवाह कर ले तथा ३० वर्ष का पुरुष १२ वर्ष की कन्या से विवाह कर ले तो पहले को सहवास के लिए ८ वर्ष तथा दूसरे को ४ वर्ष का इन्तज़ार करना होगा। इतने वर्ष पूर्व विवाह विधवाओं की संख्या बढ़ाने में कारण तो न बन जाएगा? भला! इतने वर्ष पहले कन्या की आयु को खतरे में डालने से क्या लाभ? हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि विवाह की चौथी रात्रि में गर्भाधान की शास्त्र की आज्ञा है और आप शादी के पीछे ८ वर्ष तथा ४ वर्ष तक गर्भाधान को रोकते हैं, अतः आपकी कल्पना शास्त्रविरुद्ध है।

फिर आपके लेखानुसार रजस्वला होने से पहले कन्या का विवाह करके माता-पितादि तो पाप से बच जाते हैं, किन्तु १२ वर्ष से १६ वर्ष तक गर्भाधान की मनाही के कारण वर और कन्या दोनों ही घोर पाप के भागी बनते हैं, जैसे—

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति। सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ १५ ॥

—[मनसुखरायमोर-संस्करण, कलकत्ता में श्लोकसंख्या १२-१३ है। सं०] पराशरस्मृति अ० ४

भाषार्थ—ऋतु से स्नान की हुई जो स्त्री पति के पास नहीं जाती वह मरकर नरक में जाती है और बार-बार विधवा होती है॥ १४॥ ऋतु से स्नान की हुई स्त्री के पास जो पुरुष नहीं जाता वह घोर भ्रूणहत्या के पाप में संयुक्त होता है, इसमें संशय नहीं है॥ २५॥

इन सम्पूर्ण दोषों के कारण गर्भाधान की योग्यता से पूर्व, अर्थात् कन्या का १६ वर्ष तथा वर का २५ वर्ष से पूर्व विवाह वेद के विरुद्ध महा पापकारक है, अतः लड़के-लड़की का विवाह तथा सहवास दोनों ही युवावस्था में होना वेदानुकूल धर्म है।

(३२०) प्रश्न—विवाह के पश्चात् शास्त्रोक्त ब्रह्मचर्य तथा द्विरागमन की पद्धति को लोक में प्रचलित रखा जावे तो फिर यह प्रश्न ही उड़ जाता है। —पृ० ३३८, पं० १८

उत्तर—विवाह होने के पश्चात् शास्त्रोक्त ब्रह्मचर्य यही है कि वह ऋतुगामी बने, जैसेकि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरत: सदा ॥ ४५ ॥

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥ —मनु० अ० ३

भाषार्थ—ऋतुकाल के अनुसार स्त्री-गमन करनेवाला बने और सदा अपनी स्त्री में ही प्रसन्न रहे, परस्त्री-गमन न करे ॥ ४५ ॥ वह जिस किसी आश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ५० ॥

और यदि विवाह कराने के पीछे ब्रह्मचारी रहने का आपका यह अभिप्राय हो कि वह ८ वर्ष तक या ४ वर्ष तक स्त्रीगमन ही न करे तो यह सर्वथा ग़लत है। प्रथम तो ऋतु के अनुसार गमन न करने में स्त्री तथा पुरुष दोनों को पाप होता है (देखो नं० ३१९)। दूसरे, बिना गर्भाधान के विवाह का और प्रयोजन भी क्या है? देखिए, मनुजी क्या कहते हैं—

प्रजनार्थं स्त्रियाः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः। तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ —मनु० ९। ९६

यस्माद् गर्भग्रहणार्थं स्त्रियः सृष्टा गर्भाधानार्थं च मनुष्यास्तस्माद् गर्भोत्पादनमिवानयोः अग्न्याधानादिरपि धर्मः पत्न्या सह साधारणः, 'क्षौमे वसानावग्नीनादधीयाताम्' इत्यादिर्वेदेऽभिहितः। तस्माद् भार्यां बिभृयादिति पूर्वोक्तस्य शेषः। —कुल्लूक

भाषार्थ—क्योंकि गर्भग्रहण के लिए ईश्वर ने स्त्रियाँ बनाईं हैं तथा गर्भधारण कराने को पुरुष बनाये हैं, इसलिए सन्तान पैदा करना ही इनका अग्नि-आधानादि भी धर्मपत्नी के साथ साधारण **'क्षौम'** इत्यादि से वेद में कहा है। इस प्रयोजन से पत्नी को धारण करे, यह पूर्वोक्त श्लोक का अभिप्राय है ॥ ९६ ॥

जब विवाह का मुख्य प्रयोजन ही गर्भाधान-संस्कार है तो फिर गर्भाधान की योग्यता से पूर्व विवाह व्यर्थ है, अत: स्त्री-पुरुष को विवाह तभी करना चाहिए जब वे गर्भाधान करने के योग्य हो जावें, अर्थात् कन्या कम-से-कम १६ वर्ष की तथा पुरुष कम-से-कम २५ वर्ष का होने पर शादी करे और विवाह करते ही गर्भाधान से सन्तानोत्पत्ति का काम करें। यही वेद-शास्त्रों की आज्ञा है।

हाँ, यह तो सप्रमाण बतलाया होता है कि यह द्विरागमन की पद्धति कौन-से वेद, धर्मशास्त्र वा गृह्यसूत्रों में वर्णन की गई है? हमें तो यह विधि कहीं वेद, स्मृति तथा इतिहास में मिली नहीं और न ही इसपर कभी आचरण होने का वर्णन है और न ही यह युक्तियुक्त है। हमें तो यह बचपन की शादी का बच्चा प्रतीत होता है, जो वेदविरोधी लोगों की कल्पनामात्र है।

(१) विवाह-समय राम तथा सीता की आयु—

अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ ३ ॥

अतिथी परमं प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ ८ ॥ —वाल्मी० बाल० स० ४८

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ॥ ७ ॥ —वाल्मी० बाल० स० ७२

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ —वाल्मी० अयो० स० ११८। ३४

मम भर्ता महातेजा वयसः पञ्चविंशकः ॥ १० ॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ॥ ११ ॥ —वाल्मी० अरण्य० स० ४७

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्। —वाल्मी० अयो० स० १। २०

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्। —वाल्मी० अयो० स० २। ३४

भाषार्थ—ये राम तथा लक्ष्मण अश्विनीकुमारों के सदृश सुन्दर तथा नौजवान हैं ॥ ३ ॥ दशरथ के पुत्र हमारे परम अतिथि प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥

ये दशरथ के पुत्र हैं जो रूप और जवानी से भरपूर हैं॥७॥

सीता ने अनुसूया से कहा कि मेरा पिता मेरी आयु को पति के संयोग के योग्य देखकर ऐसे चिन्ता में पड़ गया, जैसे निर्धन धन के नाश से चिन्ता में पड़ जाता है॥ ३४॥—'मेरा तेजस्वी पति विवाहसमय २५ वर्ष की आयु का था और मेरे जन्म को अठारह वर्ष बीते थे'—यह सीता ने रावण से कहा॥ १०-११॥ राम सर्वविद्याव्रतस्नातक थे तथा अंगोंसहित वेद के जाननेवाले थे॥ २०॥ राम अच्छे प्रकार से विद्याव्रतस्नातक थे तथा अंगोंसहित वेद जानते थे॥ ३४॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि सीता तथा राम का विवाह युवावस्था में हुआ और यहाँ पर द्विरागमन विधि का ज़िक्र तक नहीं है।

(२) अश्वपति ने अपनी पुत्री सावित्री को स्वयं आज्ञा दी—

तां दृष्ट्वा यौवनं प्राप्तां स्वच्छां तां देवरूपिणीम्।
उवाच राजा सम्मन्त्र्य स्मृत्यर्थं सह मन्त्रिभिः॥ १५॥ —भविष्य० उत्तर० अ० १०२
पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः॥ ३२॥
इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ॥ ३६॥ —महा० वन० अ० २९३
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने। सत्यवानुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः॥ १०॥
—महा० वन० अ० २९३

भाषार्थ—अश्वपति उस अपनी पुत्री सावित्री को नौजवान, स्वच्छ, सुन्दरी देखकर अपने मन्त्रियों से परामर्श करके बोला॥ १५॥ हे पुत्री! तेरे विवाह का समय है और कोई वर मुझे मिला नहीं, इसलिए तू अपने गुणों के सदृश स्वयं पति स्वीकार कर ले॥ ३१॥ मेरा यह वचन सुनकर पति की खोज में शीघ्रता कर॥ ३५॥ पति को खोजकर सावित्री ने कहा कि द्युमत्सेन का पुत्र शहर में पैदा हुआ और वन में जवान हुआ सत्यवान् मेरे अनुकूल पति है, मैंने मन से इन्हें स्वीकार कर लिया॥ १०॥

इससे सिद्ध है कि सावित्री-सत्यवान् का विवाह युवावस्था में हुआ। यहाँ द्विरामगन का नाम तक नहीं।

(३) द्रौपदी तथा अर्जुन का स्वयंवर—

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लाम्बरमाल्यदाम जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती॥ २८॥
स तामुपादाय विजित्य रंगे द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः।
रङ्गान्निराक्रामदचिन्त्यकर्मा पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः॥ २९॥
—महा० आदि० अ० १९०[1]

भाषार्थ—द्रौपदी लक्ष्य बींधा हुआ और अर्जुन को इन्द्र के समान देखकर श्वेत पुष्पों की माला लेकर मुस्कराती हुई अर्जुन के पास चली गई॥ २८॥

मैदान में जीत उसे साथ ले, ब्राह्मणों से पूजित उस पत्नी से अनुगम्यमान शूरवीर अर्जुन मैदान से बाहर निकल गया॥ २९॥

यहाँ पर अर्जुन तथा द्रौपदी का युवावस्था में विवाह हुआ है और विवाह के पश्चात् द्विरागमन का महाभारत में ज़िक्र तक नहीं है।

---

१. गीताप्रेस-संस्करण में ये श्लोक १८७वें अध्याय में २७ तथा २८ हैं।

(४) नल-दमयन्ती का स्वयंवर—

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च॥८॥
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव॥२६॥
स्कन्धदेशेऽसृजत्तस्य स्रजं परमशोभनाम्।
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी॥२८॥ —महा०वन०अ० ५७

भाषार्थ—तब सुन्दरी दमयन्ती मैदान में प्रविष्ट हुई। अपनी कान्ति से वह राजाओं के नेत्रों तथा मनों को हर रही थी॥८॥ हे पाण्डव! भीम की पुत्री दमयन्ती ने धर्म से निषध के राजा नल को वर लिया॥२६॥ और अति सुन्दर माला उसके कन्धे पर डाल दी तथा उस वर की कामना करनेवाली ने उसको पतिभाव से वर लिया॥२८॥

यहाँ नल और दमयन्ती का युवावस्था में विवाह हुआ और यहाँ पर द्विरागमन का क़तई वर्णन नहीं है।

(५) संज्ञा स्वयंवर—

षोडशाब्दे वयः प्राप्ते संज्ञायास्तत्पिता सुखी। विवाहार्थी सुरान् सर्वानाह्वयन्मेरुमूर्द्धनि॥४॥
—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४। अ० १८

भाषार्थ—संज्ञा के पिता ने संज्ञा को १६ वर्ष की आयु होने पर सुखपूर्वक उसके विवाह के लिए सब देवताओं को मेरु पर्वत की चोटी पर बुलाया॥४॥

यहाँ संज्ञा का विवाह युवावस्था में हुआ, यहाँ पर द्विरागमन का ज़िक्र भी नहीं है।

इतिहास में इस प्रकार की सैकड़ों घटनाएँ विद्यमान हैं, जिनमें कन्या तथा वर ने युवावस्था में विवाह करके सन्तानोत्पन्न की। वहाँ पर बालविवाह तथा द्विरागमन की गन्ध भी नहीं है।

(३२१) प्रश्न—**'ऊनषोडशवर्षायाम्'** इत्यादि सुश्रुत के इन श्लोकों के लिए वेदानुकूलता का झगड़ा क्यों अड़ा दिया गया? वेद में किसी मन्त्र में भी यह नहीं लिखा कि गर्भाधान के समय पुरुष की आयु २५ वर्ष और स्त्री की आयु १६ वर्ष की हो। —पृ० ३४१, पं० ५

उत्तर—**'ब्रह्मचर्य्येण कन्या'**, **'तमस्मेरा'** इत्यादि अनेक वेदमन्त्र हैं जोकि स्त्री-पुरुष को युवावस्था में विवाह की आज्ञा देते हैं, और विवाह तथा गर्भाधानकाल एक ही बात है। चूँकि उपर्युक्त श्लोक इन मन्त्रों की शिक्षा के अनुकूल ही युवावस्था में गर्भाधान की आज्ञा देते हैं, अतः सुश्रुत के ये श्लोक वेदानुकूल होने से ग्राह्य हैं। धर्म के कामों में वेदानुकूलता की शर्त किसी सूरत में भी दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती।

(३२२) प्रश्न—**'ऊनषोडशवर्षायाम्'** इस श्लोक की जगह अनेक पुस्तकों में **'ऊनद्वादशवर्षायाम्'** पाठ है, उस पाठ को स्वामीजी ने क्यों नहीं लिया? —पृ० ३४१, पं० १९

उत्तर—यद्यपि आपने सुश्रुत की किसी ऐसी पुस्तक का पूरा पता नहीं लिखा कि फ़लाँ प्रेस में फ़लाँ मनुष्य ने जो सुश्रुत का पुस्तक छापा है उसमें **'ऊनद्वादशवर्षायाम्'** पाठ है, तथापि यदि कहीं ऐसा पाठ हो भी, तो भी वह वेदविरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं है, क्योंकि वेद कन्या को युवावस्था में विवाह की आज्ञा देता है और कन्या को १२ वर्ष की आयु में कोई भी शास्त्र युवती नहीं मानता।

(३२३) प्रश्न—इन श्लोकों में विवाहकाल कब कहा है, इनमें तो गर्भाधानकाल है।
—पृ० ३४१, पं० २३

उत्तर—हम सिद्ध कर चुके हैं कि विवाह का प्रयोजन ही गर्भाधान है, इसीलिए विवाह के साथ ही शास्त्रों ने चतुर्थी कर्म, अर्थात् गर्भाधान की आज्ञा दी है और गर्भाधान के बिना विवाह निष्प्रयोजन है, अतः इन श्लोकों में गर्भाधानसमय का वर्णन ही विवाहसमय का वर्णन मानना पड़ेगा।

(३२४) प्रश्न—अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीं पत्नीमावहेत्। [सुश्रुत] 'विद्यासम्पन्न पुरुष को जिसकी अवस्था २५ वर्ष की हो उसको बारह वर्षवाली कन्या विवाहे' यहाँ पर स्वामीजी ने सुश्रुत के विवाहकाल को छिपाया और गर्भाधानकाल को विवाहकाल बनाया।

—पृ० ३४२, पं० ३

उत्तर—आपने उपर्युक्त प्रमाण का सुश्रुत का ठिकाना नहीं लिखा। यद्यपि इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पाठ आपका कपोलकल्पित है, तथापि यह पाठ हो भी, तो भी वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेद कन्या को युवावस्था में शादी की आज्ञा देता है और १२ वर्ष की कन्या का नाम युवती है नहीं। दूसरे, आपकी प्रतिज्ञा **'त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्'** (नं० ३११) कि '३० वर्ष का पुरुष १२ वर्ष की कन्या से तथा २४ वर्ष का पुरुष ८ वर्ष की कन्या से विवाह करे' के विरुद्ध तथा धर्मशास्त्र के विरुद्ध होने से आपके मत में भी प्रमाण के योग्य नहीं है।

(३२५) प्रश्न—'एकक्षणा भवेद् गौरी' ठीक ही है। वेद की मिट्टी कूटना स्वामीजी और आर्यसमाजियों का परम धर्म है। —पृ० ३४२, पं० १४

उत्तर—आर्यसमाज और स्वामीजी वेदों को धर्मपुस्तक मानते हैं और उनका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना तथा तदनुकूल आचरण करना परम धर्म मानते हैं। हाँ, वेदविरुद्ध शीघ्रबोधादि ग्रन्थों की मिट्टी कूटना हमारा परम कर्त्तव्य है। चूँकि **'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'** यह वेदविरुद्ध ग्रन्थों की कल्पना संसार के लिए हानिकारक थी, अतः स्वामीजी ने इसका युक्तियुक्त खण्डन करके वेदमत का प्रतिपादन कर दिया।

(३२६) प्रश्न—'सोमो गौरी अधि श्रितः' [ऋग्वेद] सोम गौरी का उपभोग करता है। जिस समय कन्या की गौरी संज्ञा होती है उस समय कन्या के ऊपर चन्द्रमा का आधिपत्य रहता है। —पृ० ३४२, पं० १८

उत्तर—कहिए महाराज! ऋग्वेद के मन्त्र का ठिकाना क्यों दर्ज नहीं किया? क्या यह भय था कि कहीं पोल न निकल जावे? अच्छा देखिए, यह पाठ ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त १२ मन्त्र ३ का एक भाग है। यहाँ पर न तो विवाह-प्रकरण है और न ही कन्या की यहाँ पर गौरी संज्ञा की गई है। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्यविषय **'पवमानः सोमो देवता'** पवित्र करनेवाला सौम्यस्वभाव विद्वान् है और यहाँ पर गौरी नाम वेदवाणी का है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सौम्यस्वभाव विद्वान् वेदवाणी का आश्रय लेता है। इसका यही अर्थ आपके भाष्यकार सायणाचार्य करते हैं, जैसे—

सोमो गौरी अधि श्रितः। —ऋ० ९।१२।३

विपश्चित् विद्वान् सोमः गौरी अधि गौर्यामधि। अधीति सप्तम्यर्थानुवादः। माध्यमिकायां वाचि। 'गौरी गान्धर्वी' इति वाङ्नामसु पाठात्। श्रितः निवसति। —सायणा

भाषार्थ—सौम्य स्वभाव विद्वान् वाणी में आश्रय करता है॥ ३॥

कहिएगा महाराज! जब सोम गौरी नाम की कन्या से आपके विचार में भोग कर लेता है तो फिर उसका कन्यापन तो नाश हो जाता होगा। फिर विवाह की क्या आवश्यकता रह जाती है? शोक! शतशोक है आप लोगों की बुद्धि पर, जो पक्षपात में डूबे हुए वेदमन्त्रो का अनर्थ करके जनता को धोखा दे रहे हैं और गौरी, रोहिणी आदि कल्पित संज्ञाएँ कन्याओं की रखकर वेद के सिर मढ़ रहे हैं! परमात्मा आपको सुमति प्रदान करें।

(३२७) प्रश्न—'उत्कृष्टायाभिरूपाय' इस श्लोक में कन्या का विवाह कन्या के अधीन नहीं, किन्तु अन्य के अधीन लिखा गया है। इसी प्रकार **'काममामरणात्तिष्ठेत्'** इस श्लोक में भी अयोग्य पुरुष के साथ कन्या का विवाह न करना सिद्ध करता है कि कन्या का विवाह करना किसी अन्य के अधीन है। **'यस्मै दद्यात्'** मनु के इस श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि कन्या का

विवाह कन्या का पिता या भ्राता करे, यदि ये दोनों कन्या का विवाह न करें तब **'त्रीणि वर्षाणि'** यह श्लोक है। मनु का अभिप्राय यह है कि आठ वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक कन्या का विवाह उसके पिता या भाई आदि अवश्य कर दें। यदि वे न करें तो ऋतुकाल होने के पश्चात् तीन वर्ष तक कन्या प्रतीक्षा करे, पश्चात् किसी के साथ विवाह कर ले। —पृ० ३४३, पं० १

उत्तर—समस्त शास्त्रों का अभिप्राय यह है कि विवाह में मुख्य प्रयोजन वर तथा कन्या का है, अतः विवाह के बारे में मुख्य सम्मति वर और कन्या की ही होगी। हाँ, माँ-बाप, भाई आदि की सम्मति भी गौणरूप से मानी जावेगी। जहाँ पर वर, कन्या, माता, पिता, भाई आदि की सर्वसम्मति हो वहाँ तो कोई झगड़ा ही नहीं है। जहाँ पर कन्या का माता, पिता वा भाई से मतभेद हो वहाँ पर कन्या की सम्मति को मुख्य माना जाना चाहिए। माता, पिता, भाई आदि को उसमें रुकावट डालने का अधिकार नहीं है, अतः शास्त्रों में जहाँ-जहाँ यह वर्णन आता है कि वर वा कन्या का विवाह माता, पिता, भ्राता आदि के अधीन हो वहाँ पर शास्त्र का अभिप्राय सर्वसम्मति से होने का है। वहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि कन्या के विरोध करने पर भी माता, पिता, भाई आदि उसका विवाह कर सकते हैं और जहाँ-जहाँ कन्या को स्वयंवर से विवाह की आज्ञा है वहाँ-वहाँ शास्त्र का यह अभिप्राय है कि विवाह में मुख्य सम्मति कन्या की है और माता, पिता आदि भी सहमत हैं अथवा मतभेद होने पर कन्या की सम्मति ही मानी जावे माता-पिता आदि की नहीं। इसी बात को वेद ने **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** इस मन्त्र से वर्णन किया और इसी मन्त्र की व्याख्या करते हुए मनु धर्मशास्त्र ने ब्रह्मचर्यकाल नियत करने के लिए, और कन्या की युवावस्था बतलाने के लिए **'त्रीणि वर्षाणि'** इत्यादि श्लोक से बतला दिया कि रजस्वला होने से तीन वर्ष पीछे युवावस्था होती है। इसको अति स्पष्ट करने के लिए सुश्रुत ने **'ऊनषोडशवर्षायाम्'** इसके द्वारा नियम कर दिया कि १६ वर्ष से पूर्व कन्या तथा २५ वर्ष से पूर्व पुरुष विवाह तथा गर्भाधान न करें। इसकी विशेष पुष्टि महाभारत ने हेतु देकर कर दी कि—

त्रीणी वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती। चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत्॥ १५॥
प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ। अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद्वाच्या प्रजापतेः॥ १६॥

—महा० अनुशासन० अ० ४४

भाषार्थ—कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, चौथा वर्ष प्राप्त होने पर स्वयंवर से पति प्राप्त करे॥ १५॥ उसकी सन्तान न मरेगी तथा उसकी रति भी क्षीण न होगी। इससे विपरीत करने पर परमात्मा से निन्दित होगी॥ १६॥

इस सिद्धान्त के अनुसार सीता, द्रौपदी, दमयन्ती तथा सावित्री आदि के स्वयंवर सर्वसम्मति से हुए; उनमें मुख्य सम्मति सीता, द्रौपदी, दमयन्ती तथा सावित्री की पति-चुनाव में मानी गई। माता, पिता, भाई आदि की इसमें सहमति थी। हाँ, रुक्मिणीहरण, सुभद्राहरण, संयोगिताहरण आदि में कन्याओं की सम्मति थी, माता, पिता, भाई आदि की सम्मति न थी; परन्तु कन्या की सम्मति को मुख्य मानते हुए इन विवाहों को पाप नहीं माना गया, क्योंकि मनुधर्मशास्त्र की यह आज्ञा है कि—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

—मनु० ३।५

भाषार्थ—जो लड़की पिता के गोत्र की न हो और माता तथा पिता की छह पीढ़ी तक जिसके कुल का क्रम न मिलता हो, उस लकड़ी से शादी की जावे॥ ५॥

भाव यह है कि यदि कोई कन्या स्वयंवर में ऐसे वर को स्वीकार कर ले जो उपर्युक्त नियम के कुछ थोड़ा विरुद्ध भी हो तो ऐसी स्थिति में माता, पिता आदि को उस शादी में रुकावट न डालनी चाहिए, अपितु विवाह कर देना चाहिए, जैसाकि—

माता, पिता, भाई आदि की इसमें सहमति थी। हाँ, रुक्मिणीहरण, सुभद्राहरण, संयोगिताहरण आदि में कन्याओं की सम्मति थी, माता, पिता, भाई आदि की सम्मति न थी; परन्तु कन्या की सम्मति को मुख्य मानते हुए इन विवाहों को पाप नहीं माना गया, क्योंकि मनुधर्मशास्त्र की यह आज्ञा है कि—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

—मनु० ३।५

भाषार्थ—जो लड़की पिता के गोत्र की न हो और माता तथा पिता की छह पीढ़ी तक जिसके कुल का क्रम न मिलता हो, उस लकड़ी से शादी की जावे॥५॥

भाव यह है कि यदि कोई कन्या स्वयंवर में ऐसे वर को स्वीकार कर ले जो उपर्युक्त नियम के कुछ थोड़ा विरुद्ध भी हो तो ऐसी स्थिति में माता, पिता आदि को उस शादी में रुकावट न डालनी चाहिए, अपितु विवाह कर देना चाहिए, जैसाकि—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥

—मनु० ९।८८

भाषार्थ—उत्तम रूपसम्पन्न, सदृश वर के लिए (पाँचवीं, चौथी पीढ़ी में होने के कारण) प्राप्त न होनेवाली कन्या को भी विधिपूर्वक दे देना चाहिए॥८८॥

फिर यदि कन्या को कोई वर पसन्द न आया हो तो माता-पिता को अयोग्य, नापसन्द वर के साथ कन्या की इच्छा के बिना ज़बरदस्ती कभी न करनी चाहिए, जैसे—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

—मनु० ९।८९

भाषार्थ—कन्या ऋतुमती होने पर भी चाहे मरणपर्यन्त घर में बैठी रहे, किन्तु गुणहीन वर के लिए उसे कदापि नहीं देना चाहिए॥८९॥

फिर कन्या के लिए यह शिक्षा दी गई है कि स्वयंवर रीति से माता, पिता, भाई आदि की सर्वसम्मति से विवाह हो जाने पर यदि पीछे से पति के साथ कोई मतभेद हो जावे तो भी उसको निभाने का प्रयत्न करना चाहिए, जैसकि—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमतेः पितुः। तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लंघयेत्॥

—मनु० ५।१५१

भाषार्थ—पिता व पिता की सम्मति से भाई उसको जिसके लिए दे दे, जीवन में उसकी सेवा करे और उसका उल्लंघन न करे, अर्थात् व्यभिचार न करे॥१५१॥

इससे सिद्ध हुआ कि '**उत्कृष्टाय**', '**काममामरणात्**', '**यस्मै दद्यात्**' ये तीनों श्लोक 'पिता आदि को विवाह में रुकावट डालने', 'ज़बरदस्ती कन्या की इच्छा के बिना कन्या का विवाह करने' को मना करने तथा 'विवाह हो जाने पर पति से मतभेद होने पर भी निर्वाह करने' की शिक्षा देते हैं। ये कन्या को पशुवत् अधीन नहीं करते, क्योंकि कन्या विवाह-विषयक प्रस्ताव में मुख्य सम्मति की अधिकारी है, अन्यथा—

इच्छयाऽन्योऽन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ —मनु० ३।३२
प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि॥

—महा० आदि० अ० २२३।४ [गीताप्रेस संस्करण २२०।४। —सं०]

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ॥

—महा० आदि० अ० २२१। २१ [गी० सं० मं० २१८। २१]

विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते॥ —महा० आदि० अ० ७३। ४

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः। आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः॥

—महा० आदि० अ० ७३। ७

भाषार्थ—कन्या और वर का अपनी इच्छा से एक-दूसरे से संयोग हो जाना यह काम तथा मैथुन से हुआ गान्धर्वविवाह कहाता है॥ ३२॥ कन्या का दान पशुओं की भाँति कौन मान सकता है? और कौन पुरुष पृथिवी में अपनी सन्तान को बेच सकता है?॥ ४॥ आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा की गति है, अतः आत्मा से ही आत्मा का दान कर सकते हो॥ ७॥

इन सब प्रमाणों का क्या अर्थ होगा?

पूर्वोक्त श्लोक कन्या को पराधीन नहीं करते और '**त्रीणि वर्षाणि**' यह श्लोक भी यह नहीं कहता कि पिता आदि शादी न करें तब तीन वर्ष प्रतीक्षा करके कन्या शादी करे, अपितु यह श्लोक स्वतन्त्रता से विवाह की आयु प्रतिपादन करता है। इसका प्रमाण यह है कि महाभारत में यह अकेला ही श्लोक आया है और हेतुसहित बड़ी आयु में विवाह का प्रतिपादन करता है, अतः १६ वर्ष से कम आयु में कन्या का विवाह वेद, शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास के सर्वथा विरुद्ध है।

(३२८) प्रश्न—'**त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत्**' मनु का यह श्लोक वेदानुकूल नहीं है। इसके प्रमाण मानने का दयानन्द और आर्यसमाज को क्या अधिकार है? —पृ० ३४४, पं० ७

उत्तर—आप अपनी प्रतिज्ञा में कोई वेदमन्त्र देकर इस श्लोक को वेदविरुद्ध सिद्ध करने की कृपा करें, वरना '**ब्रह्मचर्येण कन्या**' इस मन्त्र के अनुकूल होने से हमें इसके प्रामाणिक मानने का अधिकार प्राप्त है, क्योंकि वेदमन्त्र भी कन्या की युवावस्था में विवाह की आज्ञा देता है और यह श्लोक भी ऋतुमती होने से तीन वर्ष पीछे युवावस्था में ही कन्या के विवाह का प्रतिपादन करता है।

(३२९) प्रश्न—मनुजी ने '**त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्**' इस श्लोक में जो २४ वर्ष के पुरुष का आठ वर्ष की कन्या से और ३० वर्ष के पुरुष का १२ वर्ष की कन्या से विवाह करना लिखा है, इसको स्वामी दयानन्दजी ने क्यों छिपाया? —पृ० ३४४, पं० ८

उत्तर—इस श्लोक में स्वयं लिखा है कि ऐसा विवाह करनेवाला गृहस्थधर्म में दुःख पाता है '**धर्मे सीदति सत्वरः**'। यदि आप इसका यह अर्थ मानें कि इससे पहले विवाह करनेवाला धर्म में दुःख पाता है तो—

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां विन्देत नग्निकाम्। एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्।

—महा० अनु० अ० ४४। १३

भाषार्थ—तीस वर्ष का पुरुष दश वर्ष की नग्निका भार्या को प्राप्त हो तथा २१ वर्ष का पुरुष सात वर्ष की पत्नी को प्राप्त हो॥ १३॥

कहिए महाराज! अब यह कम अवस्था की आज्ञा क्या सनातनधर्म को नरक में धकेलने के लिए है? आपके ग्रन्थों की किसी विषय में एक सम्मति नहीं है, अतः वेद का प्रमाण ही धर्म के विषय में कसौटी है। चूँकि वेद कन्या को युवावस्था में विवाह और गर्भाधान करने की आज्ञा देते हैं, अतः छोटी अवस्था में शादी का वर्णन करनेवाले सब प्रमाण वेदविरुद्ध होने से मानने के योग्य नहीं हैं और बिना गर्भाधान तथा सन्तानोत्पत्ति के छोटी अवस्था की शादी वैसे भी व्यर्थ एवं युक्तिशून्य है और सनातनधर्म को तो इस विषय में अब बोलना भी नहीं चाहिए,

क्योंकि इनके यहाँ तो लिखा है कि—

न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते।
स्वयंग्राहा भविष्यति युगान्ते समुपस्थिते॥ ३६॥

—महा० वन० अ० १९०

युग का अन्त आने पर न कोई कन्या माँगेगा और न कोई कन्या देगा, अपितु स्वयंवर विवाह होंगे।

वर्ण-व्यवस्था

(३३०) प्रश्न—संसार में ईश्वर ने जितनी जातियाँ रची हैं, उन सबमें भेद रक्खा है।

—पृ० ३०६, पं० २२

उत्तर—आप ठीक कह रहे हैं, क्योंकि जाति कहते ही उसको हैं जो दूसरी जाति की अपेक्षा सूरत और शक्ल में भिन्न हो। इसी बात को व्याकरणकार ने इन शब्दों में लिखा है कि—

आकृतिग्रहणा जातिः॥ —सिद्धान्तकौमुदी

आकृतिः—अवयवसन्निवेशविशेषः॥ —बालमनोरमा

—सिद्धान्त० स्त्रीप्रत्यय **'जातेरस्त्रीविषयात्'** सूत्र पर

अर्थ—जाति उसको कहते हैं जो सूरत और शक्ल में विशेषता के कारण दूसरी जातियों से भिन्न पहचानी जावे, अतः एक जाति का दूसरी से सूरत-शक्ल, आकृति में भेद आवश्यक है।

(३३१) प्रश्न—सबसे पहले संसार में तृणजाति की उत्पत्ति हुई, किन्तु उस तृणजाति में भी ईश्वर ने अनेक भेद दिखाये। तृण एक जाति है, किन्तु उसमें दूब, मुसेल, धुरियाँ, मोथा आदि अनेक जातिभेद दिखते हैं। —पृ० ३०६, पं० २३

उत्तर—बेशक, तृणजाति वृक्षजाति से आकृति में भिन्न है और वृक्षों से तृण और फिर तृणों में भी दूब, मुसेल, मोथा, धुरियाँ आदि में भी प्रत्येक की आकृति दूसरे से भिन्न है और यदि सबको एक स्थान में रक्खा जाए तो पृथक्-पृथक् पहचाने जा सकते हैं, अतः वृक्षों के मुक़ाबले में तृणजाति और तृणों में भी दूब आदि पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं।

(३३२) प्रश्न—तृण के पश्चात् ईश्वर ने अन्नजाति की उत्पत्ति की। अन्न-अन्न एक जाति, किन्तु एक अन्नजाति में भेदप्रतिपादक सैकड़ों अवान्तर जातियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। धान, ज्वार, बाजरा, मकई, कोदों, साँवा, उर्द, मूँग, रवाँस, चना, जौ, गेहूँ, मटर, अरहर इत्यादि।

—पृ० ३०६, पं० २५

उत्तर—बेशक तृण तथा वृक्षों की अपेक्षा सूरत, शक्ल और आकृति भिन्न होने से अन्नजाति भिन्न है और अन्नों में भी परस्पर एक-दूसरे की आकृति भिन्न होने से पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं। यदि धान, ज्वार, बाजरा, मकई, उर्द, मूँग, चना, जौ, गेहूँ आदि सब अन्नों को मिला दिया जावे तो सबकी शक्ल-सूरत भिन्न-भिन्न होने के कारण उनको चुनकर भिन्न-भिन्न किया जा सकता है, अतः अन्नों में अनेक जातियाँ हैं।

(३३३) प्रश्न—इसके पश्चात् वृक्षजाति की उत्पत्ति की। वृक्ष-वृक्ष एक जाति, किन्तु उसमें वट, पीपल, नीम, आम, जामुन, खजूर, ताल, तमाल, शाल, सागौन, साखू, शीशम, बबूर, गूलर, पिलखन, अर्जुन, प्रभृति अनेक भेद सिद्ध करनेवाली अवान्तर जातियाँ ईश्वर ने ही रची हैं।

—पृ० ३०७, पं० ३

उत्तर—ठीक है, वृक्षों की आकृति तृण तथा अन्न की अपेक्षा भिन्न होने से वृक्षजाति भिन्न है और वृक्षों में भी परस्पर एक-दूसरे की पत्तों, पुष्प, फलों आदि में आकृति भिन्न होने के कारण

अनेक जातियाँ हैं। यदि किसी बग़ीचे में वट, पीपल, नीम, आम, जामुन, अनार, अमरूद आदि वृक्ष इकट्ठे हों तो प्रत्येक की उसके पत्तों, पुष्पों, फलों आदि की आकृति भिन्न होने से पहचान की जा सकती है, अतः वृक्षों में भी अनेक जातियाँ हैं।

(३३४) प्रश्न—वृक्ष के अनन्तर पक्षी जाति की उत्पत्ति हुई। पक्षी-पक्षी एक जाति, किन्तु इस पक्षी जाति में चील, काक, कोयल, गीध, बाज, शिकरा, सारस, तीतर, बटेर, बगुला, हँस, चिड़िया, उल्लू, प्रभृति भेद सिद्ध करनेवाली अनेक अवान्तर जातियाँ सृष्टि के आरम्भ में ही रची गईं। —पृ० ३०७, पं० ६

उत्तर—सत्य है, बेशक पक्षियों की जाति पशु, मनुष्य आदि से आकृति भिन्न होने के कारण पृथक् है और पक्षियों में भी परस्पर एक-दूसरे की आकृति भिन्न होने के कारण अनेक जातियाँ हैं। यदि चील, काक, कोयल, गीध, बाज़, शिकरा, तोता, मैना, कबूतर, बटेर आदि सबको मिलाकर बिठा दिया जावे तो सबकी आकृति भिन्न-भिन्न होने के कारण सबको पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है, अतः सिद्ध हुआ कि पक्षियों में अनेक जातियाँ हैं।

(३३५) प्रश्न—पक्षीजाति के बाद पशुजाति उत्पन्न हुई। उसमें भी भैंस, गौ, बकरी, हिरण, भेड़, ऊँट, घोड़ा, गधा, जैबरा, रोल, शावर, प्रभृति अनेक अवान्तर जातियाँ भेद सिद्ध करनेवाली विद्यमान हैं। —पृ० ३०७, पं० १०

उत्तर—आप ठिकाने की बात कर रहे हैं। बेशक पशुओं की जाति आकृति के भिन्न होने के कारण वृक्ष, तृण, पक्षी तथा मनुष्यों की जाति से भिन्न है और पशुओं में भी परस्पर एक-दूसरे की आकृति भिन्न होने से अनेक जातियाँ हैं। यदि गाय, भैंस, ऊँट, गधा, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि को मिलाकर खड़ा कर दिया जावे तो सबको भिन्न आकृति के कारण पहचाना जा सकता है, अतः पशुओं में भी अनेक जातियाँ हैं तथा न्यायदर्शन में जाति का लक्षण किया गया है कि—

समानप्रसवात्मिका जातिः॥ —न्याय० २।२।७१

अर्थ—जो नर और मादा मिलकर अपने-जैसी सन्तान पैदा कर सकें और उनकी नस्ल का क्रम आगे भी चले, वे नर तथा मादा एक जाति में गिने जावेंगे। जैसे 'घोड़ा और घोड़ी' तथा 'गधा और गधी' आपस में मिलकर अपने-जैसी सन्तान पैदा करते हैं तथा उनका वंश भी आगे चलता है, अतः पता लगा कि 'घोड़ा-घोड़ी' तथा 'गधा-गधी' दोनों एक ही जाति में हैं, परन्तु 'गधा और घोड़ी' ये दोनों मिलकर जिस सन्तान को पैदा करते हैं, वह उन जैसी नहीं होती अपितु उन दोनों से भिन्न शक्लवाली 'खच्चर' की शक्ल में होती है और उनका वंश भी आगे नहीं चलता, खच्चर पर ही समाप्त हो जाता है। इससे पता लगा कि 'घोड़ी और गधे' की एक जाति नहीं है, अपितु इनकी जाति भिन्न-भिन्न है। इस सिद्धान्त के अनुसार पता चलता है कि पशुओं में अनेक जातियाँ हैं।

(३३६) प्रश्न—शास्त्र कहता है कि पशुजाति के पश्चात् देवजाति की उत्पत्ति हुई। देव देव एक जाति, किन्तु, उसमें भी विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, रक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, भूत, ये दश अवान्तर जातियाँ हैं। —पृ० २०७, पं० २३

उत्तर—भूत तो कोई विशेष जाति है ही नहीं, अपितु सर्वप्राणियों का नाम भूत है और राक्षस तथा पिशाचों को भी देवजाति मानना आपका ही काम है, वरना शास्त्र तो मानते नहीं। हाँ, वास्तविक बात यह है कि देव, गन्धर्व, राक्षस, पिशाचादि ये सब मनुष्यजाति के ही कर्मानुसार तथा देशानुसार भेद हैं। इनकी आकृति में परस्पर भेद नहीं हैं। विद्वानों का नाम देव, अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस, और अनाचारियों को पिशाच कहते हैं। इसी प्रकार से दूसरों के भी कर्मभेद तथा देशभेद से भिन्न-भिन्न नाम हैं अन्यथा ये सब मनुष्य ही हैं। सूर्य देवता ने कुन्ती—

मनुष्य-स्त्री में कर्ण-समान सन्तान पैदा की और उसका वंश भी चला, अतः सूर्य और कुन्ती की एक ही जाति हुई। इन्द्र, वायु, धर्म तथा अश्विनीकुमार देवताओं ने कुन्ती तथा माद्री मनुष्य-स्त्रियों में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को समान सन्तान पैदा किया तथा उनका आगे वंश भी चला। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्र, धर्म तथा वायु, अश्विनीकुमार, कुन्ती तथा माद्री सबकी एक ही जाति थी। विश्वामित्र मनुष्य ने मेनका अप्सरा में शकुन्तला समान सन्तान पैदा की और उसका वंश भी आगे चला। इससे सिद्ध किया जा सकता है कि ये सब मनुष्यजाति के ही कर्मभेद तथा देशभेद से नाम हैं। ये कोई भिन्न जातियाँ नहीं हैं। यदि हैं तो हमारे सनातनधर्मी भाई इनकी हस्ती का कोई प्रमाण पेश करें।

(३३७) प्रश्न—भाव यह है कि कीट, पतंग, वनचर, नभचर, जलचर आदि समस्त जातियों में अवान्तर जातिभेद अवश्य होते हैं। —पृ० ३०७, पं० १५

उत्तर—आपका फ़रमाना सत्य है, क्योंकि कीट, पतंग, वनचर, नभचर, जलचर आदि जातियों में से प्रत्येक के अन्दर भी अनेक प्रकार के जन्तुओं का परस्पर आकृतिभेद होने से अनेक प्रकार की जातियाँ होती हैं और वे आकृतिभेद के कारण भिन्न-भिन्न पहचानी जाती हैं।

(३३८) प्रश्न—ये जातिभेद जड़ पदार्थों में भी पाये जाते हैं। पत्थर एक जाति रहने पर भी उस पत्थर में संगे-अस्वद, संगे-मूसा, संगे-मरमर एवं लाल पत्थर तथा सुफ़ेद पत्थर आदि अनेक जातिभेद हैं। —पृ० ३०७, पं० १७

उत्तर—इसमें क्या सन्देह है! जड़ पदार्थों में भी आकृतिभेद, रंगभेद से अनेक जातियाँ विद्यमान हैं और वे एक स्थान में रखने पर अपने आकृतिभेद तथा रंगभेद से भिन्न-भिन्न पहचानी जाती हैं। जैसे यदि संगे-अस्वद, संगे-मूसा, संगे-मरमर, लाल पत्थर, आदि सबको एक ही स्थान में रख दिया जावे तो वे भी परस्पर आकृतिभेद तथा रंगभेद होने के कारण भिन्न-भिन्न पहचाने जा सकेंगे।

(३३९) प्रश्न—इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में रची हुई मनुष्यजाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि अनेक भेद पाये जाते हैं। ये अनादि हैं, ईश्वरकृत हैं, इनमें अन्य जातियों की भाँति परिवर्तनरहित भेद हैं। —पृ० ३०७, पं० १९

उत्तर—आपको यहाँ पर धोखा लगा है। जैसे पशु जाति में गौ, भैंस, ऊँट, घोड़ा, गधा आदि जातियों में परस्पर आकृतिभेद है, जैसे पक्षीजाति में मोर, तीतर, बटेर, मैना आदि में परस्पर आकृतिभेद होने से अवान्तर जातियाँ हैं वैसे मनुष्यजाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में परस्पर आकृतिभेद नहीं है और यदि इन सबको इकट्ठा कर दिया जावे तो पहचाना भी नहीं जा सकता। जैसे युधिष्ठिर एक वर्ष राजा विराट के पास ब्राह्मण बनकर रहा, कोई भी नहीं पहचान सका। कर्ण ने ब्राह्मण बनकर परशुराम से विद्या पढ़ी तथा पाँचों पाण्डव मुद्दत तक ब्राह्मण बनकर गुप्त रहे। अर्जुन, भीम तथा कृष्ण ब्राह्मण बनकर जरासन्ध को मारने गये, किन्तु इनको कोई न पहचान सका। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में एक-दूसरे की स्त्री से एक-दूसरे का विवाह हो जाए तो परस्पर संयोग से समान सन्तान उत्पन्न होती है और उनका वंश भी आगे चलता है—इससे पता चलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन सबकी एक ही जाति है और वह मनुष्यजाति है। यदि इनकी जाति भिन्न होती तो इनमें भी एक-दूसरे की स्त्री के संयोग से खच्चर की भाँति भिन्न प्रकार की सन्तान पैदा होती और उनका वंश भी आगे न चलता।

अतः पता लगा कि एक ही मनुष्यजाति में गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हैं। ये भेद अनादिकाल से नहीं हैं, क्योंकि इनमें परिवर्तन हो जाता है। ब्राह्मण से शूद्र तथा शूद्र से ब्राह्मण बन जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ईसाई और मुसलमान बन

जाते हैं, इत्यादि परिवर्तन होते ही रहते हैं, अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन सबकी एक ही मनुष्यजाति है जो पैदा होने से मरने तक तब्दील नहीं हो सकती, और मनुष्यजाति के ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि ये भेद कर्मानुसार हैं जो परिवर्तित भी होते रहते हैं।

(३४०) प्रश्न—मनुष्यों की उत्पत्ति स्थान में ही भेद प्रतिपादन करता हुआ वेद **'ब्राह्मणोऽस्य'** इस मन्त्र में कहता है कि 'इस यज्ञपुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए और बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य तथा पैरों से शूद्र'॥ —पृ० ३०७, पं० २१

उत्तर—आपका यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध और स्वयं वेद के ही विरुद्ध है, क्योंकि वेद ईश्वर को निराकार, अकाय वर्णन करते हैं जैसे **'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्'** इत्यादि यजुर्वेद [४०।८] वर्णन करता है कि 'वह परमात्मा सर्वव्यापक, शीघ्रकारी, अकाय, व्रणरहित, नस तथा नाड़ी के बन्धन से रहित है' जब परमात्मा के शरीर ही नहीं है तो उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू से वैश्य तथा शूद्रों को परमात्मा के पाँवों से पैदा हुआ मानना वन्ध्या के पुत्र के विवाह में मिठाई खाने की भाँति असम्भव तथा उन्मत्तप्रलाप के सिवाय और क्या हो सकता है? इस मन्त्र के वास्तविक अर्थों को जानने के लिए इससे पूर्वमन्त्र के अर्थों का जानना आवश्यक है, जिसमें प्रश्न किया गया है और जिसके उत्तर में यह मन्त्र है। दोनों मन्त्र इस प्रकार हैं—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥ १०॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬशूद्रोऽजायत॥ ११॥
—यजुः० ३१।१०-११

भाषार्थ—जिस परमात्मा को कई प्रकार से कल्पना करते हुए पुरुष वर्णन करते हैं, उस पुरुष का मुख क्या है? उसकी भुजा कौन हैं, उसके ऊरू तथा पाँव कौन कहे जाते हैं?॥ १०॥

इस मन्त्र में जो परमात्मा को कई प्रकार की कल्पना करके वर्णन करने का ज़िक्र है, वह कल्पना क्या वस्तु है? इसको दूसरे शब्दों में अलंकार भी कहते हैं—

सौन्दर्यमलङ्कारः॥ ६॥ —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

भाषार्थ—किसी बात को सौन्दर्य से वर्णन करने का नाम अलंकार है। अलंकार बहुत प्रकार के होते हैं, उनमें से एक अलंकार का नाम है उपमालंकार। उसका लक्षण यह है—

उपमानोपमेययोर्गुणलेशतः साम्यमुपमा॥ १॥

उपमान से उपमेय के गुणों की कुछ समानता का नाम उपमा है। वह उपमा दो प्रकार की है—

सा पूर्णा लुप्ता च॥ ४॥

वह पूर्णा तथा लुप्ता दो प्रकार की है। पूर्णा का लक्षण—

गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा॥ ५॥

जिसमें उपमान, उपमेय, उपमावाचक शब्द तथा गुणद्योतक शब्द—ये सारे विद्यमान हों, वह पूर्ण-उपमा है जैसे—

'कमलमिव मुखं मनोज्ञमिति' मुख कमल की भाँति सुन्दर है। इस वाक्य में—

कमल—उपमान—जिससे उपमा दी जावे।

मुख—उपमेय—जिसको उपमा दी जावे।

मनोज्ञ—साधारणधर्म, समान गुण जो दोनों में मिलता हो।

इव—उपमा-वचक शब्द, जिनसे समानता बताई जावे।

यहाँ उपमा के चारों अङ्ग विद्यमान हैं, अतः यहाँ पूर्ण उपमा है।

लोपे लुप्ता॥ ६॥ —काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ९।१-६

जिसमें किसी अङ्ग का लोप हो जावे वह लुप्त-उपमा है, जैसे—

'शशीव राजा' 'चाँद-जैसा राजा' इसमें साधारणधर्म, जो गुण दोनों में मिलता है, जिसके कारण राजा को चाँद-जैसा कह गया है, वह लुप्त है, अतः इसका नाम 'धर्मलुप्तोपमा' है।

'दूर्वा श्यामेयम्'—'यह स्त्री काली दूब है' यहाँ पर उपमावाचक शब्द का लोप है, जो समानता का वर्णन करता है, अतः इसका नाम 'वाचकलुप्तोपमा' है।

'शशिमुखी' 'चन्द्रमुखी'—यहाँ पर साधारणधर्म और उपमावाचक शब्द दोनों का लोप है, इसको 'वाचकधर्मलुप्तोपमा' कहते हैं।

हम इसके कुछ उदाहरण देते हैं—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

भाषार्थ—सब उपनिषद् गौवें हैं, दोहनेवाले कृष्ण हैं, पीनेवाला बुद्धिमान् अर्जुन बछड़ा तथा महान् अमृत गीता दूध है।

यहाँ पर उपनिषदों को गौवों की, कृष्णा को दोहनेवाले की, अर्जुन को बछड़े की तथा गीता को दूध की उपमा दी गई है। यहाँ उपमावाची शब्दों तथा साधारणधर्म का लोप है, अतः यहाँ पर 'वाचकधर्मलुप्तोपमा' है।

यहाँ पर गीता को दूध की उपमा ही दी गई है, वास्तव में गीता दूध नहीं है। यदि कोई आदमी इस श्लोक को ठीक रूप से न समझकर गीता को कटोरे में डालकर किसी को कहे कि लीजिए, दुग्धपान कीजिए तो सब लोग उसे मूर्ख ही कहेंगे, बुद्धिमान् नहीं।

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

भाषार्थ—आत्मा नदी है, संयमरूपी पवित्र तीर्थवाली, सत्य जलवाली, शील तट तथा दया लहरोंवाली है। हे युधिष्ठिर! उसमें स्नान कर, जल से आत्मा शुद्ध नहीं होता।

इस श्लोक में आत्मा को नदी की उपमा देकर तरंगों को भी उपमा दी गई है, किन्तु आत्मा वास्तव में नदी नहीं है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

भाषार्थ—प्रणव धनुष है, यह आत्मा तीर है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है, सावधानी से लक्ष्य को वेधना चाहिए, तीर की भाँति तन्मय हो जावे।

यहाँ आत्मा को तीर की उपमा दी गई है, परन्तु वास्तव में आत्मा तीर नहीं है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्। आत्मबुद्धिमनोयुक्तः कर्तेति उच्यते बुधैः॥

भाषार्थ—आत्मा को सवार जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथि जान, मन को लगाम समझ। इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनकी खुराक कहते हैं। बुद्धि और मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान् लोग कर्त्ता कहते हैं।

यहाँ आत्मा को रथी की उपमा देकर तत्सम्बन्धी वस्तुओं की भी उपमा दी है, किन्तु वास्तव में आत्मा रथी नहीं है।

इन सब स्थलों में **'वाचकधर्मलुप्तोपमा'** अलंकार हैं, जिनमें उपमावाची शब्द तथा साधारण धर्म का लोप है। इसी प्रकार के अलंकार वेदों में भी हैं, जैसे—

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ २०॥

सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पंचौदनः॥ २१॥

—अथर्व० ९।५

भाषार्थ—यह बकरा आगे आया, इसकी छाती यह पृथिवी, द्यौः पीठ, आकाश पेट, दिशाएँ पार्श्व=पसवाड़े, समुद्र बगलें, ज्ञान तथा सत्य दोनों आँखें और सम्पूर्ण सत्य और श्रद्धा प्राण तथा ब्राह्मण सिर है, वह यह अपरिमित यज्ञ है, जिसको पञ्चौदन अज कहते हैं।

इस मन्त्र में परमात्मा को अज अर्थात् बकरे की उपमा देकर उसके अङ्गों की भी कल्पना करके परमात्मा का वर्णन किया गया है। परमात्मा वास्तव में बकरा नहीं है।

बस, इसी प्रकार '**यत्पुरुषं व्यदधुः**' इस मन्त्र में परमात्मा को पुरुष की उपमा देकर पूछा है कि उसके मुख, बाहू, ऊरू तथा पाँव कौन हैं। इसका ही उत्तर अगले मन्त्र में '**ब्राह्मणोऽस्य**' दिया गया है कि 'ब्राह्मण उसका मुख हैं, भुजा क्षत्रिय, ऊरू वैश्य हैं और पाँव शूद्र'।

इस मन्त्र में परमात्मा को पुरुष की उपमा देकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उस पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू तथा पाँव कल्पना किया गया है। यह पूर्ववत् उपमा अलंकार है। वास्तव में परमात्मा निराकार है, उसके मुखादि अङ्ग नहीं हैं। यहाँ पर परमात्मा को पुरुष की उपमा देकर तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को उसके मुख, बाहू, ऊरू तथा पैर कल्पना करने का यही प्रयोजन है कि मनुष्यसृष्टि में जो लोग मुख के समान सर्वसाधारण से पाँचगुणा ज्ञान रखते हों, लोगों को उलटे रास्ते से हटाकर सीधे रास्ते पर चलावें तथा अपनी पढ़ी विद्या लोगों को पढ़ावें, वे ब्राह्मण कहलाने के योग्य हैं तथा मनुष्यसृष्टि में जो लोग भुजा के समान अपने-आपको संकट में डालकर भी दूसरों की रक्षा करे वे क्षत्रिय कहलाने के योग्य तथा जो लोग पेट के समान राष्ट्र के कच्चे माल को पक्का माल बनाकर उसके व्यापार से जो लाभ हो उससे अपने देश का पालन करें वे वैश्य कहलाने के योग्य हैं। और मनुष्यसृष्टि में जो लोग न दिमाग़ी काम कर सकें, न रक्षा और व्यापार का काम कर सकें, केवल पाँवों के समान बोझ उठाने, अर्थात् कुलीपने का काम जानते हों वे शूद्र कहलाने के अधिकारी हैं। यह मन्त्र वर्ण-व्यवस्था का गुण-कर्म-स्वभाव से प्रतिपादन करता है—जन्म से नहीं, अतः हमारा किया हुआ अर्थ वेदानुकूल तथा आपका अर्थ स्वयं वेद के ही विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है।

(३४१) प्रश्न—हमारे इसी अर्थ की पुष्टि '**लोकानां तु विवृद्ध्यर्थम्**' (मनु० १।३१) '**उत्तमाङ्गोद्भवात्**' [मनु० १।९३] और '**यज्ञसिद्ध्यर्थम्**' [हारीत० १।१२] तथा '**शूद्राँश्च पादयोः**' [हारीत० १।१३] आदि स्मृतियाँ करती हैं। —पृ० ३०८, पं० ५

उत्तर—ये स्मृतियाँ आपके अर्थ की पुष्टि नहीं करतीं अपितु हमारे अर्थ की पुष्टि करती हैं। इन श्लोकों के अर्थ इस प्रकार हैं—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

—मनु० १।३१

उत्तमाङ्गोद्भवाज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।

—मनु० १।९३

यज्ञसिद्ध्यर्थमनघान् ब्राह्मणान्मुखतोऽसृजत्।
असृजत् क्षत्रियान् बाह्वोर्वैश्यानप्यूरु देशतः॥ १२॥
शूद्राँश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषां चैवानुपूर्वशः।
यथा प्रोवाच भगवान् ब्रह्मयोनिः पितामहः॥ १३॥

—हारीत० १।१२-१३

भाषार्थ—संसार की उन्नति के लिए मुख, भुजा, पेट तथा पैर के समान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बनाये॥ ३१॥ मुख के समान होने तथा श्रेष्ठ होने और वेद के धारण करने के कारण इस सारे संसार का धर्म से ब्राह्मण स्वामी है॥ ९३॥ यज्ञसिद्धि के लिए पापरहित ब्राह्मणों को मुख के समान पैदा किया, भुजा के समान क्षत्रियों को बनाया और वैश्यों को भी पेट के समान बनाया॥ १२॥ और शूद्रों को पाँवों के समान बनाकर क्रमश: उनका विस्तार किया। इसी प्रकार से ही ब्रह्मा ने भी कहा है॥ १३॥

इन स्मृतिवाक्यों के यही अर्थ संगत हो सकते हैं, वरना यदि आप इनका यह अर्थ करेंगे कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र परमात्मा के मुख, बाहू, ऊरू तथा पैरों से पैदा हुए, तो—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ ७॥

—मनु० १

एकाकारमनानान्तं बुद्धौ रूपमनामयम्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ध्यायेज्जगदाधारमच्युतम्॥ ५॥
आत्मना बहिरन्तःस्थं शुद्धचामीकरप्रभम्। रहस्येकान्तमासीनो ध्यायेदामरणान्तिकम्॥ ६॥

—हारीत० अ० ७

भाषार्थ—उसके पश्चात् नित्यस्वरूप, इन्द्रियों से अगोचर, अखण्डित तेजवाला, प्रकृति का प्रेरक इन पाँच महाभूतों के जगत् को प्रकट करके प्रसिद्ध हुआ॥ ६॥ जो वह इन्द्रियों से अगोचर, अत्यन्त सूक्ष्म, अवयवरहित, सनातन, चिन्तन में न आने योग्य, सर्वभूतों में व्यापक परमात्मा है वह स्वयं प्रसिद्ध हुआ॥ ७॥ एकाग्रमन होकर अपनी बुद्धि में अनन्त, सुखस्वरूप, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, जगत् के आधार अविनाशी परमात्मा का ध्यान करे॥ ५॥ एकान्त में बैठकर मरने तक अपनी आत्मा के द्वारा अन्दर-बाहर सर्वत्र व्यापक प्रकाशस्वरूप परमात्मा का ध्यान करे॥ ६॥

जब यही स्मृतियाँ परमात्मा को अवयव से रहित, इन्द्रियों से अगोचर, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, आत्मा से जानने योग्य, शरीररहित, निराकार वर्णन कर रही हैं तो फिर पूर्व श्लोकों में ईश्वर को शरीरधारी और साकार मानकर उसके अङ्गों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है?

वेद भी परमात्मा को अकाय मानता है, अतः आपका अर्थ ठीक मानने से, स्मृतियाँ वेद के विरुद्ध होने से अप्रमाण हो जावेंगी तथा हमारा अर्थ मानने से वेदानुकूलता के कारण प्रमाण मानी जा सकेंगी। इस कारण हमारा अर्थ वेदानुकूल होने से ठीक तथा आपका वेदविरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।

हमारे अर्थ की पुष्टि में आपका पाँचवाँ वेद इस प्रकार लिखता है कि—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः॥ १३॥
पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च॥ १४॥ —महा० वन० अ० १८९

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः। पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः॥ ६७॥

—महा० शान्ति० अ० ४७

भाषार्थ—क्रमशः ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजा तथा दोनों जाँघ वैश्य और शूद्र परिश्रम के कारण पाँवों के तुल्य हैं॥ १३-१४॥

ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजा, सारे जाँघ और पेट वैश्य तथा शूद्र जिसके पाँवों के आश्रित हैं उस वर्णात्मक ईश्वर को नमस्कार है॥ ६७॥

ईश्वर निराकार, शरीर से रहित है। यदि उसके शरीर की कल्पना करनी हो तो ब्राह्मण ही उसका मुख, क्षत्रिय ही उसकी भुजा, वैश्य ही उसके जाँघ तथा पेट और शूद्र ही उसके पाँव

हैं, और कोई परमेश्वर के मुख, भुजा, जाँघ, पेट, पाँव आदि अङ्ग नहीं हैं। इसी अर्थ की पुष्टि आपके भाष्यकार उव्वट करते हैं—

यत्पुरुषमिति—यत्पुरुषं देवा इन्द्रादयः तस्मिन् यज्ञे व्यदधुः कृतवन्तो यथा। तद्वत् योगिन आत्मयज्ञे पुरुषं ज्ञानम् यत् ज्ञानान्तं तत्कृतवन्तः कतिप्रकारं विकल्पितवन्तः। तस्यैवंविधस्य किं मुखम्, कौ बाहू कौ ऊरू पादौ उच्येते उच्यन्तामित्यर्थः॥ ३१। १०॥

ब्राह्मणोऽस्येति—अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य ये केचिद् ब्राह्मणाः ते मुखमासीत्। ये क्षत्रियाः ते बाहू कृताः। ये वैश्याः ते अस्य ऊरू कृताः। ये शूद्राः ते पद्भ्याम् अजायन्त इति कल्प्यन्ते तदस्योत्पन्नत्वादिति। एवमेतेऽवयवाः शिरः प्रभृतयः पुरुषस्य विद्यन्ते नान्ये इति॥ ३१। ११॥

भाषार्थ—जिस परमात्मा को, इन्द्रियों के स्वामी विद्वान् योगियों ने, आत्मयज्ञ में कई प्रकार से कल्पित किया है, उस इस प्रकार से कल्पना किये हुए परमात्मा का मुख कौन है, भुजा कौन हैं, जाँघ कौन और पाँव कौन कहे जाते हैं, उत्तर दो—यह अर्थ है॥ १०॥

उस यज्ञ में कल्पना किये हुए पुरुष परमात्मा के जो कोई ब्राह्मण हैं वे मुख हैं, जो क्षत्रिय हैं वे भुजा किये गये, जो वैश्य हैं वे इसके जाँघ माने गये, जो शूद्र हैं वे पाँव-स्थानीय हुए, ऐसी कल्पना की जाती है। उससे पैदा होने के कारण ऐसे ये ही अवयव शिर आदि परमात्मा के हैं, और नहीं है॥ ११॥

कैसा स्पष्ट हो गया कि ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ही परमात्मा के मुख, भुजा, जाँघ, पेट, पैर आदि अवश्य कल्पना किये जा सकते हैं। वरना परमात्मा के और कोई अवयव नहीं हैं।

परमात्मा के मुखादि अवयवों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति मानना वेदविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या ही है।

(३४२) प्रश्न—'यस्मादेते' इत्यादि शतपथ भी हमारे अर्थ की पुष्टि करता है कि ब्राह्मणादि परमात्मा के मुखादि अङ्गों से पृथक्-पृथक् स्थानों से पैदा हुए। —पृ० ३०८, पं० १४

उत्तर—शतपथ के इस पाठ का यह अर्थ नहीं है जो आप करते हैं। यह शतपथ तो हमारी पुष्टि करता है, आपकी नहीं। देखिए, इस शतपथ का अर्थ यह है—

'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त' इत्यादि जिस कारण ब्राह्मण सब वर्णों में मुख्य हैं, इसलिए यह अर्थ संगत होता है कि मुख के समान पैदा हुए।

बतलाइए, इससे यह कहाँ से सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि परमात्मा के मुखादि अङ्गों से पैदा हुए?

(३४३) प्रश्न—पुरुषसूक्त तीन विषयों का वर्णन करता है। इसका प्रथम विषय इतिहास है, द्वितीय विषय पुरुष-मेधयज्ञ का क्रम, तीसरा विषय सृष्टिरचना है। —पृ० ३०९, पं० १७

उत्तर—पुरुषसूक्त का मुख्य विषय सृष्टि की उत्पत्ति वर्णन करना है। गौणरूप से वेदोक्त धर्म का उपदेश तथा वर्णों के कर्म, मनुष्यजाति के कर्त्तव्यों का वर्णन भी है। यदि पुरुषमेधयज्ञ के क्रम से आपका यही अभिप्राय है कि सूक्त में मनुष्यजाति के कर्त्तव्यों का क्रमशः वर्णन किया गया है तो ठीक है। यदि पुरुषमेध से आपका अभिप्राय पुरुष को मारकर होम करना है तो इस पौराणिक लानत का यजुर्वेद में नाम तक भी नहीं है। इतिहास से भी यदि आपका अभिप्राय सृष्टि के क्रम से वर्णन का हो तो ठीक है, और यदि आपका इतिहास से अभिप्राय मनुष्यों के इतिहास से हो तो आपका लेख ग़लत है, क्योंकि वेद अनादि ईश्वर का ज्ञान है। इनमें इतिहास का होना असम्भव है, क्योंकि इतिहास किसी मनुष्य के जन्म के पीछे लिखा जाता है, अनादि वेद में उसका

वर्णन कैसे हो सकता है?

(३४४) प्रश्न—'तं यज्ञं बर्हिषि' इत्यादि [यजुः० ३१।९] इस मन्त्र में तो इतिहास है।
—पृ० ३०९, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में किसी विशेष पुरुष का इतिहास नहीं है, अपितु सैद्धान्तिक रूप से बतलाया है कि जिस परमात्मा का ऋषि, महात्मा लोग सृष्टि के आदि में पूजन करते थे उसी का तुमको पूजन करना चाहिए, जैसाकि—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥
—यजुः० ३१।९

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो विद्वान् और योगाभ्यसादि साधन करते हुए मन्त्रार्थ जाननेवाले, ज्ञानी लोग जिस सृष्टि के पूर्व प्रसिद्ध हुए, सम्यक् पूजने योग्य, पूर्ण परमात्मा को मानस ज्ञानयज्ञ में सींचते, अर्थात् धारण करते हैं, वे ही उसके उपदेश किये हुए वेद से उसका पूजन करते हैं। उसको तुम लोग भी जानो॥ ९॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्यों को चाहिए कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का योगाभ्यासादि से सदा हृदय-अवकाश में ध्यान और पूजन किया करें॥ ९॥

कहिए महाराज! इस मन्त्र में कौन-सा, किसका इतिहास है? यदि नहीं तो वेद में इतिहास बतलाकर उसको अनित्य होने के कलंक से कलंकित न कीजिए।

(३४५) प्रश्न—फिर इसके आगे **'मुखं किमस्यासीत्'** मन्त्र में पुरुषमेध के लिए निराकार पुरुष के अङ्गों का प्रश्न है कि उस पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू, पाद क्या हैं? इसके आगे **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** यह मन्त्र है। इस मन्त्र में मुख, बाहू, ऊरू—ये तीन पद प्रथमान्त हैं, जैसे ये प्रथमान्त हैं ऐसे ही पाद शब्द भी प्रथमान्त होना चाहिए था किन्तु वह पञ्चम्यन्त है। इसका मतलब यह है कि इस मन्त्र के दो अर्थ होंगे। —पृ० ३०९, पं० २५

उत्तर—शुक्र है, आपने परमात्मा को निराकार तो माना! परन्तु यह क्या लिख दिया कि 'निराकार पुरुष के अङ्गों का प्रश्न', क्या निराकार के भी अङ्ग होते हैं? आप इस मन्त्र में पड़े **'व्यकल्पयन्'** पद को चुराना चाहते हैं, जिसका अर्थ है 'कल्पना करते हैं', जिससे स्पष्ट है कि निराकार के अङ्ग नहीं होते, किन्तु वर्णन में सुन्दरता लाने के लिए कल्पना किये गये हैं। वेद में विभक्तियों का व्यत्यय हो जाया करता है, अतः वेद में विभक्तियों की इतनी प्रबलता नहीं होती जितनी अविरोधी अर्थ की प्रबलता होती है। वेद की भाषा अनादि है और व्याकरण भाषा के पीछे बना करता है, अतः व्याकरण वेद की वाणी को पूर्णरूप से अपने में नहीं बाँध सका, तभी तो व्याकरण के कर्त्ता ने कहा कि **'व्यत्ययो बहुलम्', 'बहुलम् छन्दसि'।**

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

अप्रवृत्ति के स्थान में प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के स्थान में अप्रवृत्ति, विकल्प, कहीं कुछ और ही, वेदों के विधान को बहुत प्रकार से विचारकर 'बहुल' को चार प्रकार का कहते हैं, अतः विभक्तियों का जोड़मेल आपके लिए विशेष लाभदायक न होगा, तथापि दोनों मन्त्रों में प्रथमान्त सात पद हैं और पञ्चम्यन्त केवल एक पद, अतः सात की प्रबलता से एक भी प्रथमान्त ही माना जावेगा। यदि **'पद्भ्याम्'** को चतुर्थी का द्विवचन मान लें तो भी अर्थ प्रथमान्त के अनुकूल ही निकल पड़ता है। आप चाहे वेदमन्त्र के दो छोड़ पचास अर्थ करें, हमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि वे परस्पर-विरुद्ध अथवा वेद के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। अच्छा अब अर्थ कीजिए।

(३४६) प्रश्न—प्रथम अर्थ में मुख, बाहू, ऊरू, पाद, ये चारों शब्द प्रथमान्त लिये जावेंगे। ब्राह्मण इस पुरुष का मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य ऊरू, शूद्र पाद यह अर्थ हुआ। इस अर्थ से प्रथम मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर भी हो गया। —पृ० ३१०, पं० २

उत्तर—परमात्मा आपका भला करे! आख़िर ठिकाने पर आ ही गये! यदि सुबह का भूला हुआ शाम को घर आ जावे तो उसे भूला हुआ न जानना चाहिए। यदि इसी प्रकार से अक़्ल से काम लेते तो आपको इस किताब में कुफ्र तोड़ने की नौबत ही क्यों आती?

(३४७) प्रश्न—जहाँ वेद ने ईश्वर के मुख का पूजन लिखा है वहाँ ब्राह्मण का पूजन होगा, क्योंकि ब्राह्मण ईश्वर का मुख है। जहाँ ईश्वर की भुजाओं का पूजन है वहाँ क्षत्रियों का और ईश्वर के ऊरूपूजन में वैश्यों का पूजन तथा पाद के पूजन में शूद्रों का पूजन हो जावेगा। इस अर्थ से पुरुषमेध का पूजनक्रम निकला। —पृ० ३१०, पं० ६

उत्तर—आपने उपर्युक्त लेख से कई-एक वैदिक सचाइयों को स्वीकार कर लिया। प्रथम तो शूद्रों को पूज्य ठहराकर आपने अछूतोद्धार पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। दूसरे, आपने स्वीकार कर लिया कि केवल ब्राह्मण ही पूज्य नहीं हैं, अपितु चारों वर्ण परस्पर एक-दूसरे के लिए पूज्य हैं। तीसरे, अब परमात्मा की मूर्त्ति बनाने की आवश्यकता ही न रही, जिसे सम्पूर्ण ब्रह्म की पूजा करनी हो वह चारों वर्णों की पूजा कर ले। चौथे, परमात्मा को पुरुष कल्पित करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को उसका मुख, भुजा, ऊरू, पाद कल्पना करने का प्रयोजन चारों वर्णों की योग्यता का प्रतिपादन मानकर कर्म से वर्णव्यवस्था को मान लिया। पाँचवें, आपने पुरुष की बलि का खण्डन करके परस्पर-पूजा को ही पुरुषमेधयज्ञ मानकर यज्ञ में हिंसा का निराकरण मान लिया।

(३४८) प्रश्न—दूसरे अर्थ में मुख, बाहू, ऊरू इन तीन पदों को वैसे ही पञ्चम्यन्त बनाना पड़ेगा, जैसे '**पद्भ्यां**' पञ्चम्यन्त है। ऐसा करने पर अर्थ यह होगा कि 'ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य, पैरों से शूद्र। मन्त्र के अन्त में '**अजायत**' क्रिया पड़ी है, जिसका अर्थ है 'उत्पन्न हुए'—यह सृष्टि-उत्पत्ति का अर्थ है। —पृ० ३१०, पं० ११

उत्तर—आपका यह अर्थ सर्वथा असंगत, वेदविरुद्ध और असम्भव है। चूँकि प्रथम मन्त्र में यह प्रश्न है कि इस कल्पित पुरुष के मुखादि कौन हैं, अतः उत्तर यही संगत हो सकता है कि कल्पित पुरुष के मुखादि ब्राह्मणादि ही हैं। जब प्रथम मन्त्र में ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं है तो उत्तर में ब्राह्मणादि की पैदाइश का वर्णन करना प्रकरणविरुद्ध होने से असंगत है।

चूँकि वेद कहता है कि '**अकायमव्रणमस्नाविरम्**' परमात्मा शरीररहित, घावशून्य तथा नस-नाड़ी के बन्धन से रहित है। जब परमात्मा के शरीर ही नहीं है तो उसके मुखादि शरीर-अवयवों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति मानना वेदविरुद्ध होने से असत्य है। चूँकि परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वदेशी, निराकार, निरवयव है, अतः उसके शरीर से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति असम्भव है। जब आपका अर्थ ही असंगत, वेदविरुद्ध तथा असम्भव हो गया तो उसके लिए एक विभक्ति के मुक़ाबले में सात विभक्तियों को तब्दील नहीं किया जा सकता। रही बात '**अजायत**' क्रिया की, सो 'अजायत' का अर्थ प्रकट होना, प्रसिद्ध होना भी है। और यदि 'पैदा हुए' ही अर्थ करना है तो 'शूद्र पाँवों के सदृश पैदा हुए' यह अर्थ संगत हो सकता है। यदि 'पद्भ्यां' को चतुर्थ्यन्त मान लें तो पाँव-स्थानी शूद्र पैदा हुए, यह अर्थ भी संगत हो जाता है। आपकी सारी ही कल्पना मिथ्या है।

अब हम यह विचारना चाहते हैं कि आप ब्राह्मणादि को ब्रह्म के मुखादि अवयवों से पैदा होने के असम्भव अर्थ पर इतना बल क्यों दे रहे हैं। हाँ, याद आया आप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के उत्पत्ति-स्थानों को भिन्न-भिन्न सिद्ध करके वर्णपरिवर्तन का निषेध करना चाहते हैं, सो हो न सकेगा। देखिए, मनुष्य के शरीर में उपादानकारण माता और पिता का सम्पूर्ण शरीर

होता है, क्योंकि माता-पिता का वीर्य शरीर के अङ्ग-अङ्ग से पैदा होकर बच्चे के शरीर को बनाता है, अतः बच्चे की शक्ल माता-पिता के शरीर जैसी होती है, माता की योनि तो महज़ बच्चे के बाहर आने का साधन ही होता है। इसी प्रकार आप ब्राह्मणादि की उत्पत्ति ब्रह्म के सारे शरीर से और मुखादि को केवल बाहर आने का साधन योनिवत् मानते हैं या ब्रह्म के मुख, भुजा, ऊरू तथा पाद को पृथक्-पृथक् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति में माता-पिता के शरीरवत् उपादानकारण मानते हैं? यदि पहली बात हो कि ब्राह्मणादि के शरीर का उपादानकारण तो ब्रह्म का सारा शरीर है, मुखादि तो केवल योनिवत् बाहर आने का साधन ही है, फिर सारे मनुष्य ही ब्राह्मण हैं, क्योंकि सबके शरीर का उपादानकारण ब्रह्म का सारा शरीर है। बाहर आने के रास्ते भिन्न-भिन्न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता, जैसाकि—

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम्॥ ८९॥
ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणः सम्प्रसूताः, बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः, सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः॥ ९०॥

—महा० शान्ति० अ० ३१८

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ १०॥

—महा० शान्ति० अ० १८८

भाषार्थ—सारे वर्ण ब्राह्मण हैं, क्योंकि ब्रह्म से पैदा हुए हैं और सब ब्रह्म का उच्चारण करते हैं। मैं ब्रह्मबुद्धि से तत्त्व का विचार करके कहता हूँ कि यह सारे-का-सारा जगत् ही ब्रह्म है॥ ८९॥ ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण पैदा हुए, भुजा से क्षत्रिय पैदा हुए, नाभि से वैश्य तथा पाँवों से शूद्र पैदा हुए, अतः सारे वर्णों को अन्यथा न जानना चाहिए॥ ९०॥ वर्णों में कोई विशेषता नहीं है। यह सारा ही जगत् ब्राह्मण है। ब्रह्म ने ही पूर्व रचा है और कर्मों के अनुसार वर्णभाव को प्राप्त हो गया॥ १०॥

और यदि दूसरी बात मानें कि ब्रह्म के मुखादि पृथक्-पृथक् ब्राह्मण आदि के शरीरों में माता-पितावत् उपादानकारण हैं तो फिर ब्राह्मणों की आकृति मुख के समान गोल-गोल कद्दू की भाँति होनी चाहिए। क्षत्रियों के शरीर भुजा की भाँति लम्बे-लम्बे डण्डे-से तथा वैश्यों के शरीर पेट की भाँति घड़े के समान वा जाँघों के समान तथा शूद्र के शरीर पग के समान होने चाहिएँ, किन्तु ऐसा संसार में नज़र नहीं आता। चारों वर्णों की आकृति एक-सी ही है और बनावट से किसी ब्राह्मणादि का पता नहीं लगता। इससे सिद्ध है कि ब्रह्म के अंगों से पैदा होने की कल्पना मिथ्या ही है। चारों वर्णों की एक ही मनुष्यजाति है। वर्णों का भेद कर्मानुसार है, जैसाकि—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते। संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥ ३१॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः। वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम्॥ ३२॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि। तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥ ३३॥

—महा० वन० अ० १८०

भाषार्थ—युधिष्ठिर ने कहा कि हे महामति सर्प! यहाँ मनुष्यजाति चारों वर्णों में मिली हुई होने से परीक्षा में नहीं आ सकती—ऐसा मेरा निश्चय है॥ ३१॥ सब वर्णों के पुरुष सब वर्णों की स्त्रियों में सदा सन्तान पैदा करते हैं। वाणी, मैथुन, जन्म, तथा मरण सब वर्णों का समान ही है॥ ३२॥ यह ऋषियों का प्रमाण है कि जो यज्ञ करें वे द्विज हैं, अतः जो तत्त्व के जाननेवाले

हैं, वे गुण-कर्म-स्वभाव को ही वर्णों में प्रधानकारण समझते हैं॥ ३३॥

यदि आप केवल मुख से पैदा होना ही ब्राह्मणपन में हेतु मानते हैं तो पुराणों के पढ़ने से पता लगता है कि मुख से पैदा होकर भी ब्राह्मण न बने, कई मुख से न पैदा होकर भी ब्राह्मण बन गये, जैसेकि—

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः। जृम्भमानस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥ ७॥

—वाल्मी० बाल० स० १७

चरणाभ्यां तथा द्वौ तु पादाभ्यां द्वौ तथा खग॥ २६॥
य एते मत्सुता राजन्नर्घ्या ब्राह्मणसत्तमा॥ ३१॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ११७

भाषार्थ—ब्रह्माजी बोले कि पहले-पहल मैंने जाम्बवान् नाम का श्रेष्ठ रीछ पैदा किया। जंभाई लेते हुए मेरे मुख से वह अचानक पैदा हो गया॥ ७॥

चूँकि रीछों का वंशधर जाम्बवान् ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ था तो क्या आप सब रीछों को ब्राह्मण मानने को तैयार हैं? यदि नहीं तो सिद्ध हुआ कि केवल मुख से पैदा होना ब्राह्मणपन में कारण नहीं हो सकता।

सूर्य ने कहा कि दो मेरे चरणों से तथा दो मेरे पाँवों से पैदा हुए॥ २६॥ हे राजन्! जो ये मेरे पुत्र हैं, ये सब पूजा करने के योग्य श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं॥ ३१॥

यहाँ सूर्य के चरणों से पैदा हुए चार पुत्र ब्राह्मण बन गये और अन्यत्र कपिला से ब्राह्मणों की उत्पत्ति बताई है, जैसे—

अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा। अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्तितम्॥ ५२॥

—महा० आदि० अ० ६५

भाषार्थ—अमृत, ब्राह्मण, गौवें, गन्धर्व तथा अप्सराएँ दक्ष की पुत्री कपिला से पैदा हुए। यह पुराणों में लिखा है॥ ५२॥

अतः सिद्ध हुआ कि मुख से बिना पैदा हुए भी ब्राह्मण बन सकते हैं। जब मुख से पैदा होकर भी कई ब्राह्मण न बने और कई बिना मुख से पैदा हुए ब्राह्मण बन गये तो केवल मुख से पैदा होना सिद्ध करने के लिए निराकार, शरीररहित ब्रह्म के मुखादि की कल्पना करना वेदविरुद्ध होने से महापाप है।

(३४९) प्रश्न—तृण, अन्न, वृक्ष, पक्षी, पशु, पाषाण प्रभृति किसी भी जाति में गुणाधिक्य और गुणाभाव से परिवर्तन नहीं होता, फिर मनुष्यजाति में कैसे होगा? —पृ० ३१०, पं० २१

उत्तर—श्रीमान्जी! होश से बात करें। जाति कहते ही उसको हैं जो पैदा होने से मरने तक कोशिश करने पर भी तब्दील न हो सके। कोई आदमी को गधा तथा गधे को आदमी इनके जीवन में नहीं बना सकता, क्योंकि गधे में गधापन तथा आदमी में आदमीपन ये जातियाँ हैं, जो तब्दील नहीं हो सकतीं; परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये जातियाँ नहीं हैं, ये वर्ण हैं जोकि गुण-कर्म-स्वभाव की तब्दीली से तब्दील भी हो जाते हैं, जैसे—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ २१॥
शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ २५॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥ २६॥

—महा० वन० अ० १८

भाषार्थ—युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि हे सर्पराज! सत्य, दान, क्षमा, शील नम्रता, तप, पाप

से घृणा, ये बातें जिसमें नज़र आवें वह ब्राह्मण है॥ २१॥ यदि शूद्र में ये चिह्न वा लक्षण हों और ब्राह्मण में ये लक्षण न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं॥ २५॥ जिसके जीवन में ये लक्षण हों उसका नाम ब्राह्मण और जिसके जीवन में न हों उसी को शूद्र कहते हैं॥ २६॥

इससे सिद्ध है कि और जातियों की भाँति मनुष्यजाति भी तब्दील नहीं हो सकती, वर्ण तब्दील हो जाते हैं, क्योंकि वर्ण और चीज़ है, जाति और चीज़ है।

(३५०) प्रश्न—तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। —छान्दोग्य० ५।१०।७

भाषार्थ—जो यहाँ शुभाचरण करते हैं वे शीघ्र ही रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं, और जो जीव यहाँ निन्दित कर्मवाले हैं वे निन्दितयोनि—कूकरयोनि, शूकरयोनि वा चाण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं॥ ७॥

कल्पना करो एक मनुष्य ने पहले जन्म में ऐसे कर्म किये जिन कर्मों से वह शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ और उसका नाम झगड़ू रक्खा गया। अब वह पढ़ गया, पढ़ने पर ब्राह्मण बनना चाहता है, कैसे बनेगा? क्या वह पण्डित शेखरचन्द्र के पूर्वजन्मों के कर्मों से बन जाएगा? वह पूर्वजन्म के कर्म किसके पूर्वकर्म से बदल डालेगा? —पृ० ३१०, पं० २४

उत्तर—यह ठीक है कि किसी जीव का जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल के घर पूर्व-शुभाशुभ कर्मों के अनुसार होता है, किन्तु जन्म होने के पश्चात् पिछले कर्म उसको उन्नति और अवनति करने में रुकावट नहीं डालते, क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। पिछले शुभाशुभ कर्मों का फल उसे सुख वा दुःख के रूप में मिलेगा, किन्तु पिछले किये हुए कर्म अगले किये जानेवाले कर्मों में रुकावट नहीं डालते। यदि अगले किये जानेवाले कर्मों में पिछले किये हुए कर्मों को कारण मान लिया जावे तो जो जीव एक बार पापकर्म करके नीचयोनि को प्राप्त हो जावेगा, फिर वह कभी भी उन्नति कर ही न सकेगा, क्योंकि पिछले पापकर्मों के कारण वह आगे को भी पापकर्म ही करता चला जावेगा और पतित होता चला जावेगा, अतः यही ठीक है कि पिछले किये हुए कर्म अगले किये जानेवाले कर्मों में कारण नहीं हैं; पिछले कर्मों का फल सुख-दुःख रूप में मिलेगा। आगे को वह स्वतन्त्रता से अच्छे काम करके उन्नति तथा बुरे काम करके अवनति को प्राप्त हो सकता है। यदि कोई जीव अपने पिछले कर्मों के कारण शूद्र के घर पैदा हो गया तो उस झगड़ू शूद्र को अधिकार प्राप्त है कि वह आगे को शुभकर्म करके उन्नति करके ब्राह्मण तक बन सके। वह किसी शेखरचन्द्र के कर्मों से नहीं अपितु अपने इस जन्म के शुभकर्मों से उन्नति करेगा, जैसेकि अनेक व्यक्तियों ने की, देखिए—

असितो देवलश्चैव तथा नारदपर्वतौ। कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्ताण्ड्यस्तथात्मवान्॥ १५॥
वसिष्ठो जमदग्निश्च विश्वामित्रोऽत्रिरेव च। भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः॥ १६॥
एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः। लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादात्तस्य धीमतः॥ १७॥
अनर्हाश्चार्हतां प्राप्ताः सन्तः स्तुत्वा तमेव ह। न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥ १८॥

—महा० शान्ति० अ० २९२

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु। दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्॥ १२॥
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः। तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः॥ १३॥

—महा० वन० अ० २१५

भाषार्थ—असित और देवल तथा नारद और पर्वत, कक्षीवान्, जामदग्न्य राम तथा आत्मवान् ताण्ड्य॥ १५॥ वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र तथा अत्रि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधर, श्रुतश्रवा॥ १६॥

ये महर्षि एकाग्र मन से ऋचाओं द्वारा विष्णु की स्तुति करके उस बुद्धिमान् की दया से तप द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुए॥ १७॥ अपूज्य थे किन्तु उसी सन्त की स्तुति करके पूज्यपन को प्राप्त हो गये। इस संसार में किसी मनुष्य को पापकर्म करके वृद्धि की इच्छा नहीं करनी चाहिए॥ १८॥

ब्राह्मण पतित करनेवाले पापकर्मों में वर्त्तमान हुआ, मक्कार, कुकर्मी प्रायः शूद्र के सदृश होता है॥ १२॥ जो शूद्र दम, सत्य और धर्म में सदा उन्नति करता है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ, क्योंकि आचार से ही द्विज होता है॥ १३॥

इससे सिद्ध हुआ कि पूर्वकर्मानुसार हीनवर्ण में पैदा होकर भी पुरुषार्थ से प्रत्येक मनुष्य उन्नति करके ब्राह्मण तक के पद को प्राप्त हो सकता है।

(३५१) प्रश्न—जाति नाम शरीर का है। वह बदलेगा कैसे? कदापि नहीं बदल सकता।

—पृ० ३११, पं० १३

उत्तर—श्रीमान्‌जी! यदि जाति नाम शरीर का है तो भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि ब्राह्मण से शूद्र तथा शूद्र से ब्राह्मण बनने के लिए शरीर के बदलने की आवश्यकता नहीं, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव के बदलने से ही वर्ण बदल जाता है, जैसेकि—

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः॥ २॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः। नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥ ३॥
सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ ४॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः। दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते॥ ५॥
विशत्याशु पशुभ्यश्च कृष्यादानरतिः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥ ६॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः। त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥ ७॥
शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्मं द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च॥ ८॥

—महा० शान्ति० अ० १८९

भाषार्थ—जो जातकर्मादि संस्कारों से संस्कृत, शुद्ध, वेदों का स्वाध्याय करनेवाला छह कर्मों में स्थित हो॥ २॥ शुद्ध आचार में स्थित, पापरहित भोजन करनेवाला, गुरु का प्यारा, सदा ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करनेवाला, सत्यवादी हो, वही ब्राह्मण कहा जाता है॥ ३॥ सत्य, दान, अद्रोह, नम्रता, कुकर्म से लज्जा, दया तथा तप, ये जहाँ पर नज़र पड़ें वह ब्राह्मण कहा जाता है॥ ४॥ क्षत्रियों के कर्मों का सेवन करनेवाला, वेदों के अध्ययन में लगा हुआ, कर लेना तथा दान देने में जो प्रेमी हो, वह क्षत्रिय कहा जाता है॥ ५॥ जो पशुओं की विद्या में शीघ्र प्रवेश करनेवाला, खेती करने, दान देने में प्रेमी, शुद्ध, वेदाध्ययन करनेवाला हो, उसकी वैश्य संज्ञा है॥ ६॥ जो सदा सर्वभक्ष में प्रेमी, सब सेवा के काम करनेवाला, अशुद्ध रहनेवाला, वेदों का पढ़ना जिसने छोड़ दिया, आचारहीन हो, वह शूद्र कहाता है॥ ७॥ ये लक्षण यदि शूद्र में हों तथा द्विज में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं तथा वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं, अर्थात् जिसमें जो लक्षण हों वह वही है॥ ८॥

यहाँ कैसे स्पष्ट शब्दों में चारों वर्णों के गुण-कर्म-स्वभाव तथा वर्ण-परिवर्तन का वर्णन है!

यद्यपि जातिशब्द वर्ण के लिए प्रयुक्त करना उचित नहीं, तथापि जहाँ पर किसी ग्रन्थकार ने वर्ण के लिए जाति शब्द प्रयुक्त किया है, वहाँ पर जाति को परिवर्तनशील तथा जाति को शरीर से भिन्न भी माना जाता है, जैसे—

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत। आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा॥ ८॥

—महा० उद्योग० अ० ४४

भाषार्थ—हे भारत! पिता और माता ये दोनों शरीर को बनाते हैं। आचार्य से नियत की हुई जो जाति है वही पवित्र, अजर और अमर है।

यहाँ स्पष्टरूप से जाति को शरीर से भिन्न तथा परिवर्तनशील माना है, अतः यहाँ जाति नाम वर्ण का है, किसी वस्तु का नहीं।

(३५२) प्रश्न—योगदर्शन लिखता है जिस कर्म से जाति, आयु, भोग मिले हैं, जबतक उस कर्म को नहीं भोग लिया जावेगा जाति, आयु, भोग बदल नहीं सकते।

—पृ० ३११, पं० १५

उत्तर—आपने वह सूत्र क्यों नहीं दिया? केवल योगदर्शन का नाम लिखकर मनमाना अर्थ लिख दिया। लीजिए, हम मूल सूत्र और उसका वास्तविक अर्थ देते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। —योग० २।१३

भाषार्थ—कर्मों के मूलकारण के विद्यमान रहने पर उसके फलस्वरूप मनुष्य को जाति, आयु तथा भोग मिलता है।

इस सूत्र से स्पष्ट है कि मनुष्य को कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग मिलता है। यहाँ भी जाति शब्द वर्ण का ही वाचक है। जैसे कंगाल आदमी पुरुषार्थ से सम्पत्ति प्राप्त करके भोग बदल सकता है, जैसे मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि साधनों से आयु को अधिक कर सकता है वैसे ही प्रत्येक मनुष्य गुण-कर्म-स्वभाव से जन्मजाति को भी बदल सकता है, जैसेकि—

उत्पाद्य पुत्रान्मुनयो नृपते यत्र तत्र च। स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः॥ १३॥
पितामहश्च मे पूर्वमृष्यशृङ्गकश्यपः। वेदस्ताण्ड्यः कृपश्चैव कक्षीवान् कमठादयः॥ १४॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वरः। आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मात्स्य एव च॥ १५॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात्। प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि॥ १६॥
मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव। अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च॥ १७॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव। नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम्॥ १८॥

—महा० शान्ति० अ० २९६

भाषार्थ—मुनि लोगों ने जहाँ कहीं से पुत्रों को पैदा करके हे राजन्! उनको अपने तप से फिर ऋषि बना दिया॥ १३॥ मेरा दादा वसिष्ठ, ऋष्यशृङ्ग, कश्यप, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमठ आदि॥ १४॥ यवक्रीत, द्रोणाचार्य, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुपद, मात्स्य॥ १५॥ हे जनक! ये सब तप के आश्रय से अपनी पदवी को प्राप्त हुए, वेद के जानने से प्रतिष्ठित हुए, दम तथा तप से उन्नति कर गये॥ १६॥ हे राजन्! मूलगोत्र चार ही पैदा हुए—अंगिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु॥ १७॥ हे राजन्! अन्य गोत्र कर्म से पैदा हुए। सत्पुरुषों के तप के कारण नाम ग्रहण कर लिये गये॥ १८॥

इससे स्पष्ट है कि कर्मानुसार आयु तथा भोग की भाँति ही जाति अर्थात् वर्ण भी कर्मानुसार बदल जाता है।

(३५३) प्रश्न—वेद में अनेक जातियों का वर्णन है। यजुर्वेद १६।२८ में निषादजाति का, १६।२६ में क्षत्ताजाति का, १६।२८ में तक्ष, रथकार, कुम्हारजाति का, ३०।५ में अयोगू, मागधजाति का, ३०।६ में सूत, शैलूष, रथकारजाति का, ३०।७ में मणिकारजाति का, ३०।८ में धानुकजाति का, ३०।११ में पीलवान्, साईस, गोपाल, अजपाल, सुराकारजाति का, ३०।१६ में धीवर, दाश, वैन्द, कैवर्त्त, किरातजाति का , ३०।१७ में हिरण्यकार, ३०।२० में वीणावादक तलवजाति का, ३०।२१ में चाण्डालवंश नर्तनजाति का, ३०।१२ में धोबी, रंगरेज़जाति का,

३०।१५ में चमारजाति का, ३०।१६ में भीलजाति का, ३०।१४ में लुहारजाति का नाम मौजूद है। यदि गुणाधिक्य और गुणहीनता के आधार पर चार ही जातियाँ बन सकती हैं, तो फिर वेद ने इन विविध जातियों का उल्लेख क्यों किया? —पृ० ३११, पं० १९

उत्तर—आप भी विचित्र प्रकृति के मनुष्य हैं। आप झूठ बोलने को तो चूर्ण की गोली समझते हैं। आपने यजुर्वेद के जितने प्रमाण पेश किये हैं एक में भी जाति शब्द मौजूद नहीं है और न ही वेद मनुष्यों में आपके कपोलकल्पित जातिभेद को मानता है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के जो मन्त्र आपने दिये हैं इनमें तो प्रत्येक प्रकार के मनुष्य के साथ यथायोग्य बर्ताव की वेद ने शिक्षा दी है। इनमें जातियों की गन्ध भी नहीं है, जैसेकि—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽरथिभ्यश्च वो नमो नमः क्षतृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च व नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः॥ २६॥

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥ २७॥

—यजुः० अ० १६

भाषार्थ—हे राज और प्रजा के पुरुषो! जैसे हम लोग शत्रुओं को बाँधनेहारे सेनास्थ पुरुषों का सत्कार करते और तुम सेना के नायक प्रधानपुरुषों को अन्न देते हैं; प्रशंसित रथवाले पुरुषों का सत्कार और तुम रथों से पृथक् पैदल चलनेवालों का सत्कार करते हैं; क्षत्रिय की स्त्री में शूद्र से उत्पन्न हुए के लिए अन्नादि पदार्थ देते और तुम अच्छे प्रकार युद्ध की सामग्री को ग्रहण करनेहारों का सत्कार करते हैं; विद्या और अवस्था में वृद्ध, पूजनीय महाशयों को अच्छा पकाया हुआ अन्नादि देते और तुम क्षुद्राशय, शिक्षा के योग्य विद्यार्थियों का निरन्तर सत्कार करते हैं वैसे तुम लोग भी दिया-किया करो॥ २६॥

भावार्थ—राजपुरुषों को चाहिए कि सब भृत्यों को सत्कार और शिक्षापूर्वक अन्नादि पदार्थों से उन्नति देके धर्म से राज्य का पालन करें॥ २६॥

हे मनुष्यो! जैसे राजा आदि हम लोग पदार्थों को सूक्ष्मक्रिया से बनानेहारे तुमको अन्न देते और बहुत से विमानादि यानों को बनानेहारे तुम लोगों को परिश्रमादि का धन देके सत्कार करते हैं, मिट्टी के प्रशंसित पात्र बनानेवालों को अन्नादि पदार्थ देते और खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनानेवाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं, वन और पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना देनेवाले तुमको अन्नादि देते और श्वेतादि वर्णों वा भाषाओं में प्रवीण तुम्हारा सत्कार करते हैं, कुत्तों को शिक्षा करनेहारे तुमको अन्नादि देते और अपने आत्मा से वन के हरिण आदि पशुओं को चाहनेवाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं, वैसे तुम लोग भी करो॥ २७॥

भावार्थ—विद्वान् लोग जो पदार्थविद्या को जानके अपूर्व कारीगरीयुक्त पदार्थों को बनावें उनको पारितोषिक आदि देके प्रसन्न करें और जो कुत्ते आदि पशुओं की अन्नादि से रक्षा कर तथा अच्छी शिक्षा देके उपयोग में लावें उनको सुख प्राप्त करावें॥ २७॥

कहिएगा श्रीमान्‌जी! इनमें जातियों का वर्णन कहाँ है!

(१) १६।२६ में किसी क्षत्ता नाम की जाति का वर्णन नहीं है, अपितु वेद ने एक उदाहरण देकर हमें यह आज्ञा दी है कि प्रतिलोमज सन्तान का भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार यथावर्ण अन्नादि पदार्थों तथा नमस्करादि प्रिय शब्दों से सत्कार करो।

(२) १६।२७ में किसी निषादजाति का वर्णन नहीं है, अपितु जो वन और पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना दे, उसी का नाम निषाद है।

(३) १६।२७ में तक्ष नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो पदार्थों को सूक्ष्मक्रिया

से बनावे, उसी का नाम तक्ष है।

(४) १६।२७ में रथकार किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो बहुत-से विमानादि यानों को बनावे, उसी का नाम रथकार है।

(५) १६।२७ में कुम्भकार व कुलाल किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो मिट्टी के प्रशंसित पात्र बनावे उसी का नाम कुलाल है।

यजुर्वेद के इन दोनों मन्त्रों में जैसे सेना, सेनानी, रथि, अरथि, संग्रहीता, महान्, अर्भक, कर्म, पुञ्जिष्ठ, श्वनि, मृग्यु—ये विशेष जातियों के नाम नहीं, अपितु विशेष गुणवाले तथा विशेष अवस्थावाले मनुष्यों के वर्णन **हैं**, वैसे ही क्षत्ता, तक्ष, रथकार, कुलाल तथा निषाद भी विशेष गुणों के कारण उपर्युक्त सब प्रकार के विशेष गुण रखनेवाले मनुष्य का अन्नादि पदार्थों तथा नमस्कार आदि प्रियवचनों से आदर-सत्कार करने की वेद ने आज्ञा दी है।

अब रही बात यजुर्वेद के तीसवें अध्याय की, सो इसमें भी कर्मानुसार मनुष्यजाति के विभागों का वर्णन है, विशेष जातियों का वर्णन नहीं है। इस बात को स्वयं वेद ही कहता है; जैसेकि—

विभक्तारꣳहवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्॥ ४॥—यजुः० अ० ३०

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस सुखों के निवास के हेतु, आश्चर्यरूप धन का विभाग करनेहारे, सबके उत्पादक, सब मनुष्यों के अन्तर्यामी, स्वरूप से सब कामों के देखनेहारे परमात्मा की हम लोग प्रशंसा करें, उसकी तुम लोग भी प्रशंसा करो॥ ४॥

भावार्थ—हे राजन्! जैसे ईश्वर अपने-अपने कर्मों के अनुकूल सब जीवों को फल देता है, वैसे आप भी देओ। जैसे जगदीश्वर जैसा जिसका पाप वा पुण्यरूप जितना कर्म है उतना, वैसा फल उसके लिए देता है, वैसे आप भी जिसका जैसा वस्तु वा जितना कर्म है उसको वैसा वा उतना, फल दीजिए। जैसे ईश्वर पक्षपात को छोड़कर सब जीवों में वर्त्तता है, वैसे आप भी हूजिए॥ ४॥

इसकी पुष्टि आपके भाष्यकार उव्वट भी करते हैं कि—

'विभक्तारं कर्मानुरूपेण विभक्तारम्' कर्मों के अनुसार विभाग करनेवाले परमात्मा को स्वीकार करें।

बस इस मन्त्र की रोशनी में सारे अध्याय का अर्थ कर्मानुसार (पेशों के अनुसार) मनुष्यजाति का विभाग करना है, जैसेकि—

(६) **'आक्रयाया अयोगूम्'** [३०।५] में अयोगू किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो लोहे के हथियारविशेष के साथ चलनेवाला जन हो, उसी का नाम अयोगू है।

(७) **'अतिक्रुष्टाय मागधम्'** [३०।५] इस मन्त्र में मागध किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो मनुष्यों की प्रशंसा करे, उसी का नाम मागध है।

(८) **'नृत्ताय सूतम्'** [३०।६] इस मन्त्र में सूत किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो नाचने का काम करे, उसी का नाम सूत है।

(९) **'गीताय शैलूषम्'** [३०।६] में शैलूष किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो गानेहारा नट का काम करे, उसी का नाम शैलूष है।

(१०) **'मेधायै रथकारम्'** [३०।६] इस मन्त्र में रथकार किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो विमानादि का रचनेहारा कारीगर हो, उसी का नाम रथकार है।

(११) **'रूपाय मणिकारम्'** [३०।७] इस मन्त्र में मणिकार किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भी मणियों के बनाने का काम करे, उसी का नाम मणिकार है।

(१२) **'नदीभ्यः पौञ्जिष्ठम्'** [३०।८] इस मन्त्र में पौंजिष्ठ नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो जन नदियों को बिगाड़ने के लिए प्रवृत्त हो, उसका नाम पौंजिष्ठ है।

(१३) **'अर्मेभ्यो हस्तिपम्'** [३०।११] यहाँ पर हस्तिप नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो हाथियों का रक्षक हो, उसी का नाम हस्तिप है।

(१४) **'जवायाश्वपम्'** [३०।११] यहाँ पर अश्वप किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो कोई भी घोड़ों का रक्षक, शिक्षक होगा, उसी का नाम अश्वप होगा।

(१५) **'पुष्ट्यै गोपालम्'** [३०।११] यहाँ पर गोपाल किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो गौवों के पालनेहारा हो, उसी का नाम गोपाल है।

(१६) **'वीर्यायाविपालम्'** [३०।११] यहाँ पर अविपाल किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भेड़ों का पालन-पोषण करे, उसी का नाम अविपाल है।

(१७) **'तेजसेऽजपालम्'** [३०।११] यहाँ पर अजपाल किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो बकरियों की रक्षा करे, उसी का नाम अजपाल है।

(१८) **'कीलालाय सुराकारम्'** [३०।११] यहाँ पर सुराकार किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भी सोम आदि ओषधियों का रस निकालनेवाला हो, उसी का नाम सुराकार है।

(१९) **'सरोभ्यो धैवरम्'** [३०।१६] यहाँ पर धीवर नाम किसी विशेषजाति का नहीं है अपितु जो समुद्र, नदी, तालाब आदि में तैरने आदि की बुद्धिपूर्वक क्रिया को ग्रहण करता है, उसी का नाम धीवर है।

(२०) **'उपस्थावराभ्यो दाशम्'** [३०।१६] इस मन्त्र में दाश नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जिसको खानपान देकर सेवक के काम पर लगाया जावे, उसी का नाम दाश है।

(२१) **'वैशन्ताभ्यो वैन्दम्'** [३०।१६] यहाँ पर वैन्द नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो छोटे-छोटे जलाशयों का प्रबन्ध करे, उसी का नाम वैन्द है।

(२२) **'अवाराय कैवर्तम्'** [३०।१६] यहाँ पर कैवर्त नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो जल में नौका को इस पार, उस पार पहुँचानेवाला हो, उसी का नाम कैवर्त है।

(२३) **'गुहाभ्यः किरातम्'** [३०।१६] यहाँ किरात नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो पहाड़ों की गुहा में रहनेवाला, जंगली मनुष्य हो, उसी का नाम किरात है।

(२४) **'वर्णाय हिरण्यकारम्'** [३०।१७] यहाँ पर हिरण्यकार नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो भी सोने आदि धातुओं का काम करे, उसी का नाम हिरण्यकार है।

(२५) **'महसे वीणावादम्'** [३०।२०] यहाँ पर वीणावाद किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भी वीणा बजावे, उसी का वीणावाद है।

(२६) **'आनन्दाय तलवम्'** [३०।२०] यहाँ पर तलव नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो भी राग में ताली आदि के बजानेवाला हो, उसे ही तलव कहते हैं।

(२७) **'वायवे चाण्डालम्'** [३०।२१] यहाँ पर चाण्डाल नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो भी नीच काम करे, उसी का नाम चाण्डाल है।

(२८) **'अन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनम्'** [३०।२१] यहाँ पर वंशनर्ती किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भी बाँस लेकर उससे नाचने, खेलने का काम करे, उसी का नाम वंशनर्ती है।

(२९) **'मेधाय वासः पल्पूलीम्'** [३०।१२] यहाँ पर वासःपल्पूली किसी विशेषजाति का नाम नहीं है, अपितु जो भी वस्त्रों को साफ करनेवाली ओषधि वा स्त्री हो उसी का नाम

वास:पल्पूली है।

(३०) **'प्रकामाय रजयित्रीम्'** [३०।१२] यहाँ पर रजयित्री नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो भी उत्तम रंग करनेवाली ओषधि व स्त्री हो, उसका नाम रजयित्री है।

(३१) **'साध्येभ्यश्चर्मम्नम्'** [३०।१५] यहाँ पर चर्मम्न नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो चमड़े के विज्ञान में अभ्यास करनेवाला है, उसी का नाम चर्मम्न है।

(३२) **'स्वनेभ्यः पर्णकम्'** [३०।१६] यहाँ पर्णक नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो रक्षा करने में निन्दित हो, उसी का नाम पर्णक है।

(३३) **'मन्यवेऽयस्तापम्'** [३०।१४] यहाँ पर अयस्ताप नाम किसी विशेषजाति का नहीं है, अपितु जो भी लोहे को तपाकर उससे विविध प्रकार की वस्तुएँ बनावे, उसी का नाम अयस्ताप है।

ये जातियाँ नहीं हैं, अपितु कर्मानुसार, पेशे के अनुसार मनुष्यजाति के भेदों का वर्णन है और पेशे के बदलने से नाम भी बदल जाते हैं। इनमें से मागध, शैलूष, तलव, वीणावाद—ब्राह्मण; और अयोगू, वैन्द, पर्णक—क्षत्रिय; तथा तक्ष, रथकार, कुम्भकार, मणिकार, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, धैवर, कैवर्त, हिरण्यकार, वंशीनर्ती, पल्पूली, रजयित्री, चर्मम्न, अयस्ताप, ये सब वैश्य; तथा दाश शूद्र वर्ण में हैं। चाण्डाल, पौंजिष्ठ, सूत, निषाद, तथा किरात—ये अतिशूद्र हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यजाति में ये कर्मानुसार नामभेद चार वर्णों में आ जाता है और जो चार वर्ण से बाहर हैं वे अतिशूद्र कहे जाते हैं, अत: यहाँ जन्म-जाति का वर्णन नहीं, अपितु कर्मानुसार मनुष्यजाति में वर्णभेद तथा नामभेद का वर्णन है।

(३५४) प्रश्न—जाति का आधार पेशा नहीं है, किन्तु रज-वीर्य है, फिर हम कैसे मान लें कि जाति पेशे से होती है? —पृ० ३१२, पं० १४

उत्तर—हम जाति का आधार पेशा नहीं मानते, अपितु वर्ण का आधार पेशा मानते हैं। और यदि जाति शब्द से आपका अभिप्राय वर्ण से है तो वर्ण का आधार रज-वीर्य नहीं है, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव है और गुण-कर्म-स्वभाव की तब्दीली हो जाती है, जैसेकि—

शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत। आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा॥ १८॥

—महा० शान्ति० अ० १०८

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥ १३॥ —महा० भीष्म० अ० २८

वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम्॥ १०॥
क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योधव्यं क्षत्रबन्धुना। शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल॥ ११॥
सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम्। दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम्॥ १२॥
आग्नेयः कृत्तिका पुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि। श्रूयते भगवान् देवः सर्वगुह्यमयो गुहः॥ १३॥
क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः। विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम्॥ १४॥
आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः। गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः॥ १५॥
भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया॥ १६॥

—महा० आदि० अ० १३९ [गी० सं० में अ० १३६]

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये। सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति॥ ३५॥
यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति। तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते॥ ३६॥

—महा० आदि० अ० १३८ [गी० सं० में अध्याय १३५।—सं०]

एवं सिद्धः स भगवानार्ष्टिषेणः प्रतापवान्॥ ९॥

तस्मिन्नेव तदा तीर्थे सिन्धुद्वीपः प्रतापवान्। देवापिश्च महाराज ब्राह्मण्यं प्रापतुर्महत्॥ १०॥
तथा च कौशिकस्तात तपो नित्यो जितेन्द्रियः। तपसा वै सुतप्तेन ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्॥ ११॥

—महा० शल्य० अ० ४०

भाषार्थ—हे भारत! माता-पिता तो शरीर को ही बनाते हैं, परन्तु आचार्य्य से नियत की हुई जो जाति है वही दिव्य है, वही अजर और अमर है॥ १८॥ मैंने चारों वर्णों को गुण-कर्म के विभाग से बनाया है॥ १३॥ हे भीम! इस प्रकार की बात कहना तुम्हें योग्य नहीं है॥ १०॥ क्षत्रियों में बल ही प्रधान है, क्षत्रियबन्धु से युद्ध करना चाहिए। शूरवीर और नदियों के निकास जानने कठिन हैं॥ ११॥ पानी से आग पैदा हुई जो सारे जगत् को व्याप्त कर रही है। दधीचि की हड्डी से दानवों का नाशक वज्र बनाया गया॥ १२॥ कृत्ति का पुत्र कार्तिकेय अग्नि से पैदा हुए, गाङ्गेय रुद्र से पैदा हुआ, सुनते हैं कि देव सर्वगुह्यमय गुहक था॥ १३॥ क्षत्रियों में से कई-एक ब्राह्मण बन गये, विश्वामित्र आदि अक्षय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए॥ १४॥ शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य कलश से पैदा हुए। गौतम के कुल में शरस्तम्ब से कृपाचार्य पैदा हुए॥ १५॥ और आप लोगों का भी जैसे जन्म हुआ है, मैं जानता हूँ॥ १६॥

हे आचार्य! शास्त्र के निश्चयानुसार राजाओं की तीन प्रकार की योनि है—सत्कुलीन, शूरवीर, और सेनापति॥ ३५॥ यदि यह अर्जुन युद्ध में बिना राजा के साथ युद्ध करना नहीं चाहता तो मैं दुर्योधन इस कर्ण का अङ्गदेश के राज्य के लिए अभिषेक करता हूँ॥ ३६॥

वह प्रतापी अर्ष्टिषेण इस प्रकार से सिद्ध बन गया॥ ९॥ उसी तीर्थ में प्रतापी सिन्धुद्वीप और देवापि दोनों ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गये॥ १०॥ हे प्यारे! विश्वामित्र भी इन्द्रियों को जीत, तपकर, उस तप से ब्राह्मण बन गया॥ ११॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि कोई मनुष्य कहीं से भी पैदा हुआ हो, किन्तु वह गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार प्रत्येक वर्ण को प्राप्त हो सकता है। वर्ण का आधार जन्म तथा रजवीर्य शरीर में ही कारण है। वर्ण की तब्दीली के लिए शरीर की तब्दीली की आवश्यकता नहीं, पेशे के बदलने से वर्ण भी बदल जाता है।

(३५५) प्रश्न—ब्राह्मण्यां वैश्यसंसर्गाज्जातो मागध उच्यते।
वन्दित्वं ब्राह्मणानां च क्षत्रियाणां विशेषतः॥

—औशनसस्मृति

भाषार्थ—ब्राह्मणी में जो वैश्य के संसर्ग से उत्पन्न हो उसे मागध कहते हैं। यह ब्राह्मणों तथा विशेषकर क्षत्रियों का वन्दी [स्तुति करनेवाला] होता है।

एक मागधजाति का यह नियम नहीं है, वरनां जितनी भी जातियाँ स्मृतियों ने दिखलाई हैं, पहले उन जातियों की उत्पत्ति का कारण, फिर जाति का नाम, नाम के पश्चात् जाति का पेशा बतलाया है। इस व्यवस्था को देखकर कोई भी न्यायशील मनुष्य यह नहीं कह सकता कि पेशे से जातियाँ बनती हैं।

—पृ० ३१२, पं० २६

उत्तर—वेद ने **'क्षत्तृभ्यो नमः'** यजुः० १६। २६ में इशारा करके हमें बतला दिया कि प्रतिलोमजों की कर्मानुसार यथावर्ण आदर-सत्कार, नमस्कारादि प्रियवचनों से पूजा करो। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिलोमजों की उनके कर्मों के अनुसार वर्णव्यवस्था करके तदनुसार उनका सत्कार करना चाहिए। इसी बात का मनुजी महाराज ने वर्णन किया है—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥ ४२॥

—मनु० १०

भाषार्थ—वे अनुलोमज तथा प्रतिलोमज प्रत्येक युग में प्रतिलोमज तप के प्रभाव से तथा अनुलोमज तप और बीज के प्रभाव से इस संसार में मनुष्यों में जन्म की अपेक्षा ऊँचे तथा नीचे

वर्ण को प्राप्त हो जाते हैं॥ ४२॥

जब अनुलोमज तथा प्रतिलोमज कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बन सकते हैं तो फिर आपकी वह थ्यूरी कि पहले वर्ण का निश्चय होकर फिर कर्म का निश्चय होना चाहिए, वेद के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है और आपकी स्मृति भी वेदविरुद्ध होने से अप्राण तथा मिथ्या प्रलाप ही है।

(३५६) प्रश्न—वन्ध्या गौ न प्रसूता होती है और न दूध ही देती है, किन्तु जाति की वह गौ ही रहती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार ब्राह्मण ब्राह्मण का कार्य न कर सकने पर भी ब्राह्मण ही रहता है। —पृ० ३१३, पं० १

उत्तर—आपका दृष्टान्त विषम होने से असत्य है, क्योंकि गौजाति की भाँति ब्राह्मणजाति नहीं है, अपितु ब्राह्मण वर्ण है। हाँ, गौजाति की भाँति मनुष्यजाति है। जैसे वन्ध्या गौ प्रसूता न होने तथा दूध न देने पर भी गौ ही रहती है, इसी प्रकार से मूर्ख मनुष्य भी विद्या और गुणहीन होने पर भी जाति से मनुष्य ही रहता है। जैसे वन्ध्या गौ को दुधार नहीं कह कते, ऐसे ही मूर्ख मनुष्य को भी ब्राह्मण नहीं कह सकते। मनुष्यजाति में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं, जो कि गुण-कर्म-स्वभाव के तब्दील होने पर तब्दील हो जाते हैं, जैसाकि—

(१) **पृथुस्तु विनयाद् राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।**
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ —मनु० ७।४२

गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। —कुल्लूकभट्ट

भावार्थ—विनय से पृथु और मनु ने राज्य को प्राप्त किया तथा कुबेर ने विनय से धनैश्वर्य को प्राप्त किया। और गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए उसी देह से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया॥ ४३॥

(२) **सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।**
त्र्यहेन शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥ —मनु० १०।९२

भाषार्थ—ब्राह्मण मांस, लाख और नमक के बेचने से तत्काल पतित हो जाता है और तीन दिन दूध बेचने से ब्राह्मण शूद्र हो जाता है।

(३) **वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः॥** —महा० वन० अ० ८४।४८

भाषार्थ—वासिष्ठी नदी में स्नान करने से सब वर्ण ब्राह्मण बन जाते हैं॥ ४८॥

(४) **इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत्॥** —महा० शान्ति० अ० २२।११

भाषार्थ—इन्द्र ब्रह्मा का पुत्र होकर भी कर्म से क्षत्रिय बन गया॥ ११॥

(५) **शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चरित्रो यश्च धर्मादपेतः।**
वृषलीपतिः पिशुनो नर्त्तनश्च ग्रामप्रेष्यो यश्च भवेद्विकर्मा॥ ४॥
—महा० शान्ति० अ० ६३

भाषार्थ—हे राजन्! जो ब्राह्मण बदचलन, धर्म से पतित, शूद्रापति, चुग़लखोर, नचनवा, सिंधारा पहुँचानेवाला, और दुष्कर्मी हो, वह शूद्र हो जाता है॥ ४॥

(६) युधिष्ठिर उवाच — **वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः।**
तदेव तावद् गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो॥ ३॥

भीष्म उवाच — **शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः।**
राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम्॥ ५॥
—महा० अनुशा० अ० ३०

भाषार्थ—युधिष्ठिर ने पूछा कि मैंने सुना है कि राजा वीतहव्य ब्राह्मण बन गया। हे गाङ्गेय प्रभो! वह अब मैं सुनना चाहता हूँ॥ ३॥

भीष्म ने उत्तर दिया कि हे राजन्! जिस प्रकार से राजर्षि वीतहव्य महान् यशस्वी, पूजा के योग्य ब्राह्मणपद को प्राप्त हुआ, वह सुनिए॥ ५॥

राजा प्रतर्दन ने वीतहव्य के पुत्रों पर चढ़ाई की और उसने वे सब लड़ाई में मार दिये। तब वीतहव्य नगर से भागकर भृगु के आश्रम में चला गया। भृगु ने उसको अभयदान दिया। उसके पीछे-ही-पीछे प्रतर्दन गया और आश्रम में आवाज़ दी। तब भृगुमुनि बाहर निकले और राजा प्रतर्दन का सत्कार किया। प्रतर्दन ने कहा कि आपके आश्रम में वीतहव्य राजा आया है। उसने हमारा वंशनाश कर दिया है। मैं उसका वध करूँगा। यह सुनकर भृगुजी बोले—

तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः॥ ५२॥
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः। एतत्तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः॥ ५३॥
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्। एवमप्यस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः॥ ५४॥
य एष राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया। अनुजानीहि मां ब्रह्मन् ध्यायस्व च शिवेन माम्॥ ५५॥
त्याजितो हि मया जातिमेष राजभृगूद्वह। ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः॥ ५६॥
यथागतं महाराज मुक्त्वा विषमिवोरगः। भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः॥ ५७॥
एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः। भृगोः प्रसादाद्राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ॥ ६६॥

—महा० अनुशा० प्र० ३०

भाषार्थ—धर्म धारण करनेवालों में श्रेष्ठ भृगु दयालु होकर प्रतर्दन से बोले॥ ५२॥ इनमें से क्षत्रिय यहाँ कोई भी नहीं है। ये सब ब्राह्मण हैं। इस प्रकार से भृगु की सत्य वाणी को सुनकर प्रतर्दन॥ ५३॥ आहिस्ता से पाँव छूकर हर्षपूर्वक यूँ बोला—"भगवन्! मैं इस प्रकार से भी निःसन्देह कृतकृत्य हूँ॥ ५४॥ क्योंकि मैंने अपने बल से इस राजा को अपनी जाति से हीन कर दिया। हे ब्राह्मण! मुझे आज्ञा दें तथा मेरे लिए कल्याण-वचन दें॥ ५५॥ हे भृगुद्वह! मैंने यह राजा जाति से हीन कर दिया। उसके पीछे राजा प्रतर्दन आज्ञा लेकर चला गया॥ ५६॥ जिधर से आया था उधर ही चला गया, जैसे साँप विष का त्याग करके चला जाता है। भृगु के वचनमात्र से ही वह वीतहव्य ब्रह्मर्षिपद को प्राप्त हो गया॥ ५७॥ राजा वीतहव्य इस प्रकार से ब्राह्मणपद को प्राप्त हो गया। हे क्षत्रियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! हे राजेन्द्र! इस प्रकार भृगु की कृपा से क्षत्रिय वीतहव्य ब्राह्मण बन गया॥ ६६॥

(७) **नाभागो दिष्टपुत्रोऽभूत्स तु ब्राह्मणतां गतः। स्वक्षत्रवंशं संस्थाप्य ब्रह्मकर्मभिरावृतः॥ ४८॥**
धृष्टाद्धार्ष्टमभूत्क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ॥ ४९॥ —शिव० उमा० अ० ३६

भाषार्थ—नाभाग दिष्ट के पुत्र हुए और ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए, अपने क्षत्रियवंश का स्थापन करके ब्राह्मण के कर्मों में प्रवृत्त हुए॥ ४८॥ धृष्ट से धार्ष्ट हुए, वे पहले क्षत्रिय थे, फिर पृथिवी पर ब्राह्मण बन गये॥ ४९॥

(८) **वृषघ्नस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणाः कृतः।**
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः॥ ५३॥
स एकदाऽऽगतं गोष्ठे व्याघ्रं गा हिंसितुं बली।
श्रुत्वा गोक्रन्दनं बुद्धो हन्तुं तं खड्गधृग्ययौ॥ ५४॥
अजानन्नहनद् बभ्रोशिशरश्शार्दूलशंकया।
निश्चक्राम सभीर्व्याघ्रो दृष्ट्वा तं खड्गिनं प्रभुम्॥ ५५॥

श्रुत्वा तद् वृत्तमाज्ञाय तं शशाप कृतागसम्।
अकामतो विचार्येति शूद्रो भव न क्षत्रियः॥५८॥
एवं शप्तस्तु गुरुणा कुलाचार्येण कोपतः।
निसृतश्च वृषघ्नस्तु जगाम विपिनं महत्॥५९॥

—शिव० उमा० अ० ३६

भाषार्थ—वृषघ्ननाम मनुपुत्र को गुरु ने गोपाल बनाया और वह वीरासन लगा सावधान हो रात्रि में गौवों का पालन करता था॥५३॥ किसी समय गौवों को मारने के लिए गोशाला में आये व्याघ्र को देख गौवों के रुदन को सुन, जागके उसको मारने के लिए खड्ग धारण करके वह बली गया॥५४॥

और सिंह के भ्रम से बिना जाने गाय के बछड़े के शिर को काट दिया। तब उस खड्गधारी प्रभु को देख वह व्याघ्र भयभीत हो बाहर निकल गया॥५५॥ उस वृत्तान्त को सुनके गुरु ने उस अपराधी को शाप दिया। अकाम से, बिना विचार के काम करने से तू शूद्र होगा, क्षत्रिय न रहेगा॥५८॥ इस प्रकार कुलाचार्य गुरु ने उसे क्रोध से शाप दिया। तब वृषघ्न निकलके सघन वन में चला गया॥५९॥

(९) **इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।**
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति॥९३॥ —मनु० १०

भाषार्थ—और व्यापार की चीज़ों को इच्छानुसार इस संसार में बेचने से ब्राह्मण सात रात में वैश्यपद को प्राप्त हो जाता है॥९३॥

ये थोड़े-से प्रमाण दे दिये हैं। इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि मनुष्यजाति में ये चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार हैं और गुण-कर्म-स्वभाव के तब्दील होने से ये भी तब्दील हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणादि वर्ण गौ आदिवत् जातियाँ नहीं हैं, अपितु ये मनुष्यजाति के ही कर्मानुसार वर्णभेद हैं। ब्राह्मण के घर पैदा होकर ब्राह्मण के कर्म न करनेवाला इतना ही नहीं कि ब्राह्मण नहीं रहता अपितु क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यहाँ तक कि रावण की भाँति राक्षस भी हो जाता है।

(३५७) प्रश्न— तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

—महाभाष्य पस्पशाह्निक

भाषार्थ—तप, विद्या, योनि—इन तीन से पूर्ण ब्राह्मण बनता है। विद्या और तप इन दो से हीन रहा ब्राह्मण जाति का ही ब्राह्मण है।

उत्तर—निम्न हेतुओं से आपका श्लोक तथा तत्प्रतिपादित विषय मिथ्या होने से अप्रमाण हैं—

(१) यह श्लोक महाभाष्य के पस्पशाह्निक में नहीं है।

(२) आपने अपनी पुस्तक में पृ० १२९, पं० २२ में लिखा है कि शब्दविषय में व्याकरण स्वतःप्रमाण है, अतः धर्मविषय में आपके ही लेखानुसार महाभाष्य प्रमाण नहीं हो सकता।

(३) जमदग्नि की माता गाधी की लड़की सत्यवती क्षत्राणी थी, किन्तु वह ब्राह्मण बने।

—महा० अनु० अ० ४

(४) विश्वामित्र की माता क्षत्राणी थी, किन्तु आप उसे जन्म से ही ब्राह्मण मानते हैं।

—महा० अनु० अ० ४

(५) **हरिणीगर्भसम्भूतः ऋष्यशृङ्गो महामुनिः।**
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २६॥

भाषार्थ—हरिणी के गर्भ से पैदा होकर मुनि ऋष्यशृङ्ग तप से ब्राह्मण बन गये, इसमें संस्कार कारण था॥ २६॥

(६) **श्वपाकीगर्भसम्भूतः पिता व्यासस्य पार्थिवः।**
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २७॥

भाषार्थ—चाण्डाली के गर्भ से पैदा होकर व्यास का पिता पराशर तप से ब्राह्मण बन गया, इसमें संस्कार कारण है॥ २७॥

(७) **उलूकीगर्भसम्भूतः कणादाख्यो महामुनिः।**
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २८॥

भाषार्थ—उलूकी के गर्भ से पैदा होकर महामुनि कणाद तप से ब्राह्मण बन गये, इसमें संस्कार कारण था॥ २८॥

(८) **गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।**
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २९॥

भाषार्थ—गणिका के गर्भ से पैदा होकर महामुनि वसिष्ठ तप से ब्राह्मण बन गये, इसमें संस्कार कारण था॥ २९॥

(९) **नाविकागर्भसम्भूतो मन्दपालो महामुनिः।**
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ ३०॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

भाषार्थ—नाविका के गर्भ से पैदा होकर महामुनि मन्दपाल तप से ब्राह्मण बन गये, इसमें संस्कार कारण था॥ ३०॥

(१०) व्यास की माता सत्यवती ब्राह्मणी न थी, किन्तु व्यासजी ब्राह्मण थे।

—महा० आदि० अ० १०५

(११) कृपाचार्य की माता ब्राह्मणी न थी, किन्तु वह ब्राह्मण बन गये।

—महा० आदि० अ० १३०

(१२) द्रोणाचार्य की माता ब्राह्मणी न थी, किन्तु वह ब्राह्मण बन गये।

—महा० आदि० अ० १३१

(१३) सोमश्रवा की माता साँपनी थी, किन्तु वह ब्राह्मण बन गये।

—महा० आदि० अ० ३

(१४) **शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप।** —वाल्मी० अयो० स० ६३।५१
अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिपः॥ —वाल्मी० अयो० स० ६४।५५

भाषार्थ—श्रवण ने कहा—हे राजन्! मैं वैश्य से शूद्रा में पैदा हुआ हूँ॥ ५१॥ श्रवण के बाप ने कहा कि हे दशरथ! चूँकि तुझ क्षत्रिय ने अज्ञान से श्रवणमुनि को मार दिया, इसलिए तुझे ब्रह्महत्या नहीं लगी॥ ५५॥ श्रवण की माता शूद्रा थी, वह ब्राह्मण बन गया।

(१५) **तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु।**
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत्॥ ११॥ —महा० अनु० अ० ४४

अब्राह्मणन्तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात्।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्॥ १७॥ —महा० अ० अ० ४७

भाषार्थ—ब्राह्मण की ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्या तीन स्त्रियाँ हैं, क्षत्रिय की क्षत्राणी तथा वैश्या दो, वैश्या की एक वैश्या ही स्त्री है, उनसे पैदा हुई सन्तान समान वर्ण ही होगी, अर्थात् पिता के अनुकूल वर्ण होगा॥ १०॥

मूर्खता से कई लोग शूद्रा के पुत्र को ब्राह्मण नहीं मानते, किन्तु तीनों वर्णों की स्त्रियों में ब्राह्मण से पैदा हुआ ब्राह्मण ही होता है॥ १७॥

(१६) **एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।**
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥ ४६॥
ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः॥ ४७॥
न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥ ५०॥

—महा० अनु० अ० १४३

भाषार्थ—हे देवि! इन कर्मों के फल से हीनजाति-कुल में पैदा हुआ शूद्र भी वेद से सम्पन्न हुआ संस्कार से द्विज हो जाता है॥ ४६॥ और दुराचारी, सर्वभक्षी ब्राह्मण भी ब्राह्मणपद को छोड़कर शूद्र ही हो जाता है॥ ४७॥ ब्राह्मण बनने में न योनि कारण है, न संस्कार और न श्रुत और न सन्तति कारण हैं, अपितु ब्राह्मण बनने में आचरण, अर्थात् कर्म ही कारण है।

(३५८) प्रश्न—**'भूतानां प्राणिनः'** इत्यादि [मनु० १।९६-९७] इन श्लोकों में साफ़ लिखा है कि मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ और ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ है। बिना पढ़े भी ब्राहाण होते हैं तभी तो मनु ने दो प्रकार के ब्राह्मण माने—एक बिना पढ़े और एक विद्वान्।

—पृ० ३१३, पं० १०

उत्तर—कुर्बान जाएँ आपकी मन्तक़दानी [तार्किता] के! आपने तो लालबुझक्कड़ को भी मात कर दिया! यदि मनु ने यह कह दिया कि ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं तो क्या इससे यह सिद्ध हो गया कि मूर्खों का नाम भी ब्राह्मण है? क्या सबकी विद्या समान ही होती है? कदापि नहीं। श्रीमान्‌जी! ब्राह्मणों में भी विद्या की न्यूनता-अधिकता के कारण अनेक भेद हैं। जैसे विप्र, ब्राहाण, मुनि, ऋषि, उपाध्याय, गुरु, आचार्य, ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्‌गाता, होता, अतः यहाँ पर ब्राहाणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं, इसका यह अभिप्राय है कि ब्राह्मणों में जो विशेष विद्वान् हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इन श्लोकों का अर्थ निम्न प्रकार है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्रह्माणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः॥

—मनु० अ० १।९६-९७

भाषार्थ—भूतों में प्राणी श्रेष्ठ हैं। प्राणियों में बुद्धि से जीवन व्यतीत करनेवाले श्रेष्ठ हैं। बुद्धिवालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं॥ ९६॥ ब्राह्मणों में जो विशेष विद्वान् हैं वे श्रेष्ठ हैं, और विद्वानों में भी जो विशेष बुद्धि रखते हैं वे श्रेष्ठ हैं। बुद्धिवालों में भी जो कर्मकाण्डी हैं, वे श्रेष्ठ हैं, कर्मकाण्डियों में से भी ब्रह्म के जाननेवाले श्रेष्ठ हैं॥ ९७॥

कहिए महाराजजी! जैसे आप 'ब्रह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं' इस वाक्य से यह अभिप्राय निकालते हैं कि 'मूर्खों का नाम भी ब्राह्मण है' वैसे ही 'विद्वानों में बुद्धिमान् श्रेष्ठ हैं' इस वाक्य

से भी यह अभिप्राय निकाल लीजिएगा कि 'विद्वानों में भी बुद्धिहीन और मूर्ख होते हैं', कैसी मज़ेदार बात है और कैसे सुन्दर अर्थ और युक्तियुक्त अभिप्राय हैं! शर्म तो नहीं आती! क्या इन्हीं प्रमाणों के आधार पर जन्म से वर्णव्यवस्था सिद्ध करने चले थे? मूर्खों को ब्राह्मण सिद्ध करते-करते विद्वानों को भी मूर्ख सिद्ध कर बैठे। होश कीजिए महाराज! मूर्खों का नाम भी कहीं ब्राह्मण हो सकता है? आप तनिक ब्राह्मण के लक्षण तो पढ़िए—

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा। दद्याद्वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचारी च वेदान् योऽप्यधीयाद् द्विजपुंगवः। स्वाध्याये चाप्रमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३७ ॥

—महा० वन० अ० २०५

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्। कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ १०६ ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते। योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ १०९ ॥

—महा० वन० अ० ३१२

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

—मनु० २

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

—मनु० २

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्॥ १९ ॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥ २० ॥

—महा० अनु० अ० १०४

भाषार्थ—जो वेद पढ़ावे, वेद पढ़े, यज्ञ करे, यज्ञ करवावे और यथाशक्ति दान दे, विद्वान् लोग उसको ब्राह्मण कहते हैं॥ ३६॥ जो ब्रह्मचारी हो, वेदों को पढ़े, स्वाध्याय में सुस्ती न करे, उसको विद्वान् लोग ब्राह्मण कहते हैं॥ ३७॥

हे प्यारे यक्ष! सुन, ब्राह्मण बनने में न कुल कारण है, न केवल स्वाध्याय और विद्या कारण हैं, अपितु ब्राह्मण बनने में कर्म ही कारण हैं, इसमें संशय नहीं है॥ १०६॥ चारों वेदों का पढ़ा हुआ भी दुराचारी शूद्र से अधिक नहीं है। जो अग्निहोत्र करनेवाला, पवित्र आचारवाला हो वही ब्राह्मण कहा जाता है॥ १०९॥ ब्राह्मणों में ज्ञान से बड़ाई है, क्षत्रियों में बल से बड़ाई है, वैश्यों में धान्यधन से बड़ाई है, केवल शूद्रों में ही जन्म से बड़ाई है॥ १५५॥

इन श्लोकों से यह सिद्ध हो गया कि मूर्ख का नाम ब्राह्मण नहीं है, अपितु जो वेद पढ़े तथा तदनुकूल आचरण करे उसी का नाम ब्राह्मण है तथा यह भी सिद्ध हो गया कि ब्राह्मणों में ज्ञान थोड़ा-बहुत होने से छुटाई-बड़ाई है, अतः 'ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं' इसका यही अभिप्राय है कि 'जो ब्राह्मणों में विशेष ज्ञानवाले हैं, वे श्रेष्ठ हैं'। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मूर्खों का नाम भी ब्राह्मण है, क्योंकि विद्या तथा कर्महीन तो ब्राह्मण रहता ही नहीं, अपितु वह शूद्र हो जाता है, जैसाकि—

जो प्रातःकाल सन्ध्या नहीं करता और शाम को भी सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्रों की भाँति सब द्विजकर्मों से बाहर निकाल देना चाहिए॥ १०३॥ जो ब्राह्मण वेद न पढ़कर अन्यत्र परिश्रम करता है, वह जीते हुए ही परिवार-समेत शूद्रपद को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है॥ १६८॥ जो ब्राह्मण प्रातः और सायं सन्ध्या नहीं करते, धार्मिक राजा का यह कर्त्तव्य है कि उन सबसे शूद्र का काम करवावे॥ १९-२०॥

अतः आपकी कल्पना कि मूर्खों का नाम भी ब्राह्मण है सर्वथा वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

(३५९) प्रश्न—स्वामीजी गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था बतलाते हैं और फिर अपने मत को वैदिक कहते हैं, यही आश्चर्य है! श्रुति, स्मृति में कहीं पर भी गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था नहीं लिखी। —पृ० ३१७, पं० २५

उत्तर—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** की विद्यमानता में गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था से इन्कार करना आश्चर्य नहीं तो क्या है? सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति तथा इतिहास इस वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो जन्म से वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन करता हो।

(३६०) प्रश्न—सत्यकाम, विश्वामित्र और मतंग को बतलाया है कि ये तीनों अब्राह्मण से ब्राह्मण बन गये। सत्यकाम आदि का अब्राह्मण से ब्राह्मण बन जाना लिखना सुफ़ैद झूठ है। —पृ० ३१८, पं० ४

उत्तर—स्वामीजी का लिखना सर्वथा सत्य है कि सत्यकाम, विश्वामित्र तथा मतंग अब्राह्मण से ब्राह्मण बन गये। इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार न करना हठधर्मी तथा आत्महत्या के बिना क्या कहा जा सकता है?

(३६१) प्रश्न—**'किं गोत्रो नु सौम्येत्यादि'** छान्दो० [प्र० ४ खं० ४] में सत्यकाम के पूछने पर उसकी माता जबाला ने कहा कि 'युवावस्था में घर आये अतिथिरूप ऋषियों की सेवा किया करती थी। युवावस्था में तू उत्पन्न हुआ। फिर तुम्हारे पिता तपस्या को चले गये, मैं गोत्र नहीं पूछ पाई। मैं नहीं जानती तेरा गोत्र क्या है। मैं इतना जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला, तेरा नाम सत्यकाम है।' इससे सत्यकाम अब्राह्मण कैसे सिद्ध हुए? —पृ० ३१८, पं० १०

उत्तर—यदि सत्यकाम अब्राह्मण न थे तो कृपया आप ही बतलावें कि इस पाठ में वे कौन-से वाक्य हैं जिनसे सत्यकाम का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है? और भी बतलाने की कृपा करें कि 'घर आये अतिथिरूप ऋषियों की मैं सेवा किया करती थी। फिर तुम्हारे पिता तपस्या को चले गये, मैं गोत्र नहीं पूछ पाई' यह अर्थ कौन-से संस्कृतवाक्यों का है? वास्तविक बात तो यह है कि 'अज्ञातकुलोत्पन्न जबाला ने आवारागर्दी करते हुए यौवन-अवस्था में अनेक पुरुषों से व्यभिचार करते-करते गर्भधारण किया था। वह निश्चयपूर्वक न बतला सकती थी कि सत्यकाम का पिता कौन है। छान्दोग्य का पूरा पाठ तथा अर्थ इस प्रकार है—

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रो न्वहमस्मीति॥ १॥ सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद् गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽ हमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति॥ २॥ स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति॥ ३॥ तꣳहोवाच किं गोत्रो नु सौम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद् गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳसत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति॥ ४॥ तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुः शता गां निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳसम्पेदुः॥ ५॥—छान्दो० अ० ४ खं० ४

भाषार्थ—जाबाली सत्यकाम अपनी माता जबाला से कहने लगे। श्रीमतीजी! मैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहता हूँ, मेरा गोत्र क्या है?॥ १॥ वह उसको बोली—'हे प्यारे! मैं यह नहीं जानती

तेरा गोत्र क्या है। मैंने बहुत फिरते हुए यौवन में आवारागर्दी करते हुए तुझे प्राप्त किया है। सो मैं यह नहीं जानती तेरा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है। वह तू जाबाल सत्यकाम ही अपने को बोल॥ २॥ वह हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर बोला—मैं आपके पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, इस कारण आपको प्राप्त हुआ हूँ॥ ३॥ उसको गौतम ने कहा—सौम्य! तेरा क्या गोत्र है? उसने कहा मैं यह नहीं जानता मेरा क्या गोत्र है। मैंने माता से पूछा था, उसने मुझसे कहा मैंने बहुत फिरते हुए यौवन में आवारागर्दी से तुझे प्राप्त किया है, वह मैं यह नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। मैं जबाला नामा हूँ, तेरा नाम सत्यकाम है। सो मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४॥ उसको गौतम बोला यह बिना ब्राह्मण के कोई नहीं कह सकता। हे सौम्य! तू समिधा ला। मैं तेरा यज्ञोपवीत करूँगा। तू सत्य से नहीं डिगा। उसको यज्ञोपवीत देकर कमज़ोर और दुबली चार सौ गौ बाहर निकालकर बोला—हे सौम्य! इनके पीछे जा। उनको रवाना करते हुए बोला—एक हज़ार होने से पहले मत लौटना। वह बहुत वर्षों तक बाहर रहा, वे जबतक एक हज़ार हो गईं॥ ५॥

(१) गोत्र पूछने से ऋषि का अभिप्राय खानदान तथा पिता का वर्ण पूछना था ताकि तदनुकूल संस्कार किया जावे तभी तो पता न लगने पर गौतम ने सत्य के लक्षण से सत्काम का सम्भावित ब्राह्मणवर्णानुसार यज्ञोपवीत किया।

(२) क्या अतिथिसेवा में लगने तथा पति के तपस्या को चले जाने से गोत्र, वर्ण तथा पति के नाम का भी पता न लग सकता था? क्या अड़ोसी-पड़ोसी, सम्बन्धी, पुरोहित आदि सभी पति का गोत्र, वर्ण तथा नाम भूल गये थे?

(३) यदि सत्यकाम को व्यभिचार से पैदा न किया था तो जबाला ने पिता का नाम क्यों न बतलाया, अपना ही नाम क्यों बतलाया?

(४) यदि पिता का निश्चित ज्ञान न होने से वह पिता का नाम तथा गोत्र न बतला सकती थी तो अपना वर्ण तो बतला सकती थी, किन्तु जबाला ने अपना भी कोई वर्ण नहीं बतलाया।

(५) छान्दोग्य के किसी पाठ से भी जबाला तथा सत्यकाम का जन्म से ब्राह्मण होना सिद्ध नहीं होता।

(६) गौतम ने जो सत्यकाम की बात को सुनकर कहा कि यह बात बिना ब्राह्मण के कोई नहीं बतला सकता तो अपनी पैदाइश को व्यभिचार से बताना ही गौतम की दृष्टि से इतना उसके लिए गौरव का कारण हो सकता है। साधारण बात से इतना गौरव नहीं हो सकता, क्योंकि माता का अतिथिसेवा में लगना, पिता का तपस्या को जाना तो कोई भी बतला सकता है। यह सचाई कोई कड़वी सचाई नहीं है। हाँ, अपने को व्यभिचार से पैदा हुआ बताना यह एक ऐसी कड़वी सचाई है कि जिसको प्रत्येक आदमी नहीं बतला सकता, अपितु साधारण मनुष्य छिपाने का यत्न करता है, किन्तु सत्यकाम ने ऐसी कड़वी सचाई भी गौतम से कह सुनाई, अतः गौतम के मुख से अनायास यह वाक्य निकल गये कि ब्राह्मण के बिना ऐसी बात कोई नहीं कह सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि केवल सत्यकाम ही अज्ञातकुलोत्पन्न तथा अब्राह्मण न था, अपितु जबाला भी अजातकुलोत्पन्ना तथा अब्राह्मणी आवारागर्द चलती-फिरती वेश्या ही थी।

(३६२) प्रश्न—वेदारम्भ से पहले जो वेदारम्भ के लिए उपनयन-संस्कार हुआ करता है, अभी वह भी नहीं हुआ, फिर सत्यकाम में कौन विद्या का गुण आया और बिना वेद पढ़े-कौन-कौन उसने वैदिक कर्म किये, जिससे वह गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण बना?

—पृ० ३१९, पं० २

उत्तर—यद्यपि छान्दोग्य के पाठ से यह सिद्ध नहीं होता कि सत्यकाम की आयु छोटी थी,

क्योंकि उसका स्वयं माता से गुरुकुल में जाने की प्रार्थना करना और गुरु से इस प्रकार की बातचीत करना तथा चार सौ गौओं को चराकर एक हज़ार बनाना, ये काम सत्यकाम की छोटी आयु को सिद्ध नहीं करते, तथापि वेदारम्भ से पूर्व तथा यज्ञोपवीत से भी पूर्व सम्भावित वर्णानुसार यज्ञोपवीतादि संस्कार होते हैं, अर्थात् बालक के माता-पिता, कुल, गोत्र, आचार को दृष्टि में रखकर भावी जीवन में उस बालक के जिस वर्ण में जाने की आशा होती है उस वर्ण के अनुसार यज्ञोपवीत आदि संस्कार किये जाते हैं। वह बालकों का सम्भावित वर्ण होता है और जब विद्या पूरी होने के पश्चात् गुण-कर्म-स्वभाव-अनुसार आचार्य वर्ण नियत करता है, वह उनका व्यवस्थित वर्ण होता है। गौतम आचार्य ने सत्यकाम में सत्यभाषण गुण देखकर उसके ब्राह्मण बनने की सम्भावना से उसको सम्भावित ब्राह्मण जानकर ब्राह्मणवर्णानुसार उसका यज्ञोपवीत संस्कार करवा दिया। भावी कर्मों की सम्भावना के अनुसार भी नाम रक्खे जाते हैं। इसमें निरुक्त का प्रमाण उपस्थित है, जैसेकि—

यथो एतदपरस्माद्भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा बिल्वादो लम्बचूडक इति॥

—निरु० अ० १ खं० १४

भाषार्थ—यह कहा जाता है कि आनेवाले भाव से पूर्ववाले का प्रदेश उत्पन्न नहीं होता, परन्तु हम देखते हैं कि पहले पैदा हुए प्राणियों के होनेवाले कर्मों को दृष्टि में रखकर किन्हीं के नाम रक्खे जाते हैं, किन्हीं के नहीं, जैसे लम्बचूड़क [लम्बी चोटीवाला] बिल्वाद [बिल्व खानेवाला]।

जो बालक अभी पैदा हुए हैं, न उनकी लम्बी चोटी है और न ही वे बिल्व खाते हैं, किन्तु आगामी जीवन में उनकी लम्बी चोटी होने तथा बिल्व खाने की सम्भावना से उनका नाम लम्बचूड़क तथा बिल्वाद रक्खा जाता है। इसी का नाम सम्भावित संज्ञा है।

(३६३) प्रश्न—यहाँ पर तो उपनयन-संस्कार होने से पहले ही गौतम ने सत्यकाम से कह दिया 'मैं जानता हूँ तू ब्राह्मण है, ब्राह्मण के बिना ऐसी बात कोई नहीं कह सकता', फिर सत्यकाम का गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण बन जाना संसार की आँख में धूल झोंकना नहीं तो और क्या है? —पृ० ३१९, पं० ५

उत्तर—सत्यकाम की माता जबाला ब्राह्मणी न थी। सत्यकाम के बाप का उसकी माता भी निश्चय न कर सकी कि कौन, किस वर्ण तथा किस नाम का था। सत्यकाम के गोत्र, कुल, वर्ण आदि का कोई पता न था। गौतम ने सत्यकाम के यह कड़वी सचाई बयान करने पर कि 'मेरी माता ने फिरते-फिरते आवारागर्दी में, यौवनावस्था में मुझे प्राप्त किया है, मेरे गोत्र का कोई पता नहीं' उसके ब्राह्मण होने की सम्भावना की। इतने पर भी सत्यकाम को जन्म से ब्राह्मण बतलाना संसार की आँखों में धूल झोंकना नहीं तो क्या है?

(३६४) प्रश्न—विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना वे लोग मानेंगे कि जिन्होंने विश्वामित्र की गाथा को न पढ़ा हो। —पृ० ३१९, पं० ११

उत्तर—वास्तव में विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। आपकी गाथा वेद, स्मृति, रामायण और स्वयं महाभारत के विरुद्ध है, यह हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे। अब विश्वामित्र की वास्तविक कथा सुनिए—

राजाऽऽसीदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिन्दमः। धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः॥ १७॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत्कुशो नाम महीपतिः। कुशस्या पुत्रो बलवान् कुशनाभः सुधार्मिकः॥ १८॥

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः। गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥ १९॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम्। बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्॥ २०॥

—वाल्मीकि० बाल० स० ५१

भाषार्थ—यह बहुत पहले शत्रुओं का जीतनेवाला धर्मात्मा राजा था। धर्म का जाननेवाला, विद्वान्, प्रजा के हित में लगा रहता था॥ १७॥ प्रजापति का पुत्र महाराज कुश था। कुश का पुत्र धार्मिक और बलवान् कुशनाभ था॥ १८॥ कुशनाभ का पुत्र गाधि नाम से प्रसिद्ध था। गाधि का पुत्र महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र था॥ १९॥ महातेजस्वी विश्वामित्र ने पृथिवी का पालन किया और राजा विश्वामित्र ने कई सहस्र वर्ष राज्य किया॥ २०॥

कभी राजा विश्वामित्र सेना साथ में लेकर पृथिवी का चक्कर लगाते हुए वसिष्ठ के आश्रम में आये। उस आश्रम में वसिष्ठ ने विश्वामित्र का स्वागत करके कुशल पूछा। पश्चात् वसिष्ठ ने सेनासहित विश्वामित्र का अतिथि-सत्कार किया। राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ से शबला गौ माँगी। वसिष्ठ ने शबला के देने से इनकार कर दिया। तब राजा विश्वामित्र ने ज़बरदस्ती गौ को ले-जाना चाहा। वसिष्ठ ने विश्वामित्र से युद्ध किया और विश्वामित्री की सारी सेना का नाश कर दिया। पराजित होकर विश्वामित्र घर आया और अपने एक पुत्र को राज्य सौंपकर आप तप करने वन में चला गया और बड़े भारी तप से दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किये। तब बड़े घमण्ड से वसिष्ठ के आश्रम पर चढ़ाई की। इस लड़ाई में वसिष्ठ ने अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र के सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का नाश कर दिया। यह देखकर विश्वामित्र ने कहा कि—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्। एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥ २३॥
तदेतत्प्रसमीक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः। तपो महत्समास्थास्ये यद्वै ब्रह्मत्वकारणम्॥ २४॥

—वाल्मी० बाल० स० ५६

भाषार्थ—क्षत्रियों के बल को धिक्कार है! ब्रह्मतेज ही बल है। एक ही ब्रह्मदण्ड ने मेरे सारे अस्त्रों को निकम्मा कर दिया॥ २३॥ यह सब-कुछ देखकर प्रसन्न मन होकर मैं ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए बड़ा भारी तप करूँगा॥ २४॥

यह कहकर वन में तप करने चले गये और बड़ा भारी तप किया—

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः॥ १८॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन्। ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः॥ १९॥
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक। दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गणः॥ २०॥
ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः। सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत्॥ २५॥
ब्रह्मर्षिस्त्वं न सन्देहः सर्वं सम्पद्यते तव। इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम्॥ २६॥

—वाल्मी० बाल० स० ६५

भाषार्थ—तब ब्रह्मा समेत सारे देवता॥ १८॥ महात्मा विश्वामित्र को मीठे वचन बोले—"हे ब्रह्मर्षे! हम तेरा स्वागत करते हैं। आपने हमको तप से सन्तुष्ट कर दिया है॥ १९॥ हे कौशिक! आपने घोर तप से ब्राह्मण पद को प्राप्त कर लिया है। और हे ब्राह्मण! देवताओं समेत मैं तुझे बड़ी आयु देता हूँ।"॥ २॥ तब देवताओं ने जप करनेवालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ को प्रसन्न किया तब वसिष्ठ ने मित्रता करके कहा—"ऐसा ही होगा"॥ २५॥ तू ब्रह्मर्षि है इसमें सन्देह नहीं है और तुझमें सब-कुछ योग्य है। यह कहने पर सब देवता भी चले गये॥ ६॥ यही कथा अक्षरशः संक्षेप से महाभारत आदिपर्व अध्याय १७७ में लिखी हुई है और इस कथा के आदि तथा अन्त में ये श्लोक विद्यमान हैं—

कान्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवो भरतर्षभ। गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः॥ ३॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्र समृद्धबलवाहनः। विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्। धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ॥ ४४ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम्। स राज्यं स्फीतिमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम् ॥ ४५ ॥
भोगाँश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे। स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा ॥ ४६ ॥
ततापं सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्। अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ॥ ४७ ॥

—महा० आदि० अ० १७७ [गी० सं० में आ०—१७४।—सं०]

भाषार्थ—कान्यकुब्ज देश में कुशिक का बड़ा प्रसिद्ध गाधि नाम का राजा था ॥ ४ ॥ विश्वामित्र ने क्षत्रभाव से दुःखी होकर यह बात कही कि "क्षत्रियबल को धिक्कार है ब्रह्मतेज ही बल है ॥ ४४ ॥ बल-अबल का निश्चय करके तप ही परम बल है।" उसने राज्य को तथा प्रकाशित श्री को छोड़कर ॥ ४५ ॥ भोगों को पीछे छोड़कर तप में ही मन को लगाया। उसने तप से सिद्धि को प्राप्त करके और लोकों को तेज से वश में करके ॥ ४६ ॥ अपने तेज से सबको तपाकर ब्राह्मणपद को प्राप्त किया और उस कौशिक विश्वामित्र ने इन्द्र के साथ सोमरस का पान किया ॥ ४७ ॥

यहाँ पर वाल्मीकि तथा व्यास दोनों ने ही विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना लिखा है। आपके विचार के अनुसार क्या इन दोनों को विश्वामित्र के इतिहास का पूर्ण ज्ञान न था? यदि था तो फिर साफ़ सिद्ध हो गया कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने।

(३६५) प्रश्न—अनुशासनपर्व के आरम्भ में भीष्म ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि कर्म के द्वारा कोई अन्य जाति ब्राह्मण नहीं बन सकती। —पृ० ३१९, पं० १२

उत्तर—श्रीमान्‌जी! अनुशासनपर्व के वे श्लोक तो पेश कर दिये होते जहाँ भीष्म ने दूसरी जातियों के लिए कर्म द्वारा ब्राह्मणत्व को अप्राप्य वस्तु लिखा है। अनुशासनपर्व के प्रथम अध्याय में 'मनुष्य की मृत्यु में अपने ही किये हुए कर्म कारण हैं' और दूसरे अध्याय में 'गृहस्थी मृत्यु को कैसे जीत सकता है' इन दो विषयों का वर्णन है। इन अध्यायों में वर्णव्यवस्था का ज़िक्र तक भी नहीं है। न जाने आपने यह सुफ़ेद झूठ लिखकर क्यों आत्महत्या की है। क्या इस झूठ का आप कोई प्रायश्चित्त करेंगे?

(३६६) प्रश्न—राजा युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि—

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप। कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ। श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

—महा० अनु० अ० ३

भगवान् नरेश भीष्म! यदि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये तीन वर्ण किसी प्रकार से भी ब्राह्मण नहीं हो सकते तो फिर विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण कैसे बन गये, यह हम याथातथ्य सुनना चाहते हैं, आप कृपा करके हमसे कहें। पृ० ३१९, पं० १४

उत्तर—या बेईमानी तेरा ही आसरा! ऊपर तो भीष्म के नाम से गप्प हाँक दी। यहाँ दुष्प्राप्य के अर्थ ही "तीन वर्ण किसी प्रकार से भी ब्राह्मण नहीं हो सकते" कर दिया। श्रीमान्‌जी! दुष्प्राप्य का अर्थ कष्टसाध्य है, असाध्य नहीं है। आर्यसमाज भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से ब्राह्मण बनना सुसाध्य नहीं मानता, अपितु कष्टसाध्य मानता है। हाँ, पौराणिक साहित्य सुसाध्य अवश्य मानता है, जैसाकि—

विश्वामित्रस्तु राजेन्द्र ब्राह्मणत्वजिगीषया।
तपश्चचार विपुलं सन्तापाय दिवौकसाम्। ब्राह्मणत्वं न लेभेऽसौ लेभे विघ्नाननेकशः ॥ ५६ ॥

ततस्तु नियमात्तासां तिथीनां प्रवरा तिथिः। उपोषिता बहुविधा ज्ञात्वा ब्रह्मप्रियां तिथिम्॥ ५७॥
ततो देवो ददौ ब्रह्मा विश्वामित्राय धीमते। इहैव तेन देहेन ब्राह्मणत्वं सुदुर्लभम्॥ ५८॥
तिथीनां प्रवरा ह्येषा तिथीनामुत्तमातिथिः। क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा ब्राह्मणत्वमवाप्नुयुः॥ ५९॥

—भविष्य० ब्राह्म० अध्याय० १६

भाषार्थ—हे राजेन्द्र! विश्वामित्र ने तो ब्राह्मणत्व के प्राप्त करने की इच्छा से देवताओं को सन्ताप देने के लिए घोर तप किया किन्तु वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं हुआ, अपितु अनेक विघ्नों को प्राप्त हुआ॥ ५६॥ फिर तो उन तिथियों में से श्रेष्ठ तिथि प्रतिपदा में बहुत प्रकार से नियमानुसार उपवास किया इस बात को जानकर कि यह तिथि ब्रह्मा की प्यारी है॥ ५७॥ तब देव ब्रह्मा ने बुद्धिमान् विश्वामित्र के लिए इसी जन्म में इसी देह से दुर्लभ ब्राह्मणत्व दिया॥ ५८॥ यह तिथि तिथियों में श्रेष्ठ है, यह तिथि तिथियों में उत्तम है। इससे क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ब्राह्मणपद को प्राप्त हो सकते हैं॥ ५९॥

कहिए महाराज! यह तो केवल प्रतिपदा के व्रत से ही ब्राह्मणपद की प्राप्ति होने लगी। क्या इससे सस्ता सौदा भी कहीं संसार में हो सकता है? फिर युधिष्ठिर के प्रश्न से पता लगता है कि वह विश्वामित्र को क्षत्रिय से ब्राह्मण बना ही मानते थे।

(३६७) प्रश्न—भीष्म ने उत्तर दिया कि गाधि क्षत्रिय की लड़की सत्यवती का विवाह ऋचीक ब्राह्मण से हुआ। गाधि की स्त्री के कहने से सत्यवती ने सन्तानार्थ अपने पति से कहा। ऋचीक ने दोनों के लिए दो चरु बनाये। गाधि की स्त्री के लिए क्षात्रतेज प्रधान चरु बनाया तथा अपनी स्त्री के लिए ब्रह्मतेज-प्रधान चरु बनाया। अपनी स्त्री को गूलर तथा गाधि की स्त्री को पीपल से मिलने को कहा। माँ-बेटी ने आपस में चरु भी तब्दील कर लिये और पेड़ों का मिलना भी तब्दील कर दिया। जब ऋचीक को इस बात का पता लगा तो उन्होंने अपनी स्त्री सत्यवती से कहा कि चरु तथा वृक्षों के तब्दील करने का यह परिणाम होगा कि तेरी माता श्रेष्ठ ब्राह्मण को तथा तू उग्रकर्मा क्षत्रिय को पैदा करेगी। सत्यवती की प्रार्थना पर ऋषि ने कहा कि अच्छा तुम्हारा पुत्र इस प्रकार का न होगा किन्तु पौत्र इस प्रकार का होगा। समय आने पर सत्यवती के जमदग्नि नामक बालक पैदा हुआ और जमदग्नि के परशुराम पैदा हुआ, तथा गाधि की स्त्री ने यशस्वी ब्रह्मवादी ब्रह्मर्षि विश्वामित्र को पैदा किया। अब कौन मनुष्य कह सकता है कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गया? जबकि उत्पन्न होते ही विश्वामित्र को ब्रह्मवक्ता एवं ब्रह्मर्षि कहा है, फिर इसका क्षत्रिय होना मानेगा कौन?

—पृ० ३१९, पं० १५

उत्तर—वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत के आदि पर्व में विश्वामित्र की पैदाइश गाधि से लिखी है और उनको क्षत्रिय राजा से ब्राह्मण होना माना है। वहाँ चरु आदि का क़तई ज़िक्र नहीं है। [देखो नं० ३६४]।

(२) गाधि की लड़की सत्यवती क्षत्रिया थी और ऋचीक ब्राह्मण थे। ऋचीक से विवाह होने पर सत्यवती ब्राह्मणी बन गई या कि क्षत्रिया ही रही? यदि क्षत्रिया ही रही तो उनकी सन्तान जमदग्नि को वर्णसंकर मानना पड़ेगा। यदि ब्राह्मणी बन गई तो इससे ही क्षत्रिय का ब्राह्मणी बनना गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था का साधक है।

(३) महाभारत वनपर्व अध्याय ११५ श्लोक २१ से ४३ तक में यह वर्णन है कि चरु ऋचीक के पिता सत्यवती के श्वसुर भृगु ने तैयार किये, जैसेकि—

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः॥ ४२॥ —महा० वन० अ० ११५

भाषार्थ—तब सत्यवती ने अपने श्वसुर भृगु को बार-बार प्रसन्न किया॥ ४२॥ इत्यादि-इत्यादि।

इन दोनों में कौन-सी बात ठीक है? हमारे विचार से तो परस्पर विरोध होने के कारण चरु की कल्पना ही मिथ्या है।

(४) वृक्षों के साथ आलिंगन का क्या प्रयोजन था? क्या वृक्षों का आलिंगन भी गर्भस्थिति में कारण था? क्या वृक्ष भी स्त्री में गर्भाधान कर सकते हैं? यदि कर सकते हैं तो सन्तान किस वर्ण की होगी?

(५) चरुभक्षण के पश्चात् गाधि की स्त्री तथा ऋचीक की स्त्री ने गाधि तथा ऋचीक से समागम किया या नहीं? यदि कहो कि पतियों से गर्भाधान द्वारा वीर्यदान लिया था तो फिर विश्वामित्र की माँ क्षत्राणी तथा पिता गाधि क्षत्रिय और विश्वामित्र भी क्षत्रिय ही हुआ।

(६) यदि कहो कि पतियों से वीर्यदान नहीं लिया तो गर्भ कैसे ठहरा? क्योंकि वेद कहता है कि—

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। —इत्यादि [यजुः० १९।७६]

अर्थ—पुरुष की इन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रविष्ट होकर गर्भ में वीर्य छोड़ती है तब गर्भ होता है। तथा मनु भी कहते हैं कि—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम्।
—मनु० ९।३३

भाषार्थ—स्त्री खेत है और पुरुष बीज है, खेत और बीज के संयोग से ही सब शरीरधारियों का पैदा होना सम्भव है।

(७) यदि कहो कि चरु में बीज मौजूद था उससे गर्भ हो गया, तो क्या बीज के खाने से स्त्री के गर्भ होना सम्भव है या चरु का योनि की ओर से ही प्रयोग किया गया था?

(८) यदि चरु में बीज था तो वह किस प्रकार का बीज था? क्या ऋचीक के शरीर से पैदा हुआ बीज था या वेदमन्त्रों से पैदा हुआ विशेष बीज था, जिसमें ऋचीक का शारीरिक भाग न था?

(९) यदि कहो कि ऋचीक का शारीरिक बीज चरु में था तो वह किस विधि से ऋचीक के शरीर से निकालकर चरु में प्रविष्ट किया गया था और ऋचीक के बीज से गाधि की स्त्री में गर्भाधान, अर्थात् जवाई के बीज से सास में गर्भ क्या शास्त्रविहित है? यदि नहीं तो क्या विश्वामित्र को अवैध सन्तान मानना पड़ेगा?

(१०) एक ही ऋचीक के शरीर से दो प्रकार का वीर्य होना कैसे सम्भव है, अर्थात् एक क्षत्रिय पैदा करनेवाला, दूसरा ब्राह्मण पैदा करनेवाला।

(११) यदि कहो कि ऋचीक के शरीर का बीज में कोई भाग न था अपितु वेदमन्त्रों की शक्ति से ही इस चरु में बीज पैदा किया गया था तो क्या बिना मनुष्य के शरीर के इस प्रकार का बीज तैयार किया जा सकता है जो गर्भधारण में काम दे सके और क्या वेदमन्त्रों से किसी वस्तु में ब्राह्मणपन तथा क्षत्रियपन के गुण पैदा किये जा सकते हैं?

(१२) और यदि बिना किसी प्रकार के शारीरिक सम्बन्ध के केवल वेदमन्त्रों से ही ब्राह्मणपन तथा क्षत्रियपन के गुण पैदा किये जा सकते हैं, तो फिर न ब्राह्मणकुल में पैदा होना आवश्यक है, न ब्राह्मण का बीज और न ब्राह्मणी की योनि ही ब्राह्मण बनने के लिए आवश्यक है, अपितु जहाँ भी वेदमन्त्रों से ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन के गुण पैदा कर दिये जावें, वही ब्राह्मण तथा क्षत्रिय हैं। इससे तो वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव से सिद्ध हो गई।

(१३) पुत्र के न होने की शिकायत सत्यवती की माता को थी, सत्यवती को तो न थी, फिर दोनों के लिए चरु क्यों तैयार किया गया, क्योंकि ऋचीक के सत्यवती से तीन पुत्र थे—

जमदग्नि, शुनक तथा शुनःशेप। (वाल्मी० बाल० स० ६१) विश्वामित्र के साथ-साथ चरु से तो केवल जमदग्नि ही पैदा हुआ था, शेष दो तो बिना चरु के ही हुए। पिछले दो बिना चरु के पैदा हो गये तो पहले के लिए भी चरु की क्या आवश्यकता थी? अतः दोनों के लिए चरु बनाने की बात केवल चरु के परिवर्तन से विश्वामित्र को जन्म से ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए जन्माभिमानी लोगों की कल्पना ही है।

(१४) इन सब बातों को छोड़कर यदि इस कथा को ठीक भी मान लिया जावे तो विश्वामित्र की माता क्षत्राणी थी। चरु ब्राह्मणतेज प्रधान खाया तो विश्वामित्र ब्राह्मण पैदा हो गया। किन्तु, जमदग्नि की माता सत्यवती क्षत्रिया थी और चरु भी क्षात्रतेज-प्रधान खाया, तब जमदग्नि क्षत्रिय क्यों न बना? यदि पुत्र नहीं तो पौत्र ही परशुराम क्षत्रिय क्यों न माना गया? इससे सिद्ध है कि यह गाथा वेदशास्त्र, युक्तिविरुद्ध होने से क़तई मिथ्या है। वास्तव में गाधि क्षत्रिय था, विश्वामित्र गाधि का पुत्र जन्म से क्षत्रिय था, वह तप से कर्मानुसार ब्राह्मण बन गया। इस घटना का संस्कृतग्रन्थों में अनेक स्थलों में वर्णन किया गया है—

(१) **पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।**
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ —मनु० ७।४२
गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—पृथु ने विनय से राज्य को प्राप्त किया और मनु ने भी। कुबेर ने विनय से धन-ऐश्वर्य को प्राप्त किया और विनय से ही गाधि का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए उसी शरीर से ब्राह्मण बन गया॥४२॥

यहाँ मनु तथा कुल्लूक दोनों ने विश्वामित्र को क्षत्रिय माना है।

(२) **तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।**
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥ —मनु० १०।४२
तपः प्रभावेन विश्वामित्रवत्। बीजप्रभावेन ऋष्यशृङ्गवत्॥ —कुल्लूकभट्ट

मनुष्यों में प्रत्येक युग में इस संसार में कोई तप के प्रभाव से विश्वामित्र की भाँति, कोई बीज के प्रभाव से ऋष्यशृङ्ग की भाँति अपने जन्म की अपेक्षा उन्नति तथा अवनति को प्राप्त हो जाते हैं॥४२॥ यहाँ कुल्लूकभट्ट ने विश्वामित्र की उन्नति में बीज को कारण नहीं माना अपितु तप को कारण माना है।

(३) **यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।**
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ —मनु० ११।२३८
यद् दुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना यथा विश्वामित्रेण तेनैव ब्राह्मण्यादि॥
—कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—जो कठिनता से तैरने योग्य है, जो दुःख से प्राप्त करने योग्य है जैसे क्षत्रिय विश्वामित्र ने उसी शरीर से ब्राह्मणपद प्राप्त किया, जो कठिनता से गमन करने योग्य है, जो कठिनता से करने योग्य है, वे सब तप से साध्य हैं, क्योंकि तप दुर्लंघ्य शक्ति है॥३३८॥

(४) **पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः॥५४॥**
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया। तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम॥५५॥
—वाल्मी० बाल० स० १८

भाषार्थ—राजा दशरथ ने विश्वामित्र से कहा कि आप पहले तप के कारण राजर्षि शब्द से प्रकाशित हुए॥५४॥ फिर ब्रह्मर्षि बन गये, अतः मेरे द्वारा अत्यन्त पूज्य हैं। हे विप्र! यह अद्‌भुत

घटना है। आप मेरी दृष्टि में परम पवित्र हैं॥५५॥

(५) **विश्वामित्रो गाधिसुतस्तपसैव महामुने।**
क्षत्रियोऽथाभवद्विप्रः प्रसिद्धं त्रिभवेत्विदम्॥५३॥ —शिव० उमा० अ० १२

भाषार्थ—हे महामुने! गाधि का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए तप से ब्राह्मण बन गया। यह तो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है॥५३॥

(६) **शृणु तात न विप्रोऽहं गाधिक्षत्रियबालकः।**
विश्वामित्रेति विख्यातः क्षत्रियो विप्रसेवकः॥ ९॥
विश्वामित्र वरान्मे त्वं ब्रह्मर्षिर्नात्र संशयः।
अतस्त्वमाज्ञया मे हि संस्कारं कर्तुमर्हसि॥ १३॥
ततोऽकार्षीत् स संस्कारं तस्य प्रीत्याऽखिलं यथा॥ १४॥
—शिव० रुद्र० कुमार अ०३

भाषार्थ—विश्वामित्र ने कहा—हे प्यारे! सुन, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। गाधिक्षत्रिय का बालक हूँ। विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हूँ, ब्राह्मणों का सेवक क्षत्रिय हूँ॥९॥ शिवपुत्र ने कहा—हे विश्वामित्र! मेरे वर से तू ब्राह्मर्षि है, इसमें संशय नहीं है, इसलिए तू मेरी आज्ञा से मेरा संस्कार कर सकता है॥१३॥ तब विश्वामित्र ने शिवपुत्र का यथाविधि प्रीति से सम्पूर्ण संस्कार करवाया॥१४॥

(७) **क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः।**
धर्मस्य वचनात्प्रीतो विश्वामित्रस्तथाभवत्॥१८॥ —महा० उद्योग० अ० १०६

भाषार्थ—तथा विश्वामित्र धर्म के वचन से प्रीतिपूर्वक क्षात्रभाव को छोड़कर ब्राह्मणपद को प्राप्त हो गया।

(८) **विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम्।**
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः॥ १६॥
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत्॥१७॥ —महा० अनुशा० अ० १८

भाषार्थ—तब विश्वामित्र बोला कि तब मैं क्षत्रिय था। मैं ब्राह्मण होना चाहता हूँ, मैंने ऐसी प्रार्थना ब्रह्मा से की। उस ब्रह्मा की कृपा से मैंने दुर्लभ ब्राह्मणपद को प्राप्त किया॥१६॥

इतने स्पष्ट प्रमाणों की विद्यमानता में विश्वामित्र के क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने में किसको शंका हो सकती है, अतः विश्वामित्र को जन्म से ब्राह्मण या ब्रह्मर्षि मानना पौराणिक गप्पाष्टक ही है।

(३६८) प्रश्न—ब्राह्मण से जो क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न होता है उसमें माता के रज से कुछ क्षत्रियत्व विकार रहता है, इसी कारण मन्वादि धर्मशास्त्रों ने ऐसी सन्तान को पूर्ण ब्राह्मण न लिखकर मूर्धाभिषिक्त लिखा है। विश्वामित्र ने अपने घोर तप से मातृ-रज को अपने शरीर से निकाल दिया। निकालने के पश्चात् वह पूर्ण ब्राह्मण बन गया। जब चरु ब्रह्मवीर्य से युक्त था और महाभारत ने उत्पन्न होते ही विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि मान लिया, इतना होने पर भी विचारशील मनुष्य यह नहीं मान सकता कि विश्वामित्र क्षत्रिय के वीर्य से पैदा हुआ, विद्या पढ़कर ब्राह्मण बन गया। —पृ० ३२१, पं० ११

उत्तर—(१) आपने विश्वामित्र को ब्राह्मण से क्षत्रिया कन्या में पैदा होने के कारण मूर्धाभिषिक्त माना है और चरु में ब्रह्मवीर्य की विद्यमानता मानी है तथा गाधि के वीर्य से उत्पत्ति का निषेध कर दिया है। तब आपके लेख से सिद्ध हुआ कि ऋचीक के वीर्य तथा गाधि की स्त्री के रज मिलने से विश्वामित्र उत्पन्न हुए, अर्थात् जवाई के वीर्य से सास में गर्भ का होना आपने स्वीकार कर लिया। क्या इसे सनातनधर्म शास्त्र के अनुकूल धर्म मानता है?

(२) एक ओर तो आप विश्वामित्र को जन्म-समय अपूर्ण ब्राह्मण मानते हैं, दूसरी ओर जन्म से ही ब्रह्मर्षि मानते हैं, क्या यह परस्पर विरोध तो नहीं है?

(३) जब आप यह मानते हैं कि तप से मातृ-रज को शरीर से निकाला जा सकता है तो क्या उसी प्रकार से पितृ-वीर्य को भी तप से बाहर निकालकर प्रत्येक मनुष्य ब्राह्मण नहीं बन सकता? अत: आपकी सारी कल्पना निर्मूल होने से सर्वथा मिथ्या है। वास्तव में विश्वामित्र क्षत्रिय, क्षत्रिया के रजवीर्य से पैदा होकर तप से ब्राह्मण बना था।

(३६९) प्रश्न—'केवल चरुमात्र से गर्भ नहीं रह सकता यह निरी गप्प है' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह महाभारत में लिखा है। यदि महाभारत गप्प है तो गाधि का होना गप्प, गाधि की स्त्री से विश्वामित्र का होना गप्प, तथा विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना गप्प। फिर इस गप्पयुक्त विश्वामित्र की कथा को तुमने क्यों सत्य माना? —पृ० ३२१, पं० २३

उत्तर—श्रीमान्‌जी! महाभारत स्वत:प्रमाण नहीं है, अपितु परत:प्रमाण है। महाभारत की बातें भी यदि वेद के विरुद्ध हों तो वे प्रमाण नहीं मानी जा सकतीं। वेद कहता है कि रज-वीर्य के योग से ही सन्तानोत्पत्ति हो सकती है (देखो नं० ३६७), अत: केवल चरु से गर्भस्थिति वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण तथा गाधि और गाधि की स्त्री के रजवीर्य से विश्वामित्र का पैदा होना वेदानुकूल होने से प्रमाण है। भला! यह तो बतलाइए कि महाभारत में यह कहाँ लिखा है कि चरु खाने के पीछे उन स्त्रियों ने पति से समागम नहीं किया और फिर कौन-सी खुराफ़ात है जो मौजूदा महाभारत से नहीं मिल सकती? व्यास कहते हैं महाभारत चौबीस हज़ार श्लोकयुक्त है। गरुड़ कहता है छह हज़ार श्लोकयुक्त था, अब लगभग एक लाख श्लोकयुक्त है। जिस ग्रन्थ में इतना हेर-फेर हो वह भी कहीं प्रमाण के योग्य हो सकता है? देखिए—

दैत्या: सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृते युगे भारते षट्सहस्त्र्याम्।
निष्कास्य कांश्चन् नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥ ६९॥

—गरु० उत्तरब्रह्म० अ० १

भाषार्थ—सब राक्षस लोग ब्राह्मणों के कुलों में पैदा होकर धर्मात्मा राजा के राज्य में बनी छह हज़ार श्लोकों की भारत-संहिता में से कुछ श्लोक निकालकर और कुछ नये बनाये श्लोकों को डालने का काम हमेशा करते हैं॥ ६९॥

अत: महाभारत की बात वेदानुकूल होने से ही प्रमाण मानी जा सकती है अन्यथा नहीं, और आप तो विश्वामित्र में रज और वीर्य दोनों की मौजूदगी भी मानते हैं (देखो नं० ३६८)।

(३७०) प्रश्न—प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥ —सायणाभाष्यभूमिका

भाषार्थ—जो उपाय प्रत्यक्ष में नहीं आता और जो अनुमति अक़लिया दलील में नहीं बैठता वह वेद के अनुष्ठान से मिल जाता है। यह वेद की वेदता है। —पृ० ३२२, पं० ६

उत्तर—आपका तथा आपके सायण का यह ख़याल कि 'वेद उन्हीं बातों का प्रतिपादन करता है जो प्रत्येक्ष तथा अनुमान से न जानी जावें' क़तई निर्मूल है। वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं; जिनमें मनुष्योपयोगी सम्पूर्ण विषयों का वर्णन है। जैसाकि मनु ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा: पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ —१२।९७

भाषार्थ—चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रमों के उपयोगी जो विद्या हो चुकी, हैं और होंगी वे सब वेद से ही प्रसिद्ध होती हैं। चूँकि वेद **'रेतो मूत्रम्'** इत्यादि [यजु:० १९।७६] में कहता

है कि रजवीर्य के संयोग से गर्भ होता है, अतः केवल चरु से गर्भस्थिति वेदविरुद्ध होने से मिथ्या ही है।

(३७१) प्रश्न—वेदोक्त पुत्रेष्टियज्ञ होने पर केवल चरुमात्र से पुत्र उत्पन्न होता है, इसको न्यायदर्शन ने माना है कि त्रिपिंडीश्राद्ध के मध्यमपिण्ड के भक्षण से स्त्री को गर्भ रहता है यह भी एक वेद का महत्त्व है। इसको मनु ने भी लिखा है। कात्यायनश्रौतसूत्र में इसकी विधि है।
—पृ० ३२२, पं० १०

उत्तर—आपने न्यायदर्शन का कोई प्रमाण नहीं दिया कि पुत्रेष्टियज्ञ होने पर केवल चरु से ही गर्भ हो जाता है। पुत्रेष्टियज्ञ के शेष भोजन से प्रसव-विरोधी रोगों का ही दूर होना सम्भव है। केवल चरुणभक्षण से गर्भ असम्भव तथा वेद के विरुद्ध होने से मिथ्या है। मध्यम पिण्ड के भोजन से गर्भस्थिति पौराणिक गप्प ही है, चाहे वह मनु में लिखा हो चाहे किसी श्रौतसूत्र में उसकी विधि हो। चूँकि वेद रज और वीर्य के योग से गर्भस्थिति मानता है, अतः रज-वीर्य के योग के बिना गर्भस्थिति बतलानेवाले सम्पूर्ण लेख वेद के विरुद्ध होने से मिथ्या हैं।

(३७२) प्रश्न—आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। —यजुः० २।३३

हे पितरो! तुम गर्भस्थापन करो और कमल की माला पहिननेवाला इस स्त्री के पुत्र पैदा हो—यह स्वतः वेद कहता है, फिर हम कैसे मान लें कि चरु से गर्भ नहीं रहता?
—पृ० ३२२, पं० १४

उत्तर—यहाँ वेद में गर्भाधान का प्रकरण ही नहीं है। यहाँ पर तो वेदारम्भ का वर्णन है। यजमान अपने पुत्र को आचार्य को सौंपते हुए कहता है कि हे ज्ञान से रक्षा करनेवाले आचार्य तथा अध्यापको! आप इस बालक को गर्भवत् धारण करें। जैसाकि महाभारत में भी आता है—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य, भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥ ६॥
—महा० उद्योग० अ० ४४

भाषार्थ—जो इस संसार में आचार्यरूप योनि में प्रवेश करके गर्भरूप होकर ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वे इसी संसार में शास्त्रों के कर्त्ता बनते हैं और देह को त्यागकर परमधाम को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

कहिए श्रीमान्‌जी! यहाँ वेदमन्त्र में यह कौन-से शब्दों का अर्थ है कि रज-वीर्य के योग के बिना केवल चरु से ही गर्भस्थिति हो जाती है? इस वेदमन्त्र में तो इस बात की गन्ध भी नहीं है, अतः विश्वामित्र गाधि तथा उसकी धर्मपत्नी के रज-वीर्य के योग से ही पैदा हुआ था और जन्म से क्षत्रिय होता हुआ तप करके गुण-कर्म-स्वभावानुसार ब्राह्मण बन गया।

(३७३) प्रश्न—किसी ब्राह्मण का पुत्र मतङ्ग नामक था। वह रथ पर सवार होकर यज्ञ कराने को जा रहा था कि उसको गधी के साथ बातचीत से पता लगा कि मैं ब्राह्मणी में नाई से पैदा हुआ चाण्डाल हूँ। उसने वापस आकर पिता को सब वृत्तान्त कह सुनाया और स्वयं मतङ्ग ने ब्राह्मण बनने के लिए घोर तप किया, किन्तु इन्द्र ने कहा कि ब्राह्मणजाति तप से प्राप्त नहीं हो सकती, अतः मतङ्ग पूर्ववत् चाण्डाल बना रहा। यह मतङ्ग का इतिहास है (महा० अनु० अ० २७-२९) इस कथा से मतङ्ग का ब्राह्मण होना लिखना सर्वथा अन्याय है। —पृ० ३२२-३२४

उत्तर—श्रीमान्‌जी स्वामीजी का लेख बिलकुल सत्य है कि मतंग ऋषि चाण्डाल से ब्राह्मण बन गये थे और यह वही मतंग थे कि जिनके घर से विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस चुराकर खाया था जिसका संवाद कि महाभारत शान्तिपर्व अ० १४१ में दर्ज है, जिसमें यह श्लोक विद्यमान है कि—

विश्वामित्रस्तु मातंगमुवाच परिसान्त्वयन्।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥ ४९॥

—महा० शान्ति० अ० १४१

भाषार्थ—विश्वामित्र ने मतंग को शान्त करते हुए कहा कि मैं भूख से मरा जाता हूँ। मैं कुत्ते की जाँघ ज़रूर चुराऊँगा॥ ४९॥

महाभारत के पढ़ने से यह भी पता लगता है कि वह वेदशास्त्र का ज्ञाता था तभी तो उसने वेद तथा धर्मशास्त्र का प्रमाण देकर विश्वामित्र को उपदेश किया है, जैसाकि—

नेदं सम्यग् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषत:॥ ५६॥
यद्येष हेतुस्तव खादनेऽस्य न ते वेद: कारणं नार्यधर्म:।
तस्माद्भक्षेऽभक्षणे वा द्विजेन्द्र दोषं न पश्यामि यथेदमत्र॥ ८७॥

—महा० शान्ति० अ० १४१

भाषार्थ—हे महर्षे! आपने यह धर्म से निन्दित सम्यक् यत्न नहीं किया कि चाण्डाल के धन का चुराना और विशेष करके अभक्ष्य वस्तु का॥ ५६॥ यदि इस कुत्ते के मांस खाने में आपका यह हेतु है तो पता लगा कि आपके लिए वेद तथा आर्यधर्म प्रमाण नहीं हैं। इसलिए भक्ष्य-अभक्ष्य में आप दोष नहीं समझते जैसाकि मैं यहाँ देख रहा हूँ॥ ८७॥

अब वह उन्नति करके ब्राह्मण बना, यह हम महाभारत से दिखाते हैं, जैसाकि—

उत्पाद्य पुत्रान्मुनयो नृपते यत्र तत्र ह।
स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधु: पुन:॥ १३॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वर:।
आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मत्स्य एव च॥ १५॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात्॥ १६॥

—महा० शान्ति० अ० २९६

भाषार्थ—हे राजन्! मुनि लोगों ने जहाँ-तहाँ से पुत्रों को पैदा करके उनको अपने तप से ही ऋषि बना दिया॥ १३॥

हे राजन्! यवक्रीत, द्रोणाचार्य, द्रुपद, आयु, दत्त और मत्स्य तथा 'मतङ्ग', हे जनक! ये सब तप के आश्रय से ही अपनी अवस्था को प्राप्त हुए हैं॥ १५-१६॥ विशेष देखो (नं० ३५२)।

इससे सिद्ध है कि मतङ्ग ऋषि भी चाण्डाल से द्रोणाचार्य-जैसा ब्राह्मण बन गया। जन्माभिमानी लोगों ने इस सचाई को छिपाने के लिए उपर्युक्त कथा घड़ी, जोकि सर्वथा असम्भव, मिथ्या, वेदशास्त्र तथा इतिहास के विरुद्ध है। इस कथा के मिथ्यात्व में निम्न हेतु हैं—

(१) मतङ्ग के पिता का नाम नहीं लिखा कि वह किस ब्राह्मण का पुत्र था और उसकी माता तथा नाई का क्या नाम था?

(२) एक स्थान में ब्राह्मण का पुत्र तथा दूसरे स्थान में नाई का पुत्र लिखना परस्पर विरोध होने से दोनों मिथ्या हैं।

(३) गधी का बोलना तथा उससे मतङ्ग को ज्ञान होना अत्यन्त असम्भव बात है। क्या गधी नाई तथा मतङ्ग की माता के व्यभिचार के समय मौजूद थी और क्या गधी और मतङ्ग परस्पर एक-दूसरे की भाषा को समझते थे? जिस बात को गधी ने जान लिया तथा उस समय का ब्राह्मण न जान पाया, क्या वे ब्राह्मण उस गधी से भी बुद्धिहीन थे? ऐसा नहीं माना जा सकता, अत:

यह कथा सर्वथा मिथ्या ही है।

(४) क्या मतङ्ग पहले यज्ञ कराता रहा था वा नहीं? यदि कराता रहा था तो आपके लेखानुसार ही चाण्डाल होते हुए ब्राह्मण का काम करता रहा, किन्तु कोई उसे न पहचान सका, अत: पता लगा कि ब्राह्मणों में सिवाय कर्म करने के क्षत्रिय, चाण्डाल आदि से और कोई विशेषता नहीं है।

(५) गधी ने भी उसके क्रूर कर्म से ही चाण्डाल होने का अन्दाज़ा लगाया शक्ल से नहीं, अत: पता लगा कि मनुष्यों में कर्मानुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डालादि का पता लग सकता है, अन्यथा नहीं।

(६) मतङ्ग ने जो ब्राह्मण बनने के लिए तप किया तो उस समय तप करने से ब्राह्मण बन जाते होंगे तभी तप किया। यदि तप से ब्राह्मण बनने का रिवाज ही न होता तो ब्राह्मणार्थ तप का साहस कैसे होता?

(७) इन्द्र का कहना कि तप से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता स्वयं महाभारत के ही विरुद्ध है, क्योंकि इससे अगले ही अध्याय में वीतहव्य के ब्राह्मण बनने का ज़िक्र है—

शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः। राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम्॥ ५॥

—महा० अनु० अ० ३०

भाषार्थ—हे राजन्! सुनो जैसे महायश राजर्षि राजा वीतहव्य दुर्लभ, पूज्य ब्राह्मणपद को प्राप्त हुआ॥ ५॥

(८) विश्वामित्र तथा अनेक व्यक्तियों ने यत्र-तत्र जन्म लेकर तप से ब्राह्मणपद को प्राप्त किया, जिनका वर्णव्यवस्था-प्रकरण में विस्तारपूर्वक वर्णन है।

(९) भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व खण्ड १ अध्याय ३३ श्लोक ३ से २४ तक में लिखा है 'त्रिपाठी नाम का एक ब्राह्मणा था, उसकी स्त्री का नाम कामिनी था। एक बार वह ब्राह्मण किसी दूसरे ग्राम में कथा करने गया और वह एक मास तक घर न आया, तो कामिनी ने कामातुर होकर एक लकड़ियाँ बेचनेवाले निषाद को पाँच रुपये देकर उससे भोग किया। उसके गर्भ हो गया। दश मास पश्चात् पुत्र पैदा हुआ। त्रिपाठी ने उसका जातकर्म-संस्कार किया और वही व्याधकर्मा अन्त में राजा विक्रमादित्य के यज्ञ का आचार्य्य बना, जैसेकि—

विक्रमादित्यराज्ये तु द्विजः कश्चिदभूद् भुवि।
व्याधकर्मेति विख्यातो ब्राह्मण्यां शूद्रतोऽभवत्॥ ३॥
विक्रमादित्यभूपस्य यज्ञाचार्यो बभूव ह॥ २४॥

—भविष्य० प्रति० स० खं० १, अ० ३३

भाषार्थ—विक्रमादित्य के राज्य में कोई ब्राह्मण हुआ था। उसका नाम व्याधकर्मा प्रसिद्ध था तथा वह ब्राह्मणी में शूद्र से पैदा हुआ था॥ ३॥ वह विक्रमादित्य के यज्ञ में आचार्य बना।

जब व्याधकर्मा चाण्डाल से ब्राह्मण बन गया तो मतङ्ग के ब्राह्मण बनने में रुकावट क्यों?

(१०) इस कथा के अन्त में लिखा है कि—

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि।
कीर्तिश्च ते अतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति॥ २४॥

—महा० अनु० अ० २९

भाषार्थ—इन्द्र ने वर दिया कि हे वत्स! तू वेदों का विद्वान् प्रसिद्ध होगा तथा स्त्रियों से पूज्य होगा और तेरी तीनों लोकों में अत्यन्त कीर्ति होगी॥ २४॥

इस मिथ्या कथा में भी यहाँ वेदों का विद्वान् होना तथा ब्राह्मणी आदि समस्त स्त्रियों का पूज्य तथा तीनों लोकों में कीर्तिवाला होना भी ब्राह्मणपद की प्राप्ति को सिद्ध करता है।

अतः प्रत्येक अवस्था से सिद्ध है कि मतङ्ग अब्राह्मण से ब्राह्मण बन गया।

(३७४) प्रश्न—फिर स्वामीजी ने जो '**स्वाध्यायेन**' इत्यादि [मनु० २।२८] यह श्लोक देकर सिद्ध किया है कि स्वाध्याय आदि से यह शरीर ब्राह्मण का हो जाता है, यह लेख ग़लत है।

—पृ० ३२४, पं० १५

उत्तर—स्वामीजी ने जो लिखा है वह बिल्कुल ठीक है। वह श्लोक तथा अर्थ इस प्रकार है—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ २८॥

—मनु० २

इसका अथ पूर्व कर आये हैं। यहाँ भी संक्षेप से कहते हैं। **(स्वाध्यायेन)** पढ़ने-पढ़ाने **(जपैः)** विचार करने-कराने **(होमैः)** नानाविधि होम के अनुष्ठान, **(त्रैविद्येन)** सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने **(इज्यया)** पूर्णमासी, इष्टि आदि के करने **(सुतैः)** पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति **(महायज्ञैश्च)** पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ **(यज्ञैश्च)** अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषाण, परोपकारादि सत्यकर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुष्टाचार छोड़, श्रेष्ठाचार में वर्तने से **(इयम्)** यह **(तनुः)** शरीर **(ब्राह्मी)** ब्राह्मण का **(क्रियते)** किया जाता है॥ २८॥

(३७५) प्रश्न—प्रथम तो मनु का यह श्लोक किसी भी वेदमन्त्र के अनुकूल नहीं, फिर यह आर्यसमाज को कैसे प्रमाण होगा?

—पृ० ३२४, पं० १८

उत्तर—मनु का यह श्लोक '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' [यजुः० ३१।११] के अनुकूल होने से आर्यसमाज को प्रमाण है। आप कोई वेदमन्त्र पेश करके इस श्लोक को वेद के विरुद्ध सिद्ध करें।

(३७६) प्रश्न—यज्ञ स्वामीजी ने वेदों से उड़ा दिये। जब वेद में यज्ञ रहे ही नहीं, तो आर्यसमाजी करेंगे कहाँ से?

—पृ० ३२४, पं० २०

उत्तर—स्वामीजी वेदों में यज्ञ के विधान को स्वीकार करते हैं और उपर्युक्त श्लोक के अर्थ में स्वामीजी ने अपने मन्तव्य के अनुकूल ही 'इज्यया, यज्ञ, महायज्ञ' शब्दों का अर्थ करते हुए यज्ञशब्द की व्याख्या भी कर दी है। हाँ, स्वामीजी आपके मन्तव्यानुसार अश्वमेध, गोमेध, अजामेध, नरमेध आदि यज्ञों में घोड़े, गौ, बकरे तथा मनुष्य आदि को मारकर उनके मांस से हवन करने को वैदिक नहीं मानते।

(३७७) प्रश्न—स्वामीजी ने पाठ बदलकर श्लोक में '**व्रतैर्होमैः**' के स्थान में '**जपैर्होमैः**' बना लिया। जप बार-बार उच्चारण का नाम है। उसका स्वामीजी मूर्त्तिपूजा में खण्डन कर चुके हैं। यहाँ पर उसको ही शुभकर्म बतला दिया।

—पृ० ३२४, पं० २७

उत्तर—स्वामीजी ने यहाँ चौथे समुल्लास में वर्णव्यवस्था प्रकरण में इस श्लोक को दर्ज करते हुए लिखा है कि 'इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं'। सो यही श्लोक स्वामीजी ने तीसरे समुल्लास में ब्रह्मचारियों को उपदेश-प्रकरण में दिया है। वहाँ पर पाठ '**व्रतैर्होमैः**' ही है और और उसका अर्थ इस प्रकार से किया है कि '**(व्रतैः)** ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि नियम पालने' और यहाँ पर इस प्रकार से अर्थ किया है कि '**(जपैः)** विचार करने-कराने' ये दोनों ही अर्थ स्वामीजी के मन्तव्य के अनुकूल हैं और दोनों ही शुभकर्म भी हैं। इस पाठ को बदलने में स्वामीजी का कोई स्वार्थ प्रतीत नहीं होता, और न ही इस पाठभेद से वास्तविक श्लोक के अर्थों में कोई भेद पड़ता

है। जैसे सनातनधर्म व्रत तथा जप को शुभकर्म मानता है वैसे ही आर्यसमाज भी मानता है। केवल अर्थों का अन्तर है। स्वामीजी व्रत का अर्थ ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि नियम तथा जप का अर्थ विचार करना-कराना मानते हैं, अतः यह पाठभेद हमारे सिद्धान्त का बाधक तथा स्वार्थसाधक नहीं है।

(३७८) प्रश्न—'ब्राह्मीयम्' का अर्थ 'ब्राह्मण का' नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि 'इन अनुष्ठानों से ब्रह्मप्राप्ति के योग्य शरीर बनता है'।　　　　—पृ० ३२४, पं० २२

उत्तर—श्रीमान्‌जी यह **'ब्राह्मीयम्'** एक शब्द नहीं है। अपितु **'ब्राह्मी इयम्'** इन दो शब्दों का समूह है। स्वामीजी ने यहाँ चौथे समुल्लास में संक्षेप से 'ब्राह्मी' का अर्थ किया है 'ब्राह्मण का' किन्तु तीसरे समुल्लास में विस्तारपूर्वक **'ब्राह्मी'** का अर्थ किया है 'वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर' स्वामीजी वेद तथा परमेश्वर की प्राप्ति को ही ब्राह्मणपन में हेतु मानते हैं। ब्रह्म नाम वेद तथा परमेश्वर दोनों का है। इसलिए 'शरीर का ब्रह्मप्राप्ति के योग्य' बनाना तथा 'ब्राह्मण का शरीर' बनना एक ही बात है, इसमें तनिक भी अन्तर नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण का लक्षण भी यही है, जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है, जैसेकि—

जन्मना जायते शूद्रो व्रतबन्धाद् द्विजो भवेत्। वेदाभ्यासी भवेद्विप्रो ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणो भवेत्॥

—'वज्रसूची' सटीक लघुटंकनामटीका पृ० २४, सं० १८३९ ई०

प्रकाशक ऐल विलकिंसन, पोलीटिकल एजण्ट, भूपाल। वर्त्तमान पुस्तक स्वतन्त्रानन्द पुस्तकालय, हीरा मारकीट बाज़ार, कसेरियाँ, अमृतसर, में प्राप्य है।

भाषार्थ—जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र पैदा होता है। यज्ञोपवीत धारण करने से द्विज हो जाता है। वेद का अभ्यास करनेवाला विप्र हो जाता है। ब्रह्म का जाननेवाला ब्राह्मण होता है।

यद्यपि वर्त्तमान वज्रसूची उपनिषद् में जोकि उपनिषदों के गुटके में ३७वीं संख्या पर पाई जाती है, यह श्लोक नहीं है। जन्माभिमानी लोगों ने उसे निकाल दिया है। तो भी वर्त्तमान वज्रसूची उपनिषद् वर्णव्यवस्था को कर्मानुसार ही प्रतिपादन करती है, जैसेकि—

वज्रसूचिकोपनिषत्

यज्ज्ञानाद्यान्ति मुनयो ब्राह्मण्यं परमाद्भुतम्। तत् त्रैपदब्रह्मतत्त्वमहमस्मीति चिन्तये॥ १॥

ओ३म्। आप्यायन्त्विति शान्तिः॥

चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे। नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे।

ओं वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम्॥ १॥

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मणा एव प्रधाना इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्॥ तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम, किं जीवः, किं देहः, किं जातिः, किं ज्ञानम्, किं कर्म, किं धार्मिक इति॥ तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्त्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति॥ तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति॥ तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः। कौशिकः कुशात्। जाम्बूको जम्बूकात्। वाल्मीको वल्मीकात्। व्यासः कैवर्तकन्यायाम्। शशपृष्ठात् गौतमः। वसिष्ठ उर्वश्याम्। अगस्त्यः कलशे

जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति॥ तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥ तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥ तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्तिः। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥ तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम॥ यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः, शमदमादि सम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेतावर्तते॥ एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः॥ अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव॥ सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्मभावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्। ओं आप्यायन्त्विति शान्तिः॥

इति वज्रसूच्युपनिषत्समाप्ता॥

(३७९) प्रश्न—इस श्लोक में कई बातें ऐसी हैं, जिनको आर्यसमाज वैदिक ही नहीं मानता।

—पृ० ३२५, पं० ७

उत्तर—आपका यह लिखना क़तई ग़लत है। यदि आर्यसमाज इस श्लोक को वेदानुकूल न मानता तो इसका प्रमाण ही न देता, अतः आर्यसमाज इस श्लोक में प्रतिपादित सब सत्कर्मों को वैदिक मानता है, जैसेकि—

(१) **स्वाध्याय**—'**अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः**' [मनु० १०।१] इस श्लोक में व्यवस्थित तीनों वर्णों को प्रतिदिन स्वाध्याय करने की आज्ञा है, ताकि वे अपना ब्रह्मचर्य अवस्था का पढ़ा हुआ भूल न जावें, और पढ़ाने की आज्ञा केवल ब्राह्मण को ही है। व्यवस्थित शूद्र को स्वाध्याय की आज्ञा नहीं, क्योंकि शूद्र कहते ही उसको हैं जो प्रयत्न के पश्चात् भी न पढ़ सका हो। हाँ, सम्भावित चारों वर्णों को पढ़ने का अधिकार है, अर्थात् चारों वर्णों की सन्तान को वेदादि पढ़ने का अधिकार है।

(२) **व्रत**—ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि नियम का पालन तथा मधु-मांस-वर्जनादि नियमों का पालन आर्यसमाज वेदानुकूल मानता है, जिसका पूरा वर्णन सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में विद्यमान है।

(३) **होम**—नानाविध होम के अनुष्ठान को आर्यसमाज वैदिक मानता है। तीसरे समुल्लास में सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र से भी होम की आज्ञा दोनों समय करने की है, और चरु नाम सामग्री का है, जो हवन में एक आवश्यक वस्तु है।

(४) **त्रैविद्या**—सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ-सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने के व्रत का आर्यसमाज के गुरुकुलों में ब्रह्मचारीगण हमेशा ही पालन करते हैं।

(५) **इज्या**—पौर्णमासी आदि पार्वणिक यज्ञ तथा ब्रह्मचर्य अवस्था में देव, अर्थात् विद्वानों, ऋषि, अर्थात् वेद के ज्ञाताओं, पितृ अर्थात् अन्न-बल तथा ज्ञान से रक्षा करनेवाले आचार्य आदि पितरों की सेवा करके उनकी तृप्ति करना आर्यसमाज को इष्ट है।

(६) **सुत**—धर्म से सन्तानोत्पत्ति आर्यसमाज वेदानुकूल मानता है।

(७) **महायज्ञ**—पाँच महायज्ञों को आर्यसमाज वेदानुकूल धर्म मानता ही है।

(८) **यज्ञ**—अग्निष्टोम अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यज्ञों को भी आर्यसमाज वेदानुकूल स्वीकार करता है।

अब बतलाइए, इस श्लोक में वह कौन-सी बात है जिसको आर्यसमाज अवैदिक कहता है? यदि नहीं, तो आपका झूठ बोलना आत्महत्या है या नहीं? इससे सिद्ध है कि आप झूठ बोलकर आत्महत्या करके सनातनधर्मियों को गुमराही के समुद्र में गिरा रहे हैं।

(३८०) प्रश्न—**'येनास्य'** इत्यादि पर स्वामीजी! पिता-पितामहादिक इस आपके नक़ली ईसाई मार्ग से नहीं चले। वर्णव्यवस्था का न बदलना यही वेद का सिद्धान्त है।

—पृ० ३२५, पं० २९

उत्तर—आपने वेद का कोई प्रमाण नहीं दिया, जिससे यह सिद्ध हो कि वर्णव्यवस्था तब्दील नहीं होती और हमने वेद, स्मृति, इतिहास के अनेक प्रमाण दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वर्ण कर्मानुसार है जन्म से नहीं है, क्योंकि यदि वर्ण जन्म से हो तो उसकी व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता रही जब वह जन्म से व्यवस्थित ही है? अतः वर्ण के साथ व्यवस्था शब्द की विद्यमानता ही वर्णों को गुण-कर्म-स्वभावानुसार व्यवस्था शब्द का मोहताज सिद्ध कर रही है। गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णों का बदलना ही वेद का सिद्धान्त है। स्वामीजी ने यह सिद्धान्त ईसाइयों से नहीं लिया, अपितु ईसाइयों ने यह सिद्धान्त हमारे वेदशास्त्रों से लिया है और हमारे पिता-पितामहादि परम्परा से इस सिद्धान्त को मानते आये हैं, जैसाकि हमने वेद, स्मृति, रामायण, महाभारत तथा पुराणों के प्रमाणों से इसको सिद्ध किया है। हम गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था की पुष्टि में महाभारत का एक और प्रमाण पेश करते हैं। न्यायप्रिय सज्जन न्यायानुसार इसपर विचार करके सत्यसिद्धान्त को स्वीकर करें—

युधिष्ठिर उवाच — **कीदृशः कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।**
शुक्रं क्षेत्रं प्रमाणं वा यत्र लक्ष्यं न भारत॥ १९ ॥

भीष्म उवाच — **मातापितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत्।**
न चास्य मातापितरौ ज्ञायेतां स हि कृत्रिमः॥ २० ॥
अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन् सम्प्रति लक्षयेत्।
यो वर्णः पोषयेत्तं च तद्वर्णस्तस्य जायते॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच — **कथमस्य प्रयोक्तव्यः संस्कारः कस्य वा कथम्।**
देया कन्या कथं चेति तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २२ ॥

भीष्म उवाच — **आत्मवत्तस्य कुर्वीत संस्कारं स्वामिवत्तथा।**
त्यक्तो मातापितृभ्यो यः सवर्णं प्रतिपद्यते॥ २३ ॥
तद् गोत्रबन्धुजं तस्य कुर्यात् संस्कारमच्युत।
अथ देया तु कन्या स्यात्तद्वर्णस्य युधिष्ठिर॥ २४ ॥

—महा० अनुशा० अ० ४९

भावार्थ—युधिष्ठिर ने पूछा कि—किया हुआ पुत्र कैसे संग्रह से जाना जाता है? जहाँ पर बीज तथा क्षेत्र प्रमाण नहीं माना जाता॥ १९ ॥ भीष्म ने उत्तर दिया कि—माता और पिता ने जिसको त्याग दिया हो, उसे जो रास्ते में प्राप्त कर ले और उसके माता-पिता को हम जानते नहीं वही कृत्रिम पुत्र है॥ २० ॥ अनाथ बच्चों का जो भी स्वामी हो, जो वर्ण भी उसका पालन-पोषण करे वही वर्ण उसका हो जाता है॥ २१ ॥ युधिष्ठिर ने फिर पूछा कि—उसका संस्कार कैसे करना चाहिए और वह किसका, कैसे है, और उसको कन्या कौन दे, यह मुझसे कहिए॥ २२ ॥ भीष्म ने उत्तर

दिया कि—जो वर्ण उसका पालन-पोषण करता है वह अपने समान ही स्वामी बनकर उसका संस्कार करे। जो माता-पिता ने त्याग दिया वह पालनेवाले का सवर्ण ही होता है॥ २३॥ अपने गोत्र तथा बन्धु के समान उसका संस्कार करे और उसी वर्ण का पुरुष उसे कन्या भी दे॥ २४॥

यह सब वृत्त कर्ण के साथ हुआ। —महाभारत

कहिए महाराज! यदि शूद्र का पुत्र ब्राह्मण को तथा ब्राह्मण का पुत्र शूद्र को पड़ा हुआ मिल जावे और वह उसका पालन-पोषण करके अपने ही वर्ण में उसकी शादी कर दे तो बालकों का वर्ण पालन करनेवाले के अनुकूल होने से वर्ण में परिवर्तन हो गया, या नहीं? अब आप किस मुख से कह सकते हैं कि वेदों तथा धर्मशास्त्र में वर्ण-परिवर्तन का विधान नहीं है।

(३८१) प्रश्न—जो ब्राह्मण या क्षत्रिय ईसाई, मुसलमान हो गया वह अब भी जाति का ब्राह्मण-क्षत्रिय ही है। जाति तो शरीर के पतन पर बदलेगी। यदि कहो उससे खान-पान और विवाहादि सम्बन्ध क्यों नहीं करते तो वह भ्रष्ट हो गया है, इस कारण उस जाति में ग्रहण नहीं होता। —पृ० ३२६, पं० ३

उत्तर—यदि कोई ब्राह्मण वा क्षत्रिय ईसाई वा मुसलमान हो जाए तो आप उससे रोटी-बेटी का व्यवहार क्यों नहीं करते, जब आप वर्ण-व्यवस्था जन्म से मानते हैं कर्म से नहीं तो ईसाई या मुसलमान होने से उनका जन्म तो तब्दील होता नहीं और कर्मों का आपकी दृष्टि में कोई महत्त्व ही नहीं है। और जाति की तब्दीली शरीर की तब्दीली से होती है और शरीर उनका तब्दील होता नहीं, अतः आपके खयाल में वे दोनों जाति से भी ब्राह्मण-क्षत्रिय ही हैं, फिर यह बतलावें कि वे भ्रष्ट किस पदवी से हो गये जो आप उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने को तैयार नहीं हैं और उनको जाति में भी ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। बस, जिस तब्दीली के कारण उनको भ्रष्ट माना जाता है और जिस तब्दीली के कारण आप उससे रोटी-बेटी का व्यवहार करने को तैयार नहीं हैं, और प्रायश्चित्त करने के पीछे जिसकी तब्दीली के कारण आप फिर से उसे उत्कृष्ट मानने तथा रोटी-बेटी का व्यवहार भी करने को तैयार हो जाते हैं, उसी का नाम ब्राह्मणत्व वा क्षत्रियत्व है जो कर्मों के तब्दील होने से तब्दील होते रहते हैं। शरीर या जन्म का नाम ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है, अपितु शरीर का नाम मनुष्यत्व है जोकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान है। इन सबमें शरीर, जन्म-मरण आदि समान होते हुए भी कर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो एक-दूसरे में ब्राह्मणत्वादि भेद का कारण है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मण आदि वर्ण कर्मानुसार ही हैं, जन्म से नहीं हैं।

(३८२) प्रश्न—सभी मनुष्य लड्डू खाते हैं, किन्तु जो लड्डू मैले से भिड़ गया, उसको कोई नहीं खाएगा, क्योंकि वह भ्रष्ट हो गया। इसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय ईसाई-मुसलमान हो जाने से जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय रहने पर भी भ्रष्ट हो जाते हैं, अतएव उनका व्यवहार छोड़ दिया जाता है। —पृ० ३२६, पं० ९

उत्तर—यद्यपि यह नियम कि गन्दी नाली में गिरने से व्यवहार के योग्य नहीं रहता, महज़ मनुष्यों से बनाई हुई खाने की चीज़ों पर ही लागू होता है वरना लड़का, लड़की स्त्री, पुरुष, गाय, भैंस कपड़ा, रुपया, चाँदी, सोना, सब्ज़ी, फल, अन्न सब गन्दी नाली से निकालकर शुद्ध करके बरते जाते हैं। इन्सान कोई खाने की चीज नहीं। इसकी शुद्धि भी लिखी है। **'अद्भिर्गात्राणि'** इति मनु०। ब्राह्मण के लिए लड्डू की मिसाल उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जैसे लड्डू अपनी विशेष गोल आकृति के कारण जलेबी, बालुशाही, शक्करपारा, बरफ़ी आदि मिठाइयों में से स्पष्ट पहचाना जाता है, वैसे ब्राह्मण की कोई विशेष आकृति नहीं है जिससे वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राक्षस, चाण्डाल, ईसाई, मुसलमानों में स्पष्ट रूप से पहचाना जावे। हाँ, मनुष्य के लिए लड्डू की मिसाल

उपयुक्त है, क्योंकि मनुष्य भी लड्डू की भाँति गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि में से अपनी विशेषाकृति के कारण स्पष्ट पहचाना जाता है। जैसे लड्डू नाली में गिरने के पश्चात् रहता तो लड्डू ही है, परन्तु अपनी पवित्रता नष्ट हो जाने के कारण खाने के योग्य नहीं रहता, वैसे ही मनुष्य भी ब्राह्मण वर्ण से गिरकर ईसाई या मुसलमान हो जाने पर भी रहता मनुष्य ही है, किन्तु ब्राह्मणवर्ण नष्ट हो जाने के कारण वह व्यवहार के योग्य नहीं रहता, अतः ब्राह्मणवर्ण लड्डू की भाँति नहीं, अपितु मनुष्य लड्डू की भाँति तथा ब्राह्मणवर्ण लड्डू की पवित्रता की भाँति है, जोकि तब्दील होकर अपवित्रता, भ्रष्टता की सूरत में तब्दील हो जाती है, वैसे ही ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ण भी ईसाई-मुसलमान की सूरत में तब्दील हो जाता है। इससे सिद्ध है कि मनुष्यजाति में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमानादि भेद कर्मानुसार हैं, जन्म से नहीं हैं और गन्दी नाली में गिरने से लड्डू की भ्रष्टता भी हीनकर्म से मनुष्य गिर जाता है, यही सिद्ध करती है।

(३८३) प्रश्न—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** इस मन्त्र में निराकार ईश्वर की अनुवृत्ति स्वामीजी बतलाते हैं। इस अध्याय में तो निराकार ईश्वर कहा ही नहीं। इस अध्याय में तो **'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः'** इस मन्त्र द्वारा साकार विराट् का वर्णन है। आगे चलकर **'तं यज्ञम्'** इस मन्त्र में यह वर्णन किया कि जो सबसे पहले पैदा हुआ था, उस विराट् यज्ञपुरुष का ऋषियों ने पूजन किया। फिर यहाँ निराकार कहाँ से धँस बैठा? —पृ० ३२६, पं० १२

उत्तर—आपने स्वामीजी के लेख को चुराकर मनमाना पाठ लिख दिया। स्वामीजी का लेख यूँ है कि 'यहाँ पुरुष अर्थात् निराकार, व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है', इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी 'पुरुष' शब्द के अर्थ 'निराकार व्यापक परमात्मा' करते हैं और पुरुष शब्द इससे पहले मन्त्र **'यत्पुरुषम्'** में ही पड़ा है। पुरुष शब्द के अर्थ करते हुए निरुक्त लिखता है—

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य॥
'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्।
वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति॥ १॥

—निरु० अ० २ खं० ३।१

भाषार्थ—पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सारे संसार में व्यापक हो रहा है। जो परमेश्वर स्वयं इस सारे जगत् को अपने स्वरूप से व्याप्त कर रहा है, उसी का नाम पुरुष है। 'पुर' कहते हैं ब्राह्मण्ड और शरीर को। उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है, उसका नाम पुरुष है।

जिस पूर्ण परमेश्वर से उत्तम कोई नहीं और जिससे प्राचीन कोई नहीं और जिस परमात्मा से सूक्ष्म तथा महान् कोई नहीं, जो अद्वितीय वृक्ष की भाँति सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि को धारण करके अचलरूप से आकाश में व्यापक होकर ठहरा है उस, परमात्मा से ही यह सारा जगत् पूर्ण हो रहा है। यह भी प्रमाण है। इस प्रमाण से सिद्ध है कि पुरुष का अर्थ सर्वव्यापक है॥ १॥

सर्वव्यापक निराकार पदार्थ ही हो सकता है। साकार सर्वव्यापक नहीं होता, अतः पुरुष का अर्थ निराकार, व्यापक परमात्मा बिल्कुल ठीक है। **'सहस्त्रशीर्षा'** तथा **'तं यज्ञं'** इन दोनों मन्त्रों में भी व्याप्त तथा निराकार परमात्मा बिल्कुल ठीक है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य तथा वेदानुकूल है।

(३८४) प्रश्न—आपका यही तो अर्थ है कि 'जो सबमें उत्तम हो वह ब्राह्मण, आपके हिसाब से राजा ब्राह्मण, मन्त्री ब्राह्मण, पहलवान ब्राह्मण, गायकशिरोमणि ब्राह्मण, खूबसूरत ब्राह्मण, रण्डी ब्राह्मण, जो उत्तम होंगे, ये सब ब्राह्मण होंगे इनमें कुछ-न-कुछ उत्तमता अवश्य रहती है।

—पृ० ३२६, पं० २०

उत्तर—वाह महाराज! खूब समझे! इस समझ ने तो आपको बूझबुझक्कड़ का भी दादा सिद्ध कर दिया। क्या आप उपमालंकार को भी नहीं समझते? श्रीमान्जी! उपमालंकार में उपमान के गुण का उतना ही हिस्सा लिया जाता है जितने गुणों से कहनेवाला उपमेय के गुणों की साम्यता करना चाहता है। यदि मैं आपको किसी समय यह कह दूँ कि आप बड़े शेर हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि मैं आपको हैवान, दरिन्दा या पूँछवाला कहना चाहता हूँ, अपितु मेरा अभिप्राय यही होगा कि आप शेर-जैसे बहादुर हैं। यदि मैं आपकी धर्मपत्नी को 'माताजी नमस्ते' कह दूँ तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि मैं उसको अपने बाप की पत्नी कहना चाहता हूँ, अपितु मैं उसे माता के समान पूज्या समझता हूँ। इसी प्रकार स्वामीजी ने जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि 'जो पूर्णव्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सबमें मुख्य उत्तम हो वह द्विज' इसका यह अभिप्राय है कि जैसे मुख में शेष शरीर की अपेक्षा पाँच गुणा ज्ञान है और मुख शरीर को उलटे रास्ते से हटाकर सीधे रास्ते पर चलाता है और मुख ही अपनी पढ़ी विद्या लोगों को पढ़ाता है, वैसे ही जो मनुष्य साधारण लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक उत्तम ज्ञान रखता हो, लोगों को उलटे रास्ते से हटाकर सीधे रास्ते पर चलावे तथा अपनी पढ़ी विद्या लोगों को पढ़ावे वह द्विज कहाने का अधिकारी है। जैसाकि मनु ने भी लिखा है कि **'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्।'** (मनु० २।१५५)। विप्रों को ज्ञान के कारण ज्येष्ठ माना जाता है। यदि कोई राजा, मन्त्री, पहलवान, गायक, खूबसूरत तथा रण्डी भी अपने-अपने काम को छोड़कर मुख के समान अत्यन्त ज्ञानी होकर उपदेश तथा अध्यापक का काम करने लग जावें तो निःसन्देह वे द्विज बन सकते हैं अन्यथा नहीं। हाँ, सनातनधर्म के सिद्धान्तानुसार एक पुरुष या स्त्री, विप्र के घर जन्म लेकर मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्यापन, वेश्यागमन, गोघात, गोमांस-भक्षण, चोटी कटा, यज्ञोपवीत उतार, मुसलमान, ईसाई हो गोमांस का व्यापार इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रकार के कुकर्म करते हुए भी ब्राह्मण ब्राह्मणी कहा सकते हैं, क्योंकि सनातनधर्म जन्म से वर्णव्यवस्था मानता है, कर्म से नहीं, (देखो नं० ३८१)।

(३८५) प्रश्न—'जिसमें बल, वीर्य अधिक हो वह क्षत्रिय' बलवान् क्षत्रिय, शेर क्षत्रिय और भैंसा क्षत्रिय।

—पृ० ३२६, पं० २४

उत्तर—बेशक जिस मनुष्य में बल वीर्य अधिक हो वह क्षत्रिय। जैसे दोनों भुजा अपने-आपको आपत्ति में डालकर भी बाकी शरीर की रक्षा करती हैं, वैसे ही जो पुरुष अपने-आपको आपत्ति में डालकर भी सब प्रजा की रक्षा करता है वह क्षत्रिय कहाता है, जैसाकि **'क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।'** [मनु० २।१५५] क्षत्रियों की बल से उत्तमता मानी जाती है। वेद ने चूँकि वर्णव्यवस्था पुरुषों के लिए प्रतिपादन की है पशुओं के लिए नहीं और न ही पशु अपने बल और वीर्य से दूसरे पशुओं की रक्षा कर सकते हैं, अपितु बलवान् पशु निर्बलों को सताते और मार खाते हैं, अतः शेर तथा भैंसे को क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता।

(३८६) प्रश्न—'ऊरू के बल से जो देश-विदेश जावे वह वैश्य' कोई आर्यसमाजी पण्डित पेशावर से पैदल चलकर कलकत्ते पहुँच जावे तो वह आपकी दृष्टि में वैश्य, क्योंकि ऊरू के बल से आया है। आपके इस लक्षण से तो द्विज, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा, गाय, भैंस, भेड़, बकरी सभी वैश्य हो जावेंगे, क्योंकि ये सब ऊरू के बल से चलते हैं।

—पृ० ३२६, पं० २७

उत्तर—ग़लत उद्धरण देकर जनता को धोखा देना आपका मुख्य धर्म है। देखिए, स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—'जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से आवे-जावे, प्रवेश करे वह वैश्य' बेशक जो भी मनुष्य पदार्थों में प्रवेश करने के लिए अर्थात् व्यापार वा खेती वा

शिल्पकारी के लिए, पदार्थों को प्राप्त करने के लिए ऊरू के बल से देश-देशान्तर में जावेगा वह वैश्य कहा जावेगा। चाहे वह आर्यसमाज का उपदेशक हो वा जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि कोई भी हो, जैसेकि—

विशत्याशु पशुभ्यश्च कृष्यादानरुचिः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥ ६॥
—महा० शान्ति० अ० १८९

वैश्यानां धान्याधनतः। —मनु० २।१५५

भाषार्थ—जो पशुओं तथा खेती आदि में शीघ्र प्रवेश करता है, दान देता है, पवित्रता-प्रेमी है, वेद पढ़ता है वह वैश्य है॥ ६॥ वैश्यों में धान्य-धन से बड़प्पन है॥ १५५॥

अतः पशु, खेती, अन्न, धन आदि समस्त पदार्थों में हर प्रकार से प्रवेश करनेवाले का नाम वैश्य है। हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं को वैश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रथम तो वेद ने वर्णव्यवस्था पशुओं के लिए नहीं लिखी, दूसरे पशु सम्पूर्ण पदार्थों चाँदी, सोना, हीरा, मोती, रुपया, पैसा, कपड़ा आदि व्यपार तथा शिल्प की वस्तुओं में प्रवश की बुद्धि नहीं रखते। शब्दों की व्युत्पत्ति करके भी उसको योग्यता से ही चरितार्थ किया जाता है। जैसे पति के अर्थ हैं रक्षा करनेवाला तो क्या आप बिना योग्यता का विचार किये प्रत्येक रक्षा करनेवाले पिता, पुत्र, भाई, चौकीदार, सेनापति, राजा, कुत्ता, बैल, गधा, घोड़ा आदि को प्रत्येक स्त्री का पति स्वीकार कर लेंगे, अतः योग्यता के अनुसार ही व्युत्पत्ति के अर्थ चरितार्थ हुआ करते हैं।

(३८७) प्रश्न—'जो पैर के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र'—आपकी दृष्टि में पैर मूर्ख हैं और भुजा चारों वेद पढ़ी हैं, पेट दर्शनों का पण्डित है और ऊरू वैयाकरण हैं। यह आप कहाँ की अक़्ल खर्च कर रहे हैं। पैर बोलते नहीं, तो भुजा, पेट, ऊरू भी तो सत्यार्थप्रकाश नहीं बाँचते। —पृ० ३२७, पं० ३

उत्तर—आप यहाँ पर उपमालंकार के सिद्धान्त को फिर भूल गये, यहाँ पर स्वामीजी का लेख यूँ है कि 'जो पग के अर्थात् नीचे अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र है'। यहाँ पर स्वामीजी का यह अभिप्राय है कि जैसे पाँव नीचा अंग है, वैसे ही मूर्खत्वादि घटिया गुण जिसमें हों, वह शूद्र है। दूसरे, जैसे पाँव सारे शरीर के बोझ को उठाते हैं वैसे ही जो मनुष्य केवल बोझ उठाने, अर्थात् कुलीपन का काम जानता हो वह शूद्र है। यह स्पष्ट है कि जैसे मुख में ज्ञान, भुजा में रक्षा, तथा पेट में कच्चे पदार्थ को पक्का बनाने के गुण हैं, वे गुण पगों में नहीं हैं। मुख, बाहु, पेट, ऊरू की अपेक्षा पैर गुणहीन हैं, तभी शूद्रों को पगों से उपमा दी गई है, क्योंकि शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की अपेक्षा गुणहीन हैं। अन्यत्र साहित्य में भी यदि किसी को किसी से हीन वर्णन करना हो तो कहा जाता है कि वह उसके पाँवों के बराबर भी नहीं है। जैसेकि—

न पादरजसा तुल्या ममेयं गोपकन्यका। —पद्म० सृष्टि० अ० १७ ब्रह्मा-सावित्री-संवाद

राधेयस्य न पादभाक्। —महाभारत

भाषार्थ—सावित्री ने ब्रह्मा से कहा कि जिस गोपकन्या से आपने विवाह किया है यह तो मेरे पैर की धूल के बराबर भी नहीं है।

अर्जुन तो कर्ण के पाओं के समान भी नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वामीजी का अर्थ बिल्कुल ठीक है। आपने उपमालंकार के सिद्धान्त को छोड़कर स्वामीजी के अर्थ पर मखौल उड़ाने की चेष्टा की है। इस प्रकार से तो प्रत्येक उपमा पर मखौल उड़ाया जा सकता है। जैसे गीता का श्लोक है कि—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

भाषार्थ—जो मनुष्य विद्वान्, विनीत ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टिरखते हैं, वे पण्डित हैं। आपके पण्डित होने में तो किसे सन्देह हो सकता है, तो क्या आप इस श्लोक की शिक्षा के अनुसार—

(१) गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल को ब्राह्मण मानकर उनसे वेद पढ़ने के लिए जाते हैं? अथवा उनको कभी दूसरे ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध में भोजन कराते हैं? अथवा उनके लड़के-लड़कियों के साथ आप अपने लड़के-लड़कियों का रिश्ता करने को तैयार हैं?

(२) ब्राह्मण, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को गौ मानकर उनका दूध निकालकर कभी स्वयं तथा अपने परिवार को पिलाते हैं?

(३) ब्राह्मण, गौ, कुत्ते और चाण्डाल को हाथी मानकर उनके ऊपर सवारी करते हैं?

(४) ब्राह्मण, गौ, कुत्ते और चाण्डाल को हाथी मानकर उनसे कुत्ते का-सा व्यवहार करते हैं?

(५) ब्राह्मण, गौ, हाथी और कुत्ते को चाण्डाल मानकर उनसे चाण्डाल का-सा व्यवहार करते हैं?

यदि ऐसा नहीं करते तो क्या आप पण्डित कहलाने के अयोग्य हैं? आप गौ को माता कहते हैं। क्या वह आपके बाप की धर्मपत्नी है? और जैसे आप गौ को साँड के पास ले-जाते तथा उसका दूध निकालकर उससे मक्खन निकालते हैं, वैसे ही माता के साथ भी व्यवहार करते हो? यदि नहीं तो स्पष्टरूप से आपको मानना पड़ेगा कि उपमा का उतना ही भाग लिया जावेगा जितना कहनेवाले का तात्पर्य हो। जैसे गीता के श्लोक में सबकी आत्मा को अपनी आत्मा के समान जानने का उपदेश है तथा गौ को माता कहने से यह प्रयोजन है कि माता के समान पालन करनेवाली होने से माता के समान ही पालन करने, रक्षा करने तथा आदर करने के योग्य है। वैसे ही शूद्रों को पाँवों की उपमा देने का भी यही प्रयोजन है कि जो पग के समान बोझ उठानेवाले, हीनकर्म करनेवाले तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की अपेक्षा विद्या आदि गुणों से हीन हैं, वे शूद्र कहाते हैं।

भला! आपके सिद्धान्तानुसार यदि मुख, बाहु, पेट, ऊरू तथा पगों में गुणों की न्यूनाधिकता नहीं और सब अङ्ग गुणों में समान ही हैं तो शूद्रों को पगों से पैदा होने के कारण आप उन्हें दूसरों से नीच क्यों मानते हैं?

अतः स्वामीजी ने जो अर्थ किया है, वह वेदानुकूल होने से सर्वथा सत्य है।

(३८८) प्रश्न—आपने शतपथ का जो प्रमाण दिया वह तो हमारे सिद्धान्त की पुष्टि करता है। शतपथ का अर्थ यह है कि 'ब्राह्मण सबमें मुख्य हैं। इसलिए इनको विराट् के मुख से रचा'। इस अर्थ से हमारे सिद्धान्त की पुष्टि है या आपके सिद्धान्त की? —पृ० ३२७, पं० १३

उत्तर—शतपथ के प्रमाण से स्वामीजी के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, आपके सिद्धान्त की नहीं। आपने इसका अर्थ ग़लत किया है। इस प्रमाण में विराट् शब्द का चिह्न भी नहीं है। देखिए, इसका अर्थ इस प्रकार है—

'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त' इत्यादि।

'जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख के सदृश उत्पन्न हुए ऐसा कथन संगत होता है, अर्थात् जैसे मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्णविद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है।'

अतः शतपथ का प्रमाण भी गुण-कर्म-स्वभाव से ही वर्णव्यवस्था को मानता है, जन्म से

नहीं।

(३८९) प्रश्न—आप विराट् को भी निराकार मानते हैं, यह आपकी विलक्षण बुद्धि है।
—पृ० ३२७, पं० १९

उत्तर—स्वामीजी ने इस स्थल में कहीं भी विराट् के अर्थ निराकार नहीं किये, अपितु यह लिखा है कि 'जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुखादि से उत्पन्न होना असम्भव है। जैसाकि—यजुः० ४०।८ में परमात्मा को स्पष्ट **'अकायमस्नाविरम्'** 'शरीर से रहित तथा नाड़ी-नस के बन्धन से रहित' बतलाया गया है।' हाँ, यदि स्वामीजी के विराट् शब्द के अर्थ देखने हों तो—

ततो विराडजायत। —यजुः० ३१।५

(ततः)—उस सनातन, पूर्ण परमात्मा से **(विराट्)** विविध प्रकार के पदार्थों से प्रकाशमान, विराट् ब्रह्माण्डरूप संसार **(अजायत)** उत्पन्न होता है।

यह है, अतः आपका लेख सर्वथा असत्य है।

(३९०) प्रश्न—'कार्य उपादानकारण के सदृश होता है।' यदि कार्य उपादानकारण के सदृश होता है तो फिर यह मनुष्य पानी से पैदा होता है। यह कठिन शरीर का क्यों हो गया? वट का वृक्ष ज़रा-से गोल बीज से उत्पन्न होता है तो फिर यह बीज के सदृश गोल क्यों नहीं? सरसों का पेड़ लम्बा क्यों? यह भी कारण के सदृश होना चाहिए? —पृ० ३२३, पं० २९

उत्तर—स्वामीजी का लेख सत्य है कि 'कार्य, उपादानकारण के सदृश होता है।' यदि द्विजादि का उपादानकारण मुखादि हैं तो द्विजादि को मुखादि के सदृश शक्ल में गोलादि आकृति का होना चाहिए। मनुष्य पानी से पैदा नहीं होता, अपितु पुरुष के शरीर में पाँचों तत्त्व हैं, जिनमें पृथिवी प्रधान है और वीर्य पुरुष के अङ्ग-अङ्ग से पैदा होता है, अतः वीर्य का उपादानकारण पुरुष का शरीर है, अतः उस वीर्य से जो मनुष्य उत्पन्न होता है वह भी पिता के शरीर की तरह कठोर अर्थात् पृथिवीतत्त्व प्रधान होता है। इसी प्रकार से वट और सरसों के बीज का उपादानकारण भी बड़ तथा सरसों का वृक्ष ही होता है, अतः बड़ तथा सरसों के बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होते हैं वे बड़ तथा सरसों के वृक्षों के समान ही होते हैं अन्यथा नहीं। अब या तो आप भी यह स्वीकार करें कि ब्राह्मणादि का उपादानकारण ब्रह्म का सारा शरीर है, मुखादि योनिवत् केवल बाहर आने के साधारणकारण ही हैं, तो ऐसी सूरत में आपके मत में ब्राह्मण तथा शूद्र में कोई भेद न रहेगा और यदि आप ब्राह्मणादि में मुखादि को पृथक्-पृथक् उपादानकारण मानते हैं तो फिर स्वामीजी का एतराज़ ठीक है कि ब्राह्मण आदि की आकृति अपने उपादानकारण मुखादि के सदृश गोल आदि होनी चाहिए।

(३९१) प्रश्न—स्वामीजी लिखते हैं कि 'सृष्टि के आरम्भ में जो लोग मुख से पैदा हुए थे वे ब्राह्मण थे, किन्तु आजकल के ब्राह्मण तो मुख से पैदा नहीं हुए फिर ये ब्राह्मण कैसे?' ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है। जैसे बैल का पुत्र बैल और ऊँट का पुत्र ऊँट, इस प्रकार से जब घोड़े का पुत्र घोड़ा और गधे का पुत्र गधा होता है तो फिर ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, का पुत्र क्षत्रिय एवं वैश्य का पुत्र वैश्य और शूद्र का पुत्र शूद्र कैसे न होगा? जो व्याकरण पढ़े हैं वे जानते हैं **'ब्राह्मणस्य पुत्रः पुमान् ब्राह्मणः'।**

उत्तर—स्वामीजी का आक्षेप ठीक है कि 'यदि तुम मुखादि से पैदा होना ही ब्राह्मणादि होने में कारण मानते हो तो जो मुखादि से पैदा हुए होंगे वे ब्राह्मणादि होंगे, किन्तु तुम तो सब लोगों की भाँति गर्भाशय से पैदा हुए हो, मुखादि से पैदा नहीं हुए, तुम ब्राह्मणादि कैसे?' आपने इसके उत्तर में लिखा है कि जैसे गधे, घोड़े, ऊँट, बैल के पुत्र गधे, घोड़े, बैल, ऊँट ही होते हैं वैसे

ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के पुत्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ही होंगे। आपका यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे गधे, घोड़े, बैल, ऊँट में परस्पर आकृतिभेद है और वे भिन्न पहचाने जाते हैं, वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में परस्पर आकृतिभेद नहीं है और न ही वे भिन्न-भिन्न पहचाने जाते हैं, अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एक ही मनुष्यजाति के कर्मानुसार भेद हैं। इसी जन्म में कोई गधे से बैल और बैल से गधा नहीं बन सकता, किन्तु शूद्र से ब्राह्मण और ब्राह्मण से शूद्र बन जाता है, जैसाकि हम सिद्ध कर आये हैं, अतः ब्राह्मणादि वर्णों के लिए बैलादि जातियों का दृष्टान्त ठीक नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य का पुत्र मनुष्य ही होगा। फिर वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से जिस वर्ण के कर्मों को करेगा, उसी वर्ण में गिना जावेगा। आपने व्याकरण की भी खूब टाँग तोड़ी है। ज़रा बतला तो दिया होता कि ब्राह्मण शब्द से अपत्य अर्थ में किस सूत्र से कौन-सा प्रत्यय होकर, किस सूत्र से सर्वथा लोप होकर, ब्राह्मण का ब्राह्मण ही शेष रह जाता है? हम आपको डंके की चोट चैलैंज करते हैं कि आप व्याकरण से '**ब्राह्मणस्य पुत्रः पुमान् ब्राह्मणः**' सिद्ध करके दिखलावें, वरना व्याकरण का नाम लेकर जनता को धोखे में डालना ईमानदारी नहीं है। ब्राह्मणादि किसको कहते हैं, (देखो नं० ३५१)।

(३९२) प्रश्न—'**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**' यह श्लोक वेदानुकूल नहीं है। स्वामीजी ने इसको प्रमाण कैसे माना?
—पृ० ३२८, पं० २०

उत्तर—मनुस्मृति का यह श्लोक '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' के अनुकूल है, अतः स्वामीजी ने प्रमाण माना है।

(३९३) प्रश्न—इस श्लोक में कहीं पर गुण-कर्म-स्वभाव नहीं है। इन तीनों को स्वामीजी ने अर्थों में लिख दिया है।
—पृ० ३२८, पं० २०

उत्तर—श्रीमान्‌जी! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शरीर का नाम नहीं है और न ही आत्मा का नाम है। ये गुण-कर्म-स्वभाव से ही मनुष्यजाति में चार भेद हैं और इनकी तब्दीली से ही शूद्र से ब्राह्मण तथा ब्राह्मण से शूद्र बन सकता है, अतः स्वामीजी ने इस श्लोक का अर्थ ठीक ही किया है, जैसाकि—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥
—मनु० १०।६५

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए। वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जावे। वैसे ही क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, ब्राह्मणी वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है, अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उस-उस वर्ण में गिनी जावे।

(३९४) प्रश्न—'**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**' इसके पहले '**शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः**' श्लोक है। इन दोनों श्लोकों का इकट्ठा अर्थ होता है। एक श्लोक को छोड़ा और एक को लिया। स्वामीजी की यह चालाकी है।
—पृ० ३२८, पं० १७

उत्तर—'**शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः**' यह श्लोक वेद के विरुद्ध है और दोनों श्लोकों को मिलाकर आप जो अर्थ करते हैं वह अर्थ वेद, स्मृति, रामायण और महाभारत सबके विरुद्ध है। वास्तव में यह श्लोक जाति-अभिमानी लोगों ने पीछे से मनु में शामिल किया है। इसका प्रमाण यह है कि '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**' यह श्लोक भविष्यपुराण ने भी वर्णव्यवस्था प्रकरण में दिया है, किन्तु इसके साथ '**शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः**' यह श्लोक नहीं है। भविष्यपुराण का पाठ इस

प्रकार है—

वेदानध्यापयन्तोऽपि तेऽधीयानाः श्रुतिक्रमात्। ब्राह्मणत्वाद्विहीयन्ते दुराचारविधायिनः॥ ४३॥
तस्मान्न जातिरेकत्र भूतात्मास्त्यनपायिनी। नाशित्वादत्र च श्लोकान्मानवाः समधीयते॥ ४४॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेन शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी॥ ४५॥
गोरक्षकान् वाणिजिकाँस्तथा कारुकुशीलवान्। प्रेष्यान् वार्धुषिकाँश्चैव शूद्राँस्तान्मनुरब्रवीत्॥ ४६॥
शद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वैश्यं तथैव च॥ ४७॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४०

भाषार्थ—वेद को पढ़ाते हुए तथा श्रुतिक्रम से पढ़ते हुए भी दुराचारी लोग ब्राह्मणपद से गिर जाते हैं॥ ४३॥ इस कारण नाश होनेवाला होने से वर्ण एक ही आत्मा में स्थिर नहीं है। इस विषय में मनु के श्लोक पढ़े जाते हैं॥ ४४॥ मांस, लाक्षा और नमक के बेचने से द्विज तत्काल ही पतित हो जाता है, और जो द्विज दूध बेचता है वह तीन दिन में शूद्र हो जाता है॥ ४५॥ गोरक्षक, व्यापारी, सेवा का काम करनेवाले, नौकर, दूत, सूदखोर ब्राह्मणों को मनु ने शूद्र कहा है॥ ४६॥ शूद्र ब्राह्मण हो जाता है, तथा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। क्षत्रिय विप्र बन जाता है और वैश्य भी ब्राह्मण वा शूद्र हो जाता है॥ ४७॥

आशा है कि आपको इस लेख से वर्णव्यवस्था-विषयक सन्तोष हो जावेगा और यह भी निश्चय हो जाएगा कि '**शूद्रायाम्**' यह श्लोक प्रक्षिप्त है, वरना भविष्यपुराण इसे अवश्य लिखता।

(३९५) प्रश्न—इन दोनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्॥ ६४॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ ६५॥

—मनु० १०

शूद्रा में ब्राह्मण से जो सन्तान उत्पन्न हो वह पारशवाख्य वर्ण होता है। यदि वह कन्या हो और उसको द्विज विवाह ले, फिर उसके भी कन्या हो, इसी प्रकार सात पीढ़ी तक कन्या होती जाए तथा उसका विप्र से सम्बन्ध होता जाए तो पारशव वर्ण में जो शूद्रत्व है उसका नाश होकर सप्तम कन्या शुद्ध ब्राह्मणी हो जाएगी। इसी प्रकार '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**' शूद्रवर्ण ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है। यदि शूद्रा में ब्राह्मण से लड़का उत्पन्न हो और उसका सम्बन्ध शूद्रों में होता जावे तो सप्तम पीढ़ी में ब्राह्मणत्व का नाश हो जावेगा और वह ब्राह्मणवीर्य शूद्रता को प्राप्त हो जाएगा। ऐसी ही '**ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्**' ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होगा। इसी प्रकार शूद्रा में क्षत्रिय से उत्पन्न हुई कन्या सप्तम पीढ़ी तक यदि उसका सम्बन्ध बराबर क्षत्रिय से होता रहे तो सप्तम कन्या शुद्ध क्षत्रिय कन्या हो जावेगी। यदि शूद्रस्त्री में क्षत्रिय से लड़का हो और उसका सम्बन्ध बराबर शूद्रा से होता जाए तो वह सप्तम पीढ़ी में शूद्र हो जावेगा। ऐसे शूद्र क्षत्रिय और क्षत्रिय शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रा स्त्री में वैश्य से कन्या उत्पन्न हुई हो और उसका सम्बन्ध बराबर सातवीं पीढ़ी तक वैश्यों में होता जावे तो सप्तम पीढ़ी में वह वणिक् कन्या होगी। वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुआ पुत्र सात पीढ़ी तक शूद्रों में सम्बन्ध करता जावे तो वह शूद्र हो जाएगा, इस प्रकार वैश्या शूद्र और शूद्र वैश्य होगा। —पृ० १३०, तथा पृ० ३२८, पं० २२

उत्तर—आपके इस लेख में निम्न प्रकार से दोष हैं—

(१) यदि ब्राह्मण से क्षत्रिया तथा वैश्या में तथा क्षत्रिय से वैश्या में पुत्र-पुत्री हों तो उनकी वर्णव्यवस्था क्या होगी, यह आपने नहीं बतलाया। यदि वीर्य की प्रधानता से पिता का वर्ण सन्तान का होगा तो शूद्रों में भी पैदा की गई सन्तान वीर्य की प्रधानता से पिता के वर्ण की क्यों न हो?

(२) शूद्रा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से पैदा हुई सन्तान यदि विवाह न करे तो किस वर्ण में गिनी जावेगी?

(३) आपका यह अर्थ कि सातवीं पीढ़ी में सन्तान पिता के वर्ण की होगी, मनु के निम्न लेख के विरुद्ध है—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः॥ १०। ६७॥
यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्मात् बीजं प्रशस्यते॥ १०। ७२॥
तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥ १०। ४२॥

भाषार्थ—शूद्रा स्त्री में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से पैदा किया पुत्र गुणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो जाता है॥ ६७॥ जिस कारण बीज के प्रभाव से तिर्यग् (टेढ़ी-नीच) जाति में पैदा हुए भी ऋषि बन गये, पूजा तथा प्रशंसा के योग्य हो गये, इसलिए बीज ही प्रधान है॥ ७२॥ वह अनुलोमज तथा प्रतिलोमज—कोई तप के प्रभाव से, कोई बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में इस संसार तथा इसी जन्म में, जन्म की अपेक्षा मनुष्यों में उन्नति तथा अवनति को प्राप्त होते हैं॥ ४२॥

जब मनु के कथनानुसार वीर्य प्रधान है तो फिर सातवीं पीढ़ी में वर्ण की उन्नति स्वयं मनु के ही विरुद्ध है।

(४) मनु कहते हैं कि स्त्री का वर्ण पति के अनुसार है—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्यते यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥ ९। २२॥
अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा। शारङ्गी मन्दपालेन जगामभ्यर्हणीयताम्॥ २३॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्षं योषिताः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥ २४॥

भाषार्थ—जिस प्रकार के गुणोंवाले पति से स्त्री संयुक्त होती हैं, उसी प्रकार के गुणोंवाली हो जाती है, जैसे नदी समुद्र में मिलकर समुद्ररूप हो जाती है॥ २२॥ अधमयोनि से पैदा हुई अक्षमाला वसिष्ठ से विधिपूर्वक संयुक्त होकर और अधमकुलोत्पन्न शारङ्गी मन्दपाल से संयुक्त होकर पूजा के योग्य पदवी को प्राप्त हो गईं॥ २३॥ ये भी और भी बहुत-सी स्त्रियाँ इस संसार में अधम कुल में पैदा होकर अपने-अपने पतियों के गुणों से उन्नति को प्राप्त हो गईं॥ २४॥ जब मनु के कथनानुसार विवाह होने पर स्त्री का वर्ण पति के अनुसार ही हो जाता है तो फिर उनकी सन्तान का सातवीं पीढ़ी में पिता का वर्ण प्राप्त करना मनु के लेख के घोर विरुद्ध है।

(५) निम्नलिखित महात्मा शूद्रा तथा चाण्डाली आदि में पैदा होकर तप से ब्राह्मण बन गये—

(१) पराशर चाण्डाली से, (२) वसिष्ठ कञ्जरी से, (३) मन्दपाल मल्लाहनी के उदर से, (४) व्यास कैवर्ती के पेट से (भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२), (५) वाल्मीकि भीलनी के पेट से (भारतसार अ० ५५ श्लो० २१), (६) श्रवण शूद्रा के पेट से (वाल्मी० अयो० स० ६३) इत्यादि।

जब इस प्रकार के अनेक ऋषि-मुनि शूद्रा तथा चाण्डाली के उदर से पैदा होकर उसी जन्म में ब्राह्मण बन गये तो फिर सात पीढ़ी की सीमा स्वयं ही वेद, शास्त्र, इतिहासविरुद्ध है।

इससे यह भी सिद्ध है कि '**शूद्रायाम्**' इत्यादि स्लोक स्वयं मनु के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

भला! यह तो बतलाइए '**आसप्तमाद्युगात्**' का अर्थ 'सातवीं पीढ़ी' कैसे किया? इससे तो यदि 'सातवाँ वर्ष' इसका अर्थ कर लो तो यह श्लोक मनु के अनुकूल बन सकता है कि 'शूद्रा में ब्राह्मण से पैदा हुआ यदि श्रेष्ठ हो तो सातवें वर्ष में निकृष्ट जाति से उत्कृष्ट जाति को प्राप्त

हो जाता है, अर्थात् यज्ञोपवीत के समय गुण देखकर उसे ब्राह्मण के ढंग से यज्ञोपवीत दिया जा सकता है, देखिए—

अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात्। त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्॥

—महा० अनु० अ० ४७।१७

भावार्थ—शूद्रा के पुत्र को लोग मूर्खता से ब्राह्मण नहीं मानते वरना ब्राह्मण से क्षत्रिया, वैश्या, तथा शूद्रा तीनों वर्णों में पैदा हुआ ब्राह्मण ही है॥१७॥

अतः सातवीं पीढ़ी में उसका ब्राह्मण होना मानना डबल बेवकूफ़ी है।

(३९६) प्रश्न—आपस्तम्ब के सूत्रों में स्वामीजी 'जातिपरिवृत्तौ' पद के अर्थ को दबा लेते हैं। अर्थ यह होता है 'धर्माचारण से छोटे वर्ण-बड़े-बड़े वर्ण को प्राप्त होते हैं, जाति बदल जाने पर। अधर्माचरण से बड़े-बड़े वर्ण छोटे-छोटे वर्ण को प्राप्त होते हैं, जाति बदल जाने पर।' जाति शरीर में रहती है। शरीर बदलने पर जाति बदलती है। सूत्र तो कहते हैं कि शरीर के बदलने पर वर्ण बदल जाता है और स्वामीजी सूत्रों के दो पद चुराकर तुरन्त ही वर्ण बदल देते हैं।

—पृ० ३२९, पं० ३

उत्तर—इन सूत्रों में जहाँ-जहाँ जाति शब्द वर्ण का वाचक आता है, वहाँ-वहाँ इसका इसी जन्म में, इसी शरीर से परिवर्तन भी मिलता है, जैसेकि—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥

—मनु० २।१४८

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेय मद्यपोः। जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्।

—मनु० ११।६७

भाषार्थ—वेदों के पार को जाननेवाला आचार्य तो इस मनुष्य की जिस जाति (वर्ण) को गायत्री से पैदा करता, अर्थात् बनाता है, वही सत्य है, वही अजर, अमर है॥१४॥ ब्राह्मण को कष्ट देना, सूँघने के अयोग्य वस्तु तथा शराब का सूँघना, कुटिलता, पुरुषों में मैथुन, ये काम जाति से भ्रंश करनेवाले हैं॥६७॥ यहाँ पर पहले श्लोक में इसी जन्म में आचार्य द्वारा जाति का पैदा होना तथा दूसरे श्लोक में दुष्ट कर्मों के बदले जाति का नाश माना गया है। इससे सिद्ध हुआ कि यहाँ पर जाति नाम वर्ण का है जोकि इसी जन्म के कर्मानुसार बनता और नाश भी हो जाता है। बस, इसी प्रकार से इन सूत्रों में भी जाति नाम वर्ण का ही है, जोकि परिवर्तनशील है।

अतः इन दोनों सूत्रों से पहला तथा पिछला प्रकरण सिद्ध करता है कि यह सब इसी जन्म में कर्त्तव्य हैं। अगले जन्म का यहाँ वर्णन नहीं है, जैसेकि—

राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनाऽसमेत्य॥५॥ समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः॥६॥ यानस्य भाराभिनिहितस्याऽऽतुरस्य स्त्रिया इति सर्वैर्दातव्यः॥७॥ वर्णज्यायसां चेतरैर्वर्णैः॥८॥ अशिष्टपतितमत्तोन्मत्तानामात्मस्वस्त्ययनार्थेन सर्वैरेव दातव्यः॥९॥ धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥१०॥ अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥११॥ धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत॥१२॥ अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्॥१३॥ आधाने हि सति कर्मभिस्सम्बध्यते येषामेतदङ्गम्॥१४॥ सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्॥१५॥ मातुश्च योनिसम्बन्धेभ्यः॥१६॥

—आपस्तम्बीयधर्मसूत्र द्वितीयः प्रश्नः, क० ११

भाषार्थ—यदि मिलनेवाला अब्राह्मण हो तो राजा के लिए मार्ग छोड़ दे॥५॥ यदि ब्राह्मण से मेल हो तो राजा ब्राह्मण के लिए मार्ग छोड़े॥६॥ सवारी, बोझ उठानेवाले, रोगी और स्त्री

के लिए सब रास्ता छोड़ दें॥ ७॥ ऊँचे वर्ण के लिए सब नीचे वर्ण मार्ग छोड़ें॥ ८॥ असभ्य, पतित, मूर्ख तथा पागल के लिए अपनी आत्मा के कल्याणार्थ सब मार्ग छोड़ दें॥ ९॥ धर्म के आचरण से छोटा-छोटा वर्ण बड़े-बड़े वर्ण को प्राप्त होता है, वर्णपरिवर्तन होने में॥ १०॥ पापाचरण से ऊँचा-ऊँचा वर्ण नीचे-नीचे को प्राप्त होता है, वर्णपरिवर्तन होने में॥ ११॥ धर्म तथा सन्तानवाली स्त्री की मौजूदगी में दूसरी स्त्री न करे॥ १२॥ यदि धर्म या सन्तान से हीन हो तो अग्नि-आधान से पहले दूसरी कर ले॥ १३॥ अग्नि-आधान होने पर कर्मों के साथ सम्बन्ध हो जाता है, जिनका यह अङ्ग है॥ १४॥ समान गोत्रवाले को कन्या न दे॥ १५॥ माता के साथ जिनका योनिसम्बन्ध हो, उनको भी न दे॥ १६॥

उपर्युक्त सारी आज्ञाएँ इसी जन्म के साथ सम्बन्ध रखती हैं, अतः वर्णपरिवर्तन की आज्ञा भी इसी जन्म के साथ सम्बन्ध रखती है, परजन्म के साथ नहीं। मनु ने हूबहू इन्हीं सूत्रों के भाव का यों वर्णन किया है—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥

—मनु० १०।४२

भाषार्थ—अनुलोमज तथा प्रतिलोमज सब मनुष्य कोई तप, कोई बीज के प्रभाव से प्रत्येक समय में इसी जन्म में जन्म की अपेक्षा ऊँचे तथा नीचे वर्ण को प्राप्त होते हैं।

स्वामीजी ने 'जातिपरिवृत्तौ' पद को चुराया नहीं अपितु सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि में भी इस पद के अभिप्राय को स्पष्ट लिख दिया है 'कि वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिसके योग्य होवे'। आप ज़रा आँखें खोलकर पढ़ें तो आपको पता लग जावेगा। वर्ण शरीर के बदलने से नहीं, अपितु कर्मों के बदलने से बदल जाता है। यह इन सूत्रों से सिद्ध है।

(३९७) प्रश्न—**'न तिष्ठति तु यः पूर्वाम्'** इत्यादि [मनु० २।१०३] इस श्लोक में ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, ऐसा नहीं है अपितु शूद्रवत् हो जाता है, ऐसा है। आर्यसमाजियो! तुम शूद्र और शूद्रवत् में घपला मचाकर मूर्खों को जाल में फँसा सकते हो, विद्वान् को नहीं।

—पृ० ३२९, पं० २७

उत्तर— **न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।**
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ —मनु० २।१०३

जो मनुष्य प्रातः और सायं सन्ध्या नहीं करता वह समस्त द्विजकर्मों से शूद्र की भाँति बाहर कर देने योग्य है॥ १०३॥ अब आप ही न्याय से बतलावें कि जिसको समस्त द्विजकर्म से बाहर निकाल दिया जावे वह शूद्र नहीं तो क्या है? इसी बात को महाभारत में यों लिखा है—

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्॥ १९॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥ २०॥

—महा० अनु० अ० १०४

भाषार्थ—जो ब्राह्मण प्रातः-सायं सन्ध्या न करें, धार्मिक राजा उन सबसे शूद्र के काम करवावे।

कहिए महाराज! शूद्र के काम करता हुआ भी क्या वह शूद्र न होगा? इसलिए आर्यसमाजी घपला नहीं मचाते आप घपला मचाते हैं। आर्यसमाजी तो यह श्लोक भी पेश करते हैं कि—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥

—मनु० १०।९२

भाषार्थ—ब्राह्मण लाख, नमक तथा मांस के बेचने से तत्काल पतित हो जाता है और दूध

बेचने से ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र हो जाता है॥९२॥

कहिए महाराज! अब तो शूद्रवत् का भी घपला नहीं है। अब तो साफ शूद्र होना लिखा है। अब तो स्वीकार कीजिए कि वर्णव्यवस्था कर्म से है, जन्म से नहीं।

(३९८) प्रश्न—वेदव्यास कहारी का लड़का नहीं, क्षत्रिय कन्या का पुत्र है।

—पृ० ३३०, पं० १९

उत्तर—श्रीमान्‌जी! आपके ही मान्य ग्रन्थ कह रहे हैं कि—

(१) जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः। —भविष्य० ब्राह्म० ४२।२२

(२) व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्। —वज्रसूची उपनिषत्

(३) कैवर्तगर्भसम्भूतो व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातेरकारणम्॥ —भारतसार, अध्याय ५५।२०

(४) कैवर्ते दाशधीवरौ॥१५॥ —अमरकोश क० १, वर्ग १०

व्यासजी मल्लाहनी से पैदा हुए (१)। व्यासजी मल्लाह की कन्या से पैदा हुए (२)। मल्लाहनी के गर्भ से पैदा होकर महामुनि व्यास तप से ब्राह्मण बन गये। इसलिए जाति कारण नहीं (३)। कैवर्त, दाश, धीवर—ये तीन नाम मल्लाह के हैं (४)। व्यासजी कहारी के नहीं तो मल्लाहनी के पुत्र अवश्य हैं, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु क्षत्रियकन्या के पुत्र न थे।

(३९९) प्रश्न—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३ में कथा इस प्रकार है कि उपरिचरवसु नाम के राजा के एक पुत्री और एक पुत्र हुआ। पुत्री दाश को पालने को दे दी और लड़का आप रख लिया। उस लड़की से व्यासजी पैदा हुए। जब सत्यवती उपरिचर वसुनामक राजा के वीर्य से उतपन्न हुई तब हम उसको दाश की पुत्री किस प्रकार मान लें। —पृ० ३३०, पं० २२

उत्तर—हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि व्यासजी मल्लाहकन्या के गर्भ से पैदा हुए थे। जन्माभिमानी लोगों को यह बात कैसे रुच सकती थी कि कोई मल्लाहनी के गर्भ से पैदा होकर ब्राह्मणों का गुरु बन जावे? इस बात को मलियामेट करने तथा जनता की आँखों में धूल झोंककर जन्माभिमान को कायम रखने के लिए एक असम्भव कथा घड़कर महाभारत में मिलाई गई, जिस कथा के अनुसार सत्यवती की पैदाइश को आप मछली समेत श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प कर गये और बनावटी बातें लिखकर जनता को धोखे में डालना चाहा है। कहिए महाराज! उपरिचर राजा के जो एक पुत्र और एक पुत्री हुई वह कौन-सी रानी के गर्भ से हुई, और पुत्री को जो दाश को पालनार्थ दिया तो क्या जहाँ पुत्र का पालन हो सकता था वहाँ पुत्री का पालन न हो सकता था? और फिर यदि पालन के लिए ही दी थी तो दाश को यह साहस कैसे हुआ कि लड़की को किश्ती चलाने के काम में लगावे, और उसकी शादी के विषय में भी राजा शन्तनु से स्वयं ही बातचीत करे और राजा उपरिचर इसका कोई नोटिस न ले। और फिर यह भी न बतलाया कि सत्यवती से व्यास की पैदाइश कैसे हुई? महाभारत की जिस कथा को आप छिपाना चाहते हैं, वह इस प्रकार है—

उपरिचर नाम का एक राजा था, उसकी स्त्री का नाम गिरिका था। वह ऋतुस्नाता हुई तो राजा शिकार खेलने चला गया। वहाँ वन में स्त्री के ख़याल से राजा का वीर्यपात हो गया। राजा ने उसे पत्ते में बन्द करके अपनी स्त्री के पास पहुँचाने के लिए बाज़ को रवाना किया; बाज़ लिये जा रहा था कि दूसरे बाज़ से लड़ाई होने के कारण उससे वह वीर्य यमुना नदी में गिर पड़ा। उसको एक मछली ने खा लिया। मछली के गर्भ हो गया। दश मास के पीछे मछली को मछलीहारों ने पकड़ लिया। उसका पेट चीरा तो उससे एक लड़का और एक लड़की निकले। मछलीहारों ने इन दोनों को राजा को पेश किया। राजा ने लड़का रख लिया जो मत्स्य नाम का

प्रतापी राजा बना। और बदबू के कारण लड़की मछलीहारे को दे दी। बड़ी होकर वह किश्ती चलाने लगी। एक बार यात्रा करते हुए पराशर यमुना नदी से पार होने लगे तो लड़की पर मोहित हो गये और उससे समागम की इच्छा की। लड़की ने कहा लोग देख रहे हैं। पराशर ने कुहरा पैदा करके अँधेरा कर दिया। लड़की ने कहा, मेरा कन्यापन नष्ट हो जावेगा। ऋषि ने वर दिया कि समागम करने पर भी तू कन्या ही हो जावेगी। ऋषि ने वर देकर उसकी बदबू दूर करके खुशबू पैदा कर दी। तभी सत्यवती ऋतुमती हो गई। पराशर ने उससे समागम किया। उसी समय व्यासजी पैदा हुए और माता को यह कहकर कि कभी काम हो तो मुझे याद करना, वन में तप करने चले गये।

—महा० आदि० अ० ६३

यह सारी-की-सारी कथा सर्वथा असम्भव है—

(१) राजा को जंगल में फिरते वीर्यपात हो गया। क्या पौराणिक लोगों में यह असाध्य रोग सबको तंग करता है?

(२) पत्ते में बन्द करके वीर्य को स्त्री के पास भेजने का प्रयोजन, क्या उससे गर्भ सम्भव है?

(३) मछली के पेट में तो लड़का-लड़की दश मास में पैदा होने योग्य बने तथा व्यासजी मिनटों में ही पैदा हो गये?

(४) यदि राजा को ज्ञान था कि लड़का-लड़की मेरे हैं तो लड़का लेकर लड़की क्यों न ली? यदि बदबू के कारण न ली तो यह बदबू लड़के में भी होगी?

(५) पराशर ने व्यभिचार किया तो ऋषिपन में फर्क क्यों नहीं आया?

(६) पराशर ने कुहरा पैदा किया, क्या पहले न होता था?

(७) यदि सत्यवती ऋतुमती हो गई तो चार दिन से पहले समागम शास्त्रविरुद्ध है।

(८) व्यास का पैदा होते ही माँ से बात करना तथा तप करने जाना भी असम्भव ही है।

(१०) क्या अण्डज मछली में जरायुज मनुष्य का गर्भ सम्भव है?

सारांश यह कि यह सारी कथा ही असम्भव और सर्वथा असत्य है। वास्तविक बात वही सत्य है कि सत्यवती मल्लाह की पुत्री थी। उसके कन्यावस्था में व्यभिचार से व्यासजी पैदा हुए और वह तप से ब्राह्मण बन गये। मनुस्मृति का टीकाकार भी सत्यवती को निकृष्टयोनि से ही मानता है। वह **'एताश्चान्याश्च'** [मनु० ९।२४] की टीका में लिखता है कि—

एताश्चान्याश्च सत्यवत्यादयो निकृष्टप्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टैरस्मिंल्लोके उत्कृष्टतां प्राप्ताः।

ये भी और भी सत्यवती आदि स्त्रियाँ बहुत-सी निकृष्ट योनि में पैदा हुई अपने पतियों के उत्कृष्ट गुणों से संसार में उत्कृष्ट बन गईं।

इससे साफ़ सिद्ध है कि सत्यवती मल्लाह की लड़की थी। यदि आपके लेखानुसार भी सत्यवती को राजा की पुत्री माना जावे तो भी क्षत्रिया के पेट से व्यास ब्राह्मण कैसे बने? यदि आप कहें कि वीर्य प्रधान होने से ब्राह्मण बने, यदि आप वीर्य को प्रधान मानते हैं तो सत्यवती को क्षत्रिया सिद्ध करने में क्यों पानी-पानी हो रहे हैं? सत्यवती यदि मल्लाह की पुत्री हो तो भी पराशर का वीर्य प्रधान होने से व्यासजी ब्राह्मण बन जावेंगे। यदि वीर्य ही प्रधान है तो फिर क्षेत्र की तो कोई क़ैद न रही। स्त्री चाहे कोई भी हो, पुरुष का वीर्य प्रधान होने से पुरुष के अनुसार ही वर्ण माना जावेगा और यदि वीर्य प्रधान है तो व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका तथा दासी में जो धृतराष्ट्र, पाण्डु, और विदुर को पैदा किया वे ब्राह्मण क्यों न बने, क्षत्रिय क्यों बने? जैसाकि कुल्लूकभट्ट ने भी **'विशिष्टं कुत्रचित्'** इति [मनु० ९।३४] के भाष्य में लिखा है कि—

विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षत्रियाः क्षेत्रिण एव पुत्रा बभूवुः।

विचित्रवीर्य के क्षेत्र क्षत्रिया में ब्राह्मण से पैदा किये हुए भी धृतराष्ट्र आदि क्षत्रिय क्षेत्रवाले के ही पुत्र हुए।

अतः न क्षेत्र प्रधान है, न वीर्य, अपितु वर्णव्यवस्था में कर्म ही प्रधान है।

(४००) प्रश्न—वाल्मीकि को भील का लड़का कहना जानबूझकर लोगों की आँख में धूल झोंकना है। जबकि वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम्। कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमन्यत्॥

—वाल्मी० उत्तर० स० १११।११

यह आख्यान आयु का बढ़ानेवाला, भविष्य और उत्तरसहित प्रचेता के पुत्र वाल्मीकि ने निर्माण किया और ब्रह्मा ने इसका अनुमोदन किया। —पृ० ३३४, पं० २१

उत्तर—हम वाल्मीकि को भील का लड़का नहीं कहते अपितु भीलनी का लड़का कहते हैं और यह आपके ग्रन्थों में लिखा है, जैसेकि—

भिल्लिकागर्भसम्भूतो वाल्मीकिश्च महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातेरकारणम्॥ २१॥

—भारतसार, अध्याय ५५

भाषार्थ—भीलनी के गर्भ से पैदा होकर वाल्मीकि महामुनि तप से ब्राह्मण बन गये, इसलिए जातिकारण नहीं है॥ २१॥

जब वाल्मीकि भीलनी के पुत्र थे तो फिर वाल्मीकि को जन्म से ब्राह्मण कहना जनता की आँखों में धूल झोंकना नहीं तो और क्या है?

(४०१) प्रश्न—वसिष्ठ मित्रावरुण से उर्वशी बिजली में अयोनिज मानसिक पुत्र है।

—पृ० ३३०, पं० २०

उत्तर—धन्य हो महाराज! आपने बड़ी ही हिम्मत की जो उर्वशी को बिजली मान लिया। यदि आप उर्वशी का अर्थ बिजली करें तो हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यहाँ पर मित्रावरुण ये दोनों कौन थे? उनसे वसिष्ठ कैसे पैदा हुए? ज़रा यह तो बतला दिया होता, किन्तु आप बतलावें भी क्या, आपके पुराण आपके अनुकूल नहीं पड़ते। देखिए, इस कथा को रामायण में इस प्रकार से लिखा है कि—

'इतने में उर्वशी इच्छानुसार घूमती हुई आ निकली। उस रूपवती उर्वशी को फिरते देखकर वरुण कामातुर हो गये और मैथुन के लिए प्रार्थना की। उर्वशी ने कहा कि आपसे पहले मुझे मित्र ने बुलाया है। वरुण ने कामातुर होकर कहा कि यह मैं अपना वीर्य घड़े में डालता हूँ यदि तू समागम नहीं करती। उर्वशी ने कहा—मेरा मन तुम्हारा हो चुका है और शरीर मित्र का है। उर्वशी मित्र के पास गई तो क्रोध में आकर मित्र ने कहा कि पहले तो मैंने बुलाई थी, तूने और पति कर लिया? तू दुराचारिणी है। मित्र ने भी अपना वीर्य उसी घड़े में डाल दिया।

कस्यचित्त्वथकालस्य मित्रावरुणसम्भवः। वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम्॥ ७॥

—वाल्मी० उत्तर० स० ५७

भाषार्थ—कुछ काल के पश्चात् मित्रावरुण से पैदा होनेवाला इक्ष्वाकुकुल का देवता तेजस्वी वसिष्ठ पैदा हुआ॥ ७॥

श्रीमान्‌जी! उर्वशी का अर्थ बिजली करके ज़रा इस कथा को सङ्गत करने की कृपा करें और मित्रावरुण तथा वसिष्ठ के भी और अर्थ करके इनकी ऐतिहासिक सत्ता से ही इनकार करें, वरना इस बात को स्वीकार करें कि यहाँ पर उर्वशी बिजली नहीं, अपितु वेश्या का नाम है।

(४०२) प्रश्न—वसिष्ठ कभी गणिका के गर्भ से पैदा ही नहीं हुए।

—पृ० १३१, पं० ४

उत्तर—निम्न हेतुओं से उर्वशी गणिका ही थी—

(१) उपर्युक्त रामायण की कथा में मन वरुण को तथा शरीर मित्र को अर्पण करना वेश्या होने का चिह्न है।

(२) **घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा। उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी॥ २९॥**
गोपाली सहजन्या च कुंभयोनिः प्रजागरा। चित्रसेना चित्रलेखा साहा च मधुरस्वना॥ ३०॥
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः। चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचना॥ ३१॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः। कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः॥ ३२॥

—महा० वन० अ० ४३

भाषार्थ—इन्द्र के दरबार में घृताची आदि तथा और भी हज़ारो नाचती थीं। कमल जैसे नेत्रोंवाली प्रसन्नता से सिद्ध लोगों के चित्त को प्रसन्न कर रही थीं॥ ३१॥ सुन्दर कटि तथा श्रोणिवाली, काँपते हुए स्तनों से, आँखों के मधुर कटाक्षों से चित्त, बुद्धि, मन को हरनेवाली चेष्टाओं से युक्त थीं॥ ३२॥

इनमें उर्वशी का भी होना उसके वेश्यापन का प्रमाण है।

(३) **विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः॥ ३२॥**
तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्॥ ३५॥ —महा० वन० अ० ११०

भाषार्थ—तप में श्रेष्ठ, विप्रों में ऋषि विभाण्डक का उर्वशी अप्सरा को देशकर वीर्यपात हो गया॥ ३२-३५॥

सबको लुभायमान करते हुए घूमना तथा सबके वीर्यपात का कारण तथा तप-भंग का कारण होना वेश्यापन के प्रमाण हैं।

(४) **सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह। त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान्॥ २८॥**
त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि। प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह॥ ३२॥
त्वद् गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता। चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः॥ ३५॥
अनावृत्ताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन। गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि॥ ४२॥

—महा० वन० अ० ४६

भाषार्थ—हे अर्जुन! सब नाचनेवाली मुख्य अप्सराओं में से तूने निश्चय मुझे ही टिकटिकी बाँधकर देखा था॥ २८॥ इसलिए इन्द्र ने तेरे लिए मुझे भेजा है। तू इन्द्र को भी खुश कर, मुझे तथा अपने को भी प्रसन्न कर॥ ३२॥ तेरे गुणों से मेरा मन आकर्षित होकर मैं काम के वश हो रही हूँ। मेरे दिल में भी यह मनोरथ देर से था॥ ३५॥ हे इन्द्रपुत्रार्जुन। हम सब पूर्ण स्वतन्त्र हैं। तू मुझे अपने बड़ों के स्थान में न समझ॥ ४२॥

उर्वशी का अर्जुन को भ्रष्ट करने की चेष्टा करना तथा अपने को नंगी, स्वतन्त्र कहना वेश्यापन का प्रमाण है। इससे सिद्ध है कि उर्वशी इन्द्र-सभा की नाचने-गाने तथा इन्द्र की आज्ञा से ऋषियों का तप भंग करनेवाली अप्सरा, वेश्या या गणिका थी और वसिष्ठजी उनके गर्भ से पैदा हुए, जैसाकि—

उर्वशीगर्भसम्भूतो वसिष्ठो हि महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातेरकारणम्॥ २६॥

—भारतसार, अ० ५५

भाषार्थ—उर्वशी के गर्भ से पैदा होकर महामुनि वसिष्ठ तप से ब्राह्मण बन गये, अतः ब्राह्मण

बनने में जाति कारण नहीं।

इससे सिद्ध हुआ कि वसिष्ठजी उर्वशी गणिका के गर्भ से पैदा हुए थे।

(४०३) प्रश्न—श्रीमद्भागवत [३।१२।२२] में लिखा है कि—

मरीचिरत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष, नारद , ये दश ब्रह्मा के पुत्र हैं। यही बात मनु ने लिखी है। जब वसिष्ठ इस जन्म में ब्रह्मा के अयोनिज पुत्र हैं तो गणिकापुत्र हो ही नहीं सकते। —पृ० ३३१, पं० ७

उत्तर—(१) यहाँ सृष्टि के आदि में हुए वसिष्ठ नामक ऋषि का विवाद नहीं, अपितु इक्ष्वाकुकुल के पुरोहित का विवाद है (देखो नं० ४०१)।

(२) भागवत में तो ये दश ब्रह्मा के पुत्र लिखे हैं, किन्तु मनुस्मृति में मनु के ये पुत्र लिखे हैं—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥

—मनु० १।३४

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः॥ —मनु० ३।१९४

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च॥ —मनु० ७।४२

मैंने (मनु ने) प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से घोर तप करके प्रजा के पति दश महर्षियों को पैदा किया॥३४॥ हिरण्यगर्भ मनु के ये मरीचि आदि दश पुत्र थे॥१९४॥ पृथु ने और मनु ने विनय से राज्य को प्राप्त किया॥४२॥

कहिए, भागवत का लेख सत्य है या मनु का? और मनुजी तो राजा, अर्थात् क्षत्रिय थे। उनके पुत्र वसिष्ठ ब्राह्मण बन गये, इससे भी कर्मानुसार वर्णव्यवस्था सिद्ध है, अतः आपके लेखानुसार भी हमारा पक्ष सिद्ध तथा आपका ग़लत है।

(४०४) प्रश्न—श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ९ अध्याय १३ में लिखा है कि वसिष्ठजी निमि के शाप से मर गये। मरने के पीछे दूसरी बार—

मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः॥६॥

मित्रावरुण के सकाश से वसिष्ठ ने उर्वशी में जन्म धारण किया। —पृ० ३३१, पं० १८

उत्तर—भागवत का भी खूब प्रमाण दिया, जिससे अपना पक्ष स्वयं ही खण्डित कर दिया। आपके प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि आदिसृष्टिवाले वसिष्ठ और थे, वे निमि के शाप से मरे तथा उर्वशी के पुत्र वसिष्ठ दूसरे थे।

कहिए महाराज! मित्र तथा वरुण दोनों से एक उर्वशी में वसिष्ठ कैसे पैदा हुए? क्या दो पुरुषों से एक स्त्री में सम्मिलित सन्तान पैदा हो सकती है?

उर्वशीं तरुणीं दृष्ट्वा चस्कन्भोभौ बभूवतुः। मित्रः कुम्भे जहौ रेतो वरुणोऽपि तथा जले॥ २४॥
ततः कुम्भात्समुत्पन्नो वसिष्ठो मित्रसम्भवः। अगस्त्यो वरुणाज्जातो बडवाग्निसमद्युतिः॥ २५॥

—शिव० उमा० अ० ४

जवान उर्वशी को देखकर मित्र तथा वरुण का वीर्यपात हो गया। मित्र ने अपना वीर्य घड़े में डाल दिया तथा वरुण ने जल में डाल दिया॥२४॥ तब घड़े से मित्र का पुत्र वसिष्ठ पैदा हुआ तथा जल से वरुण का पुत्र अग्निसमान तेजस्वी अगस्त्य पैदा हुआ।

कहिए महाराज! यहाँ पर दोनों की हिस्सापत्ति गुम है और दोनों का वीर्य भी एक ही स्थान—घड़े में नहीं डाला गया, अपितु एक का घड़े में, दूसरे का जल में डाला गया। एक से

वसिष्ठ तथा दूसरे से अगस्त्य पैदा हुए, अतः मित्रावरुण दोनों से वसिष्ठ की उत्पत्ति ग़लत हो गई। फिर रामायाण में वरुण ने अपना वीर्य घड़े में डाला लिखा है तथा यहाँ जल में डालना लिखा है, अतः पुराणों की कथाएँ परस्पर विरुद्ध होने से मिथ्या ही हैं। वास्तव में बात यह है कि उर्वशी गणिका थी, उसमें न मालूम किससे गर्भ ठहरा, जिससे वसिष्ठ पैदा हुए। वे तप से ब्राह्मण बन गये, जैसाकि—

वसिष्ठ उर्वश्याम्। —वज्रसूची उपनिषद्

वसिष्ठो गणिकात्मजः॥ २३॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

वसिष्ठ उर्वशी में पैदा हुए॥ वज्र०॥ वसिष्ठ गणिका के पुत्र थे। —भविष्य०

कहिए महाराज! अब तो वसिष्ठ के गणिकापुत्र होने में सन्देह नहीं? अच्छा एक बात और तो बताइए कि उर्वशी का क्या वर्ण था तथा मित्रावरुण का क्या वर्ण था, जिससे जन्म से वसिष्ठ ब्राह्मण हुए।

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा॥ २३॥
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४॥
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्॥ २५॥

—महा० शान्ति० अ० २०८

आदित्य क्षत्रिय, मरुत वैश्य, अश्विनीकुमार शूद्र, तथा आंगिरस देवता ब्राह्मण हैं। अब उर्वशी के वर्ण का तो पता ही नहीं और मित्र तथा वरुण—ये दोनों अग्नि तथा जल का नाम होने से आदित्य हैं। वे क्षत्रिय हुए। अब उनसे यदि वसिष्ठ पैदा हुए तो भी जन्म से ब्राह्मण नहीं।

(४०५) प्रश्न—यह कथा पुराण में ही नहीं किन्तु वेद में भी है। देखिए **'विद्युन्न या पतन्ती'** इत्यादि मन्त्र तथा इसपर निरुक्त दैव० अ० ११ खं० ३६, में उर्वशी को देवता मानकर दीर्घायु की प्रार्थना की है। जब उरुवशी मध्यस्थानीय देवता है तो फिर इसको गणिका मानना शास्त्र-अनभिज्ञता है या नहीं? —पृ० ३३२, पं० १२

उत्तर—वेदों में इतिहास और कथाएँ नहीं होतीं, क्योंकि वेद अनादि ईश्वर का ज्ञान हैं। इतिहास किसी के जन्म के पश्चात् लिखा जाता है, पूर्व नहीं,अतः वेदों में किसी मनुष्य का इतिहास या कथा नहीं है और न ही वसिष्ठ या उसकी उत्पत्ति का वर्णन है। मध्यस्थानी देवता **'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः।'** [निरु० अ० ७ खं० ५] वायु तथा इन्द्र, अर्थात् बिजली है, जिसका वेद ने उर्वशी के नाम से वर्णन किया है। यहाँ वसिष्ठ की माता उर्वशी का वर्णन नहीं है, अपितु **'उर्वभ्यश्नुते' 'बहूदकं व्याप्नोति'** जो बहुत पानी में व्यापक है, अतः बिजली को उर्वशी कहते हैं। उसी का इस वेदमन्त्र में वर्णन है, जैसे—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥ १०॥

—ऋ० मं० १० सू० ९५

निरुक्त परतःप्रमाण है, अतः उसका ऐतिहासिक पक्ष वेदविरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं है। वेदमन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

'अब विद्युत् होकर गिरती हुई, जो चमकती है—उत्पन्न हुई है, उससे मनुष्यों के लिए हितकारी शुभ जन्मवाला जल। इस प्रकार जल और जल से अन्न द्वारा वह बिजली दीर्घायु करती है॥ १०॥

कहिए महाराज! इस वेदमन्त्र में वसिष्ठ और उसकी उत्पत्ति का वर्णन कहाँ है?

(४०६) प्रश्न—'उतासि मैत्रावरुणो' इस मन्त्र तथा इसके निरुक्त [अ० ५ खं० १४] में उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ की उत्पत्ति वेद ने बतलाई है। —पृ० ३३३, पं० २१

उत्तर—श्रीमान्जी! वेदों में मनुष्यों के इतिहास का वर्णन नहीं होता, अपितु मनुष्य वेदों को देखकर अपने नाम रख लिया करते हैं। जो निरुक्त वेदों में इतिहास बतलाता हो वह वेदविरुद्ध होने से मिथ्या तथा अप्रमाण है। इस वेदमन्त्र में वसिष्ठ तथा वसिष्ठ की माता उर्वशी का वर्णन नहीं है, अपितु वसिष्ठ से जीवात्मा तथा उर्वशी से प्रकृति का वर्णन है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥ ११॥ —ऋ० ७।३३

भाषार्थ—हे देह में बसे प्राणों में सर्वश्रेष्ठ जीव! तू मित्र और वरुण, प्राण और अपान दोनों का स्वामी है। हे बुद्धिशील जीव! तू अतिकान्तिमती, तैजस्, सात्त्विक विकार से युक्त वा 'उरु'=अतिविस्तृत व्यापक प्रकृति के ऊपर मननशक्ति द्वारा भोक्तारूप से अध्यक्ष होता है। समस्त किरणों के, समस्त शक्तियों के स्वामी सूर्यवत् तेजस्वी महान् परमब्रह्म परमेश्वर से प्रदत्त वीर्य के समान तुझको समस्त दिव्य शक्तियाँ पुष्टिकारक तत्त्व में धारण करती हैं॥ ११॥

आपको वेद में यौगिक शब्द देखकर रूढ़ि नामोंवाले व्यक्तियों की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

(४०७) प्रश्न—हम वसिष्ठ को गणिकापुत्र मानें तो कैसे मानें? —पृ० ३३४, पं० २०

उत्तर—आप अपने ग्रन्थों के लेखानुसार वसिष्ठ को गणिकापुत्र मानने पर विवश हैं। देखिए—

गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २९॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

भाषार्थ—कंजरी के गर्भ से पैदा होकर महामुनि वसिष्ठजी तप से ब्राह्मण बन गये, अतः ब्राह्मण बनने में संस्कार ही कारण हैं॥ २९॥

आशा है कि इतने स्पष्ट प्रमाण की विद्यमानता में आपको वसिष्ठ के गणिकापुत्र होते हुए तप से ब्राह्मण बनने में अब कोई सन्देह न रहेगा।

स्वामी दयानन्द और वर्णव्यवस्था

(४०८) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी वर्णव्यवस्था जन्म से मानते हैं। —पृ० २२, पं० १३

उत्तर—आपका यह लिखना क़तई ग़लत है, क्योंकि ऋषि दयानन्दजी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश की समाप्ति पर अपने मन्तव्यों को लिख दिया है, ताकि आप जैसे धूर्त लोग स्वामीजी के नाम से अंटशंट लिखकर धोखा न दे सकें। वर्णव्यवस्था के बारे में ऋषि इस प्रकार लिखते हैं कि—

१६—**वर्णाश्रम**—गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ॥

(४०९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८८ में लिखा है कि—'**प्रश्न**—जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत? **उत्तर**—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद हैं। **प्रश्न**—कौन-से ईश्वरकृत और कौन-से मनुष्यकृत है? **उत्तर**—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियाँ, वृक्षों में पीपल, वट, आम्रादि, पक्षियों में हंस, काक, बकादि, जलजन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं।'

यहाँ पर स्वामीजी ने मनुष्यजाति में ब्राह्मणादि जातियाँ ईश्वरकृत मानी हैं। ईश्वरकृत कार्य

में कोई तब्दीली नहीं कर सकता, इसलिए तुम्हारा लगाया गुण-कर्म-स्वभाव का अड़ंगा निष्प्रयोजन है। —पृ० २२, पं० १५

उत्तर—आपने स्वामीजी का अधूरा पाठ उद्‌धृत करके धोखा देने की अनधिकार चेष्टा की है। जो पाठ आपने दिया है उससे आगे सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार पाठ है—

'परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्यजाति में नहीं, किन्तु सामान्यविशेष जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रम-व्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है'।

अब उस पाठ से आगे इस पाठ को मिलाकर पढ़ें तो आपको स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा कि स्वामीजी का अभिप्राय यह है कि 'किसी जीव का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के घर पैदा होना तो पूर्वजन्म के कर्मानुसार ईश्वरकृत है, परन्तु मनुष्य का काम करने में स्वतन्त्र होने के कारण श्रेष्ठ कर्म करके शूद्रादि से ब्राह्मणादि बन जाना अथवा निकृष्ट कर्म करके ब्राह्मणादि का शूद्रादि बन जाना यह मनुष्यकृत है। ईश्वरकृत कार्य जो मनुष्य शरीर है उसमें हम तब्दीली नहीं कर सकते, किन्तु गुण-कर्म-स्वभाव की उत्कृष्टता तथा निकृष्टता से वर्ण-परिवर्तन कर सकते हैं।

(४१०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० २८ में लिखा है कि—

'९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों, वहाँ लड़के-लड़कियों को भेज दें, और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें'।

यहाँ पर स्वामीजी ने जातिभेद, वर्णव्यवस्था को जन्म से माना है। द्विजों को आचार्यकुल में प्रवेश करवाया है और शूद्रों को आचार्यकुल में फटकने नहीं दिया, उनके पढ़ने के लिए गुरुकुलों की व्यवस्था लिख दी। द्विजों के लड़कों का उपनयन करना लिखा और शूद्रों के लड़कों के उपनयन का निषेध किया, यही बात सनातनधर्म मानता है। —पृ० २२, पं० २५

उत्तर—स्वामीजी की परिभाषा में आचार्यकुल तथा गुरुकुल एक ही वस्तु हैं, जैसाकि स्वामीजी के लेख से पता लगता है। स्वामीजी ने चतुर्थ समुल्लास के आरम्भ में '**गुरुणानुमतः**' का अर्थ करते हुए लिखा है कि—

'गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।'

आचार्यकुल में प्रविष्ट करना तथा गुरुकुल से निकलना सिद्ध करता है कि आचार्यकुल तथा गुरुकुल एक ही बात है, दो नहीं। रही बात यज्ञोपवीत की, जबतक बच्चे माता-पिता के अधीन हैं, उनके संस्कार माता-पिता के वर्णानुकूल होते हैं। जब वे कर्म करने में समर्थ, स्वतन्त्र हो जाते हैं तब उनके संस्कार उनके गुण-कर्मानुसार होते। अतः द्विजों के बालकों को उनके माता-पिता के वर्णानुसार यज्ञोपवीत देकर तथा शूद्रादि के बालकों को उनके माता-पिता के वर्णानुसार बिना यज्ञोपवीत के ही गुरुकुल में प्रविष्ट किया जाता है। फिर गुरुकुल में प्रविष्ट होने के पश्चात् आचार्य सब बालकों की योग्यता को देखकर पुनः यज्ञोपवीत देता है। शूद्रादि के जो बालक विद्या पढ़ने के योग्य होते हैं, उनको यज्ञोपवीत देकर वेदारम्भ संस्कार करवाता है और द्विजों के जो बालक विद्या पढ़ने में बुद्धिहीन सिद्ध होते हैं, उनको गुरुकुल से निकाल देता है, जैसेकि स्वामीजी ने तृतीय समुल्लास में '**कन्यानां सम्प्रदानम्**' श्लोक के नीचे लिखा है कि—

'प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो, दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो', इसका वही प्रयोजन है जो हमने ऊपर वर्णन किया है।

यदि सनातनधर्म भी शूद्रादि के बालकों को गुरुकुल में प्रविष्ट करना, उनको वेदादि की शिक्षा देना तथा उनकी योग्यतानुसार यज्ञोपवीत देना स्वामीजी की भाँति मानता है तो बधाई है, देश के भाग्य जाग पड़े!

(४११) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८ में लिखा है कि—

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्य वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नमन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है। ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, क्षत्रिय क्षत्रिय तथा वैश्य, वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है और जो कुलीन, शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़कर सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे। यह मत अनेक आचार्य्यों का है।

यहाँ स्वामीजी ने शूद्रों को उपनयन करने तथा वेद पढ़ाने का निषेध किया है।

उत्तर—स्वामीजी ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'यह मत अनेक आचार्य्यों का है' इससे सिद्ध है कि यह स्वामीजी का अपना मत नहीं है। स्वामीजी का अपना मत यह है कि—

यथेमां वाचम्। —यजु:० २६।२

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने भृत्य वा स्त्री आदि और शूद्र आदि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दु:खों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों।'

स्वामीजी ने यह प्रमाण इसलिए दिया है कि 'क्षत्रिय तथा वैश्य को यज्ञोपवीत देने तथा पढ़ाने का और शूद्र को विद्या पढ़ने का अधिकार तो सनातनधर्म के भी अनेक आचार्य मानते हैं।'

(४१२) प्रश्न—स्वामीजी संस्कारविधि में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन ही वर्णों का उपनयन लिखते हैं और तीन ही वर्ण के लिए उपनयन के आरम्भ में क्रम से पयोव्रत, यवागु, आमिक्षा ये तीन व्रत बतलाते हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में गृह्यसूत्र, मनु और शतपथ के प्रमाण भी दिये हैं। स्वामीजी के मत में तीन ही वर्णों का उपनयन-संस्कार होता है, शूद्र का नहीं। उपनयन में वर्षसंख्या एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के पृथक्-पृथक् व्रत जाति को जन्म से सिद्ध करते हैं। नामकरण संस्कार में भी स्वामीजी ने ब्राह्मण बालक का नाम शर्मा, क्षत्रिय बालक का नाम वर्मा तथा वैश्य के बालक के नाम के अन्त में गुप्त लगाकर नाम रखना लिखा है। ११ दिन के बच्चे की जाति गुण-कर्म-स्वभाव से कभी हो नहीं सकती। नाम रखने में वर्णव्यवस्था जन्म से ही है। सनातनधर्मी इसको प्रमाण मानते हैं। —पृ० २३, पं० १८

उत्तर—जिस बालक की माता गुण-कर्म-स्वभावानुसार पूर्णरूप से ब्राह्मणी हो और पिता गुण-कर्मानुसार पूर्णरूप से ब्राह्मण हो और ब्राह्मण के ढंग से ही उसके संस्कार किये जाएँ तो नव्वे प्रतिशत ऐसे बालक के ब्राह्मण ही बनने की सम्भावना होती हैं, दश प्रतिशत यह सम्भावना भी है कि वह बालक ब्राह्मण के कर्मों से हीन होकर शूद्र बन जावे। जिस बालक की माता पूर्णरूप से शूद्र तथा पिता भी पूर्णरूप से शूद्रा हो और उसका पालन-पोषण भी शूद्रों के ही ढंग से हुआ हो तो नव्वे प्रतिशत ऐसे बालक के शूद्र ही बनने की सम्भावना है। हाँ, दश प्रतिशत उसको अधिकार प्राप्त है कि वह ब्राह्मणादि बन सके। बालक चूँकि माता-पिता के अधीन होते हैं, कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होते, अत: उनके संस्कार भी, नामकरणादि से गुरुकुल प्रवेश तक, माता-पिता के अनुकूल ही होते हैं। उनकी भावी संज्ञा को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणादि के बालकों के शर्मादि नाम रक्खे जाते हैं तथा ब्राह्मणादि के बालकों का उपनयन करके तथा शूद्रादि के

बालकों को बिना उपनयन के गुरुकुल में प्रविष्ट कर दिया जाता है। गुरुकुल में गुरु उन सब बच्चों के उनकी योग्यतानुसार उपनयन करवा देता है और विद्या पूरी होने पर परीक्षापूर्वक गुण-कर्मानुसार उनकी वर्णव्यवस्था कर दी जाती है, जैसाकि स्वामीजी ने लिखा है—

'यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष तथा पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए।'

—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, सन्तान परिवर्तन के उत्तर में

'जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरती रहेगी कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।'

—सत्यार्थ० समु० ४, 'एकमेव तु शूद्रस्य' से आगे

यदि सनातनधर्म भी बालकों के माता-पिता के वर्णानुसार संस्कार तथा गुरुकुल-प्रवेश और समावर्तन के समय परीक्षापूर्वक गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णों की व्यवस्था से पुरुषों तथा स्त्रियों के भी वर्णपरिवर्तन को मानता है तो देश के सौभाग्य उदय होने में क्या सन्देह है!

मृतकश्राद्ध

(४१३) प्रश्न—वेदों में पितृयज्ञ और धर्मशास्त्रों में इसको श्राद्ध कहते हैं।

—पृ० २८७, पं० ३

उत्तर—आपके लेख ही से यह स्वयं सिद्ध है कि चारों वेदों में **'मृतकश्राद्ध'** शब्द नहीं है, अपितु यह पीछे की कल्पना है।

(४१४) प्रश्न—वेद के प्रत्येक मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि श्राद्ध मृतक पितरों का होता है।

—पृ० २८७, पं० ४

उत्तर—प्रथम तो श्राद्ध शब्द ही जीवितों पर प्रयुक्त हो सकता है मृतकों पर नहीं, क्योंकि 'श्रत्' नाम सत्य का है और **'श्रद्दिधतेऽस्यां सा श्रद्धा'** जिसमें सत्य विद्यमान हो वह श्रद्धा **'श्रद्धयायत्क्रियेत तच्छ्राद्धम्'** जो श्रद्धापूर्वक पितरों की सेवा की जावे उसका नाम श्राद्ध है। चूँकि सेवा जीवितों की ही हो सकती है, मृतकों की नहीं, अतः जीवितों का ही नाम पितर है, मृतकों का नहीं। दूसरे, पितर शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं, क्योंकि हमारे जो माता-पिता, बहिन-भाई के सम्बन्ध हैं वे शरीरों के साथ हैं, जीवों के साथ नहीं हैं, क्योंकि माता-पिता हमारे शरीर को पैदा करते हैं जीव को नहीं, क्योंकि जीव अनादि तथा अनुत्पन्न हैं, जैसाकि—

न जायते म्रियते वा कदाचित्। —गीता २।२०

जीव कभी भी न पैदा होता है न मरता है, अपितु शरीर ही पैदा होता और मरता है, जैसेकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। —गीता २।२३

अर्थात् जैसे हम पुराने कपड़ों को छोड़कर नये कपड़े पहन लेते हैं, वैसे ही जीव भी पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है।

जब जीव शरीर से निकलकर कर्मानुसार दूसरे जन्म में चला जाता है और शरीर को फूँक

दिया जाता है, फिर पितर कौन शेष रहता है! यदि कहो कि मरने के पीछे भी जीवों के साथ माता-पिता, बहिन-भाई के सम्बन्ध बने रहते हैं तो पुनर्जन्म में माता का पुत्र से, बहिन का भाई से, बेटी का बाप से विवाह होना सम्भव हो जावेगा, अतः जीवों के परस्पर माता-पितादि सम्बन्ध नहीं हैं, जैसाकि—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ ३६ ॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥
नैवास्य कश्चिद् भवता नायं भवति कस्यचित्। पथि संगतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥
अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ। पथि संगतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा ॥ ४१ ॥

—महा० शान्ति० अ० २८

भाषार्थ—जैसे महासागर में लकड़ियाँ आपस में मिल जाती हैं और मिलकर बिछुड़ जाती हैं, वैसे ही जीवों का परस्पर समागम है ॥ ३६ ॥ हज़ारों माता-पिता तथा सैकड़ों पुत्र-स्त्रियों का संसार में अनुभव किया। किसके वे तथा किसके हम! ॥ ३८ ॥ न इसका कोई है तथा न यह किसी का है। यह पत्नी, बन्धु, मित्रजनों से समागम रास्ते का ही समागम है ॥ ३९ ॥ इस चक्र के समान गति करनेवाले, बसने में प्यारे, अनित्य संसार में यह भ्राता, माता, पिता, मित्र आदि सम्बन्ध रास्ते में समागम के समान ही है ॥ ४१ ॥

इससे सिद्ध है कि मरने के पीछे जीवों से माता-पितादि का सम्बन्ध शेष नहीं रहता, जीवितों के साथ ही माता-पितादि सम्बन्ध है। पिता किसको कहते हैं, देखिए—

पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता। —निरु० अ० ४ खं० २१

अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः। देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

—मनु० अ० २

अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च। विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम् ॥ १५३ ॥

—ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० अ० १०

भाषार्थ—रक्षा करनेवाले और पैदा करनेवाले को पिता कहते हैं। —निरुक्त

बालक आंगिरा कवि ने अपने पितरों को पढ़ाया और उनको ज्ञान से ग्रहण करके 'पुत्र' कहा ॥ १५१ ॥ वे पितर गुस्से में आकर यह अर्थ देवों से पूछने लगे। देवों ने इकट्ठे होकर उनसे कहा कि बालक ने तुमसे न्यायपूर्वक ही कहा है ॥ १५२ ॥ अज्ञानी बालक होता है तथा मन्त्र का देनेवाला पिता होता है, अतः अज्ञानी को बालक तथा मन्त्र देनेवाले को ही पिता कहा जाता है ॥ १५६ ॥ —मनु०

अन्न देनेवाला, भय से तरानेवाला, स्त्री का पिता, विद्या देनेवाला तथा जन्म देनेवाला—ये पाँच मनुष्यों के पिता कहाते हैं ॥ १५३ ॥ —ब्रह्मवैवर्त

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि पितर शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं, अतः जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम ही श्राद्ध है। वेद का एक मन्त्र भी मृतकश्राद्ध की पुष्टि नहीं करता।

(४१५) प्रश्न—'ये निखाता' इत्यादि [अथर्व० १८।२।३४] यह मन्त्र गाड़े, फूँके, पड़े पितरों के बुलाने का है। —पृ० २८७, पं० ५

उत्तर—आपका यह अर्थ ग़लत और युक्तिशून्य है, क्योंकि आप हवि खाने के लिए उनको

बुलाते हैं जो गाड़े, फूँके और पड़े हुए हैं। अब यह गाड़ना और फूँकना आदि शब्द जीवों पर तो प्रयुक्त हो नहीं सकते, क्योंकि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। २३॥

—गीता अ० २

भाषार्थ—इस जीव को शस्त्र काट नहीं सकता, इसको आग जला नहीं सकती, इसको पानी गला नहीं सकता और इसको हवा सुखा नहीं सकती॥ २३॥

अब रह गये शरीर, सो उनका खाने के लिए आना असम्भव है, अतः इस मन्त्र का आपका किया हुआ अर्थ ठीक नहीं है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

—अथर्व० १८।२।३४

भाषार्थ—यजमान पुरोहित से कहता है कि हे विद्वन्! जो पदार्थ ज़मीन में गाड़े हुए होते हैं (आलू, मूली, गाजर आदि) और जो पदार्थ बोये जाते हैं (गेहूँ, चावल आदि); जो पदार्थ भूनकर खाये जाते हैं (चने, मक्की, धान आदि) और जो पदार्थ बाहर निकाले जाते हैं (सिंहाड़े, कमलगट्टे आदि) इन सब पदार्थों को निमन्त्रण में साधु-महात्मा आदि पितरों को खाना खिलाने के लिए लाकर दे॥ ३४॥

इस मन्त्र में जो परोप्ता शब्द पड़ा हुआ है इसके अर्थ बीजे जानेवाले पदार्थों के हैं और बीजे जाना अनाजों, सब्ज़ियों का ही सम्भव है, अतः यह मन्त्र मृतकश्राद्ध को सिद्ध नहीं करता, अपितु जीवतों की सेवा को ही सिद्ध करता है, जैसाकि—

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतꣳसमाः॥

—यजुः० १९।४६

देवाः पितरः पितरो देवाः॥ —अथर्व० ६।१२३।३

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः। न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः॥ १९२॥
वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान्। प्रपितामहाँस्तथादित्याञ्श्रुतिरेषा सनातनी॥ २८४॥

—मनु० अ० ३

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा॥ २६॥ —महा० भीष्म० अ० २५

न क्षत्रिया रणे राजन् वर्जयन्ति परस्परम्।
निर्मर्यादं हि युध्यन्ते पितृभिर्भ्रातृभिः सह॥ ५॥ —महा० भीष्म० अ० १०२

भाषार्थ—जो इस लोक में जीते हुओं में समान गुण-कर्म-स्वभाववाले, समान धर्म में मन रखनेहारे मेरे जीवित पिता आदि हैं, उनकी लक्ष्मी मेरे समीप सौ वर्ष पर्यन्त समर्थ होवे॥ ४६॥ देवों का नाम पितर है और पितरों का नाम देव है॥ ३॥ क्रोध से रहित, शुद्ध रहनेवाले, ब्रह्मचारी, शस्त्रहीन, महाभाग विद्वानों का तथा बुजुर्गों का नाम पितर है॥ १८२॥ वसुओं का नाम पितर, रुद्रों का नाम पितामह तथा आदित्यों का नाम प्रपितामह है—यह वेदवचन है॥ १८४॥ वहाँ पर अर्जुन ने मैदाने-जंग [युद्धभूमि] में पितर, पितामह, आचार्य्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्रों तथा मित्रों को खड़े हुए देखा॥ २५॥ हे राजन्! क्षत्रिय रण में एक-दूसरे को आपस में छोड़ते नहीं, मर्यादा को छोड़कर पितरों तथा भाइयों से लड़ते हैं॥ ५॥

इन सम्पूर्ण प्रमाणों से सिद्ध है कि पितर नाम जीवितों का ही है, मृतकों का नाम पितर नहीं है।

(४१६) प्रश्न—'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि [यजुः० १९।५८] इस मन्त्र में भी मृतक पितरों को भोजन तथा उपदेशार्थ बुलाया है।

उत्तर—मृतक पितरों का यज्ञ में आना तथा भोजन करके प्रसन्न होना और यजमान को उपदेश करना तथा उसकी रक्षा करना सम्भव नहीं है। ये सारे काम जीवित पितरों से ही होने सम्भव हैं। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ —यजुः० १९।५८

भाषार्थ—जो चन्द्रमा के तुल्य शान्त, शम-दमादि गुणयुक्त, अग्नि आदि पदार्थविद्या में निपुण, अन्न और विद्या के दान से हमारे रक्षक, जनक, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं वे आप्त लोगों के जाने-आने योग्य धर्मयुक्त मार्गों से आवें। इस पढ़ाने, उपदेश करनेरूप व्यवहार में वर्त्तमान होके अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए हमको अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी सदा रक्षा करें॥ ५८॥

आपने अग्निष्वात्ता के अर्थ अग्नि से जले हुए किया है सो ठीक नहीं है, क्योंकि जीव तो अग्नि में जलते नहीं, जैसाकि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥ —गीता अ० २

भाषार्थ—यह जीव अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है॥ १४॥

रही शरीर की बात, वह जलने के पीछे आकर उपदेश कैसे करेगा? अतः हमारा अर्थ ठीक है कि अग्निविद्या में निपुण मनुष्यों का नाम अग्निष्वात्ता है।

आपके सिद्धान्तानुसार भी अग्नि में जले हुओं का नाम अग्निवष्वात्त नहीं है, देखिए—

अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥ —मनु० ३।१९५

भाषार्थ—अग्निष्वात्त मरीचि ऋषि के पुत्रों का नाम है और वे देवों के पितर हैं॥ १९५॥

शिवपुराण में लिखा है कि जब ब्रह्मा पुत्री पर आसक्त हुए तो महादेव ने उन्हें डाँटा। इससे ब्रह्मा को पसीना आ गया। उससे अग्निष्वात्त पितर पैदा हुए, जैसाकि ब्रह्माजी स्वयं बतलाते हैं कि—

मच्छरीरात्तु धर्मांभो यत्पपात द्विजोत्तम। अग्निष्वात्ताः पितृगणा जाता पितृगणास्ततः॥ ४८॥
—शिव रुद्र० सती० अ० ३

मेरे शरीर से पसीने का जो जल गिरा, उससे अग्निष्वात्त पितर और दूसरे पितर भी पैदा हुए॥ ४८॥

इससे सिद्ध है कि अग्नि में जलों [भस्म हुओं] का नाम अग्निष्वात्त नहीं है, अपितु अग्निविद्या में निपुण का नाम ही अग्निष्वात्त है और वे जीते ही हो सकते हैं, मरे हुओं का नाम पितर नहीं है।

(४१७) प्रश्न—जो मृतक पितर पितृलोक में जाते हैं वे इस पितृयज्ञ=श्राद्ध में सूक्ष्म शरीर से भोजन खाने के लिए स्वतः आते हैं। ऐसे पितरों को इन दो मन्त्रों में बुलाया है, इसी पर मनुजी लिखते हैं—

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्। वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥
—३।१८९

निमन्त्रित पितर ब्राह्मणों के साथ-साथ वायुभूत होकर आते हैं और ब्राह्मणों के साथ बैठकर भोजन करते हैं।

—पृ० २८७, पं० १६

उत्तर—हम पूर्व लिख आये हैं कि मृतकों की पितर संज्ञा होती ही नहीं। फिर पितरलोक भी कोई भिन्न स्थान नहीं है। जहाँ माता-पिता, साधु-महात्मा, ज्ञानी लोग रहते हैं उसी का नाम पितरलोक है और वहाँ से ही बुलाना इस मन्त्रों में लिखा है। पौराणिकों के द्वारा मिथ्या कल्पित कोई विशेष पितरयोनि नहीं है, अपितु जीव इस शरीर को छोड़ते ही कर्मानुसार दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है, जैसाकि—

यथातृणजलौका हि पश्चात्पादं तदोद्धरेत्॥७५॥
स्थितिरग्रयस्य पादस्य यदा जाता दृढा भवेत्॥७६॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिः पक्षीन्द्रेत्यवधारय॥८३॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥८४॥

—गरुड़० प्रेत० अ० १०

प्रविशेत्स नवे देहे गृहे दग्धे गृही यथा। —गरुड० प्रेत० अ० ३ श्लो० ९६

भाषार्थ—जैसे घास की सूँडी तभी पीछे से दूसरा पाँव उठाती है॥७५॥ जब अगले पावों की दृढ़ स्थिति हो जाती है। वैसे ही जीव तब शरीर को छोड़ता है जब उसका दूसरे शरीर से सम्बन्ध हो जाता है॥७६॥ जैसे जीव इस शरीर में कुमार, युवा तथा बुढ़ापे को प्राप्त होता वैसे ही इसको दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है॥८३॥ जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नये कपड़ों को धारण करता है, वैसे ही जीव पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेता है॥८४॥ जैसे मनुष्य घर के जल जाने पर नये घर में प्रवेश करता है, वैसे ही जीव भी देह के नाश होने पर दूसरी देह को धारण करता है॥९६॥

देह भी चार प्रकार की है, जैसेकि—

एवमेव समाख्यातं शरीरं ते चतुर्विधम्। चतुरशीतिलक्षाणि निर्मिता योनयः पुरा॥१०४॥
उद्भिजाः स्वेदजाश्चैव अण्डजाश्च जरायुजा॥१०५॥ —गरु० प्रेत० अ० ३

भाषार्थ—ऐसे ही मैंने आपके लिए चार प्रकार का शरीर बतलाया। चौरासी लाख योनियाँ पहले बनाई गई॥१०४॥ उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज॥१०५॥

इनमें पितर या प्रेतयोनि का नाम भी नहीं है, अतः न पितरयोनि होती है और न कोई और पितरलोक है और न कोई पितरयोनि में जाता है। यह सब पोप-पाखण्ड ही है। जब पितरयोनि ही नहीं तो फिर पितरों का निमन्त्रित होना, ब्राह्मणों के पीछे फिरना तथा उनके साथ खाना स्वयं ही मिथ्या सिद्ध हो गया।

कहिए श्रीमान्‌जी! यदि पितर निमन्त्रित ब्राह्मणों के पीछे-पीछे फिरते हैं तो पितरों की बड़ी दुर्दशा होती होगी, क्योंकि जब ब्राह्मण टट्टी आदि जाते होंगे तो भी पितरों को उनके पीछे-पीछे ही रहना पड़ता होगा। यदि पितर भोजन करते हैं तो पितर ब्राह्मणों से पहले भोजन करते हैं या पीछे या साथ ही, यदि पितर भोजन पहले करते हैं तो ब्राह्मण जूठा खाते हैं और ब्राह्मण पहले भोजन करता है तो पितर जूठा खाते हैं। यदि दोनों इकट्ठा खाते हैं तो दोनों ही जूठा खाते हैं और यह धर्मशास्त्र के विरुद्ध है, जैसेकि—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा॥ —मनु० २।५६

न किसी को जूठा देवे और न किसी के साथ इकट्ठा खावे।

फिर आपके यहाँ तो यह भी लिखा है कि पितर ब्राह्मण के अन्दर घुसकर खाते हैं, जैसाकि—

निमन्त्रितास्तु ये विप्राः श्राद्धपूर्वदिने खग। प्रविश्य पितरस्तेषु भुक्त्वा यान्ति स्वमालयम्॥ २६॥
श्राद्धकर्त्रा तु यद्येकः श्राद्धे विप्रो निमन्त्रितः। उदरस्थः पिता तस्य वामपार्श्वे पितामहः॥ २७॥
प्रपितामहो दक्षिणतः पृष्ठतः पिण्डभक्षकः॥ २८॥ —गरुड़० प्रेत० अ० १०

हे खग! जो ब्राह्मण श्राद्ध से पहले दिन निमन्त्रित किये जाते हैं पितर उनमें प्रवेश करके भोजन करके अपने घर चले जाते हैं॥ २६॥ श्राद्ध करनेवाले ने यदि एक ही ब्राह्मण को न्योता दिया हो तो श्राद्ध करनेवाले का पिता ब्राह्मण के पेट में, बायें पसवाड़ें में दादा तथा दायें पसवाड़े में परदादा और पिण्डभक्षक पीठ में बैठकर पिण्डों को खाते हैं॥ २८॥ कहिए जनाब! आपकी बात ठीक है या गरुड़पुराण की? निश्चय जानिए दोनों ही वेदविरुद्ध होने से मिथ्या हैं।

(४१८) प्रश्न—कई-एक लोगों की यह शंका है कि वे पितर हमको दीखते क्यों नहीं? इसके ऊपर शतपथ लिखता है—

तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः। —शत० २।४।२।२१

सूक्ष्म होने के कारण पितर मनुष्यों से अदृश्य होते हैं, क्योंकि—

आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि॥ —न्याय० ३।१।२७ वात्स्यायनभाष्य

लोकान्तर में जल, अग्नि, वायु के शरीर होते हैं। जब अग्नि, वायु, जल के शरीर अतिसूक्ष्म होते हैं फिर वे दृष्टि में कैसे आवेंगे? —पृ० २८८, पं० ५

उत्तर—बेशक प्रत्येक बुद्धिमान् के दिल में यह विचार उत्पन्न होता है कि जब पितर ब्राह्मणों के पीछे-पीछे फिरते हैं और भोजन भी करते हैं तो फिर वे नज़र क्यों नहीं आते? शतपथ के पाठ में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके अर्थ 'सूक्ष्म' किये जा सकें और आपने 'इव' शब्द के अर्थ ही नहीं किये। शतपथ के वास्तविक अर्थ यह हैं कि 'पितर मनुष्यों से छिपे हुओं की भाँति रहते हैं'—छिपे हुए नहीं, अपितु छिपे हुओं को भाँति रहते हैं। यह वाक्य उन वानप्रस्थ और संन्यासी महात्माओं के लिए है जो ज्ञान से रक्षा करने के कारण पितर कहाते हैं और वनों, जंगलों, पर्वतों आदि के एकान्त स्थानों में रहते हैं जिनके दर्शन कभी-कभी होते हैं। यदि यह वाक्य पौराणिक सूक्ष्म, कल्पित पितरों के लिए होता तो इसमें 'इव' लिखने की आवश्यकता न थी। और न्याय के पाठ का यह अर्थ नहीं है कि लोकान्तर में केवल अग्नि, जल तथा वायु के शरीर होते हैं, अपितु उसका यह अर्थ है कि लोकान्तर में वायु, जल, अग्नितत्त्व-प्रधान शरीर होते हैं जैसे हमारे शरीर पृथिवी के हैं। इसके यह अर्थ नहीं कि हमारे शरीर केवल पृथिवी के ही हैं और उनमें अग्नि, जल, वायु, का सर्वथा अभाव है, अपितु इसके यह अर्थ हैं कि हमारे शरीरों में पृथिवीतत्त्व प्रधान है। वैसे ही पक्षियों के शरीरों में वायुतत्त्व प्रधान तथा जलचरों के शरीरों में जलतत्त्व प्रधान तथा गर्म देश के रहनेवाले जानवरों के शरीर में अग्नितत्त्व प्रधान है, दूसरे तत्त्व भी गौणरूप से विद्यमान हैं। केवल एक ही तत्त्व से किसी प्राणी का भी शरीर बनना असम्भव है, क्योंकि एक तत्त्व के शरीर में एक ही ज्ञानेन्द्रिय हो सकेगी किन्तु पितरों के शरीर में आप पाँचों ज्ञान-इन्द्रियाँ मानते हैं, फिर उनका शरीर एक ही तत्त्व का कैसे? भला! यदि पितरों के शरीर अग्नि, वायु या जल के ही बने हुए हैं तो वे पार्थिव अन्न को कैसे ग्रहण कर सकते हैं, अतः न पितर कोई योनि है और न ही इस प्रकार के कोई शरीर हैं, अपितु यह पौराणिक कल्पना मिथ्या ही है। आप तो कहते हैं पितर नज़र नहीं आते। महाभारत में जरत्कारू ने अपने पितर यायावर गढ़े में उलटे लटकते हुए देखे। (आदि० प० १३)। और आपका गरुड़पुराण कहता है कि पितर सीता को नज़र आये, जैसाकि—

गरुत्मञ्छृणु वक्ष्यामि यथा दृष्टास्तु सीतया। पितरो विप्रदेहे वै श्वशुराद्यास्त्रयः क्वचित्॥ ३२॥
पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाग्रे तु राघव। सर्वाभरणसंयुक्तो द्वौ चान्यौ न तथाविधौ॥ ४४॥
स्वहस्तेन कथं देयं राज्ञे वा भोजनं मया॥ ४६॥
तृणपात्रे कथं तस्मै अन्नं दातुं हि शक्नुयाम्॥ ४७॥
अपकृष्टास्मि तेनाहं त्रपया रघुनन्दन॥ ४८॥ —गरुड० प्रेत अ० १०

भाषार्थ—हे गरुड़! सुन, मैं तुझसे कहता हूँ कि जैसे सीता ने कहीं ब्राह्मणों के शरीर में श्वसुर आदि तीन पितर देखे॥ ३२॥ सीता ने कहा—'हे राम! मैंने ब्राह्मण के आगे आपके पिता को देखा जो सारे गहनों से सज्जित थे तथा वैसे ही दो और देखे॥ ४४॥ मैं अपने हाथ से राजा को भोजन कैसे देती?॥ ४६॥ मैं तृण के पात्र में कैसे उनको अन्न दे सकती थी?॥ ४७॥ हे राम! इस कारण मैं शरम से भागकर छिप गई थी॥ ४८॥

कहिए महाराज! आप सच्चे हैं वा महाभारत, गरुडपुराण और सीता महारानी सच्ची हैं? निश्चय जानिए, आपका तथा महाभारत और गरुडपुराण दोनों ही का लेख वेदविरुद्ध तथा मिथ्या है।

(४१९) प्रश्न—इनसे भिन्न जो पितर अन्य योनियों में गये हैं, उनके लिए स्वधा देकर उस स्वधा को ईश्वर से पितरों को पहुँचा देने की प्रार्थना की जाती है। —पृ० २८८, पं० १०

उत्तर—कर्मों का फल कर्त्ता को मिलता है। अन्य के कर्मों का फल अन्य को नहीं मिलता और न ही किया हुआ कर्म फल भोगे बिना छूटता है और न ही परलोक में कोई किसी की सहायता कर सकता है। यह ईश्वर का अटल नियम है, जिसकी वेद, शास्त्र, इतिहास पुष्टि करते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः॥ १॥
अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते॥ ९॥ —यजुः० ४०

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, इस प्रकार से तुझ नर में बुरे कर्मों का लेप न होगा। इसके बिना और कोई रास्ता नहीं है॥ २॥ जो लोग आत्महत्या करते हैं वे लोग जीते हुए भी दुःख पाते हैं और मरने पर भी ऐसे जन्मों को प्राप्त होते हैं जो अत्यन्त अज्ञानमय हैं॥ ३॥ त्याग भाव से कर्मों का फल भोगो॥ १॥ जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं वे नरक में जाते हैं॥ ९॥

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि कर्मों का फल कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २३९॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते। एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ २४०॥
—मनु० ४

परलोक में माता, पिता, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी कोई सहायता नहीं कर सकता, केवल धर्म ही सहायता करता है॥ २३९॥ जीव अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही मरता है। अकेला ही पुण्यफल भोगता है और अकेला ही पापफल भोगता है॥ २४०॥

यहाँ पर मानवधर्मशास्त्र भी इसकी पुष्टि करता है कि कर्मों का फल कर्त्ता को ही मिलता है।

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति। दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत्॥ १५॥
—वाल्मी० अयो० स० १०८

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्। मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते॥ १५॥

—वाल्मी० अ० १०९

भाषार्थ—यदि यहाँ दूसरे का खाया हुआ दूसरे के शरीर में पहुँच जाता है तो प्रदेश गये हुओं का श्राद्ध करना चाहिए ताकि उसको रास्ते में भोजन न करना पड़े॥ १५॥ एक ही संसार का पालन करता है, एक ही कुल का पालन करता है, अकेला ही नरक में डूबता है और अकेला ही स्वर्ग में जाता है॥ १५॥

रामायण से भी सिद्ध है कि किसी का किया किसी को नहीं मिलता, कर्म का फल कर्त्ता को ही मिलता है।

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा। मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः॥ ३८॥
यत्करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम्। तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह॥ ४१॥

—महा० शान्ति० अ० १५३

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम्। तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते॥ १५॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥ १६॥

—महा० शान्ति० अ० १८१

एक एव चरेद्धर्म्मं नास्ति धर्मे सहायता। केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति॥ ३२॥

—महा० शान्ति० अ० १९३

भाषार्थ—पिता के कर्म से पुत्र तथा पुत्र के कर्म से पिता नहीं, अपितु अपने किये पुण्य-पापों से बँधे हुए इस मार्ग से जाते हैं॥ ३८॥ जो शुभ कर्म करता है अथवा पापकर्म करता है उनको करनेवाला ही भोगता है। इसमें रिश्तेदारों का क्या है?॥ ४१॥ बालक, जवान, बूढ़ा जो भी शुभ-अशुभ कर्म करता है उस-उस अवस्था में उसके फल को भोगता है॥ १५॥ जैसे हज़ारों गौवों में से बछड़ा अपनी माता को ढूँढ लेता है, वैसे ही पूर्व किया हुआ कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है॥ १६॥ अकेला ही धर्म का आचरण करे, क्योंकि धर्म में सहायता नहीं है। केवल विधि का आश्रय लेकर सहायक क्या करेगा?॥ ३२॥

इत्यादि महाभारत भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करता है।

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्॥ ५॥ —वैशेषिक० ६।१।५

भाषार्थ—अन्य आत्मा के गुणों का अन्य आत्मा में कारण न होने से, एक आत्मा के अनुष्ठान किये हुए कर्म का फल दूसरे आत्मा को नहीं मिलना चाहिए, किन्तु कर्म का फल कर्त्ता को मिलना चाहिए।

इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि कर्त्ता को कर्म का फल न मिलने से कृतहानि तथा अकर्त्ता को कर्म का फल मिलने से अकृताभ्यागम दोष आता है, अतः अन्य योनियों में गये हुए जीवों को कुछ भी पहुँचाने की प्रार्थना वा यत्न ईश्वरीय नियम के विरुद्ध व्यर्थ कल्पना ही है।

आपने अभी तक कोई ऐसा वेदमन्त्र पेश नहीं किया जिससे यह सिद्ध हो सके कि ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतपितरों को मिलता है। आपकी वेदविरुद्ध कल्पना से तो पौराणिक पितरों पर एक और विपत्ति आ पड़ती है कि आपके बुरे कर्मों का फल भी पितरों को भुगतना पड़ता है, जैसेकि—

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः। ये हन्यात् पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नयुः॥

—महा० शान्ति० अ० ८५ श० २७

श्राद्धं भुक्त्वा त्वधीयीत वृषलीतल्पगश्च यः। पुरीषे तस्य ते मासं पितरस्तस्य शेरते॥ १३॥

ज्ञानपूर्वं तु ये तेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ॥ पुरीषं भुञ्जते तस्य पितरः प्रेत्य निश्चयः ॥ १७ ॥

—महा० अनु० अ० ९०

श्राद्धं दत्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत्। पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते ॥ २४ ॥

—महा० अनु० अ० १२५

भाषार्थ—क्षत्रियधर्म पर चलनेवाला राजा यदि ठीक-ठीक बोलनेवाले दूत को मार दे तो उस राजा के पितरों को गर्भहत्या का दोष लगता है ॥ २७ ॥ श्राद्ध का भोजन करके यदि कोई वेद पढ़े या शूद्रा से समागम करे तो उसके पाखाने में उसके पितर एक मास शयन करेंगे ॥ १३ ॥ जो मूर्ख ज्ञानपूर्वक जुआरी, गर्भघातक, क्षयरोगी, पशुपालक, अपढ़, ग्रामदूत, सूदखोर, नचार, रागी, दुकानदार, पागल, शराब बेचनेवाला, समुद्रयात्रा करनेवाला, राजा का नौकर, चोर, कारीगर, ज्योतिषी, पुजारी, खेती करनेवाला इत्यादि ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन कराता है, परलोक में उसके पितर निश्चय से पाखाना खाते हैं ॥ १७ ॥ जो श्राद्ध देकर वा खाकर स्त्री-गमन करता है, उसके पितर उस महीने उसके वीर्य में निवास करते हैं ॥ २४ ॥ [नचार=नृतक, गवैया। —सं०]

अतः यही वैदिक सिद्धान्त ठीक है कि कर्म का फल कर्त्ता को ही मिलता है, अन्य को नहीं।

(४२०) प्रश्न—**'ये चेह पितरः'** इत्यादि यजुः० [१९ । ६७] इस मन्त्र में ईश्वर से जानने, न जाननेवाले पितरों को स्वधा पहुँचाने की प्रार्थना है। —पृ० २८८, पं० १२

उत्तर—कहिए महाराज! आपके अर्थ के अनुसार भी इसमें ब्राह्मणों द्वारा पितरों को तृप्त करने का वर्णन नहीं है, अपितु अग्नि वा ईश्वर द्वारा ही स्वधा पहुँचाने का वर्णन है और 'इह' के अर्थ 'शरीर धारण करके इस लोक में आये हुए', मन्त्र के किन पदों का अर्थ है? क्या आप किन्हीं मृत पितरों को जानते भी हैं कि वे कहाँ हैं? यदि नहीं जानते तो मन्त्र में 'जिनको हम जानते हैं' ये वाक्य जीवित पितरों के लिए ही सार्थक हो सकते हैं, मृतकों के लिए नहीं और आपका किया हुआ अर्थ ठीक नहीं है। इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२ उ च न प्रविद्म।

त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं जुषस्व ॥ —यजुः० १९ । ६७

भाषार्थ—हे नवीन तीक्ष्ण बुद्धिवाले विद्वन्! जो यहाँ ही पिता आदि ज्ञानी लोग हैं और जो यहाँ नहीं हैं और जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, उन यावत् पितरों को आप जानते हैं और वे आपको भी जानते हैं, उनके सेवारूप, पुण्यजनक, सत्काररूप व्यवहार को अन्नादि से सेवन करो ॥ ६७ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जो प्रत्यक्ष वा जो अप्रत्यक्ष विद्वान्, अध्यापक और उपदेशक हैं उन सबको बुला अन्नादि से सदा सत्कार करो, जिससे आप भी सर्वसत्कारयुक्त होवो ॥ ६७ ॥

स्वधा शब्द निरुक्त अ० २ खं० २४ में जल के नामों में तथा निरुक्त० अ० ३ खं० ७ में अन्न के नामों में पढ़ा गया है, अतः इस मन्त्र से जीवित पितरों का अन्न-जल से तृप्त करना ही सिद्ध होता है, मृतकों का नहीं।

श्रीमान्‌जी! आपके यहाँ तो श्राद्ध को नित्यकर्म लिखा है—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥

—मनु० ३ । ८२

भाषार्थ—पितरों को प्रसन्न करने के लिए अन्नादि, उदक, दूध, मूल, फल आदि से प्रतिदिन श्राद्ध करें ॥ ८२ ॥

फिर आप केवल आश्विन के पन्द्रह दिनों में और उन दिनों में से भी एक पितर के लिए एक दिन ही श्राद्ध करते हैं। भला! वर्षभर में एक दिन के श्राद्ध से पितरों की क्या सन्तुष्टि हो सकती है। हाँ, आपके यहाँ दीर्घकाल तक सन्तुष्टि करने के उपाय तो लिखे हैं, जैसेकि—

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैस्तथा। दत्तेन मासं प्रीयन्ते श्राद्धेन पितरो नृप॥ ३॥
द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य च। त्रीन् मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह॥ ५॥
आजेन मासान् प्रीयन्ते पञ्चैव पितरो नृप। वराहेण तु षन्मासान् सप्त वै शाकुनेन तु॥ ६॥
मासानष्टौ पार्षतेन रौरवेन नवैव तु। गवयस्य तु मांसेन तृप्तिःस्याद्दशमासिकी॥ ७॥
मासानेकादश प्रीतिः पितॄणां माहिषेण तु। गव्येन दत्ते श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते॥ ८॥
यथा गव्यं तथा युक्तं पायसं सर्पिषा सह। वाध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी॥ ९॥
आनन्त्याय भवेद्दत्तं खड्गमांसं पितृक्षये। कालशाकं च लौहं चाप्यानन्त्यं छाग उच्यते॥ १०॥

—[श्लोक ५-१० को गीताप्रे० संस्करण में से निकाल दिया गया है।—सं०]

—महा० अनु० अ० ८८

एवमुक्ताश्च ते सर्वे प्रोक्षयित्वा च गां तदा। पितृभ्यः कल्पयित्वा तु ह्युपायुञ्जत भारत॥ १९॥
विप्रयोनौ तु यन्मोहान्मिथ्यापचरितं गुरौ। तिर्य्यग्योनौ तथा जन्म श्राद्धाज्ज्ञानं च लेभिरे॥ ३५॥
पितृप्रसादाद्युष्माभिः सम्प्राप्तं सुकृतं भवेत्। गां प्रोक्षयित्वा धर्मेण पितृभ्यश्चोपकल्पिताः॥ ५०॥

—शिव० उमा० अ० ४१

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्॥ ११२॥
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ ११३॥

—ब्रह्मवै० खं० ४ अ० ११५

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान् श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥ ५६॥
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम्। तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा॥ ५७॥

—वाल्मी० अरण्य० स० ११

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांस नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥

—मनु० ५। ३५

भाषार्थ—तिल, चावल, जौ, उर्द, जल, मूल, फल, श्राद्ध में देने से हे राजन्! पितर एक मास तृप्त रहते हैं॥ ३॥ और मछलियों के मांस के देने से पितरगण की तृप्ति दो मास होती है। भेड़ का मांस देने से तीन मास तथा खरगोश के मांस से चार मास॥ ५॥ और बकरे के मांस से पितर पाँच मास तृप्त होते हैं। सुअर के मांस से छह मास तथा पक्षियों के मांस से सात मास तृप्त होते हैं॥ ६॥ पृषत् के मांस से आठ महीने, रुरु के मांस से नौ महीने पितरों की तृप्ति होती है, और नील गाय के मांस से दश महीने पितरों की तृप्ति होती है॥ ७॥ भैंसे के मांस से ग्यारह महीने पितरों की तृप्ति होती है। गौ का मांस देने से पितरों की बारह महीने तृप्ति होती है॥ ८॥ जैसे—गौ के मांस से वैसे ही खीर में घी मिलाकर देने से बारह महीने तृप्ति रहती है। वाध्रीणस के मांस से बारह बरस पितरों की तृप्ति होती हैं॥ ९॥ खड्ग=गैंडे के मांस से पितरों की अनन्त काल तक तृप्ति होती है। कालशाक तथा लाल बकरे के मांस से भी अनन्त काल तक तृप्ति होती है॥ १०॥ ऐसा कहने पर उन सबने तब गौ का प्रोक्षण कर पितरों के निमित्त कल्पना करके उस गौ को मारकर खा लिया॥ १९॥ ब्राह्मण के जन्म में उन्होंने गुरु से झूठ बोला इससे वे पशु की योनि में गये तथा श्राद्ध के पुण्य से ज्ञान की प्राप्ति की॥ ३५॥ पितरों की कृपा से तुमको पुण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि तुमने धर्म से गौ का प्रोक्षण करके पितरों के लिए अर्पण की थी॥ ५०॥

अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध में मांस, देवर से सन्तान-उत्पत्ति—ये पाँच कलियुग में वर्जित हैं॥ ११२-११३॥ इलविल ब्राह्मणों का रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ ब्राह्मणों को श्राद्ध का निमन्त्रण देता था॥ ५६॥ तब अपने भाई वातापि को जो मेढा बना होता था, मारकर उसका मांस बनाकर श्राद्ध की विधि से उन ब्राह्मणों को खिला देता था॥ ५६॥

न्यायपूर्वक श्राद्ध आदि में प्रयुक्त किये हुए मांस को जो नहीं खाता वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशु की योनि में जाता है॥ ३५॥

आप इस विधि के अनुसार आचरण करके पितरों की तृप्ति क्यों नहीं करते? हाँ, प्रतीत होता है कि आपको भी यह बात समझ में आ गई है कि यह मृतक पितरों के बहाने से मांसाहारी लोगों की मांस खाने की कल्पना ही है। इसी बात को जानकर किसी ने लिखा है कि—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥

—[गीता० सं० में अ० २६५।—सं०] महा० शान्ति० अ० २६४।९

भाषार्थ—शराब, मछली, आसव, मांस आदि वस्तुएँ धूर्त लोगों ने यज्ञ में शामिल कर दी हैं, यह वेदों में लिखा हुआ नहीं है॥ ९॥

निश्चय जानिए, यह सारा ही पाखण्ड और पाप मृतकश्राद्ध की कल्पना का फल है। आशा है कि आप इसे त्यागकर वैदिक मत को स्वीकार करेंगे।

(४२१) प्रश्न—'ये अग्निष्वात्ता' इत्यादि [यजुः० १९।६०] जिनका अग्नि ने स्वाद लिया, जिनका नहीं लिया वे पितर स्वर्ग में स्वधा से प्रसन्न होते हैं **'अग्निस्वदिता अग्निष्वात्ताः'** जलाते हुए अग्नि ने जिनका स्वाद ले-लिया उनका नाम है **'अग्निष्वात्ताः'**, **'यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः'** [शत० कां० २] जिनका भस्म करते समय अग्नि ने स्वाद लिया है, वे ही पितर **'अग्निष्वात्त'** हैं।

—पृ० २८८, पं० १७

उत्तर—'हम प्रश्न नं० ४१६ के उत्तर में सिद्ध कर आये हैं कि अग्निष्वात्ता पितर अग्नि में जले हुओं का नाम नहीं है, क्योंकि अग्नि में शरीर जलता है जीव नहीं जल सकता और जले हुए शरीर का यज्ञ में आकर भोजन करना तथा उपदेश करना असम्भव है। पौराणिकों के मतानुसार शिवपुराण में ब्रह्मा के पसीने से तथा मनु में मरीचि ऋषि से अग्निष्वात्त पितरों की उत्पत्ति है और वे देवताओं के ही पितर हैं, मनुष्यों के नहीं। यदि अग्नि में जले हुओं का नाम ही अग्निष्वात्ता हो तो फिर सभी जले हुओं का नाम अग्निष्वात्ता होना चाहिए, वे सभी मनुष्यों के पितर होने चाहिएँ, केवल देवताओं के क्यों? अतः आपका कथन तो आपके ही ग्रन्थों से असत्य सिद्ध होता है। और आपने जो शतपथ का प्रमाण दिया है उसका ठीक पता नहीं बतलाया। प्रतीत होता है कि आपने मनघड़न्त पाठ शतपथ के नाम से रख दिया है, अतः आपकी व्युत्पत्ति तथा शतपथ दोनों ही वेदविरुद्ध, युक्तिशून्य तथा आपके अपने ही ग्रन्थों के विरुद्ध है। **'अग्निष्वात्ताः'** की व्युत्पत्ति इस प्रकार से ठीक और युक्तियुक्त है कि **'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों वे अग्निष्वात्त अथवा **'अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि नामक परमेश्वर को कल्याणार्थ सम्यक् ग्रहण करते हैं वे अग्निष्वात्त अथवा **'होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निः सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः'** होम करने के लिए और शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि का जिन्होंने अच्छे प्रकार ग्रहण किया है, वे अग्निष्वात्त पितर कहाते हैं। यही अर्थ वेदानुकूल, युक्तियुक्त तथा ग्रन्थसम्मत है, जैसाकि—

ताँस्तु शूरान् महेष्वासाँस्तदा निवसतो वने। अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा।

—महा० वन० अ० ५०।५

भाषार्थ—उन शूरवीर बहादुर पाण्डवों के वन में रहते हुए अग्निसहित तथा अग्निरहित ब्राह्मण पीछे-पीछे चलते थे॥५॥

इन्हीं का नाम अग्निष्वात्त पितर कहा जाता था। अब आप मन्त्र के वास्तविकार्थ को पढ़ने की कृपा करें। आपने आधा मन्त्र दिया है, जिससे भ्रम होना सम्भव है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वङ्कल्पयाति॥ —यजुः० १९।६०

भाषार्थ—जो पितर अग्निविद्या और अग्नि से भिन्न जलादि की विद्या के जाननेवाले तथा जो दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं उनके हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि हे परमेश्वर! आप अपनी कृपा से उनके शरीर को सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिए कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे॥६०॥

इस मन्त्र में पितरों के शरीर को रोगरहित रखने की प्रार्थना से सिद्ध है कि पितर जीवितों का ही नाम है, मृतकों का नहीं।

श्रीमान्‌जी! हमें तो यह बड़ी चिन्ता है कि यह मृतकश्राद्ध आपके मतानुसार जैसे पितरों के लिए हानिकारक हैं, वैसे ही श्राद्धभोक्ता तथा कर्त्ता के लिए भी हानिकारक है, जैसेकि—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति। मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम्॥७॥

—[परा० अ० ७, श्लोक ७।—सं०] पराशरस्मृति अ० ७, आपका पुस्तक पृ० ३३५

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्। तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान्॥१३३॥
सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्। नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ॥१८०॥
इतरेषु त्वापांक्तेषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु। मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥१८२॥

—मनु० ३

भाषार्थ—बारहवाँ वर्ष प्राप्त होने पर जो कन्या का विवाह नहीं करता उस लड़की के रज को प्रत्येक मास में उसके पितर स्वयं पीते हैं॥७॥

कहिए महाराज! यह भी क्या स्वधारस है जिसे पितर पीते हैं? इसमें पितरों का क्या दोष है, बताने की कृपा करें।

हव्य और कव्य में जितने ग्रासों को वेद का न जाननेवाला खाता है, मरने के पश्चात् कर्त्ता और भोक्ता दोनों उतने ही तपे हुए लोहे के शूल तथा गोलों को निगलता है॥१३३॥

कहिए महाराज! यह क्यों आप अनपढ़ ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन करवाकर अपने तथा उनके लिए काँटे बो रहे हैं? अब भी होश सँभालो!

शराब बेचनेवाले को श्राद्ध में भोजन कराने से विष्ठा, वैद्य को कराने से पीप तथा खून कर्ता भोक्ता और पितरों को मिलता है। पुजारी का खिलाया नष्ट हो जाता है तथा सूदखोर को खिलाया हुआ अप्रतिष्ठा का कारण होता है॥१८०॥

१. चोर, २. पातकी, ३. नामर्द, ४. नास्तिक, ५. ब्रह्मचारी, ६. वेदविद्यारहित, ७. श्वेतचर्मवाला, ८. जुआरी, ९. बहुत यज्ञ करानेवाला, १०. वैद्य, ११. पुजारी, १२. मांस बेचनेवाला, १३. दुकानदार, १४. ग्राम तथा राजा का दूत, १५. भ्रष्ट नखोंवाला, १६. काले दाँतोंवाला, १७. गुरुविरोधी, १८. अग्निहोत्र न करनेवाला, १९. सूदखोर, २०. क्षयरोगी, २१. पशुपालक , २२. परिवेत्ता, २३. पंचयज्ञरहित, २४. ब्राह्मणविरोधी, २५. परिवित्ति, २६. गणों का याजक, २७.

नचार=नृतक, २८. खण्डित ब्रह्मचर्य, २९. शूद्रापति, ३०. पौनर्भव, ३१. काणा ३२. उपपतियुक्त, ३३. नौकरी लेकर पढ़ानेवाला, ३४. नौकर अध्यापक से पढ़नेवाला, ३५. शूद्रशिष्य, ३६. शूद्रगुरु, ३७. बदज़बान, ३८. कुण्ड, ३९. गोलक, ४०. माता-पिता-गुरु से त्यागा हुआ, ४१. पतित सम्बन्धी, ४२. घर जलानेवाला, ४३. मरण के हेतु धनदाता, ४४. कुण्ड का अन्न खानेवाला, ४५. शराब बेचनेवाला, ४६. समुद्रयात्री, ४७. स्तुति करनेवाला, ४८. तेल निकालनेवाला, ४९. झूठी गवाही देनेवाला, ५०. पिता से विवाद करनेवाला, ५१. जुआ खिलानेवाला, ५२. शराबी, ५३. कोढ़ी, ५४. शापदाता, ५५. फरेबी, ५६. रस बेचनेवाला, ५७. धनुषबाण का बनानेवाला, ५८. अग्रेदिधिषु पति, ५९. मित्रद्रोही, ६०. द्यूतवृत्तिवाला, ६१. पुत्र का आचार्य, ६२. मृगी रोगी, ६३. गण्डमालारोगी, ६४. श्वेतकुष्ठी, ६५. चुग़लखोर, ६६. पागल, ६७. अन्धा, ६८. वेदनिन्दक, ६९. हाथी, बैल, घोड़े का दमन करनेवाला, ७०. नक्षत्रों से कमानेवाला, ७१. पक्षीपालक, ७२. युद्ध का आचार्य, ७३. स्रोतों का भेदक, ७४. स्रोतों को रोकनेवाला, ७५. गृहप्रवेश जीवी, ७६. दूत, ७७. वृक्षारोपक, ७८. कुत्ते से खेलनेवाला, ७९. बाजवृत्ति, ८०. कन्यादूषक, ८१. हिंसक, ८२. शूद्रवृत्ति, ८३. गणयाजक, ८४. आचारहीन, धर्मभीरु, ८५. नित्य याचक, ८६. खेती करनेवाला, ८७. फीलपा रोगी, ८८. महात्माओं से निन्दित, ८९. गडरिया, ९०. भैंसपोषक, ९१. पुनर्भूपति, ९२. प्रेतजीवी, ९३. इन पंक्ति बहिष्कृत, दुष्ट ब्राह्मणों को खिलाया हुआ अन्न दाता, भोक्ता तथा पितरों के लिए चरबी, खून, मांस, मज्जा, हड्डी बन जाता है, ऐसा बुद्धिमानों का कहना है।

—मनु० ३।१३३-१८२

देखिए श्रीमान्‌जी! आपके मतानुसार भी आजकल श्राद्ध करने में कर्त्ता, भोक्ता तथा पितरों को दु:खसागर में डूबना पड़ता है, क्योंकि श्राद्धों में भोजन करनेवाले प्रायः उपर्युक्त ब्राह्मण ही मिलते हैं, अतः हर प्रकार से मृतकश्राद्ध त्याज्य ही है।

(४२२) प्रश्न—'ये अग्निदग्धा' इत्यादि [अथर्व० १८।२।३५] यहाँ अग्निष्वात्ता के स्थान में अग्निदग्धा पितर स्वर्ग में स्वधा से प्रसन्न होते हैं, लिखा है।—पृ० २८९, पं० ७

उत्तर—यहाँ पर भी अग्निदग्ध नाम अग्निविद्या में चतुर पितरों का है, क्योंकि अग्नि में शरीर ही जलते हैं, जीव नहीं और जले हुए शरीरों का स्वधा, अर्थात् अन्न-जल से प्रसन्न होना भी असम्भव है। फिर मनु में लिखा है कि—

अग्निदग्धाननग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा। अग्निष्वात्ताँश्च सौम्याँश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥

—मनु० ३।१९९

भाषार्थ—अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्ता और सौम्य—ये सब ब्राह्मणों के ही पितर हैं॥ १९९॥

यदि अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध एक ही बात है तो श्लोक में इनका भिन्न-भिन्न पाठ क्यों आया?

यदि जले हुओं का नाम ही अग्निदग्ध और अग्निष्वात्त है तो वे केवल ब्राह्मणों के ही पितर क्यों हैं, सबके क्यों नहीं? श्लोक १९५ में सौम्यों को साध्यों के पितर तथा अग्निष्वात्तों को देवों के पितर लिखा है, किन्तु इस श्लोक में दोनों को ब्राह्मणों का ही पितर लिखा है। क्या ये परस्पर विरोध है या साध्य और देव ब्राह्मणों का ही नाम है?

श्लोक० १९५ में अग्निष्वात्त, मरीचि ऋषि के पुत्रों का नाम बताया है तो क्या मरीचि के पुत्र जले हुए पैदा होते थे और उनका आम लोगों से क्या सम्बन्ध है?

यदि वे ब्राह्मणों के ही पितर हैं तो दूसरे लोग इनका श्राद्ध क्यों करें?

उपर्युक्त हेतुओं से सिद्ध है कि अग्निदग्ध नाम अग्निविद्या में चतुर पितरों का है, जले हुओं

का नहीं, जैसाकि—

ब्रह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥

—महा० वन० अ० २४

भाषार्थ—अग्निहोत्र से युक्त तथा अग्नि से रहित ब्राह्मणों ने वहाँ वन में युधिष्ठिर को घेर लिया ॥ १४-१५ ॥

बस, इन्हीं का नाम अग्निदग्ध है। आपने मन्त्र आधा दिया है, अतः भ्रमजनक है, पूरा मन्त्र तथा उसका ठीक अर्थ इस प्रकार है—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

—अथर्व० १८। २। ३५

भाषार्थ—जो अग्निहोत्र वा शिल्पविद्या-सम्बन्धी अग्निविद्या में चतुर तथा जो अग्नि से भिन्न जलादि की विद्या में चतुर और विज्ञानी लोग दिव, अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, हे सर्वज्ञ परमात्मन्! यदि तू उनको अपनावे तो वे अन्न, जल, आनन्द को प्राप्त होते हुए इस यज्ञ का सेवन करें ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणों के पेट को लैटरबक्स बनाने का तो इस मन्त्र में संकेतमात्र भी नहीं है, अतः सिद्ध है कि जो अन्न, बल तथा ज्ञान से हमारी रक्षा करनेवाले ज्ञानी, महात्मा, योद्धा लोग हैं उन्हीं का नाम पितर है तथा उन्हें श्रद्धापूर्वक भोजन कराने का नाम श्राद्ध तथा तृप्त करने का नाम तर्पण है।

मृतकश्राद्ध की कल्पना वेदविरुद्ध, नवीनकल्पित है, जैसाकि—

निमि का पुत्र श्रीमान् मर गया तो निमि ने शोक से व्याकुल होकर अपने पुत्र का श्राद्ध किया और फिर पछताने लगा कि—

तत् कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः। पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत् ॥ १६ ॥
अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्। कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ १७ ॥

—महा० अनु० अ० ९१

भाषार्थ—वह श्रेष्ठ मुनि स्वयं धर्मविरुद्ध यह काम करके पीछे से पश्चात्ताप से तपायमान हुआ चिन्ता करने लगा कि ॥ १६ ॥ मैंने पूर्वमुनियों से न किया हुआ यह क्या काम कर लिया? कहीं ऐसा न हो कि ब्राह्मण लोग मुझे शाप से भस्म कर दें ॥ १७ ॥

मुनि का मृतकश्राद्ध करके पछताना स्पष्ट सिद्ध करता है कि मृतकश्राद्ध पीछे की वेदविरुद्ध, मिथ्या कल्पना है।

अतः **'ये निखाता'**, **'आयन्तु'**, **'ये चेह पितरः'**, **'ये अग्निष्वात्ताः'** एवं **'ये अग्निदग्धा'**—इन पाँचों मन्त्रों से जीवित पितरों का श्राद्ध ही सिद्ध होता है, क्योंकि मरने के पीछे न तो जीव गाड़े जाते हैं और न पड़े रह जाते हैं, न फूँके जाते हैं और न जीवों को बुलाकर भोजन कराया जा सकता है। रहा शरीर, वह जड़ होने से न भोजन कर सकता है, न आ सकता है, न उपदेश और रक्षा कर सकता है, अतः मन्त्रों का हमारा किया हुआ अर्थ ही ठीक है। और जीवित पितरों का हमारे यज्ञ में आना, भोजन करना, उपदेश करना तथा रक्षा करना सम्भव हो सकता है, अतः जीवित पितरों का श्राद्धतर्पण ही वेदानुकूल तथा युक्तियुक्त है, मृतकों का नहीं।

(४२३) प्रश्न— स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥ —अथर्व० १८।४।७८ से ८०

इन मन्त्रों में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में रहनेवाले पितरों के लिए स्वधा देने का वर्णन है। जीवित पितर अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में रह ही नहीं सकते। इन लोकों में तो शरीर छोड़ने पर ही प्राणी जाते है। इस कारण श्राद्ध इन तीन मन्त्रों से भी मृतक पितरों का ही सिद्ध होता है। **'पृथिवीषद्भ्यः'** से भी मृतक ही लिये जावेंगे (१) मृतकों के पृथिवी पर जन्म धारने, (२) अन्तरिक्ष तथा स्वर्गवाले पितरों के साहचर्य, (३) स्वधा लेकर अग्नि में छोड़े जाने से।

—पृ० २८९, पं० १८

उत्तर—आप मानते हैं कि शरीर छोड़ने पर प्राणी अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में जाते हैं तो शरीर तो रह गये पृथिवी पर और जीव चले गये अन्तरिक्ष और स्वर्ग में, जीवों के साथ माता-पिता आदि सम्बन्ध है नहीं, क्योंकि जीव अनुत्पन्न अनादि है, जैसेकि—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —गीता० २।२०
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम्॥ ८५॥
अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्। न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम॥ ८६॥
न तेषां भवता कार्यं न कार्यन्तव तैरपि। स्वकृतैस्तानि जातानि भवाँश्चैव गमिष्यति॥ ८७॥

—महा० शान्ति० अ० ३२१

भाषार्थ—यह जीव न पैदा होता है, न कभी मरता है और 'न यह कभी होकर फिर नहीं होगा' ऐसा भी नहीं है। यह अज, नित्य, सदा रहनेवाला तथा पुराना है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता॥ २०॥ हज़ारों माता-पिता, सैकड़ों पुत्र-स्त्री होंगे तथा हो चुके—वे किसके और हम किसके, अर्थात् कोई किसी का नहीं॥ ८५॥ मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं है, न मैं अन्य किसी का हूँ। वह मुझे दिखाई नहीं देता, जिसका मैं हूँ, न वह दीखता है जो मेरा हो॥ ८६॥ न उसका आपसे काम है, न आपका उनसे काम है। अपने कर्मों से वे पैदा हुए और आप भी कर्मानुसार चले जाएँगे॥ ८७॥

फिर स्वधा किनके लिए पहुँचाई जा रही है? वह भी ब्राह्मणों के द्वारा नहीं, अपितु अग्नि के द्वारा, तथा दूसरे के किये कर्म का फल दूसरे को मिलता नहीं, जैसाकि—

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते। करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते॥ २२॥

—महा० शान्ति० अ० २९०

भाषार्थ—यह जीव दूसरे के पुण्य तथा पाप का सेवन नहीं करता; जैसा कर्म करता है वैसे ही फल को प्राप्त होता है॥ २१॥

अतः अपकी मृतक पितरों को स्वधा पहुँचाने की सारी कल्पना ही निर्मूल तथा मिथ्या है। ये मन्त्र भी जीवित पितरों को ही अन्नादि प्रदान करने की आज्ञा देते हैं और इनके वास्तविक अर्थ ये हैं—

पृथिवी पर विराजनेवाले पालक माता-पितादि पूजनीय पुरुषों को अन्नादि पुष्टिकारक पदार्थ प्राप्त हों॥ ७८॥

(२) अन्तरिक्ष में विराजनेवाले, अर्थात् विमानों द्वारा आकाश में घूमनेवाले पालक, रक्षक पुरुषों को अन्नादि पदार्थ हों॥ ७९॥

(३) मोक्षमार्ग में चलनेवाले ज्ञानी पूज्य गुरुजनों को अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों॥ ८०॥

ये तीनों मन्त्र जीवित पितरों की सेवा की ही आज्ञा देते हैं (१) स्वधा के अग्नि में छोड़ने का मन्त्रों में वर्णन न होने से। (२) अन्तरिक्ष में विमानों द्वारा तथा दिवि अर्थात् मोक्षमार्ग में जीवित पितरों के वर्त्तमान होने से। (३) जीवों के साथ पितृत्व-सम्बन्ध न होने तथा मृतशरीरों के अन्नादि ग्रहण न करने से।

श्रीमान्‌जी! आपके ग्रन्थों के अनुसार भी दूसरी योनि में गये पितरों को अन्न नहीं मिलता। 'ऋषिपञ्चमी' की कथा में वर्णन है कि विदर्भ देश का श्येनजित् राजर्षि राजा था। उसके राज्य में सुमित्र नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जयश्री था। वह स्त्री ऋतु-समय में बरतनों को छूती रहती थी। कुछ दिनों के पीछे वे दोनों मर गये। ऋतु-सम्पर्क-दोष से सुमित्र का बैल का जन्म तथा जयश्री का कुतिया का जन्म हुआ। सुमित्र के बेटे का नाम सुमति तथा पुत्रवधू का नाम चन्द्रावती था। वे बैल तथा कुतिया अपने बेटे के ही घर में रहते थे। एक दिन सुमति के यहाँ पिता का श्राद्ध था। सुमति बैल को लेकर खेत में हल जोतने गया। चन्द्रावती ने खीर बनाई। उसमें साँप ज़हर डाल गया। कुतिया ने देख लिया। कुतिया ने इस विचार से कि इसे खाकर ब्राह्मण मर जाएँगे, खीर में मुँह डाल दिया। चन्द्रावती ने उस कुतिया को ज़लती लकड़ी से इतना मारा कि उसकी कमर टूट गई। भोजन फिर बनाया गया। ब्राह्मणों को खिला दिया, किन्तु कुतिया को जूठन भी न दी। आधी रात को कुतिया बैल के पास गई और अपनी सारी रामकहानी सुनाई और कहा कि मैं भूख से मरी जा रही हूँ। आज जूठा टुकड़ा भी नहीं मिला। यह सुनकर बैल ने कहा कि—यह पूर्वकर्मों का फल है। देख तेरे पाप से मेरी कैसी गति हो रही है कि—

किं करोमि अशक्तोऽहं भारवाहत्वमागतः। अद्याहमात्मनः क्षेत्रे वाहितः सकलं दिनम्॥ ४०॥
मारितश्चात्मजेनाहं मुखं बद्ध्वा बुभुक्षितः। वृथा श्राद्धं कृतं तेन जाताऽद्य मम कष्टता॥ ४१॥

—भविष्य० उत्तर० अ० ७८, भविष्योत्तरपुराणोक्त ऋषिपञ्चमीकथा

भाषार्थ—मैं क्या करूँ, बेबस हूँ। मैं बोझ ढोनेवाला बैल बन गया। आज सारा दिन अपने ही खेत में हल वाहता रहा हूँ और पुत्र ने मेरा मुख बाँधकर मुझे खूब मारा। मैं भी बहुत भूखा हूँ। इसने वृथा ही श्राद्ध किया है, जिससे मुझे कष्ट हुआ है।

यही कथा हूबहू पद्मपुराण उत्तरखण्ड० ६, अ० ७८ में विद्यमान है।

इस कथा से स्पष्ट सिद्ध है कि श्राद्धों में भोजन खिलाया हुआ मृत पितरों को नहीं मिलता, अपितु ब्राह्मण ही डकार जाते हैं।

(४२४) प्रश्न—जिस मनुष्य के सन्तान न होती हो उसको सन्तान उत्पन्न करने के हेतु श्राद्ध करना लिखा है। इस श्राद्ध में तीन पिण्ड होते हैं, मध्यम पिण्ड को पत्नी खाती है। इसपर गृह्यसूत्र लिखता है कि—

आधत्त पितरो गर्भमिति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात्।

आचार्य तो **'आधत्त पितरो गर्भम्'** इस मन्त्र को पढ़े और श्राद्ध करनेवाले की पत्नी मध्यम पिण्ड का भक्षण करे। इसकी पुष्टि मनु० ३।२६२-२६३ में भी की गई है कि ऐसा करनेसे आयुवाले, यशवान्, बुद्धिमान्, धनी, सात्त्विक, धर्मात्मा पुत्र को पैदा करती है। **'आधत्त पितरो गर्भम्'** [यजुः० २।३३] इस मन्त्रवाले श्राद्ध में पितरों से यह प्रार्थना मृतक पितरों से तो कर सकते हैं, किन्तु जीवितों से नहीं कर सकते। —पृ० २९०, पं० ९

उत्तर—धन्य हो महाराज! मृतक पितरों को मांस आदि भोजन से तृप्त करते-करते अब उनसे सन्तान पैदा कराने का काम भी लेने लगे? हमें यह पता नहीं था कि मृतक पितरों की तृप्ति इस प्रकार से भी की जाती है और बात भी ठीक है, भोजन से तो क्षुधा-निवृत्ति ही हो सकती है, सब प्रकार की तृप्ति भोजनमात्र से थोड़े ही हो सकती है। क्यों साहब! यह काम जीवित पितरों

से ही क्यों न ले-लिया गया? सम्भव है मरने के पश्चात् पितर इस कार्य में अधिक निपुण हो जाते हों। कहिए महाराज! भोजन की भाँति यह काम भी पितर ब्राह्मणों द्वारा ही करते हैं या इस काम में यजमान-पत्नी का सीधा ही सम्बन्ध पितरों से हो जाता है? या महीधर की विधि-अनुसार किसी घोड़े आदि पशु को ही पितर मानकर उससे यह काम लिया जाता है? जैसाकि सन्तान के अभाव में कौसल्या के साथ ऐसा किया गया। या वह मृतक पितर ही स्वयं गर्भाधान में यजमान की सहायता करता है जैसाकि (महा० आदि० अ० १२१ श्लो० ७-७५) में व्युषिताश्व ने मरने के पश्चात् काक्षीवती में सात पुत्र स्वयं गर्भाधान करके पैदा किये। या केवल पिण्ड खाने से ही गर्भ हो जाता है। वा यजमान को फिर भी कोई विशेष यत्न करना ही पड़ता है। इस वेदविरुद्ध, अश्लील लेख को मानते हुए आपको शर्म तो नहीं आती?

श्रीमान्‌जी! यह मन्त्र गर्भाधान का नहीं है, अपितु यह मन्त्र वेदारम्भ-संस्कार का है। आपके गृह्यसूत्र तथा मनुस्मृति ने वेदविरुद्ध कल्पना करके इस मन्त्र को गर्भाधान में लगाया है। इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ —यजुः० २।३३

भाषार्थ—हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा करके उत्तम विद्या दीजिए कि जिससे वह विद्वान् होके जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे और जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा प्रयत्न आप लोग सदा कीजिए॥ ३३॥

आपको गर्भ शब्द देखकर भ्रम हुआ है, किन्तु गर्भ शब्द केवल गर्भाधान में ही नहीं आता, अपितु लाक्षणिक रूप से कई स्थानों में प्रयुक्त होता है, जैसाकि—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे॥ —यजुः० १३।४

आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ —अथर्व० ११।५।३

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ —मनु० २।१७०

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥ ६॥ —महा०उद्यो०अ० ४४

भाषार्थ—वह परमात्मा प्रकाशमान् सूर्य-चन्द्रादि का धारण करनेवाला है॥ ४॥ आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रिपर्यन्त आचार की शिक्षा कर उसके भीतर गर्भरूप विद्या-स्थापन करने के लिए उसको धारण कर उसको पूर्ण विद्वान् कर देता है। जब वह ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं॥ ३३॥ वहाँ जो इस ब्रह्मचारी का यज्ञोपवीत से चिह्नित ब्रह्मजन्म है वहाँ इसकी माता गायत्री है और पिता आचार्य है॥ १७०॥ जो इस संसार में आचार्य की योनि में प्रवेश करके गर्भ होकर ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वे यहाँ ही शास्त्रों के कर्त्ता हो जाते हैं और शरीर छोड़कर परमयोग को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

आशा है कि अब आप गर्भ शब्द को ही देखकर मृतक पितरों से गर्भ करवाने के व्यर्थ झंझट में किसी पतिव्रता देवी को डालने का वेदविरुद्ध, युक्तिशून्य, उपहासयोग्य कार्य न करेंगे।

(४२५) प्रश्न—'उदन्वती' इत्यादि [अथर्व० १८।२।४८] इस मन्त्र में पितरों के रहने

के उदन्वती, पीलू तथा प्रद्यौ तीन स्थान बताये हैं। जो पुण्यात्मा पितर हैं वे पितृ तथा स्वर्ग आदि लोकों में जाते हैं और जिनका पुण्य कुछ कम है वे याम्य गति को पहुँचकर कर्मानुसार अनेक योनियों में चले जाते हैं। जो पितर पितृलोक प्रभृति लोकों में निवास करते हैं, वेद ने उनका आवाहन लिखा है और जो पितर कर्मानुसार योनियों में गये हैं उनको ईश्वर द्वारा श्राद्धकर्म का फल उन्हीं योनियों में पहुँचता है। जब श्राद्ध में बुलाये जानेवाले पितर '**प्रद्यौ**'=तृतीय आकाश में रहते हैं और यही श्राद्ध में आकर भोजन करते हैं तो फिर जीवित पितरों का श्राद्ध कैसे माना जावेगा? —पृ० २९१, पं० ११

उत्तर—आपके लेखानुसार उदन्वती उस आकाश का नाम है जहाँ तक जल के परमाणु जा सकते हैं और पीलू उस आकाश का नाम है जहाँ तक अग्नि, वायु के परमाणु जा सकते हैं। प्रद्यौ इन दोनों से ऊपर है जहाँ पितर निवास करते हैं और वही श्राद्धों में आते हैं। कहिए श्रीमान्‌जी! जब प्रद्यौ में कोई भी परमाणु नहीं जा सकते तो पितरों के शरीर वहाँ पर किस वस्तु के हैं? यदि पितरों के शरीर हैं ही नहीं तो फिर उनका आना-जाना, खाना-पीना मिथ्या कल्पना ही हुई। आप पीछे मान आये हैं कि पितरों के शरीर अग्नि, जल, वायु के होते हैं। जब प्रद्यौ में किसी परमाणु की गति ही नहीं तो फिर शरीर कैसे? फिर आप लिखते हैं कि पुण्यात्मा पितर पितृलोक तथा स्वर्गलोक में जाते हैं, तो क्या प्रद्यौ आकाश का नाम ही पितृलोक तथा स्वर्गलोक है या ये दोनों लोक पृथक् हैं? यदि ये दोनों लोक पृथक् हैं तो आपका प्रथम लेख कि 'पितर प्रद्यौ आकाश में रहते हैं' ग़लत सिद्ध हुआ और यदि एक ही हैं तो वे लोक तथा वहाँ का सामान किस वस्तु का बना हुआ है जबकि वहाँ किसी वस्तु के परमाणु तो पहुँच ही नहीं पाते? अतः आपकी प्रथम कल्पना तो सर्वथा निर्मूल है। रही दूसरी बात कि थोड़े पुण्यवाले जन्म लेते हैं और ईश्वर श्राद्ध का फल उनको उन्हीं योनियों में पहुँचा देता है, सो श्रीमान्‌जी! क्या पितरों को वही वस्तु मिलती है जो ब्राह्मणों को खिलाई जाती है या उनकी योनियों के अनुकूल खुराक बनकर पहुँचती है? यदि कहो कि वही वस्तु पहुँचती है तो यदि पितर शेर आदि की योनि में हों और ब्राह्मणों को खिलाई गई खीर-पूरी-सब्ज़ी आदि या पितर गौ आदि की योनि में गये हों और ब्राह्मणओं को खिलाया गया हो मांस तो इन दोनों सूरतों में विपरीत भोजन से पितर भूखे ही रहेंगे। और यदि वही नहीं पहुँचता अपितु उसके फल से तदनुकूल पदार्थ मिलता है तो यह कल्पना निरर्थक हो जाती है कि हमारे पितरों को फलाँ-फलाँ वस्तु भाती थी वही वस्तु देनी चाहिए और भी लिखा है कि—

हविष्यान्नेव वै मासं पायसेन तु वत्सरम्। मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः॥ ३७॥
ऐणारौरववाराहशाशमांसैर्यथाक्रमम्। मासवृद्ध्यापि तुष्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः॥ ३८॥

—गरुड० आचार० अ० ९९

भाषार्थ—हवनयोग्य अन्न से एक मास, खीर से एक वर्ष तथा मछली, हरिण, औरभ्र पक्षी, बकरा, पार्षत, ऐणेय, रौरव, खरगोश के मांस से नम्बरवार एक-एक मास अधिक पितरों की तृप्ति होती है॥ ३७-३८॥

यदि दी हुई वस्तु नहीं मिलती, फल मिलता है तो इन वस्तुओं का विशेष विधान क्यों किया गया है और फिर गरुड में तो यह भी लिखा है कि—

न पितुः कर्मणा पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा। स्वयं कृतेन गच्छन्ति स्वयं बद्धाः स्वकर्मणा॥ २७॥

—गरुड० आचार० अ० ११३

भूतपूर्वं कृतं कर्म कर्तारमनुतिष्ठति। यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्॥ ५४॥

—गरु० आचार० अ० ११३

क्व माता क्व पिता मूढ क्व जाया क्व सुतः सुहृत्।
स्वकर्मोपार्जितं भुंक्ष्व मूर्ख याताश्चिरं पथि॥ ११५॥

—गरुड० प्रेत० अ० ५

अधिकारो यदा नास्ति यदि नास्ति च निश्चयः।
जीविते सति जीवाय दद्याच्छ्राद्धं स्वयं नरः॥ १०॥

—गरुड० प्रेत० अ० ८

आत्मनश्च शुभं कर्म कर्त्तव्यं पारलौकिकम्॥ ३४॥
विमुक्तः सर्वदुःखेभ्यो येनाञ्जो दुर्गतिं तरेत्।
भ्रातरः कस्य के पुत्राः स्त्रियोऽपि स्वार्थकोविदाः॥ ३५॥
न कार्यस्तेषु विश्रम्भः स्वकृतं भुज्यते यतः। गृहेष्वर्था निवर्तन्ते श्मशाने चैव बान्धवाः॥ ३६॥
शरीरं काष्ठमादत्ते पापं पुण्यं सह व्रजेत्। तस्मादाशु त्वया सम्यगात्मनः श्रेय इच्छता॥ ३७॥
अस्थिरेण शरीरेण कर्त्तव्यञ्चौर्ध्वदेहिकम्॥ ३८॥ —गरुड० प्रेत० अ० ९

भाषार्थ—न पिता के कर्म से पुत्र, न पुत्र के कर्म से पिता अपितु अपने किये हुए कर्मों से स्वयं बँधे हुए जाते हैं॥ २७॥ पूर्व किया कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है, जैसे हज़ारों गौवों में से बछड़ा अपनी माँ को प्राप्त होता है॥ ५४॥ हे मूढ! कहाँ माता है, कहाँ पिता है, कहाँ स्त्री-पुत्र और मित्र हैं? हे मूर्ख! परलोक यात्रा मैं जाते हुए तू ही अपने कर्मों का फल भोग॥ ११५॥ जब अधिकार न हो और यदि निश्चय भी न हो तो जीते हुए ही स्वयं मनुष्य को अपने लिए श्राद्ध कर देना चाहिए॥ १०॥ परलोक के लिए स्वयं शुभकर्म करना चाहिए, जिससे जीव सर्वदुःखों से मुक्त होकर दुर्गति को तर सके। भाई किसके हैं, पुत्र कौन हैं, स्त्रियाँ भी स्वार्थ में चतुर हैं॥ ३४-३५॥ उनमें विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य स्वयं किये कर्म को भोगता है। धन घर में ही रह जाते हैं, बन्धु लोग श्मशान में रह जाते हैं॥ ३६॥ शरीर लकड़ियों में रह जाता है, किया हुआ पाप-पुण्य ही साथ जाता है॥ ३७॥ इसलिए तुझे शीघ्रतया अपनी आत्मा के कल्याण की इच्छा से॥ ३७॥ इस अस्थिर शरीर से परलोकार्थ कर्म करने चाहिएँ॥ ३८॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि कर्मों का फल कर्त्ता को मिलता है और एक-दूसरे के कर्म का फल एक-दूसरे को नहीं मिलता, यही परमात्मा का नियम है, परमात्मा कर्मों का फल कर्म करनेवालों को देता है, एक के कर्म का फल दूसरे को नहीं देता। यदि ऐसा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए, अतः मृतक पितरों के बारे में आपकी सारी कल्पना मिथ्या है। इस मन्त्र में आकाश के तीन विभागों का वर्णन नहीं है, अपितु पृथिवी के तीन विभागों का वर्णन है। मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥

—अथर्व० १८।२।४८

भाषार्थ—सबसे नीचे दर्जे की पृथिवी भोगमय तामस लोगों की रिहायश के कारण उदन्वती कहलाती है। बीच के दर्जे की भूमि कर्मफलसंयुक्त राजस् पुरुषों के निवास के कारण पीलुमती कहाती है। तीसरे दर्जे की सबसे उत्तम पृथिवी सात्त्विकवृत्तिवाले पालक, पूज्य, गुरु, माता-पिता, साधु-महात्माओं के निवास के कारण प्रद्यौ कहलाती है॥ ४८॥

इस मन्त्र में भी जीवित पितरों का ही वर्णन है मृतकों का नहीं, क्योंकि इसमें आकाश-निवासी पितरों का वर्णन नहीं अपितु पृथिवी-निवासी जीवित पितरों का वर्णन है॥

श्रीमान्‌जी! आपके सिद्धान्तानुसार भी श्राद्ध करने से कोई लाभ नहीं है, जैसेकि—

एकादशाहे प्रेतस्य यस्य नोत्सृज्यते वृषः। प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि॥ ८॥
स्वहस्तेन प्रदत्तानि देहान्ते चाक्षयं फलम्॥ २०॥ —गरुड० प्रेत० अ० १३
देहान्तरं परिप्राप्य स्वहस्तेन कृतं च यत्॥ ७॥
धनं भूमिगतं यद्वत् स्वहस्तेन निवेशितम्। तद्वत् फलमवाप्नोति ह्यहं वच्मि खगेश्वर॥ ८॥
तस्मात् सर्वं प्रकुर्वीत चंचले जीविते सति। गृहीतदानपाथेयः सुखं याति महाध्वनि॥ १२॥
अन्यथा क्लिश्यते जन्तुः पाथेयरहितः पथि॥ १३॥ —गरुड० प्रेत० अ० १४

भाषार्थ—ग्यारहवें दिन जिस प्रेत का बैल न छोड़ा जाए वह प्रेत-योनि में स्थिर हो जाता है, चाहे सैकड़ों श्राद्ध भी करो॥ १४॥ अपने हाथ से दिये हुए दान का मरने के पीछे अक्षय फल होता है॥ २०॥ दूसरे जन्म को प्राप्त होकर अपने हाथ से जो कर्म किया हुआ है॥ ७॥ जैसे अपने हाथ से रक्खा हुआ, भूमि में दबा हुआ धन फल देता है॥ ८॥ इसलिए सब-कुछ इस चञ्चल जीवन के रहते हुए करना चाहिए; दानरूप मार्ग-भोजन लेकर जीव दीर्घमार्ग में सुख पाता है॥ १२॥ वरना जीव ऐसे ही दुःख पाता है जैसे मुसाफ़िर खर्च के बिना रास्ते में दुःख उठाता है॥ १३॥

अतः स्पष्ट सिद्ध है कि अपना किया कर्म ही परलोक में काम आता है, अन्य के कर्म का फल अन्य को नहीं मिल सकता, अतः मृतकश्राद्ध निरर्थक तथा जीवितश्राद्ध सार्थक है।

(४२६) प्रश्न—**'इममोदनम्'** इत्यादि अथर्व० [४। ३४। ८] इस मन्त्र में पितरों को पहुँचाने तथा तृप्त करने के लिए ब्राह्मणों को भी भोजन कराना लिखा है।—पृ० २९१, पं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में न तो श्राद्ध शब्द है और न ही पितर शब्द है। आपके अर्थों के अनुसार भी यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन मृत पितरों की तृप्ति करता है, अपितु आपके अर्थ से भी भोजन करानेवाले को ही फल की प्राप्ति लिखी है, जैसाकि 'और कामधेनु के समान मुझे समस्त मनोवांछित फल दे' इसमें हमें भी मतभेद नहीं है, क्योंकि विद्वान्, ज्ञानी ब्राह्मण ही ज्ञान द्वारा रक्षा करने के कारण स्वयं साक्षात् पितर हैं, उनको भोजन आदि से प्रसन्न करने से वे हमारी ज्ञान द्वारा रक्षा करेंगे। फिर इससे तो जीवित श्राद्ध ही सिद्ध हुआ, मृतक नहीं। वास्तव में इस मन्त्र का यह अर्थ नहीं है। आपको ओदन शब्द से भ्रम हुआ है। ओदन शब्द का केवल अन्न ही अर्थ नहीं है और भी अर्थ हैं—

परमेष्ठी वा एषः। यदोदनः। —तै० १। ७। १०। ६
प्रजापतिर्वा ओदनः॥ —शथ० १३। ३। ६। ७
रेतो वा ओदनः॥ —शथ० १३। १। १। ४

भाषार्थ—परमेष्ठी का नाम ओदन है (तै०)। प्रजापति का नाम ओदन है (शत०)। वीर्य का नाम ओदन है (शत०)।

इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

इममोदनं नि दधे ब्रह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥
—अथर्व० ४। ३४। ८

भाषार्थ—मैं इस सर्वव्यापक, सुखमय, मोक्षरूप, समस्त लोकों को जीतनेवाले ओदन नाम प्रजापति ब्रह्म को ब्राह्मणों, अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों में उपदेश, करता हूँ। अमृत से समस्त मुक्तात्माओं को तृप्त करनेवाला वह ओदन प्रजापति का स्वरूप मुझ मुमुक्षु के लिए नष्ट न हो, प्रत्युत मुझ मुमुक्षु के लिए वह प्रजापति प्रमेष्ठी ब्रह्म सब प्रकार की कामधेनु होकर समस्त कामनाओं को

पूर्ण करनेहारी हो॥८॥

कहिए महाराज! जब आप मानते हैं कि गङ्गा में अस्थिप्रवाह से मृतक का मोक्ष हो जाता है तो फिर श्राद्धों का अन्न खाने के लिए पितरों को क्यों कष्ट दिया जाता है? क्या उसके मोक्ष में सन्देह रहता है? फिर आप आचार्य निवेड़ना, पीपल पर पानी का घड़ा लटकाना, बरनी करवाना आदि अनेक मोक्ष के उपाय करते हैं तो क्या इन उपायों से पितरों का मोक्ष नहीं होता जो फिर भी श्राद्ध की आवश्यकता रहती है? और फिर गरुड में तो लिखा है कि—

सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
पुराकृतं कर्म सदैव भुज्यते देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥

—गरु० प्रेत० अ० १५।८९

भाषार्थ—सुख-दुःख का कोई दाता नहीं है। दूसरा सुख-दुःख देता है—ऐसा सोचना मूर्खता है। जीव सदा पूर्व किये कर्म भोगता है। हे जीव! तूने जैसा किया है उसे भोग॥८९॥

जब दूसरे से सुख-दुःख मिलता ही हीं तो मृतकश्राद्ध व्यर्थ है और फिर आपको भोजन पहुँचाने की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि—

श्लेष्ममूत्रपुरीषोत्थं शरीराणां मलैः सह। उच्छिष्टैश्चैव चान्यैश्च प्रेतानां भोजनं भवेत्॥५५॥
गृहाणि चाप्यशौचानि प्रकीर्णोपस्कराणि च। मलिनानि प्रसूतानि प्रेता भुञ्जन्ति तत्र वै॥५६॥
भर्तृहीना च या नारी परवीर्यं निषेवते। बीजं मूत्रसमायुक्तं प्रेता भुञ्जन्ति तत्तु वै॥६१॥
यत्स्त्रीरजो योनिगतं प्रेता भुञ्जन्ति तत्तु वै॥६२॥ —गरुड० प्रेत० अ० २२

भाषार्थ—बलग़म, मूत्र, पाखाना, शरीर के मल, नाक, कान, आँख, मुख, त्वचा से पैदा हुए उच्छिष्ट, ये प्रेतों के भोजन हैं॥५५॥ अशुद्ध घर, जो कूड़े से भरे हों, प्रसूत स्थान, मलिन स्थान, वहाँ बैठकर प्रेत भोजन करते हैं॥५६॥ जो स्त्री पति से हीन होकर दूसरे के वीर्य का सेवन करती है उस मूत्र से मिले हुए वीर्य का प्रेत भोजन करते हैं॥६१॥ जो स्त्रीरज योनि में वर्त्तमान हो उसका भोजन प्रेत करते हैं॥६२॥

जब प्रेतों का यही भोजन है तो वे इस भोजन की स्वयं तलाश कर लेंगे, या आपको ही तलाश करके पहुँचाना पड़ेगा, सोचकर निश्चय कर लीजिए। शरम, शरम, अति शरम!

(४२७) प्रश्न—**'यं ब्राह्मणे'** इत्यादि [अथर्व० ९।५।१९] इस मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना है कि जो अन्न हमने ब्राह्मणों को खिलाया है वह हमारे पितरों को पहुँचाओ। **'यस्यास्येन'** इत्यादि [मनु० १।९५] में भी लिखा है कि ब्राह्मण के मुख से देवता हव्य तथा पितर कव्य खाते हैं। ब्राह्मणों को पितृ-अन्न का खिलाना और उनके द्वारा उस अन्न का फल पितरों को मिलना जो वेद ने बतलाया है, यह मृतकश्राद्ध को ही सिद्ध करता है। —पृ० २९२, पं० ७

उत्तर—इस मन्त्र में न तो कहीं पितर शब्द है और न ही इस मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण का किया भोजन मृत पितरों को मिलता है, और आपका अर्थ भी सर्वथा कल्पित है। आप भोजन तो परोस रहे हैं ब्राह्मणों के आगे और पहुँचाने की प्रार्थना कर रहे हैं अग्नि से। भला! ब्राह्मण के खाये हुए को अग्नि कैसे पहुँचावेगा? भोजन बनाने में जो बिन्दु उड़े क्या वे भी पितरों को पहुँच जाते हैं? यदि वे बिना ब्राह्मणों के ही पितरों को पहुँच जाते हैं तो भोजन भी बिना ब्राह्मणों के पहुँच जाता होता। आप **'उदन्वती'** मन्त्र के अर्थ में लिखते हैं कि 'जो पितर स्वर्ग में जाते हैं उनका आवाहन वेद ने लिखा है', जब वे पितर स्वयं आकर भोजन करते हैं फिर उनको ब्राह्मणों द्वारा भोजन क्यों पहुँचाया जाता है? यह आपके लेख में परस्पर विरोध है, अतः आपका अर्थ सर्वथा कल्पित है। मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः सङ्गमने पथीनाम्॥

—अथर्व० ९।५।१९

भाषार्थ—जिस अज आत्मा को परमेश्वर ने ब्रह्म=वेद के विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी में रक्खा है और जिस आत्मा को उस प्रभु ने सर्वसाधारण प्राणियों में रक्खा है, और उस अजन्मा आत्मा के ओदनरूप प्राणों के जो विशेष सामर्थ्य हैं, हे परमात्मन्! उस सबको पुण्य के उस परम मोक्षलोक में और समस्त प्राणशक्तियों के एकत्र प्राप्ति से हमें प्राप्त करने की अनुमति देना, अर्थात् मोक्षधाम में भी ये सब सामर्थ्य हमारे पास रहें जिससे मोक्ष के परम सुख का हम स्वतन्त्रता से रस ले सकें॥ १९॥

रही मनु की बात, सो आपके समझने की भूल है। यहाँ आस्य के अर्थ मुख नहीं, अपितु उपदेश है, क्योंकि ब्राह्मण के उपदेश से ही लोग देवयज्ञ और पितृज्ञ करते हैं। आपके अर्थ ग़लत हैं, क्योंकि आपके मतानुसार भी पितर ब्राह्मण के मुख से भोजन नहीं करते, अपितु स्वयं आकर अपने मुख से करते हैं या दूसरी योनियों में भी अपने ही मुख से करते हैं। हव्य तो हवन करने से देवों को पहुँचता है जैसेकि—

होमैर्देवान् यथाविधि॥ —मनु० ३।८१

होमों से यथाविधि देवों की पूजा करे॥ ८१॥

तो क्या ब्राह्मण के मुख में हवन किया जा सकता है? अतः आपका अर्थ ग़लत और हमारा ठीक है ब्राह्मण के उपदेश से ही होम करके देवों को और श्राद्धों से जीवित पितरों की सेवा से पितरों को प्रसन्न करते हैं और उपदेश मुख से होता है, अतः यहाँ पर उपदेश के अर्थों में ही लाक्षणिक रूप से 'आस्य' शब्द आया है, अतः सिद्ध है कि मृतक पितरों की कल्पना तथा ब्राह्मणों द्वारा उनकी तृप्ति वेदविरुद्ध तथा मिथ्या है।

यदि ब्राह्मणों के भोजन से मृतकों की तृप्ति हो जाती तो राजा श्वेत को अन्नदान के लिए स्वर्ग से वापस क्यों आना पड़ता, जैसाकि—भविष्यपुराण में आता है कि—श्वेत नाम का एक राजा था। उसने बहुत-से यज्ञ तथा युद्ध किये तथा दान दिये। वह मरकर स्वर्ग में गया—

स च नित्यं वितानाग्र्यादवतीर्य महीतलम्। स्वमांसान्यत्ति कौन्तेय पूर्वं त्यक्त्वा कलेवरम्॥ १६॥

वह हमेशा स्वर्ग से उतरकर पृथिवी पर अपना मांस खाता था। अपना पहला शरीर छोड़ आता था॥ १६॥ वह कभी ब्रह्मा के पास गया और पूछा कि स्वर्ग में मुझे भूख बड़ा कष्ट देती है, जिससे मुझे अपना मांस खाना पड़ता है। ब्रह्मा ने कहा—हे श्वेत!

नाशनं भवता दत्तं यद् द्विजेभ्यो नराधिप॥ २१॥
अनन्नदानस्य फलं त्वयेदमुपभुज्यते॥ २२॥
महीं गत्वा महाराज कुरुष्व वचनं मम॥ २३॥
विरिञ्चेर्वचनाद् गत्वा त्वरायुक्तो महीतलम्।
अगस्त्यं भोजयामास भक्त्या भरतसत्तम॥ २४॥
श्वेतस्तृप्तो गतः स्वर्गं दत्त्वान्नं दक्षिणायुतम्॥ २७॥ —भविष्य० उत्तर० अ० १६९

आपने ब्राह्मणों को भोजन नहीं दिया॥ २१॥ यह आप अन्नदान न करने का फल भोग रहे हैं॥ २२॥ हे महाराज! पृथिवी पर जाकर मेरे वचनानुसार करो॥ २३॥ ब्रह्मा के कहने के अनुसार उसने शीघ्रता से पृथिवी पर जाकर भक्ति से अगस्त्य को भोजन करवाया॥ २५॥ दक्षिणायुक्त अन्नदान करके तृप्त होकर श्वेत स्वर्ग को गया॥ २७॥

इस कथा से सिद्ध है कि श्वेत का किया कर्म श्वेत को मिला, अन्य का किया नहीं, अतः कर्म का फल कर्त्ता को ही मिलता है। अन्य के किये कर्म का फल अन्य को नहीं मिलता।

(४२८) प्रश्न—**'पिता प्रेतः'** इत्यादि काठकीय श्रौतसूत्र में तथा **'पिता यस्य'** इत्यादि मनु ३।२२१ में भी मृत पितरों के श्राद्ध की ही विधि लिखी है। —पृ० २९३, पं० १

उत्तर—काठकीय श्रौतसूत्र तथा मनु के ये दोनों ही लेख वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं, क्योंकि वेद जीवित पितरों की सेवा का ही वर्णन करते हैं, मृतकों की सेवा का नहीं, जैसाकि—

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत इहोर्जं दधात॥ —यजुः० १९।६३

भाषार्थ—हे पितरो! हवि देनेवाले मनुष्य यजमान के लिए आप धन देवें। आप कैसे हैं? लाल रंग के ऊन के आसनों पर बैठे हुए। और हे पितरो! आप पुत्र और यजमानों से उस धन का धारण करो, और वे आप इस संसार में हमारे यज्ञ में रस धारण करो॥६३॥ —महीधर

ऊन के लाल आसनों पर बैठना और यजमान को धन देना तथा उनसे धन लेना और यज्ञ में रस धारण करना जीवित पितरों से ही सम्भव हो सकता है, मृतकों से नहीं, अतः मृतक पितरों का श्राद्ध वेदविरुद्ध तथा जीवितों का श्राद्ध वेदानुकूल है।

कहिए महाराज! यह श्राद्ध तीन पुश्त तक ही क्यों दिया जाता है? इससे ऊपर की पीढ़ी के लिए क्यों नहीं दिया जाता? क्या तीन पीढ़ी से ऊपर के पितरों का अवश्य ही मोक्ष हो जाता है? वास्तविक बात तो यह है कि पितरों की तीन पीढ़ी तक ही प्रायः जीवित रहना सम्भव है अधिक पीढ़ी तक नहीं, अतः पौराणिक ग्रन्थों में पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीन पीढ़ी तक ही श्राद्ध का प्रतिपादन सिद्ध करता है कि श्राद्ध जीवित पितरों का ही है, मृतकों का नहीं है।

(४२९) प्रश्न—**'अधा मृताः'** इत्यादि [अथर्व० १८।४।४८] में लिखा है कि मृतक पुरुष ही पितृस्वरूप को प्राप्त होते हैं। —पृ० २९३, पं० १२

उत्तर—यहाँ पर परमेश्वर से प्रार्थना है कि हे परमेश्वर!

अधा मृताः पितृषु सं भवन्तु॥ —अथर्व० १८।४।४८

(अध) और (पितृषु) हमारे पितरों में (अमृताः) अमृत, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त न होनेवाले (सम्भवन्तु) सदा होते रहें॥४८॥

यहाँ तो स्पष्ट प्रार्थना है कि हमारे अध्यापक, ज्ञानी, पालन-पोषण करनेवाले पितरों में बड़ी आयु को प्राप्त होनेवाले हों। यहाँ पर भी जीवित पितरों की दीर्घायु के लिए ही प्रार्थना है, मृतकों का वर्णन नहीं है।

श्रीमान्‌जी! आपने मृतकों की पूजा सिखा-सिखाकर देश तथा जाति को मृतक ही बना दिया। जो लोग मुर्दों से डरें उनसे क्या आशा की जा सकती है कि वे जीवितों से लड़कर स्वराज्य प्राप्त करेंगे? देखिए, लिखा भी है कि—

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद्भयम्। मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः॥ ३॥
—महा० शान्ति० अ० ३२२

भाषार्थ—पापकर्मों के करनेवाले दरिद्री लोग दुर्भिक्ष से दुर्भिक्ष को, क्लेश से क्लेश को, भय से भय को तथा मृतकों से मुर्दा अवस्था को प्राप्त होते हैं॥३॥

अतः आपने ही इस देश को मृतक बनाकर बर्बाद किया है।

(४३०) प्रश्न—वेद में श्राद्ध के कम-से-कम ७०० मन्त्र हैं, जिनमें मृतक पितृश्राद्ध का उल्लेख है। जिनको सब देखने हों वे यजुर्वेद का अध्याय १९ तथा अथर्ववेद का काण्ड १८ देखें।
—पृ० २९३, पं० १४

उत्तर—चारों वेदों में न तो श्राद्ध शब्द है और न ही वेद में कोई मन्त्र ऐसा है जो यह प्रतिपादन करता हो कि मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृत पितरों की तृप्ति होती है। हाँ, जीवित पितरों अर्थात् ज्ञानी महात्मा, जनक, माता-पिता आदि की सेवा का उपदेश वेद करते हैं। मृतकों की पितर संज्ञा ही नहीं है और कर्मों का फल कर्त्ता को मिलता है, अन्य के कर्मों का फल अन्य को नहीं मिल सकता—यही वेद का सिद्धान्त है। जिसे विस्तारपूर्वक देखना हो वह वेदों के आर्यसमाज से प्रकाशित भाष्य पढ़े जो ब्राह्मण, निरुक्त तथा व्याकरण के अनुकूल हैं।

(४३१) प्रश्न—'जीवितों का श्राद्ध करना, मृतकों का नहीं' इसकी पुष्टि में स्वामीजी ने कोई प्रमाण भी नहीं लिखा। केवल हुक्म लिख दिया और हुक्म लिखकर सात सौ वेदमन्त्रों का गला घोंट डाला है। —पृ० २९४, पं० २४

उत्तर—स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पितृयज्ञ प्रकरण में 'जीवितों का श्राद्ध करना चाहिए, मृतकों का नहीं' इसकी पुष्टि में **'ऊर्जं वहन्ति', 'आयन्तु नः', 'अत्र पितरो', 'आधत्त पितरः', 'ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु'**—इत्यादि अनेक मन्त्र दिये हैं और उन मन्त्रों तथा युक्तियों के आधार पर हुक्म दिया है और यह युक्तियुक्त वेदानुकूल हुक्म देकर सात सौ मन्त्रों को अनृतव्याघातदोष से मुक्त करके लोगों के हृदयों में वेद का सिक्का बिठा दिया है। यदि आपको ये प्रमाण नज़र न आवें तो हमारा क्या क़ुसुर है? और मृतकश्राद्ध का खण्डन तो आपके पुराणों में भी विद्यमान है, जैसेकि—

जीवित पितर

(१) **अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ ९५॥**
पितामहेति जयदमित्यूचुस्ते दिवौकसः॥ ९६॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ४

(२) **इत्येवं क्षत्रियपिता वैश्यस्य च पितामहाः।**
प्रपितामहश्च शूद्रस्य प्रोक्तो विप्रो मनीषिभिः॥ ६९॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ४

मृतक-अन्न पाप

(३) **मृतान्नं मधु मांसं च यस्तु भुञ्जीत ब्राह्मणः।**
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत्॥ ५९॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० १८४

पितर सन्तान से तृप्त

(४) **ब्रह्मचर्येण मुनयो देवा यज्ञक्रियाध्वना।**
पितरः प्रजया तृप्ता इति हि श्रुतिरब्रवीत्॥ २६॥ —शिव० कैलास० अ० १२

ऋतु का नाम पितर

(५) **ऋतवः पितरस्तस्मादित्येषा वैदिकी श्रुतिः।**
यस्मादृतुषु सर्वे हि जायन्ते स्थाणुजंगमाः॥ ४५॥
—शिव० वायु० ७ खं० १ अ० १७

अपना श्राद्ध

(६) **मातृश्राद्धे मातृपितामह्यौ च प्रपितामही।**
आत्मश्राद्धे तु चत्वार आत्मा पितृपितामहौ॥ ४१॥ —शिव० कैलास० अ० १२

जीवितों का तर्पण

(७) पीनीयदानं परमं दानानामुत्तमं सदा।
सर्वेषा जीवपुञ्जानां तर्पणं जीवनं स्मृतम्॥ १॥
पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
इहलोके परे चैव पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः॥ २९॥ —शिव०शिव०उमा०अ० १२

जीवित के लिए पिण्ड

(८) चाण्डालोच्छिष्टपिण्डेन जठराग्निमतर्पयत्॥ २१॥ —शिव० कोटि० रुद्र० अ० ९
(९) रे रे दैत्याधमसखे परपिण्डोपजीवक॥ ३३॥ —शिव० रुद्र० युद्ध० अ० ५३

विवाह में श्राद्ध

(१०) स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत्॥ १९॥
स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः॥ २१॥—वाल्मी० बाल० स० ७२

अपना किया मिलता है

(११) स्वयं कृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम्॥ ३०॥
—महा० शान्ति० अ० २९८

किये कर्म का नाश नहीं

(१२) निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते॥ १७॥

किसी का कर्म किसी को नहीं मिलता

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते। करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते॥ २२॥
—महा० शा० अ० २९०

कोई किसी के लिए नहीं करता

(१३) कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना॥ १॥ —महा० शा० अ० २९२

कर्मफल कर्त्ता को

(१४) यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥ २२॥ —महा० अनु० अ० ७

कोई किसी का माता-पिता नहीं

(१५) न माता न पिता किञ्चित् कस्यचित् प्रतिपद्यते।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते॥ ३९॥ —महा० शान्ति० अ० २९८

कलि में श्राद्धनिषेध

(१६) न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति देवतानीह मानवाः॥ ४६॥ —महा० वन० अ० १९०

भाषार्थ—(१) अज्ञानी का नाम बालक है और मन्त्र देनेवाले का नाम पिता है और उन देवताओं ने जय नाम ब्राह्मण को पितामह कहा है। (२) इस प्रकार से ब्राह्मण क्षत्रिय का पिता, वैश्य का पितामह तथा शूद्र का प्रपितामह बुद्धिमानों ने कहा है। (३) मुर्दे के निमित्त अन्न, शराब और मांस जो ब्राह्मण खावे वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन पानी में रहे। (४) ब्रह्मचर्य से मुनि तृप्त होते हैं, यज्ञ करने से देवता तथा सन्तान पैदा करने से पितर तृप्त होते हैं—यह वेद का वचन है। (५) मौसमों का नाम पितर है, यह वेद की श्रुति है, जिस कारण ऋतुओं में सारे जड़-जंगम पैदा होते हैं। (६) माता के श्राद्ध में माता, दादी तथा परदादी मानी जाती है और अपने श्राद्ध में चार—आत्मा, पिता, पितामह, प्रपितामह माने जाते हैं। (७) पानी का दान सब दानों में परम उत्तम है, क्योंकि यह सब जीवसमूह का तर्पण करनेवाला तथा सबका जीवन है। फूल-फल से युक्त ये वृक्ष भी मनुष्यों का तर्पण करते हैं। इस लोक में और परलोक में भी—इसलिए ये धर्म से पुत्र हैं। (८) उसने चाण्डाल के जूठे पिण्ड अर्थात् भोजन से पेट की अग्नि का तर्पण अर्थात् तृप्त किया। (९) हे दैत्य! हे अधम के मित्र! हे पराये पिण्ड अर्थात् अन्न से जीनेवाले। (१०) राम के विवाह समय जनक बोला कि आपका कल्याण हो, हम विधिपूर्वक श्राद्धकर्म करने के लिए जाते हैं। राजा ने घर पर जाकर श्राद्ध किया। (११) पैदा हुआ जीव स्वयं किये कर्मों को प्राप्त होता है, बिना किये कोई कुछ भी प्रिय-अप्रिय को प्राप्त नहीं होता। (१२) हे राजन्! निरन्तर और मिश्रित कर्मों को मनुष्य प्राप्त होता है चाहे कल्याण चाहे पाप, कर्मों का नाश नहीं होता। यह जीव दूसरे के पुण्य और पाप का सेवन नहीं करता, जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है। (१३) कौन किसका उपकार करता है, कौन किसके लिए देता है! यह प्राणी सारा कर्म स्वयं अपने लिए करता है। (१४) जैसे हज़ार गौवों में से बछड़ा अपनी माता को प्राप्त होता है, ऐसे ही पूर्वकृत कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है। (१५) कोई किसी की न माता है, न पिता है। दानरूप मार्ग से व्यय करनेवाला जीव अपने कर्म के फल को भोगता है। (१६) कलियुग में इस संसार में मनुष्य देवता और पितरों का श्राद्धों से तर्पण नहीं करेंगे।

देखिए, इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवों में कोई किसी का माता-पिता नहीं, किया कर्म नाश नहीं होता, कर्म का फल कर्त्ता को मिलता है, किसी के कर्म का फल किसी अन्य को नहीं मिलता। पितर ज्ञानियों तथा ऋतुओं का नाम है, पितर सन्तान से तृप्त होते हैं, पिण्ड शब्द अन्न अर्थ में तथा श्राद्ध शब्द जीतों के लिए और विवाह में भी आता है और तर्पण शब्द जीवितों के लिए आता है। मृत का अन्न खाना पाप है, तथा अन्त में यह भी सिद्ध है कि कलियुग में श्राद्ध नहीं होंगे, यह पुराणों की व्यवस्था है। फिर अब बतलाइए कि स्वामीजी मृतकश्राद्ध का खण्डन करते हैं या आपके ग्रन्थ भी इस प्रकार के मृतकश्राद्ध की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं।

(४३२) प्रश्न—यहाँ पर '**सोमसदः**' पद का अर्थ किया कि जो पदार्थविद्या में निपुण हैं, वे सोमसद पितर हैं। स्वामीजी जानते हैं कि आजकल योरुपवाले पदार्थविद्या में निपुण हैं, इसलिए योरुपवालों का श्राद्ध-तर्पण लिख दिया। —पृ० २९५, पं० १८

उत्तर—आपने स्वामीजी के किये अर्थ को पूरा नहीं लिखा, बीच में से पाठ को चुरा लिया है। देखिए, स्वामीजी के अर्थ इस प्रकार हैं—

''ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः।

जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों वे सोमसदः''।

बतलाइए, इसमें आपको क्या शंका है? जो ब्रह्मविद्या और पदार्थविद्या में निपुण हों वे वास्तव में हमारे पिता हैं चाहे वे योरुप के रहनेवाले हों चाहे अमरीका और भारतवर्ष के रहनेवालों हों। जो इन दो विद्याओं द्वारा हमारी रक्षा करें वे हमारे सोमसद पितर हैं। आपमें हिम्मत हो तो स्वामीजी

के अर्थों का खण्डन करें और साथ में यह भी बतलावें कि मृतक पितरों में से किनका नाम 'सोमसद' पितर है। कुछ अपना पक्ष भी तो बतावें। आपके यहाँ तो सोमसदों को मनुष्यों का पितर ही नहीं लिखा। देखिए—

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः॥ —मनु० ३।१९५

सोमसद विराट् के पुत्र हैं और वे साध्यों के पितर हैं॥१९५॥

अब बतलाइए, जब वे मनुष्यों के पितर ही नहीं तो मनुष्य उनका तर्पण-श्राद्ध क्यों करें? स्वामीजी का लेख ठीक है कि जो लोग ब्रह्मविद्या तथा पदार्थविद्या द्वारा हमारी रक्षा करें, वे हमारे सोमसद पितर हैं, उनकी सेवा-सुश्रूषा और श्रद्धापूर्वक अन्न-जल-प्रदान से उनका श्राद्ध-तर्पण करना हमारा कर्त्तव्य है।

(४३३) प्रश्न—जो अग्निविद्या में निपुण हैं वे अग्निष्वात्त पितर हैं—इस नियम से हलवाई, लुहार, इंजन के ड्राइवर, भड़भूँजे—ये सब आर्यसमाजियों के पितर होंगे?—पृ० २९५, पं० २३

उत्तर—आपने यहाँ भी अपनी आदत के अनुसार स्वामीजी के अर्थों को चुरा लिया है। देखिए, स्वामीजी लिखते हैं कि—

'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या ग्रहीता ते अग्निष्वात्ताः'—जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों वे अग्निष्वात्त। स्वामीजी का लेख साफ़ है कि जो लोग अग्नि, अर्थात् बिजली आदि से अग्नि अर्थात् ब्रह्मविद्या, अग्निहोत्र आदि विद्याओं में निपुण होकर उन द्वारा हमारी रक्षा करें वे हमारे 'अग्निष्वात्त' पितर हैं। उनकी सेवा-सुश्रूषा, अन्न-जल-फल आदि द्वारा उनका श्राद्ध तथा तर्पण करना हमारा कर्त्तव्य है, किन्तु आप बतलावें कि आपको इसमें शंका क्या है? आपके विचार में मृतकों में से अग्निष्वात्त किन पितरों का नाम है और उनमें सोमसद, आज्यपा आदि पितरों की अपेक्षा क्या विशेषता है? यदि आप कहें कि अग्नि में जले हुओं का नाम अग्निष्वात्त है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जीव तो अग्नि में जलता नहीं और शरीर आकर भोजन नहीं कर सकता, फिर बताइए अग्निष्वात्त पितर कौन हुए? स्वामीजी के अर्थों का खण्डन करके अपने अर्थों को सत्य सिद्ध कीजिए। आपके यहाँ तो अग्निष्वात्त कौन हैं यह निश्चय ही नहीं है। देखिए, मनु में तो लिखा है कि—

अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥ —मनु० ३।१९५

'अग्निष्वात्त' मरीचि के पुत्र हैं और वे देवों के पितर हैं।

शिवपुराण में लिखा है कि जब ब्रह्मा अपनी पुत्री पर आशिक़ हो गया और महादेव ने इस कुकर्म पर उसे डाँटा तो ब्रह्मा को पसीना आ गया, उस पसीने से अग्निष्वात्त पितर हुआ। देखिए, ब्रह्माजी स्वयं फरमाते हैं कि—

मच्छरीरात्तु घर्माम्भो यत्पपात द्विजोत्तम। अग्निष्वात्ताः पितृगणा जाताः पितृगणास्ततः॥४८॥
सहस्राणां चतुःषष्टिरग्निष्वात्ताः प्रकीर्तिताः॥५०॥ —शिव० रुद्र० सती० अ० ३

मेरे शरीर से जो पसीने का जल गिरा उससे अग्निष्वात्त, पितर तथा और भी पितृसमूह पैदा हुआ॥४८॥ चौंसठ हज़ार अग्निष्वात्त पितर पैदा हुए॥५०॥

मनु तो कहते हैं कि मनु के पुत्र मरीचि, उनके पुत्र अग्निष्वात्त और शिवपुराण कहता है ब्रह्मा के पसीने से पैदा हुए तथा आप कहते हैं कि अग्नि में जलाये हुओं का नाम अग्निष्वात्त है। तीनों में से कौन सच्चा और कौन झूठा है, यह आप स्वयं निर्णय करें, किन्तु जब अग्निष्वात्त देवों के पितर हैं तो मनुष्य उनका श्राद्ध-तर्पण क्यों करें? इससे सिद्ध है कि स्वामीजी का अर्थ ठीक और आपका मत ग़लत है। रहा आपका यह कहना 'कि इस नियम से हलवाई, लुहार, इंजन-ड्राइवर तथा भड़भूँजे आर्यों के पितर होंगे' सो श्रीमान्‌जी! हम तो यह समझते हैं कि ये

लोग भी देश की सेवा कर रहे हैं। यदि ये लोग भी अपनी-अपनी विद्या द्वारा हमारी रक्षा करें तो हमें इन्हें पितर मानने में कोई शंका नहीं है। हमें यह सन्तुष्टि है कि ये पितर कम-से-कम उन पितरों से तो अवश्य श्रेष्ठ हैं कि जो पुत्री के आशिक़ के शरीर से उत्पन्न हुए हों।

(४३४) प्रश्न—बर्हिषद का अर्थ किया है जो उत्तम व्यवहार में निपुण हों। वे हैं कौन, उनका पता नहीं बतलाया। सम्भव है कि पॉलिसीबाजों को आर्यसमाजियों का पितर बनाया हो।

—पृ० २९५, पं० २८

उत्तर—यहाँ भी आपने स्वामीजी के पाठ को चुरा लिया है। स्वामीजी का लेख इस प्रकार है **'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः'** जो उत्तम विद्या, बुद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे बर्हिषद। इसके अर्थ स्पष्ट हैं कि जो लोग विद्या की वृद्धि के विषय में युक्तव्यवहार करनेवाले आचार्य, उपाध्याय, अध्यापक, उपदेशक, साधु-संन्यासी, महात्मा हैं वे विद्या तथा ज्ञान से हमारी रक्षा करने के कारण हमारे पितर हैं और हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनकी सेवा-शुश्रूषा तथा अन्न-जल आदि द्वारा श्रद्धापूर्वक उनका श्राद्ध और तर्पण करें। आपने यह नहीं बतलाया कि आपके मतानुसार मृतक पितरों में से बर्हिषद कौन-से पितर हैं, और उनमें सोमसद, अग्निष्वात्त आदि पितरों की अपेक्षा क्या विशेषता है? आपके यहाँ इनके बारे में भी मतभेद है। देखिए, मनुजी तो कहते हैं कि—

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः॥

—मनु० ३।१९६

भाषार्थ—दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर, इन सबके पितर अत्रि के पुत्र बर्हिषद हैं॥१९६॥

और शिवपुराण में लिखा है कि ब्रह्मा के पुत्री पर आशिक़ होने तथा महादेव के डाँटने पर ब्रह्मा को जो पसीना आया उससे जहाँ चौंसठ हज़ार अग्निष्वात्त पैदा हुए वहाँ—

षडशीतिसहस्राणि तथा बर्हिषदो मुने॥ —शिव० रुद्र० सती० अ० ३।५०

छियासी हज़ार बर्हिषद पैदा हुए॥५०॥

अब कहिए महाराज! इन दोनों लेखों में से कौन-सा ठीक है? बर्हिषद पितर ब्रह्मा के पुत्र थे या अत्रि के? और फिर जब ये दैत्य आदि के पितर हैं तो दूसरे लोग इनका श्राद्ध-तर्पण क्यों करें? रही बात पॉलीसीबाज़ों की, सो यदि वे ईमानदारी से काम करें, अनाथों तथा विधवाओं की सहायता करें और व्यापार द्वारा देश को लाभ पहुँचाएँ तो उनके पितर होने में किसे सन्देह हो सकता है, अतः स्वामीजी के अर्थ ठीक हैं और आपका अपने पक्ष को पेश न करते हुए केवल वितण्डावाद व्यर्थ ही है।

(४३५) प्रश्न—सोमपा का अर्थ डाक्टर किया। भारतवर्ष में जितने भी डाक्टर हैं, वे सब आर्यसमाजियों के पितर हैं। —पि० २९५, पं० २८

उत्तर—आपने यहाँ भी स्वामीजी की भाषा को नहीं लिखा, अपनी ही मनघड़न्त भाषा लिख डाली। देखिए, स्वामीजी का लेख इस प्रकार है कि **'ये सोममैश्वर्यमोषधिरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः'** जो ऐश्वर्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों वे 'सोमपा'।

कैसी स्पष्ट भाषा है कि जो लोग अपने और हमारे ऐश्वर्य की रक्षा करनेवाले राज्याधिकारी तथा स्वयं महौषधिरस का पान करके रोगरहित तथा ओषधि-सेवन करवाकर हमारी रोगों से रक्षा करनेवाले देशहितैषी वैद्य, डाक्टर आदि हैं, वे हमारे पितर हैं और हमारा कर्त्तव्य है कि हम सेवा-सुश्रूषा तथा अन्न-जल, फलादि द्वारा उनका श्राद्ध और तर्पण करें, किन्तु आप भी तो बतलावें

कि मृतक पितरों में से सोमपा कौन-से पितर हैं और उनमें सोमसद, अग्निष्वात, बर्हिषदादि पितरों की अपेक्षा क्या विशेषता है? आपके यहाँ तो लिखा है कि—

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः॥ १९७॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः॥ १९८॥ —मनु० ३

भाषार्थ—सोमपा नाम के पितर ब्राह्मणों के हैं, और क्षत्रियों के पितर हविर्भुज हैं, वैश्यों के पितर आज्यपा नामवाले हैं तथा शूद्रों के पितर सुकाली नामवाले हैं॥ १९७॥

सोमपा पितर कवि के पुत्र हैं और हविर्भुज पितर अंगिरा के पुत्र हैं, आज्यपा नाम के पितर पुलस्त्य के पुत्र हैं, और सुकाली नाम के पितर वसिष्ठ के पुत्र हैं॥ १९८॥

ये पितर इन ऋषियों से पैदा कैसे हुए? शिवपुराण में लिखा है कि ये चारों ऋषि अपनी बहिन सन्ध्या पर आशिक़ हो गये, तब इनका वीर्यपात हो गया, जिससे उपर्युक्त पितर पैदा हुए, जैसाकि—

मरीचिप्रमुखाः षड् वै निगृहीतेन्द्रियक्रियाः। ऋते क्रतुं वसिष्ठं च पुलस्त्यांगिरसौ तथा॥ ५४॥
क्रत्वादीनां चतुर्णां च बीजं भूमौ पपात च। तेभ्यः पितृगणा जाता अपरे मुनिसत्तम॥ ५५॥
सोमपा आज्यपा नाम्ना तथैवान्ये सुकालिनः। हविष्मन्तस्सुतास्सर्वे कव्यवाहाः प्रकीर्तिताः॥ ५६॥

—शिव० रुद्र० सती० अ० ३

भाषार्थ—मरीचि आदि छह ने अपनी इन्द्रयों को वश में रक्खा—क्रतु, वसिष्ठ, पुलस्त्य और अंगिरा के बिना॥ ५४॥ क्रतु आदि चारों का बीज पृथिवी पर गिर पड़ा। उससे अन्य पितृगण पैदा हुए॥ ५५॥ सोमपा, आज्यपा, सुकाली और हविष्मन्त ये सब कव्य को ग्रहण करेवाले हुए॥ ५६॥

ये सब पितर मनुस्मृति में तो मनु के पोते लिखे हैं और शिवपुराण में ब्रह्मा के पोते लिखे हैं। इनमें से कौन-सी बात ठीक है? और जब सोमपा नामक पितर ब्राह्मणों के हैं तो फिर दूसरे लोग उनकी तृप्ति के लिए भोजन क्यों करावें? अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक है और आपकी शंका निर्मूल है।

(४३६) प्रश्न—जो मादक द्रव्य और हिंसावाले पदार्थों को छोड़कर अन्य पदार्थ खावें वे हविर्भुज आर्यसमाज के पितर हैं। यह मालूम नहीं वे हैं कौन, वैजीटेरियन सोसाइटी के मैम्बर हैं या गाय-भैंस, हिरण-बकरी हैं जिनका आर्यसमाज श्राद्ध-तर्पण करेगी। ये सब मांस और मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते। —पृ० २९६, पं० १

उत्तर—स्वामीजी के शब्द इस प्रकार हैं कि '**ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः** जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज।' स्वामीजी के लेख से स्पष्ट है कि जो मांस और शराब आदि नशे की वस्तुओं का सेवन करते हों वे पितर कहाने के योग्य नहीं हैं, अपितु पितर कहाने के वही योग्य हैं जो खाने के योग्य फलादि हिंसारहित तथा नशे से वर्जित पदार्थों का भोजन करते हैं। ऐसे पुरुषों की सेवा-सुश्रूषा और श्राद्ध करना हमारा धर्म है, चाहे वेदानुकूल किसी भी सोसाइटी के मेम्बर हों। आपको निरामिषभोजी पितरों का ज्ञान कैसे हो? क्योंकि आपके पितर तो मांसभोजन से प्रसन्न होते हैं और उनकी हवि में मांस भी शामिल है, जैसेकि—

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्। अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥

—मनु० ३। २५७

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः। तच्चामिषेण कर्त्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः॥
—मनु० ३।१२३

भाषार्थ—मुनि अन्न, दूध, शराब, विकाररहित मांस, बिना नमक के बनाये पदार्थ—ये वस्तुएँ स्वभाव से ही हवि कही जाती हैं॥२५७॥ पितरों का मासिक श्राद्ध अवश्य कर्त्तव्य है, वह यत्नपूर्वक अच्छे मांस से करना चाहिए॥१२३॥

आपके मत में जब अंगिरा मुनि बहिन पर आशिक़ हुए तथा उनका बीज ज़मीन पर गिर पड़ा उससे हविर्भुज पितर पैदा हुए और वे क्षत्रियों के ही पितर हैं (नं० ४३५)। वाह वाह! पितरों की क्या शानदार पैदाइश है! भला, जब वे क्षत्रियों के ही पितर हैं तो दूसरे इनका श्राद्ध-तर्पण क्यों करें? और क्षत्रियों के भी ये पिता, पितामह, प्रपितामह पूर्वज थोड़े ही हैं! इनका श्राद्ध-तर्पण करने से क्षत्रियों के पितादि की तृप्ति कैसे होगी? अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक और आपकी शंका मिथ्या ही है। रही बात गाय, भैंस, हिरण, बकरी की, सो ये पशु भी चूँकि उपकारक हैं; जैसे गाय को लाक्षणिक रूप से माता कहा जाता है, वैसे ही सब रक्षा करनेवाले पशुओं को भी लाक्षणिक रूप से पितर कहा जा सकता है और आपके तो ये पितरों के भी पितर हैं, क्योंकि इनके मांस से पौराणिक पितरों की तृप्ति होती है। —पृ० ३।२६७ से २७१

(४३७) प्रश्न—और जो रक्षा करें और साथ ही केवल घी पीते हों वे आर्यसमाजियों के आज्यपा पितर हैं। हमें तो एक भी मनुष्य या जानवर ऐसा न मिला जो घी पीकर ही जीवन धारण करता हो। —पृ० २९६, पं० ४

उत्तर—आपने स्वामीजी के सारे ही पाठ को चुराकर अपना मनमाना पाठ लिखकर स्वयं ही शंका कर डाली। स्वामीजी का लेख इस प्रकार से है कि '**य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः**'—'जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत-दुग्ध आदि खाने और पीनेहारे हों वे आज्यपा।'

इस पाठ में यह कहाँ लिखा है कि "जो केवल घी पीते हों वे आज्यपा"? स्वामीजी का लेख स्पष्ट है कि जो लोग जानने और प्राप्त करने योग्य वस्तु की रक्षा करें और जिनका भोजन विशेषतया घी तथा दूध आदि हो और इन वस्तुओं द्वारा वे हमारी रक्षा करें वे हमारे पितर हैं, उनकी सेवा-सुश्रूषा, अन्न-जल, दूध-घी आदि से उनका श्राद्ध-तर्पण करना हमारा कर्त्तव्य है, किन्तु आप बतलाएँ कि मृतक पितरों में आज्यपा पितर कौन हैं और उनमें सोमसद, अग्निष्वात्त, हविर्भुज, सोमपा आदि पितरों की अपेक्षा क्या विशेषता है? आपके यहाँ तो लिखा है कि आज्यपा पितर पुलस्त्य के पुत्र हैं। जब बहिन पर मोहित होकर पुलस्त्य का वीर्य गिर पड़ा, उससे आज्यपा पितर पैदा हुए और वे वैश्यों के पितर हैं (नं० ४३५)।

वाहजी, पितरों की कैसी बढ़िया पैदाइश है! जब ये वैश्यों के पितर हैं तो दूसरे इनका श्राद्ध-तर्पण क्यों करेंगे? और वैश्यों के भी ये वंशकर्त्ता पितर नहीं हैं। भला, इनके श्राद्ध-तर्पण से वैश्यों के पिता आदि की तृप्ति कैसे होगी? अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक और आपकी शंका बनावटी ही है। मनुस्मृति से स्पष्ट सिद्ध है कि उपर्युक्त सोमसद आदि पितर लोगों के पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का नाम नहीं है, अपितु ये पृथक् ही समूह हैं और इनके पृथक् ही पुत्र-पौत्र भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जो इनका श्राद्ध करते हैं वे न इनके पुत्र-पौत्र हैं और न ये इनके पूर्वज पितादि हैं, जैसेकि—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥१९४॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः। तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम्॥२००॥
—मनु० ३

भाषार्थ—हिरण्यगर्भ मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हैं, उन सारे ऋषियों के पुत्रों का नाम पितृगण कहा जाता है॥ १९४॥ जो ये पितरों के मुख्य गण वर्णन किये हैं उनके भी इस संसार में अनन्त पुत्र-पौत्र जानने चाहिएँ॥ २००॥

इस लेख से यह भी सिद्ध है कि मृतकों का नाम पितर नहीं है, अपितु ऋषियों की सन्तान का नाम पितर है।

(४३८) प्रश्न—**'यमाय सोमःपवते'** इत्यादि [अथर्व० १८।२।१] इस मन्त्र का क़त्ल करते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि न्यायाधीश का नाम यम है। न्यायधीशों का ही श्राद्ध-तर्पण करो। जितने भी मजिस्ट्रेट संसार में हैं वे सब आर्यसमाजियों के पितर हैं। बात तो बनाई, किन्तु बना न जानी। इस मन्त्र में लिखा है कि अग्नि दूत बनकर हवि को यम के वास्ते पहुँचाता है। भला, अग्नि मजिस्ट्रेटों के पास खाने के पदार्थ कैसे पहुँचा देगा? —पृ० २९६, पं० १३

उत्तर—स्वामीजी का लेख इस प्रकार है कि—**'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः।'**—जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों वे **'यम'**। स्वामीजी का लेख स्पष्ट है कि जो श्रेष्ठों की रक्षा करके दुष्टों को दण्ड देनेवाले न्यायकारी राजा वा राज्याधिकारी हैं वे हमारे पितर हैं। उनकी सेवा तथा अन्न-जल-फलादि से उनका श्राद्ध-तर्पण करना हमारा कर्त्तव्य है। आप बतलावें मृतक पितरों में से यम किनका नाम है, और दूसरे पितरों की अपेक्षा उनमें क्या विशेषता है? आपके यहाँ तो यम नामवाले पितरों का वर्णन भी पितृगणों में नहीं है। जब यम किसी के पितर ही नहीं हैं तो कोई इनका श्राद्ध-तर्पण क्यों करे? अतः स्वामीजी ने जो यम का अर्थ न्यायाधीश, राजा किया है वह ठीक है। आपके ग्रन्थों में इसकी पुष्टि विद्यमान है, जैसेकि—

यमः॥ १२॥

यमो यच्छतीति सतः॥ २।९॥

'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।'

—ऋ० ८।१४।१ (निरुक्त० १० खं० १९-२०)

भाषार्थ—जो दुष्टों का नियमन करता है, उसका नाम यम है। या जो प्रजाओं को नियम में रखता है उसका नाम यम है। इसपर वेद का प्रमाण देते हैं कि 'जैसे सूर्य अपनी आकर्षणशक्ति से सब लोकों को वश में रखता है वैसे ही मनुष्यों को जो यम, अर्थात् संयमी राजा वश में रखता है, उसका भोज्य वस्तुओं से सत्कार करो।' इसके अतिरिक्त मनु में भी कहा है कि—

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति। तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥

—मनु० ९।३०७

भाषार्थ—जैसे यम अर्थात् परमात्मा समय आने पर प्यारे और द्वेषी सबको वश में कर लेता हैं वैसे ही राजा को भी प्रजा को नियम में चलाना चाहिए, यही उसका यमव्रत है॥ ३०७॥

स्वामीजी ने यम का न्यायकारी राजा अर्थ करके इस वेदमन्त्र को अनृत, असम्भव दोष से मुक्त करके प्रकाशित कर दिया है। इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १॥

अथर्व० १८।२।१

भाषार्थ—यम-नियम व्यवस्था के करनेहारे राजा के निमित्त सोमरस छाना जाता है। यम अर्थात् राजा के लिए ही हवि अर्थात् अन्न उत्पन्न किया जाता है। यज्ञ अर्थात् राष्ट्र ज्ञानवान् पुरुषों को अपना दूत बनाकर और सुशोभित होकर राजा की शरण में आता है॥ १॥

यहाँ अग्नि के अर्थ ज्ञानवान् दूत के हैं, भौतिक अग्नि के नहीं हैं, क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ होने से दूत का काम नहीं कर सकती। आपके यहाँ तो राजा को पितरों का भी पिता लिखा है, अतः पितरों ने राजा पृथु से जाकर कहा—

पितरश्च सुखासीनमभिगम्येदमब्रुवन्।
सम्राडसि क्षत्रियोऽसि राजा गोप्ता पितासि नः॥ ११॥ —महा० द्रोण० अ० ६९

पितर सुख से बैठे पृथु को बोले कि तू सम्राट् है, क्षत्रिय है, रक्षा करनेवाला राजा और हमारा पिता है।

अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक और आपकी शंका निर्मूल है।

(४३९) प्रश्न—**'यो ममार प्रथमो'** इत्यादि [अथर्व० १८।३।१३] अब आर्यसमाजी बतलावें कि वेद में जिस यम को हवि देना लिखा है और वह हवि अग्नि के द्वारा जिस यम को मिलती है वह मृत प्राणियों पर निग्रह एवं अनुग्रह करनेवाला राजा यम है या आनरेरी मजिस्ट्रेट? क्या मजिस्ट्रेट प्राणियों को मारते और फिर मारकर इस लोक से अन्य किसी लोक में ले-जाते हैं? क्या सभी आनरेरी मजिस्ट्रेट विवस्वान् सूर्य के पुत्र हैं? यदि ये घटनाएँ आनरेरी मजिस्ट्रेटों में नहीं हैं तो फिर यम से तुम आनरेरी मजिस्ट्रेट कैसे लेते हो?

—पृ० २९६, पं० २६

उत्तर—श्रीमान्‌जी! आपके सिर पर तो पौराणिक यम का भूत सवार हो रहा है। यम शब्द के अनेक अर्थ हैं? यम राजा, राज्याधिकारी, ईश्वर तथा वायु अनेक अर्थों में वेदों में आता है। इस मन्त्र में यम का अर्थ राजा नहीं अपितु ईश्वर हैं। वैवस्वत के अर्थ हैं सूर्यवत् तेजस्वी, सबका धारक, आकर्षक और इस मन्त्र में अग्निदूत का वर्णन भी नहीं है। देखिए, आपके यहाँ मनु में ईश्वर को यम और वैवस्वत लिखा है, जैसेकि—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥ ९२॥ —मनु० ८

सर्वसंयमनाद्यमः परमात्मा, वैवस्वत इति दण्डधारित्वात्, देवनाद्देवः। —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—सबको नियम में चलानेवाला होने से यम, सब दुष्टों को दण्ड देने से वैवस्वत तथा प्रकाशमान् होने से देव, जिस परमात्मा का नाम है और जो तेरे हृदय में विराजमान है यदि उसके साथ तेरा विरोध नहीं है तो तू न गङ्गा जा, न कुरुक्षेत्र॥ ९२॥

इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यमं प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ —अथर्व० १८।३।१३

भाषार्थ—जो परमात्मा सबसे श्रेष्ठ है और सब जगत् से पूर्व था और मनुष्यों को मारता है और कर्मानुसार इस लोक में भेजता है, सबका जो रक्षक सब मनुष्यों का आश्रय-स्थान है उस सबके राजा, नियम में चलानेवाले परमात्मा की स्तुति द्वारा आदर से पूजा करो॥ १३॥

अब बतलाइए श्रीमान्‌जी! इस मन्त्र में आपके पौराणिक यमराज का वर्णन कहाँ हैं?

मृतकश्राद्ध और स्वामी दयानन्द

(४४०) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने **'प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश'** में मृत्तक पितरों का ही श्राद्ध लिखा था, किन्तु संवत् १९४० को शुभतिथि नरक चतुर्दशी को स्वामीजी का शरीर पात हो गया। संवत् १९४१ में जो द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश आठ पण्डितों ने बनाया तब इस 'सत्यार्थप्रकाश' में जीवित पितरों का श्राद्ध लिख दिया। —पृ० १६, पं० २६

उत्तर—स्वामीजी ने जो प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दी में छपवाया था उस समय स्वामीजी हिन्दी भाषा न जानते थे, अतः सारा प्रबन्ध पण्डितों के ही हाथ में था। पण्डितों ने उसमें मृतकश्राद्ध और मांस की भी मिलावट कर दी। जब स्वामीजी को पता लगा तो जितने पुस्तक मिल सके सब जला दिये और इस बारे में विज्ञापन दे दिया, जो इस पुस्तक के आरम्भ में छाप दिया है और 'सत्यार्थप्रकाश' का संशोधन करके उसे अपने सामने प्रेस में दे दिया। यह बात द्वितीय आवृत्ति 'सत्यार्थप्रकाश' की भूमिका में लिखी हुई है। आपका यह लिखना ग़लत है कि 'स्वामीजी के पीछे आठ पण्डितों ने द्वितीय आवृत्ति सत्यार्थप्रकाश बनाया, जिसमें जीवित पितरों का श्राद्ध लिख दिया' क्योंकि आपने लिखा है कि संवत् १९४० में स्वामीजी की मृत्यु हुई फिर आप स्वयं ही अपनी पुस्तक के पृ० १४७, नं० ८९ में लिखते हैं कि—

'स्वामीजी ने प्रथमावृत्ति 'सत्यार्थप्रकाश' में मृतकों का श्राद्ध अपने-आप लिखा। संवत् १९३४ में कलकत्ते में आशु चटर्जी से कह दिया कि वह लेख मेरा नहीं, मेरे पास रहनेवाले पण्डित ने लिख दिया' इस आपके ही लेख से सिद्ध है कि स्वामीजी ने मरने से छह वर्ष पहले इस लेख से इनकार कर दिया था। तो क्या वे इस छह वर्ष के अरसे में पुस्तक का संशोधन न कर सकते थे? अतः आपकी उपुर्यक्त कल्पना सर्वथा निर्मूल है। दूसरी बात यह है कि जब आर्य्यसमाज सामूहिकरूप से प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश को मिथ्या तथा द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश को ठीक मानता है तो किसी को क्या हक़ है कि शास्त्रार्थ में प्रथम संस्करण का प्रमाण पेश करे? फिर जब आप स्वयं श्राद्ध-प्रकरण में लिखते हैं कि 'स्वामीजी ने जीवितों के श्राद्ध का हुक्म देकर सात सौ वेदमन्त्रों का गला घोंट डाला' अब स्वामीजी के लेख से ही मृतकश्राद्ध को सिद्ध करने का यत्न ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य के विरुद्ध कल्पना करना, वाक्छल नहीं तो और क्या है?

स्वर्ग वा नरक मनुष्य को अपने कर्मानुसार मिलता है, किसी विशेष तिथि में मरने से नरक या स्वर्ग नहीं मिलता, अतः किसी तिथि का नाम नरक चतुर्दशी रखना पौराणिक पाखण्ड ही है। अब आप अपने घर की बात बतलाएँ, आपके यहाँ यह क्या गड़बड़ है कि—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। येन केनाप्युपायेन कार्यं जन्म सुतस्य हि॥ ४॥

—गरुड० प्रेत० अ० २

भाषार्थ—बिना पुत्रवाले की गति नहीं है और स्वर्ग तो उसे मिल ही नहीं सकता। इसलिए जैसे-कैसे भी उपाय से पुत्र का जन्म अवश्य करना चाहिए॥ ४॥

फिर महाभारत में लिखा है कि जरत्कारु नामक ब्राह्मण ने विवाह न करके तप करना आरम्भ किया। वह घूमता-घूमता एक स्थान में गया तो—

अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान्। लम्बमानान् महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान्॥ १५॥

कभी उसने अपने पितरों को बड़े भारी गढ़े में पाँव ऊपर और मुख नीचे करके लटकता देखा॥ १५॥

जब उसने कारण पूछा तो पितरों ने उत्तर दिया कि—

अस्माकं सन्ततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः। मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः॥ १९॥
न स पुत्रान् जनयितुं दारान् मूढश्चिकीर्षति। तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानस्य क्षयादिह॥ २०॥

—महा० आदि० अ० १३

हम यायावर नाम के ऋषि हैं, हमारी एक ही औलाद जरत्कारु है, हमारे मन्दभाग्य के कारण वह मन्दभाग्य तप करने लगा॥ १८॥ वह मूढ औलाद पैदा करने के लिए स्त्री ग्रहण नहीं करता इस कारण हम सन्तान के क्षय होने से यहाँ गढ़े में लटक रहे हैं॥ १९॥

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसञ्चितैः। तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै॥ २५॥

—महा० आदि० अ० १३

धर्मफल और तपों से उस गति को प्राप्त नहीं होते, जिस गति को पुत्रोंवाले प्राप्त होते हैं॥ २४॥

फिर महाभारत में लिखा है कि—

षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप। यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च॥ ४६॥

—महा० वन० अ० २००

छियासी हज़ार योजन यमलोक और मनुष्यलोक में रास्ते का अन्तर है॥ ४४॥

फिर मनु ने लिखा है कि—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥

—मनु० ५। १५९

अनेक सहस्र ब्रह्मचारी कुमार सन्तान पैदा करने के बिना स्वर्ग को चले गये॥ १५९॥

(१) अब देखिए गरुड कहता है पुत्र के बिना स्वर्ग नहीं मिलता, महाभारत कहता है पोते के बिना ऋषियों को उलटा लटकना पड़ा, मनु कहता है हज़ारों बिना सन्तान स्वर्ग में गये, इन तीनों बातों में से कौन-सी बात सत्य है?

(२) जब मनुष्यलोक से यमलोक छियासी हज़ार योजन दूर है तो जरत्कारु वहाँ कैसे पहुँचा जो उसने पितरों को देखा?

(३) जब पितर नज़र नहीं आते तो उस जरत्कारु को कैसे नज़र आये?

(४) जब वे यायावर ऋषि थे तो लड़के की ग़लती के कारण उनको दण्ड क्यों मिला?

(५) जब श्राद्ध आदि के धर्मफलों से वह गति नहीं मिलती जो सन्तान से मिलती है तो फिर श्राद्ध आदि व्यर्थ है, सन्तान के पैदा करने से ही गति होगी।

(६) बिना सन्तानवालों का शुभकर्म करना व्यर्थ है, क्योंकि बिना सन्तान गति तो होगी ही नहीं।

(४४१) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० ६४, नामकरण-संस्कार में जहाँ तिथि और तिथि के देवता, नक्षत्र और नक्षत्र के देवताओं के नाम से हवन करना लिखा है, वहाँ पर मघा नक्षत्र के स्वामी पितरों के नाम से भी आहुति देनी लिखी है। यहाँ पर ही अमावास्या तिथि और उसके स्वामी पितरों के नाम से हवन करना लिखा है। क्या मघा के स्वामी और अमावास्या के स्वामी पितर जिनके नाम का हवन होता है, वे जीवित आर्यसमाजी हैं? —पृ० १८, पं० ४

उत्तर—आपने जो देवता का अर्थ स्वामी लिखा है यह आपकी मिथ्या कल्पना है। देवता का अर्थ है दीप्ति, अर्थात् प्रकाशित करनेवाला, यहाँ पर नामकरण-संस्कार में जो तिथियों और नक्षत्रों के देवता लिखे हैं ये उन तिथियों और नक्षत्रों को प्रकाशित करनेवाले हैं, अर्थात् उन तिथियों तथा नक्षत्रों के ही विशेषतया प्रतिपादक हैं। दूसरे अर्थों में ये उन तिथियों तथा नक्षत्रों के ही दूसरे नाम हैं। हम इस विषय को फलित ज्योतिष और देवजाति विषय में विशेषतया सिद्ध कर आये हैं कि जैसे सिक्खों में चनों का नाम बादाम, बासी रोटी का नाम मिट्ठा, प्रसाद का नाम लखनेत्रा इत्यादि दूसरे नाम रक्खे हुए हैं, वैसे ही तिथियों और नक्षत्रों के भी ये दूसरे नाम ही हैं जिनका देवता शब्द से वर्णन किया है। इसी सिद्धान्त से तिथियों में से अमावास्या का दूसरा नाम पितर और नक्षत्रों में से मघा का दूसरा नाम पितृ है। केवल पितर या पितृ शब्द देखकर ही मृतक पितरों के श्राद्ध की कल्पना करना सर्वथा ही पागलपन है।

(१) यहाँ नामकरण-संस्कार का प्रकरण है, पितृयज्ञ का प्रकरण नहीं है। (२) यहाँ पर

तिथि के देवता पितर और नक्षत्र के देवता पितृ की अग्नि में आहुति दी जाती है, उनके नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराने का वर्णन नहीं है। आप ब्राह्मणभोजन से पितरों की तृप्ति मानते हैं, अग्निहोत्र से नहीं। (३) यहाँ पर तिथि के देवता तथा नक्षत्र के देवता पितर वा पितृ की आहुति दी जाती है; जिसका नाम रक्खा जाए उसके पितर या उसके बाप के पितरों का कोई वर्णन नहीं है। (४) 'संस्कारविधि' के लेखक स्वामी दयानन्दजी मृतकश्राद्ध का अपने ग्रन्थों में बलपूर्वक खण्डन करते हैं। (५) लोगों के माता-पिता आदि पितर मरकर तिथि और नक्षत्रों के देवता नहीं बन जाते। (६) पितर तथा पितृ इन तिथि तथा नक्षत्रों के देवताओं की आहुतियाँ उन बच्चों के नामकरण-संस्कार में दी जाती हैं जिन बच्चों की पैदाइश अमावास्या तिथि या मघा नक्षत्रों में हुई हो, सबके नामकरण में नहीं। इन कारणों से सिद्ध है कि यहाँ पर अमावस्या तिथि का दूसरा नाम पितर तथा मघा नक्षत्र का दूसरा नाम पितृ है। यहाँ पर मृतकश्राद्धों का वर्णन नहीं है। आपके मत में तो श्राद्ध शब्द मृतकों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, जीवितों के लिए नहीं और विवाहादि शुभ संस्कारों में श्राद्ध शब्द का प्रयोग अकल्याण का सूचक है तब राम के विवाह में श्राद्ध क्यों किया गया और नामकरण-संस्कार-जैसे शुभ अवसर पर मृतकश्राद्ध का वर्णन क्यों आया? इस तिथि तथा नक्षत्रों के देवता की आहुति तथा श्राद्धों का वर्णन नामकरण में आपके ग्रन्थों में लिखा है, जैसेकि—

जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवताया इति। —गोभिल० २।८।१२

दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति।—पारस्कर० सप्तदशकण्डिका

नामकरणनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं विधाय अन्य ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा पिता कुमारस्य द्व्यक्षरमित्यादिनोक्तलक्षणं नाम करोति। —हरिहरभाष्य

भाषार्थ—हवन करता है प्रजापति के लिए, तिथि के लिए, नक्षत्र के लिए, उनके देवता के लिए। —गोभिल

दश दिन के पीछे ब्राह्मणों को भोजन करवाकर पिता नामकरण करता है। —पारस्कर

नामकरण के निमित्त मातृपूजा के सहित अभ्युदय के लिए श्राद्ध करके अन्य तीन ब्राह्मणों को भोजन करवाकर पिता कुमार का दो अक्षरादि लक्षणवाला नामकरण करता है। —हरिहर

बतलाइए श्रीमान्जी! मंगलकार्य नामकरण-संस्कार में यह अशुभसूचक मृतकश्राद्ध कहाँ से कूद पड़ा? अतः मानिएगा कि श्राद्ध शब्द मृतकों के लिए नहीं अपितु प्रत्येक शुभ काम में माता-पिता, ज्ञानी, पितर लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम श्राद्ध तथा उनकी तृप्ति करने का नाम तर्पण है। फिर आपके यहाँ लिखा है कि—

लंघनैर्ये मृता जीवा दंष्ट्रिभिश्चाभिघातिताः॥ १०४॥
कंठग्रेह विलग्नानां क्षीणानां तुण्डघातिनाम्। विषाग्निवृषविप्रेभ्यो विषूच्या चात्मघातकाः॥ १०५॥
पतनोद्बन्धनजलैर्मृतानां शृणु संस्थितिम्। सर्पव्याघ्रैः शृङ्गिभिश्च उपसर्गोपलोदकैः॥ १०६॥
ब्राह्मणैः श्वापदैश्चैव पतनैर्वृक्षवैद्युतैः। नखैर्लोहैर्गिरिः पातैर्भित्तिपातैर्भृगोस्तथा॥ १०७॥
खट्वायामन्तरिक्षे च चौरचाण्डालतस्तथा। उदक्याशुनकीशूद्ररजकादिविभूषिताः॥ १०८॥
ऊर्ध्वोच्छिष्टाधरोच्छिष्टोभयोच्छिाष्टास्तु ये मृताः। शस्त्रघातैर्मृता ये चास्य श्वस्पृष्टास्तथैव च॥ १०९॥
तत्तु दुर्मरणं ज्ञेयं यच्च जातं विधिं विना। तेन पापेन नरकान् भुक्त्वा प्रेतत्वभागिनः॥ ११०॥
न तेषां कारयेद्दाहं सूतकं नोदकक्रियाम्। न विधानं मृताद्यं च न कुर्यादौर्ध्वदैहिकम्॥ १११॥
न पिण्डदानं कर्त्तव्यं प्रमादाच्चेत् करोति हि। नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति॥ ११२॥

—गरुड० प्रेत० अ० ४

भाषार्थ—जो जीव उपवास से मरें, जिनको दरिन्दों ने मारा हो॥१०४॥ जिनको गला घोंटकर मारा हो, तुण्डघाती जानवरों ने जिनको मारा हो, ज़हर, अग्नि, बैल, तथा ब्राह्मणों ने जिनको मारा हो, जो हैज़े से मरे हों, जो आत्मघाती हों॥१०५॥ जो गिरने से, बाँधने से और जलों से मरे हों, उनकी स्थिति सुनो! साँप, भेड़िये, सींगवाले जानवरों ने जिनको मार दिया हो, भूचाल, पहाड़ फटने और पानी के बहाव से जो मरे हों॥१०६॥ जो ब्राह्मणों से, जंगली जानवरों से या वृक्ष वा बिजली गिरने से मरे हों। नाखुनों से, लोहे से, पर्वत गिरने से जिनकी मृत्यु हो गई हो, दीवारों के गिरने से जिनकी मौत हुई हो, जो पहाड़ से गिरकर मरे हों॥१०७॥ जो खाट में पड़कर मरा हो, अन्तरिक्ष में मरा हो, जो चोर और चाण्डाल से मारा गया हो, जो ऋतुमती, चाण्डाली, शूद्रा, धोबन के सम्बन्ध से मरा हो॥१०८॥ जो ऊपर से उच्छिष्ट, नीचे से उच्छिष्ट मरे, जो शस्त्रों के घात से मरे, जो कुत्ते के काटने से मरे हों॥१०९॥ ये सब अशुभ मौतें हैं और जिनको मौत विधि के बिना हुई हो वे सब पापों के कारण नरक को भोगकर प्रेतयोनि को प्राप्त होते हैं॥११०॥ उन सबका दाह-संस्कार न करे; न सूतक, न पिण्ड-तर्पण और न मृतक का विधान और न उनका क्रियाकर्म करे॥१११॥ न पिण्डदान करना चाहिए। यदि कोई भूलकर करता है तो वह सब-कुछ मृतकों को प्राप्त नहीं होता, आकाश में ही नष्ट हो जाता है॥११२॥

कहिए महाराज! इस गरुड के लेखानुसार आप चलते हैं या नहीं? और क्या यह लेख युक्तियुक्त है? तो क्या आपके विचार से कोयटा के भूचाल में मरनेवाले सब नरक में जाकर प्रेत बनेंगे? और उनके सम्बन्धियों को तो आप क्रियाकर्म, पिण्डदान, गतिकरण, श्राद्ध आदि कराकर न ठगेंगे?

(४४२) **प्रश्न**—सत्यार्थप्रकाश० पृ० ९८ में लिखा है कि—

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम्। यमादिभ्यो नमः, यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः, पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः, पितामहं तर्पयामि। प्रपितामहाय स्वधा नमः, प्रपितामहं तर्पयामि। मात्रे स्वधा नमः, मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः, पितामहीं तर्पयामि। प्रपितामह्यै स्वधा नमः, प्रपितामहीं तर्पयामि। स्वपत्न्यै स्वधा नमः, स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः, सम्बन्धिनस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः, सगोत्राँस्तर्पयामि।

हम आर्यसमाजियों से पूछते हैं कि यह तर्पण क्या जीवित पितरों का है? यदि सच ही जीवितों का है तो आर्यसमाजी बतलावें कि कौन-कौन आर्यसमाजी सोमसद हैं, जिनका यह तर्पण है? और अग्निष्वात्त पितर कौन हैं? किस-किस आर्यसमाजी के बाप-दादा बर्हिषद हैं? कौन-कौन आर्यसमाजी अपने पितरों को हविर्भुक् मानते हैं? किस-किस आर्यसमाजी ने अपने पितरों का नाम आज्यपा रक्खा है? जब इन शब्दों के अर्थ किये जाएँगे और इन पितरों का निवासस्थान पूछा जाएगा एवं जब यह सवाल होगा कि वे पितर कौन हैं जो बिलकुल अन्न नहीं खाते, केवल आज्यपा हैं—घी पीकर रहते हैं? इतना पूछते ही आर्यसमाजियों को मूक हो जाना पड़ता है।

—पृ० १८, पं० १२

उत्तर—**'चे बाक अस्त दुज़दे कि बकफ़ चराग़ दारद'**—'कैसा चालाक चोर है कि हाथ में दीपक रखता है'—यह दृष्टान्त आपपर ही घटित होता है। सत्यार्थप्रकाश में उपर्युक्त 'पितृतर्पण' का पाठ देकर स्वामीजी ने उसके नीचे ही अक्षरशः अर्थ लिखा है। आप उसे श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प कर गये और फिर हमसे पूछने लगे कि बताओ सोमसद आदि पितर कौन हैं?

आपने अपनी इसी पुस्तक के पृ० २९४ पर श्राद्धप्रकरण में स्वामीजी का मत दिखाते हुए यह पाठ नक़ल किया है और हमने. आपके इन आक्षेपों का उत्तर प्रश्न ४३२ से ४३८ तक में विस्तारपूर्वक दे दिया है। वहाँ से देख लें। श्रीमान्‌जी श्राद्ध और तर्पण जीवित पितरों का ही होता है मृतकों का नहीं, और सोमसद आदि नाम भी जीवित पितरों के ही हैं, मृतकों के नहीं हैं। इन शब्दों के अर्थ इसी स्थान में सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान हैं जिनका खण्डन करने में आप असमर्थ रहे हैं और वे सब पितर रक्षक, ज्ञानी इसी पृथिवी पर ही निवास करते हैं। यदि आपको उनके श्राद्ध-तर्पण करने की इच्छा हो तो हम बता सकते हैं। यों आधा पाठ देकर और आधा चुराकर जनता को धोखा देना विद्वनों को शोभा नहीं देता, किन्तु यह आपके बस की बात नहीं, आप लोगों ने तो अपना पेशा ही जनता को धोखा दे, उन्हें ठगकर खाने का बना रक्खा है। देखिए, आपकी एक दिन-दहाड़े की ठगी बतलाते हैं। गरुडपुराण में लिखा है कि—

'यदि कोई मनुष्य परदेश गया हुआ हो और उसका कोई पता न लगे, मृत्यु का विश्वास हो जावे तो उसके मोक्ष के लिए नारायण-बली करे। उसकी विधि यह है कि काले मृग की खाल लेकर ज़मीन पर बिछावे। उसके ऊपर उस आदमी का पुतला बनावे, ढाक के पत्तों की ३६० डण्डियाँ ले-आवे, उनको हड्डियों के स्थान में लगावे। मांस के स्थान में जौ का आटा, लहू के स्थान में शहद भर दे, शिर के स्थान में नारियल तथा तालु के स्थान में तूंबा लगावे, जिह्वा के स्थान में केला, आँखों के स्थान में कौड़ियाँ, दाँतों के स्थान में अनारदाना, अण्डकोशों के स्थान में बैंगन तथा लिंग के स्थान में गाजर लगावे, इत्यादि। जब पुतला तैयार हो जावे तो उसे विधिपूर्वक जला देवे तथा ब्राह्मणों को गौ, तिल, लोहा, सोना, कपास, नमक आदि दान देवे। इस प्रकार से उसका मोक्ष हो जावेगा, और यदि—

मृतभ्रान्त्या प्रतिकृतेः कृते दाहे स वै यदि॥ १६८॥

आयाति तेन कर्त्तव्यं मज्जनं घृतकुण्डके। जातकर्मादिसंस्काराः कर्त्तव्या पुनरेव तु॥ १६९॥

ऊढामेव स्वकां भार्यामुद्वहेद्विधिवत्पुमान्। वर्षे पञ्चदशे पक्षिन् द्वादशे वा गते सति॥ १७०॥

—गरुड० प्रेत० अ० ४

भाषार्थ—मरने की भ्रान्ति से पुतले के दाह करने के पश्चात् यदि॥ १६८॥ वह आ जावे तो उसे घी के कुण्ड में डुबोवे और उसके फिर से जातकर्म आदि संस्कार करने चाहिएँ॥ १६९॥ और उसकी ब्याहता स्त्री का पन्द्रह या बारह वर्ष के पीछे विधिपूर्वक फिर से विवाह करना चाहिए॥ १७०॥

कहिए महाराज! इस ठगी का कहीं दुनिया में ठिकाना है? जब वह खोया गया तो उसको मोक्ष के बहाने से लूटा, और जब मिल गया तो प्रायश्चित्त के बहाने लूट मचाई, किन्तु अब जनता की आँखें खुल गई हैं; अब आपकी इन मृतकश्राद्ध आदि सारी ठगियों की पोल खुल चुकी है। अब जनता अधिक दिनों तक भ्रम में नहीं रह सकती।

(४४३) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० ९९ बलिदान में लिखा है कि—

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः।

इस मन्त्र को पढ़कर एक ग्रास भोग पितरों के लिए दक्षिण दिशा में रख दे। क्या यह दान जीवित पितरों के लिए रक्खा जाता है? दक्षिण की ओर क्यों? क्या समस्त जीवित पितरों के लिए एक ग्रास पर्याप्त है? यह जीवित पितरों का श्राद्ध है या फाँसी? —पृ० १९, पं० ५

उत्तर—प्रतीत होता है कि मृतकों का अन्न खाने से आपकी बुद्धि इतनी मलिन हो गई है कि आपको पितृ शब्द के देखते ही जैसे 'श्रावण में अन्धे हुए पुरुषों को चारों ओर हरा-ही-हरा नज़र आता है' वैसे ही मृतकश्राद्धों की याद आ जाती है। श्रीमान्‌जी! स्वामीजी ने यह सारा

प्रकरण बलिवैश्वदेवयज्ञ का मनु० अ० ३ श्लोक ८४ से ९२ से लेकर लिखा है। चुनांचे मनु० ३।९१ में—

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ ९१॥

शेष अन्न की बलि दक्षिण की ओर पितरों के लिए देवे॥ ९१॥ ऐसा लिखा है—

निम्न हेतुओं से यहाँ मृतकश्राद्ध का वर्णन नहीं है—

(१) मनु ने भी और स्वामीजी ने भी यह मन्त्र बलिवैश्वदेवयज्ञ में दिया है, पितृयज्ञ में नहीं दिया।

(२) श्राद्ध का विषय पितृयज्ञान्तर्गत है, बलिवैश्वदेवान्तर्गत नहीं है।

(३) स्वामीजी ने इससे पूर्व पितृयज्ञ का वर्णन करते हुए लिखा है कि ''अग्निहोत्र की विधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी पितृयज्ञ कहाता है।''

(४) बलिवैश्वदेवयज्ञ का प्रयोजन पितरों को तृप्त करना नहीं है, अपितु 'जो अज्ञात-अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार कर देना' है। जैसाकि मनु० ३।८१ में भी लिखा है कि '**भूतानि बलिकर्मणा**' बलिकर्म में भूतों, अर्थात् प्राणियों का प्रत्युपकार करना प्रयोजन है।

(५) संस्कारविधि में 'भोग' शब्द नहीं है, आपने अपनी ओर से बढ़ा दिया है।

(६) संस्कारविधि के कर्त्ता ने इससे पूर्व स्पष्ट शब्दों में जीते हुए माता-पिता की सेवा का नाम पितृयज्ञ या श्राद्ध-तर्पण माना है, अतः बलिवैश्वदेवयज्ञ से मृतकश्राद्ध की कल्पना ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के विरुद्ध वाक्छल ही है।

श्रीमान्‌जी! यहाँ पर पितर नाम ऋतुओं का और पञ्चमहायज्ञों का है। नं० ४३१।५ पर हम सिद्ध कर आये हैं कि ऋतुओं का नाम पितर है। और सम्पूर्ण प्रजा का पालन, रक्षण करनेवाले होने से पञ्चमहायज्ञों का नाम भी पितर है, अतः इसके यह अर्थ हुए कि 'वर्षभर की सम्पूर्ण ऋतुओं में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ आदि कर्म करते हुए जो अज्ञात, अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसके प्रत्युपकार के लिए मैं इस अन्न की बलि देता हूँ'। इस बलिवैश्वदेवयज्ञ में जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं में भाग रखने का विधान है यह केवल मर्यादार्थ है, अर्थात् सम्पूर्ण समाज के काम करने की एक ही विधि हो, भिन्न-भिन्न विधियाँ न हों। इस बलिवैश्वदेवयज्ञ के अन्त में लिखा है कि—

'इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना'।

अतः इस बलिवैश्वदेवयज्ञ से प्रकरण के विरुद्ध मृतकश्राद्ध को सिद्ध करने का यत्न असम्भव तथा निर्मूल कल्पना है।

आप जिन मृतकश्राद्धों की सिद्धि में आत्मघात पाप के भागी बन रहे हैं, उनसे कोई लाभ तो है नहीं, देखिए—

ददाति यत् पार्थिव यत्करोति यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो नान्यस्तदश्नाति स एव कर्त्ता॥ २२॥

—महा० उद्योग० अ० १२३

आत्मनैव कृतं कर्म ह्यात्मनैवोपभुज्यते। इह वा प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम्॥ ४॥

—महा० भीष्म० प्र० ७७

भाषार्थ—हे राजन्! मनुष्य जो दान देता है, जो तप करता है और जो हवन-यज्ञ करता

है, उस किये हुए का नाश नहीं होता, न वह घटता है, न उसे कोई भोग सकता है। वह कर्म करनेवाला ही उन कर्मों के फल को भोगता है॥ २२॥ आत्मा से, अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्म आत्मा से ही, अर्थात् स्वयं ही भोगता है। चाहे इस जगत् में चाहे परलोक में अपना किया ही भोगता है। हे राजन्! आपने जैसा किया वैसा ही प्राप्त कर लिया॥ ४॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कर्मों का फल कर्त्ता को ही मिलता है। अन्य के किये कर्म का फल अन्य को नहीं मिल सकता, अतः मृतक पितरों की तृप्ति की आशा करना सर्वथैव निर्मूल तथा मिथ्या कल्पना है।

(४४४) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० ११४ समावर्तन-प्रकरण में लिखा है कि 'हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके **'ओं पितरः शुन्धध्वम्'** इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ दे'। यदि श्राद्ध-तर्पण जीवित पितरों का ही होता तो फिर हाथ में जल लेना कैसा? आर्यसमाजियों के घरों में लोटा, ग्लास, कटोरी, कुछ भी नहीं रहता। अपसव्य होना, जनेऊ को दक्षिण कन्धे से हटाकर बायें कन्धे पर धरना यह कोई आर्यसमाज की सभ्यता है या इसमें कोई गूढ फ़िलासफ़ी है? वेदादि सच्छास्त्रों में तो मृतक पितरों को अन्न-जल देने पर ही अपसव्य होना लिखा है। दक्षिण की तरफ मुँह करके यह क्यों? आर्यसमाजियो! तुम हमें मूर्ख मत बनाओ, यह मत कहो कि यह तर्पण जीवित पितरों का होता है। —पृ० १९, पं० २३

उत्तर—आपके सिर पर मृतकश्राद्ध की सिद्धि का पागलपन बहुत बुरी तरह से सवार हुआ है, इसलिए पितर शब्द के देखते ही आप झट कह उठते हैं कि 'यह लो मृतकश्राद्ध सिद्ध हो गया'। श्रीमान्जी! यहाँ समावर्तन-संस्कार है, पितृयज्ञ का विषय नहीं है, और न ही यहाँ पर पितरों के श्राद्ध वा तर्पण का प्रयोजन है। यहाँ पर अपसव्य होने के अर्थ यज्ञोपवीत को बायें कन्धे पर करने के नहीं हैं, अपितु बायीं ओर खड़े होने के हैं, जैसाकि महाभारत में आता है कि—

(१) **अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव। वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम्॥ १७॥**
—महा० उद्योग० अ० १४२

(२) **ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते। रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ॥ १७॥**
—महा० भीष्म० अ० ३

(३) **अपसव्यं ग्रहाश्चक्रुरलक्ष्माणं दिवाकरम्। अवाक्शिराश्च भगवाननुपातिष्ठत चन्द्रमाः॥ १२॥**
—महा० भीष्म० अ० ११३

(४) **गोमायवश्च प्राक्रोशन् भयदा दारुणाः खगाः।**
अकार्षुरपसव्यञ्च बहुशः पृतनां तव॥ ३७॥ —महा० द्रोण० अ० ७

(५) **तमापतन्तं द्विरदं दृष्ट्वा क्रुद्धमिवान्तकम्। चक्रेऽपसव्यं त्वरितः स्यन्दनेन जनार्दनः॥ २८॥**
—महा० द्रोण० अ० २८

(६) **अपसव्यं चकाराथ माद्रीपुत्रस्तवात्मजम्॥ ५१॥**
अपसव्यं कृतं संख्ये भ्रातृव्येनात्यमर्षिणा॥ ५२॥ —महा० द्रोण० अ० १८७

(७) **अपसव्यं ततश्चक्रे द्रौणिस्तत्र वृकोदरम्॥ १७॥** —महा० कर्ण० अ० १५

(८) **मृगपक्षिगणाश्चैव पृतनां बहुशस्तव। अपसव्यं तदा चक्रुर्वेदयन्तो महाभयम्॥ ६॥**
—कर्ण० अ० ३७

(९) **ततोऽर्जुनस्याशु रथेन केशवश्चकार शत्रूनपसव्यमातुरान्॥ ९१॥**
—महा० कर्ण० अ० ७९

भाषार्थ—(१) हे केशव! सारे मृग दुर्योधन की बायीं ओर थे और शरीर-रहित वाणियाँ सुनाई देती थीं। यह पराजय का लक्षण है। (२) निश्चयरूप से घोर प्रचण्ड अग्नि बायीं ओर वर्त्तमान है और रोहिणी को सूर्य और चाँद दोनों पीड़ित कर रहे थे। (३) सब ग्रहों ने सूर्य को बायीं ओर कर दिया और चन्द्रमा नीचे को सिर किये वर्त्तमान है। (४) चीखते हुए गीदड़ और क्रूर-भयप्रद बहुत-से पक्षी तेरी सेना को बायीं ओर कर रहे हैं। (५) उस क्रोध में आये हुए काल के समान आक्रमण करते हुए हाथी को देखकर श्रीकृष्ण ने तुरन्त रथ से बायीं ओर कर दिया। (६) उसके पश्चात् तेरे पुत्र दुर्योधन को माद्री के पुत्र सहदेव ने बायीं ओर कर दिया। तेरे क्रोधी भतीजे ने युद्ध में उसे बायीं ओर कर दिया। (७) उसके पश्चात् वहाँ अश्वत्थामा ने भीम को बायीं ओर कर दिया। (८) बहुत-से मृग और पक्षियों ने महाभय प्रकट करते हुए तब तेरी सेना को बायीं ओर कर दिया। (९) उसके पश्चात् शीघ्रता से कृष्ण ने व्याकुल शत्रुओं को अर्जुन के रथ से बायीं ओर कर दिया।

कहिए महाराज! इन प्रकरणों में कहीं मृतक पितरों का तथा उनको अन्न-जल देने का चिह्न भी है और क्या यहाँ पर अपसव्य करने के अर्थ यज्ञोपवीत को दायें से बायें करने के किये जा सकते हैं? कदापि नहीं, अतः अपसव्य होने या करने के अर्थ बायीं ओर होने या करने के बिना और कुछ भी नहीं हो सकते। यज्ञोपवीत को दायें कन्धे से बायें कन्धे पर करना केवल पौराणिक पाखण्डियों की मिथ्या कल्पना ही है।

यहाँ पर दक्षिणमुख होने के अर्थ दक्षिण दिशा में मुख करने के नहीं हैं, अपितु दायीं ओर मुख करने के हैं। यदि कोई मनुष्य किसी के बायीं ओर खड़ा होकर प्रार्थना करना चाहता है तो स्वाभाविक रूप से ही उसे दायीं ओर मुख करके खड़ा होना पड़ेगा और दिशा में मुख करने से पितर सामने ही नहीं रहते।

अतः समावर्तन-संस्कार के समय ब्रह्मचारी हाथ में जल लेकर पितरों के बायीं ओर अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, अध्यापक, ज्ञानियों के बायीं ओर खड़े होकर और दायीं ओर मुख करके उनसे प्रार्थना करता है कि **'पितरः शुन्धध्वम्'** हे आचार्य, अध्यापक, उपदेशक, ज्ञानी, पितर लोगो! आप स्वयं इस जल के समान शुद्ध और शान्त होने का उपदेश और आशीर्वाद देकर शुद्ध और शान्त कीजिए, यह प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ देता है।

कहिए महाराज! इसमें से मृतकश्राद्ध कहाँ से टपक पड़ा? श्रीमान्‌जी! जिस मृतकश्राद्ध की आप वकालत कर रहे हैं उसकी निश्चित परिस्थिति क्या है, इसका आप ठीक रूप से वर्णन नहीं कर सकते। गरुडपुराण में लिखा है कि पिण्डों से मृतक पितरों का शरीर बनता है, जैसाकि—

अहोरात्रैस्तु नवभिर्देहो निष्पत्तिमाप्नुयात्। शिरस्त्वाद्येन पिण्डेन प्रेतस्य क्रियते तथा॥ ३३॥
द्वितीयेन तु कर्णाक्षी नासिकं तु समासतः। गलांसभुजवक्षश्च तृतीयेन तथा क्रमात्॥ ३४॥
चतुर्थेन च पिण्डेन नाभिलिङ्गं गुदं तथा। जानुजंघं तथा पादौ पञ्चमेन तु सर्वदा॥ ३५॥
सर्वमर्माणि षष्ठेन सप्तमेन तु नाडयः। दन्तलोमान्यष्टमेन वीर्यं तु नवमेन च॥ ३६॥
दशमेन तु पूर्णत्वं तृप्ता क्षुद्विपर्ययः॥ ३७॥

—गरुड० प्रेत० अ० ५

भाषार्थ—नौ दिन-रात में देह सम्पूर्ण हो जाता है। पहले पिण्ड से मृतात्मा का सिर बनता है, दूसरे से कान, आँख और नाक, तीसरे से क्रम से गर्दन, पसली,बाहु, छाती, चौथे से नाभि, लिङ्ग और गुदा, पाँचवें से सदा घुटने, टाँगें और पाँव, छठे से सब मर्मस्थान, सातवें से नाडियाँ, आठवें से दाँत और बाल, नौवें से वीर्य, दशवें पिण्ड से पूर्णता को प्राप्त होता है।

अध्याय १५ तथा ३४ में भी ऐसे ही वर्णन हैं और तीनों लेखों में मतभेद है। भला, सोचिए तो सही, क्या पितरों का शरीर तुम्हारे पिण्डदान से बनता है वा परमात्मा के नियम से? जिनके

पिण्ड नहीं दिये जाते क्या उनका शरीर नहीं बनता? यदि बनता है तो तुम्हारा पिण्डदान व्यर्थ क्रिया नहीं तो क्या है? देखिए, शास्त्रों में पिण्ड नाम भोजन का है, जैसाकि—

(१) **ततो दुःखतरं किन्नु यदहं हीनबान्धवा।**
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वा मित्रनन्दनम्॥ ३३॥ —महा० उद्योग० अ० १३२

(२) **अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते।**
दुर्योधनहितार्थाय भर्त्तुः पिण्डमनुस्मरन्॥ ६७॥ —महा० भीष्म० अ० ७७

(३) **द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः॥ १५॥**
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः॥ १६॥ —महा० वन० अ० ३६

(४) **यावतो हि अन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजम्॥ ३४॥**
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः॥ ३५॥ —महा० वन० अ० १९३

भाषार्थ—(१) कुन्ती ने कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को सन्देश दिया कि—'इसे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है कि मैं बन्धुओं से हीन हुई तुझ मित्रों को आनन्द देनेवाले को पैदा करके भी दूसरों के भोजन की ओर देखती हूँ! (२) दुर्योधन के हित के लिए और स्वामी के भोजन को याद करते हुए द्रोणाचार्य ने अर्जुन की ओर सैकड़ों बाण छोड़े। (३) युधिष्ठिर ने भीम से कहा कि मेरी सम्मति है कि महाभुज द्रोण और महात्मा कृपाचार्य अवश्य ही राजा के भोजन का ख़याल रखकर दुर्योधन का साथ देंगे। (४) जितने भी अन्न के ग्रासों को ब्राह्मण खाता है देनेवाला उतने हज़ार गोदान का फल पाता है।

इन सम्पूर्ण प्रमाणों में पिण्ड नाम भोजन, अन्न और अन्न के ग्रास का है, पौराणिकों से कल्पित मृतकों के शरीर को निर्माण करनेवाले पिण्डों का वर्णन नहीं है। हमने इस प्रकरण में सिद्ध कर दिया है कि—

(१) जीवों का मरने पर माता-पिता आदि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता।
(२) पितर शब्द जीवितों के लिए चरितार्थ हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं।
(३) किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है, टलता नहीं।
(४) कर्मों का फल कर्त्ता को मिलता है, अन्य को नहीं।
(५) अन्य के कर्मों का फल अन्य को नहीं मिलता।
(६) श्राद्ध, पिण्ड, तर्पण आदि सब शब्द जीवितों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

अतः जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम श्राद्ध तथा उनको तृप्त करने का नाम तर्पण है। मृतकपितरों का श्राद्ध-तर्पण वेदविरुद्ध, पौराणिक कल्पना है, जो सर्वथा मिथ्या है।

पत्यन्तर्विधान

(अर्थात् पुनर्विवाह, विधवा-विवाह, नियोग, करेवा, चादरदाज़ी आदि)

(४४५) प्रश्न—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२३ में लिखा है कि—

''नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाए अथवा उनमें किसी प्रकार का रोग हो जाए वा नपुंसक, बन्ध्यादोष पड़ जाए और उनकी युवावस्था हो तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अवश्य चाहिए''। यह भी नहीं बतलाया कि 'नियोग अवश्य करना चाहिए' यह लेख कहाँ लिखा है? इस चालबाज़ी से लेख लिखा गया है कि लेख पढ़नेवाला मनुष्य यह समझे कि नियोग अवश्य होने का नियम वेद में है, किन्तु भूतल पर इस लेख को वैदिक सिद्ध करनेवाला कोई मनुष्य पैदा नहीं हुआ।

—पृ० ४३, पं० १९

उत्तर—'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' यह लोकोक्ति आपपर ही घटित होती है। ऋषि दयानन्दजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नियोग-प्रकरण में प्रथम **'कुहस्विद्दोषा'**, **'इयं नारी'**, **'उदीर्ष्व नारी'**—ये तीन मन्त्र देने के पश्चात् उपर्युक्त लेख लिखा है, जिसको आपने अपने स्वभाव के अनुसार चुरा लिया है। स्वामीजी ने 'नियोग अवश्य होना चाहिए' के साथ निम्न शर्तें लगाई हैं—

(१) किसी पुरुष की स्त्री वा स्त्री का पुरुष मर जाए।

(२) उनमें किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाए।

(३) नपुंसकता अथवा बन्ध्यापन दोष पड़ जाए।

(४) उनकी युवावस्था हो।

(५) सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो।

तो इन अवस्थाओं में उनका नियोग होना अवश्य चाहिए।

स्वामीजी ने उपर्युक्त तीन मन्त्रों की यह व्याख्या की है। उपर्युक्त मन्त्रों में स्त्री को दूसरे पति का हक़ स्वीकार किया गया है। वह हक़ किन अवस्थाओं में प्रयोग करना चाहिए यह व्याख्या स्वामीजी ने वर्णन की है और वह वेदानुकूल है। यही वेदानुकूल लेख मनु [९।१६७] ने भी लिखा है कि—

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥ १६७॥

यो मृतस्य नपुंसकस्य प्रसवविरोधिव्याध्युपेतस्य वा भार्यायां घृताक्तत्वादिनियोगधर्मेण गुरुनियुक्तायां जातः स क्षेत्रजः पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः॥ १६७॥ —कुल्लूक

भाषार्थ—मरे हुए, नपुंसक, प्रसवविरोधि बीमारी से युक्त पुरुष की स्त्री में घृत आदि लगाकर नियोगधर्म से गुरु की आज्ञा से नियोग करनेवाली में पैदा हुए पुत्र का नाम क्षेत्रज है।

महाभारत में भी इसकी पुष्टि की है कि—

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्॥ ६॥[1] —महा० आदि० अ० १०४

उत्तमाद्देवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि॥ ३६॥[2]
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवा। आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ ३७॥
—महा० आदि० अ० १२०

भाषार्थ—नियोग से पैदा हुआ पुत्र विवाहित पति का ही होता है, यह वेदों में निश्चित है॥ ६॥ लोग आपत्तिकाल में उत्तम देवर से पुत्र प्राप्त करने की इच्छा करते हैं॥ ३६॥ मनुष्य नियोग से श्रेष्ठ धर्म के फल देनेवाले पुत्र को प्राप्त होते हैं। हे कुन्ति! वह पुत्र अपने वीर्य से पैदा हुए पुत्र से भी श्रेष्ठ है, यह मनुजी महाराज कहते हैं॥ ३७॥

अब हम यहाँ उन मन्त्रों की व्याख्या कर देते हैं, जिनके आधार पर स्वामीजी ने नियोग का प्रतिपादन किया है—

---

१. यह श्लोक गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। वि० सं० १९९२ में छपे महाभारत प्रकाशक मण्डल, चाँदनी चौक, दिल्ली, संस्करण में है। गीता० सं० में से एक पूरे-का-पूरा अध्याय निकाल दिया गया है। —सं०

२. यह श्लोक गीता० संस्करण में किञ्चित पाठभेद से अ० ११९का ३५वाँ श्लोक है। —सं०

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥

—ऋ० १०।४०।२

भाषार्थ—हे स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों ने रात्रि में कहाँ निवास किया था, तथा दिन में कहाँ बसे थे? तुमने अन्न, वस्त्र, धन, आदि की प्राप्ति कहाँ की थी? तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है? रात्रि में तुम कहाँ शयन करते हो? जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो? जैसे विवाहित मनुष्य को समान स्थान में सन्तान के लिए विवाहित स्त्री स्वीकार करती है॥ २॥

इसपर निरुक्तकार लिखते हैं कि '**देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते**'—देवर को देवर क्यों कहते हैं, इसलिए कि वह विधवा का दूसरा वर है।

सायणाचार्य ने भी स्वामीजी के इस अर्थ की पुष्टि करते हुए निरुक्त के उपर्युक्त पाठ को उद्धृत किया है तथा निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी '**विधवेव देवरम्**' तथा '**मर्यं न योषा**' की व्याख्या करते हुए स्वामीजी के सिद्धान्त का अनुमोदन किया है, जैसेकि—

सायणभाष्य—**हे अश्विना अश्विनौ कुहस्वित् क्वचित् दोषा रात्रौ भवथः इति शेषः। कुह वस्तोः क्व वा दिवा भवथः। कुह क्व वा अभिपित्वं अभिप्राप्तिं करतः कुरुथः। कुह क्व वा ऊषतुः वसथः। किञ्च युवां वां क्व यजमानः सधस्थे सहस्थाने वेद्याख्ये आकृणुते आकुरुते। परिचरणार्थमात्मानमभिमुखीकरोति। तत्र दृष्टान्तौ दर्शयति। शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरमभिमुखीकरोति। मर्यं न यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकालेऽभिमुखीकरोति तद्वदित्यर्थः। तथा च यास्कः क्वस्विद्रात्रौ भवतः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा, विधावनाद्वेति चर्मशिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यति कर्मा। मर्या मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौतेराकुरुते सहस्थाने (निरु० ३।१५) इति।**

दुर्गाचार्य—**शयुत्रा शयने किं विधवा इव देवरम् यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, स हि परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यतरो भवतीति यत्नेनोपचर्यते न तथा निजो भर्ता। तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ। तथा मर्यं मनुष्यं देवरं सैव मृतभर्तृका योषा आकृणुत आभिमुख्येन कुरुते। को वाम् एवं आभिमुख्येन सधस्थे सह स्थाने समाने सहयोगिनावात्मना कृत्वा परिचचार।**

भाषार्थ—हे अश्विनौ! तुम दोनों रात्रि में कहाँ होते हो, और दिन में कहाँ होते हो, और कहाँ प्राप्ति करते हो, तुम दोनों को कौन यजमान वेदी में सेवा करने के लिए सन्मुख होता है? यहाँ दो दृष्टान्त दिखाता है। जैसे सोने के स्थान में विधवा स्त्री पति के भाई को अभिमुख करती है और जैसे सब मनुष्यों को स्त्रियाँ सम्मुख करती हैं, उसी प्रकार से, इत्यादि। —सायणभाष्य

चारपाई पर क्या जैसे कोई विधवा स्त्री सेज पर अत्यन्त एकान्त में यत्न से देवर को प्रसन्न करती है, वह दूसरी स्त्री का पति होने से विधवा स्त्री से प्रसन्न करना बहुत कठिन होता है, इसलिए यत्न से प्रसन्न करती है वैसे अपने पति को नहीं। इसलिए उसे अश्विनीकुमारों की उपमा दी है और मनुष्य देवर को वही विधवा स्त्री सम्मुख करती है। आप कौन हैं, ऐसे सम्मुख करके समान स्थान में आत्मा से संयोग करके सेवा करती है। —दुर्गाचार्य

और महामहोपाध्याय शिवदत्त शास्त्री, प्रधानाध्यापक, ओरियण्टल कालेज, लाहौर ने भी निरुक्त पर टिप्पणी करते हुए इस मन्त्र पर लिखा है कि—

एवं च चतस्रो गतयो विधवानां प्रतिभान्ति। तत्र पत्यौ प्रेते ब्रह्मचारिणी उत्तमा ब्रह्मचर्ये स्थातुमसमर्था पतिमनुगच्छन्ती मध्यमा। ब्रह्मचर्यपत्यनुगमनयोरसमर्था पुनर्भूत्वमङ्गीकुर्वती अधमा। पुनर्भूत्वमप्यनङ्गीकुर्वती व्यभिचारजातगर्भादिनिःसार्यती अधमाधमा। एवं चतुर्विधासु विधवागतिषु तिस्रो गतीरुत्तममध्यमाधमा उपदिदेशायं मन्त्रः। न त्वधमाधमगतिं चतुर्थीमिति सर्वमनवद्यम्। निरुक्त अ० २, खं० १५

भाषार्थ—इस प्रकार से विधवाओं की चार गतियाँ प्रतीत होती हैं। उनमें से पति के मरने पर जो ब्रह्मचारिणी रहे वह उत्तम, जो ब्रह्मचर्य में स्थिर रहने में असमर्थ हो पति के साथ सती हो जाए, वह मध्यमा जो ब्रह्मचर्य में रहने तथा सती होने में असमर्थ हो और पुनर्विवाह कर ले वह अधम, जो पुनर्विवाह भी न करके व्यभिचार से हुए गर्भादि को निकालनेवाली, गर्भपात के अधिक दोष के कारण अधमाधम। इस प्रकार से विधवाओं की चार गतियों में से पहली तीन उत्तम, मध्यम, अधम का यह मन्त्र उपदेश करता है। चौथी अधमाधम गति का नहीं, यह सब निर्विवाद है।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

—अथर्व० १८।३।१

भाषार्थ—यह विधवा स्त्री मरे हुए पति को छोड़कर पतिसुख को स्वीकार करना चाहती हुई हे मनुष्य! तुझे पति प्राप्त करती है। तेरे पास नियोगविधान से प्राप्त होती है। उसको तू ग्रहण कर, इसमें सन्तान पैदा कर। कैसी वह स्त्री? वेदप्रतिपाद्य सनातनधर्म का पालन करती हुई, तुझे नियोग से पति स्वीकार करती है। तू भी इसको स्वीकार कर। उस विधवा के लिए इस समय वा लोक में सन्तान उत्पन्न कर और इसमें वीर्य धारण कर, अर्थात् इसमें गर्भाधान कर।

'उदीर्ष्व नारि' इसका अर्थ आगे चलकर करेंगे।

हमने सिद्ध कर दिया कि स्वामीजी का उपर्युक्त लेख वेद के अनुकूल है। क्या भूतल पर कोई एक भी ऐसा मनुष्य पैदा हुआ है जो चारों वेदों में से एक वेदमन्त्र भी पेश करके स्वामीजी के लेख को वेदविरुद्ध सिद्ध कर सके?

(४४६) प्रश्न—द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश पृ० ११० में लिखा है कि—

'गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के विषय में पुरुष वा स्त्री से न रहा जाए तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दे।

संसार के ग्रन्थों में से किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का नियोग नहीं मिलता। इस गूढ़ फ़िलासफ़ी का असली तत्त्व हमारी समझ में नहीं आया। इसमें लिखा है कि 'गर्भ की दशा में किसी स्त्री से न रहा जाए तो वह किसी दूसरे पुरुष के साथ भोग करे।' क्यों, ऐसा क्यों किया जाए? अपने पति से भोग करे तो ज़हर चढ़ जावे। और फिर एक लड़का पैदा करके उस भोग करनेवाले को दे दे। पेट में पहले से ही एक लड़का बैठा है, फिर इस दूसरे को कहाँ रक्खे? सन् १८७५ के सत्यार्थप्रकाश में 'गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के विषय में पुरुष वा स्त्री से न रहा जाए' इसके स्थान में 'गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए' बदलकर ऐसा कर दिया। यह बदला हुआ पाठ भी वैदिक नहीं है। वैदिक होने का भ्रम अब भी उसमें ज्यों-का-त्यों है।

—पृ० ४४, पं० ३

उत्तर—स्वामीजी के हस्तलिखित सत्यार्थप्रकाश में पाठ इस प्रकार है—

प्रश्न—'जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष होगा,

तब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाए, तो फिर क्या करें?'

उत्तर—''इसका प्रत्युत्तर नियोग विषय में दे चुके हैं और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दे, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें।''

(१) द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश छपने में 'दीर्घरोगी पुरुष की' यह छपने में रह गया था जिसको पीछे से ठीक कर पूरा छाप दिया गया जिसमें गर्भवती स्त्री से समागम का स्पष्ट निषेध है।

(२) द्वितीयावृत्ति में भी 'गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के विषय में' ये शब्द साफ़ तौर से गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम का निषेध कर रहे हैं और अगले पाठ में से रहे हुए पाठ को सूचित कर रहे हैं।

(३) प्रश्न के अनुसार उत्तर हुआ करता है। जब प्रश्न में स्पष्ट पूछा गया है कि 'जब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो' इन शब्दों से साफ़ पता लगता है कि पूछनेवाले का यह अभिप्राय है कि 'यदि स्त्री गर्भवती या स्थिररोगिणी हो, पुरुष से न रहा जाए, तो वह क्या करे, अथवा यदि पुरुष दीर्घरोगी हो, स्त्री से न रहा जाए तो वह क्या करे।'

अतः द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश में उत्तर प्रश्न के अनुकूल नहीं है, और जो पीछे से ठीक करके छापा गया है उसमें उत्तर प्रश्न के अनुसार है।

(४) इन हेतुओं से स्पष्ट है कि यह छापे की ग़लती थी जिसे पीछे ठीक कर दिया गया।

(५) यदि यह भी मान लिया जाए कि पीछे से आर्यसमाज ने ठीक कर लिया, तो भी किसी को ऐतराज़ का हक़ नहीं है, क्योंकि आर्यसमाज ने गर्भवती स्त्री से समागम वेदविरुद्ध समझकर इस पाठ को वेदानुकूल बना दिया।

अतः पाठ बदलने की शङ्का तो सर्वथा निर्मूल और व्यर्थ है। अब रह गई बात वेदानुकूलता की, सो—

(१) गर्भवती स्त्री से समागम वेद के विरुद्ध है, जैसाकि—

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुनावृत उल्बं जहाति जन्मना॥

—यजुः० १९।७६

भाषार्थ—मनुष्य का लिंगेन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रविष्ट होता हुआ मनी अर्थात् वीर्य को विशेष तौर से छोड़ता है। इससे पृथक् पेशाब को छोड़ता है। वह वीर्य जेर से लिपटा हुआ गर्भरूप होकर जन्म लेता है। जन्म से पर्दे को छोड़ता है॥७६॥

यह वेदमन्त्र गर्भाधान शिक्षा देता हुआ बताता है कि स्त्री-पुरुष का संयोग केवल गर्भधारणार्थ है। स्त्री-पुरुष को तब समागम करना चाहिए जब गर्भधारण की आवश्यकता हो, अन्यथा नहीं, अतः गर्भवती स्त्री से समागम करना वेद के विरुद्ध है। इसकी पुष्टि मनुजी भी करते हैं कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्॥ —मनु० ३।४५

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः॥ —मनु० ९।९६

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्॥ —मनु० ९।३३

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते॥ —मनु० ९।८

भाषार्थ—ऋतुकाल के अनुसार स्त्री से समागम करना चाहिए। गर्भवती के ऋतु आता ही नहीं, अतः गर्भवती से समागम निषिद्ध है॥४५॥ परमात्मा ने स्त्रियों और पुरुषों को सन्तान पैदा

करने के लिए पैदा किया है। गर्भवती होने में सन्तान का प्रयोजन निवृत्त हो चुका, अतः गर्भवती से समागम निषिद्ध है॥ ३३॥ पति पत्नी में प्रवेश करके इस संसार में गर्भ होकर पैदा होता है। गर्भ के प्रयोजनार्थ ही पति को पत्नी से समागम की आज्ञा है, अतः गर्भ होने पर उससे समागम करना निषिद्ध है॥ ८॥ अतः आपका यह लिखना कि—

'गर्भवती स्त्री अपने पति से भोग करे तो क्या ज़हर चढ़ जाए' वेद-शास्त्र के विरुद्ध और पाप है और गर्भवती से समागम में व्यभिचारदोष, कन्या-समागमदोष, पुंसमागमदोष, गर्भपात का खतरा, लड़का-लड़की गर्भ में जो हैं उनको व्यभिचार की शिक्षा, आदि अनेक दोष हैं।

(२) साधारण अवस्था में एक समय में एक स्त्री के एक पति तथा एक पति के एक स्त्री की वेद आज्ञा देता है, जैसेकि—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

—ऋ० १०।८५।४२

भाषार्थ—तुम दोनों पति-पत्नी यहाँ ही—घर में रहो। एक-दूसरे से पृथक् मत होवो। पुत्रों तथा पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने घर में आनन्द से रहते हुए तुम दोनों पूर्ण आयु प्राप्त करो॥ ४६॥

किन्तु आपत्तिकाल में वेद ने स्त्री के लिए दूसरे पति तथा पुरुष के लिए दूसरी स्त्री की आज्ञा दी है, जैसाकि—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्। पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः।

—अथर्व० ९।५।२७

भाषार्थ—जो स्त्री पहले पति को प्राप्त होके उसके पीछे आपत्तिकाल में दूसरी बार होनेवाले दूसरे पति को प्राप्त करती है, वे दोनों पति-पत्नी अपरिमितयज्ञ को धारण करते हैं और वियोग को प्राप्त नहीं होते॥ २७॥

इस मन्त्र में दूसरे पति का जो 'परम्' विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि जो स्त्री दूसरा पति धारण करना चाहती हो वह ऐसे ही पुरुष को दूसरा पति बना सकती है जो पुरुष पहले एक स्त्री को स्वीकार कर चुका हो और दूसरे दर्जे पर इस स्त्री को स्वीकार करे।

इस मन्त्र से सिद्ध है कि आपत्तिकाल में स्त्री और पुरुष दोनों को दूसरे पति तथा दूसरी पत्नी के स्वीकार करने की आज्ञा है।

स्मृतियों ने इसकी व्याख्या करते हुए अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया है जिनमें स्त्री को दूसरे पति तथा पुरुष को दूसरी स्त्री का अधिकार स्वीकार किया है, जैसाकि—

(१) परदेश जाने पर (२) खोये जाने पर (३) मर जाने पर (४) नपुंसक, बन्ध्या होने पर (५) दीर्घरोग होने पर (६) द्वेष होने पर (७) पागल होने पर (८) पतित होने पर (९) कोढ़ी होने पर (१०) सन्तान मरते रहने पर (११) कन्याएँ ही पैदा होने पर (१२) कड़वा बोलने पर (१३) संन्यास लेने पर (१४) शराबी होने पर (१५) दुराचार होने पर (१६) प्रतिकूल होने पर (१७) मारने-पीटने का स्वभाव होने पर (१८) नित्य फ़ज़ूलखर्च होने पर (१९) जुआ आदि व्यसन होने पर। —९।७६ से ८१, १६७

जहाँ पर दूसरे स्मृतिकारों ने उपर्युक्त अवस्थाओं में स्त्री को दूसरे पति तथा पति को दूसरी स्त्री का अधिकार वर्णन किया है वहाँ ऋषि दयानन्दजी ने 'स्त्री गर्भवती हो, पुरुष से रहा न जाए' इस अवस्था का भी आपदधर्म में ही वर्णन किया है और ऐसी अवस्था में पुरुष को दूसरी स्त्री का हक़ दिया है। यह अवस्था भी स्वामीजी की कल्पित नहीं है, अपितु प्राचीनकाल में इसपर आचरण भी होता रहा है, जैसाकि—

गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता। धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल॥ ४१॥
तस्मिन् संवत्सरे राजन् धृतराष्ट्रान्महायशाः। जज्ञे धीमाँस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप॥ ४२॥

—महा० आदि० अ० ११५ [गीता० सं० में अ० ११४ श्लो० ४१ से ४३।—सं०]

भाषार्थ—पेट के बढ़ जाने से गान्धारी के क्लेश पाने के समय में निश्चय से एक वैश्या ने राजा धृतराष्ट्र की सेवा की॥ ४१॥ उस एक वर्ष के बीतने पर धृतराष्ट्र से उस वैश्या में बुद्धिमान् महायशस्वी युयुत्सु पैदा हुआ॥ ४२॥

अतः स्वामीजी का ऐसी अवस्था में गर्भवती से समागम न करने, वेश्या-गमन, व्यभिचार से बचने के लिए नियोग का प्रतिपादन वेद, स्मृति, इतिहास और युक्ति के अनुकूल ही है।

रही बात गर्भवती से नियोग करने की, सो बेशक यह बात ठीक है कि वेदानुकूल शास्त्रों और इतिहासों में से इस प्रकार की घटना मिलनी असम्भव है, किन्तु पौराणिक इतिहासों में संसार में कोई बात असम्भव नहीं है और सनातनधर्म के मान्य ग्रन्थों में ऐसी घटना का मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, जैसाकि—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती। वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते॥ १७३॥

—मनु० ९

अथोतथ्य इति ख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा। ममता नाम तस्यासीद् भार्या परमसम्मता॥ ८॥
उतथ्यस्य यवीयाँस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम्। बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत॥ ९॥
उवाच ममतां तं तु देवरं वदतां वरम्। अन्तर्वत्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनाऽऽरम्यतामिति॥ १०॥
अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते॥ औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत॥ ११॥
अमोघरेतास्त्वं चापि द्वयोर्नास्त्यत्र सम्भवः। तस्मादेवं गते त्वद्य उपारमितुमर्हसि॥ १२॥
एवमुक्तस्तदा सम्यग्बृहस्पतिरधीरधीः। कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम्॥ १३॥
स बभूव ततः कामी तया सार्द्धमकामया। उत्सृजन्तन्तु तं रेतः स गर्भस्थोऽभ्यभाषत॥ १४॥
भोस्तात मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह सम्भवः। अल्पाऽवकाशो भगवन् पूर्वं चाहमिहागतः॥ १५॥
अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्तुमर्हसि। अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः॥ १६॥

जगाम मैथुनायैव ममतां चारुलोचनाम्।
शुक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्य गर्भगतो मुनिः।
पद्भ्यामारोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः॥ १७॥

स्थानमप्राप्तमथ तद्रेतः प्रतिहतं तदा। पपात सहसा भूमौ ततः क्रुद्धो बृहस्पतिः॥ १८॥
तद् दृष्ट्वा पतितं शुक्रं शशाप स रुषान्वितः। उतथ्यपुत्रं गर्भस्थं निर्भर्त्स्य भगवानृषिः॥ १९॥
यन्मां त्वमीदृशे काले सर्वभूतेप्सिते सति। एवमात्थ वचस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यसि॥ २०॥
स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत। बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्बृहस्पतिरिवोजसा॥ २१॥
जात्यन्धो वेदवित् प्राज्ञः पत्नीं लभे स विद्यया॥ २२॥[1] —महा० आदि० अ० १०४
बृहस्पतिर्मुनिवरो मोहितः शिवमायया। भ्रातृपत्न्या वशी रेमे भरद्वाजस्ततोऽभवत्॥ ३८॥

—शिव० उमा० अ० ४

भाषार्थ—जिस गर्भिणी स्त्री का जानकर या न जानकर भी संस्कार किया जावे वह विवाह करानेवाले का ही गर्भ माना जावेगा, और उस पुत्र का नाम सहोढ पुत्र होगा। —मनु०

---

१. इस अध्याय को गीता० संस्करण में से निकाल दिया गया है। द्र० टिप्पणी १, पृ० ३५४

कहिए महाराज! न जानने की अवस्था में चतुर्थीकर्म की विधि पूरी की जावेगी या नहीं?

पूर्वकाल में उतथ्य नाम का प्रसिद्ध महान् ऋषि तथा ममता नामवाली उसकी परम सुन्दरी स्त्री थी॥ ८॥ उतथ्य का छोटा भाई देवताओं का पुरोहित, महान् तेजस्वी, बृहस्पति ममता पर मोहित हो गया॥ ९॥ बोलनेवालों में श्रेष्ठ देवर बृहस्पति को ममता ने कहा—मैं तेरे बड़े भाई से गर्भवती हूँ, अत: तू सब्र कर॥ १०॥ और हे महाभाग! यह मेरी कोख में उतथ्य का पुत्र यहाँ भी छह अङ्गों सहित वेदों को पढ़ रहा है॥ ११॥ और आपका वीर्य भी व्यर्थ जानेवाला नहीं है और दोनों का यहाँ गर्भ में रहना सम्भव नहीं, इसलिए आज तुझको ऐसा नहीं करना चाहिए, टल जाना ही उत्तम है॥ १२॥

इस प्रकार से कहे जाने पर बुद्धिमान् बृहस्पति काम से मोहित अपनी आत्मा को काबू में न रख सका॥ १३॥ तब वह कामी बृहस्पति उस अकामा ममता के साथ मैथुन में प्रवृत्त हो गया। उस वीर्य को छोड़ते हुए बृहस्पति को गर्भ में बैठा हुआ मुनि कहने लगा॥ १४॥ हे चाचाजी! काम में मोहित मत होओ। यहाँ पर स्थान थोड़ा है और मैं यहाँ पर पहले ही आया हुआ हूँ॥ १५॥ आपका वीर्य व्यर्थ जानेवाला नहीं है, अत: आप मुझे कष्ट न दें। उस गर्भ में बैठे हुए की बात को न सुनकर बृहस्पति॥ १६॥ उस सुन्दर नेत्रोंवाली ममता के साथ मैथुन में प्रवृत्त हो गया। उसके गर्भ में बैठे हुए मुनि ने वीर्य के प्रवेश का समय जानकर बृहस्पति के वीर्य के रास्ते को दोनों पाँवों से रोक दिया॥ १७॥ तब उसका वीर्य स्थान को प्राप्त न होकर वापस धकेला हुआ अचानक ज़मीन पर गिर पड़ा। तब बृहस्पति ने क्रोध में आकर॥ १८॥ वीर्य को गिरे हुए देखकर गुस्से से शाप दिया। और उतथ्य के पुत्र को भगवान् ऋषि बृहस्पति ने गर्भ में बैठे को ही धमकाया॥ १९॥ जो तू मुझे सब प्राणियों से वांछित इस प्रकार के समय में इस प्रकार की बात कहता है, इसलिए तू महा अन्धकार में प्रवेश करेगा॥ २०॥ वह ऋषि के शाप से दीर्घतमा नाम का ऋषि पैदा हुआ जोकि तेजस्वी बृहस्पति के समान ही था॥ २१॥ और जन्म से अन्धा, वेदपाठी तथा बुद्धिमान् था, जिसने विद्या के बल से पत्नी को प्राप्त किया है॥ २२॥ —महाभारत

श्रेष्ठ मुनि बृहस्पति ने शिव की माया से मोहित होकर अपने भाई की स्त्री से समागम किया जिससे भरद्वाज पैदा हुए। —शिव

अब आप अपने ख़याल के अनुसार अठारह पुराणों तथा महाभारत के कर्त्ता व्यासजी से पूछ सकते हैं कि इसमें क्या गूढ़ फ़िलासफ़ी है जबकि ममता ने एक लड़का भरद्वाज पैदा करके भोग करनेवाले बृहस्पति को दे दिया और एक लड़का दीर्घतमा पहले से ही पेट में बैठा था, तब दूसरे को कहाँ रक्खा? कैसे पैदा हुआ? इत्यादि। मैं आशा करता हूँ कि व्यासजी आपकी पूरी-पूरी तसल्ली कर देंगे।

(४४७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ११२ में लिखा है कि 'एक विधवा स्त्री दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिए सन्तान कर सकती है' वेद में इसकी कहीं पर भी चर्चा नहीं। —पृ० ४५, पं ० ३

उत्तर—आपने तो उचित-अनुचित रूप से आर्यसमाज के विरोध का ठेका लिया हुआ है, वरना स्वामीजी ने उक्त नियम भी वेद के आधार पर ही लिखा है और लेख की समाप्ति पर वेद का प्रमाण दिया है। अपने स्वभावानुसार स्वामीजी का आधा पाठ देकर जनता को भ्रम में डालने का यत्न किया है। देखिए, स्वामीजी का पूरा लेख इस प्रकार है—

'ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिए सन्तान कर सकती और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिए और दो-दो चार अन्य विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

—ऋ० १०।८५।४५

'हे वीर्य सींचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ और सौभाग्ययुक्त कर। विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर। और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवाँ पति को समझ'।

इस वेदमन्त्र से यह स्पष्ट है कि स्त्री को दश तक सन्तान तथा ग्यारह तक पति करने की आज्ञा तथा पुरुष को दश तक सन्तान और ग्यारह तक स्त्रियाँ करने की आज्ञा है। इस वेदमन्त्र के आधार पर ही उपर्युक्त नियम स्वामीजी ने लिखा है कि नियोग से दश सन्तान किस प्रकार से पैदा करें। और एक नियोग में कितनी सन्तान पैदा की जा सकती हैं, इस विषय में मनुजी भी लिखते हैं कि—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि। एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन॥ ६०॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः॥ ६१॥

—मनु० ९

भाषार्थ—विधवा में नियोग करनेवाला पुरुष शरीर में घी लगाकर, चुपचाप, रात्रि में एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी भी न करे॥ ६०॥ स्त्रियों में सन्तान पैदा करने की इस विधि को जाननेवाले कई आचार्य दूसरी सन्तान का पैदा करना मानते हैं। स्त्री-पुरुष के धर्म को देखते हुए फिर नियोग की निवृत्ति कथन नहीं करते हैं॥ ६१॥

अब ख़याल करें कि स्त्री को अपने जीवन में दश तक पुत्र पैदा करने का अधिकार है और ग्यारह तक पति करने का, और प्रत्येक नियोग में कम-से-कम एक सन्तान और अधिक-से-अधिक दो सन्तान पैदा करने की आज्ञा है, ऐसी सूरत में प्रथम पक्ष में एक स्त्री एक अपने लिए तथा एक-एक-सन्तान अन्य नौ पुरुषों के लिए पैदा कर सकती है। दूसरे पक्ष में प्रत्येक स्त्री दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार पुरुषों के लिए सन्तान पैदा कर सकती है। चूँकि स्वामीजी द्वितीय पक्ष के पोषक हैं, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेद के अनुकूल है।

आप कोई ऐसा वेदमन्त्र पेश करें जिससे यह सिद्ध हो कि स्वामीजी का यह लेख वेद के विरुद्ध है।

हमें यह पता नहीं लगा कि आपको स्वामीजी के लेख में किस अंश में शंका है—(१) पतियों की गिनती में शंका है? (२) सन्तान की गिनती में शंका है? (३) सन्तान पैदा करने की विधि पर शंका है?

(१) यदि आपको पतियों की गिनती पर शंका है तो यह शंका निर्मूल है, क्योंकि स्वामीजी के उपर्युक्त लेख में तो विवाहित पतिसमेत छठे पति तक ही नियोग करनेकी नौबत आवेगी, किन्तु वेद ने स्त्री को ग्यारह पति तक नियोग की आज्ञा दी है, जैसाकि—

पतिमेकादशं कृधि। —ऋ० १०।८५।४५

उत यत् पतयो दश स्त्रिया पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥ ८॥

—अथर्व० ५।१७।८

भाषार्थ—हे स्त्रि! तू ग्यारहवें तक पति कर सकती है॥ ४५॥ यदि स्त्री के पहले दश पति अब्राह्मण हों, उसके पश्चात् यदि ब्राह्मण उसका हाथ पकड़ ले तो वही एक प्रकार से पति गिना जावेगा॥ ८॥

वेद में तो स्त्री को केवल ग्यारह पति तक ही करने की आज्ञा है, किन्तु पुराणों में तो एक-एक स्त्री के इक्कीस-इक्कीस पति करने का भी इतिहास विद्यमान है, जैसाकि पद्मपुराण में दिव्या देवी के इक्कीस पतियों का वर्णन है—

एकविंशतिभर्तारः काले काले मृतास्तदा। ततो राजा महादुःखी संजातः ख्यातविक्रमः ॥ ७० ॥

—पद्म० भूमि० अ० ८५

वैधव्यं भुञ्जते सा तु दिव्या देवी सुपुत्रक ॥ ४४ ॥ —पद्म० भूमि० अ० ८६

भाषार्थ—इस प्रकार से उस दिव्या देवी के इक्कीस पति समय-समय पर मृत्यु को प्राप्त हुए। तब दिव्या देवी का पिता प्रसिद्ध बहादुर राजा दिवोदास महादुःखी हुआ ॥ ७० ॥ हे पुत्र! वह दिव्या देवी तो अब विधवापन का भोग कर रही है ॥ ४४ ॥

ये तो समय-समय पर इक्कीस पतियों का वर्णन है, किन्तु पुराणों में तो एक स्त्री को एक ही समय में दश तक पतियों का वर्णन विद्यमान है, जैसाकि—

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥

—[गीता० सं० में अ० १९५।—सं०]—महा० आदि० अ० १९६

भाषार्थ—उसी प्रकार मुनि की पुत्री वार्क्षी भी तप से पवित्र आत्मावाले प्रचेतस नाम के दश भाइयों से एक ही समय में विवाहित थी ॥ १५ ॥

अतः पतियों की संख्या पर तो आप शंका कर ही नहीं सकते।

(२) अब रही बात सन्तान की तो वेद तो प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए सारी आयु में केवल दश सन्तान पैदा करने की आज्ञा देता है, जैसाकि—

दशास्यां पुत्रानाधेहि ॥ —ऋ० १०।८५।४५

भाषार्थ—हे पुरुष! तू इस स्त्री में दश तक सन्तान पैदा कर सकता है ॥ ४५ ॥

स्वामीजी ने भी इस वेद की आज्ञा के अनुकूल दश पुत्रों के पैदा करने की ही आज्ञा दी है, किन्तु पौराणिक साहित्य में तो सन्तानों की सेनाएँ वर्णित हैं, जैसाकि—

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका: ॥ १५ ॥ —महा० आदि० अ० ११७

षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद्विनिःसृता ॥ १७ ॥ —वाल्मी० बाल० स० ३८

शशविन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाच्युत। एकैकस्यां सहस्रन्तु तनयानामभूत्तदा ॥ ११ ॥

—महा० शान्ति० अ० २०८

भाषार्थ—राजा धृतराष्ट्र के इस प्रकार से सौ पुत्र और सौ से अधिक एक कन्या थी ॥ १५ ॥ राजा सगर के यहाँ तूंबे के फूटने से साठ हज़ार पुत्र पैदा हुए ॥ १७ ॥ राजा शशविन्दु के दश हज़ार स्त्रियाँ थीं और एक-एक स्त्री के एक-एक हज़ार पुत्र थे, गोया राजा शशविन्दु के एक करोड़ पुत्र थे ॥ ११ ॥ ऐसी अवस्था में आपको पुत्रों की संख्या पर क्या आपत्ति हो सकती है?

(३) अब रह गई केवल एक बात, और वह है पुत्रों के पैदा करने का तरीका, सो यह बात स्पष्ट है कि जब एक नियोग में दो से अधिक पुत्र पैदा नहीं किये जा सकते तो दश सन्तानों के लिए कम-से-कम पाँच पुरुषों से नियोग करना पड़ेगा। इस प्रकार से दो पुत्र अपने लिए तथा दो-दो अन्य चार पुरुषों के लिए स्वयं सिद्ध हो गये, जैसाकि इतिहासों में आता भी है—

(१) माद्री ने दो अश्विनीकुमारों से दो पुत्र नकुल तथा सहदेव उत्पन्न किये।

(२) कुन्ती ने चार पतियों सूर्य, धर्म, वायु और इन्द्र से चार पुत्र कर्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को पैदा किया।

(३) सत्यवती ने दो पतियों पराशर तथा तथा शन्तनु से तीन पुत्रों व्यास, चित्रांगद और

विचित्रवीर्य को पैदा किया।

(४) द्रौपदी ने पाँच पतियों से पाँच पुत्र पैदा किये।

(५) आपके यहाँ तो इस प्रकार की कथा भी विद्यमान है कि—

'विश्वामित्र ने अपने शिष्य गालव से गुरुदक्षिणा में आठ सौ श्यामकर्ण घोड़े माँगे। गालव घोड़ों की प्राप्ति के लिए राजा ययाति के पास गया। ययाति के पास घोड़े न थे। उसने अपनी कन्या माधवी को दे दिया कि इसके बदले श्यामकर्ण घोड़े मिल जावेंगे। तब दो सौ घोड़ों के बदले अयोध्या के राजा हर्यश्व ने माधवी से एक पुत्र वसुमना नामवाला पैदा किया। फिर माधवी से दो सौ घोड़ों के बदले काशी के राजा दिवोदास ने एक पुत्र प्रतर्दन नामवाला पैदा किया, उसके पश्चात् दो सौ घोड़ों के बदले भोजनगर के राजा उशीनर ने माधवी से एक पुत्र शिवी नाम का पैदा किया और कोई राजा न मिलने पर गालव ने छह सौ घोड़े लिये और साथ में माधवी को लेकर विश्वामित्र के पास आकर कहा कि महाराज! दो सौ घोड़ों के बदले इससे एक पुत्र आप पैदा कर लें। विश्वामित्र ने यह देखकर ठण्डी साँस ली और कहा कि हे गालव! तूने पहले मुझे पता क्यों न किया, वरना इस माधवी से आठ सौ घोड़ों के बदले मैं ही चार पुत्र पैदा कर लेता? तब विश्वामित्र ने माधवी से अष्टक नाम का एक पुत्र पैदा कर लिया।'

—महा० उद्योग० अ० १०५ से १२१

भला! जब इस प्रकार की कथाएँ आपके पाँचवें वेद महाभारत में मौजूद हैं तो फिर स्वामीजी के वेदानुकूल लेख पर आपका आपत्ति करना सर्वथा निर्मूल है, अत:—

'इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः', उत यत् पतयो दश स्त्रियः।

इन वेदमन्त्रों की विद्यमानता में कौन कह सकता है कि स्वामीजी का उपर्युक्त लेख वेदानुकूल नहीं है?

(४४८) प्रश्न—'उदीर्ष्व नारीति' स्वामी दयानन्दजी ने इस वेदमन्त्र के अर्थ में हिन्दूजाति की दया का छुरी से गला काटा है। जिसके आगे प्राणप्यारे पति की लाश पड़ी है उसको यह कौन कहेगा कि पहले तू इन आये हुए मनुष्यों में से किसी को नियोगी पति बनाले और लड़कों के बाँटने का फैसला कर ले, तब हम तेरे मरे हुए पति की लाश उठावेंगे?

—पृ० ४५, पं० ११

उत्तर—स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का अर्थ करके आर्यजाति की विधवाओं पर पौराणिक पोपमण्डल से किये गये अत्याचार को मलियामेट कर डाला है और उनको पुरुषों की भाँति ही पति के मरने पर दूसरे पति का हक़ प्रदान किया है। स्वामीजी के अर्थ में यह कहीं भी नहीं लिखा कि पति की लाश के मौजूद होते हुए स्त्री को ऐसा कहा जाए और स्वामीजी इस मन्त्र को श्मशानभूमि में उच्चारण करने का विधान भी नहीं करते। देखिए, स्वामीजी का अर्थ इस प्रकार है—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ —ऋ० १०।१८।८

भाषार्थ—हे विधवे! तू इस मरे हुए पति की आशा छोड़के बाकी पुरुषों में से जीते हुए दूसरे पति को प्राप्त हो। और इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो तुझ विधवा के पुन: पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो यह जना हुआ बालक उसी नियुक्त पति का होगा और जो तू अपने लिए नियोग करेगी तो यह सन्तान तेरी होगी, ऐसे निश्चययुक्त हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे॥ ८॥

इस वेदमन्त्र के अर्थ में 'इस' शब्द से वह मृतपति अभिप्राय है कि जिसको मरे हुए कुछ

समय व्यतीत हो चुका है और पति के मरने के कुछ समय पश्चात् पंचायत उस स्त्री को आकर कहती है कि हे स्त्रि! तू इस मृतक पति के शोक को छोड़कर अन्य पति को प्राप्त हो। **'वर्त्तमानसमीपे वर्त्तमानवद्वा'**—वर्त्तमान के समीपवाले समय का वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग किया जाता है, व्याकरण के इस नियम के अनुसार भूतकाल के वाचक 'इस' शब्द का वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग किया गया है, अतः यह मन्त्र पति की लाश की विद्यमानता में बोलने का वा स्त्री को पूछने का उपदेश नहीं करता, अपितु पति के मरने के कुछ समय पश्चात् (जैसीकि पंचायत की रस्म हो) विधवा स्त्री से पूछने का उपदेश करता है कि—

'तू ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है?'

आपने यह नहीं बताया कि स्वामीजी ने कौन-से शब्द का अर्थ ग़लत किया है या कौन-सी कल्पना मन्त्र के अर्थों के विरुद्ध की है, अतः आपका स्वामीजी के अर्थ को कल्पित बतलाना और स्वामीजी के अभिप्राय के विरुद्ध कल्पना करके आक्षेप करना सर्वथा निर्मूल है।

(४४९) प्रश्न—इस मन्त्र का अर्थ यह है कि—

हे नारि! मृतकपत्नी! जीवित पुत्र-पौत्रादि और निवास-घर को देखकर इस स्थान से उठ। तेरे बिना पुत्रादिकों का पालन कौन करेगा? इस मृतक के समीप जो तू पड़ी है यहाँ से उठ चल, कारण यह है कि विवाह-समय में हस्त ग्रहण करनेवाले तथा गर्भाधान करनेवाले इस पति के सम्बन्ध से प्राप्त हुए तुम्हारे इस पत्नीपन को देखकर पति के साथ मरने का जो निश्चय किया है, इस निश्चय को छोड़कर उठ। —पृ० ४७, पं० २२

उत्तर—आपने स्वामीजी के यथार्थ अर्थ को तो कल्पित बतला दिया और स्वयं मन्त्र का मनमाना कल्पित अर्थ कर डाला। क्या इसी का नाम ईमानदारी है? आपके अर्थ में निम्न प्रकार से मिथ्या कल्पना है—

(१) 'पुत्र-पौत्रादि और निवास-घर को देखकर' यह अर्थ मन्त्र के कौन-से पदों का है? निश्चय ही यह आपकी मनमानी निर्मूल कल्पना है।

(२) 'तेरे बिना पुत्रादिकों का पालन कौन करेगा' क्या इस अर्थ के कहनेवाले कोई पद मन्त्र में हैं? यदि नहीं तो मिथ्या कल्पना होने में क्या सन्देह है?

(३) **'दिधिषुः'** शब्द का अर्थ मृतक विवाहित पति करना सर्वथा आत्महत्या है, क्योंकि 'दिधिषुः' शब्द का अर्थ 'पुनर्विवाह में प्राप्त स्त्री का दूसरा पति है,' जैसाकि—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः। स तु द्विजोऽग्रेदिधिषूः सैव यस्य कटुम्बिनी॥ २३॥

—अमरकोश २६।२३

भाषार्थ—पुनर्भू, दिधिषू, ये दो नाम दो बार विवाही स्त्री के हैं। 'दिधिषूः, यह एक नाम दो बार विवाही स्त्री के पति का है। 'अग्रेदिधिषूः' यह एक नाम दो बार विवाही स्त्री के द्विज पति अर्थात् जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य हो उसका है॥ २३॥

सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीयारण्यक में इसका ऐसा ही अर्थ किया है, जैसाकि—

हे नारि त्वं गतासुं गतप्राणमेतं पतिमुपशेष उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्वास्मात्पतिसमीपादुत्तिष्ठ। जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्यैहि आगच्छ। त्वं हतस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतत् जनित्वम् जायात्वमभिसम्बभूवाऽऽभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि। —तैत्तिरीयारण्यक ६।१।१४

भाषार्थ—हे नारि! तू इस मृतपति के पास लेटी है। इस पति के समीप से उठ। जीवित पुरुषों का विचार कर, आ और तू हाथ पकड़नेवाले पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले इस पति को जायाभाव (स्त्रीभाव) से अच्छी तरह प्राप्त हो।

कहिए महाराज! अब यहाँ वह दयाभाव कहाँ गया जबकि आपके सायणाचार्य पति की लाश की विद्यमानता में ही स्त्री को पुनर्विवाह का उपदेश कर रहे हैं? क्यों न हो—**'गिला औरों का करते थे क़ुसूर अपना निकल आया'** योंहि व्यर्थ में स्वामी दयानन्दजी को बदनाम कर रहे थे। भला! यह कहाँ की ईमानदारी है कि अपने आचार्यों के अर्थ को स्वामीजी पर मढ़कर आर्यसमाज पर कीचड़ उछालना?

व्यासजी भी इस मन्त्र को नियोग का विधायक ही मानते हैं, जबकि वे लिखते हैं कि—

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्॥ ६॥ —महा० आदि० अ० १०४

नियोग से पैदा हुआ पुत्र विवाहित पति का ही गिना जाता है।

यहाँ व्यासजी ने "हस्तग्राभस्य" का अनुवाद ही "पाणिग्राहस्य" किया है।

अतः आपका 'दिधिषूः' शब्द का अर्थ "विवाहित मृतपति" करना सर्वथा वेद, इतिहास, कोश, सायण आदि के विरुद्ध है।

(४) "पति के साथ मर जाने का जो निश्चय किया है इस निश्चय को छोड़कर उठ" इस अर्थ के मन्त्र में कोई पद नज़र नहीं आते।

अतःसिद्ध हुआ कि स्वामीजी का अर्थ यथार्थ तथा आपका अर्थ सर्वथा निर्मूल और कपोलकल्पित ही है।

(४५०) प्रश्न—आश्वलायनगृह्यसूत्र का भी यही लेख है तथा इस मन्त्र का "पितृमेध" देवता और अन्त्येष्टिकर्म में विनियोग है। पृ० ४८, पं० १

उत्तर—यदि आप आश्वलायनगृह्यसूत्र की बात ढकी-ढकाई रहने देते तो उत्तम था, किन्तु आपको भी सनातनधर्म्म की पोल गुप्त रखनी स्वीकार नहीं है, तो लीजिए, हम बताये देते हैं कि आश्वलायन का इस मन्त्र का अन्त्येष्टि में विनियोग वेद के विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र का विनियोग श्मशान में ठीक नहीं, अपितु विवाह, नियोग वा पुनर्विवाह में ठीक है। आश्वलायनगृह्यसूत्र आपके अर्थ की पुष्टि नहीं करता अपितु सनातनधर्म की नंगी तस्वीर जनता के सामने पेश करता है। तनिक ध्यान से पढ़िए—

दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत्पित्र्यं पृषदाज्यम्॥ १७॥ —४।१।१७

तेन निःपुरीषमेके कृत्वा पृषदाज्यस्य पूरयन्ति।

इस प्रेतकर्म में दही और घी लाते हैं। इसी का नाम पृषदाज्य है। कई आचार्य कहते हैं कि मृतक के पेट को गन्दगी से खाली करके उसमें पृषदाज्य, अर्थात् दही और घी भर दिया-जावे।

पीठचक्रेण गोयुक्तेनेत्येके॥ ३॥ —४।२।३

कई आचार्य कहते हैं कि बैल जुते गड्डे (गाड़ी) से मृतक को श्मशान में ले-जाया जावे।

अनुस्तरणीम्॥ ४॥

प्रेतमनुस्तर्यते या स्त्रीपशुः सानुस्तरणी।

अनुस्तरणी का प्रोयग करे। मृतक के पीछे जाकर जो उसको पवित्र करती है वह स्त्री या पशु अनुस्तरणी कहाता है।

गाम्॥ ५॥

वह अनुस्तरणी गौ की प्रयोग की जावे।

सव्ये बाहुबध्वानु संकालयन्ति॥ ८॥

पशु के दायें बाहु में रस्सी बाँधकर लाश के पीछे-पीछे ले-जाते हैं, वेदी बनाकर मृतक को चिता में लिटाकर—

उत्तरतः पत्नीम्॥ १६॥

ततः प्रेतस्योत्तरतः प्रेतस्य पत्नीं संवेशयन्ति शाययन्तीत्यर्थः।

प्रेत के उत्तर की ओर प्रेत की पत्नी को सुलाते हैं।

धनुश्च॥ १७॥

प्रेतः क्षत्रियश्चेद्धनुरप्युत्तरतः संवेश्यन्ति।

प्रेत यदि क्षत्रिय हो तो धनुष को भी उसके उत्तर की तरफ़ लिटाते हैं।

तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकमिति॥ १८॥

अनेन ज्ञायते पतिकर्तृकं कर्म पुंसवनादि पत्यसम्भवे देवरः कुर्यादिति॥

पति का स्थानी देवर या शिष्य या बूढ़ा नौकर उस स्त्री को उठावे (''उदीर्ष्व'' यह मन्त्र पढ़कर)। इससे जाना जाता है कि पति के करने के योग्य काम पुंसवनादि पति के अभाव में देवर करे।

कर्त्ता वृषले जपेत्॥ १९॥

यदि उठानेवाला नौकर हो तो मन्त्र का जप कार्यकर्त्ता करे।

अथैतानि पात्राणि योजयेत्॥ १॥ —४।३।१

उसके पश्चात् हवनपात्रों को लाश पर चिन दिया जावे।

अनुस्तरण्या वपामुत्खिद्य शिरो मुखं प्रच्छादयेदग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्वेति॥ १९॥

उस गौ की चरबी निकालकर उस लाश का मुख और शिर उस चरबी से ढक दिया जावे ''अग्नेर्वर्म'' यह मन्त्र पढ़कर।

वृक्का उद्धृत्य पाण्योरादध्यादतिद्रव सारमेयौ श्वानाविति दक्षिणे दक्षिणं सव्ये सव्यम्॥ २०॥

गौ के दोनों फेफड़े निकालकर मृतक के दोनों हाथों में देवे ''अति द्रव'' यह मन्त्र पढ़कर दायाँ फेफड़ा दायें हाथ में और बायाँ फेफड़ा बायें हाथ में।

हृदये हृदयम्॥ २१॥

मृतक के हृदय पर गौ का हृदय रखे।

सर्वां यथाङ्गं विनिक्षिप्य चर्मणा प्रच्छाद्येममग्ने चमसं माविजिह्वर इति प्रणीता प्रणयनमनुमन्त्रयते॥ २४॥

गौ के सम्पूर्ण अङ्गों को इस प्रकार से लाश के सम्पूर्ण अङ्गों पर रखकर और चमड़े से सारी चिता को ढककर ''इममग्ने'' इस मन्त्र से मृतक को जलावे।

स एवंविदा दह्यमानः सहैव धूमेन स्वर्गं लोकमेतीति ह विज्ञायते॥ ७॥ ४। ४। ७

वह मृतक इस प्रकार से जलाया हुआ धुएँ के साथ ही स्वर्गलोक में पहुँच जाता है, ऐसा जाना जाता है। (आश्वलायन अध्याय ४)

कहिए श्रीमान्‌जी! आश्वलायन का यही लेख तो है जिसे आपने आगे-पीछे से छोड़कर बीच में से अधूरा पेश कर दिया। कहिए, इसमें मन्त्र का अर्थ कहाँ किया है? हाँ, देवर को प्रत्येक गर्भाधानादि संस्कारों में पति का प्रतिनिधि मानकर हमारे ही अर्थ की पुष्टि की है, आपके अर्थ की नहीं। क्या आश्वलायन का उपर्युक्त लेख कभी वेदानुकूल माना जा सकता है? कदापि नहीं, अतः आपका यह प्रमाण पेश करना तथा मानना सर्वथा वेदविरुद्ध है।

(४५१) प्रश्न—प्रथम तो स्वामीजी का अर्थ सभ्यता के बाहर है; दूसरे, स्वामी दयानन्द ने 'शेषे' क्रिया का अर्थ बाकी किया, जो त्रिकाल में भी समाजी सिद्ध नहीं कर सकते और फिर उस 'शेषे' एकवचन का बहुवचन कर दिया जिसे किसी भी भाषा के विद्वान् मानने को तैयार

नहीं। तीसरे, यदि स्वामी दयानन्दजी का ही अर्थ ठीक मान लिया जावे तो फिर इन चार सूत्रों की क्या गति होगी, क्या धनुष को भी नियोग कराया जावेगा? चतुर्थ, सायणादि भाष्यकार स्वामी दयानन्द के विपरीत हमारे अर्थ को लिख रहे हैं। पंचम, यदि वेद के इस मन्त्र में यही अर्थ है तो क्या इस अर्थ का एक भी ऋषि को ज्ञान न हुआ? यदि उनको इस अर्थ का ज्ञान हुआ तो फिर बताओ कि इस अर्थ को किस-किस ऋषि ने समझकर किस-किस स्त्री के पति की लाश पड़ी रहते कौन-कौन स्त्री का नियोग कराया। —पृ० ४८, पं० २२

उत्तर—(१) पति के मरने के पश्चात् नियत समय व्यतीत होने पर पञ्चायत का स्त्री से इसकी इच्छा पूछना असभ्यता नहीं, अपितु सब लोगों के सामने स्त्री को चिता पर पति के साथ सुलाना और देवर का उसे उठाना और उसी समय दूसरे पति की बात कहना असभ्यता है, तथा पुरोहितों का यजमान की स्त्री को घोड़ के साथ जोड़ना तथा यजमान की स्त्री का घोड़े का लिङ्ग को स्वयं खैंचकर अपनी योनि में प्रविष्ट करना असभ्यता है।

(२) ''शेष'' शब्द का सप्तमी के एकवचन में ''शेषे'' बनता है और उसका अर्थ 'बाकी' नितान्त ठीक है। 'बाकी' शब्द एक और अनेक सबके लिए आ सकता है। बहुत-से शब्द ऐसे होते हैं जिनका एकवचन भी समूह अर्थात् बहुवचन के लिए प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में इसी मन्त्र में ''जीवलोकम्'' शब्द एकवचन है, किन्तु आपने इसके अर्थ ''जीवित पुत्र-पौत्रादि'' बहुवचन के किये हैं। रही आपकी यह बात कि यह क्रिया है, सो क्रिया में भी 'शेषे' बनता है और शेष शब्द की सप्तमी के एकवचन में भी 'शेषे' बनता है। अब यह बुद्धि का काम है कि इस मन्त्र में कौन-सा प्रयोग उचित है, सो स्वामीजी ने ठीक समझा कि पति के साथ चिता पर सोना एक व्यर्थ एवं सभ्यता के विरुद्ध क्रिया है, अत: उन्होंने शेष शब्द की सप्तमी के एकवचन का अर्थ लगा दिया जो युक्तियुक्त ही है। मृतक पति के साथ सोने का काम अच्छा आपको भी नहीं लगा, अत: आपने ''**उत्तरत: पत्नीम्**'' का अर्थ करते हुए ''मृतक के उत्तर की ओर पत्नी को बिठलाया जावे'' कर दिया। यद्यपि टीकाकार ने स्पष्टरूप से सुलाना अर्थ किया है, और बिठलाने से आपके मतानुसार वेद का ''शेषे—सोती है'' कहना भी व्यर्थ हो जाता है, किन्तु पौराणिकों को मृतकों के साथ सुलाने और उनसे सन्तान पैदा करने का असाध्य रोग चिमटा हुआ है, जिसके चक्र से राम की माता कौसल्या भी कलंकित हुए बिना न रह सकी और पौराणिकों ने उसे मृतक घोड़े के साथ समागम करवाकर ही छोड़ा। शरम! शरम!! हज़ार शरम है ऐसे अर्थों पर!!!

(३) इन चार सूत्रों की वही गति होगी जो इनसे पहले और पिछले ''गौ को श्मशान में ले-जाकर उसे मारकर उसकी चरबी और मांस आदि को मृतक के साथ जलाने की आज्ञा देनेवाले'' सूत्रों की होनी चाहिए, अर्थात् इस प्रकार के सम्पूर्ण लेख वेदविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं हो सकते।

(४) हम तो धनुष को मृतक के साथ में रखना ही व्यर्थ समझते हैं, परन्तु आपके मतानुसार भी यज्ञपात्रों की भाँति धनुष को भी जलाने की आज्ञा है। रही धनुष को नियोग कराने की बात, सो पौराणिकों के यहाँ तो कोई बात असम्भव नहीं है, जैसाकि मित्र और वरुण ने घड़े से नियोग किया तो अगस्त्य तथा वसिष्ठ पैदा हुए और भरद्वाज मुनि ने डोने से नियोग किया तो द्रोणाचार्य पैदा हो गये तथा गोतम मुनि ने धनुषबाण से नियोग किया जिससे कृपाचार्य और कृपी पैदा हुए। जब आपके यहाँ धनुषबाण से सन्तानोत्पति सम्भव है तो फिर आपको अपने ही सिद्धान्त में शंका का पैदा होना आपके मिथ्यात्व का सूचक है।

(५) हम ऊपर लिख आये हैं कि यही मन्त्र तैत्तिरीयारण्यक में आया है और इसपर

सायणाचार्य का भाष्य है जो स्वामीजी के अर्थों का अनुमोदन करता है (न० ४४९)। सायण ने ऋग्वेद के भाष्य में इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, हमारे विचार में तो वह अर्थ भी हमारे अर्थ के अनुकूल है, किन्तु यदि आपके विचार में सायण ने ऋग्वेद में इसका भाष्य आपके अनुकूल किया है तो जैसे आपका अर्थ कपोलकल्पित और मिथ्या है वैसे ही सायण का भाष्य भी कपोलकल्पित और मिथ्या है तथा सायण के अपने ही किये हुए दोनों अर्थों में परस्पर विरोध है। ऐसी सूरत में तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में सायण ने जो इस मन्त्र का अर्थ स्वामीजी के अनुकूल किया है, हमें वह वेदानुकूल होने से प्रमाण है, दूसरा नहीं, क्योंकि दूसरा अर्थ स्वयं वेद के ही विरुद्ध है।

(६) पति की लाश की विद्यमानता में स्त्री को दूसरे पति से नियोग करने को कहना, यह अर्थ स्वामीजी ने नहीं किया अपितु यह अर्थ आश्वलायनगृह्यसूत्र का है। स्वामीजी ने तो पति के मर जाने के पीछे कुछ समय के पश्चात् पंचायत द्वारा स्त्री से पूछने की आज्ञा दी है कि तू ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या नियोग करना चाहती है और इस अर्थ का अनेक ऋषियों को ज्ञान हुआ। उन्होंने इस ज्ञान के अनुसार दूसरों को भी नियोग की आज्ञा दी और स्वयं भी नियोग किये। आप विचारपूर्वक पढ़ने की कृपा करें—

(१) वेद के इन अर्थों का ज्ञान ऋषि मनु को हुआ जिन्होंने अपने मनु धर्मशास्त्र में नियोग की आज्ञा दी, जैसाकि—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ ५९॥
यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ १२०॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥
धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च। सोऽपत्त्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥ १४६॥
यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥ १६२॥

—मनु० अ० ९

भाषार्थ—सन्तान के क्षय हो जाने पर, देवर से वा सपिण्ड से विधिपूर्वक नियोग करके सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए॥ ५९॥ छोटा भाई यदि बड़े भाई की स्त्री में पुत्र पैदा करे तो समान विभाग होगा, धर्म की यही व्यवस्था है॥ १२०॥ वहाँ नियोग करनेवाली में पैदा हुआ पुत्र औरस पुत्र के समान दायभागी है; वह खेतवाले का ही बीज गिना जावेगा और वह धर्म की सन्तान माना जावेगा॥ १४५॥ यदि कोई मनुष्य मरे हुए भाई के धन और स्त्री को धारण करे तो भाई के लिए सन्तान पैदा करके उस भाई का धन उस सन्तान को दे दे॥ १४६॥ यदि औरस तथा क्षेत्रजपुत्र एक ही जायदाद के वारिस हो जावें तो जो जिसके पिता का धन है, वही उसको ग्रहण करे, दूसरा नहीं॥ १६२॥

(२) वेद के इन अर्थों का ज्ञान वायु ऋषि को हुआ जिसने केसरी की स्त्री अञ्जना से नियोग करके हनुमान् को पैदा किया। इसी कारण से हनुमान्‌जी को क्षेत्रज पुत्र लिखा है, जैसाकि—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः॥ २९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः॥ ३०॥

—वाल्मी० किष्कं० स० ६६

भाषार्थ—वह तू बलवान् केसरी का क्षेत्रज पुत्र है॥। २९॥ और पवन का भी औरस पुत्र है और बहादुरी में भी उसके समान है॥ ३०॥

(३) वेद के इन अर्थों का ज्ञान सत्यवती, भीष्म और व्यास को हुआ, अतः सत्यवती और

भीष्मादि की सम्मति से व्यास ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से नियोग किया, जिनसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति हुई (महा० आदि० अ० १०६)।

(४) वेद के इन अर्थों का ज्ञान वेदपारग ब्राह्मणों को हुआ जिन्होंने क्षत्राणियों से नियोग करके क्षत्रियवंश को फिर से स्थापित किया (महा० आदि० अ० १२० श्लोक ३६-३९)।

(६) वेद के इन अर्थों का ज्ञान वसिष्ठ को हुआ जिसने सौदास की स्त्री मदयन्ती से नियोग करके अश्मक नाम के पुत्र को पैदा किया (महा० आदि० अ० १२२ श्लोक २१-२२)।

(७) वेद के इन अर्थों का ज्ञान महात्मा वसु को हुआ जिसने शन्तनु की स्त्री गंगा से नियोग करके भीष्म को पैदा किया (महा० आदि० अ० ६३ श्लोक ८७)।

इत्यादि अनेक ऋषियों को वेद के इस अर्थ का ज्ञान हुआ और उन्होंने वेद की आज्ञानुसार नियोग करके सन्तान पैदा की।

(४५२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ११७ में लिखा है कि—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। —ऋ० १०।१०।१०

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि 'हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री! तू (मत्) मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी।'

यह निर्लज्जता की बात है कि स्त्री का पति तो घर में बैठा रहे और दूसरा कोई बाहरी सण्डा मौज उड़ावे। —पृ० ४९, पं० ८

उत्तर—नियोग जैसा पवित्र सिद्धान्त मौज उड़ाने के लिए नहीं, अपितु आपत्तिकाल में सन्तान-उत्पत्ति करने के लिए है। न ही नियोग करनेवाले को बाहरी सण्डा कहा जा सकता है, क्योंकि वेद की आज्ञा के अनुकूल पक्षों की रज़ामन्दी से पंचायत के नियमों के अनुसार विधिपूर्वक उस स्त्री का नियुक्त पति नियत किया जाता है, फिर उसे बाहरी सण्डा कहना कहाँ की सभ्यता है! हाँ, यदि कोई स्त्री-पुरुष वेदशास्त्र के विरुद्ध गुप्त रूप से आपस में संयोग करें तो उसे व्यभिचार और उनको सण्डा कहा जा सकता है। पति के नपुंसक अथवा दीर्घरोगी होने आदि की अवस्थाओं में पति के जीते हुए स्त्री को नियोग करके सन्तान पैदा करने की आज्ञा वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सम्पूर्ण शास्त्र देते हैं। ऊपर के मन्त्र में इसी विषय का प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त **'प्राता रत्नम्'** इत्यादि [ऋ० १।१२५।१] मन्त्र के सायणभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि—

'यद्यप्यसौ कलिङ्गाख्यस्य राज्ञः पुत्रस्तथापि तेन कलिङ्गेन स्वयं वृद्धत्त्वादपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः उशिग्नामिकाम्, अपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्या अतिजरठेन महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलंकृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषितामुशिग्नामिकां योषितं दासीमित्यवगत्य मन्त्रपूतेन जलेनाभिषिच्य ऋषिपुत्रीं कृत्वा तया सह रेमे। तदुत्पन्नः कक्षीवान्नाम ऋषिः। —सायणभाष्य

भाषार्थ—यद्यपि वह कक्षीवान् कलिंग देश के राजा बली का पुत्र था, तथापि उस कलिंग राजा ने अपने वृद्ध होने के कारण सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ न होने के कारण उससे पुत्र पैदा करने के लिए दीर्घतमा ऋषि के पास भेजी हुई सुदेष्णा रानी ने अति वृद्ध दीर्घतमा से समागम करने में लज्जा मानकर अपने कपड़े और गहनों से सजाकर अपने स्थान में उशिग् नाम की दासी को भेज दिया। दीर्घतमा ऋषि ने उसको दासी जानकर, मन्त्रों से पवित्र किये जल से उसको स्नान कराके और उसे ऋषिपुत्री बनाकर उसके साथ समागम किया, उससे कक्षीवान् नामवाला ऋषि पैदा हुआ। —सायणभाष्य

जब राजा को इस बात का पता लगा कि रानी स्वयं नहीं गई, अपितु दासी को भेजा है तो राजा ने फिर ऋषि को प्रसन्न करके अपनी रानी को उसके पास भेजा। ऋषि ने रानी से नियोग करके सन्तान पैदा की, इस प्रकार से राजा बली का वंश संसार में चला।

—महा० आदि० १०४।४६-५१

तब ऋषि ने कहा कि मेरे सारे शरीर के दही, नमक और शहद लगाकर यदि सुदेष्णा चाटे तो पुत्र हो सकता है। तब सुदेष्णा ने ऐसा ही किया, किन्तु ऋषि की गुदा नहीं चाटी और लिंग को खूब चाटा, इस कारण जो लड़का पैदा हुआ उसके गुदा न थी, किन्तु लिंग बड़ा सुन्दर और मोटा-ताज़ा था।

—मत्स्य० अ० ४८

मनुस्मृति [९।१६७] में भी **'यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा'** इस श्लोक में स्त्री को पति के नपुसंक तथा दीर्घरोगी होने पर नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा विद्यमान है।

महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि जब पाण्डु सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हो गया तब पाण्डु की आज्ञा से कुन्ती तथा माद्री ने धर्म, वायु, इन्द्र तथा अश्विनीकुमारों से नियोग करके युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को पैदा किया।

—महा० आदि० १२३

व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्॥ १७॥
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्। पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि॥ १८॥
पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च। न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि॥ १९॥

[गीता० सं० में से ये श्लोक निकाल दिये, अन्यत्र हैं।—सं०]—महा० आदि० अ० १२२

भाषार्थ—आज से पति का उल्लघंन करके व्यभिचार करनेवाली स्त्री को गर्भपात के समान दुःखदायी पातक होगा॥ १७॥ और कुमार-अवस्थायुक्त ब्रह्मचारिणी पतिव्रता स्त्री को उल्लघंन करके व्यभिचार करनेवाले पुरुष को पृथिवी पर वही पातक होगा॥ १८॥ पुत्र के लिए जिस स्त्री को पति नियोग करने की आज्ञा दे और वह स्त्री इस आज्ञा का पालन न करे उसको भी वही पातक होगा॥ १९॥

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया। सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्॥ १६॥

—गरुड० आचार० अ० ९५

शतहीनं कृतं राज्यं सुदासस्तनयोऽभवत्। तस्मादशमकश्चैव मदयन्तया वशिष्ठजः॥ ४०॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० १, अ० १

दुर्गां निर्जनमाहूय तामुवाच हरः स्वयम्। बोधयामास विविधं हितं तथ्यमखण्डितम्॥ १६३॥
निवेदनं मदीयं च निबोध शैलकन्यके। शृंगारं देहि भद्रं ते हरये परमात्मने॥ १६४॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ६

भाषार्थ—बुजुर्गों की आज्ञानुसार सपिण्ड वा सगोत्र देवर पुत्र की कामना से पुत्ररहित स्त्री के पास ऋतुकाल में अपने शरीर के घी लगाकर जावे॥ १६॥ राजा सुदास ने सौ वर्ष के लगभग राज्य किया, उसका लड़का अशमक हुआ, जोकि सुदास की स्त्री मदयन्ती में वशिष्ठ से पैदा हुआ॥ ४०॥ दुर्गा अर्थात् पार्वती को एकान्त में बुलाकर शिव ने स्वयं कहा और विविध प्रकार से अखण्डित, हितकारी और सत्यवाक्यों का बोध करवाया॥ १६३॥ हे पर्वत की कन्या! मेरे निवेदन को सुन और समझ। तेरा कल्याण हो, इस परम आत्मावाले विष्णु के लिए शृंगार दान दे दे॥ १६४॥

क्या आपके विचार में ये सब निर्लज्ज थे?—कदापि नहीं। जो बात वेदादि शास्त्रों के

अनुकूल हो उसे मानने या करने में लज्जा मानना अज्ञानियों का काम है। हाँ, वेदविरुद्ध पाप की बात में प्रत्येक मनुष्य को लज्जा माननी चाहिए।

'यदि आपको इस बात के जानने का शौक है कि स्त्री का पति तो बाहर रहे और दूसरा कोई बाहरी सण्डा आकर मौज उड़ावे' तो हम आपको आपके पाँचवें वेद महाभारत से दिखाकर आपकी तृप्ति कर देते हैं। देखिए, 'युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि गृहस्थी मृत्यु को कैसे जीत सकता है?' भीष्म ने उसके उत्तर में एक इतिहास सुनाया कि 'सुदर्शन नाम का एक ब्राह्मण था, उसकी स्त्री का नाम औघवती था। उसने अपनी स्त्री से कहा कि—

अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन॥ ४२॥

येन येन तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः। अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा॥ ४३॥

तुझे अतिथि के प्रतिकूल कभी भी कोई काम नहीं करना चाहिए॥ ४२॥ जिस-जिस उपाय से अतिथि नित्य सन्तुष्ट रहे, चाहे अपना शरीर ही दान क्यों न करना पड़े, तुझे इसमें विचार नहीं करना चाहिए॥ ४३॥

एक दिन सुदर्शन लकड़ियाँ लेने जंगल में चला गया, पीछे से एक ब्राह्मण अतिथि बनकर घर पर आया और उसने औघवती से कहा कि—

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः। प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम्॥ ५४॥

हे रानी! यदि तुझको गृहस्थधर्म प्रमाण है तो तू अपना शरीर प्रदान करके मुझे प्रसन्न कर सकती है॥ ५४॥

यह सुनकर औघवती ने और पदार्थों से उसे प्रसन्न करना चाहा, किन्तु उसने शरीर-प्रदान के बिना और वस्तु स्वीकार न की, तब—

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः। तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम्॥ ५६॥

ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवोपविवेश ह॥ ५७॥

वह राजा की पुत्री, सुदर्शन की पत्नी, प्रथम दिवस के पति के वचन को याद करके लज्जित हुई उस ब्राह्मण से कहने लगी, बहुत अच्छा॥ ५६॥ तब ब्राह्मण प्रसन्न होकर और वह औघवती दोनों एकान्त स्थान में प्रविष्ट हो गये॥ ५७॥

इतने में सदुर्शन लकड़ियाँ लेकर आ गया और उसने अपनी स्त्री को आवाजें दीं कि तू कहाँ है? किन्तु—

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा। कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती॥ ६०॥

उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च। तूष्णीं भूताभवत् साध्वी न चोवाचाथ किंचन॥ ६१॥

उसने अपने पति की बात का उत्तर नहीं दिया, क्योंकि उस विप्र ने उसको हाथों से स्पर्श कर लिया था॥ ६०॥ मैं उच्छिष्ट हूँ, यह समझकर लज्जित हुई, पति के सामने चुप साध गई और कुछ न बोली॥ ६१॥

तब कुटी के अन्दर से वह ब्राह्मण बोला कि यह तो मेरे पास है। यह सुनकर सुदर्शन बोला कि—

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम। गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः संप्राप्तोऽतिथिपूजनम्॥ ६९॥

निःसन्दिग्धं यथावाक्यमेतन्मे समुदाहृतम्। तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे॥ ७२॥

हे ब्राह्मण! तेरा विषयभोग सफल हो, मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अतिथि की पूजा गृहस्थ का मुख्य धर्म है॥ ६९॥ मैंने जो यह स्पष्ट शब्द इस समय उच्चारण किये, हे ब्राह्मण! मैं सत्य कहता हूँ कि मैं स्वयं अपने को इससे पापी समझता हूँ॥ ७२॥

तब आकाश में नाद हुआ कि—

विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति॥ ८०॥[१]

हे सुदर्शन! तूने उस मौत को जीत लिया जो तेरे पीछे-पीछे फिरती थी॥ ८०॥

अतः हे युधिष्ठिर! प्रत्येक प्रकार से अतिथि की पूजा करने से ही गृहस्थी मृत्यु को जीत लेता है।

इसे कहते हैं पति का बाहर बैठे रहना तथा बाहरी सण्डे का मौज उड़ाना।

(४५३) प्रश्न—वेद का कथन यह है कि **'आ घा ता'** इत्यादि—

'यह मन्त्र यम-यमी सूक्त का है। यमदेव कुछ बड़े थे, और यमी छोटी थी। उसको संसार के धर्मों से अनभिज्ञता थी। एक दिन एक बरात चली जा रही थी। उस बरात में घोड़े पर चढ़े हुए वर को देखकर यम से पूछा कि भय्या! यह जो घोड़े पर चढ़ा है, कौन है, और घोड़े पर क्यों चढ़ा है तथा ये बहुत-से लोग इसके साथ क्यों जा रहे हैं? इसके ऊपर यम ने कहा कि बहिन! यह दूल्हा है और इसका विवाह है, यह विवाह करने के लिए जाता है। यह सुनकर यमी ने कहा कि आओ भय्या! हमारा और तुम्हारा विवाह हो जाए। यम बोले कि **(आ घा आगाच्छानि आगमिष्यन्ति उत्तरा युगानि)** आगे को आवेंगे वे दुष्ट युग कि **(यत्र जामयः अजामि कृण्वत्)** जिसमें भाई अयोग्य कार्य बहिन से करेंगे **(हे सुभगे! मत् मत्तः अन्यं पतिं इच्छस्व)** हे सौभाग्यवती! तू मेरे से अन्य पति की इच्छा कर। मेरी इच्छा तो तू कभी अपने मन में नहीं करना। **(वृषभाय बाहुं उपबर्बृहि)** योग्य पति के वास्ते तू अपने हस्त को ग्रहण करवा ले।' वेदमन्त्र का असली अर्थ यह है। —पृ० ५०, पं० ६

उत्तर—बेशक यह मन्त्र ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त का है, किन्तु यहाँ पर यम-यमी नाम किसी पौराणिक इतिहास-प्रतिपादित विशेष व्यक्तियों का नहीं है, अपितु संयमी पुरुष का नाम यम तथा यम की पत्नी का नाम यमी है। आपका यमी को यम की बहिन वर्णन करना सर्वथा निर्मूल कल्पना है—

(१) वेदों में किसी स्त्री वा पुरुष का इतिहास नहीं है, क्योंकि जिस पुस्तक में किसी का इतिहास हो वह पुस्तक उसके जन्म के पश्चात् बनी हुई मानी जावेगी, किन्तु वेद सृष्टि के आदि में प्रकाशित हुए, अतः दूल्हा, बरात आदि की कथा वेदों में बताना प्रमाण तथा युक्तिशून्य है।

(२) व्याकरण के अनुसार यम शब्द से पत्नी अर्थों में **'पुंयोगादाख्यायाम्'** ४।१।४८ सूत्र से ङीष प्रत्यय होकर यमी शब्द सिद्ध हो सकता है। बहिन के अर्थों में व्याकरण के किसी सूत्र से यमी शब्द सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) पौराणिक इतिहास के अनुसार भी यम की बहिन का नाम यमी नहीं था, अपितु यमुना था, जैसाकि—

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥ २६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥ २७॥
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः। विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥ २८॥
सुताः कन्यास्तयोर्जाता मनुर्वैवस्वतस्तथा। यमश्च यमुना चैव दिव्यतेजोभिरन्विताः॥ २९॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १८

भाषार्थ—जो ज्ञानवाली स्त्री हो, वह जिस भी शुभ पुरुष को वर ले, वह चाहे उसका पुत्र, पिता वा भ्राता भी क्यों न लगता हो, वही उसका पति बन जाता है॥ २६॥ ब्रह्मा अपनी पुत्री को, विष्णु अपनी माता को तथा महादेव अपनी बहिन को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त हो

१. यह प्रसंग महा० अनुशासन पर्व अ० २ में है। —सं०

गया॥ २७॥ इस वेद-अनुकूल वाणी को सुनकर सूर्य ने भी अपनी भतीजी संज्ञा को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त किया॥ २८॥ सूर्य से उस संज्ञा में यम और यमुना दिव्य तेजस्वी पुत्र तथा पुत्रियाँ पैदा हुईं॥ २९॥

यहाँ पर आपके मतानुसार भी पुराणों तथा वेदों में विरोध है, क्योंकि आप तो कहते हैं कि वेद बहिन-भाई आदि सभी निकट के रिश्तों में विवाह का निषेध करता है और पुराण कहते हैं कि वेद माता, बहिन तथा बेटी, भतीजी से विवाह की आज्ञा देता है। यह आपके घर की बात है, इसे सुलझाने का यत्न करें, किन्तु यह स्पष्ट है कि यम की बहिन का नाम यमी नहीं अपितु यमुना था, अतः वेदों में उनका वर्णन नहीं है।

(४) यदि आपको वेदमन्त्र में स्थित जामि पद से बहिन के अर्थों का भ्रम हुआ है तो वह निर्मूल है, क्योंकि जामि शब्द अनेक अर्थों का वाचक है, जैसाकि—

(अ) **जामि इति उदकनामसु पठितम्।** —निरुक्त अ० २ खं० २४

(आ) **जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा असमानजातीयस्य वा।** —निरुक्त० ४।३।२०

(इ) **न जामये भगिन्यै।** —निरुक्त अ० ३ खं० ६

(ई) **जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः।** —अमर० ३।१४२

(उ) **शोचन्ति जामयो यत्र।** —मनु० ३।५७

'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः' इत्यभिधानिकाः। यस्मिन् कुले भगिनीगृहपतिसंवर्धनीयसन्निहितसपिण्डस्त्रियश्च पत्नीदुहितृस्नुषाद्याः परितापादिना दुःखिन्यो भवति। —कुल्लूकभट्ट

(ऊ) **जामयो यानि गेहानि।** —मनु० ३।५८

यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृस्नुषाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति। —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—जामि शब्द का अर्थ जल, मूर्ख, पुनरुक्त, असमान जातीय, बहिन, कुलस्त्री, गृहस्थी से पालन योग्य स्त्री, सपिण्ड स्त्री, पत्नी, पुत्री, पुत्रवधू है। इन अर्थों में से इस मन्त्र में जामि शब्द का 'पत्नी' अर्थ ही संगत हो सकता है, अन्य नहीं। मन्त्र का सत्यार्थ यह है—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥

—ऋ० १०।१०।१०

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि। जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा। असमानजातीयस्य वोपजनः। उपधेहि वृषभाय बाहूमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम्। —निरुक्त अ० ४ खं० २०

भाषार्थ—आगे को वे युग आवेंगे जिनमें करेंगी, पत्नियाँ न पत्नियोंवाले काम (अर्थात् पति के सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर व्यभिचार करने में प्रवृत्त होंगी, अतः यह मर्यादा नियत की जाती है कि ऐसी अवस्था में पति पत्नी को व्यभिचार, गर्भपात से बचाने के लिए नियोग की आज्ञा दे) जामि नाम पुनरुक्त का है या मूर्ख का है। या पुरुष से असमान जाति अर्थात् स्त्री का है। इस जामि शब्द में 'मि' प्रत्यय है। हे सौभाग्य की इच्छा करनेवाली स्त्रि! तू मुझसे अन्य और पति की इच्छा कर और वीर्यसेचन में समर्थ पुरुष के लिए अपना हाथ पकड़ा दे।

निरुक्तकार को इस मन्त्र में जामि शब्द का बहिन अर्थ करना इष्ट नहीं है, अतः उसने इस मन्त्र में बहिन अर्थ नहीं किया। हाँ, निरुक्त अ० ३ खं० ६ में 'न जामये' इस मन्त्र में बहिन अर्थ इष्ट था, अतः बहिन अर्थ कर दिया।

अतः स्वामीजी का अर्थ वेद, निरुक्त, स्मृति के अनुकूल तथा युक्तियुक्त है और आपका अर्थ

वेद, निरुक्त तथा स्मृति के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है।

(४५४) प्रश्न—'सत्यार्थप्रकाश पृ० ११८ में लिखा है कि—'**प्रोषितो धर्मकार्यार्थम्**' इत्यादि [मनु० ९।७६] विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छह और धनादि कमाने के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूट जावे।' स्वामीजी आर्यसमाजियों का कल्याण चाहते हैं, इनकी इच्छा है कि हमारे शिष्यों को बिना मेहनत के लड़के मिल जावें। —पृ० ५१, पं० १

उत्तर—मनुस्मृति का यह प्रकरण आपद्धर्म का वर्णन करता है, जैसाकि—

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥ से
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥१०३॥ तक-मनु० अ० ९

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥२८॥
विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिकृतः॥२९॥ —मनु० ११

तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥२५॥
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥२६॥ —महा० आदि० अ० १०३

उत्तमाद्देवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि ॥३४॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥३५॥ —महा० आदि० अ० १२०

भाषार्थ—इससे आगे मैं स्त्रियों के आपद्धर्म का वर्णन करूँगा॥५६॥ इस श्लोक से लेकर, मैंने आपत्तिकाल में सन्तान-प्राप्ति का वर्णन कर दिया, इससे आगे दायभाग का वर्णन करूँगा॥१०३॥ यहाँ तक आपत्काल के धर्म का वर्णन है। विवादास्पद श्लोक इस प्रकरण के अन्दर आ जाता है, अतः यह आपद्धर्म का प्रतिपादक है। आपद्धर्म की विधि से जो मनुष्य बिना आपत्काल के काम लेता है वह इस लोक तथा परलोक में उसके फल को प्राप्त नहीं होता, यह निश्चित है॥२८॥ आपत्काल किसे कहते हैं?—सब देवता, साध्य, ब्राह्मण और महर्षियों ने आपत्तिकाल में मरने से डरते हुए विधि को प्रतिनिधि बनाया है॥२९॥ चूँकि व्यभिचार, गर्भपात भी एक प्रकार की नैतिक मौत है, अतः यदि किसी स्त्री का पति परदेश गया हो और उसके मरने-जीने का कोई पता न हो और ऐसी अवस्था में यदि स्त्री अपने-आपको काबू में न रख सके तो उस स्त्री को व्यभिचार तथा गर्भपातरूप मृत्यु से बचाने के लिए मनु आदि ने इस विधि का वर्णन किया है।

महाभारत भी इसका अनुमोदन करता है। हे रानी! मैं उस क्षत्रियों के सनातनधर्म का तेरे से वर्णन करता हूँ॥२५॥ तू आपद्धर्म के जाननेवालों से परामर्श करके और लोकमर्यादा को देखकर इसपर आचरण कर॥२६॥ लोग आपत्तिकाल में उत्तम देवर से पुत्र की इच्छा करते हैं॥३४॥ हे कुन्ति! मनुजी फ़रमाते हैं कि अपने वीर्य से पैदा हुए पुत्र से भी अधिक श्रेष्ठ फलदायक पुत्र को मनुष्य नियोगविधि से प्राप्त होते हैं॥३५॥ इतिहास में इस प्रकार की घटना भी विद्यमान है कि—"जब नल खोया गया और दमयन्ती को उसके मरने-जीने का कोई पता न लगा तो दमयन्ती ने दूतों के द्वारा पता लगाया। ऋतुपर्ण राजा को यह सन्देश दिया कि—

आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्तीस्वयंवरम्। तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥२४॥

यथा च गणित: काल: श्वोभूते स भविष्यति। यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम॥ २५॥
सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति। न हि सा ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा॥ २६॥

—महा० वन० अ० ७०

भाषार्थ—''भीम की पुत्री दमयन्ती फिर से स्वयंवर में बैठेगी। वहाँ पर सब राजा और राजपुत्र जा रहे हैं॥ २४॥ गिनती के अनुसार वह समय कल को होनेवाला है। यदि सम्भव हो सकता है तो आप शीघ्र पहुँचें॥ २५॥ वह दमयन्ती कल को सूर्य के उदय होते ही दूसरा पति स्वीकार करेगी, क्योंकि वह इस बात को नहीं जानती कि नल जीता है या नहीं॥ २६॥''

सन्देश के सुनते ही राजा ऋतुपर्ण अपने सारथि नल को साथ लेकर विदर्भ देश में गया और इस प्रकार से दमयन्ती ने नल को ढूँढ लिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दमयन्ती ने यह सब उपाय नल को ढूँढने के लिए रचा, किन्तु सवाल यह है कि उस समय में यदि ऐसी अवस्था में स्त्री को पुन: पति स्वीकार करने का अधिकार न होता तो न तो दमयन्ती इस प्रकार का सन्देश दे सकती थी और न ही अयोध्या का राजा ऋतुपर्ण इस सन्देश को सुनकर विदर्भ नगर में आ सकता था। इससे सिद्ध है कि पति के परदेश जाने तथा गुम होने पर स्त्री को दूसरे पति का अधिकार उस समय में माना जाता था, अत: स्वामीजी ने आर्यजाति के कल्याण के लिए वेद, मनुस्मृति तथा इतिहास में प्रतिपादित इस नियोग के विधान को सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। स्वामीजी ने लिखा है कि—

''नियोग'' विवाह के पश्चात् पति वा पत्नी के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष का आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।'' —सत्यार्थ० मन्तव्य० नं० ४७

जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है; परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए (सत्यार्थ० चतुर्थ० नियोग०)। अत: इस प्रकार का नियोग वेदशास्त्रसम्मत है। रही बात बिना मेहनत के सन्तान प्राप्त करने की, सो यह व्यभिचार सत्यार्थप्रकाश में नहीं मिल सकता। वह देखना हो तो पौराणिक ग्रन्थों में भरा पड़ा है। देखिए और पढ़िए—

(१) त्रिपाठी नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री का नाम कामिनी था। त्रिपाठी एक बार बाहर कथा करने गया। अभी एक मास ही हुआ था कि कामिनी ने काम से व्याकुल होकर—

दृष्ट्वा निषादं सबलं काष्ठभारोपजीविनम्। तस्मै दत्त्वा पञ्च मुद्रा बुभुजे कामपीडिता॥ ७॥
तदा गर्भं दधौ सा च व्याधवीर्येण सञ्चितम्। पुत्रोऽभूद्दशमासान्ते जातकर्म पिताकरोत्॥ ८॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० १ अ० ३३

भाषार्थ—लकड़ियाँ बेचकर निर्वाह करनेवाले बलवान् निषाद को देखकर उसे पाँच रुपये देकर उससे भोग कर लिया॥ ७॥ तब उस कामिनी ने व्याध के वीर्य से गर्भ धारण किया, दश मास के अन्त में पुत्र पैदा हुआ, पिता ने उसका जातकर्म संस्कार किया॥ ८॥

कहिए, यह बिना मेहनत के पुत्र-प्राप्ति है या नहीं? स्त्री ने एक मास की अनुपस्थिति को भी सहन नहीं किया।

(२) गौतम मुनि घर से बाहर स्नान करने गये। इन्द्र ने उसके आश्रम में प्रवेश किया और कहा कि—

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिन: ससमाहिते। संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे॥ १८॥
मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥ १९॥

अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थाऽस्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ २०॥

—वाल्मी० बाल० स० ४८

भाषार्थ—हे सुसमाहिते! अर्थी लोग ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते। हे सुमध्यमे! मैं तेरे साथ समागम करना चाहता हूँ॥ १८॥ हे राम! अहल्या ने इन्द्र को गौतम के रूप में देखकर उस कुबुद्धिवाली ने इन्द्र को प्रसन्न करने का विचार किया॥ १९॥ और प्रसन्नचित्त होकर इन्द्र से बोली—हे श्रेष्ठदेव! मैं कृतार्थ हूँ, आप शीघ्र यहाँ से चले जावें॥ २०॥

यहाँ अहल्या ने गौतम को मेहनत से बचाने के लिए इन्द्र से समागम करके पुत्र-प्राप्ति की चेष्टा की और पति के बाहर जाने पर चन्द घण्टे भी सहन न कर सकी।

(३) बृहस्पति की स्त्री तारा को चन्द्रमा ले-गया, उससे समागम किया, तारा गर्भवती हो गई। ब्रह्मा के कहने से चन्द्रमा ने तारा को वापस देना स्वीकार किया तो बृहस्पति ने कहा कि गर्भस्थ पुत्र मुझे मिलना चाहिए, क्योंकि—

क्षेत्रे मदीये चोत्पन्नस्तस्मात्स मम पुत्रकः। उक्तं च वेदशास्त्रज्ञैर्ऋषिभिर्धर्मदर्शिभिः॥ ४०॥
उप्तं वाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्रिणस्तस्य तद् बीजं न बीजी फलभाग्भवेत्॥ ४१॥

—भवि० उत्तर० अ० ९९

भाषार्थ—यह मेरे खेत में पैदा हुआ है, इसलिए मेरा पुत्र है और वेदशास्त्र के जाननेवाले धर्मदर्शी ऋषियों ने कहा भी है॥ ४०॥ कि बोया हुआ वा हवा से उड़ाया हुआ बीज जिसके खेत में उगता है वह बीज खेतवाले का ही कहाता है। बीजवाला फल का भागी नहीं होता॥ ५१॥

कहिए महाराज! यहाँ पर बृहस्पति ने बिना मेहनत किये ही पुत्र-प्राप्ति का यत्न किया, किन्तु सफल न हुए।

(४५५) प्रश्न—इस चालाकी में एक 'नई पकड़' पकड़ दें वह यह है—सत्यार्थप्रकाश के प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में यह लिखा है कि हम वेदानुकूल मनुस्मृति को प्रमाण मानते हैं? यह तो वेदानुकूल है नहीं, क्योंकि वेद में कोई मन्त्र ऐसा नहीं जिससे परदेश जाने में नियोग सिद्ध होता हो।

—पृ० ५१, पं० १२

उत्तर—श्रीमान्‌जी! आपने पकड़ तो क्या पकड़नी थी उलटा पकड़ में आ गये, क्योंकि आपने मनु के उपर्युक्त लेख का कोई वेदमन्त्र देकर वेद से विरोध नहीं दिखाया। वेद स्त्री को दूसरे पति का और पुरुष को दूसरी स्त्री का हक़ प्रतिपादन करता है। मनुस्मृति इस बात की व्याख्या करती है कि स्त्री तथा पुरुष को वह हक़ किन-किन अवस्थाओं में है।

—मनु० ९।७६ से ८१-१६७

अतः मनुस्मृति का लेख वेदानुकूल है, जैसाकि वेद कहता है—

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ १७॥
अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ १८॥

—अथर्व० का० १४ अनु० २

भाषार्थ—इन दोनों मन्त्रों में **'देवृकामा'** ''पति से सन्तान के अभाव में देवर को सन्तान-निमित्त चाहनेवाली'' विशेण स्त्री के लिए विद्यमान है। ''**देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते**'', देवर नाम ही दूसरे वर का है। ये दोनों मन्त्र स्त्री को दूसरे पति का हक़ प्रतिपादन करते हैं। निरुक्त ३।१५ में ''कुहस्विद्'' इस ऋग्वेद के मन्त्र में आये हुए ''विधवेव देवरम्'' पद की

व्याख्या की है। देवर शब्द की व्याख्या उपर्युक्त ही है। विधवा शब्द की व्याख्या यों की है कि **'अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद् वियोगाद्विधवा'** धव नाम मनुष्य का है उसके वियोग होने से स्त्री विधवा कहाती है। वियोग कई प्रकार का है, जिनमें से यह भी वियोग ही है कि पति परदेश चला जावे, और कई वर्ष तक उसके जीने वा मरने का कोई पता न लगे। ऐसी अवस्था में निरुक्त के कथनानुसार वह एक प्रकार की विधवा ही है और वेद तथा निरुक्त उसे दूसरे पति की आज्ञा देते हैं, अतः मनु तथा स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल होने से सत्य है तथा आपकी शंका सर्वथा निर्मूल और असत्य है॥

(४५६) प्रश्न—मनु का प्रकरण यह है कि—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः। अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि॥ ७४॥
विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिा। प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥ ७५॥
प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्षयोऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥ ७६॥

—मनु० ९

जब पति परदेश को जाए तो स्त्री के खान-पान का प्रबन्ध करके जाए, क्योंकि जीविका के प्रबन्ध के बिना नेक स्त्री भी दूषित हो जाती है॥ ७४॥ यदि पति खान-पान का प्रबन्ध कर जाए तो स्त्री पति के परदेश रहते उबटना, तेल, इत्र न लगावे, अधिक पुष्ट भोजन न खाए, इत्यादि नियमों में स्थिर होकर अपना कालक्षेप करे और यदि पति वृत्ति का कुछ प्रबन्ध न कर जावे तो फिर स्त्री को चाहिए कि अनिन्दित दस्तकारी से गुज़र करे, किन्तु कोई निन्दा का काम न करे॥ ७५॥ यदि पति धर्म के लिए प्रदेश गया हो तो आठ, विद्या और यश के लिए गया हो तो छह, किसी और काम को गया हो तो तीन वर्ष उसकी प्रतीक्षा करे॥ ७६॥ इसके बाद क्या करे, वसिष्ठस्मृति लिखती है कि **''अत ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्''** इसके बाद फिर वह अपने पति के पास वहीं चली जावे कि जहाँ उसका पति है। —पृ० ५१, पं० २१

उत्तर—'या बेईमानी तेरा आश्रय!' प्रकरण तो वर्णन किया जा रहा है मनु का और नतीजा बतलाया जा रहा है वसिष्ठस्मृति से और वह भी मनघड़न्त, फरजी संस्कृत बना मनु के प्रकरण को श्राद्ध के लड्डू की भाँति गटक गये। लीजिए, हम मनु का प्रकरण बतलाते हैं—

(१) हम पीछे वर्णन कर आये हैं कि मनु में ९।५६ से १०३ तक स्त्रियों के आपद्धर्म्म का वर्णन है, अतः यह प्रकरण आपद्धर्म का है। स्त्री पति के पास उसी सूरत में जा सकती है जबकि पति का पता हो कि वह कहाँ है और इस अवस्था का नाम आपद्धर्म है नहीं। यह तो साधारण अवस्था है। आपद्धर्म तो यह है कि पति का पता ही न हो कि वह जीता है या मर गया; कहाँ है, कहाँ नहीं। ऐसी अवस्था में स्त्री क्या करे? जैसाकि दमयन्ती को नल के विषय में पता ही नहीं था कि वह जीता है वा मर गया। खैर, दमयन्ती ने तो तलाश की और नल मिल गया किन्तु यदि पर्याप्त खोज के पश्चात् भी पता न लगे और स्त्री युवती हो, रह न सके, और उसके चालचलन का खतरे में पड़ने का अन्देशा हो, तो ऐसी सूरत में वही करना पड़ेगा जो दमयन्ती ने तो नल को बुलाने के लिए किया, किन्तु ऋतुपर्ण राजा उसको सत्य समझकर शीघ्रतापूर्वक आया, अर्थात् स्वयंवर द्वारा दूसरे पति की प्राप्ति। इसके बिना और कोई उपाय हो भी नहीं सकता।

(२) मनु के प्रकरण में मनु ही प्रमाण हो सकता है। मनु ने इसी प्रकरण में जहाँ स्त्री के आपद्धर्म का वर्णन किया है, वहाँ पुरुष के विषय में भी आपद्धर्म का वर्णन किया है और जो उपाय पुरुष के लिए बतलाया है वही उपाय स्त्री के लिए भी समझना चाहिए। वह यह है कि—

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

—मनु० ९।८१

यदि स्त्री वन्ध्या हो तो आठवें वर्ष, सन्तान मर जानेवाली हो तो दशवें वर्ष, कन्या-ही-कन्या पैदा करनेवाली हो तो ग्यारहवें वर्ष और यदि कटुभाषण करनेवाली हो तो तत्काल ही पुरुष को दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तान पैदा कर लेनी चाहिए॥ ८१॥

बस, स्त्री के लिए भी यही उपाय है कि उपर्युक्त अवस्था में अन्य पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले और यही मनु की सम्मति है, जिसे स्वामीजी ने स्पष्ट लिख दिया है।

(३) वसिष्ठस्मृति ने भी स्वामीजी की पुष्टिकी है, जैसाकि—

''प्रोषितपत्नी पञ्चवर्षा प्रवसेद्यद्यकामा यथा प्रेतस्य एवं च वर्तितव्यं स्यात्। एवं पञ्च ब्राह्मणीप्रजाता चत्वारि राजन्याप्रजाता त्रीणि वैश्याप्रजाता द्वे शूद्राप्रजाता। अत ऊर्ध्वं समानोदकपिण्डजन्मर्षिगोत्राणां पूर्वः पूर्वो गरीयान्। न खलु कुलीने विद्यमाने परगामिनी स्यात्''॥ —[खेमराज कृष्णदास, बम्बई सं० १९८१।—सं०]—वसिष्ठस्मृति अध्याय १७

भाषार्थ—पति परदेश गये हुए की स्त्री यदि इच्छा को रोक सके तो पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करके जैसे मरे पति की स्त्री बर्ताव करती है वैसा बर्ताव करे। ऐसे ही पाँच वर्ष ब्राह्मणी को हो जाएँ और चार वर्ष क्षत्राणी को हो जाएँ, तीन वर्ष वैश्य की स्त्री को हो जाएँ तथा दो वर्ष शूद्रा को हो जाएँ तो उसके पश्चात् [नियोग से सन्तान उत्पन्न कर ले]। अपना निकटवर्ती खानदानी, अपना जातीय, अपना ऋषि, अपने गोत्रों में से पूर्व-पूर्व का अधिक अच्छा है। निश्चितरूप से खानदानी की विद्यमानता में दूसरे के साथ समागम करनेवाली न हो।

इसका नाम है प्रकरण तथा सत्य प्रमाण। भला! कभी संसार में बनावटी बातों से काम चला करता है? निश्चय समझिए दुनिया में सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं।

(४५७) प्रश्न—स्वमीजी स्त्री को पति के पास नहीं जाने देते हैं, यहाँ ही मौज उड़ाने की आज्ञा देते हैं। —पृ० ५२, पं० १४

उत्तर—नियोग करने को मौज उड़ाना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियोग व्यभिचार नहीं है, अपितु नियोग आपद्धर्म है। वेद-शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध स्त्री-पुरुष के प्राइवेट सम्बन्ध का नाम व्यभिचार तथा वेद-शास्त्र की आज्ञा के अनुसार पंचायत द्वारा स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का नाम आपद्धर्म है। चूँकि नियोग की रस्म वेद-शास्त्र के अनुकूल स्त्री-पुरुष तथा सम्बन्धियों की सम्मति में पंचायत द्वारा अदा की जाती है, अतः व्यभिचार या मौज उड़ाना नहीं कहा जा सकता, जैसेकि—

(१) नियोग धर्म—

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती। —अथर्व० १८।३।१

इति धर्मो व्यवस्थितः। —मनु० ९।१२०

धर्मतः प्रसवश्च सः। —मनु० ९।१४५

स्वधर्मेण नियुक्तायाम्। —मनु० ९।१६७

धर्मं कर्तुमिहार्हसि॥ असंशयं परो धर्मः॥ —महा० आदि० १०३।१०, १३

धर्मश्च न पराभवेत्। —महा० आदि० १०३।२२

तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम्। —महा० आदि० १०३।२५

तदिदं धर्मयुक्तं च। —महा० आदि० १०५।२०[1]

पुत्रकामे च धर्मतः। —महा० आदि० १०५।३४

धर्ममुद्दिश्य कारणं दृष्टं ह्येतत् सनातनम्। —महा० आदि० १०५।३६

सा धर्मतोऽनुनीयैनाम्। —महा० आदि० १०५।४१

संयुक्ता सा हि धर्मेण। —महा० आदि० १२३।५

(२) नियोग का आज्ञा से होना तथा आप्त पुरुषों की सम्मति—

मन्नियोगान्महाबाहो। —महा० आदि० १०३।१०

सुहृदश्च प्रहृष्येरन्॥ २२॥ प्राज्ञैः सह पुरोहितैः॥ २६॥ —महा० आदि० १०३

भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा। —महा० आदि० १०५।४१

मन्नियोगाद्यत क्षिप्रम्। —महा० आदि० १२०।४० [गीता० सं० में से निकाल दिया गया]

मन्नियोगात् सुकेशान्ते। —महा० आदि० १२२।३०

हाँ, मौज उड़ाने की शिक्षा पौराणिक ग्रन्थों में विद्यान है, जैसाकि

अनावृत्ताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने। कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि॥ ४॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे पतीन्। नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मो पुराभवत्॥ ५॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः॥ ८॥
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः। जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत्॥ ११॥
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः। मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव॥ १२॥
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह। मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः॥ १३॥
ऋतावृत्तौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्ता पतिव्रते। नातिवर्त्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥ २५॥
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति। धर्ममेव जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते॥ २६॥

—[गीता० सं० में से निकाले गये। महा० प्रकाशक मण्डल में हैं।—सं०]

—महा० आदि० अ० १२२

भाषार्थ—हे सुन्दरमुखी! निश्चय से पहले स्त्रियाँ बेपर्द थीं और हे सुन्दर हँसीवाली! वे आवारागर्द और स्वतन्त्र थीं॥ ४॥ हे सौभाग्यवती! कुमार अवस्था से ही पतियों का उल्लंघन करने से उन्हें कोई अधर्म न होता था। हे वरारोहे! यही धर्म पुराना था॥ ५॥ यह धर्म स्त्रियों पर दया करनेवाला है और यही सनातनधर्म है॥ ८॥

निश्चय जानो पुराने ज़माने में श्वेतकेतु की माता को उसके पिता के सामने ही एक ब्राह्मण ने हाथ से पकड़ा और कहा कि आओ चलें॥ ११॥ ऋषिपुत्र श्वेतकेतु यह देखकर कि उस मेरी माता को इस प्रकार से बलात् ले-जाया जा रहा है क्रोध में आ गये॥ १२॥ उसके पिता ने उसे क्रोध में देखकर श्वेतकेतु को कहा कि पुत्र! क्रोध मत कर, यह तो सनातनधर्म है॥ १३॥ हे राजपुत्री! प्रत्येक ऋतुकाल में अपने पति का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ऐसा धर्म के जाननेवाले कहते हैं॥ २५॥ और बाक़ी के समयों में निश्चयरूप से स्त्री स्वतन्त्र है, सन्त लोग इस प्रकार के धर्म को पुराना धर्म कहते हैं॥ २६॥

इसको कहते हैं कि ''पति के पास न जाने देना और ग़ैर मर्दों से मौज उड़ाने की आज्ञा देना''।

---

१. गीता० संस्करण में ये श्लोक एक-दो अध्यायों और श्लोकों के अन्तर से उपलब्ध हैं। आगे भी ऐसा ही समझें। —सं०

(४५८) प्रश्न—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२४ में लिखा है कि—

'इमां त्वमिन्द्र' ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्रपते! ऐश्वर्ययुक्त! तू इस स्त्री को वीर्यदान देके सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद! पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं। तथा हे स्त्री! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर, अर्थात् एक तो उनमें विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं। यहाँ पर स्वामीजी ने स्त्रियों को मौज उड़ाने के लिए पतियों का भण्डार खोल दिया। —पृ० ५२, पं० १८

उत्तर—प्रथम तो आपने स्वामीजी के अर्थ में कोई ग़लती नहीं बतलाई कि स्वामीजी ने वेदमन्त्र के कौन-से पद का अर्थ ग़लत किया है और यदि अर्थ ठीक है तो फिर स्वामीजी पर क्या आक्षेप हो सकता है जबकि वेद का लेख आपको भी स्वत:प्रमाण है?

दूसरे, आपने स्वामीजी के संस्कृत अर्थ के उस भाग को छोड़ दिया है जो स्वामीजी के अर्थ को स्पष्ट कर देता है, वह पाठ यह है—

'अर्थात् कस्यांचिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोपत्यर्थं दशम पुरुषपर्यन्तं नियोगं कुर्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति, इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम्।'

—ऋग्वेदादि० नियोगप्रकरण, इमां त्वमिन्द्रमन्त्रभाष्ये

भाषार्थ—अर्थात् किसी आपत्काल अवस्था के प्राप्त होने पर एक-एक के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिए दशवें पुरुषपर्यन्त नियोग कर ले तथा पुरुष भी विवाहित स्त्री के मरने पर सन्तान के अभाव में एक-एक के अभाव में दशवीं विधवापर्यन्त के साथ नियोग करे। यदि इच्छा न हो तो न करे।

तीसरे, इस विषय में वेद का केवल एक ही मन्त्र नहीं है अपितु वेद के अनेक मन्त्र स्त्री को ग्यारह तक पति की आज्ञा देते हैं, जैसाकि—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ५॥

—ऋ० १०।८५।४०

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्ते परः पतिः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ३॥

—अथर्व० कां० १४ सू०२

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥ १॥ यदि द्विवृषोऽसि०॥ २॥ यदि त्रिवृषोऽसि०॥ ३॥ यदि चतुर्वृषोऽसि०॥ ४॥ यदि पञ्चवृषोऽसि०॥ ५॥ यदि षड्वृषोऽसि०॥ ६॥ यदि सप्तवृषोऽसि०॥ ७॥ यद्यष्टवृषोऽसि०॥ ८॥ यदि नववृषोऽसि०॥ ९॥ यदि दशवृषोऽसि०॥ १०॥ यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि॥ ११॥

—अथर्व० कां० ५ सू० १६

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥ ८॥

—अथर्व० कां० ५ सू० १७

भाषार्थ—हे स्त्री! तेरा पहला पति सोम है, गन्धर्व नाम का दूसरा पति प्राप्त होता है। तेरा तीसरा पति अग्नि है और चौथे से लेकर अधिक जितने पति हैं उनका नाम मनुष्य है॥ ५॥ हे स्त्री! तू पहले सोम की पत्नी बनती है, गन्धर्व तेरा दूसरा पति है, तीसरा पति अग्नि नामवाला है, चौथे से अधिक तेरे पतियों का नाम मनुष्य है॥ ३॥ हे पुरुष! यदि तू स्त्री में वीर्यसिंचन करनेवाला पहला पति है तो सन्तान पैदा कर, वरना निर्बल कहलावेगा॥ १॥ यदि दूसरा पति

है ॥ २ ॥ यदि तीसरा पति है ॥ ३३ ॥ यदि चौथा पति है ॥ ४ ॥ यदि पाँचवाँ पति है ॥ ५ ॥ यदि छठा पति है ॥ ६ ॥ यदि सातवाँ पति है ॥ ७ ॥ यदि आठवाँ पति है ॥ ८ ॥ यदि नौवाँ पति है ॥ ९ ॥ यदि दशवाँ वीर्यसिंचन करनेवाला पति है तो सन्तान पैदा कर, वरना निर्बल कहलावेगा ॥ १० ॥ यदि ग्यारहवाँ पति है तो वह तू दु:खों में तड़पने से बच सकता है ॥ ११ ॥ यदि स्त्री के पहले दश पति ब्राह्मण न हों, ग्यारहवाँ यदि ब्राह्मण हाथ पकड़ ले तो वही एक पति गिना जाएगा ॥ ८ ॥

यहाँ पर वेद में आपत्तिकाल में यदि सन्तान की इच्छा हो तो वेदानुकूल पंचायत द्वारा नियोग से एक-एक के अभाव में ग्यारहवें तक पति की प्राप्ति का वर्णन है। इसका नाम मौज उड़ाने के लिए पतियों का भण्डार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुराणों में भी इसपर आचरण करने का वर्णन है।

अम्बिका अम्बालिका के दो-दो पति विचित्रवीर्य और व्यास—

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे। भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६५ ॥

—महा० आदि० अ० १०२

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्त:सत्यवागृषि: ॥ ४ ॥

सम्बभूव तया सार्द्धं मातु: प्रियचिकीर्षया ॥ ६ ॥

ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत। अम्बालिकामथाभ्यगादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ॥ १५ ॥

—महा० आदि० अ० १०६

भाषार्थ—भीष्म ने वेदानुसार कर्म द्वारा अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए अम्बिका और अम्बालिका दो पत्नियाँ दीं ॥ ६५ ॥

उसके पश्चात् सत्य बोलनेवाले ऋषि व्यास ने पहले अम्बिका में नियोग किया और माता को प्रसन्न करने की इच्छा से उसके साथ समागम किया ॥ ४ । ६ ॥ उसके पश्चात् उसी विधि से वह ऋषि व्यासजी उस अम्बालिका से समागम को प्राप्त हुए और वह भी उनको देखकर ॥ १५ ॥

(२) माद्री के तीन पति १ पाण्डु और दो अश्विनीकुमार—

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ॥ तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥

—महा० आदि० अ० १२४

भाषार्थ—उसके पश्चात् माद्री ने विचार करके मन से अश्विनीकुमारों को याद किया। उन्होंने आकर उसमें दो पुत्र पैदा किये, जोकि जौड़ले—निकुल और सहदेव थे ॥ १६ ॥

(३) कुन्ती के चार पति—१ पाण्डु, २ वायु, ३ धर्म, ४ इन्द्र—

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर इति ख्यात: पाण्डो: प्रथमज: सुत: ॥ ९ ॥

ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ॥ ११ ॥

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रम: ॥ १४ ॥

एवमुक्ता तत: शक्रमाजुहाव यशस्विनी। अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ ३४ ॥

—महा० आदि० अ० १२३

भाषार्थ—उस कुन्ती ने योगमूर्ति धारण करनेवाले धर्म से समागम किया ॥ ५ ॥ जिससे पाण्डु का पहला पुत्र प्रसिद्ध युधिष्ठिर पैदा हुआ ॥ ९ ॥ उसके पश्चात् पति के कहने से कुन्ती ने वायु को बुलाया ॥ ११ ॥ उससे कुन्ती ने भयंकर बलवाला भीम पैदा किया ॥ १४ ॥ इसी प्रकार से पाण्डु के कहने पर यशस्विनी कुन्ती ने इन्द्र को बुलाया। तब इन्द्र आया और उसने कुन्ती में अर्जुन को पैदा किया ॥ ३४ ॥

(४) द्रौपदी के पाँच पति—

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे। कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ ११७ ॥ प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात्। अर्जुनात् श्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ११८ ॥ तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान्॥ ११७ ॥ —महा० आदि० अ० ६३

भाषार्थ—पाँच पाण्डवों से द्रौपदी में रूपवान् सर्वशास्त्रसम्पन्न पाँच कुमार पैदा हुए॥ ११७॥ युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति तथा नकुल से शतानीक और ॥ ११८ ॥ सहदेव से प्रतापी श्रुतसेन पैदा हुआ॥ ११९ ॥

(५) गौतम की पुत्री जटिला के सात पति थे—

श्रूयते ही पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्तधर्मभृतां वरा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—पुराणों में सुना जाता है कि गौतम की पुत्री जटिला ने सात ऋषियों को पतिरूप से ग्रहण किया॥ १४॥

(६) वृक्ष की पुत्री मुनिजा के दश पति थे—

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। सङ्गताभूद्दशभ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥

[गीता० सं० में अ० १९५।—सं०]—महा० आदि० अ० १९८

भाषार्थ—वैसे ही वृक्ष की पुत्री मुनिजा ने भी तप से पवित्र आत्मावाले दश भाई प्रचेताओं से समागम किया॥ १५॥

(७) दिव्यादेवी के इक्कीस पति थे—

एकविंशतिभर्तारः काले काले मृतास्तदा। ततो राजा महादुःखी संजातः ख्यातविक्रमः ॥ ६५ ॥

—[वैंकटेश्वर प्रेस द्वारा मुद्रित संस्करण में श्लोक सं० ७० है]—पद्म० भूमि० अ० ८५

भाषार्थ—दिव्यादेवी के इक्कीस पति समय-समय पर मर गये, तब प्रसिद्ध कीर्तिवाला दिवोदास राजा महादुःखी हो गया॥ ६६॥

अब क्या आप कह सकते हैं कि यह व्यासजी ने स्त्रियों के मौज उड़ाने के लिए पतियों का भण्डार खोल रक्खा है? कदापि नहीं। हाँ, पौराणिक ग्रन्थों में स्त्रियों को मौज उड़ाने के लिए पतियों के सैकड़ों भण्डार मौजूद हैं (देखो नं० ४५७)।

(४५९) प्रश्न—वेद का असली अभिप्राय यह है कि—

'विवाह के समय में दूल्हा देवराज इन्द्र से प्रार्थना करता है कि कल्याणकारक वृष्टि करनेवाले हे इन्द्र! स्त्री को तू सुपुत्र और सुभाग करना। किस प्रकार? इसमें दश पुत्र उत्पन्न हों और ग्यारहवाँ मैं पति बना रहूँ।'

उत्तर—इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥ —ऋ० अ० ८ अ० ३ व० २८

(१) आपने इस मन्त्र में आये हुए '**आधेहि**' पद का अर्थ 'उत्पन्न हों' तथा '**कृधि**' पद का अर्थ 'मैं पति बना रहूँ' किस व्याकरण के आधार पर किया है। '**आधेहि**' मध्यम पुरुष का प्रयोग है जिसके अर्थ; हैं 'इसमें दश पुत्रों को धारण कर'। आपने इसके प्रथम पुरुष के अर्थ 'इसमें दश पुत्र उत्पन्न हों' कर दिये तथा '**कृधि**' भी मध्यम पुरुष का प्रयोग है जिसके अर्थ होते हैं 'ग्यारहवें तक पति कर', आपने इसके उत्तम पुरुष के अर्थ 'ग्यारहवाँ मैं पति बना रहूँ' कर मारे जोकि व्याकरण से अत्यन्त विरुद्ध हैं।

(२) यदि आपके अर्थों को ठीक मान भी लिया जाए तो इसके यह अर्थ होंगे कि स्त्री को दूसरे पति का भी अधिकार प्राप्त नहीं है और यह अर्थ स्वयं वेदों के ही विरुद्ध हैं, क्योंकि

स्त्री को दूसरे पति का हक़ प्रतिपादन करनेवाले वेदों में अनेक मन्त्र हैं, जैसाकि—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्।
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः॥ —अथर्व० ९।५।२७-२८
विधवेव देवरम्। —ऋ० १०।४०।२
इयं नारी पतिलोकं वृणाना। —अथर्व० १८।३।१
देवृकामा। —ऋ० १०।८५।४४
प्राता रत्नम्। —ऋ० १।१२५।१
उत यत् पतयो दश स्त्रियः —अथर्व० ५।१७।८
उदीर्ष्व नारि। —ऋ० १०।१८।८
सोमः प्रथमो विविदे। —ऋ० १०।८५।४० इत्यादि-इत्यादि।

अतः स्वामीजी का अर्थ वेदानुकूल तथा युक्तियुक्त है और आपका अर्थ वेद, व्याकरण तथा युक्ति के अत्यन्त विरुद्ध होने से सर्वथा निर्मूल है।

जैसेकि लिखा भी है कि—

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्। पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम्॥ २२॥
—महा० अनु० अ० ८

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने। तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः॥ १९१॥
—मनु० ९

पत्यन्तर्विधान और स्वामी दयानन्द

(४६०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० १११ में लिखा है कि—

'किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में' इत्यादि से लेकर 'नष्ट होना' इत्यन्त तक पाठ देकर लिखा है कि—'इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह व अनेक विवाह कभी न होना चाहिए'।

यहाँ पर स्वामीजी द्विजों में अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष का तो पुनर्विवाह होना लिखते हैं, किन्तु क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष के विवाह का निषेध करते हैं।
—पृष्ठ २१, पंक्ति ७

उत्तर—यदि स्वामीजी ने द्विजों में क्षतयोनि स्त्री तथा क्षतवीर्य पुरुष के लिए विवाह का निषेध किया है तो नियोग का तो विधान किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुनर्विवाह और नियोग में कुछ-एक शर्तों का अन्तर है, किन्तु स्त्री को दूसरे पति की प्राप्ति दोनों में विद्यमान हैं। आपने स्वामीजी के लेख को आगे और पीछे से चुराकर और अधूरा लेख लिखकर जनता को धोखे में डालने का यत्न किया है। देखिए, स्वामीजी का पूरा लेख इस प्रकार है—

"**प्रश्न**—स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होना योग्य है वा नहीं?

उत्तर—युगपत् न, अर्थात् एक समय में नहीं।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होने चाहिएँ?

उत्तर—हाँ, जैसे—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥
—मनु० ९।१७६

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और

अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री, क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है?

उत्तर (पहला)—स्त्री-पुरुष में प्रेम का न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले। (दूसरा)—जब स्त्री वा पुरुष पति वा स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहे तब प्रथम स्त्री वा पूर्वपति के पदार्थों को उड़ा ले-जाना और उनके कुटुम्बवालों का उनसे झगड़ा करना। (तीसरा)—बहुत-से भद्रकुलों का नाम वा चिह्न भी न रहकर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना। (चौथा)—पतिव्रत और स्त्रीव्रतधर्म नष्ट होना इत्यादि दोषों के कारण द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिए।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाए तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचार आदि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे, इसलिए पुनर्विवाह का होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी नहीं होगा और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।''

अब इस लेख से स्पष्टरूप से सिद्ध है कि स्वामीजी ने द्विजों में अक्षतयोनि स्त्री तथा अक्षतवीर्य पुरुष के लिए पुनर्विवाह तथा क्षतयोनि स्त्री तथा क्षतवीर्य पुरुष के लिए नियोग की आज्ञा दी है। पुनर्विवाह तथा नियोग दोनों में स्त्री के लिए दूसरे पति की प्राप्ति विद्यमान है, अत: आपका आक्षेप सर्वथा निरर्थक है। स्त्री को दूसरे पति के अधिकार के बारे में वेदों और शास्त्रों में प्रमाण भरे पड़े हैं, जैसाकि—

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ ४॥

—अथर्व० १४।२।४

भाषार्थ—सोम ने पहले गन्धर्व के लिए दिया। गन्धर्व ने अग्नि के लिए और अग्नि ने भी इस स्त्री, धन और पुत्रों को मुझे दिया॥ ४॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ १०॥
पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥ ११॥

—अथर्व० ५।१७

भाषार्थ—विद्वान् लोग स्त्री का पुनः दान कर देते हैं। विचारशील मनुष्य भी विधवा का पुनः दान करते हैं। राज्यकर्त्ता व्यवस्थापक लोग भी यथार्थ का निर्णय करके ब्राह्मण की पत्नी को भी पुनः दान करने की आज्ञा देते हैं॥ १०॥

विद्वान् लोग ब्राह्मण की पत्नी को पुनः निर्दोष, निष्पाप करके और उसे योग्य पति के हाथों पुनः दान करके भूमि के बल को विभाग करके उस महान् यशस्वी परमात्मा की उपासना करते हैं॥ ११॥

यहाँ जाया नाम कन्या का नहीं अपितु पत्नी का है, जैसाकि—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥

—मनु० ९।८

भाषार्थ—पति पत्नी में प्रवेश करके गर्भ होकर इस संसार में पैदा होता है। जाया का यही जायापन है कि इसमें पति पुनः पैदा होता है॥ ८॥

पुत्र पति के सदृश होता है यह इस श्लोक का अभिप्राय है।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृत्तासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥

—अथर्व० १८।३।३

भाषार्थ—मृतपतियों के पास से जीवित युवती=जवान स्त्री को ले-जाई गई और पुनः विवाह करती हुई को मैं गृह का व्यवस्थापक देखूँ। जब वह अन्धकार, शोक-मोह से ढकी हुई हो तो उसको आगे के कष्टदायक दृश्य से हटाकर दूसरी ओर ले-जाऊँ॥६॥

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ ३०॥

—पराशरस्मृति अ० ४

भाषार्थ—पति के खोने, मरने, संन्यासी, नपुंसक, या पतित होने आदि पाँच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरा पति करने की विधि है॥३०॥

'पतौ' पद पर आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह प्रयोग ग्रन्थों में आता है, जैसाकि—

नो अस्मिन् रमसे पतौ॥ ३॥ —अथर्व० ३।१८

तत्र नित्यं वसेत्प्राज्ञः कृतकृत्यः पतौ सुखम्॥ ८७॥ —भविष्य० उत्तर० अ० २०५

शंकरो बहुधा देवी विहर्तुं सम्प्रतीक्षते। एवं पतौ सुकामार्तं गम्यतां गिरिनन्दिनि॥ ४३॥

—शिव० रुद्र० युद्ध० अ० ५१

नहि कोपपरीतानि हर्षपर्युत्सुकानि च। भवन्ति युधि योधानां मुखानि निहते पतौ॥ २४॥

—वाल्मी० युद्ध० स० ४८

अतः **'पतौ'** प्रयोग आर्ष होने से ठीक है।

(४६१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ११४ में लिखा है कि 'द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं। इस लेख में पीछे लिखे अक्षतवीर्य पुरुष और अक्षतयोनि स्त्री के विवाह का भी खण्डन किया है। —पृ० २१, पं० २१

उत्तर—यहाँ पर अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष के पुनर्विवाह का प्रकरण ही नहीं है, अपितु यहाँ पर क्षतयोनि स्त्री तथा क्षतवीर्य पुरुष के नियोग का प्रकरण चल रहा है। यहाँ पर विधुर पुरुष को कुमारी कन्या से तथा विधवा स्त्री को कुमारे पुरुष से विवाह का निषेध किया है। आपने अपने स्वभाव के अनुसार यहाँ भी आगे-पीछे के पाठ को चुराकर, अधूरा पाठ पेश करके, वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कल्पना करके आत्मघात का पाप ही किया है। देखिए, पूरा पाठ इस प्रकार है—

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह दूसार विवाह करेगा?

उत्तर—हम लिख आये हैं कि द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय और विधवा स्त्री के साथ कुमारे पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक पुरुष का विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ पुरुष विवाह नहीं किया चाहता वैसे ही विवाहित और स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जब विवाह किये हुए पुरुष को कोई कुमारी कन्या और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिए।

कहिए महाराज! यहाँ पुनर्विवाह का खण्डन है या विधुर पुरुष के साथ कुमारी कन्या के

विवाह का खण्डन करके विधुर और विधवा के नियोग का मण्डन वर्णन किया है? परमात्मा आपको सचाई प्रकाशित करने का बल दें, ताकि आप स्त्रियों को दूसरे पति के हक़ का विरोध करना छोड़ दें, क्योंकि आपके ग्रन्थों में उसके अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, जैसेकि—

(१) सीता के कथनानुसार राम की सहायतार्थ लक्ष्मण के न जाने पर सीता ने कहा कि—

इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते॥ ६॥
लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्॥ ७॥
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्॥ २३॥
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥ २४॥
कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम्॥ २५॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्॥ २६॥
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे॥ ३७॥ —वाल्मी० अरण्य० स० ४५

भाषार्थ—हे लक्ष्मण! तू मेरे कारण राम की मौत चाहता है॥ ६॥ तू मेरे लोभ के कारण ही राम की सहायतार्थ नहीं जाता॥ ७॥ हे लक्ष्मण! यदि सपत्न पुरुषों में यह पाप हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है॥ २३॥ तू मेरे कारण से छिपा हुआ राम के पीछे फिर रहा है, या तुझे भरत ने भेजा है॥ २४॥ मैं कैसे कमलनयन घनश्याम राम पति का आश्रय लेकर दूसरे पुरुष की कामना कर सकती हूँ॥ ३५॥ मैं राम के बिना किसी पुरुष का स्पर्श नहीं कर सकती॥ ३७॥

सीता का लक्ष्मण को यह उलाहना देना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त था।

(२) रावण ने सीता से कहा कि—

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते॥ ३४॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति॥ ३५॥ —वाल्मी० अरण्य० स० ५५

भाषार्थ—हे सीते! बस, तू शरम न कर और यह विचार न कर कि पाप होगा। यह विधि है। हे देवि! यह आर्ष विवाह कहाता है, जिससे मैं तुझे ग्रहण करूँगा॥ ३४, ३५॥

रावण का यह उपदेश उस समय में स्त्री के दूसरे पति के हक़ को सिद्ध करता है।

(३) जब सीता को राम के सामने लाया गया तो राम ने सीता से कहा कि—

प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता। दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा॥ १७॥
तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत्कृतबुद्धिना। लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम्॥ २२॥
शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे। निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः॥ २३॥
—वाल्मी० युद्ध० स० ११५

भाषार्थ—मुझे तेरे चरित्र में सन्देह है, किन्तु तू मेरे सामने खड़ी है। निश्चत ही तू मेरे लिए ऐसे ही प्रतिकूल है जैसे नेत्ररोगी के लिए दीपक॥ १७॥ सो आज मैं हे कल्याणी! सोच-विचारकर ही तुझे कहता हूँ कि तू सुखपूर्वक लक्ष्मण वा भरत में बुद्धि को स्थिर कर ले॥ २२॥ या शत्रुघ्न या सुग्रीव में या राक्षस विभीषण में हे सीते! अपने मन को लगा ले या जहाँ तुझे सुख प्रतीत हो वहाँ रह॥ २३॥

राम का सीता को यह कहना सिद्ध करता है कि उस समय ऐसी अवस्था में स्त्रियों को दूसरे पति का हक़ था।

(४) जब हनुमान्‌जी ने सीता को अशोकवाटिका में देखा तो उसकी क्या अवस्था थी, वाल्मीकिजी कहते हैं कि—

पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले॥ १०॥ —वाल्मी० सुन्दर० स० १९

भाषार्थ—जैसेकि पुनः संस्कार को प्राप्त हुई हो और दुःखित कुल में पैदा हुई हो॥ १०॥ वाल्मीकि का यह उपमा देना पुनर्विवाह के रिवाज को सिद्ध करता है।

(५) जाम्बवान् ने हनुमान्‌जी से कहा कि—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः॥ २९॥

मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः॥ ३०॥ —वाल्मी० किष्किं० स० ६६

भाषार्थ—हे हनुमन्! तू भयंकर बलवाला केसरी का क्षेत्रज पुत्र है॥ २९॥ और पवन का औरस पुत्र है और तेज में भी उसके समान है॥ ३०॥

हनुमान् को क्षेत्रज पुत्र लिखना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय नियोग का रिवाज विद्यमान था।

(६) जब शूर्पणखा ने राम से विवाहार्थ प्रार्थना की तो वह विधवा थी—

ततः प्रदानं राक्षस्या भगिन्याः समचिन्तयत्॥ १॥

ददौ तां कालकेयाय दानवेन्द्राय राक्षसीम्। स्वसां शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः॥ २॥

—वाल्मी० उत्तर० स० १२

शूर्पणख्याश्च भर्तारमसिना प्राच्छिनत्तदा। श्यालं च बलवन्तं च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम्॥ १८॥

—वाल्मी० उत्तर० स० २३

कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात्॥ २७॥

राजन् वैधव्यशब्दं च भोक्ष्यामि त्वत्कृतं ह्यहम्॥ ३०॥ —वाल्मी० उत्तर० स० २४

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी। चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि॥ २५॥

—वाल्मी० अरण्य० स० १७

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥ २॥

—वाल्मी० अरण्य० स० १८

भाषार्थ—तब रावण अपनी बहिन के विवाह का विचार करने लगा॥ १॥ तब राक्षस रावण ने अपनी बहिन राक्षसी शूर्पणखा का विवाह कालकेय विद्युज्जिह्व नामक राक्षस से कर दिया॥ २॥ इसके पश्चात् रावण ने एक युद्ध में शूर्पणखा के पति अपने बहनोई बलवान् शूरवीर विद्युज्जिह्व को तलवार से क़त्ल कर दिया॥ १८॥ तब शूर्पणखा ने रावण से कहा कि हे राजन्! बलवान् आपने अपने बल से मुझे विधवा बना दिया॥ १७॥ हे राजन्! अब तेरे कारण से मैं विधवा शब्द का भोग करूँगी॥ ३०॥ उसके पश्चात् रावण के कहने से शूर्पणखा अपने भाई खरदूषण के पास रहने लगी। उन्हीं दिनों में राम उधर आये तो शूर्पणखा ने राम से कहा कि मैं प्रभाव से सम्पन्न और स्वतन्त्र गतिवाली हूँ। आप मेरे चिर काल तक पति बनें, सीता से आप क्या करेंगे॥ २४॥ इसपर राम ने उत्तर दिया कि मैं विवाहित हूँ और यह सीता मेरी प्यारी पत्नी है और आप-जैसी नारी के लिए सपत्नीपन का दुःख असह्य होगा॥ २॥

शूर्पणखा का विधवा ब्राह्मणी होते हुए विवाह की प्रार्थना करना तथा राम का यह उत्तर देना कि "मेरे पास स्त्री विद्यमान है, इसलिए मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता", जिसके दूसरे अर्थ यह हैं कि "यदि मेरे पास स्त्री न होती तो मैं तुम्हारे साथ विवाह कर लेता" इन दोनों बातों से सिद्ध होता है कि उस समय में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार था।

(७) बाली के मरने पर सुग्रीव ने तारा को रानी बना लिया, जैसाकि लिखा है—

स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम्। विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम्॥ ४॥

—वाल्मी० किष्किं० स० २९

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा॥ २२॥ —वाल्मी० किष्किं० स० ३१

तं कामवृत्तं मम संनिकृष्टं कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम्।
क्षमस्व तावत् परवीरहन्तस्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम्॥ ५६॥

—वाल्मी० किष्किं० स० ३३

रामान्मृते बालिसंज्ञे पतौ हि सुग्रीवसङ्गं सा चकार तारा।
अतो नागात्स्वर्गलोकं च तारा क्व वा यायादन्तरिक्षं च पापा॥ ५२॥

—गरुड० उत्तर० अ० २८

प्रविश्यान्तःपुरं शीघ्रं तारामुद्दिश्य सोऽब्रवीत्॥ ३०॥
प्रिये त्वं सह नारीणां वानराणां महात्मनाम्॥ ३१॥

—वाल्मी० युद्ध० स० १२३

अब्रवीन्मेघसंकाशं सुषेणं नाम वानरम्॥ १॥
तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम्॥ २॥

—वाल्मी० किष्किं० स० ४२

लहत न प्रभु चित्त चूक किये की, करत सुरत सौ बार हिये की।
जिहिं अघ वध्यो व्याध जिमि बाली, फिर सुकंठ सोई कीन्ह कुचाली।
सोई करतूत विभीषण केरी, सुपनेहु सो न राम हिये हेरी।
ते भरतहिं भेटत सनमाने, राजसभा रघुवीर बखाने।

—तुलसीरामा० बाल० दोहा नं० ३४

भाषार्थ—अपनी प्यारी पत्नी रुमा और तारा के साथ दिन-रात मनोवांच्छित विहार करते हुए सुग्रीव को कृतार्थ और दुःखरहित देख॥ ४॥ वह बलवान् कपि सुग्रीव तारा के साथ काम में मोहित था॥ २२॥ तारा ने लक्ष्मण से कहा कि उस काम में मस्त मेरे पास काम के योग से स्थित, निर्लज्ज, शूरवीर अपने भाई वानरवंश के राजा सुग्रीव को क्षमा करो॥ ५६॥ राम से बाली नाम के पति के मारे जाने के पश्चात् उस तारा ने सुग्रीव से समागम किया, इसलिए तारा स्वर्गलोक को नहीं गई, वह पापिनी स्वर्ग को कैसे जा सकती थी?॥ ५२॥ जब सुग्रीव राम के साथ पुष्पकविमान पर अयोध्या को जा रहे थे तो रास्ते में किष्किन्धापुरी में विमान उतारा, तब उस सुग्रीव ने महल में प्रवेश करके तारा को बुलाकर कहा हे प्यारी! तू भी वानरों की तमाम स्त्रियों के साथ तैयार हो जा॥ ३०॥ सुग्रीव ने तारा के बाप तथा अपने श्वसुर भयंकर बलवान्, मेघ-सदृश गर्जनेवाले सुषेण नामक वानर को कहा॥ १-२॥

इन तमाम प्रमाणों से सिद्ध है कि सुग्रीव ने तारा को पत्नी बना लिया था। इसपर तुलसीदास-जी कहते हैं कि—राम भक्तों की ग़लती की ओर ध्यान नहीं देते, अपितु उनके हृदयों को सौ बार टटोल लेते हैं कि वे मेरी ओर हैं। जिस पाप के कारण राम ने शिकारियों की भाँति बाली को मारा (अर्थात् सुग्रीव की स्त्री रुमा को बाली ने घर में डाल लिया था), फिर सुग्रीव ने वही कुचाल की (अर्थात् बाली के मरने पर तारा को रानी बना लिया) वही करतूत विभीषण ने की (अर्थात् रावण के मरने पर मन्दोदरी को रानी बना लिया) किन्तु राम ने स्वप्न में भी उनको दण्ड देने का ख़्याल नहीं किया। उनकी भरत के साथ मानपूर्वक भेंट करवाई और भरे दरबार में राम ने उनकी बड़ी प्रशंसा की।

इन चौपाइयों का सारांश यह है कि जिस पाप के कारण राम ने बाली को शिकारियों की भाँति मारा वही पाप सुग्रीव और विभीषण ने किया, किन्तु राम ने उनको कोई दण्ड नहीं दिया बल्कि उनका उत्साह बढ़ाया। हमारे विचार में यह राम की स्तुति नहीं अपितु राम पर अन्याय का दोष है, जिसको हम ठीक नहीं मानते, क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी एक न्यायकारी राजा थे। वास्तव में बात यह है कि गुसाईं तुलसीदासजी ने बात को समझा नहीं। वास्तव में जो पाप बाली ने किया था वह सुग्रीव और विभीषण ने नहीं किया। बाली ने सुग्रीव के जीते हुए उसकी स्त्री रुमा को बलात्कार से अपने घर में डाला। चूँकि राम यह समझते थे कि पति के जीते हुए उसकी स्त्री रुमा को बलात्कार से अपने घर में डालना पाप है, अतः राम ने बाली को शिकारियों की भाँति मारा, किन्तु सुग्रीव ने बाली के मरने के पीछे उसकी स्त्री तारा को उसकी इच्छा से अपनी रानी बनाया, और विभीषण ने भी रावण के मरने के पीछे उसकी स्त्री मन्दोदरी को उसकी इच्छा से अपनी रानी बनाया। चूँकि राम यह समझते थे कि पति के मरने के पीछे उसकी स्त्री को उसकी इच्छा से रानी बनाना कोई पाप नहीं है, अतः इतना ही नहीं कि राम ने उनको दण्ड नहीं दिया अपितु उनकी उत्साह-वृद्धि की।

इन दोनों घटनाओं से सिद्ध है कि उस समय स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त था।

(४६२) प्रश्न—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२२ में लिखा है कि—

"कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते। तस्य विद्याव्यवहाररहितत्त्वात्।"

'कुमार स्त्री-पुरुष का एक ही बार विवाह विधान किया है, फिर विवाह नहीं होता, नियोग होता है। द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) में द्वितीय बार विवाह का विधान नहीं; पुनर्विवाह का तो शूद्रवर्ण में ही विधान है, क्योंकि उसको विद्याव्यवहार की शून्यता है।'

[आर्यसमाजियों को स्वामी दयानन्दजी का यह लेख साधु जान पड़ता है वा असाधु?]

उत्तर—यहाँ पर भी आपने स्वामीजी के पाठ को चुराकर अधूरा ही पाठ पेश किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में यहाँ पर प्रकरण ही नियोग का है, पुनर्विवाह का प्रकरण ही नहीं है। चूँकि पुनर्विवाह द्विजों में अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष का ही होना सत्यार्थप्रकाश में वर्णन कर आये हैं, अतः नियोग का प्रकरण होने के कारण यहाँ क्षतयोनि स्त्री तथा क्षतवीर्य पुरुष का ही वर्णन है। और क्षतयोनि स्त्री तथा क्षतवीर्य पुरुष के पुनर्विवाह का निषेध करके नियोग का विधान सत्यार्थप्रकाश में ही कर आये हैं, अतः यहाँ पर उसी का वर्णन किया गया है। यहाँ पर भी स्वामीजी ने इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह पाठ दिया है कि विधुर पुरुष की कुमारी कन्या से तथा विधवा स्त्री की कुमार पुरुष से जोड़ी न मिलाई जाए, अपितु कुमार की कुमारी तथा विधुर की विधवा से ही जोड़ी मिलाना उचित है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का पूरा पाठ इस प्रकार है—

"विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवास्त्री मृतस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह च, अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधियते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्त्वात्।"

'विधवा को विधुर पुरुष के साथ नियोग करने की आज्ञा है तथा विधुर पुरुष को विधवा के साथ। विधवा स्त्री मृतस्त्रीक पुरुष के साथ ही सन्तानार्थ नियोग करे कुमार के साथ नहीं तथा

कुमार का कुमारी से ही विवाह हो विधवा से नहीं, अर्थात् कुमार स्त्री-पुरुष का एक बार ही विवाह हो, और फिर नियोग हो, द्विजों में दूसरी बार विवाह का विधान नहीं है। पुनर्विवाह का तो निश्चय से शूद्रवर्ण में ही विधान है, उसके विद्याव्यवहार से रहित होने के कारण।'

प्रथम तो हमारे उपर्युक्त लेख के अनुसार आपका दिया हुआ पाठ ऊपर के पाठ का अभिप्राय है, जोकि अर्थात् शब्द से ही स्पष्ट है।

दूसरे, यदि आपकी बात को भी ठीक मान लिया जावे तो भी इस पाठ से पुनर्विवाह का निषेध करके नियोग का विधान किया गया है, जिससे हमारे पक्ष की कोई हानि नहीं है, क्योंकि पुनर्विवाह और नियोग दोनों में ही स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है, अतः आपका आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। हम हैरान हैं कि आप स्त्री को दूसरे पति के हक़ का निषेध कैसे कर सकते हैं जबकि सनातनधर्म के ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से उसका विधान विद्यमान है, जैसाकि—

१. **विवाहो जायते राजन् कन्यायास्तु विधानतः।**
पतिर्मृत्युं प्रयात्यस्या नो चेत् सङ्गं करोति च॥ ५९॥
महाव्याध्यविभूतश्च त्यागं कृत्वा प्रयाति वा।
प्रव्राजितो भवेद्राजन् धर्मशास्त्रेषु दृश्यते॥ ६०॥
उद्वाहितायां कन्यायामुद्वाहः क्रियते बुधैः।
न स्याद्रजस्वला यावदन्येष्वपि विधीयते। विवाहं तु विधानेन पिता कुर्यान्न संशयः॥ ६१॥

[वैंकटेश्वर-संस्करण में ये श्लोक कुछ पाठभेद से ६२ से ६५ तक हैं। —सं०]

—पद्म० भूमि० अ० ८५

भाषार्थ—हे राजन्! कन्या का विवाह विधिपूर्वक हो सकता है यदि उसका पति मर गया हो, यदि उसने पति से समागम न किया हो॥ ५९॥ पति दीर्घरोगी हो या छोड़कर चला गया हो अथवा संन्यासी हो गया हो तो धर्मशास्त्रों में देखा जाता है॥ ६०॥ बुद्धिमान् लोग विवाही हुई कन्या का विवाह कर देते हैं, जबतक वह रजस्वला न हो तबतक वह औरों को भी दी जा सकती है। उसका विवाह विधिपूर्वक उसका पिता ही करे, इसमें संशय नहीं है॥ ६१॥

२. **पुरा सत्ययुगे नारी चोत्तमा च पतिव्रता। त्रेतायां मध्यमा जाता निकृष्टा द्वापरे पुनः॥ २८॥**
अधमा हि कलौ नारी परपुंसोपभोगिनी। अतस्तु कलिकाले वै विवाहो विधवास्त्रियाः॥ २९॥

—भविष्य० प्रति सर्ग० खं० ३ अ० ३१

भाषार्थ—पहले सत्ययुग में स्त्री उत्तम पतिव्रता होती थी, त्रेता में मध्यम हो गई और द्वापर में निकृष्ट हो गई॥ २८॥ कलियुग में स्त्री परपुरुष के साथ भोग करनेवाली अधम हो गई। इसलिए कलियुग में विधवा स्त्री का विवाह होना चाहिए॥ १९॥

३. **उद्वाहिता तु या कन्या न च प्राप्ता तु मैथुनम्। पुनरभ्येति भर्तारं यथा कन्या तथैव सा॥ ४९॥**

—भविष्य० ब्राह्म० अ० १८२

भाषार्थ—जो कन्या विवाहिता हो गई हो, किन्तु वह समागम को प्राप्त नहीं हुई वह फिर से दूसरे पति को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि जैसी कन्या होती है, वैसी वह है॥ ४९॥

४. **यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ ६९॥**
यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥ ७०॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ १७६॥

—मनु० अ० ९

भाषार्थ—जिस कन्या का वाणी से मन्त्र पढ़नेमात्र से विवाह होने पर पति मर जावे उसको इस विधान से उसका देवर प्राप्त हो ॥ ६९ ॥ उस श्वेतवस्त्र धारण की हुई शुद्ध, ब्रह्मचर्यव्रत धारण की हुई को विधिपूर्वक प्राप्त होकर सन्तान होने तक प्रत्येक ऋतु में एक-एक बार उसके साथ परस्पर समागम करे ॥ ७० ॥

यहाँ पर वाग्दानवाली कन्या का वर्णन नहीं है, क्योंकि प्रथम तो वाग्दान कोई संस्कार ही नहीं है, दूसरे वाग्दानवाली के साथ यह विधि नहीं बताई जा सकती अपितु यह विधि विधवा के साथ ही की जा सकती है। वह यदि अक्षतयोनि हो और जाकर भी वापस आ गई हो तो वह पुनर्विवाह की विधि के अनुसार पुनः होनेवाले पति के साथ पुनः संस्कार को प्राप्त हो सकती है ॥ १७६ ॥

(४६३) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० १६५ में लिखा है कि—'एक स्त्री के लिए एक पति से एक बार विवाह और पुरुष के लिए भी एक स्त्री से एक ही बार विवाह करने की आज्ञा है।' इन लेखों से स्वामीजी द्विजों में विधवा-विवाह का निषेध लिखते हैं।

उत्तर—आपको पाठ चुराकर अधूरा पाठ पेश करने की असाध्य बीमारी है और आप विधवा-विवाह के निषेध में स्वामीजी का वह पाठ पेश कर रहे हैं कि जो स्वामीजी ने स्त्री को दूसरे पति के अधिकार के पक्ष में लिखा है। संस्कारविधि में उपर्युक्त पाठ स्वामीजी ने विवाहप्रकरण में **'इमां त्वमिन्द्र'** इत्यादि मन्त्र के भाष्य में दिया है कि—'अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा ने की है वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे-करावे। वैसे ही एक स्त्री के लिए एक पति से एक बार विवाह और पुरुष के लिए भी एक स्त्री से एक ही बार विवाह करने की आज्ञा है। जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे।'

अब देखिए, यहाँ पर आपके दिये हुए पाठ से पूर्व और पश्चात् तीन बार स्त्री और पुरुष को नियोग करने की आज्ञा विद्यमान है। नियोग और पुनर्विवाह दोनों में ही स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है, अतः आपका यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है।

आपके ग्रन्थों में स्त्री को दूसरे पति के अधिकार के प्रतिपादक अनेक प्रमाण मौजूद हैं, जैसेकि—

(१) **अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान्। स्नुषायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता ॥ ७ ॥**
ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना। पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना ॥ ८ ॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्। एवमेष समुत्पन्नः परक्षेत्रेऽर्जुनात्मजः ॥ ९ ॥

—महा० भीष्म० अ० ९०

भाषार्थ—इरावान् नामवाला लड़का श्रीमान् बड़ा बहादुर, अर्जुन का पुत्र था जोकि बुद्धिमान् अर्जुन ने नागराज की पुत्रवधू में पैदा किया था ॥ ७ ॥ गरुड़ के हाथ से पति के मारे जाने पर महात्मा नागराज ऐरावत ने सन्तानहीन होने के कारण उस बिचारी अनाथा को अर्जुन के सुपुर्द कर दिया ॥ ८ ॥ अर्जुन ने उस कामातुरा को धर्म्मपत्नी बनाने के लिए ग्रहण कर लिया। इस प्रकार से यह अर्जुन का पुत्र परक्षेत्र में उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

(२) राक्षस उवाच—**क्व ते निवासः कल्याण किं गोत्रा ब्राह्मणी च ते ॥ ४ ॥**
गौतम उवाच—**मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये।**
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमिति ॥ ५ ॥ —महा०शान्ति०अ० १७४
[गीता० सं० में आ० १७१]

भाषार्थ—राक्षस ने पूछा हे श्रीमान्‌जी! आपका निवासस्थान कहाँ है और आपके घर में कौन गोत्र की ब्राह्मणी है॥४॥ गौतम ने उत्तर दिया कि मैं मध्यदेश में पैदा हुआ हूँ और शबरालय में रहता हूँ। मेरी स्त्री शूद्रा है और वह पुनर्भू है, मैं यह सत्य कहता हूँ॥५॥

गौतम ब्राह्मण ने एक शूद्रा विधवा से शादी की थी।

साहित्य की रक्षा

(४६४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६८ में लिखा है कि 'पुराणादिक ग्रन्थ विषसंपृक्तान्नवत्' त्याज्य हैं। जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने के योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं। पुराणों में झूठ मिला है, आप यह कहते हैं। पुराणों में क्या-क्या झूठ है, इसका प्रमाण नहीं देते।

—पृ० ५८, पं० ९

उत्तर—स्वामीजी ने यह लेख लिखकर साहित्य पर छुरा नहीं चलाया अपितु साहित्य पर छुरा चलानेवालों के हाथ से साहित्य की रक्षा की है, क्योंकि लोग व्यासादि ऋषियों के नाम से कपोलकल्पित ग्रन्थ संस्कृत में बनाकर सुरापान, मांसाहार, व्यभिचार, वेश्यागमनादि पापकर्मों को उनमें धर्म बताकर ऋषि और महर्षियों को भी उन दोषों से दूषित बताकर जनता को पाप के मार्ग पर चला रहे थे। ऋषि दयानन्दजी को आर्यजाति की इस अवस्था पर दया आई और उन्होंने कहा भाई! **'संस्कृतवाक्यं प्रमाणम्'** धर्म का लक्षण नहीं है अपितु **'वेदप्रतिपादितो धर्मः'** धर्म का लक्षण है, अतः जो वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों के विरुद्ध अनार्ष भागवतादि अष्टादश पुराण हैं, विषयुक्त अन्न के समान त्यागने योग्य हैं। उनका पूर्ण लेख इस प्रकार है—

''**प्रश्न**—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है परन्तु उसके साथ बहुत-सा असत्य भी है इससे **'विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्याः'**—जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण, इतिहास को नहीं मानते?

उत्तर—हाँ, मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं मानते।

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है?

उत्तर—ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥

—आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३।१

यह गृह्यसूत्रादि का वचन है। जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं। श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसको ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि सत्य शास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे, इसलिए '**असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति**' असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे छोड़ देना चाहिए जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रश्न—तुम्हारा मत क्या है?

उत्तर—वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस-उसका हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं। जिसलिए वेद हमको मान्य हैं, इसलिए हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को विशेष आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिए। —सत्यार्थ०समु० ३

रहा इस बात का प्रमाण कि भागवतादि पुराणों में क्या-क्या झूठ है, सो स्वामीजी ने वह तीसरे समुल्लास में वर्णन नहीं किया, क्योंकि यहाँ पर पठन-पाठन का विषय होने से इतना ही बतलाना प्रयोजन था कि ये भागवतादि अष्टादश पुराण विद्यार्थियों को पढ़ाने के योग्य नहीं हैं। यदि आपको पुराणों में झूठ देखने की इच्छा है तो वह स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में अष्टादश पुराणसमीक्षा में संक्षेप से वर्णन की है, वहाँ पर देखने की कृपा करें।

(४६५) प्रश्न—इस विषय में महाभारत लिखता है कि—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

पुराण, मनु के कहे धर्म, अंगोंसहित वेद और वैद्यक—ये चारों ग्रन्थ आज्ञासिद्ध हैं, इनको दलीलों से नहीं काटना चाहिए। —पृ० ५८, पं० १५

उत्तर—वाह-वाह! वह बात सच निकली जो हम कह रहे थे कि आप लोगों की अक़्ल पर ताला लगाकर '**संस्कृतवाक्यं प्रमाणं**—जो कुछ संस्कृत में लिखा जावे वही प्रमाण है'। '**ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्**—जो कुछ ब्राह्मण के मुख से निकल जावे सोई प्रमाण है' का पाठ पढ़ाकर उनको निरा बुद्धू बनाना चाहते हैं। तभी तो यह पाठ पढ़ा रहे हैं कि 'धर्म के विषय में दलील से काम नहीं लेना चाहिए', ताकि लोग इस सिद्धान्त को मानकर बिना सोचे-समझे प्रत्येक किताब की बात को मान लिया करें। इस सिद्धान्त ने आर्यजाति को नष्ट कर दिया। आर्यजाति की इस कमज़ोरी से लाभ उठाने के लिए विधर्मियों ने संस्कृत में वेदविरुद्ध ग्रन्थ बनाकर जनता में पाप का प्रचार कर डाला। यह ऋषि दयानन्दजी की ही कृपा है कि उन्होंने हमें वैदिक कसौटी बतलाकर आर्यजाति के साहित्य को सुरक्षित कर दिया, अतः ऋषि दयानन्द की कसौटी के अनुसार आपके प्रमाण में निम्न दोष हैं—

(१) आपने इस प्रमाण को महाभारत के नाम से दिया है, किन्तु यह नहीं बतलाया कि यह श्लोक महाभारत के कौन-से पर्व, कौन-से अध्याय का कौन-सा श्लोक है। आपके इस श्लोक का तो हमारा निम्न श्लोक ही युक्तिपूर्वक खण्डन कर देता है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां हीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसके पास स्वयं सदसद्विवेकिनी बुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है? जैसेकि जिस पुरुष के दोनों नेत्र न हों उसका दर्पण क्या उपकार करेगा? अतः तर्क और दलील के बिना मनुष्य पशु समान ही है।

(२) इस श्लोक में भी 'पुराण' शब्द से भागवतादि अष्टादश कपोलकल्पित ग्रन्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम ही पुराण है, क्योंकि भागवतादि ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, जैसाकि

रविवारे च सण्डे च फाल्गुन चैव फर्वरी। षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम्॥ ३७॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग खं० १ अ० ५

रविवार को सण्डे, फाल्गुन को फरवरी तथा साठ को सिक्सटी जानना चाहिए, यह ऐसा उदाहरण है॥ ३७॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह पुराण तब बनाया गया जबकि अंग्रेजीभाषा भारतवर्ष में आ गई थी, वरना व्यासजी कोई एम०ए० पास थोड़े ही थे, अतः भागवतादि ग्रन्थ नवीन हैं, इनका नाम पुराण नहीं है।

(३) इसमें वास्तव में मीमांसा और न्याय के हेतुवाद का विरोध नहीं अपितु इसमें हेत्वाभास, कुतर्क, अर्थात् वेदशास्त्र के विरुद्ध तर्कवाद का खण्डन है, वरना—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

—मनु० १२।१०६

ऋषिदृष्टत्वादार्षं वेदं धर्मोपदेशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्तदविरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति स धर्मं जानाति न तु मीमांसानभिज्ञः॥ —कुल्लूकभट्ट

भाषार्थ—वेद और तदनुकूल स्मृति आदि ग्रन्थों को जो मनुष्य मीमांसा तथा न्याय आदि 'वेदशास्त्र से अविरोधी' तर्क से विचारता है वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं॥ १०६॥ अतः मनु के प्रमाण के सामने आपका प्रमाण सर्वथा असत्य है।

(४) वेद स्वयं तर्क, दलील तथा वादविवाद की आज्ञा देते हैं, जैसाकि—

सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

—ऋ० १०।१९१।२

हे मनुष्यो! तुम धर्म की प्राप्ति के लिए इकट्ठे होकर संवाद करो, जिससे सचाई और धर्म को जानकर तुम्हारे मन विज्ञानयुक्त हो जावें। जैसे तुम्हारे अध्यापक लोग धर्म का सेवन कर रहे थे, वैसा तुम भी करो॥ २॥

अतः आपका प्रमाण सर्वथा वेद तथा शास्त्र के विरुद्ध होने से त्याज्य ही है।

(४६६) प्रश्न—मनुजी लिखते हैं कि—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

—मनु० २।१२

वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार, और आत्मप्रेम—इन चार प्रकार से धर्म जाना जाता है॥ १२॥

उत्तर—धर्मशास्त्र, सदाचार, तथा आत्मप्रेम धर्म के जानने में वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेद के विरुद्ध न हों, अन्यथा प्रमाण नहीं, जैसाकि—

(१) वेद—

स्तुता मया वरदा वेदमाता। —अथर्व० १९।७१।१

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। —ऋ० १०।१३४।७

वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। —अथर्व० १९।७२।२

भाषार्थ—मैं सम्पूर्ण धर्म-उपदेश कर, वर देनेवाली वेदरूप माता की स्तुति करता हूँ॥ १॥ हम वेदमन्त्रों के अनुसार आचरण करते हैं॥ ७॥ इसलिए वेदरूप कसौटी को सँभालकर रक्खें।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। —मनु० २।६

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। —मनु० २।१३

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। —मनु० २।१०

भाषार्थ—वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है॥ ६॥ धर्म की जिज्ञासा करनेवालों के लिए परम प्रमाण वेद है॥ १३॥ श्रुति नाम वेद का है॥ १०॥

(२) स्मृति—

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। —मनु० २।१०

स्मृतिशीले च तद्विदाम्। —मनु० २।६

या वेदबाह्याः स्मृत्यो याश्च काश्च कुदृष्टः।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ ९५॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानि चित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६॥ —मनु० अ० १२

भाषार्थ—धर्मशास्त्र नाम स्मृति का है॥ १०॥ वेद के जाननेवाले की स्मृति और आचार प्रमाण है॥ ६॥ जो वेद के विरुद्ध स्मृतियाँ हैं और जो कोई वेद की दृष्टि के विरुद्ध हैं, वे सब निष्फल हैं, क्योंकि वे परलोक में भी अज्ञान प्राप्त करानेवाली हैं॥ ९५॥ वेद के विरुद्ध स्मृतियाँ पैदा होती हैं और नष्ट हो जाती हैं, और भी जो कोई वेद के विरुद्ध हैं, वे नवीन कालीन होने के कारण निष्फल और झूठ हैं॥ ९६॥

(३) आचार—

स्मृतिशीले च तद्विदाम्। —मनु० २।६

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। —मनु० २।१०८

भाषार्थ—वेद के जाननेवालों का आचार प्रमाण है॥ ६॥ आचार परम धर्म है यदि वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार है॥ १०८॥

(४) आत्मप्रेम अथवा युक्ति—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केनानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
—मनु० १२।१०६

भवार्थ—आर्षधर्मोपदेश जिसे मनुष्य वेद-शास्त्र के अनुकूल तर्क से निश्चय करता है वही धर्म को जानता है दूसरा नहीं॥ १०६॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मप्रेम तभी धर्म के जानने में प्रमाण हो सकेंगे यदि वे वेद के अनुकूल हों, वेद के उपदेश के विरुद्ध होने पर धर्मशास्त्र, आचार और आत्मप्रेम भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि वेद ही धर्म का मूल कारण है।

(४६७) प्रश्न—सदाचार के ऊपर मनुजी लिखते हैं कि—

प्रश्न— तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ —मनु० २।१८

जिस देश में आचार समस्त जातियों में परम्परा से चला आया हो, वह सदाचार ही धर्म हो जाता है।

उत्तर—इस श्लोक को मनु के निम्न श्लोक से मिलाकर पढ़ें—

श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। —१।१०८

यदि वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हो तभी वह धर्म में प्रमाण माना जा सकता है, अन्यथा नहीं।

(४६८) प्रश्न—सदाचार का ज्ञान पुराणों से होता है। मनु ने सदाचार को लेकर पुराणों की सत्यता सिद्ध की है। —पृ० ५९, पं० ३

उत्तर—सदाचार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है—सत्+आचार=सदाचार, सत् के अर्थ हैं सत्य और सत्य है ईश्वरीय ज्ञान वेद, अतः जो वेद के अनुकूल आचार हो वही सदाचार कहा जा सकता है। भागवतादि ग्रन्थों से वेदानुकूल आचार का ज्ञान नहीं होता, जैसाकि—

कृष्ण का सुरापान

तस्मिन्नहनि देवोऽपि सहान्तःपुरिकैर्जनैः। अनुभूय जलक्रीडां पानमासेवते रहः॥ १७॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० ७३

मांस खाने की आज्ञा

प्राणात्यये प्रोक्षितं च श्राद्धे च द्विजकाम्यया।
पितॄन्देवाँश्चार्पयित्वा भुंजन् मांसं न दोषभाक्॥ २९॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० १८६

वेश्यागमन की आज्ञा

इति श्रुत्वा तु सा प्राह विश्वामित्रेण धीमता।
शृङ्गिना च महाप्राज्ञ वेश्यासङ्गः कृतः पुरा। न कोऽपि नरकं प्राप्तस्तस्मान्मां भज कामिनीम्॥ ४६॥
—भविष्य० प्रति० खं० ३ अ० २८

कृष्ण का कुब्जा-गमन

आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च॥ ६२॥ —ब्रह्मवैवर्त० कृ० अ० १५५

पर-स्त्री-गमन

रहस्युपस्थितां कान्तां न भजेद्यो जितेन्द्रियः। गात्रलोमप्रमाणाब्दं कुंभीपाके वसेद् ध्रुवम्॥ ७७॥
—ब्रह्मवैवर्त० कृष्ण० अ० ३०

इत्यादि ऋषि-मुनियों को कलङ्कित करनेवाले अनेक वेदविरुद्ध, दुराचारप्रवर्तक इतिहास भागवतादि ग्रन्थों में विद्यमान हैं, अतः भागवतादि ग्रन्थ न पुराण कहाने के योग्य हैं, और न ही मनु ने इनकी सत्यता को सिद्ध किया है।

(४६९) प्रश्न—पुराण सत्य और माननीय हैं। इसपर शतपथ लिखता है कि—

'स यथार्द्रैधाग्नेरिति' यहाँ पर पुराणों का ईश्वर से प्रकट होना लिखा है।
—पृ० ५९, पं० ४

उत्तर—प्रथम तो आपका यह प्रमाण वेद का नहीं है, अपितु शतपथब्राह्मण का है, शतपथ वेद नहीं है। दूसरे यहाँ पुराण भागवतादि ग्रन्थों का नाम नहीं है अपितु यहाँ पर पुराण शब्द विद्या शब्द का विशेषण है और अभिप्राय यह है कि इतिहास, उपनिषद्, श्लोक, सूत्रादि सब प्राचीन विद्याएँ वेदों के साथ ही ईश्वर से प्रकट हुई हैं। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य। पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि—व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥
—शतपथ० १४।५।४।१०

भाषार्थ—वह जैसी गीले ईंधन के संयोग से अग्नि से नाना प्रकार के धुएँ प्रकट होते हैं, इस प्रकार से उस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद द्वारा ये इतिहास, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि सब-की-सब पुरानी विद्याएँ वेदो द्वारा संसार में प्रकट की हैं। —शतपथ

इसी बात को आपने भी अपनी पुस्तक के पृ० २४५, पं० १० में इस प्रकार से स्वीकार किया है कि ''ब्रह्माजी ने वह वेदविद्या जिसके आश्रय सब विद्या हैं, अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा ऋषि को पढ़ाई।''

वेद स्वयं भी इस बारे में साक्षी देते हैं कि—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
—अथर्व० १०।८।१

अर्थ—जो भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान जगत् में सम्पूर्ण विद्याओं का स्वामी है और जो केवल सुखस्वरूप है, उस महान् ब्रह्म के लिए नमस्कार है॥ १॥

इसकी पुष्टि मनुजी भी करते हैं कि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

—मनु० १२।९७

भाषार्थ—चारों वर्ण, तीनों लोक और चारों पृथक् आश्रम तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब विद्याएँ वेद से ही प्रकट हुई हैं, होती हैं और होंगी॥ ९७॥

इससे सिद्ध है कि शतपथ में भी यहाँ पर सम्पूर्ण विद्याओं का ही वर्णन है। आप इस प्रमाण द्वारा रामायण, महाभारत, भागवतादि अष्टादश पुराण, १०८ उपनिषद्, श्लोकों में रचे सम्पूर्ण तन्त्रादि ग्रन्थ, सूत्रों में रचे सम्पूर्ण छह दर्शन, श्रौत-स्मार्त-गृह्यसूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान से सम्पूर्ण भाष्य तथा भाषाग्रन्थों को भी वेदों की भाँति ईश्वरकृत मानकर उनको स्वतः-प्रमाण का दर्जा देकर आर्यजाति के साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट करके आर्यजाति की गर्दन पर छुरा चलाना चाहते हैं, किन्तु अब ऋषि दयानन्द का ज़माना है; अब आप ऐसी धोखेबाज़ी में सफल नहीं हो सकते।

(४७०) प्रश्न—छान्दो० प्र० ७ खं० १ **'स होवाच ऋग्वेदम् इति'** में इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद लिखा है। —पृ० ५९, पं० १६

उत्तर—यद्यपि आपका यह प्रमाण भी वेद का नहीं है, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् वेद नहीं है, तथापि छान्दोग्य का अर्थ भी आप खूब समझते हैं। जहाँ पुराण शब्द देखा, झट बह गये कि यहाँ तो भागवतादि अष्टादश पुराणों का ही वर्णन है। श्रीमान्‌जी! यहाँ पर भी पुराण शब्द इतिहास शब्द का विशेषण है जिसके अर्थ हैं पुराना इतिहास, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास मैं जानता हूँ, यहाँ पर इतिहास को पाँचवाँ वेद नहीं बतलाया अपितु चार वेद तथा पाँचवें पुराने इतिहास को मैं जानता हूँ, ऐसा वर्णन है, जैसेकि—

स होवाच। ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ २॥ —छान्दोग्योपनिषद् अ० ७ खं० १

भाषार्थ—वह प्रसिद्ध नारद बोले कि हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को मैं जानता हूँ; पाँचवें इतिहास पुराण तथा उपनिषद् शास्त्र, कला-कौशलादि की विद्या, गणितविद्या, अनुमान द्वारा वृष्टि आदि का ज्ञान, खानों की विद्या, तर्कशास्त्र, निरुक्त, अध्यात्मविद्या, तत्त्वों की विद्या, शस्त्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पों के विषों का ज्ञान तथा उनके वश करने के उपायों की विद्या, नृत्य, गीत, वाद्यादि विद्या, प्राकृत जनों की विद्या, इन सब विद्याओं को हे भगवन्! मैं जानता हूँ॥ २॥

आप यहाँ पर इतिहास पुराण से अठारह पुराणों को भी पाँचवाँ वेद सिद्ध करके सारी दुनिया के दुराचार, खुराफ़ात को भी ईश्वर का ज्ञान सिद्ध करके आर्यजाति के साहित्य को गन्दगी का पुलन्दा बनाना चाहते हैं, किन्तु अब प्रकाश के युग में यह असम्भव ही है।

(४७१) प्रश्न—**'अरेऽस्य महतो भूतस्येति'**—बृहद्० अ० ४ कण्डि० ११ ब्राह्म० ५ में लिखा है कि इतिहास, पुराणविद्या ईश्वर का निःश्वास है। —पृ० ५९, पं० २५

उत्तर—आपने यहाँ पर भी वेद का प्रमाण नहीं दिया, क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् वेद नहीं है तथापि इस प्रमाण में भी पुराण नाम भागवत आदि अठारह ग्रन्थों का नहीं है, अपितु यहाँ भी पुराण शब्द विद्या शब्द का विशेषण है और उसके अर्थ हैं पुरानी विद्या, जैसाकि—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनु व्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ ११॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्राह्म० ५ कं० ११

भाषार्थ—जिस प्रकार गीली लकड़ियों की अग्नि से नाना प्रकार के धूम और चिंगारे निकलते हैं, इसी प्रकार हे मैत्रेयि! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के द्वारा इतिहास, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, और व्याख्यान, यज्ञ, होम, खाद्य पदार्थ, यह लोक, परलोक और प्राणिसम्बन्धी सब पुरानी विद्याएँ उसी परमात्मा से प्रकट हुई हैं॥ ११॥

आप यहाँ पर भी पुराण, श्लोक, सूत्रादि से भागवतादि अठारह पुराण, तन्त्रादि ग्रन्थों को ईश्वरोक्त सिद्ध करके उनको वेदों के समान स्वतःप्रमाण मानकर आर्यजाति के साहित्य तथा सिद्धान्तों पर कुल्हाड़ा चलाना चाहते हैं, किन्तु अब ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित वैदिक आर्यसमाज की विद्यमानता में आप ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

(४७२) प्रश्न—'स बृहती दिशमिति' [अथर्व० १५।६।१०] इस मन्त्र में लिखा है कि वेद के साथ ही इतिहास, पुराण दिशाओं में फैले। —पृ० ६०, पं० ८

उत्तर—इस मन्त्र में 'पुराण' इतिहास शब्द का विशेषण है, जिसके अर्थ हैं "पुराना इतिहास" अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास, जैसेकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

—ऋ० १०।१९०।३

परमेश्वर ने जैसे पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि को बनाया था वैसे ही अब बनाया है॥ ३॥ इत्यादि का नाम ही इतिहास पुराण, अर्थात् पुराना इतिहास है। इस मन्त्र के वास्तविक अर्थ इस प्रकार हैं—

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत्॥ १०॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानु-व्यचलन्॥ ११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १२॥ —अथर्व० १५।६

भाषार्थ—वह वेद बृहती दिशा को चला, अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा से प्रकट हुआ॥ १०॥ उसके पीछे-पीछे पुराण, इतिहास, गाथा और नाराशंसी ये भी चलीं, अर्थात् वेद के प्रकाश से ये सब विद्याएँ भी प्रकाशित हुईं॥ ११॥ जो मनुष्य इस प्रकार से जानता है, वह निश्चित ही इतिहास, पुराण अर्थात् सृष्टिविषयक पुरातन ऐतिह्य, गाथा और नाराशंसी का भी प्रिय आश्रय हो जाता है॥ १२॥

आप इस मन्त्र से अठारह पुराण तथा तत्सम्बन्धी कथाओं को भी ईश्वरकृत सिद्ध करके आर्यसभ्यता का गला घोंटना चाहते हैं, किन्तु आपको ऐसा करने की इस समय आज्ञा न दी जावेगी, क्योंकि अब ऋषि दयानन्दजी का वैदिक युग है। वेदों, शास्त्रों में जहाँ कहीं पुराण शब्द आता है वहाँ पर अष्टादश पुराणों के अर्थों में नहीं आता, क्योंकि आपके मतानुसार भी भागवतादि अष्टादश पुराणों का कर्त्ता व्यास है। इससे सिद्ध हुआ कि ये ग्रन्थ नवीन हैं, प्राचीन या पुराण नहीं हैं।

(१) प्रत्नम्। प्रदिवः। प्रवयाः। सनेमि। पूर्व्यम्। अह्नायेति षट् पुराणनामानि॥ २७॥ पुराणनामान्युत्तराणि षट्॥ २३॥ पुराणं कस्मात् पुरा नवं भवति॥ २४॥

—निघण्टु ३।२७, निरुक्त अ० ३ खं० २०

भाषार्थ—ये ऊपर के छह नाम पुराण, अर्थात् प्राचीन के हैं॥ २७॥ पुराण के नाम ऊपरवाले छह हैं॥ २३॥ पुराण किसलिए कहा जाता है कि वे पहले नया था अब नहीं॥ २४॥

इस प्रमाण से सिद्ध है कि पुराण शब्द प्राचीन अर्थ का वाची है।

(२) द्वापरान्ते च भगवान् व्यासः सत्यवतीसुतः। तान्येव जनयामास लोकमंगलहेतवे॥ २२२॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० २५

भाषार्थ—द्वापर युग के अन्त में सत्यवती के पुत्र व्यास ने उन अठारह पुराणों को संसार के कल्याणार्थ बनाया॥ २२२॥

जब पुराण इस द्वापर के अन्त में व्यास ने बनाये तो फिर वेदों में उनका वर्णन सिद्ध करना पागलपन नहीं तो और क्या है? भागवतादि पुराणों को कहीं पर अठारह लिखा है तो कहीं पर २६ लिखा है जैसेकि—

(३) अष्टादश पुराणानि निर्मितानि शिवात्मना॥ २२१॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० २५

षड्विंशतिपुराणानां मध्येऽप्येकं शृणोति यः। पठेद्वा भक्तियुक्तस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥ ४१॥

—शिव० उमा० अ० १३

(४) अठारह में भी कहीं श्रीमद्भागवत को माना है कहीं देवीभागवत को, जैसाकि—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा। भविष्यं नारदीयं च मार्कण्डेयमतः परम्॥ १२०॥
आग्नेयं ब्रह्मवैवर्तं लिंगं वाराहमेव च। वामनाख्यं ततः कौर्मं मात्स्यं गारुडमेव च॥ १२१॥
स्कान्दं तथैव ब्रह्माण्डाख्यं पुराणं च कीर्तितम्॥ १२२॥
भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतं प्रोक्तं ननु देवीपुराणकम्॥ १२९॥

—शिव० उमा० अ० ४४

यहाँ पर देवीभागवत को अठारह पुराणों में गिना गया है, श्रीमद्भागवत को नहीं। भविष्यपुराण ने श्रीमद्भागवत को अठारह पुराणों में गिना है, देवीभागवत को नहीं!

(५) ये अष्टादश पुराण वास्तविक नहीं, जैसाकि—

सर्वाण्येव पुराणानि संज्ञेयानि नरर्षभ। द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह मनीषिभिः॥ १०३॥
पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्विविधैर्नृप॥ १०४॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० १

भाषार्थ—सारे पुराण केवल १२००० श्लोक के थे, पीछे से इनमें वृद्धि हो गई, इत्यादि।

अनेक परस्पर विरुद्ध बातें भगवतादि ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं, अतः ये ग्रन्थ पुराण कहाने के योग्य नहीं हैं।

(४७३) प्रश्न—'ऋचः सामानि छन्दाँसि' [अथर्व० ११।७।२४] में लिखा है कि परमात्मा से पुराण उत्पन्न हुए। —पृ० ६०, पं० १४

उत्तर—यहाँ भी पुराण नाम भागवतादि ग्रन्थों का नहीं है अपितु सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय आदि के वर्णन करनेवाले मन्त्रों को पुराना इतिहास वर्णन करनेवाले होने के कारण पुराण कहा है, जैसेकि—

ऋचः सामानि छन्दाँसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २४॥

—अथर्व० ११।७

भाषार्थ—ऋग्वेद के मन्त्र, सामवेद और उसके सहस्रों सामगान के भेद, गायत्री आदि छन्द अथवा अथर्व के मन्त्र, यजुर्वेद के कर्मप्रवर्तक मन्त्रों के साथ-साथ सृष्टि-उत्पत्ति, प्रलय आदि

के वर्णन करनेहारे मन्त्र और आकाशस्थ सूर्य आदि समस्त दिव्यलोक उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं॥ २४॥

कहिए महाराज! इसमें भागवतादि ग्रन्थों का वर्णन कहाँ है? आप जिन पुराणों को प्राचीन सिद्ध करने की धुन में हैं वे तो आपका साथ नहीं देते। वे कहते हैं ये ग्रन्थ शूद्रों के लिए हैं, जैसाकि—

विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः। अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च॥ ५४-५५॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० १

भाषार्थ—मुनि लोगों ने अठारह पुराण तथा रामचन्द्रजी का जीवन विशेष करके शूद्र लोगों को पवित्र करने के लिए बनाये हैं॥ ५५॥

कहीं पर यही लिख मारा कि पुराण वेदों से पूर्व हुए हैं, जैसाकि—

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्॥ ३१॥
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ ३२॥

—शिव० वायु० खं० १ अ० १

कहिए महाराज! आपका कहना सत्य है वा आपके शिवपुराण का कहना सत्य है?

(४७४) प्रश्न—शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ कभी पुराण हो ही नहीं सकते, जिसको हम आगे लिखेंगे। दयानन्द के मत में वेद पहले बने और ब्राह्मणग्रन्थ बाद में, फिर बाद में बने हुए ब्राह्मणों का वेद में कैसे ज़िक्र आया? गोपथब्राह्मण, ब्राह्मणग्रन्थों को पृथक् लिखता है और पुराणों को ब्राह्मणों से भिन्न मानता है। इसको देखिए—'**एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिता**' इत्यादि (गोपथ० पू० भा० प्र० २)

—पृ० ६०, पं० २५

उत्तर—शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम ही पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि है—यह हम पूर्व सप्रमाण सिद्ध कर आये हैं। आगे भी आप जो कुछ लिखेंगे उसकी पड़ताल की जावेगी। वेदों में ब्राह्मणादि ग्रन्थों का ज़िक्र नहीं है, अपितु पुराण, इतिहास, ब्राह्मण, कल्प, सूत्र, श्लोक आदि विद्याओं का वर्णन है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण विद्याओं का आदिमूल है। आपने यह प्रमाण वेद का नहीं दिया अपितु गोपथब्राह्मण का प्रमाण दिया है। ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु वेदों का ऋषिकृत भाष्य हैं, तथापि इस प्रमाण में भी ब्राह्मण से शतपथादि का तथा पुराण से भागवतादि का वर्णन नहीं है, अपितु यहाँ भी यही वर्णन है कि परमात्मा ने वेदों द्वारा अनेक प्रकार की विद्याओं को प्रकट किया है। जैसे यहाँ पर इतिहास तथा पुराण को एक होते हुए भी विशेष विज्ञानार्थ दो स्थानों में वर्णन कर दिया, वैसे ही ब्राह्मण, कल्प, पुराण इनको एक होते हुए भी विशेष विज्ञानार्थ अनेक बार वर्णन कर दिया। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णन करने पर भी इतिहास तथा पुराण एक ही हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न वर्णन करने पर भी कल्प, ब्राह्मण, पुराण एक ही हैं। यहाँ पर ग्रन्थों का वर्णन नहीं, अपितु विद्याओं का वर्णन है, इस पाठ का अर्थ इस प्रकार है—

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञमित्येवाचक्षते॥

—गोपथ पू० भा० प्र० २।१०

भाषार्थ—इस प्रकार कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, स्वर, संस्कार, निरुक्त, अनुशासन, अनुमार्जन, वाकोवाक्य, इन विद्याओं के सहित चार वेदों को ईश्वर ने प्रकट किया। उनके यज्ञ में प्रयुक्त होने के कारण पृथक्-पृथक् नाम रक्खे गये वरना ये चार वेद ही पूजनीय कहे जाते हैं॥ २॥

देखा, कैसा साफ़ वर्णन है कि प्रकट हुए चार वेद, उन वेदों से इन सारी विद्याओं का प्रकाश हुआ और उनका भिन्न-भिन्न प्रयोग होने से भिन्न-भिन्न नाम हो गये, इन सबका मूल पूजनीय वेद है। आप इन नामवाले ग्रन्थों को भी ईश्वरकृत सिद्ध करके धर्म के निर्णय में घपला मचाकर स्वार्थसिद्धि करना चाहते हैं, किन्तु अब यह न हो सकेगा, क्योंकि जनता अब अन्धी नहीं है, ऋषि दयानन्द ने जगा दी है। अब वेद को कसौटी मानकर उसी ग्रन्थ को प्रमाण माना जावेगा जो वेदानुकूल हो, ऐरा-ग़ैरा-नत्थूखैरा भागवतादि वेदविरुद्ध ग्रन्थ को केवल **'संस्कृतवाक्यं प्रमाणम्', 'ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्'** कहकर अब धर्म में प्रमाण नहीं माना जा सकता। ऋषि दयानन्द! तेरा भला हो, तूने आर्यजाति के साहित्य को वेद की कसौटी बताकर लोगों की गपड़चौथ से बचा दिया।

(४७५) प्रश्न—**'पुराणं न्यायमीमांसा'** इत्यादि याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पुराण को विद्या का स्थान लिखा है।

—पृ० ६१, पं० २१

उत्तर—आपने वेद का प्रमाण नहीं दिया अपितु याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण दिया है और उसका भी पता नहीं बतलाया कि किस अध्याय का कौन-सा श्लोक है, तथापि इस श्लोक में भी यह कहीं नहीं लिखा कि पुराण नाम भागवतादि कपोलकल्पित नवीन ग्रन्थों का है, क्योंकि भागवतादि ने विद्या का स्थान तो क्या खाक होना था, ये ग्रन्थ तो विद्या के शत्रु हैं, अतः यहाँ भी पुराण से शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों का ही ग्रहण होता है। इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

पुराणं न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति १।३

भाषार्थ—पुराण अर्थात् शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ, योग, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा और वेदान्त, समस्त धर्मशास्त्र, छह अंगोंसहित वेद—इन चौदह विद्याओं से ही धर्म का निर्णय होता है।

ये चौदह विद्याएँ धर्म के निर्णय में वहाँ तक ही प्रमाण मानी जावेंगी जहाँ तक वे वेद के विरुद्ध न हों, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण हैं तथा शेष सब ग्रन्थ मनुष्यकृत होने से परतःप्रमाण हैं, अतः धर्म के विषय में विशेषता से वेद का ही प्रमाण माना जावेगा, जैसाकि स्वयं वेद कहता है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥—ऋ० १।२२।१८

भाषार्थ—जिस लिए किसी से भी तिरस्कृत न किये जानेवाले, वेदवाणी के रक्षक, व्यापक परमात्मा ने तीन प्रकार के पदार्थों को विशेष रूप से रचा है, इसलिए वह धर्मों का धारण करनेवाला है॥१८॥

इससे सिद्ध है कि धर्म में मुख्य प्रमाण ईश्वरीयज्ञान वेद का ही हो सकता है।

(४७६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६८ में लिखा है कि "ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छह वेदों के अङ्ग, मीमांसादि, छह शास्त्र वेदों के उपाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण, अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण वेदाधीन हैं"—इस लेख में उपवेद, ब्राह्मण और वेदों के अङ्ग इन सबके प्रमाण का सफ़ाया हो गया।

—पृ० ६२ पं० ३

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है। यदि कोई कसौटी न मानकर सम्पूर्ण ग्रन्थों को प्रमाण मान लिया जावे तो स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ऋषि-मुनियों के

नाम से संस्कृत में अनेक ऐसे ग्रन्थ बना डालेंगे जिनमें वेद के विरुद्ध पापकर्मों को भी धर्म प्रतिपादन किया गया हो, जैसेकि इस समय में भी ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं। भागवतादि अष्टादश पुराण, तन्त्रग्रन्थ, उपपुराण, उपनिषदों का दश से बढ़कर १०८ बन जाना, स्मृतियों का मनुस्मृति के अतिरिक्त २८ तक पहुँच जाना, अल्लोपनिषत् का बनना, 'भविष्य' में इस्लाम के पैग़म्बरों की स्तुति का होना सिद्ध करता है कि किसी कसौटी का होना आवश्यक है, जिससे असली और नक़ली चीज़ का पता लग सके और वह वेद ही हो सकता है, जैसाकि—

ईश्वर निर्भ्रान्त है—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।** —यजुः० ४०।८

परमात्मा सर्वज्ञ होने से निर्भ्रान्त, सब के मन की बात को जाननेवाला, सर्वव्यापक और अनादि है॥८॥

वेद ईश्वर का ज्ञान है—**प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।** —यजुः० ३४।५७

वेदरक्षक जगदीश्वर ही प्रशंसनीय मन्त्रसंहिता वेद का उत्तम रीति से उपदेश करता है॥५७॥

मनुष्य से गलती सम्भव है

देवकृतस्यैनसोऽ वयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽ वयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽ वयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽ वयजनमस्येनस एनसोऽ वयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽ वयजनमसि॥ —यजुः० ८।१३

भाषार्थ—इस मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि योगी, मनुष्य, ज्ञानी, प्रत्येक जीवात्मा, विद्वान्, अविद्वान्, सबसे पाप का होना सम्भव है, क्योंकि सब जीव अल्पज्ञ हैं, अतः उनसे भूल का होना सम्भव है और उनकी बनाई पुस्तकों में भी भूल का होना सम्भव है॥१३॥

वेदानुकूल कर्म करो

यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहा। —यजुः० ८।२५

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तञ्जुषस्व स्वाहा। —यजुः० ८।२२

भाषार्थ—इन दोनों मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि मनुष्य को वेदानुकूल आचरण करने चाहिएँ, अतः स्वामीजी का लेख वेदानुकूल और युक्तियुक्त है।

(४७७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६८ में लिखा है कि "स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति अमान्य हैं।"—पृ० ६२, पं० २०॥ किसी ग्रन्थ में लिखा है कि पुराणों को मत मानो, स्मृतियों को मत मानो, वेद के अङ्ग और दर्शनों को तभी प्रमाण मानो जब इनकी लिखी बात वेद में लिखी मिल जाए।

उत्तर—स्वामीजी के लेख का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि सब स्मृतियों में से प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर केवल मनुस्मृति ही वेद के अनुकूल है, शेष सब स्मृतियाँ वेदविरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं हैं और इसे स्वयं मनुजी कहते हैं कि **'या वेदबाह्याः स्मृतयः'** इत्यादि [मनु० १२।९५-९६], देखो नं० ४६६। स्वामीजी ने यह नहीं लिखा है कि पुराण, स्मृति, वेदाङ्ग तथा दर्शनों को मत मानो, अपितु यह लिखा है कि ये सब ग्रन्थ वेदानुकूल होने से ही प्रमाण हैं। यदि इनमें कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो वहाँ वेद का लेख ही प्रमाण होगा, इन ग्रन्थों का नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरकृत और ये ग्रन्थ ऋषिकृत हैं। ईश्वर निर्भ्रान्त है तथा ऋषियों से ग़लती का होना सम्भव है (देखो नं० ४७६)।

(४७८) प्रश्न—जब महर्षि याज्ञवल्क्य यह फ़ैसला दे चुके कि अठारह पुराण, महाभारत, वैशेषिक तथा गौतमसूत्र, पूर्व-मीमांसा एवं वेदान्त समस्त धर्मशास्त्र और छह अंगोंसहित वेद—ये प्रमाण हैं तब इसके विरुद्ध दयानन्द के फ़र्ज़ी फ़ैसले को वही मानेगा कि जिसने अपनी अक़ल

का कचूमर निकाला हो। —पृ० ६३, पं० ३

उत्तर—धर्म के विषय में न याज्ञवल्क्यजी का फ़ैसला प्रमाण है न स्वामी दयानन्द का, अपितु धर्म के विषय में वेद का ही फ़ैसला प्रमाण है, जैसेकि—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

—ऋ० १०।७१।२

भाषार्थ—जहाँ पर धीर पुरुष मन से वेद द्वारा अपनी वाणी को ऐसे छान लेते हैं जैसे छलनी से सत्तु छान लिये जाते हैं, वहाँ मित्र लोग मित्र कर्मों को जानते हैं, उन महात्माओं का वेद में ही कल्याण और शोभा स्थित है॥ २॥

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा अश्नवत्॥

—ऋ० १।४०।६

भाषार्थ—हे भद्रपुरुषो! हम लोग यज्ञादिक सकल शुभकर्मों में वेदविहित माननीय मन्त्र को कहें-कहावें, सुनें-सुनावें। हे मनुष्यो! इस ईश्वरीय कल्याणी वाणी की यदि आप सदैव कामना करेंगे तो भी वननीय=माननीय वाणी आप लोगों को प्राप्त होगी॥ ६॥

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। —अथर्व० १०।८।३२

भाषार्थ—मनुष्य पास रहनेवाले परमात्मा को नहीं देखता और पास रहनेवाले ईश्वर को छोड़ता भी नहीं, उस ईश्वर का यह काव्य देखो जो न मरता है, न जीर्ण होता है॥ ३२॥

वेद के इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि धर्म के विषय में केवल मन्त्रसंहिता, मूलवेद ही प्रमाण है। शेष सम्पूर्ण ऋषिकृत ग्रन्थ वेदानुकूल होने से प्रमाण तथा वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं। जब स्वामी दयानन्दजी का फ़ैसला वेदानुकूल है तो फिर आप और आपके याज्ञवल्क्य के लेख को मानकर ऐरे-ग़ैरे-नत्थूख़ैरे ग्रन्थों को धर्म में वही प्रमाण मानेगा कि जिसकी अक़्ल का दिवाला निकल चुका होगा।

(४७९) प्रश्न—वेद दो भागों में विभक्त है—एक, मन्त्रभाग है और दूसरा, ब्राह्मणभाग। स्वामीजी ने इन दोनों के गले पर छुरी चलाने का उद्योग किया है। —पृ० ६३, पं० २२

उत्तर—वेद दो भागों में विभक्त नहीं है, अपितु वेदविषय दो विभागों में विभक्त है। एक तो मूल मन्त्रसंहिता भाग कि जिसका नाम वेद है। दूसरा भाग वेदों का ऋषिकृत भाष्य है जिसका नाम ब्राह्मण है। स्वामीजी से पूर्व आर्यजाति को इस भ्रम में स्वार्थी लोगों ने डाल रक्खा था कि मन्त्रसंहिता और उनका भाष्य, अर्थात् ब्राह्मण इन दोनों का ही नाम वेद है और इस आड़ में ब्राह्मणों के नाम से कई वेदविरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ बना डाले और शतपथादि ब्राह्मणों में भी वेदविरुद्ध बातों का प्रक्षेप कर दिया और इस प्रकार से वास्तविक वेदों को घपले में डालकर वैदिक धर्म का सर्वनाश कर मनमाने वेदविरुद्ध सिद्धान्तों का प्रचार करके आर्यजाति के धर्म, साहित्य तथा सभ्यता और देश को तेज छुरे से क़त्ल कर आर्यजाति को नष्ट कर रहे थे। ऋषि दयानन्दजी ने जाति की इस शोचनीय अवस्था को देखकर उसे भूलभूलय्याँ के चक्र से निकालकर सीधी सड़क पर लाकर खड़ा कर दिया और बतलाया कि मूल वेदमन्त्रसंहिता जोकि ईश्वरकृत है वही वेद है, शेष ब्राह्मणादि ग्रन्थ सब उस मूल मन्त्रसंहिता का ऋषिकृत भाष्य हैं। वे वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे मूल मन्त्रसंहिता वेद के सिद्धान्तों के अनुकूल हों; जहाँ

पर उनमें भी कोई बात वेद के विरुद्ध हो वे मानने के योग्य नहीं है, अर्थात् वेद स्वतः-प्रमाण तथा ब्राह्मणग्रन्थ परत:प्रमाण हैं। जो आर्यजाति ऋषि दयानन्दजी से पहले अपने धर्मग्रन्थ का कोई निश्चय ही न कर पाती थी और अपने धर्म को बे-बुनियाद जानकर लड़खड़ाती हुई दूसरे धर्मों में प्रवेश कर रही थी, आज ऋषि दयानन्दजी की कृपा से वेदों की मज़बूत चट्टान पर अपने धर्म की बुनियाद को स्थिर करके मत-मतान्तरों को धर्मयुद्धार्थ ललकार रही है और अपने भागे हुए सिपाहियों को वापस लाकर फिर से अपनी सेना में भरती कर रही है। इसकी इस बहादुरी को देखकर विरोधी दलों के नेता भी वैदिक धर्म की सेना में भरती हो रहे हैं और वह दिन बहुत निकट है जबकि संसार में वैदिक धर्म का झण्डा लहराता हुआ नज़र आवेगा। यह सब देश-उद्धारक, वेदप्रचारक ऋषि दयानन्दजी की ही कृपा का परिणाम है।

(४८०) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाविचार में लिखते हैं कि "(१) ब्राह्मणग्रन्थ पुराण हैं। वे ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उनके नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी हैं। (२) ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों ने बनाये हैं। (३) वे वेद नहीं हैं, अपितु वेदों का व्याख्यान हैं। (४) एक कात्यायन ऋषि को छोड़कर अन्य किसी ऋषि ने इनके वेद होने की साक्षी नहीं दी। (५) ब्राह्मणों में इतिहास है इस कारण भी वे वेद नहीं हो सकते, अतएव पुराण हैं", इस लेख पर गूढ़ विचार करना और विचार द्वारा फल निकालना यह प्रत्येक वैदिक धर्मी मनुष्य का कर्तव्य है। —पृ० ६४, पं० १

उत्तर—आपने स्वामीजी का पूरा पाठ नहीं दिया। ऋषि ने यों लिखा है कि--

"अथ कोऽयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति"।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचार:

भाषार्थ—"**(प्रश्न)** वेद किनका नाम है **(उत्तर)** वेद संहिताओं का **(प्रश्न)** जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते? **(उत्तर)** ऐसा मत कहो। ब्राह्मणों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती। क्यों, उनकी पुराण-इतिहास संज्ञा होने से, वेदों के व्याख्यान होने से, ऋषिकृत होने से, अनीश्वरोक्त होने से, कात्यायन के बिना दूसरे ऋषियों द्वारा इनको वेदसंज्ञा में न स्वीकार करने से, मनुष्यों की बुद्धि से रचे हुए होने से"। यह स्वामीजी का पूरा लेख है। अब आप इसपर विचार करने की कृपा करें।

(४८१) प्रश्न—प्रथम पुष्टि में यह दिखलाया है कि ब्राह्मणग्रन्थों की पुराण (इतिहास) कल्प, गाथा, नाराशंसी संज्ञा है। इस कारण इनकी वेद संज्ञा नहीं हो सकती। इस पुष्टि में प्रमाण कुछ भी नहीं दिया, केवल लेख लिखकर आज्ञामात्र दी है। —पृ० ६४, पं० १२

उत्तर—आप अपनी चालाकी से जनता को धोखा देना चाहते हैं, किन्तु हम आपको ऐसा करने नहीं देंगे। स्वामीजी ने प्रथम हेतु में केवल '**पुराणेतिहाससंज्ञत्वाद्**—ब्राह्मणों की पुराण, इतिहास संज्ञा होने से', ऐसा लिखा है। आपने अपनी चालाकी से इस प्रश्न में इतिहास शब्द को उड़ा ही दिया जिसको हमने कोष्ठ में दे दिया है। और यही ब्राह्मणों के वेद न होने में सबसे बड़ा हेतु है। आप कहते हैं कि स्वामीजी ने इसमें प्रमाण कुछ भी नहीं दिया। सो श्रीमान्जी! प्रमाण तो उसे नज़र आवे जिसके आँखें हों। जिसके आँखें ही नहीं उसे नज़र क्या ख़ाक आना था? स्वामीजी ने इस प्रतिज्ञा के आगे ही वेद में इतिहास का खण्डन करते हुए '**त्र्यायुषं जमदग्नेः**

कश्यपस्य' इत्यादि यजुः० ३।६२ में आये हुए 'जमदग्नि' तथा 'कश्यप' शब्दों का 'चक्षु' तथा 'प्राण' अर्थ सिद्ध करके बतलाया है कि वेदों मं ये नाम किसी ऋषि वा मनुष्यों के नहीं हैं, अपितु अन्य पदार्थों के वाचक हैं, जैसाकि स्वामीजी ने लिखा है—

'यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे। अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यदिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्। तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादि-नामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादिनां चेति निश्चीयते'।

—(ऋग्वेदादि० वेदसंज्ञा० त्र्यायुषं मन्त्रं पर)

भाषार्थ—"जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नाम लिखते हुए लौकिक इतिहास हैं, वैसे मन्त्रभाग में नहीं हैं। इसलिए अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले 'जमदग्नि' आदि शब्दों से अर्थमात्र ही वेदों में प्रकाश किया जाता है। इसलिए यहाँ मन्त्रभाग में इतिहास का लेश भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिए, इसलिए जो सायणाचार्य आदि ने वेदप्रकाश आदि में जहाँ कहीं इतिहास वर्णन किया है, वह भ्रममूलक ही है, ऐसा मानना चाहिए तथा ब्राह्मणग्रन्थों का ही पुराण, इतिहास आदि नाम है, ब्रह्मवैवर्त तथा श्रीमद्भागवतादि का नहीं, ऐसा निश्चित ही है"।

अब देखिए, स्वामीजी ने अपनी प्रथम पुष्टि में कितना प्रबल प्रमाण दिया है। क्या किसी पौराणिक ने माता का दूध पिया है जो वेदों में लौकिक मनुष्यों का इतिहास सिद्ध कर सके? जिन पुस्तकों में लौकिक मनुष्यों के इतिहास होते हैं मानना पड़ता है कि वे पुस्तकें उन मनुष्यों के जन्म के पश्चात् बनाई गई हैं। चूँकि वेद अनादि ईश्वर का ज्ञान है, अतः उसमें लौकिक मनुष्यों के इतिहास नहीं हैं और ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के इतिहास हैं, अतः मानना पड़ेगा कि ब्राह्मणग्रन्थ अनादि ईश्वररचित नहीं हैं अपितु मनुष्यकृत हैं, अतः वे वेद नहीं कहे जा सकते, अपितु ब्राह्मणग्रन्थों का नाम ही इतिहास-पुराण है, भागवतादि कपोलकल्पित नवीन ग्रन्थों का नाम इतिहास-पुराण नहीं है।

(४८२) प्रश्न—जब ब्राह्मणग्रन्थों की पुराण संज्ञा होते हुए कल्प संज्ञा हो जाती है, पुराण और कल्प संज्ञा होते हुए भी गाथा संज्ञा हो जाती है, और पुराण, कल्प, गाथा—इन तीन संज्ञाओं के रहते हुए भी चतुर्थ नाराशंसी संज्ञा हो जाती है, तो फिर हम किस प्रकार मान लें कि पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी—इन चार संज्ञाओं के रहते हुए वेदसंज्ञा नहीं हो सकती? अतएव सुतरां सिद्ध है कि जैसे हरि शब्द की शब्दसंज्ञा होते हुए भी प्रातिपदिक 'भ' तथा 'घी' संज्ञा हो जाती है और जैसे रघुनन्दन शुक्ल की शुक्ल संज्ञा होते हुए भी शास्त्री, बी०ए० तथा जज संज्ञा हो जाती है, वैसे ही ब्राह्मण की पुराण, गाथा, कल्प, नाराशंसी संज्ञा रहते हुए भी वेदसंज्ञा अवश्य है।

—पृ० ६५, पं० ४

उत्तर—एक पदार्थ की बहुत-सी संज्ञाएँ होने में किसी को भी शंका नहीं है, यदि वे संज्ञाएँ एक-दूसरी संज्ञा की अविरोधी हों; किन्तु एक ही पदार्थ की दो विरोधी संज्ञाएँ नहीं हो सकतीं। जैसेकि एक परमेश्वर की निराकार, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वव्यापक, अजर, अमर, अभय इत्यादि एक-दूसरे की अविरोधी सहस्रों संज्ञाएँ हैं किन्तु उसी ईश्वर की साकार, अन्यायी, दयाहीन, जन्मधारी, इत्यादि संज्ञाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये संज्ञाएँ पहली संज्ञाओं की विरोधी हैं और जैसेकि हरि की शब्द, प्रातिपादिक 'भ' तथा 'घी' आदि संज्ञाएँ एक-दूसरे की अविरोधी होने से हो सकती हैं, परन्तु उसी हरि शब्द की नदी, गुण, वृद्धि आदि संज्ञाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये संज्ञाएँ पहली संज्ञाओं की विरोधी हैं। और जैसे रघुनन्दन

शुक्ल की शास्त्री, बी०ए०, जज, आदि अनेक संज्ञाएँ परस्पर अविरोधी होने से हो सकती हैं, किन्तु उसी रघुनन्दन की कृष्ण, निरक्षर, मूर्ख और लण्ठ संज्ञाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये संज्ञाएँ पहली संज्ञाओं की विरोधी हैं। इसी प्रकार से ही ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहास, पुराण, गाथा, कल्प, नाराशंसी संज्ञाएँ परस्पर अविरोधी होने से हो सकती हैं, किन्तु उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि यह संज्ञा पहली संज्ञाओं की विरोधी है। कैसे विरोधी है? इसलिए कि वेद शब्द 'विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे तथा विद्लृ लाभे' से सिद्ध होता है, जिसके अर्थ यह हुए कि वेद उस ज्ञान का नाम है कि जिसके विचार से लाभ हो, तथा वह तीनों काल में स्थिर रहनेवाला अनादि, अनन्त, नित्य ज्ञान हो। चूँकि ब्राह्मणग्रन्थों का ज्ञान अनादि तथा नित्य नहीं है, क्योंकि उसमें लौकिक मनुष्यों का इतिहास विद्यमान है और जिस पुस्तक में जिस मनुष्य का इतिहास हो मानना पड़ेगा कि वह पुस्तक उस मनुष्य के जन्म के पीछे बनी है, अतः सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणग्रन्थ उन मनुष्यों के जन्म के पीछे बनाये गये जिन मनुष्यों का इतिहास उनमें विद्यमान है, अतः ब्राह्मणग्रन्थों का ज्ञान अनादि, तीनों कालों में स्थिर रहनेवाला, नित्य नहीं है और न ही ब्राह्मणग्रन्थ वेद कहलाने के योग्य हैं। चारों मूलवेद, मन्त्रसंहिता ईश्वर का ज्ञान होने से तीनों काल में सत्य, नित्य ज्ञान है और उनमें लौकिक मनुष्य के इतिहास भी नहीं हैं, अतः वही वेद कहाने के योग्य हैं। आप भी इस बात को अनुभव करते हैं कि इतिहाससंज्ञा वेदसंज्ञा की विरोधी है इसी कारण से आपने इस प्रश्न में भी इतिहाससंज्ञा को श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प कर लिया है, किन्तु आपकी यह चलबाज़ी हमारी नज़रों से कैसे छिप सकती थी?

(४८३) प्रश्न—यस्या[१] वै[२] मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम्। वैन्यो[३] धोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। सोदाक्रमत् सा [४]सुरानाध्यच्छन्तामसुरा उपाह्वयन्त एहीति[५] तस्या विरोचनः प्राह्लादि[६] र्वत्स[७] आ[८]सीत्पृथिवी[९] पात्रम्। —अ० का० ८ अ० ५ सू० १३

उस गोरूप पृथिवी का वैवस्वत मनु वत्स बछड़ा हुआ। पृथिवी का पात्र बनाया, वेन के पुत्र महाराजा पृथु ने उस गौ से कृषि और सस्य (तृण) को दुहा, फिर वह गोरूप पृथिवी असुरों के पास पहुँची, असुरों ने उसका आह्वान किया। आह्वान के पश्चात् जब वह गौ असुरों के पास ठहर गई तब प्रह्लाद के पौत्र विरोचन को वत्स बनाकर पृथिवीपात्र में अपने भोजन को दुहा।

इस मन्त्र की पुराण, इतिहास संज्ञा रहने पर भी वेदसंज्ञा सिद्ध है, अतएव इसके वेद होने में कोई भी पुरुष मस्तक नहीं हिलाता। इसी उदाहरण को सम्मुख रख लें तो फिर वह कौन न्याय है जिसका आश्रय लेकर हम यह कहने को उद्यत हों कि ब्राह्मणों की वेद संज्ञा सिद्ध नहीं होती?

—पृ० ६६, पं० १

उत्तर—आपने इस प्रमाण में सनातनधर्म की सचाई, ईमानदारी तथा सभ्यता का दिवाला निकालकर छल-कपट-धोखे तथा असत्य भाषण का प्रदर्शन किया है। यदि ऐसे प्रमाणों के आधार पर ही सनातनधर्म्म का जीवन निर्भर है तो आज नहीं तो कल अवश्य ही इसकी 'राम नाम सत् है' होने में कोई सन्देह ही नहीं है। भला! यह तो बतलाइए कि प्रमाण को लिखते समय क्या आपने अथर्ववेद का पुस्तक उठाकर देख भी लिया था वा वैसे ही किसी की पुस्तक में से पाठ नक़ल कर दिया था? आपको ऐसे अशुद्ध प्रमाण देने की शरम में पानी में नाक डुबोकर मर जाना चाहिए, किन्तु शरम क्या कुत्ती है जो मरदों के पास भी फटक जावे? लीजिए, आपका प्रमाण निम्नलिखित हेतुओं से अशुद्धता, छल-कपट तथा धोखे का नमूना है—

(१) यहाँ अथर्ववेद में 'यस्या' पाठ नहीं है अपितु 'तस्य' है।

(२) यस्या से आगे तथा मनु से पूर्व "वै" पाठ पुस्तक में नहीं है।

(३) 'वैन्यो' पाठ से पूर्व 'तां पृथी' पाठ है जो आपने लुप्त कर दिया है।

(४) 'असुरान्' तथा 'अगच्छत्' के बीच में ' 'आधि' पाठ आपकी ही करतूत है, यह पद वेद में नहीं है।

(५) 'एहि' पद से पूर्व 'माय' पद वेद में है जो आपने चुरा लिया है।

(६) वेद में 'प्राह्रादि' पाठ है जिसका अर्थ है—'प्रभूत शब्द करनेवाली बिजली', किन्तु आपने इतिहास साबित करने की धुन में वेद के पाठ को बदलकर 'प्राह्लादि' बना दिया है।

(७) यहाँ मन्त्र में 'पृथिवी पात्रम्' पाठ नहीं है अपितु 'अयस्पात्रं पात्रम्' पाठ है जिसे आपने अशुद्ध रूप से तब्दील कर दिया है।

(८) अथर्ववेद के आठवें काण्ड में केवल १० सूक्त हैं, आपने बिना देखे ही सूक्त १३ पते में लिख मारा।

(९) ये मन्त्र अध्याय ५ के नहीं हैं अपितु अध्याय ४ के हैं।

(१०) आपने प्रकरण को घपले में डालने के लिए अध्याय चार के 'तस्य १०' 'तां पृथी ११' इन दो मन्त्रों को प्रथम लिखके 'ते कृषिं १२' इस मन्त्र को छोड़कर प्रकरण-विच्छेद कर दिया और इन दो मन्त्रों के पीछे 'सोदक्राम् सासुरान्१' तथा 'तस्या विरोचनः २' इन दो मन्त्रों को लिखके तथा 'तां द्विमूर्धा ३' तथा 'तां मायाम् ४' इन दो मन्त्रों को छोड़कर प्रकरण का विच्छेद कर दिया। सारांश यह कि आपने दो प्रकरणों के कुछ मन्त्र छोड़कर तथा कुछ को अशुद्ध लिखके 'आधा तीतर आधा बटेर' बना डाला और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' के कथनानुसार सनातनधर्म के 'लालबुझक्कड़' उपदेशक बन बैठे और लगे वेदों में इतिहास सिद्ध करने। श्रीमान्जी! यदि आप वेदों में से सृष्टि-उत्पत्ति के इतिहास को ढूँढना चाहें तो वह तो मिल जावेगा जैसे 'ऋतं च सत्यं १' 'समुद्रादर्णवाद् २' 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता ३' (ऋ० मं० १० सू० १९०) 'नासदासीत् इत्यादि १-७' (ऋ० १०।१२९) 'हिरण्यगर्भः यजुः० १३।१४' 'सहस्रशीर्षा इत्यादि पुरुषसुक्त यजुः० ३१' इत्यादि अनेक वेदमन्त्र आपको सृष्टि-उत्पत्ति के पुराण-इतिहास का वर्णन करनेवाले मिल जावेंगे किन्तु यदि आप वेदों में से लौकिक मनुष्यों के चारित्रिक इतिहास ढूँढना चाहें तो वे न मिलेंगे, क्योंकि वेद अनादि, नित्य, ईश्वर का ज्ञान है। ऐसे इतिहास ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिल सकते हैं, क्योंकि वे ईश्वरकृत नहीं अपितु मनुष्यकृत हैं। ये अथर्ववेद के मन्त्र जो आपने पेश किये हैं इनमें भी लौकिक मनुष्यों के चरित्र का इतिहास विद्यमान नहीं है, अपितु इस अध्यय के सब मन्त्रों में 'विराट गौ से माया, स्वधा, कृषि, सस्य, ब्रह्म और तप के दोहन' का वर्णन है, अर्थात् समस्त सृष्टि से लाभ उठाने का वर्णन है। अब हम इन मन्त्रों का प्रकरणानुसार ठीक-ठीक अर्थ देते हैं—

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति॥ १॥ तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्॥ २॥ तां द्विमूर्धात्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक्॥ ३॥ तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ ४॥ —अथर्व० ८।१०।४

भाषार्थ—वह माया अर्थात् प्रकृति ऊपर उठी, अर्थात् कारणरूप से कार्यरूप में आई। वह शिल्पियों को प्राप्त हुई। उसको शिल्पियों ने ग्रहण किया मानो बुलाते हैं हे माया! आ॥ १॥ उस प्रकृति की प्रभूति शब्द करनेवाली बिजली पुत्र के समान थी और धातुमय पदार्थ पात्र था॥ २॥ उस माया को दो मूल धारण करनेवाले बुद्धिमान् इंजीनियरों ने दुहा, अर्थात् उससे लाभ उठाया॥ ३॥ उस प्रकृति के आश्रय शिल्पीजन अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। जो इस प्रकार के तत्त्व को जानता है वह औरों की आजीविका निर्वाह कराने में समर्थ होता है॥ ४॥

इन मन्त्रों में 'असुर' शिल्पी, 'माया' के प्रकृति, 'प्राह्रादि' के 'प्रभूत शब्द करनेवाली', विरोचन के बिजली, 'अयः' के धातुमय 'द्विमूर्धा' के बुद्धिमान्, 'अत्व्यं' के इंजीनियर अर्थ हैं।

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि शिल्पीजन प्रकृति से लाभ उठाकर अपना और दूसरों का निर्वाह करें। इन मन्त्रों में लौकिक मनुष्यों के इतिहास का लेशमात्र भी नहीं है, अत: इनकी पुराणसंज्ञा नहीं है।

सोदक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति॥ ९॥ तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्॥ १०॥ तां पृथी वैन्यो धोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥ ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

—अथर्व० ८।१०।४

भाषार्थ—वह पृथिवी प्रकट हुई। उसको मनुष्यों ने प्राप्त किया।। उसको मनुष्यों ने ग्रहण किया बुलाने की भाँति हे पृथिवी आ॥ ९॥ विविध प्रकार से प्रजाओं का बसानेवाला बुद्धिमान् मनुष्य उस पृथिवी का पुत्र की भाँति था। पृथिवी पात्र थी॥ १०॥ उस पृथिवीरूप गौ को महान् राजा ने दूहा, अर्थात् उससे लाभ उठाया। उससे खेती तथा अनाज प्राप्त किया॥ ११॥ वे मनुष्य कृषि और अनाज पर ही प्राण धारण करते हैं। जो इस रहस्य को जानता है वह कृषि द्वारा ही बहुत धन-धान्यसम्पन्न और मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है॥ १२॥

इन मन्त्रों में 'इरावती' के पृथिवी, 'वैवस्वतो मनु' के विविध प्रकार से प्रजाओं को बसानेहारा मनीषी पुरुष, 'वैन्य: पृथी' के नाना काम्य पदार्थों का स्वामी राजा, अर्थ हैं। इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग पृथिवी से लाभ उठाकर अपना और दूसरों का निर्वाह करें। इन मन्त्रों में लौकिक मनुष्यों के इतिहास, चरित्र का लेशमात्र भी नहीं है, अत: इनकी पुराण संज्ञा नहीं है। चूँकि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास विद्यमान हैं, अत: ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती, अपितु पुराणसंज्ञा है और ब्राह्मणग्रन्थों की पुराणसंज्ञा होते हुए वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

(४८४) प्रश्न—**'चत्वारि शृंगा'** इस वेदमन्त्र में कल्प की वेदसंज्ञा वेद ने ही मानी है और इसपर यास्कमुनि ने निरुक्त भी किया है, जबकि कल्प की वेदसंज्ञा स्वत:प्रमाण भगवान् वेद ही कह रहा है और उसके साक्षी वेदज्ञाता मुनि यास्क हैं फिर हम किसी के कहने से किस प्रकार मान लें कि कल्पसंज्ञा होने पर वेदसंज्ञा नहीं होती? —पृ० ६६, पं० १५

उत्तर—आपने वेदमन्त्र और उसके निरुक्त को भी खूब समझा है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि वेदमन्त्र के अथवा निरुक्त के वे कौन-कौन-से पद हैं जो वेद की कल्पसंज्ञा करते हैं। आप यही नहीं जानते कि कल्प कहते किसको हैं। सुनिए, कल्प का लक्षण यह है—

कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशका:। तद्यथा। इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह। यदाहेषे त्वोत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह। सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता:॥

—शतपथ० १।७।१।२, ४ (ऋग्वेदा० वेदसंज्ञा)

कल्प उसको कहते हैं जहाँ पर मन्त्र के अर्थ की सामर्थ्य प्रकाशित की जावे, जैसेकि उपर्युक्त प्रमाण में शतपथ ने यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र १ की 'इषे त्वोर्जे' इत्यादि प्रतीक देकर मन्त्र के अर्थ की सामर्थ्य को प्रकाशित किया है कि यदि वृष्टि के लिए यज्ञ करना हो तो उस यज्ञ में इस वेदमन्त्र को प्रयुक्त किया जावे।

अब बतलावें कि **'चत्वारि शृंगा'** इस वेदमन्त्र में कौन-से मन्त्र की प्रतीक देकर उसके अर्थ के सामर्थ्य को प्रकाशित किया है? यदि नहीं तो आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा मिथ्या है कि इस मन्त्र की कल्पसंज्ञा है। हाँ, आपके इस प्रमाण से यह अवश्य सिद्ध हो गया कि कल्प और ब्राह्मण वेद नहीं हैं, जैसेकि—

**चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥**

—यजु:० १७।९१

चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त च्छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय॥ १॥ —निरुक्ते परिशिष्टम् १३।७।१

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम जिस इसके प्रातःसवन, मध्यान्दिनसवन और सायंसवन ये तीन पाद; चार वेद सींग; दो अस्तकाल और उदयकाल शिर; जिस इसके गायत्री आदि छन्द सात हाथ हैं; जो मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रकारों से बँधा हुआ बड़ा प्राप्त करने योग्य सुखों को सब ओर से वर्षानेवाला यज्ञ प्रातः, मध्याह्न और सायंसवन क्रम से शब्द करता हुआ मनुष्यों में अच्छे प्रकार प्रवेश करता है, इसका अनुष्ठान करके सुखी होवो॥ ९१॥

इस मन्त्र के निरुक्त में साफ़ लिखा है कि यह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प, इन तीन प्रकारों से बँधा हुआ है। आपने भी अपनी पुस्तक के पृ० ७५ पर इसके यही अर्थ स्वीकार किये हैं। यदि ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद होते तो यहाँ पर ब्राह्मण और कल्प को मन्त्र से भिन्न क्यों प्रतिपादन किया जाता? इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु ब्राह्मणग्रन्थों की कल्प संज्ञा है और ब्राह्मणग्रन्थों की कल्पसंज्ञा होते हुए वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

(४८५) प्रश्न—'**इदं जना** इत्यादि अथर्व० कां० २०' का अर्थ है कि 'हे मनुष्यो! इस बात को सुनो। मनुष्य स्तुत किये जाते हैं। साठ सहस्र और नव्वे कौरव्य राजा ने दान दिये हैं।' इस मन्त्र की नाराशंसी संज्ञा रहने पर भी वेद संज्ञा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आती, फिर हम किस आधार का अवम्लबन कर कह सकते हैं कि नाराशंसी संज्ञा होने पर वेदसंज्ञा नहीं होती?

—पृ० ६६, पं० २५

उत्तर—निरुक्त ने नाराशंसी का अर्थ यों लिखा है—

नराशंसः॥ ४॥

नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति॥ १॥

अग्निरिति शाकपूणिः नरैः प्रशस्यो भवति॥ २॥ —निरुक्त अध्याय ८ खं० ७

नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्याः नातोऽन्या इति। —ऋग्वेदादि० वेदसंज्ञा०

भाषार्थ—जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो-जो, जैसी-जैसी कथा लिखी है उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिए, अन्य का नहीं। चूँकि वेदों में लौकिक मनुष्यों की प्रशंसायुक्त गाथाएँ नहीं मिलतीं, अतः वेदों का नाम नाराशंसी नहीं कहा जा सकता। इस मन्त्र में किसी लौकिक मनुष्य के चरित्र की प्रशंसा नहीं है, अतः इस मन्त्र का नाम नाराशंसी कहना सर्वथा मिथ्या है। इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

इदं जना उपश्रुत नराशंस स्तविष्यते। षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे॥ १॥

—अथर्व० २०।१२७

भाषार्थ—हे मनुष्यो! आप लोग इस बात को कान लगाकर श्रवण करो कि प्रजाओं के नेता

पुरुषों के गुणों का यहाँ वर्णन किया जाता है। पृथिवी पर युद्ध या रमण-क्रीड़ा करनेहारे! राजन्! सेनापते! हम लोग साठ हज़ार नव्वे पुरुषों को शत्रुओं की नाशकारी सेना के दलों में नियुक्त करें॥ १॥

इस मन्त्र में किन्हीं लौकिक पुरुषों के प्रशंसायुक्त चरित्रों का वर्णन नहीं है, अतः इस मन्त्र की नाराशंसी संज्ञा नहीं है। इस प्रकार के प्रशंसायुक्त चरित्रों का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलता है, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं है, अपितु नाराशंसी हैं और ब्राह्मणग्रन्थों की नाराशंसी संज्ञा होते हुए वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

आपने किसी वेदमन्त्र की गाथा और इतिहास संज्ञा सिद्ध करके वेदसंज्ञा सिद्ध करने का यत्न नहीं किया और ऊपर के मन्त्रों की पुराण, कल्प, नाराशंसी संज्ञा होते हुए आप वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं कर सकते, अतः सिद्ध हुआ कि वेदों की इतिहास, पुराण, कल्प, नाराशंसी संज्ञा नहीं है अपितु ये संज्ञाएँ ब्राह्मणग्रन्थों की हैं और ब्राह्मणग्रन्थ ये संज्ञाएँ रखते हुए वेदसंज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकते, अतः स्वामीजी का प्रथम हेतु सर्वथा सत्य है।

(४८६) प्रश्न—द्वितीय हेतु में यह दिखलाया गया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं, किन्तु महर्षि लोगों के बनाये हैं। स्वामी के मत में वेद और ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव एक-जैसा है। इनका मन्तव्य है कि ''अग्नि, वायु, रवि, अङ्गिरा इन चार ऋषियों द्वारा वेद संसार में आया, अर्थात् ये चार ऋषि समाधि में बैठे और उस समाधि-समय में ईश्वर ने अपना अलौकिक ज्ञान इनके अन्तःकरण में प्रकाशित किया, उसी को इन्होंने संसार में फैलाया, इसी ज्ञान का नाम वेदज्ञान है। ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव होने में इनका मत है कि ''अनेक ऋषि समाधिस्थ हुए और उसी में परमात्मा ने उनके अन्तःकरण में वेदार्थ ज्ञान प्रकाशित किया, उस ज्ञान का नाम ब्राह्मणग्रन्थ है।'' यदि वास्तव में दोनों में ही ज्ञान ईश्वर का है तब दोनों ही ईश्वर के ज्ञान हैं। ईश्वरज्ञान रहने पर भी एक ईश्वर-प्रणीत और द्वितीय ऋष-प्रणीत लिखना प्रमाद है। न कोई अग्नि, न कोई वायु और न कोई रवि ऋषि था। अङ्गिरा ऋषि अवश्य थे, किन्तु उनके द्वारा वेद का प्रादुर्भाव होना यह वैदिक साहित्य में कहीं पर भी सिद्ध नहीं है, अतएव ये समस्त मानसिक कल्पनाएँ हैं। मानसिक कल्पना रहने पर भी ये सत्य मानी जाती हैं। जब इसके मत में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ईश्वरीय ज्ञान हैं फिर ब्राह्मणभाग ऋषि-प्रणीत किस प्रकार हुआ, इसपर पाठकवर्ग विचार करें '**स यथार्द्रैधा** इत्यादि शत० १४ प्र० ५ ब्रा० ४ कं० १०' में भी मन्त्र, ब्राह्मण, पुराणादि समस्त ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव एक-जैसा तुल्य है, फिर हम एक को ईश्वर-प्रणीत और द्वितीय को ऋषि-प्रणीत किस न्याय को आगे रख कहने का साहस कर सकते हैं? इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणग्रन्थ ऋषि-प्रणीत नहीं किन्तु ईश्वरप्रणीत हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद ही हैं। —पृ० ६७, पं० ६

उत्तर—प्रथम आपने जो लिखा है कि अंगिरा ऋषि तो था, किन्तु उसके द्वारा वेद प्रादुर्भाव नहीं हुआ, सो श्रीमान्जी! अथर्ववेद के साथ तो अंगिरा ऋषि का ही नाम आता है, जैसेकि—

अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। —अथर्व० १० सू० ७ मं० २०

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः। —मनु० ११। ३३

अब रही बात अग्नि, वायु, तथा रवि ऋषि की, सो इसमें प्रमाण देखें—

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ —शत० ११।४।२।३

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ''ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्'। —ऐतरेय ब्राह्मण ५।३२ [सायणभाष्यभूमिका]

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ —मनु० १।२३

सो चार ऋषियों से चार वेदों का प्रकाशित होना तो सिद्ध है। दूसरे, आपने यह सिद्ध करने के लिए कि मन्त्र तथा ब्राह्मण का प्रादुर्भाव एक-जैसा ही ईश्वर से हुआ है, अतः ब्राह्मण भी ईश्वरीय ज्ञान होने से वेद है "स यथार्द्रैधा" इत्यादि प्रमाण दिया है। सो श्रीमान्‌जी! आपने यही प्रमाण (नं० ४६९ में) यह सिद्ध करने के लिए दिया है कि 'पुराण ईश्वर से प्रकट हुए हैं' जिसका उत्तर हमने वहाँ पर ही यथायोग्य दे दिया है। इस प्रमाण में ब्राह्मण शब्द नहीं है। आप ब्राह्मणों को पुराण मानते नहीं। फिर आपका इस प्रमाण में स्थित पुराण शब्द से ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव सिद्ध करना 'वदतोव्याघातदोष' है, अर्थात् अपने मन्तव्य का स्वयं खण्डन करना है। इस प्रमाण में किन्हीं विशेष ग्रन्थों का वर्णन नहीं है, अपितु वेदों से सम्पूर्ण विद्याओं के प्रादुर्भाव का वर्णन है, अतः ईश्वर से ब्राह्मणों के प्रादुर्भाव में आपका यह प्रमाण देना सर्वथा निर्मूल है।

तीसरे, आपका यह लिखना कि स्वामीजी ने वेद तथा ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव एक ही जैसा लिखा है आपकी बड़ी भारी भूल है, क्योंकि स्वामीजी ने दोनों का प्रकार तथा समय भिन्न-भिन्न लिखा है, जैसाकि—

"प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा—इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया"। —सत्यार्थ०सप्तम समु०, 'अग्नेर्ऋग्वेदः' के अर्थ में

स्वामीजी के उपर्युक्त लेख से आपका यह लिखना झूठ सिद्ध हो गया कि "ये चार ऋषि समाधि में बैठे और उस समाधि-समय में ईश्वर ने अपना अलौकिक ज्ञान इनके अन्तःकरण में प्रकाशित किया।" उन चार ऋषियों को समाधि में बैठने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वे आदिसृष्टि में होने के कारण समाधिविद्या को भी न जानते थे, अतः परमात्मा ने उन चार ऋषियों के आत्मा में शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के ज्ञानसहित चारों वेदों का प्रकाश किया और उन्होंने अन्य लोगों को पढ़ाया। यदि वे चार ऋषि आदि से ही वेद के शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को न जानते तो वे दूसरों को क्या और कैसे पढ़ाते, जैसेकि—

"इस प्रकार जो परमात्मा उन आदिसृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता और वे अन्यों को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते।" —सत्यार्थ० समु० ७

इससे सिद्ध है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चारों के आत्मा में तो परमात्मा ने आदिसृष्टि में ही शब्द-अर्थ-सम्बन्धसहित चारों वेदों का ज्ञान प्रकाशित किया, उन्होंने दूसरों को पढ़ाया, उसके पश्चात् ऋषियों को जब-जब, जिन-जिन मन्त्र के विषय में विशेष अर्थों के जानने की आवश्यकता पड़ी तब-तब समाधिस्थ होकर उन-उन मन्त्रों के अर्थों पर विचार किया और परमात्मा ने उनको अर्थ जनाया, उन्होंने भी उन अर्थों का प्रचार किया और लोगों को पढ़ाया, तब उन मन्त्रों के साथ उन ऋषियों का नाम लिखा गया जैसाकि "जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ उस ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है।" —सत्यार्थ० समु० ७

इन ऋषि-महात्माओं से वेदार्थ को पढ़कर कई ऋषियों ने ग्रन्थरचना की। जिन ग्रन्थों में वह वेदार्थ भी लिखा तथा ऋषि-मुनियों के इतिहास भी लिखे, उन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मणग्रन्थ रखा गया, जैसाकि—

"**प्रश्न**—वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना?

उत्तर—ईश्वर ने जनाया और धर्मात्मा, योगी, महर्षि लोग जब-जब, जिस-जिस मन्त्र के अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए तब-

तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों की आत्माओं में वेदार्थ प्रकाश हुआ तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उका व्याख्यानग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ।'' —सत्यार्थ० समु० ७

अब इन ब्राह्मणग्रन्थो में प्रथम तो ऋषि-मुनियों आदि का इतिहास है। दूसरे, एक-दूसरे से अर्थों के पढ़ने के कारण उन अर्थों में भी कुछ मनुष्य की बुद्धि की रचना का सम्मिलित होना सम्भव है, अत: ब्राह्मणग्रन्थ वेद तथा स्वत:प्रमाण नहीं माने जा सकते, जैसाकि—

''जो (ब्राह्मणग्रन्थों को वेद) मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें, क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजा आदि के इतिहास लिखे हैं। इतिहास जिसका हो उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे उस-उस शब्द का प्रयोग किया है। किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं''।

—सत्यार्थ० समु० ७

इन प्रमाणों से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि वेदों तथा ब्राह्मणों के प्रादुर्भाव का प्रकार एक नहीं है, अत: वेद ईश्वरकृत तथा ब्राह्मणग्रन्थ ऋषिकृत माने जाते हैं। इसी कारण से ब्राह्मणग्रन्थ वेद तथा स्वत:प्रमाण नहीं माने जा सकते।

(४८७) प्रश्न—तृतीय हेतु यह है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, क्योंकि वे वेद का व्याख्यान हैं, अतएव पुराण हैं। जो पुस्तक जिस विषय का व्याख्यान हो वह पुस्तक उस विषय का तो न रहे किन्तु अन्य विषय का हो जावे—यह लेख हमारी बुद्धि में समावेश नहीं करता। महर्षि पाणिनि ने व्याकरण के नियमरूप सूत्रों का निर्माण करके अष्टाध्यायी रची। उस अष्टाध्यायी के सूत्रों पर महर्षि पतञ्जलि ने विस्तृत व्याख्यान किया, उस विस्तृत व्याख्यान का नाम 'महाभाष्य' है। आज तक भारत का गौरव रखनेवाले 'महाभाष्य' को सभी विद्वान् व्याकरण का सर्वोपरि आदरणीय पुस्तक मानते हैं। जब व्याख्यानरूप महाभाष्य व्याकरण है तो फिर वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थ वेद कैसे न होंगे और वे पुराण किस प्रकार बन जावेंगे? महर्षि गौतम के न्यायदर्शन के ऊपर महर्षि वात्स्यायन ने भाष्य किया। आजतक सभी विद्वान् वात्स्यायनभाष्य को न्याय का ग्रन्थ बतलाते हैं तथा दर्शन के व्याख्यानरूप अन्य 'रामरुद्री', 'दिनकरी' आदि बड़े-बड़े पुस्तक न्याय के ग्रन्थ कहलाते हैं। जब न्याय-व्याख्यानरूप वात्स्यायनभाष्य तथा 'रामरुद्री', 'दिनकरी' न्याय के ग्रन्थ हैं तो फिर वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थ वेद कैसे न होंगे और वे पुराण किस प्रकार हो जावेंगे? —पृ० ६८, पं० १९

उत्तर—आप पौराणिक पक्षपात से ऐसे अन्धे हो रहे हैं कि आपको मूल और व्याख्यान के भेद का भी ज्ञान नहीं रहा। श्रीमान्‌जी! जिस विषय की मूल पुस्तक का व्याख्यान किया जावे वह व्याख्यान उस विषय का तो कहावेगा किन्तु वह उस विषय का मूल न बन जावेगा, अपितु व्याख्यान ही रहेगा। और जहाँ भी वह मूल से विरोध करेगा वहाँ वह उस विषय में प्रमाण न माना जावेगा अपितु वहाँ मूल ही प्रमाण माना जावेगा और यदि उसमें विरोधी अंश अधिक शामिल हो जावेगा तो वह व्याख्यान कहाने का भी हक़दार न रहेगा अपितु उसका नाम भी तब्दील हो जावेगा। यह नियम आपकी बुद्धि में समावेश क्यों करने लगा, क्योंकि आपके दिमाग़ में तो वेदविरुद्ध शिक्षा देनेवाले ऐरे-ग़ैरे-नत्थूख़ैरे भागवतादि ग्रन्थों को भी वेद ही सिद्ध करने का पागलपन समावेश कर रहा है। अष्टाध्यायी का व्याख्यान महाभाष्य व्याकरणविषयक ग्रन्थ तो कहावेगा किन्तु वह अष्टाध्यायी न कहला सकेगा और जहाँ भी वह अष्टाध्यायी से विरोध करेगा वहाँ पर वह प्रमाण न होगा अपितु अष्टाध्यायी प्रमाण होगी। न्यायदर्शन के व्याख्यान, वात्स्यायण,

रामरुद्री, दिनकरी आदि न्यायविषयक ग्रन्थ तो कहावेंगे किन्तु वे न्यायदर्शन न कहा सकेंगे और जहाँ वे न्यायदर्शन से विरोध करेंगे वहाँ वे प्रमाण न होंगे अपितु न्यायदर्शन ही प्रमाण होगा। इसी प्रकार से ही वेदों के व्याख्यान ब्राह्मण आदि ग्रन्थ वेदविषय के ग्रन्थ तो कहा सकेंगे, किन्तु वेद न कहा सकेंगे और जहाँ उनका वेदों से विरोध होगा वहाँ वे प्रमाण न होंगे, अपितु वहाँ वेद ही प्रमाण होंगे, और चूँकि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास शामिल हो गये हैं, इसलिए वेद के व्याख्यान तथा ब्राह्मणग्रन्थ नाम होते हुए भी उनका नाम पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, नाराशंसी हो गया और यदि उनमें वेद के विरुद्ध सुरापान, मांसाहार, व्यभिचार, द्यूत, वेश्यागमन, चोरी, असत्यभाषण आदि कुकर्मों की आज्ञा देनेवाले पाठ शामिल कर दिये जावें और ऐसे काम करनेवाले पुरुषों का ही उनमें चरित्र भर दिया जावे तो वे भागवतादि ग्रन्थों के समान वेदों के व्याख्यान अथवा वेदविषयक ग्रन्थ भी कहाने के योग्य न रहेंगे, अतः ब्राह्मणग्रन्थों के वेद न होने में स्वामीजी का तृतीय हेतु सोलह आने सत्य है। जरा और भी सुनने की कृपा करें, चूँकि वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार हैं और वेद में सम्पूर्ण विद्याओं का मूल विद्यमान है, अतः संसार की सम्पूर्ण विद्याओं के ग्रन्थ वेद में वर्त्तमान मूलविद्या के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है। उदाहरणार्थ चार उपवेद हैं, वे वेदों में वर्त्तमान मूलविद्याओं के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है अपितु उनका नाम अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, और आयुर्वेद है और वेदों के छह अङ्ग भी वेद में वर्त्तमान मूल विद्याओं के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है अपितु उनका नाम शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है तथा वेदों के छह उपाङ्ग भी वेदों में वर्त्तमान मूलविद्याओं के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है अपितु उनका नाम न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा है। दश उपनिषद् भी वेद में वर्त्तमान मूलविद्या, ब्रह्मविद्या के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है अपितु उनका नाम ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक है। इसी प्रकार से ही ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद में वर्त्तमान मूलविद्याओं के ही व्याख्यान हैं, किन्तु उनका नाम वेद नहीं है अपितु उनका नाम शतपथ, ऐतरेय, सामविधान और गोपथ है और सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि आदि ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थ भी वेदों में वर्त्तमान धर्म के मूल सिद्धान्तों के ही व्याख्यान हैं, किन्तु इनका नाम वेद नहीं है और ये सम्पूर्ण वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हों किन्तु जहाँ पर भी ये वेद से विरोध करेंगे वहाँ ये प्रमाण न होंगे, अपितु वेद ही प्रमाण माने जावेंगे, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण तथा ये सम्पूर्ण ग्रन्थ ऋषि, मुनि, मनुष्यकृत होने से परतःप्रमाण हैं। आशा है कि स्वामीजी का तृतीत हेतु कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, क्योंकि वे वेदों के व्याख्यान हैं' अब आपको पूर्ण रूप से समझ में आ जावेगा।

(४८८) प्रश्न—चतुर्थ हेतु में यह दिखलाया गया है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि एक कात्यायण ऋषि को छोड़कर अन्य किसी ऋषि ने भी उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी, अतएव वे पुराण हैं'। ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं इसको एक नहीं, समस्त ऋषियों ने माना है।

—पृ० ६९, पं० २६

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है और स्वामीजी की प्रतिज्ञा सर्वथा सत्य है कि "कात्यायन ऋषि के विना किसी ने भी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं माना।"

आपके प्रमाणों की भी आगे परीक्षा हुई जाती है, निश्चिन्त रहें।

(४८९) प्रश्न—महर्षि जैमिनिजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। —मीमांसा० अ० २ सू० ३२

शेषे ब्राह्मणशब्दः। —मीमांसा० अ० २ सू० ३३

ऊपर के सूत्र का अर्थ है कि प्रेरणा लक्षण श्रुति ही मन्त्र है। मन्त्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है।

कहिए, जैमिनी ने दो सूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद माना या नहीं? पहले सूत्र में मन्त्रभाग को वेद बतलाया और दूसरे में शेष वेद को ब्राह्मण शब्द से याद किया। —पृ० ७०, पं० १

उत्तर—आपने सूत्रों का अर्थ ठीक नहीं किया। जैमिनिजी तो इन सूत्रों में वेद तथा ब्राह्मणों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। सूत्रों के वास्तविक अर्थ इस प्रकार हैं—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥ —मीमांसा अ० २ पा० १ सू० ३२

अर्थ—(तच्चोदकेषु) अग्निहोत्रादि कर्म के विधायक तथा सिद्धार्थ के अभिधायक वेदवाक्यों की **(मन्त्राख्या)** मन्त्रसंज्ञा जाननी चाहिए।

शेषे ब्राह्मणशब्दः। —मीमांसा अ० २ पा० १ सू० ३३

अर्थ—(शेषे) उक्त मन्त्रों के व्याख्यानभूत शतपथादि ग्रन्थों की **(ब्राह्मणशब्दः)** ब्राह्मण संज्ञा है।

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं और स्वामीजी की यह प्रतिज्ञा कि कात्यायन के बिना किसी ऋषि ने ब्राह्मणग्रन्थों की वेद संज्ञा नहीं मानी, बिल्कुल सत्य है।

(४९०) प्रश्न—महर्षि गौतमजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसेकि—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः॥ —न्याय द० अ० २ आ० १ सू० ५७

इस सूत्र में 'तत्' पद से वेद ही का ग्रहण है।

उस वेद का प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उसके वाक्यों में असत्य, पूर्वापरविरोध, दो बार कहना इत्यादि दोष हैं।

असत्य में उदाहरण—'**पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत्**', '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' यहाँ वेद में असत्य दोष को दिखाने के लिए दोनों प्रमाण मन्त्रभाग के नहीं दिये अपितु ब्राह्मणभाग के दिये हैं। इससे सिद्ध है कि गौतममुनि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं। —पृ० ७०, पं० ११

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा ग़लत है कि इस सूत्र में 'तत्' शब्द से वेद का ग्रहण है। यहाँ 'तत्' शब्द से वेद का नहीं अपितु 'शब्द' का ग्रहण है और वह शब्द पद '**शब्दार्थ-व्यवस्थानादप्रतिषेधः**। न्याय० अ० २ आ० १ सू० ५५' में इस सूत्र से पूर्व मौजूद है, जिसकी ओर तत् शब्द इशारा कर रहा है। इसी बात को वात्स्यायन मुनि ने स्पष्ट कर दिया है, जैसाकि—

"तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवानृषिः। शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति"॥

—वात्स्यायनभाष्य

भाषार्थ—'तत्' शब्द से शब्दविशेष का वर्णन भगवान् ऋषि गौतम करते हैं। शब्द का प्रमाणत्व न होगा।

अतः सूत्र का अर्थ यह हुआ कि उस शब्द का प्रमाण न हो सकेगा कि जिसमें अनृत, व्याघात, और पुनरुक्त दोष होंगे। यहाँ शब्द में दोष दिखाते हुए उपर्युक्त ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य दिये हैं। वेद में दोष दिखाते हुए नहीं। इससे सिद्ध है कि गौतम मुनि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानते अपितु लौकिक शब्दप्रमाण मानते हैं।

(४९१) प्रश्न—महर्षि कणादजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

द्रष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय। —वैशे०द०अ० १० आ० २ सू० ८

वेद में देखे हुए, जिनका प्रयोजन इस लोक में ही दीखता है उनका तथा जब दृष्ट ऐहिक फल न मिले तब भी अनुष्ठान करना पारलौकिक फल के लिए माननीय है। दृष्ट और अदृष्ट फल दोनों का ही विधान ब्राह्मणग्रन्थों में है और सूत्र में दृष्टादृष्ट फल वेद में बतलाया गया है, अतः मानना पड़ेगा कि महर्षि कणाद ब्राह्मणों को वेद मानते हैं। —पृ० ७१, पं० ३

उत्तर—आपने सूत्र का अर्थ बिल्कुल अशुद्ध किया है। सूत्र का वास्तविक अर्थ इसप्रकार है—

(दृष्टप्रयोजनानाम्) इस जन्म तथा परजन्म दोनों में फल के जनक **(दृष्टानाम्)** वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान से **(दृष्टाभावे)** इस जन्म में फल प्राप्त न होने पर विश्वास रखना चाहिए कि **(प्रयोगः)** उक्त कर्मों का अनुष्ठान **(अभ्युदयाय)** अगले जन्म में अवश्य फल देगा।

दृष्ट तथा अदृष्ट, इस जन्म परजन्म में फल देनेवाले कर्मों का विधान मूल मन्त्रसंहिता वेद में विद्यमान है, जैसाकि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—यजुः० ४०।३

यहाँ पर आत्मघात करनेवाले को इस जन्म तथा परजन्म में दुःख का भागी बताया है, अतः महर्षि कणादमुनि मन्त्रसंहिता को ही वेद मानते हैं, ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानते हैं।

(४९२) प्रश्न—महर्षि वात्स्यायणजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

वात्स्यायणभाष्यम्—पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृष्यते। दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यं 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते—अर्थात् वेद में लिखा है जिसको पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करे, परन्तु उक्त यज्ञ करने पर भी बहुत मनुष्यों के पुत्र नहीं होते, अतः सिद्ध हुआ कि जब प्रत्यक्ष फल में मिथ्यात्व है तो अदृष्ट फल जैसाकि 'अग्निहोत्र करने से स्वर्ग होता है' यह भी मिथ्या है।

यहाँ वेद का मिथ्यात्व दिखाने के लिए चूँकि ब्राह्मणग्रन्थ के प्रमाण दिये हैं, अतः वात्स्यायनमुनि ब्राह्मणों को वेद मानते हैं। —पृ० ७१, पं० १२

उत्तर—हम प्रश्न (नं० ४९०) के उत्तर में सिद्ध कर आये हैं कि वात्स्यायनमुनि 'तत्' पद से लौकिक शब्दप्रमाण का ग्रहण करके उपर्युक्त ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण देते हैं। इससे यह सिद्ध है कि वात्स्यायनमुनि ब्राह्मणग्रन्थों को लौकिक शब्दप्रमाण में मानते हैं, वेद को नहीं मानते। आपने वात्स्यायनभाष्य चुरा लिया है, वह इस प्रकार है—

''तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवान् ऋषिः। शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति। कस्मात्? अनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ। पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या इत्यादि।''

इतना पाठ चुराकर वात्स्यायनभाष्य पेश करना सत्यवादियों का काम नहीं है।

स्वामीजी की प्रतिज्ञा सत्य है कि कात्यायन के बिना कोई ऋषि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानता।

(४९६) प्रश्न—महर्षि व्यासजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्त्वात्। —वेदान्त० द० अ० २ पा० १ सू० २७

ब्रह्म प्रत्यक्ष वा अनुमान का विषय नहीं है। केवल शब्द मूल है, अर्थात् शब्द ही प्रमाणक है। मूल शब्द यहाँ प्रमाणवाचक है। शब्द ही प्रमाण में साध्य होने से श्रुति से ब्रह्म का निरवयव होना वा कारण होना सिद्ध है। भगवान् व्यासजी ने उपनिषदों को वेद मानकर ही इस सूत्र को रचा है और उपनिषदें ब्राह्मणग्रन्थों का भाग हैं, इससे सिद्ध है कि व्यासजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं। —पृ० ७१, पं० २३

उत्तर—सूत्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(श्रुतेः) श्रुति से **(तु)** किन्तु **(शब्दमूलत्वात्)** शब्द प्रमाणक होने से, अर्थात् श्रुति से वह ब्रह्म निराकार, निरवयव पाया जाता है फिर उसका परिमाण कैसे?

आपका यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि व्यासजी उपनिषदों को वेद मानते थे, जैसेकि—

एतावानस्य महिमा। —यजुः० ३१।३

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्—यजुः० ४०।८, अतः व्यासजी ने श्रुति शब्द से मन्त्रसंहिता, मूलवेद का ही प्रमाण दिया है। इससे सिद्ध है कि व्यासजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानते थे।

(४९४) प्रश्न—महर्षि बौधायण ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः। —बौधायन० सूत्र

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। —पृ० ७२, पं० १५

उत्तर—हमारे सामने इस समय बौधायनधर्मसूत्र विद्यमान है। इसके पीछे समस्त सूत्रों की पदसूची दी हुई है। इसमें "मन्त्रब्राह्मण" कोई पद ही विद्यमान नहीं है। सारांश यह कि पुस्तक में यह सूत्र है ही नहीं। आपने जनता को धोखा देने के लिए कपोलकल्पित सूत्र घड़कर बौधायनसूत्र का नाम लिख दिया। इस प्रकार के घृणित काम करते हुए आपको शरम आनी चाहिए!

इससे सिद्ध है कि बौधायण ऋषि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानते।

(४९५) प्रश्न—महर्षि आपस्तम्ब ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही नाम वेद है। —पृ० ७२, पं० २०

उत्तर—यहाँ पर भी आपने सुफ़ेद झूठ बोला है। हमारे सामने आपस्तम्बगृह्यसूत्र विद्यान है। इसके पीछे भी समस्त सूत्रों की पदसूची दी हुई है। इस सूची में 'मन्त्रब्राह्मण' कोई पद विद्यमान नहीं है। सारांश यह कि इस पुस्तक में यह सूत्र क़तई नहीं है। अब आप सोचें कि आपको इस आत्मघात के लिए कौन-सा नरक मिलना चाहिए।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपस्तम्ब ऋषि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानते, अतः स्वामीजी की यह प्रतिज्ञा सर्वथा सत्य है कि—"कात्यायन के बिना किसी भी ऋषि ने ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं माना"।

(४९६) प्रश्न—महर्षि मनुजी ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, जैसाकि—

उदितऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

मनुजी का कथन है वेद में वचन मिलता है कि सूर्य के उदय और अनुदयकाल में तथा सूर्य और नक्षत्रों के अदृश्य काल में भी हवन करना चाहिए।

"उदिते जुहोति", "अनुदिते जुहोति"।

ये सब श्रुतियाँ ब्राह्मणभाग की हैं और मनुजी ने इनको वैदिकी श्रुति कहा है। अब पाठक ही बतलावें कि मनु ने ब्राह्मणों को वेद माना या नहीं? —पृ० ७२, पं० २६

उत्तर—मनुजी महाराज ने इस श्लोक में ब्राह्मणग्रन्थों को श्रुति नहीं लिखा और न ही आपके दिये हुए ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य इस श्लोक का आधार हैं, अपितु मनु ने इस श्लोक के द्वारा वेद के दो मन्त्रों में आये हुए होम के समय की व्याख्या की है। वेद मन्त्र ये हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ ३॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥ ४॥

—अथर्व० कां० १९ सू० ५५

जो सायं-सायं हवन किया जाता है वह प्रात:काल तक सुख का देनेवाला होता है॥ ३॥ जो प्रात:-प्रात: हवन किया जाता है वह सायंकाल तक सुख का देनेवाला होता है॥ ४॥ यहाँ पर इन मन्त्रों में यह शङ्का पैदा होती थी कि इन मन्त्रों में प्रात: और सायं शब्द दो-दो बार क्यों आया है? इसपर मनुजी समाधान करते हैं कि इन मन्त्रों में प्रात: तथा सायं शब्दों का दो-दो बार आना व्यर्थ नहीं है अपितु इनका प्रयोजन यह है कि वेद बतलाता है कि होम करने का समय (प्रात:) सूर्य उदय होने पर (प्रात:) प्रात: से प्रात: अर्थात् सूर्य उदय से पूर्व भी है। (सायं) शाम को सूर्य के रहते हुए (सायं) सायं से सायं अर्थात् सूर्य के अस्त होने पर भी हवन का समय है। सारांश यह कि हवनयज्ञ हर समय किया जा सकता है। इसी बात का मनुजी महाराज ने अपने श्लोक में वर्णन किया है कि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुति:॥

—मनु० २।१५

(उदिते) प्रात: और सायं सूर्य के विद्यमान होने पर **(अनुदिते)** सूर्य के निकलने से पहले **(समयाध्युषिते)** और सूर्य के अस्त होने के पश्चात् तारों की छाया में हवन-यज्ञ सर्वथा हर समय किया जा सकता है। यही वेद की श्रुति का अभिप्राय है॥ १५॥

इससे सिद्ध होता है कि मनुजी महाराज ब्राह्मणग्रन्थों को श्रुति या वेद नहीं मानते, अपितु चार मूलसंहिताओं को ही वेद वा श्रुति मानते हैं, अत: स्वामीजी की यह प्रतिज्ञा सर्वथा सत्य है कि—''कात्यायनमुनि के बिना किसी भी ऋषि ने ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं माना''।

(४९७) प्रश्न—ब्राह्मण वेद नहीं हैं, इसमें पाँचवाँ कारण यह बतलाया गया है कि ब्राह्मणों में इतिहास है, इस कारण वे वेद नहीं। इसपर हमारा कथन है कि मन्त्रभाग में भी इतिहास है जैसेकि ''**सं मा तपन्त्यभित:**' इत्यादि ऋ० १।१०५' यह सारा सूक्त ही कुएँ में गिरे हुए त्रित को प्रकाशित हुआ। इस सूक्त में जो वाक्य हैं वे इतिहास-मिश्रित हैं। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्त ने भी इसमें इतिहास माना है। हमने यहाँ पर एक इतिहास दिखला दिया, किन्तु मन्त्रभाग में सैकड़ों इतिहास हैं। यदि इतिहास होने से ब्राह्मण वेद नहीं तो मन्त्रभाग भी वेद नहीं।

—पृ० ७३, पं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में लेशमात्र भी लौकिक इतिहास नहीं है और न ही सारे सूक्त में कोई लौकिक इतिहास है। इस सूक्त में किसी लौकिक मनुष्य त्रित का इतिहास बतलाना पौराणिक कल्पना ही है, चाहे आप वर्णन करें चाहे आपका निरुक्त। देखिए, इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

सं मा तपन्त्यभित: सपत्नीरिव पर्शव:।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्य: स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

—ऋ० १।१०।८

भाषार्थ—हे असंख्य उत्तम विचारयुक्त वा अनेक उत्तम-उत्तम कर्म करनेवाले न्यायाधीश! आपकी प्रजा वा सेना में रहने और धर्म के गानेवाला मैं हूँ। उस मुझको औरों को मारने और पास में रहनेवाले मनुष्य आदि प्राणी जैसे एक पति को बहुत स्त्रियाँ दु:खी करती हैं ऐसे दु:ख देते हैं। दूसरे के मन में व्यथा उत्पन्न करनेहारे मूषे जैसे अशुद्ध सूतों को काट-काटकर खाते हैं वैसे मुझे सन्ताप देते हैं, उन अन्याय करनेवाले जनों को आप यथावत् शिक्षा करें और मुझ पदार्थविद्या के जाननेवाले के पास से इस द्युलोक और पृथिवी की भाँति राजा प्रजाजनसमूह को अपना धन समझो॥ ८॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है। हे न्याय करनेवाले अध्यक्ष आदि मनुष्यो! तुम, जैसे

सौतेली स्त्री अपने पति को कष्ट देती है वा जैसे अपने प्रयोजनमात्र का बनाव-बिगाड़ देखनेवाले मूषे पराये पदार्थों का अच्छी प्रकार नाश करते हैं और जैसे व्यभिचारिणी वेश्या आदि कामिनी स्त्री दमकती हुई कामीजन के लिंग आदि रोगरूपी कुकर्म के द्वारा उसके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के करने की रुकावट से उस कामीजन को पीड़ा देती हैं, वैसे ही जो डाकू, चोर चवाई, अताई, लड़ाई-भिड़ाई करनेवाले झूठ की प्रतीति और झूठे कामों की बातों से हम लोगों को क्लेश देते हैं, उनको अच्छी प्रकार दण्ड देकर हम लोगों को तथा उनको भी निरन्तर पालो, ऐसा करने के बिना राज्य का ऐश्वर्य नहीं बढ़ सकता॥८॥

इसी प्रकार का अर्थ समस्त सूक्त का है, चूँकि वेदों में लौकिक मनुष्यों के इतिहासपरक चरित्रों का वर्णन नहीं है और ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास का वर्णन है, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं अपितु पुराण हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाणों को भी पढ़ने की कृपा करें—

यत्र क्वापि परमप्रमाणाधौरेयभूतेषु प्रथमं ग्रन्थेषु वेदशब्दोल्लेखस्ततश्च पुराणस्य। यथा तैत्तिरीयारण्यके। 'सह वै' इति प्रपाठके 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान्। —तै० आ० २।९।१ ऋग्वेदो...इतिहासः पुराणं विद्या बृ० ४।१।२।....**कथ्यते। तत्र खलु वेदान्तः पात्येव कश्चिद्भागः पुराणपदवाच्यः 'अत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् इत्यादीनि सृष्ट्यादि प्रतिपादकानि पुराणानि। इति बृहदारण्यकस्थपुराणपदस्यापि 'असद्वा इदमग्र एवासीदित्यादि' एवंप्रकारिकयैव रीत्या श्रीभगवत्पूज्यपादा अपि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये लिलिखुः। एवमन्यत्रापि।**

—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण भाग २ भूमिका पृष्ठ २-३, आनन्दाश्रम पूना में छपा शालिवाहन शकाब्दः १८५८ ई० सन् १९३५

(४९८) प्रश्न—ब्राह्मणग्रन्थ पुराण नहीं हो सकते, पुराण तो ब्रह्मपुराणादि अठारह ही पुस्तक रहेंगे। —पृ० ७४, पं० १३

उत्तर—ये भागवतादि अष्टादश ग्रन्थ पुराण कहाने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये ग्रन्थ कपोलकल्पित और अत्यन्त नवीन हैं। इनका नाम किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं आता। रामायण तथा महाभारत में भी इन भागवतादि अठारह पुराणों का नाम नहीं है और इनके अन्दर असम्भव तथा वेदविरुद्ध गाथाएँ और शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं, अतः शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थ ही पुराण कहाने के योग्य हैं, भागवतादि अठारह ग्रन्थ पुराण कहाने के योग्य नहीं हैं।

(४९९) प्रश्न—प्रथम—किसी भी ब्राह्मण के आरम्भ या अन्त में पुराण शब्द नहीं है और न किसी काण्ड की समाप्ति पर ही पुराण शब्द है। जब उनमें पुराण का प्रयोग ही नहीं फिर उनको पुराण कैसे माना जावे? इसके विरुद्ध अठारह पुराणों के प्रति स्कन्ध पर 'इति श्री महापुराणे' लिखा है—आरम्भ में पुराण, अन्त में पुराण और प्रत्येक अध्याय में पुराण। —पृ० ७४, पं० १६

उत्तर—किसी ग्रन्थ का विषय जानने के लिए यह कोई कसौटी नहीं है कि उसके आदि, अन्त और प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वह विषय लिखा हुआ हो, अपितु देखना यह होगा कि उस ग्रन्थ में विषय क्या प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ रामायण तथा महाभारत के आदि और अन्त में इतिहास शब्द लिखा हुआ नहीं है और इनके प्रत्येक काण्ड, पर्व तथा अध्याय की समाप्ति पर भी इतिहास शब्द लिखा हुआ नहीं है तो क्या रामायण और महाभारत इतिहासग्रन्थ नहीं हैं? तथा आश्वलायनगृह्यसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और गोभिलगृह्यसूत्र इन तीनों ग्रन्थों के आदि, अन्त तथा मध्य में कल्प शब्द लिखा हुआ नहीं तो आपके विचार में क्या ये तीनों ग्रन्थ कल्पसूत्र नहीं हैं? हमारे सामने एक ग्रन्थ है जिसका नाम है ''श्रीविष्णु अग्रसेनवंशपुराण'', इसके आदि,

अन्त और प्रत्येक पृष्ठ पर पुराण शब्द है तो क्या आप इसे उन्नीसवाँ पुराण मानने को तैयार हैं? कदापि नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि किसी ग्रन्थ का विषय जानने के लिए उसके अन्दर क्या लिखा है, यह जानना आवश्यक है, केवल आदि, अन्त और मध्य में नाम का होना या न होना आवश्यक नहीं है। इस नियम के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थों के आदि, अन्त और मध्य में पुराण शब्द के न होते हुए भी ब्राह्मणग्रन्थ पुराण हैं और भागवतादि ग्रन्थों के आदि, अन्त और मध्य में पुराण शब्द होते हुए भी वे पुराण कहाने के योग्य नहीं हैं। और आपके नियम के अनुसार भी चारों वेदों के आदि, अन्त और मध्य में वेद शब्द विद्यमान है और शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों के आदि, अन्त और मध्य में वेद शब्द विद्यमान नहीं है, इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५००) प्रश्न—द्वितीय—ब्राह्मणों में प्रायः याज्ञिक कर्मों का वर्णन है और याज्ञिक कर्म वेद का प्रधान अङ्ग वेदों में वर्णित है। इस कारण ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं। 'चत्वारि शृंगा' इत्यादि [यजुः० १७।९१] इस मन्त्र तथा इसपर निरुक्त से यह सिद्ध हो गया कि ब्राह्मणों में यज्ञकर्म का वर्णन है, अतएव वे पुराण नहीं किन्तु वेद हैं, क्योंकि यज्ञ की विधि वेदों में ही है।

—पृ० ७४, पं० २१

उत्तर—हमने प्रश्न (नं० ४८४) के उत्तर में इस मन्त्र तथा इसके निरुक्त को देकर पूर्णरूप से सिद्ध कर दिया है कि इस निरुक्त से तो "**त्रिधाबद्धस्त्रेधाबद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः**" यह सिद्ध होता है कि यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प से बँधा हुआ है, इससे मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प भिन्न वस्तु हैं, अतः सिद्ध है कि मन्त्रभाग का नाम वेद तथा व्याख्यानभाग का नाम ब्राह्मण और कल्प है, वरना यज्ञ को वेद से बँधा हुआ कहना ही पर्याप्त था। वेद कहने से ही ब्राह्मण तथा कल्प का ग्रहण हो जाता किन्तु मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प तीनों से बँधा कहने से सिद्ध है कि तीनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं।

ब्राह्मणों में जो याज्ञिक कर्मों का वर्णन है, वह वेद का अनुवादमात्र ही है जैसाकि इस विषय में निरुक्त भी कहता है कि—

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्॥ २॥
यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इत्युदितानुवादः स भवति॥५॥

—निरु० अ० १ खं० १६

भाषार्थ—यही यज्ञ की कर्मसम्पत्ति है, जो मन्त्रों से विधान किया जाता है। जो किये जानेवाले कर्म को स्वयं ऋग्वेद और यजुर्वेद कहता है, और ब्राह्मण भी उसी अर्थ को कहता है॥२॥ जो यह कहा जाता है कि मन्त्र, ब्राह्मण से रूप सम्पन्न किये जाते हैं सो वह तो अनुवाद ही किया हुआ है॥५॥ ब्राह्मणग्रन्थों से भी यही विदित होता है कि वे वेद के प्रमाण—प्रतीकें दे-देकर यज्ञ का विधान करते हैं, जैसेकि—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति। अभ्र्या च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवीति॥ ९॥ [शतपथ० १४।१।२] इत्यादि-इत्यादि। इस सारे चौदहवें काण्ड में यजुर्वेद के अध्याय ३७ की प्रतीकें देकर यज्ञ का विधान किया हुआ है, ऊपर के पाठ में भी "देवी द्यावापृथिवि" यजुः० ३७।३ की प्रतीक दी हुई है, अतः ब्राह्मणों में याज्ञिक कर्म वेद का अनुवादमात्र है, कोई नई वस्तु नहीं है।

फिर आपने यह युक्ति दी कि चूँकि वेद में याज्ञिक कर्मों का वर्णन है, अतः याज्ञिक कर्म वर्णन की समानता से ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं।

श्रीमान्‌जी! केवल साधर्म्य से दो वस्तु एक नहीं हो जाया करतीं, वैधर्म्य दोनों में भेदकारक होता है। जैसे यदि कोई कहने लगे कि गधे के भी कान हैं और आपके भी दो कान हैं, अतः

आप भी गधे हैं तो हम फौरन रोक देंगे कि नहीं, केवल दो कानों के साधर्म्य से शास्त्रीजी को गधा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गधे के पूँछ है शास्त्रीजी के पूँछ नहीं है, इत्यादि। इसी प्रकार से ही केवल यज्ञवर्णन के साधर्म्य से वेद तथा ब्राह्मण एक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें वैधर्म्य भेदकारक है, अर्थात् वेदों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास नहीं है, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र सम्बन्धी इतिहास मौजूद हैं, जैसाकि—

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः। मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञेव कात्यायनी, इत्यादि। —शतपथ० १४।७।३।१ से

भाषार्थ—याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं, एक का नाम मैत्रेयी तथा दूसरी का नाम कात्यायनी था, उन दोनों में से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी साधारण स्त्रियों की-सी बुद्धि रखती थी, इत्यादि।

इससे सिद्ध हो गया कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०१) प्रश्न—तृतीय—वैदिक लोगों के यहाँ श्रौत और स्मार्त दो प्रकार के कर्म होते हैं। जिसमें वेद के मन्त्र बोले जावें और वेद ही में जिसकी विधि मिले उस कर्म का नाम श्रौत कर्म है। मन्त्र 'मन्त्रसंहिता' से लिये जाते हैं, और विधि ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों से ली जाती है। ऐसे कर्म का नाम श्रौतकर्म है। श्रौत का अर्थ है श्रुति नाम वेद का बतलाया कर्म, जब इनका बतलाया हुआ कर्म वैदिक कर्म कहलाता है तब ये पुराण नहीं, किन्तु वेद हैं। —पृ० ७५, पं० १२

उत्तर—आप स्मार्त कर्म किनको कहते हैं? यदि वे कर्म वेदानुकूल होते हैं तो उनको स्मार्त कहने की आवश्यकता ही नहीं, वे वेदानुकूल होने से वैदिक या श्रौत ही हैं, और यदि वे स्मार्त कर्म वेद के विरुद्ध हैं तो वे पाप होने से कर्त्तव्य ही नहीं हैं। वे वैदिक लोगों के घरों में हो ही नहीं सकते। वैदिक कर्मों का अर्थ है वेदानुकूल कर्म। उनके करने की आज्ञा वेद में होती है और उनके करने की विस्तृत विधि को वेदानुकूल ग्रन्थ वर्णन करते हैं। यदि वह विधि वेद के विरुद्ध हो तो प्रमाण न होगी, अतः यदि किन्हीं वेदानुकूल कर्मों की विस्तृत विधि को ब्राह्मणग्रन्थ वर्णन करते हैं तो वे वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वेदानुकूल हैं। जहाँ वे ब्राह्मणग्रन्थ वेद के विरुद्ध होंगे वहाँ वे प्रमाण न होंगे, अपितु वेद प्रमाण होंगे, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं अपितु वेद के मन्त्रों की अर्थशक्ति को कथन करनेवाले कल्पग्रन्थ हैं। यदि इनमें लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास न होते तो इनका नाम ब्राह्मण और कल्प ही होता, किन्तु इन ब्राह्माणग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सबन्धी इतिहास विद्यमान हैं, अतः इनका नाम ब्राह्मण और कल्प के साथ-साथ पुराण, गाथा और नाराशंसी भी हो गया।?

ब्राह्मणग्रन्थ में इतिहास जैसे—

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे। अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज स होवाच जनको वैदेहो याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः, इत्यादि॥ —शत० १४।६।१०।१

जनक वैदेह नाम का राजा था, वहाँ उसके पास याज्ञवल्क्य ऋषि आये, वह वैदेह जनक बोला हे याज्ञवल्क्य! आप कैसे आये हैं? इत्यादि इतिहास विद्यमान है।

इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०२) प्रश्न—चतुर्थ— जितने ब्राह्मण हैं वे सब किसी-न-किसी वेद की शाखा के ब्राह्मण हैं। जैसे यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा का ब्राह्मण शतपथ है। जब ये शाखाओं के ब्राह्मण हैं, तो फिर पुराण कैसे हो जावेंगे, तब तो वेद ही रहेंगे। —पृ० ७५, पं० १८

उत्तर—श्रीमानूजी! शाखाएँ तो स्वयं वेद का व्याख्यान होने से परतःप्रमाण हैं और आपके कथनानुसार ब्राह्मण शाखाओं के व्याख्यान हैं तो फिर ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान नहीं, अपितु

अनुव्याख्यान हुए। ऐसी स्थिति में जब शाखा ही वेद नहीं हैं तो ब्राह्मणों को किसी स्थिति में भी वेद नहीं माना जा सकता। ४० अध्याय से युक्त यजुर्वेद मन्त्रसंहिता शाखा नहीं है, अपितु मूल वेद है और शतपथब्राह्मण उसका व्याख्यान है, जो परत:प्रमाण है। यदि शतपथ में कोई बात वेद के विरुद्ध होगी तो वहाँ शतपथ प्रमाण न होगा अपितु यजुर्वेद प्रमाण होगा। यदि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक पुरुषों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास न होते तो इनकी पुराण संज्ञा न हो सकती, चूँकि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक पुरुषों के चरित्रसम्बन्धी इतिहास विद्यमान हैं, अत: इनकी ब्राह्मणसंज्ञा के साथ-साथ पुराणसंज्ञा भी हो गई।

ब्राह्मणग्रन्थों में इतिहास है, जैसेकि—

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः। पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा इति, इत्यादि। —शतपथ० १४।९।१।१

भाषार्थ—अरुणी का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालों की सभा में आया उस जैवल, प्रवाहण तथा परिचारयमाण को देखकर कुमारों ने अभिवादन किया, इत्यादि मौजूद है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०३) प्रश्न—पञ्चम—ब्राह्मणग्रन्थ ब्राह्मणभाग कहाते हैं। भाग नाम एक हिस्से का है। जहाँ पर हिस्सा अर्थात् भाग होता है वहाँ पर हिस्सेवाला भी होता है। तो वह ग्रन्थ कौन है कि ब्राह्मणग्रन्थ जिसके भाग हैं? ब्राह्मणसमुदाय पुराण का भाग नहीं किन्तु वेद का भाग है, अतएव ये पुराण नहीं हैं, वेद हैं। —पृ० ७५, पं० २१

उत्तर—श्रीमान्जी! ये किसी ग्रन्थ के भाग नहीं हैं, अपितु वेदविषय के दो भाग हैं। एक है मन्त्रभाग, मूल संहिताभाग जिसका नाम है वेद और दूसरा है व्याख्याभाग जिसका नाम है ब्राह्मण।

ब्राह्मणभाग व्याख्याभाग है, वेद नहीं है, जैसेकि—

इषे त्वोर्जे त्वेति॥ —शतपथ० कां० १ अ० ७ इत्यादि। सारे शतपथ में यजुर्वेद के मन्त्रों की प्रतीकें देकर व्याख्या की हैं, अत: शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद की व्याख्या है, वेद नहीं है, ब्राह्मण और वेद भिन्न हैं।

(१) **द्वितीया ब्राह्मणे॥** —अष्टाध्यायी अ० २ पा० ३ सू० ६०

(२) **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥** —अष्टा० अ० २ पा० ३ सू० ६२

यदि ब्राह्मण और छन्द दोनों की वेद संज्ञा होती तो दूसरे सूत्र में छन्दसि पद देना व्यर्थ हो जाता, क्योंकि पहले सूत्र से ब्राह्मणपद की अनुवृत्ति से वही काम चल जाता। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु व्याख्याभाग हैं और लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास के ब्राह्मणग्रन्थों में शामिल होने के कारण इनका नाम पुराण भी हो गया। इतिहास, जैसेकि—

एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः। जनमेजयं पारिक्षितं याजयांचकार तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपजघान सर्वां ह वै पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजेत्॥ १॥ इत्यादि। —शतपथ० १३।५।४।१

भाषार्थ—इससे इन्द्र दैवाप शौनक ने परीक्षित के पुत्र जनमेजय का यज्ञ करवाया। इस यज्ञ से उसके सारे पापकृत्य तथा ब्रह्महत्या का नाश कर दिया। जो आदमी अश्वमेध यज्ञ करता है वह सारे पापकृत्य तथा ब्रह्महत्या को नष्ट कर देता है॥ १॥ इत्यादि मौजूद है।

इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०४) प्रश्न—षष्ठ—जहाँ-जहाँ पर पुराण का पाठ उद्धृत किया गया है, वहाँ पर अमुक

पुराण में है ऐसा लिखा है और जिस ग्रन्थ में ब्राह्मणों का पाठ उद्धृत किया वहाँ श्रुति के नाम से याद किया गया है। यदि ये पुराण होते तो लिखा जाता कि यह शतपथपुराण का वचन है, किन्तु ऐसा कहीं नहीं मिलता, अतएव ये पुराण नहीं। —पृ० ७५, पं० २५

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा मिथ्या है कि जहाँ पुराण का प्रमाण दिया जाता है वहाँ पर किसी भागवतादि पुराण का नाम लिखा जाता है, जैसाकि—

श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा॥ १४॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद्दशभ्रातृनेकनाम्नः प्रचेतसः॥ १५॥
[गीता० सं० में अध्याय १९५]—महा० आदि० अ० १९८

श्रूयते चाप्ययं श्लोकः पुराणप्रथितः क्षितौ॥ २७॥
ब्रह्मचर्येऽपि वर्तन्त्याः साधव्या ह्यपि च श्रूयते।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियः॥ २८॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ७३

फरमाइए, ये श्लोक जो महाभारत तथा भविष्य में पुराण के नाम से दिये हैं, इनमें भागवतादि अष्टादश पुराणों का नाम कहाँ है? यदि उस समय ये भागवतादि पुराण होते तो उनमें से किसी का नाम होता। पता लगता है कि महाभारत के समय तो यह भागवतादि विद्यमान न थे तथा भविष्यवाला इनको पुराण मानता नहीं, अतः सम्भव है दोनों का इशारा ब्राह्मणग्रन्थों की ओर ही हो, और आपकी दूसरी प्रतिज्ञा भी मिथ्या है कि जहाँ-जहाँ भी ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण दिया है वहाँ-वहाँ श्रुति कहकर दिया है, जैसाकि—

अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते—
''ऊरू प्रथस्वेति प्रथयति'' ''प्रोहाणीति प्रोहति''॥ ५॥ —निरु० १ अ० खं० १५

यहाँ पर ब्राह्मणग्रन्थों के दो पाठ श्रुति के नाम से नहीं अपितु ब्राह्मण के नाम से ही दिये हैं और पुराण इनका नाम इस कारण से पड़ा कि इनमें लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास मौजूद हैं—

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच भद्रेष्ववसाम पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति॥ १॥ इत्यादि॥ —शतपथ० १४।६।७।१

भाषार्थ—उसको आरुणि के पुत्र उद्दालक ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य! हम लोग भद्र देश में काप्यपतञ्जल के घरों में यज्ञ विद्या पढ़ते हुए निवास करते थे, उसकी स्त्री को गन्धर्व ने ग्रहण कर रक्खा था। हमने उससे पूछा कि तू कौन है? उसने कहा कि मैं अथर्व का पुत्र कबन्ध हूँ॥ १॥ इत्यादि इतिहास मौजूद है, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०५) प्रश्न—सप्तम—किसी भी ऋषि ने इनके विषय मे पुराण होने की सम्मति नहीं दी, अतएव ये पुराण नहीं हैं। —पृ० ७६, पं० १

उत्तर—ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों से भिन्न तथा पुराणादि संज्ञा से युक्त आश्वलायन ऋषि ने माना है, जैसाकि—

अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचोयजूंषि सामान्यथर्वांगिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति॥ १॥ —आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३।

भाषार्थ—स्वाध्याय करे ऋग्वेद का, यजुर्वेद का, सामवेद और अथर्ववेद का तथा कल्प, गाथा, नाराशंसी, पुराण नामवाले ब्राह्मणग्रन्थों का॥ १॥

यहाँ पर स्पष्टरूप से ब्राह्मणों को चारों वेदों से भिन्न तथा पुराणादि नामवाला वर्णन किया है।

पाणिनी ऋषि ने ब्राह्मणों की पुराणसंज्ञा मानी है, जैसाकि—

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु॥ —अष्टा० अ० ४ पा० ३ सू० १०५

यहाँ पर स्पष्टरूप से ब्राह्मणग्रन्थों की पुराण और कल्प संज्ञा बतलाई है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, अपितु पुराण हैं।

(५०६) प्रश्न—अष्टम—वेद के प्रादुर्भाव के साथ इनका प्रादुर्भाव हुआ है और प्रादुर्भावविधायक प्रमाणों में ब्राह्मण पृथक् और पुराण पृथक् हैं, अतएव ये पुराण नहीं। ब्राह्मण और पुराणों की पृथक्ता में हम गोपथब्राह्मण की श्रुति ऊपर दे आये हैं। —पृ० ७६, पं० ३

उत्तर—हम प्रश्न (नं० ४७४) में इस बात का उत्तर दे आये हैं कि गोपथब्राह्मण में ग्रन्थों के प्रादुर्भाव का वर्णन नहीं है, अपितु वेदों द्वारा कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, पुराणादि विद्याओं के प्रकट होने का वर्णन है। यदि यह मान लिया जावे कि शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के साथ ही प्रादुर्भूत हुए तो ब्राह्मणग्रन्थों में जो वेद के मन्त्रों का '**इषे त्वोर्जे**' इत्यादि प्रतीकें देकर अनुवाद किया है तो क्या अनुवाद भी किया-कराया वेदों के साथ ही प्रादुर्भूत हो गया? कैसी मज़ाक की बात है! अतः वेदों के साथ समस्त विद्याओं का प्रकाश हुआ, विद्याओं के प्रतिपादक वर्त्तमान ग्रन्थों का नहीं। चूँकि वर्त्तमान शतपथादि में ब्राह्मण तथा पुराण दोनों विद्याएँ विद्यमान हैं, अतः शतपथादि का नाम ब्राह्मण होते हुए भी पुराण हो गया। सृष्टि के आरम्भ में वेदों द्वारा कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, स्वर, संस्कार, निरुक्त इत्यादि बीजरूप से सब विद्याओं के सिद्धान्त, नियम प्रकट हुए। पीछे से जिस-जिस विद्या का जिस-जिस ग्रन्थ में ऋषियों ने विस्तारपूर्वक व्याख्यान कर दिया, उस-उस ग्रन्थ का वही-वही नाम हो गया। चूँकि शतपथादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, पुराण, गाथा, इतिहास, नाराशंसी—इन समस्त विद्याओं का व्याख्यान मिलता है, इसलिए शतपथादि का नाम ब्राह्मण, पुराणादि नाम हो गया, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं है, अपितु पुराण, इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी नाम से युक्त हैं।

कहिए महाराज! यदि ब्राह्मणग्रन्थ वेद ही हैं तो 'वेदों के साथ प्रादुर्भूत हुए' यह क्यों लिखा? इससे तो सिद्ध होता है कि वेद और वस्तु है, ब्राह्मण और वस्तु है। यदि एक होते तो इतना लिखना काफ़ी था कि 'वेद प्रकट हुए'। इससे भी सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं।

(५०७) प्रश्न—ब्राह्मणग्रन्थ और पुराण इन दोनों के विषयों में बड़ा अन्तर है। महर्षि वात्स्यायन ने **पात्रचयान्तानुप०** [४।१।६२] न्यायदर्शन के इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि '**यज्ञो**' '**मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य**' अर्थात् मन्त्र ब्राह्मण का विषय यज्ञ है, और पुराण-इतिहास का विषय लोकवृत्त है। महर्षि वात्स्यायन ने ठीक ही लिखा है। वास्तव में पुराणों में लोकवृत्त अधिक होता है जो ब्राह्मणों में बिल्कुल नहीं है। पुराणों का लक्षण लिखते हुए महर्षि व्यासजी ने वायुपुराण में एक श्लोक लिखा है, वह यह है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

(सर्ग) तत्त्वों की रचना **(प्रतिसर्ग)** प्राणियों की रचना, वंशों का वर्णन, मन्वन्तरों की कथा, वंशों के चरित्र (कैरेक्टर), ये पाँच बातें जिसमें हों, उसको पुराण कहते हैं। वंश और मन्वन्तर तथा वंशानुचरित जो पुराणों का वर्णनीय विषय है ब्राह्मणग्रन्थों में उनका सर्वथा अभाव है, फिर हम उनको पुराण कैसे मन लें? —पृ० ७६, पं० ७

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि ब्राह्मण शब्द के यौगिक अर्थ लिये जावें तो ब्राह्मण तथा पुराण इन वेदों के विषय में बड़ा अन्तर है, क्योंकि 'ब्राह्मण' के अर्थ हैं ब्रह्म अर्थात् वेद के व्याख्यान, और पुराण के अर्थ हैं लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास। वेद तथा वेद के व्याख्यान में लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास होते नहीं। इसलिए वेद तथा वेद

के व्याख्यान को पुराण-इतिहास नहीं कहा जा सकता, और शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों के लिए यह घट नहीं सकता, क्योंकि उनमें वेद के व्याख्यान के साथ लौकिक मनुष्यों के चरित्र-सम्बन्धी इतिहास भी विद्यमान् हैं, जैसाकि हम दिखा चुके हैं, अतः शतपथादि ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण होते हुए पुराण, इतिहास, गाथा और नाराशंसी भी है। हमारी इसी बात की पुष्टि वात्स्यायन ऋषि करते हैं कि "मन्त्र तथा मन्त्रों के व्याख्यानमात्र ब्राह्मणों में यज्ञ का विषय होता है और लौकिक इतिहास पुराणों का विषय होता है।" अब यदि शतपथादि ग्रन्थों में केवल वेद का ही व्याख्यान होता और लौकिक इतिहास न होता तो उनको हम ब्राह्मण ही कहते पुराण न कहते, किन्तु अब जबकि शतपथादि ग्रन्थों में वेद के व्याख्यान के साथ लौकिक इतिहास भी विद्यमान है तो हमें उनको ब्राह्मण के साथ-साथ पुराण, इतिहास भी कहना ही पड़ेगा। थोड़े-बहुत का कोई प्रश्न नहीं। जिस ग्रन्थ में भी लौकिक इतिहास विद्यमान हो उसे पुराण, कहा जा सकता है, चूँकि शतपथादि ग्रन्थों में लौकिक इतिहास विद्यमान है, अतः उनको पुराण अवश्य ही कहा जा सकता है। आपकी यह प्रतिज्ञा झूठ है कि शतपथादि में लौकिक इतिहास बिल्कुल नहीं है। आपने जो किसी पुस्तक की पुराणसंज्ञा होने में पाँच हेतु दिये हैं यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि किसी पुस्तक में ये पाँचों लक्षण इकट्ठे विद्यमान हों वही पुराण कहा जा सकता है, क्योंकि इन पाँचों में से एक वा दो वा तीन-चार लक्षण अपने में रखनेवाला पुस्तक भी पुराण कहा जा सकता है। अन्यथा अठारह पुराणों में से भी कई ऐसे निकल पड़ेंगे जिनमें पूरे पाँचों लक्षण न होने के कारण वे पुराण कहाने के हक़दार न रहेंगे; तथापि यदि यह भी मान लिया जावे कि पुराण कहाने का वही पुस्तक हक़दार है कि जिसमें ये पाँचों लक्षण इकट्ठे ही विद्यमान हों, तो भी शतपथादि ग्रन्थ ब्राह्मण कहाते हुए भी पुराण कहाने के योग्य हैं, क्योंकि इनमें पाँचो लक्षण विद्यमान हैं, जैसेकि—

(१) सर्गतत्त्वों की रचना—

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपनात्त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः॥ १॥ स इमांस्त्रींल्लोकानभिततापा तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीꣳष्यजायन्ताऽग्निर्योऽयं पवते सूर्यः॥ २॥ स इमानि त्रीणि ज्योतीꣳष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः॥ ३॥ इत्यादि —शतपथ० ११।५।८

भाषार्थ—इसका अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में देखने की कृपा करें। शतपथ में इस प्रकार से अनेक स्थानों में तत्त्वों की रचना का वर्णन है।

(२) प्रतिसर्ग—प्राणियों की रचना—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाँसौ सम्परिष्वक्तौ॥ ४॥

स इममेवात्मानन्द्वैधापातयत। ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाश स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳसमभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥ ५॥ सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति॥ ६॥ सा गौरभवत्। वृषभ इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त॥ ७॥ वडवेतराभवत्। अश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततो एकशफम-जायत॥ ८॥ अजेतराभवत्। वस्त इतरोऽविरितरो मेष इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किं च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत॥ ९॥ —इत्यादि।
—शतपथ० १४।४।२

भाषार्थ—इसका भाषार्थ देखो सृष्टि-उत्पत्ति विषय में। शतपथ में इस स्थान में मनुष्य से

कीड़ीपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है।

(३) वंशों का वर्णन—

अथ हैतेऽरुणे। औपवेशौ समाजग्मुः सत्ययज्ञः पौलुषिर्महाशालो जाबालो बुडिल आश्वतराश्विरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यस्ते ह वैश्वानरे समासत तेषाᳬह वैश्वानरे न समियाय॥ १॥ ते होचुः। अश्वपतिर्वा अयं कैकेयः सम्प्रति वैश्वानरं वेद तं गच्छामेति ते हाश्वपतिं कैकेयमाजग्मुस्तेभ्यो ह पृथगावसथान् पृथगापाचितीः पृथक् साहस्त्रान्त्सोमान् प्रोवाच ते ह प्रातरसंविदाना एव समित्पाणयः प्रतिचक्रमिर उप त्वायामेति॥ २॥ सा होवाच यन्नु भगवन्तोऽनूचाना अनूचानपुत्राः किमिदमिति ते होचुर्वैश्वानरᳬह भगवान्त्सम्प्रतिवेद तं नो ब्रूहीति स होवाच सम्प्रति खलुन्वाहं वैश्वानरं वेदाभ्याधत्त समिध उपेतास्थेति॥ ३॥— इत्यादि।

—शतपथ० १०।६।१

(४) मन्वन्तरों की कथा—

मनवे ह प्रातः। अवनेग्यमुदकमाजहरुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे॥ १॥ स हास्मै वाचमुवाच। बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयिताऽस्मीति कथं ते भृतिरिति॥ २॥ इत्यादि

—शतपथ० १।८।१

इस प्रकार से शतपथ में अनेक मन्वन्तरों का वर्णन विद्यमान है।

(५) वंशों के चरित्र—

जनकᳬह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। समनेन वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च, इत्यादि।

—शतपत० १४।७।१।१

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा, इत्यादि।

—शत० १४।६।९।१

ऐतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः। जनमेजयं पारिक्षितं याजयां चकार, इत्यादि

—शत० १३।५।४।१

उर्वशी हाप्सराः। पुरुरवसमैडं चकमे, इत्यादि। —शत० १४।५।१।१

उद्दालको हारुणिः। उदीच्यान् वृतो धावयांचकार तस्य निष्क उपाहितः।

—शत० ११।४।१।१

इत्यादि अनेक वंशों के चारित्र शतपथ में लिखे हुए विद्यमान हैं, इससे सिद्ध है कि शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ वेद में नहीं हैं, अपितु आपके लक्षणों के अनुसार भी पुराण ही हैं।

(५०८) प्रश्न—स्वामीजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं कि वेदों की ११२७ शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण हैं। चारों वेदों की ११३१ पुस्तकें हैं, इन ११३१ ग्रन्थों को शाखा कहते हैं। इसपर महाभाष्य लिखता है कि—

बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बह्वृच्यं नवाधाथर्वणो वेदः।

वेद बहुत भागों में विभक्त हैं। यजुर्वेद की १०१ और सामवेद की १००० एवं ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। ११३१ शाखाओं में से स्वामीजी ने चार शाखाओं को तो असली वेद माना और ११२७ को शाखा।

—पृ० ७७, पं० २०

उत्तर—स्वामी दयानन्दजी का मानना ठीक है, क्योंकि शाखा आखिर किसी मूलरूप की ही होती हैं, यदि मूल न हो तो शाखा किसकी? अतः स्वामीजी ने यह बतलाकार आर्यजाति पर

बड़ा भारी उपकार किया कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद मूलमन्त्र संहिता—ये तो चारों मूलवेद हैं और बाकी इन चारों वेदों की ११२७ शाखाएँ हैं, अर्थात् वे वेदों के व्याख्यान हैं और वे ११२७ व्याख्यान वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे मूलवेद के अनुकूल हों; जहाँ पर उनमें कोई बात मूलवेद के विरुद्ध होगी वहाँ पर उनकी बात न मानी जावेगी, अपितु मूलवेदों की बात प्रमाण मानी जावेगी। यदि मूलवेद का निश्चय न किया जाए तो आपके पास धर्म का मूलाधार कोई है ही नहीं, क्योंकि इस समय न तो सारे ब्राह्मणग्रन्थ मिलते हैं और न ही सारी शाखाएँ मिलती हैं। यदि आप ब्राह्मणग्रन्थ तथा शाखाएँ सबको ही वेद मानते हैं तो इसका अर्थ यह है कि आपके पास आपके वेद भी पूरे नहीं हैं, वे अधूरे हैं। जब आपके धर्मग्रन्थ ही अधूरे हैं तो आपका धर्म पूरा कैसे माना जा सकता है? यह ऋषि दयानन्दजी की ही कृपा है कि उन्होंने आपको अधूरेपन से निकालकर पूरा बना दिया, क्योंकि बिना मूलवेद के निश्चय किये आपके धर्म में पूरापन न होना था और शाखा आपके मत में अनन्त हैं। महाभाष्य ने तो ११३१ बतलाई हैं, किन्तु आपके पाँचवें वेद महाभारत ने २२,१०६ वेदों की शाखा वर्णन की हैं, जैसाकि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः। योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः॥ ९३॥
एकविंशतिसाहस्त्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते। सहस्त्रशाखं यत् साम ये वेदविदो जनाः॥
गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्‌भक्तास्ते हि दुर्लभाः॥ ९४॥
षट्पंचाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत। यस्मिञ्छाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः॥ ९५॥
पंचकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम्। कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा॥ ९६॥
शाखाभेदश्च ये केचिद्याश्च शाखासु गीतयः।
स्वरवर्णसमुच्चाराःसर्वांस्तान्विद्धि मत्कृतान्॥ ९७॥

[गीता० सं० में श्लोक ९६ से १०१।—सं०]—महा० शान्ति०अ० ३४२

भाषार्थ—प्रकाशमय पदार्थों को धारण करनेवाला प्रकाशस्वरूप जो यह वेदों में स्तुति किया गया है और योग द्वारा जिसकी नित्य पूजा की जाती है, वह मैं ही पृथिवी में स्मरण किया जाता हूँ॥ ९३॥ इक्कीस हज़ार ऋग्वेद मुझे ही वर्णन करते हैं और एक हज़ार शाखवाले सामवेद को जो निश्चय से वेद के जाननेवाले॥ ९४॥ मेरे भक्त, ब्राह्मण जंगल में गाते हैं वे भी दुर्लभ हैं। छप्पन और आठ तथा सैंतीस भी यजुर्वेद में शाखा हैं वह मैंने अध्वर्यु के लिए नियत की हैं॥ ९५॥ पाँच कल्प अथर्ववेद जो क्रियाओं से परिपूर्ण है अथर्व के जाननेवाले ब्राह्मण मुझे ही कल्पना करते हैं॥ ९६॥ जो कोई भी शाखाओं के भेद हैं और जो शाखाओं में गायन हैं और जो उनमें स्वर तथा वर्ण का उच्चारण है उन सबको मेरे ही बनाये हुए समझना चाहिए॥ ९७॥

यदि आपको यह गिनती बहुत प्रतीत होती हो और आप '**एकविंशतिसाहस्त्रम्**' में '**सहस्त्र**' शब्द को केवल '**एकविंशति**' के साथ स्वार्थ में ही प्रयोग समझ लें तो ऋग्वेद की इक्कीस ही शाखा मानी जा सकती हैं जो महाभाष्य के कथन के अनुकूल हैं और यह भी सम्भव है कि महाभारत ने महाभाष्य के '**एकविंशतिधा बह्वृच्यं**' का ही अनुवाद '**एकविंशतिसाहस्त्रम्**' का प्रयोग कर दिया हो और '**बहु**' के स्थान है '**सहस्त्र**' का प्रयोग कर दिया हो, क्योंकि संस्कृत साहित्य में '**सहस्त्र**' शब्द का प्रयोग केवल स्वार्थ में आता में, जैसेकि—

विश्वामित्र से दशरथ ने कहा कि—

षष्टिर्वर्षसहस्त्राणि जातस्य मम कौशिक॥ १०॥ —वाल्मी० बाल० स० २०

हे विश्वामित्र! मुझे पैदा हुए साठ हज़ार वर्ष हो गये॥ १०॥

यहाँ पर षष्टि के साथ सहस्त्र शब्द केवल स्वार्थ में ही प्रतीत होता है, क्योंकि दशरथ की

आयु ६० वर्ष सम्भव तथा ६०,००० वर्ष असम्भव प्रीतत होती है।

राम के राज्य में जिस ब्राह्मण का बालक मर गया था वह ब्राह्मण कहता है कि—

अप्राप्तयौवनं बालं पंचवर्षसहस्रकम्। अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक॥५॥

—वाल्मी० उत्तर० स० ७३

शब्दार्थ—जवानी को प्राप्त न हुआ पाँच हज़ार वर्ष का बालक अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया। हे पुत्र! यह मेरे दुःख के लिए है॥५॥

यहाँ पर स्पष्ट सिद्ध है कि 'पञ्च' शब्द के साथ 'सहस्र' शब्द केवल स्वार्थ में ही है, क्योंकि पाँच वर्षवाले को बालक कहा जा सकता है, किन्तु ५००० वर्ष आयुवाले को बालक नहीं कहा जा सकता।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध है कि '**एकविंशतिसाहस्रम्**' में भी '**साहस्र**' शब्द केवल स्वार्थ में ही है और यह महाभाष्य के पाठ '**एकविंशतिधा बाह्वृच्यं**' का ही महाभारत ने अनुवाद कर दिया है, क्योंकि बहु और सहस्र शब्द संस्कृत में पर्य्यावाची हैं, जैसाकि—

सर्वं वै सहस्रम्। —शतपथ ७।५।२।१३

सहस्रशब्दो बहुत्ववाची। —महीधर यजु:० ३१।१

अतः ऋषि दयानन्दजी का चार को मूल वेद मानकर ११२७ को शाखा मानना व्यास के मतानुसार भी ठीक ही है।

(५०९) प्रश्न—ये समस्त शाखाएँ ईश्वर के अवतार ब्रह्मा के द्वारा संसार में प्रकट हुई हैं। इनमें से स्वामी दयानन्दजी चार को तो ईश्वरकृत और ११२७ को ब्रह्मादि ऋषियों की बनाई लिखते हैं। स्वामीजी की दोनों बातें सर्वथा असत्य हैं। —पृ० ७८, पं० ५

उत्तर—परमेश्वर कभी अवतार धारण नहीं करता, क्योंकि वेद ने '**अकायम्**' (यजु:० ४०।८) कहकर ईश्वर के अवतार का खण्डन किया है और युक्ति से भी अवतार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ईश्वर का शरीर धारण करके एकदेशी, अल्पज्ञ बनना असम्भव ही है, अतः ११२७ शाखाएँ वेदों के व्याख्यान ब्रह्मादि ऋषि-मुनियों के बनाये हुए हैं। इसी कारण से प्रत्येक शाखा किसी ऋषि-मुनि के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु चारों वेद किसी ऋषि-मुनि के नाम से प्रसिद्ध नहीं अपितु ईश्वर के नाम से ही प्रसिद्ध हैं, अतः ऋषि दयानन्दजी ने ईश्वरकृत चारों वेदों को स्वतःप्रमाण मानकर ऋषि-मुनिकृत ११२७ शाखाओं को परतःप्रमाण माना है। निराकार, सर्वव्यापक परमात्मा को किसी काम को करने के लिए साकार होने की या अवतार लेने की आवश्यकता नहीं है। व्यापक परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों के आत्मा में अपने ज्ञान वेद का प्रकाश कर दिया। उन्होंने लोगों में उनका प्रचारादि किया। स्वामीजी का यह आर्यजाति पर बड़ा भारी उपकार है कि स्वामीजी ने शाखाओं, ब्राह्मणों और पुराण आदि में गुम हुए वेदों को आर्यजाति के सामने निकालकर सूर्य की भाँति प्रकाशित कर दिया। अब आपकी यह चालबाज़ी न चल सकेगी कि ऐरे-ग़ैरे-नत्थूख़ैरे ने जो संस्कृत में वेदविरुद्ध, स्वार्थपरक पुस्तक बना दिया उसी को स्वतःप्रमाण मानकर जनता को अन्धकार में धकेल दिया, क्योंकि अब वेदों की कसौटी मौजूद है। अब जनता प्रत्येक ग्रन्थ को वेद की कसौटी पर परखकर वेदानुकूल का ग्रहण तथा वेदप्रतिकूल का परित्याग करने लगी है। इस दयानन्दयुग में आपकी '**ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्। संस्कृतवाक्यं प्रमाणम्**' वाली वेदनाशक चालबाज़ी का चलाना असम्भव है।

(५१०) प्रश्न—ब्रह्मा ऋषि आजतक कोई हुआ ही नहीं, जब ब्रह्मा ऋषि ही नहीं हुआ फिर उसके द्वारा शाखाओं का निर्माण मान लेना चालबाज़ी बनाकर आर्यसमाजियों की आँखों में धूल झोंकना है। —पृ० ७८, पं० १०

उत्तर—धन्य हो! सिद्धान्त-विवेचन इसी का नाम है! श्रीमान्‌जी! आप तो कहते हैं कि ब्रह्मा कोई ऋषि ही नहीं हुआ, भला मनुस्मृति में जो लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥
—मनु० १।२३

यहाँ पर अग्नि आदि से वेदों का पढ़नेवाला ब्रह्मा क्या ऋषि न था? तथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै॥ —श्वेताश्व० अ० ६।१८

यहाँ जिसको परमात्मा ने पैदा किया और जिसके लिए अग्नि आदि के द्वारा वेद भेजे क्या वह ब्रह्मा ऋषि न था?

और श्रीमान्‌जी! ब्रह्मा तो सैकड़ों ऋषि हो चुके हैं, होते हैं और होंगे। ब्रह्मा तो एक पदवी है—जो चारों वेदों का जाननेवाला हो उसी को ब्रह्मा कहते हैं और यज्ञ में उसको ब्रह्मा बनाकर बिठाया जाता है, जैसाकि '**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्।**'—ऋ० १०।७१।११ का मन्त्र देकर यास्काचार्य्य ने लिखा है कि—

ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृळ्हः श्रुततो ब्रह्मा परिवृहळ्हं सर्वतः॥
—निरुक्त अ० १ खं० ८

ब्रह्मा उसको कहते हैं जो सर्वविद्याओं का जाननेवाला हो, जो सब-कुछ जानने के योग्य हो, ब्रह्मा उसको कहते हैं जो तीनों विद्याओं को जानता हो और जो वेद को सब दिशाओं में फैलानेवाला हो।

कहिए श्रीमान्‌जी! ये तो एक के स्थान में अनेक ऋषि ब्रह्मा निकल आये। इसी नियम के अनुसार युधिष्ठिर के यज्ञ में व्यासजी स्वयं ब्रह्मा बने, क्योंकि वे चारों वेदों के ज्ञाता थे, जैसाकि—

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत्। वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान्॥ ३३॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः। धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत्॥ ३४॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः। पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्॥ ३५॥
—महा० सभा० अ० ३३

भाषार्थ—हे राजन्! तब व्यासजी ने ऋत्विज नियत किये। वे ऐसे ब्राह्मण थे गोया साक्षात् वेद ही मूर्तिमान विद्यामान हैं॥ ३३॥ उस यज्ञ के ब्रह्मा स्वयं सत्यवती के पुत्र व्यास बने॥ ३४॥ धनञ्जयों में श्रेष्ठ सुसाम को उद्‌गाता बनाया॥ ३४॥ और ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य को अध्वर्यु बनाया। वसु के पुत्र पैल को धौम्य के सहित होता बनाया॥ ३५॥

इससे सिद्ध है कि चारों वेदों का जाननेवाला प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मा कहा जा सकता है और स्वामीजी ने लिखा है कि ११२७ शाखा ब्रह्मा आदि ऋषियों की बनाई हैं। स्वामीजी का यह लेख सर्वथा सत्य है कि वेद के ज्ञानी ऋषियों ने ये वेद के व्याख्यान किये हैं, जिनको शाखा कहा जाता है। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेद स्वतःप्रमाण तथा ऋषिकृत होने से शाखा परतःप्रमाण हैं।

(५११) प्रश्न—शाखाओं में वेद का व्याख्यान बतलाना सिद्ध करता है कि दयानन्द ने कभी शाखा आँख से नहीं देखी। कोई आर्यसमाजी किसी शाखा में वेद का व्याख्यान सिद्ध नहीं कर सकता। —पृ० ७८, पं० १३

उत्तर—वाह वा! कैसे पते की कही! स्वामी दयानन्दजी ने तो शाखा आँख से नहीं देखी किन्तु आपने शाखाओं को आँख से ज़रूर देखा है, क्योंकि आपकी आँखों की दृष्टि स्वामीजी की दृष्टि से अत्यधिक तीव्र जो ठहरी! शायद किसी ने "आँख के अन्धे नाम नैनसुख" यह लोकोक्ति कहीं आप-जैसों के लिए ही तो नहीं घड़ी? अच्छा, भला यह तो बतलाइए कि यदि

ये ११२७ शाखा मूलमन्त्रसहित, वेद के व्याख्यान नहीं हैं तो ये हैं क्या वस्तु! क्या ये ११२७ भी स्वयं वेद ही हैं और आपके मत में कुल ११३१ वेद हैं और उनमें से कुछ-एक तो मिलते हैं और बाकी बहुत-से गुम हैं, इसके अर्थ तो यह हैं कि आपके अनुमान से ९० प्रतिशत वेद गुम है। आपके पास अनुमान से केवल १० प्रतिशत वेद विद्यमान हैं। जिस कौम की धर्मपुस्तक ९० प्रतिशत गुम तथा केवल १० प्रतिशत विद्यान हो उस कौम के धर्म का अल्लाह की बेली है। यदि वह आज है तो निश्चित कल न होगी। अच्छा, एक और बात बताने की कृपा करें कि जिन चार को स्वामीजी ने स्वत:प्रमाण मूल वेद माना है बाकी की ११२७ शाखाएँ उन चार से विरुद्ध हैं या अविरुद्ध। यदि विरुद्ध हैं तो परस्पर विरोध के कारण ११३१ ही प्रमाण मानने के योग्य नहीं हैं। फिर तो आपके सारे ही धर्मपुस्तक का क़तई सफ़ाया है। और यदि यह कहो कि बाकी की ११२७ शाखा उन चार के अनुकूल हैं तो उन ११२७ में क्या उन्हीं सिद्धान्तों का बार-बार वर्णन किया है जो चार में विद्यमान है या उन चार से अधिक विशेष सिद्धान्तों का वर्णन उन ११२७ में विद्यमान है? यदि कहो कि उन ११२७ में इनसे बहुत अधिक विशेष सिद्धान्तों का वर्णन है तो उन सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक सूची प्रकाशित करने की कृपा करें जिनका मूल इन चार में तो क़तई विद्यमान नहीं है, परन्तु उन ११२७ में है, और यदि कहो कि उन ११२७ में भी उन्हीं सिद्धान्तों का वर्णन है जो इन चार में है तो प्रश्न यह होगा कि जिन सिद्धान्तों का वर्णन इन चारों में विद्यमान है उन्हीं सिद्धान्तों का वर्णन ११२७ में मूलरूप से वर्णन किया गया है या विस्तार रूप से? यदि कहो कि उन ११२७ में उन्हीं सिद्धान्तों का मूलरूप से वर्णन किया गया है कि जिन सिद्धान्तों का वर्णन मूलरूप से इन चार में भी विद्यमान है तो फिर बतलाइए कि जिन सिद्धान्तों का वर्णन मूलरूप से इन चार में ही विद्यमान था उन्हीं सिद्धान्तों को मूलरूप से उन ११२७ में तर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा होने पर तो ११२७ शाखाओं पर पुनरुक्ति दोष लग जावेगा और वे ११२७ अप्रमाण हो जावेंगी, और यदि यह कहो कि जिन सिद्धान्तों का इन चार में मूलरूप से वर्णन है उन्हीं सिद्धान्तों का उन ११२७ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है तो स्वामीजी का कहना सर्वथा सत्य है कि ये ११२७ शाखा मूलमन्त्रसंहिता चार वेदों के व्याख्यान हैं और वे वेदानुकूल होने से ही प्रमाण हैं, अन्यथा नहीं। शाखाओं के व्याख्यान होने के बारे में स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि—

"सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धरके व्याख्या करते हैं जैसे तैत्तिरीय शाखा में '**इषे त्वोर्जे त्वेति**' इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है। —सत्यार्थ० समु० ७

इस प्रमाण को आप श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प कर गये और फिर हमसे ही शाखाओं के व्याख्यान होने का प्रमाण माँगने लगे। चोरी और चालबाज़ी इसी का नाम है।

(५१२) प्रश्न—जिन चार ग्रन्थों को दयानन्द असली वेद मानते हैं, वे असली वेद नहीं हैं, वरना वे भी क्रम से शाखाएँ हैं। जिसको स्वामी दयानन्दजी यजुर्वेद कहते हैं वह यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा है और जिसको ऋग्वेद मानते हैं वह ऋग्वेद की शाकल शाखा तथा जिसको सामवेद लिखते हैं वह सामवेद की कौथुमी शाखा, इसी प्रकार जिसको अथर्ववेद समझा दिया जाता है वह अथर्ववेद की शौनकी शाखा है। जिस प्रकार ये चारों शाखाएँ शाखा रहने पर भी संहिताएँ हैं फिर क्या कारण है कि ११२७ शाखाओं को दयानन्दजी प्रमाण नहीं मानते और चार को मानते हैं? —पृ० ७८, पं० १६

उत्तर—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों वेदों की मूल मन्त्रसंहिता हैं। ये शाखा नहीं हैं, अपितु ये ईश्वरोक्त मूलवेद हैं शेष सब शाखाएँ इन चारों के व्याख्यन हैं, और इनके ये शाखारूप से नाम भी पोपपाखण्ड की कल्पना ही हैं, अत: वे सब संहिता कहलाने के योग्य नहीं हैं। चारों मूलवेद ईश्वरकृत होने से स्वत:प्रमाण तथा ११२७ शाखा ऋषिकृत होने से

परत:प्रमाण हैं।

कहिए महाराज! यदि ये चारों असली वेद नहीं हैं तो वे असली वेद कौन-से हैं? ज़रा उन असली वेदों का नाम तो लिख दिया होता? या वे चारों शाखा ही हैं और असली वेद नहीं हैं तो आपने अपनी सारी पुस्तक में इन चारों के प्रमाण वेद के नाम से क्यों लिखे हैं? आपको इनके प्रमाण उपर्युक्त शाखाओं के नाम से ही दर्ज करने चाहिएँ थे। आपका अपनी पुस्तक में इन चारों के प्रमाण शाखापरक नाम से न देना तथा वेद के नाम से देना इस बात को सिद्ध करता है कि आप भी इनको ही असली चार वेद मानते हैं, किन्तु पौराणिकों की आँखों में धूल झोंकने के लिए इधर-उधर की सिद्धान्तहीन बातें बना रहे हैं।

(५१३) प्रश्न—दयानन्द और आर्यसमाजी इन चार शाखाओं को भी प्रमाण नहीं मानते। इनके मन्त्र आगे रखकर अर्थ मनमाने करते हैं, न देवता का खयाल करें न प्रकरण को देखें।

—पृ० ७९, पं० ३०

उत्तर—आपने उन आर्यसमाजियों के नाम नहीं लिखे जो चारों वदों को प्रमाण न मानते हों, योंही मन्त्र आगे रखकर देवता तथा प्रकरण का विचार किये बिना अण्डबण्ड अर्थ कर देते हों और न ही आपने अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि में कोई प्रमाण दिया है, अतः बिना प्रमाण के आपकी प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल तथा मिथ्या है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि आपने अपनी पुस्तक में **'उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम्'** तथा **'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि'**, **'तदेवाग्निः'**, **'तस्या मनुर्वैवस्तः'** इत्यादि-इत्यादि सैकड़ों वेदमन्त्रों को योंही आगे रखकर देवता और प्रकरण का विचार किये बिना ही अण्डबण्ड मनमाने अर्थ कर डाले हैं जिनका हमने-स्थान-स्थान पर खण्डन करके देवता तथा प्रकरणानुसार सत्य अर्थ लिख दिये हैं। इस प्रकार की धोखेबाज़ी करना आर्यसमाजियों का काम नहीं है, अपितु यह काम आप जैसे पौराणिक, पाखण्डी पोपों का है।

(५१४) प्रश्न—**'यजनाद्यजुः'** यजुर्वेद में यजन, यज्ञों का वर्णन है। इसी से इसका नाम यजुर्वेद रक्खा गया है। शतपथ और कात्यायनश्रौतसूत्र में यजुर्वेद के चालीस अध्यायों का वर्णनीय विषय है। स्वामीजी ने अपने भाष्य में वेद के इन दर्श, पौर्णमास, इष्टि, रुद्रवर्णन, शतरुद्रि, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय, पुरुषमेध, अश्वमेध प्रभृति समस्त यज्ञों को यजुर्वेद से निकाल डाला।

—पृ० ८०, पं० ८

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा झूठ है कि स्वामीजी ने यजुर्वेद के भाष्य से यज्ञों को निकाल दिया है। हाँ, यह बात दूसरी है कि आप यज्ञ के कुछ अर्थ समझते हैं और स्वामीजी कुछ और; आप तो यज्ञों में अश्व, गौ, बकरा, आदि पशुओं और पुरुषों को मारकर उनकी चरबी तथा मांस से हवन करने को अश्वमेध तथा नरमेधादि यज्ञ मानते हैं किन्तु स्वामीजी यज्ञ का अर्थ यह समझते हैं—**'यज्ञ'** उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प, अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाता है, उसको उत्तम समझता हूँ। (सत्यार्थ० मन्तव्य न० २८)। आपके अर्थ वेद के विरुद्ध हैं, क्योंकि **'ऋचां त्वः पोषम्'** (ऋ० १०।७१।११) पर निरुक्तकार लिखते हैं कि **'अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिहिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः'** (निरु० अ० खं० ८)।

अध्वर यज्ञ का नाम है। ध्वरति धातु हिंसा अर्थों में है। जिस कर्म में हिंसा का प्रतिषेध हो उस कर्म का नाम अध्वर या यज्ञ है। स्वामीजी का अर्थ ठीक है, जैसाकि—

'यज देवपूजासंगतीकरणदानेषु।' —व्याकरण

यज धातु के अर्थ देवपूजा, संगतीकरण और दान हैं और स्वामीजी लिखते हैं कि—**यज्ञ**—

जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त वा जो शिल्पव्यवहार और पदार्थविज्ञान जोकि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्न० ४७

इत्यादि-इत्यादि यज्ञ के अर्थों को सामने रखकर सारे यजुर्वेद का अर्थ किया है। हाँ, ऐसे पौराणिक काल्पनिक यज्ञों को कि जिनमें—

(१) **'गणानां त्वा'** [यजुः० २३।१९] **महिषी अश्वसमीपे शेते। हे अश्व, गर्भधम् गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि । तं गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि।** —महीधर

(२) 'ता उभौ चतुरः।' [यजुः० २३।२०] **'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' महिषि स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति।** —महीधर

इस प्रकार के पौराणिक भाव विद्यमान हैं, स्वामीजी ने उनका सर्वथा खण्डन किया है। क्या आप इसी प्रकार के अर्थों को वास्तविक अर्थ मानते हैं?

(५१५) प्रश्न—स्वामीजी के भाष्य में तो बिजली से मशीनें तैयार करना, तार और रेल, फ़ौज तथा सेनापति, अध्यापक-अध्यापिका, उपदेशक-उपदेशिका स्त्रियों की फ़ौज, उल्लुओं का पालना ये विषय हैं। —पृ० ८१, पं० १७

उत्तर—आपके महीधर आदि द्वारा यजुर्वेदभाष्य में यजमान-पत्नी को घोड़े के साथ जोड़कर न जाने किस प्रकार की बिजली पैदा करने का यत्न किया गया है! स्वामीजी ने इस प्रकार के वेदविरुद्ध पौराणिक कारखानों का खण्डन करके यजुर्वेद का यथार्थ अर्थ कर दिया है। देखिए वेद स्वयं यज्ञ शब्द के क्या अर्थ करता है—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां **प्राणो** यज्ञेन कल्पतां **चक्षुर्**यज्ञेन कल्पताꣳ **श्रोत्रं** यज्ञेन कल्पतां **वाग्**यज्ञेन कल्पतां **मनो** यज्ञेन कल्पता**मात्मा** यज्ञेन कल्पतां **ब्रह्मा** यज्ञेन कल्पतां **ज्योतिर्**यज्ञेन कल्पताꣳ **स्वर्**यज्ञेन कल्पतां **पृष्ठं** यज्ञेन कल्पतां **यज्ञो** यज्ञेन कल्पताम्। **स्तोमश्च यजुश्च ऋक्** च **साम** च **बृह**च्च **रथन्तरं** च। **स्वर्देवा** अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।

—यजुः० १८।२९

इस मन्त्र में किये गये यज्ञ शब्द के अर्थों को देखकर बतलावें कि ऋषि दयानन्द का अर्थ क्या इन अर्थों से बाहर है? कदापि नहीं, अतः स्वामी दयानन्दजी का किया हुआ यजुर्वेद का अर्थ वेदानुकूल तथा पौराणिक भाष्यकार महीधर आदि का अर्थ स्वयं वेद के विरुद्ध और युक्ति के भी विरुद्ध है।

भू-भ्रमण

(५१६) प्रश्न—वेद पृथिवी को अचला मानता हुआ सूर्यादि ग्रहपंजरों का पृथिवी के चारों ओर भ्रमण मानता है। —पृ० २७०, पं० १०

उत्तर—आपकी प्रतिज्ञा क़तई ग़लत है, क्योंकि वेद का सिद्धान्त है कि पृथिवी भी घूमती है और सूर्य आदि समस्त तारागण भी घूमते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जोकि गाड़ी के पहिये की भाँति स्वयं अपने गिर्द भी घूमते हैं और दूसरों के चारों ओर भी घूमते हैं, और कुछ ऐसे हैं कि वे अपनी परिधि पर स्वयं ही घूमते हैं किसी के चारों ओर नहीं घूमते, किन्तु घूमते सब हैं, क्योंकि बिना घूमने और फिरने के कोई वस्तु आकाश में बहुत समय तक नहीं ठहर सकती। जैसे थाली के घुमानेवाले थाली को चक्र देकर आकाश में फैंक देते हैं तो थाली काफी देर तक घूमती हुई आकाश में ठहरी रहती है। यदि थाली को बिना घुमाये छोड़ा जावे तो वह तत्क्षण पृथिवी पर गिर पड़ती है, अतः पृथिवी पहिये की भाँति अपने गिर्द भी घूमती है जिससे दिन-

रात पैदा होते हैं और सूर्य के गिर्द भी घूमती है, जिससे ऋतु-परिवर्तन होता रहता है। यही वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त है।

(५१७) प्रश्न—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' [यजुः० ३२।६] वहाँ वेद ने पृथिवी को 'दृढा' शब्द से निश्चल वर्णन किया है। —पृ० २७०, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र में **'दृढा'** शब्द का अर्थ निश्चल नहीं है, अपितु यहाँ पर 'दृढा' शब्द के अर्थ 'कठोर' हैं। और 'दृढा' शब्द के अर्थ निश्चल होते भी नहीं, देखिए अमरकोश ने स्पष्टरूप से दृढा का अर्थ कठोर किया है, जैसाकि—**'कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम्'।** —अमर० ३।१।७६

मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० ३२।६

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस जगदीश्वर ने तीव्र तेजवाले प्रकाशयुक्त सूर्य आदि पदार्थ और भूमि को कठिन अर्थात् कठोर बनाया है। जिसने सुख को धारण किया, जिसने सब दुःखों से रहित मोक्ष को धारण किया। जो मध्यवर्ती आकाश में वर्त्तमान लोकसमूह का विविध मान करनेवाला है। उस सुखस्वरूप, स्वयं प्रकाशमान, सकल सुखदाता ईश्वर के लिए हम लोग प्रेमभक्ति से प्राप्त होवें॥६॥

और देखिए आपके टीकाकार महीधर भी दृढा का अर्थ निश्चल नहीं मानते, जैसाकि—

सर्वप्राणिधारणं वृष्टिग्रहणं अन्ननिष्पादनं चेति भूमेर्दार्ढ्यम्। —यजुः० ३२।६ महीधर

सब प्राणियों का धारण करना, वर्षा का ग्रहण करना, अन्न-निष्पादन ही पृथिवी का दृढ़पन है।

अतः आपका इस मन्त्र से पृथिवी को अचला सिद्ध करना सर्वथा निर्मूल है। कहिए महाराज! यदि यह पृथिवी अचला है तो बिना घूमने के यह आकाश में कैसे ठहरी हुई है? हाँ, आपके यहाँ तो यह पृथिवी हाथी के शिर पर ठहरी हुई लिखी है, जैसेकि—

सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन। धारयामास शिरसा विरूपाक्षो महागजः॥१४॥
यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रामार्थं महागजः। खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत्॥१५॥

—वाल्मी० बाल० स० ४०

हे राम! इस वनपर्वत के सहित सम्पूर्ण पृथिवी को विरूपाक्ष हाथी ने सिर पर धारण कर रक्खा है॥१४॥ हे राम! जब पर्व के दिन आराम लेने के लिए कष्ट से वह हाथी सिर को हिलाता है, तब भूचाल आता है॥१५॥

तो फिर कहिए महाराज! वह हाथी किस चीज़ पर है और पृथिवी के एक देश में भूचाल क्यों आता है? सारी पृथिवी पर पर्व के दिन एकदम आना चाहिए। यह है सनातनधर्म की भूगोलविद्या, जिसको मानते हुए आप फूले नहीं समाते!

(५१८) प्रश्न—'आ कृष्णेन' इत्यादि [यजुः० ३३।४३] इस मन्त्र में सूर्य का पृथिवी के गिर्द घूमने का वर्णन है। —पृ० २७०, पं० १९

उत्तर—इस मन्त्र में सूर्य के पृथिवी के गिर्द घूमने का नाम तक भी नहीं है और न ही सूर्य पृथिवी के गिर्द घूम सकता है। जैसाकि स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है किन्तु आपने उसका कोई उत्तर नहीं दिया—'जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती है,

वे सब **अज्ञ** हैं, क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते, अर्थात् सूर्य का नाम (ब्रध्न) पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा और करोड़ों कोस दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती है और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन-रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं।'

सूर्य का पृथिवी के गिर्द घूमना वेद के भी विरुद्ध है, जैसाकि—

या गौर्वर्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वती॥

—ऋ० १०।६५।६

भाषार्थ—जो पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है वह पृथिवी अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्न आदि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। जो विद्यादि गुणों को देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती है और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्र आदि गौ नामवाले पदार्थ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी हैं॥ ६॥

इन मन्त्र से स्पष्टरूप से पृथिवी का सूर्य के गिर्द घूमना वर्ण किया है, अतः सूर्य का पृथिवी के गिर्द घूमना वेद तथा युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या ही है।

आपके मन्त्र के वेदानुकूल यथार्थ अर्थ इस प्रकार हैं—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुः० ३३।४३

भाषार्थ—प्रकाशस्वरूप सूर्य आकर्षणगुण के साथ वर्त्तमान लोक-लोकान्तरों को अपनी-अपनी कक्षा में स्थित करता हुआ और सब प्राणी-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करता हुआ और प्रकाश और रमणीयस्वरूप से पृथिवी आदि लोकों को प्रकाशित करता हुआ अपनी धुरी पर घूमता है॥ ४३॥

रामायण तथा महाभारत में भी पृथिवी का ही घूमना लिखा है—

या चेयं जगतो माता सर्वलोकनमस्कृता। अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर॥ १०॥

—वाल्मी० अरण्य० स० ६६

एतदेवंविधं दृष्टमाश्चर्यं तत्र मे द्विज॥ ५॥
सूर्येण सहितो ब्रह्मन् पृथिवी परिवर्तते॥ ६॥

—महा० शान्ति० अ० ३६३

भाषार्थ—सब लोकों से नमस्कार करने योग्य जो यह जगत् की माता है, हे कोसलेश्वर! इस भूमि का भी चलना नज़र आता है॥ ९॥ हे ब्राह्मण! वहाँ पर यह इस प्रकार से मैंने आश्चर्य देखा कि सूर्य के समेत पृथिवी घूमती है॥ ५-६॥

इससे सिद्ध है कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूमता, अपितु सूर्य अपनी परिधि पर घूमता है।

(५१९) प्रश्न—निघण्टु ने पृथिवी को 'निर्ऋति' लिखा है। 'निर्ऋति' का अर्थ है गमनरहित (चालशून्य)। यदि पृथिवी चलती होती तो निघण्टु इसको 'निर्ऋति' कैसे लिखता?

—पृ० १७१, पं० ३

उत्तर—या बेईमानी तेरा आश्रय! जो कुछ मन में आया घर से ही लिख मारा। कहिए

महाराज! 'निर्ऋति' के अर्थ गमनरहित, चालशून्य कहाँ लिखे हैं? क्या इस प्रकार की चालबाजियों से कभी वैदिक सिद्धान्त मिथ्या हो सकता है? श्रीमान्‌जी निघण्टु ने जहाँ पृथिवी का नाम 'निर्ऋति' लिखा है वहाँ पर 'गौ' भी पृथिवी का नाम लिखा है। और निरुक्त ने इन दोनों शब्दों के अर्थ भी लिखे हैं जोकि आपने अपने स्वभावानुसार चुरा लिये हैं। हम वे अर्थ नीचे लिखते हैं—

गौः निर्ऋतिः॥ —निरु० अ० २ खं० ५

गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरङ्गता भवति।

यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति॥ २॥ —निरु० अ० २।५।२

तत्र निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा॥ ३॥ —निरु० अ० २ खं० ७

भाषार्थ—गौ यह पृथिवी का नाम है। जो यह घूमने के कारण दूर-दूर चली जाती है, इसलिए उसका नाम गौ है। और चूँकि प्राणी इसमें चलते-फिरते हैं, इसलिए पृथिवी का नाम गौ है॥ २॥

निरमणात् निविष्टानि रमन्तेऽस्यां भूतानीति निर्ऋतिः पृथिवी। इतरा कृच्छ्रापत्तिः दुःखसंज्ञिका, निर्ऋतिः पाप्मा! एका निविष्टानां भूतानां रमयित्री, एका पुनः कृच्छ्रमापादयित्री।

—दुर्गाचार्य

चूँकि इसमें प्राणी आनन्द पाते हैं, इसलिए पृथिवी का नाम निर्ऋति है। दूसरे दुःख संज्ञावाली पापिनी होने से, तीसरे प्राणियों को आनन्द देने से पृथिवी निर्ऋति है। और एक पृथिवी दुःखों का सम्पादन करनेवाली है, इसलिए पृथिवी का नाम निर्ऋति है। अमरकोश ने भी निरुक्त के दूसरे अर्थ की पुष्टि की है कि—

अलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः। —अमरकोश १।९।२

नरक की अशोभा का नाम निर्ऋति है॥ २॥

कहिए महाराज! इस ग़लतबयानी पर शरम तो नहीं आती?

(५२०) प्रश्न—यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि।
मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत वस्तुशक्तयः॥

—सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय

जैसे सूर्य और अग्नि में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता, जल में गति, पाषाण में स्वभाव से कठिनता है, ऐसे ही स्वभाव से पृथिवी अचल है। वस्तुओं की शक्ति विचित्र है। इस प्रमाण में पृथिवी को स्वभाव से अचला माना है। —पृ० २७१, पं० ६

उत्तर—आपने ऊपर वेद का नाम लिखकर नीचे सिद्धान्तशिरोमणि का प्रमाण दे दिया। क्या सिद्धान्तशिरोमणि वेद है? यदि नहीं तो वेद कहकर इसका प्रमाण देना प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान है या नहीं? और फिर सिद्धान्तशिरोमणि का भी अचला कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि पृथिवी गतिशून्य है, अपितु सिद्धान्तशिरोमणि का यह अभिप्राय है कि पृथिवी अपने नियम में अचला है, अर्थात् वह नियमानुसार घूमती है, नियम को नहीं तोड़ती। जैसेकि—'**ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्**' इत्यादि मन्त्रों में ध्रुवा का अर्थ 'नियमानुकूल चलनेवाली' है, न कि गतिशून्य, क्योंकि सिद्धान्तशिरोमणि में इस शंका का समाधान करते हुए कि 'यदि पृथिवी घूमती है तो हमको प्रतीत क्यों नहीं होती' निम्न श्लोक दिया है कि—

कुलालचक्रभ्रमिवामगत्या यान्तो न कीटा इव भान्ति यान्तः। —सिद्धान्तशिरोमणि

जैसे कुम्हार के घूमते हुए चाक पर बैठे कीड़े उसकी गति को नहीं जान सकते, ऐसे ही मनुष्यों को पृथिवी चलती हुई ज्ञात नहीं होती। फिर सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है कि—

भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्त्रं प्रवहानिलेन।
यान्तो भचक्रे लघुपूर्वगत्या खेटास्तु तस्यापरशीघ्रगत्या॥

—सिद्धान्तशिरोमणि

प्रवह–शक्ति के कारण सब तारागण ग्रहों के सहित सदा घूमते रहते हैं। ये सब लघुगति से पूर्व की ओर को घूमते हैं, परन्तु शीघ्र गति से पश्चिम को जाते हुए दिखलाई देते हैं। इस विलोम गति अर्थात् ग्रहों के पश्चिम की ओर जाते हुए दीखने का कारण भूमि का अपनी धुरी प घूमना है, जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य सड़क के किनारे को उलटी ओर को दौड़ते हुए देखता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि सिद्धान्तशिरोमणि पृथिवी का घूमना मानता है, और पृथिवी को अचला कहने से उसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी अपने नियम से चलायमान नहीं होती अपितु अपनी परिधि पर नियमबद्ध घूमती है। इसपर भी यदि आप यही कहें कि नहीं सिद्धान्तशिरोमणि तो अचला कहने से पृथिवी को गतिशून्य मानता है तो हमारी दृष्टि में परस्पर–विरुद्ध तथा वेदविरुद्ध होने से उसका प्रमाण मानने के योग्य नहीं है, क्योंकि वेद ने पृथिवी को 'गौ' शब्द से गतिशील माना है।

(५२१) प्रश्न— ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा॥ ३०॥
मन्दामरेज्य भूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः। परिभ्रमन्त्यधोऽधस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः॥ ३१॥
मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्॥ ३२॥ —सूर्यसिद्धान्त अ० १२

भाषार्थ—ब्रह्माण्ड के मध्य में जो परिधि है उसे आकाशकक्ष कहते हैं। उसके मध्य में नक्षत्रमण्डल का भ्रमण होता है। उसके नीचे यथाक्रम शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुद्ध, चन्द्र एक से नीचे एक भ्रमण (अपनी–अपनी मध्यकक्षा में) करते हैं, उसके नीचे सिद्ध, विद्याधर, मेघ हैं और चारों ओर से बीचोंबीच ब्रह्माण्ड के मध्य (केन्द्र में) परब्रह्म परमेश्वर की धारणात्मिका शक्ति को धारण किये आकाश में भूगोल सर्वतोभाव से स्थित है।

इस 'तष्ठति' पद से सिद्ध है कि पृथिवी घूमती नहीं, अपितु पृथिवी गतिशून्य है और शनि आदि इसके चारों ओर घूमते हैं। —पृ० २७१, पं० १२

उत्तर—कहिए श्रीमान्‌जी! क्या सूर्यसिद्धान्त भी वेद है जो इसे वेद के नाम से पेश किया जा रहा है? और फिर इस प्रमाण में भी न तो यह लिखा है कि पृथिवी गतिशून्य है और न ही यह लिखा है कि सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता है, अपितु इस प्रमाण में यह दिखलाया है कि आकाश में सब लोक–लोकान्तर अपनी–अपनी परिधि पर घूम रहे हैं। किसी का स्थान पृथिवी की अपेक्षा ऊपर को है और किसी का स्थान पृथिवी की अपेक्षा नीचे को है और पृथिवी सबके मध्य में है। हाँ, यदि आप '**भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति**' से यह सिद्ध करना चाहें कि पृथिवी स्थिर तथा गतिशून्य है तो फिर आपको '**अधोऽस्थाः**' इस पद से भी यह मानना पड़ेगा कि सूर्य आदि लोक भी स्थिर और गतिशून्य हैं, क्योंकि '**तिष्ठति**' और '**स्थाः**' ये दोनों एक ही धातु के प्रयोग हैं। रही '**परिभ्रमन्ति**' क्रिया, सो यह सब लोक–लोकान्तरों के लिए प्रयुक्त हुई है कि जिसमें भूमि भी शामिल है। सारांश यह कि यहाँ पर सूर्यसिद्धान्त ने स्थानभेद का प्रतिपादन किया है, क्रियाभेद का नहीं, अतः सिद्ध है कि सूर्यसिद्धान्त भी पृथिवी को सूर्यादि की भाँति घूमनेवाली ही मानता है, गतिशून्य नहीं मानता। यदि आप अब भी यह कहें कि सूर्यसिद्धान्त पृथिवी को गतिशून्य मानता है तो हमें कहना पड़ेगा कि सूर्यसिद्धान्त भी वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वेद भूमि को गतिशील और घूमनेवाली मानता है।

(५२२) प्रश्न—स्वामीजी एक वेदमन्त्र का गला घोट, देवता मिटा, मन्त्र के दो टुकड़े कर, लिखते हैं कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ —यजुः० ३।६

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है, इसलिए भूमि घूमा करती है।

स्वामीजी वेद का कचूमर निकालकर ईसाईसिद्धान्तों को वैदिक सिद्धान्त बनाते हैं।

—पृ० ९३, पं० ११

उत्तर—मन्त्रों के टुकड़े करके प्रकरण के विरुद्ध अर्थ करना स्वामीजी का काम नहीं है, अपितु यह काम आप लोगों का है। स्वामीजी ने इस मन्त्र के तीन स्थानों पर अर्थ किये हैं। एक, यजुर्वेद के भाष्य में; दूसरे, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'पृथिवी-आदिलोकभ्रमणविषय' प्रकरण में; तीसरे, सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में। तीनों ही स्थानों में स्वामीजी ने एक ही अर्थ किया है। सत्यार्थप्रकाशवाला अर्थ आपने ऊपर दे रक्खा है। यजुर्वेद से हम नीचे लिख देते हैं—

(अयम्) यह प्रत्यक्ष **(गौः)** गोलरूपी पृथिवी **(पितरम्)** पालन करनेवाले **(स्वः)** सूर्यलोक के **(पुरः)** आगे-आगे वा **(मातरम्)** अपनी योनिरूप जलों के साथ वर्त्तमान **(प्रयन्)** अच्छी प्रकार चलती हुई **(पृश्निः)** अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में **(आक्रमीत्)** चारों तरफ़ घूमती है। —यजुः० ३।६

भावार्थ—मनुष्यों को जानना चाहिए कि जिससे यह भूगोल पृथिवी, जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई अन्तरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनिरूप जल के सहित आकर्षणरूपी गुणों से सबकी रक्षा करनेवाले सूर्य के चारों ओर क्षण-क्षण घूमती है, इसी से दिन-रात्रि, शुक्ल वा कृष्णपक्ष ऋतु और अयन आदि काल-विभाग-क्रम से सम्भव होते हैं॥ ६॥

स्वामीजी ने यह सिद्धान्त ईसाइयों से नहीं लिया अपितु वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ईसाई लोग तो पृथिवी को गतिशून्य ही मानते हैं जैसाकि आपने भी इस बात को स्वीकार किया है कि—

'तेरहवीं शताब्दी तक भूतल के समस्त देश धरा का अचलत्व मानते रहे हैं।'

—पृ० २७३, पं० २०

फिर स्वामीजी पर ईसाइयों की नकल का दोष लगाना वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है?

(५२३) प्रश्न—क्या मज़े की बात है मुसलमानों का सिद्धान्त वेद में से निकल पड़ा!

—पृ० २७२, पं० १०

उत्तर—'पढ़े न लिखे नाम मुहम्मद फाज़िल' यह लोकोक्ति किसी ने आप-जैसों के लिए ही घड़ी है, वरना आप मुसलमानों की किसी किताब का प्रमाण दें, जिससे यह सिद्ध हो कि मुसलमान पृथिवी का सूर्य के गिर्द घूमना मानते हैं। यदि नहीं तो फिर आपका यह कहना कि 'मुसलमानों का सिद्धान्त वेद से निकल आया' अनर्गल वाग्वाद नहीं तो और क्या है? श्रीमान्‌जी! सिद्धान्तों के बारे में तो मुसलान लोग पौराणिकों के भी बड़े भाई हैं। देखिए कुरानशरीफ़ में क्या लिखा है—

'और किये हमने बीच ज़मीन पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जावे साथ उनके।'

—शाह रफ़ी उद्दीन, देहलवी

'और हमने ज़मीन में इसलिए पहाड़ बनाये कि ज़मीन उन लोगों को लेकर हिलने न लगे।'

—मौलाना अशरफ़ अली थानवी, कुरान शरीफ़ मञ्ज़िल ४ सूरत २१ आयत ३०

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस्लाम ज़मीन को घूमनेवाली नहीं मानता, अपितु गतिशून्य मानता है जोकि युक्ति तथा तर्कविरुद्ध है।

ज़मीन का अपने और सूर्य के गिर्द घूमना वेद ही मानते हैं और यही सिद्धान्त सृष्टिनियम, प्रमाण तथा युक्ति के अनुकूल है।

(५२४) प्रश्न—इस मन्त्र का सर्पराज्ञी कद्रू ऋषि, गायत्री छन्द, अग्नि देवता है। वेदों का नियम है कि जो जिस मन्त्र का देवता होता है उस मन्त्र में उसी विषय का वर्णन होता है। जब इसका अग्नि देवता है तो पृथिवीपरक अर्थ किस प्रकार हो जावेगा? —पृ० २७२, पं० १६

उत्तर—पृथिवी का घूमना सूर्य के निमित्त से होता है और पृथिवी उसी अग्नि का पुंज है, अत: इस मन्त्र में पृथिवी के द्वारा अग्नि का ही वर्णन है, और स्वामीजी ने भी इस मन्त्र के आरम्भ में यही लिखा है कि—

'अब अग्नि के निमित्त से पृथिवी का भ्रमण होता है, इस विषय को अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है।' —दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य ३।६

अत: स्वामीजी का अर्थ देवता के अनुसार ही है। कहिए महाराज! आप तो कहते थे कि स्त्रियों को वेद के अध्ययन का अधिकार ही नहीं है। यहाँ साँपों की रानी कद्रू वेदमन्त्रों की ऋषिका कैसे बन गई? और आप तो देवजाति को मनुष्यजाति से भिन्न मानते थे। यहाँ पर मन्त्र के विषय को देवता मान बैठे। ठीक है कि सचाई सौ पर्दे फाड़कर भी प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

(५२५) प्रश्न—इस मन्त्र के अर्थ में 'मातरम्', 'पुर:' आदि कई-एक शब्द बिल्कुल ही छोड़ दिये, उनका अर्थ ही नहीं किया। —पृ० २७२, पं० २५

उत्तर—यदि आपको नज़र न आवे तो हम क्या करें? वरना इस मन्त्र के अर्थों में 'मातरम्' का अर्थ जल तथा 'पितरम्' का अर्थ सूर्य तथा 'पुर:' का अर्थ आगे किया हुआ विद्यमान है। इस अर्थ में विशेष हेतु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखने की कृपा करें।

(५२६) प्रश्न—यदि हम इस मन्त्र के अर्थ को किसी विद्वान् के सामने रख दें तो कोई भी यह नहीं कहेगा कि इस मन्त्र का यही अर्थ है जो इसकी भाषाटीका में लिखा है।

—पृ० २७३, पं० २

उत्तर—यदि कोई वेद के तत्त्वार्थ को जाननेवाला मुनि वा वेद के अर्थ का द्रष्टा ऋषि अथवा पदार्थविद्या का जाननेवाला विद्वान् होगा तो अवश्य ही यह कहेगा कि स्वामीजी का इस मन्त्र का अर्थ वास्तव में आर्षभाष्य है और प्रमाण के योग्य है। हाँ, यदि **'पण्डितंमन्य:', 'चारपाय: बरो किताबे चन्द', 'स्थाणुरयं भारहार:'** हो तो वह बेशक अर्थों में सन्देह कर सके।

(५२७) प्रश्न—वेदमन्त्र का ठीक अर्थ देखिए—

"**(आयम्)** इस **(गौ:)** यज्ञसिद्धि के अर्थ यजमान के घर में आने-जानेवाले **(पृश्नि:)** श्वेत, रक्त आदि बहु प्रकार की ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने **(आ)** सब ओर से आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि के स्थानों में **(अक्रमीत्)** अतिक्रमण किया **(पुर:)** दिशा में **(मातरम्)** पृथिवी को **(असदत्)** प्राप्त किया **(च)** और **(स्व:)** सूर्यरूप होकर **(प्रयन्)** स्वर्ग में चलते अग्नि ने **(पितरम्)** पृथिवी को **(असदत्)** प्राप्त किया।"

उत्तर—आपका यह अर्थ निम्न हेतुओं से सर्वथा निर्मूल और कपोलकल्पित है।

(१) आपका **(आयं)** लिखना ग़लत है, यह शब्द **(आ अयम्)** है, अत: **(अयम्)** लिखना चाहिए था। आपको सन्धिविच्छेद का भी ज्ञान नहीं है।

(२) गौ शब्द के अर्थ आपने अग्नि किये हैं, किन्तु यह प्रमाण नहीं दिया कि गौ के अर्थ

अग्नि कैसे हो सकते हैं? स्वामीजी ने जो गौ शब्द के पृथिवी अर्थ किये हैं उसमें प्रमाण ये हैं कि—

गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।

—निरु० अ० २ खं० ५

अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक तथा आपका कल्पित है।

(३) आपने '**पृश्निः**' शब्द के अर्थ '**अग्नि**' किये हैं। कृपया इन अर्थों में प्रमाण पेश कीजिएगा। स्वामीजी ने अपने अन्तरिक्ष अर्थ में प्रमाण दिया है कि—

स्वः, पृश्निः, नाकः, गौः, विष्टप, नभ इति षट् साधारणानि। पृश्निरिति; अन्तरिक्षस्य नामोक्तम्। —नि० अ० २ खं० १३

अतः स्वामीजी का अन्तरिक्ष अर्थ ठीक और आपका अग्नि अर्थ निर्मूल है।

(४) आपने '**मातरम्**' का अर्थ पृथिवी किया है। भला! बतलाइए कि अग्नि की माता पृथिवी कैसे है? '**वायोरग्निः**' अग्नि की माता वायु तो हो सकती है, पृथिवी नहीं। स्वामीजी ने लिखा है कि—

अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि। यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति।

स्वामीजी ने जल अर्थ किया है, अतः स्वामीजी का अर्थ ठीक और आपका सर्वथा अशुद्ध है?

(५) आपने '**पितरं**' का अर्थ स्वर्गलोक किया है। बतलाइए, यह किस प्रमाण से किया है। स्वामीजी ने अर्थ किया है कि—

''स्वः शब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते।''

आदित्य को पृथिवी का पितावत् बताया है—

अतः स्वामीजी का अर्थ सत्य तथा आपका असत्य है। यद्यपि आपका सम्पूर्ण अर्थ युक्ति और प्रमाणों के विरुद्ध है तथापि यदि आपके अर्थ को ठीक भी मान लिया जावे तो भी इससे स्वामीजी के अर्थ का निषेध नहीं होता, क्योंकि एक मन्त्र के अनेक अविरोधी अर्थ हो सकते हैं। आपका अर्थ स्वामीजी के अर्थ का विरोधी नहीं है और आपने स्वामीजी के अर्थ का युक्ति और प्रमाण से कोई खण्डन नहीं किया, अतः स्वामीजी का अर्थ हर प्रकार से ठीक है।

(५२८) प्रश्न—तेरहवीं शताब्दी तक भूतल के समस्त देश धरा का अचलत्व मानते रहे हैं। इसके पश्चात् सबसे प्रथम ईरान के दार्शनिक पैथागोरस ने यह आवाज़ उठाई कि पृथिवी घूमती है। इसके पश्चात् केप्लर और सर न्यूटन ने संसार में इस सिद्धान्त का प्रचार किया। भारतवर्ष में एक आर्यभट्ट नामक विद्वान् हुए उन्होंने एक सौ बीस श्लोक का ''आर्यभट्टि'' नामक ग्रन्थ लिखा और इसमें भूभ्रमण के सिद्धान्त को सिद्ध किया। शिक्षा में आ जाने के कारण इस मिथ्या सिद्धान्त को संसार सत्य मानने लगा। जब संसार इसको मान बैठा तब स्वामी दयानन्दजी ने वेद से सिद्ध कर दिया। —पृ० २७३, पं० २०

उत्तर—वेदों में भूभ्रमण का यथार्थ ज्ञान अनादिकाल से विद्यमान है। महाभारत के समय तक आर्यलोग इसको जानते और मानते थे। महाभारत के पश्चात् वैदिक शिक्षा का लोप हो जाने से लोग इस सिद्धान्त को भी भूल गये। समय-समय पर इस वैदिक सचाई का अनुभवी लोगों ने अनुभव किया और उसका जनता में प्रचार भी किया। यद्यपि लोगों ने इनका विरोध किया किन्तु अन्ततः ये लोग अपनी बात विद्वानों को मनवाने में सफल हो गये और दुनिया भूमि के अचलत्वरूपी मिथ्या सिद्धान्त को छोड़कर भूभ्रमण के सत्य वैदिक सिद्धान्त को मानने लगी। जब

स्वामी दयानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ तो उन्होंने वैदिक प्रमाण की उसपर मुहर लगा दी। स्वामीजी ने भूभ्रमण के बारे में वेद के तीन प्रमाण—दो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में **'आयं गौः'** [यजुः० ३।६] **'या गौर्वर्तनिम्'** [ऋ० १०।६५।६], तथा तीसरा सत्यार्थ० में **'आ कृष्णेन रजसा'** [यजुः० ३३।४३] दिये हैं और निरुक्त के प्रमाणों से अपने अर्थ की पुष्टि करके भूभ्रमण को सिद्ध किया है। आपने उनमें से केवल एक **'आयं गौः'** पर आपत्ति उठाई, बाकी दो को छुआ तक भी नहीं। और इस एक के अर्थों को भी आप युक्ति तथा प्रमाणों से खण्डित नहीं कर सके। स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल तथा वैदिक सचाई पर मुहर लगाने के योग्य है, और भी देखिए—

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैविसकौ। उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहणक्षत्राणाम्॥

[अनुपलब्धमूल।—सं०]—आर्यभट्ट

सूर्य आदि सब नक्षत्र स्थिर हैं (अर्थात् अपनी परिधि पर घूमते हैं, किसी के गिर्द नहीं घूमते)। पृथिवी ही बार-बार अपनी धुरी पर घूमकर प्रतिदिवस इनके उदय और अस्त का सम्पादन करती है।

अनुलोमगतिर्नौ स्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भान्ति तद्वत समपश्चिमगानि लंकायाम्॥ —आर्यभट्टीम्, गोलया० ९

जैसे नौका में बैठे हुए मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल वस्तुएँ उलटी ओर को चलती हुई दिखाई देती हैं ऐसे ही पूर्व की ओर को चलती हुई पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यों को अचल तारे भी पश्चिम को जाते हुए दिखाई दते हैं।

(५२९) प्रश्न—जैसे रस्सी में सर्पज्ञान मिथ्या और भ्रमजन्य ज्ञान है, इसी प्रकार नौका में स्थिरता और नदी के तट के वृक्षों में चलने का ज्ञान भी भ्रमजन्य और मिथ्याज्ञान है। भ्रमजन्य मिथ्याज्ञान की चर्चा न्याय-वेदान्त-प्रभृति समस्त हिन्दूदर्शनों में आती है। दर्शनों ने स्पष्ट कह दिया है कि भ्रमजन्य मिथ्याज्ञान असत्य होता है, अतएव त्याज्य है। फिर हम किस आधार पर नौका की स्थिरता और किनारे के वृक्षों का चलना, इस भ्रमजन्य ज्ञान को सत्य मानें?

—पृ० २७४, पं० १८

उत्तर—आपका फरमाना बिलकुल सत्य है। हम भी यही कहते हैं कि जैसी रस्सी में सर्प-ज्ञान तथा नौका में बैठने से नौका में बैठने से नौका की स्थिरता तथा नदी के किनारे के वृक्षों के चलने का ज्ञान भ्रमजन्य होने से मिथ्या है और त्यागने योग्य है वैसे ही घूमनेवाली पृथिवी पर रहनेवाले हम लोगों का यह ज्ञान कि "पृथिवी स्थिर है और सूर्य आदि ग्रह इसके चारों तरफ घूम रहे हैं" भ्रमजन्य होने से मिथ्या और त्यागने योग्य है। वास्तविक ज्ञान यही है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है और अपने गिर्द भी घूमती है।

(५३०) प्रश्न—नौका में स्थिरताबुद्धि और वृक्षों में संचलनबुद्धि असावधानी से होती है। यदि तुम नौका पर बैठ अपने मन को रोक, सावधानता से देखोगे तो यह विपरीत ज्ञान हो ही नहीं सकता। जो बात असावधानी से मनुष्य के अन्तःकरण में बैठी है, उसको सत्य मानना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है। —पृ० २७४, पं० २७

उत्तर—आपके उपर्युक्त लेख के अनुसार ही पृथिवी में स्थिरताबुद्धि तथा सूर्यादि में संचलन बुद्धि असावधानी, ग्रहविद्या के अज्ञान, वेद के सिद्धान्त के न जानने से होता है। यदि आप एकान्त में बैठकर, मन को एकाग्र कर पृथिवी के घूमने के हेतुओं पर विचार करके सावधानता से चिन्तन करेंगे तो यह विपरीत ज्ञान आपके अन्तःकरण से निकल जावेगा और आपको निश्चय हो जावेगा कि आकाश में कोई वस्तु घूमे बिना नहीं ठहर सकती, अतः सूर्यादि अपनी परिधि पर घूमते हैं

किसी के गिर्द नहीं घूमते और पृथिवी अपने गिर्द भी घूमती है जिससे दिन-रात पैदा होते हैं और सूर्य के गिर्द भी घूमती है, जिससे ऋतु-परिवर्त्तन होता रहता है।

(५३१) प्रश्न—जो पृथिवी को अचला और ग्रहगणों का भ्रमण मानते हैं उनका यह कथन है कि जैसे कुछ मनुष्य वृत्ताकार चबूतरे पर खड़े हों और उस चबूतरे की बाहिरी भूमि पर घोड़े दौड़ रहे हों, इसी प्रकार हम वृत्ताकार गोल पृथिवी पर ठहरे हैं और घोड़ों की भाँति भपंजर पृथिवी की परिक्रमा दे रहा है। —पृ० २७५, पं० ८

उत्तर—निम्न प्रमाणों तथा हेतुओं से आपका उपर्युक्त लेख सर्वथा असत्य है—

(१) भूमि गोल है—

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्॥३२॥ —सूर्यसिद्धान्त अध्याय १२

यहाँ पर पृथिवी का नाम भूगोल आने से सिद्ध है कि पृथिवी गोल है।

(२) भूमि वृत्ताकार चबूतरे की भाँति गोल नहीं अपितु गेंद की भाँति गोल है—

समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः।
कथमेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः॥ —लल्लसिद्धन्ते

यदि पृथिवी (चबूतरे की भाँति) चपटी है तो बहुत दूर स्थित ताड़ के समान ऊँचे-ऊँचे वृक्ष पूरे दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते, अर्थात् दूर स्थित वृक्षों के केवल ऊर्ध्व भाग दृष्टि पड़ने का कारण यही है कि उनका नीचे का भाग पृथिवी की गोलाई की ओट में आ जाता है। इससे सिद्ध है कि पृथिवी गेंद की तरह गोल है।

(३) भूमि चबूतरे की भाँति गोल क्यों नज़र आती है—

अल्पकायतया लोकाः स्वात्स्थानात्सर्वतोमुखम्।
पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम्॥

—सूर्यसिद्धान्ते भूगोलाध्याये १२।५४

मनुष्य (पृथिवी की अपेक्षा) बहुत छोटे शरीर का होने के कारण अपने स्थान से चारों ओर मुख करते हुए (गेंद के समान) वृत्ताकार पृथिवी को चक्र के सदृश देखते हैं।

इससे सिद्ध है कि पृथिवी वास्तव में गेंद के समान गोल है।

(४) आपने स्वयं ब्रह्माण्ड को गोल लिखा है, जिसमें पृथिवी भी शामिल है—

''दक्षिण दिशा से उत्तर तक और पूर्व से पश्चिम तक, नीचे से ऊपर तक, सब तरफ़ पचास कोटि योजन प्रमाण रखनेवाला मटर या गेंद की शकल का ब्रह्माण्ड है।''

—आपकी पुस्तक पृ० १५५, पं० १३

(५) यदि पृथिवी गोल चबूतरे की भाँति निश्चल है तो वह किसके सहारे ठहरी हुई है, क्योंकि आकाश में निश्चल पदार्थ सहारे के बिना नहीं ठहरा सकता, अतः आपका सिद्धान्त ग़लत है, जैसाकि—

मूर्त्ते धर्त्ता चेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत् स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्त्तेश्च मूर्त्तिः॥

—सिद्धान्तशिरोमणि, गोला० भु० ४

यदि पृथिवी का कोई मूर्त्तिमान् धर्त्ता माना जाए तो उस धर्त्ता का कोई और धर्ता मानना पड़ेगा और उसका कोई अन्य। इसी तरह से कहीं अन्त न पावेगा, अर्थात् अनवस्था दोष आवेगा। अन्त में यही मानना पड़ेगा कि पृथिवी अपनी ही शक्ति से स्थित है, अर्थात् उसको किसी मूर्त्तिमान

धर्त्ता की आवश्यकता नहीं है। अत:—

भपंजरस्य भ्रमणावलोकादाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः। —सिद्धान्तशिरोमणि, गोला०भु० ७

सब तारागण (नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह) बिना किसी आधार के आकाश में घूमते हैं और क्योंकि पृथिवी भी एक ग्रह है, इसलिए यह भी आधाररहित ही प्रतीत होती है, अर्थात् घूमती है।

(६) यदि यह मान लिया जावे कि पृथिवी चबूतरे की भाँति है और सूर्य आदि ग्रह इसके चारों ओर घोड़ों की भाँति दौड़ रहे हैं तो दिन और रात का सिलसिला नहीं बन सकेगा, क्योंकि फिर सूर्य अस्त कैसे होगा? अत: आपका सिद्धान्त ग़लत है, जैसाकि—

घट इव निजमूर्त्तिच्छायायैवातपस्थः॥—सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय [अनुपलब्धमूल]
जैसे धूप में रक्खा हुआ घड़ा आधा प्रकाशित और आधा अपनी ही मूर्त्ति की छाया में रहता है। इससे सिद्ध है कि पृथिवी के गोल होने से ही दिन-रात पैदा हो सकते हैं। और भी—

भूग्रहभानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि। अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते॥

—आर्यभट्टीयम्, गोलपा० ५

गोल होने के कारण भूमि आदि उपग्रहों के आधे भाग अपनी छाया से अन्धकार में रहते हैं और सूर्य के सामने के आधे भाग प्रकाशित होते हैं। उन्हीं का नाम दिन-रात है।

अत: सिद्ध है कि पृथिवी को चबूतरे के समान चपटी मानने से दिन-रात की व्यवस्था नहीं बन सकती, अपितु गेंद के समान गोल मानने से ही दिन-रात की व्यवस्था बन सकती है।

(७) पृथिवी को वृत्ताकार चबूतरे की भाँति चपटी तथा ग्रहों को घोड़ों की भाँति उसके चारों तरफ दौड़ता हुआ मानने से सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी की छाया किसी पर न पड़ सकेगी, अत: आपका सिद्धान्त ग़लत है, जैसाकि—

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद् भवेत्।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ॥ —सूर्यसिद्धान्त० ४।९

सूर्यग्रहण में चन्द्रमा बादल के सदृश सूर्य को ढक लेता है और चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा पूर्व की ओर जाता हुआ पृथिवी की छाया में आ जाता है, अत: पृथिवी को गेंद की भाँति गोल मानने से सूर्य तथा चाँद के ग्रहण का होना सम्भव है, अन्यथा नहीं।

इत्यादि अनेक हेतुओं से आपका सिद्धान्त क़तई निर्मूल और युक्तिविरुद्ध है।

(५३२) प्रश्न—सूर्यसिद्धान्त ने उन ग्रहों के नाम स्पष्ट लिख दिये जो पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं। आकाशस्थ सब ही तारे चौबीस घण्टे में पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं।

—पृ० २७५, पं० २४

उत्तर—हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि सूर्यसिद्धान्त सूर्य का भूमि के गिर्द घूमना नहीं मानता तथापि यदि आपकी बात मान ली जावे कि 'सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों ही चौबीस घण्टे में पृथिवी के गिर्द चक्र लगा जाते हैं और पृथिवी घूमती नहीं अपितु वृत्ताकार चबूतरे की भाँति है और हम उसके ऊपर बैठे हैं और सूर्य-चाँद आदि घोड़ों की भाँति उसके चारों ओर २४ घण्टे में चक्र लगाते हैं तो ऋतु-परिवर्तन, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, दिनों का बढ़ना-घटना, सूर्य-चाँद का ग्रहण इत्यादि सब असम्भव हो जावेंगे, अत: आपके ये सम्पूर्ण सिद्धान्त कपोलकल्पित और मिथ्या ही हैं।

(५३३) प्रश्न—**'भ्रमति भ्रमस्थितेव ६', 'अन्यच्च भवेद् ७'** इत्यादि वराहमिहर तथा **'यदि च भ्रमति ४२', 'पूर्वाभिमुखे ४३'** शि० वृ० गो०। इन श्लोको में भूभ्रमणवादियों के सिद्धान्त में पाँच दोष दिखलाये हैं: (१) वायु का ज़ोरदार चलना। (२) बड़े ज़ोर के साथ ध्वजा-

पताकाओं का पश्चिम को उड़ना। (३) बादल का पश्चिम को जाना। (४) बाण का पश्चिम को गिरना। (५) पक्षियों को घोंसले का न मिलना। —पृ० २७६, ८

उत्तर—इन आपके दिये श्लोकों में पिछले चार दोष तो वर्णन किये गये हैं, किन्तु प्रथम दोष आपने अपने घर से ही मिला दिया है। लेकिन आपको कुछ-न-कुछ हेर-फेर किये बिना चैन कहाँ? चोर यदि चोरी छोड़ दे तो हेरा-फेरी तो नहीं छोड़ता! खैर, अब आप अपनी युक्तियों का उत्तर सुनिए।

(१) आपका प्रथम आक्षेप यह है कि जैसे ''रेल और मोटर के ज़ोर से चलने से वायु आगे से पीछे को बड़े ज़ोर से चलती है, ऐसे ही यदि पृथिवी पश्चिम से पूर्व को घूमती है तो वायु बड़े ज़ोर के साथ हर समय पूर्व से पश्चिम को चलनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि पृथिवी घूमती नहीं'', सो सुनिएगा। पृथिवी की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, पृथिवी के चारों तरफ़, आकाश में सैकड़ों-सहस्रों लोक-लोकान्तर विद्यमान हैं जो सब-के-सब आपस की आकर्षणशक्ति से आकाश में ठहरे हुए हैं। पृथिवी भी उन्हीं की आकर्षणशक्ति से आकाश में ठहरी हुई है। इनमें से कोई पृथिवी के समीप हैं और कोई दूर हैं, और पृथिवीसहित ये सभी अपनी-अपनी परिधि पर घूमते और पृथिवी की अपेक्षा ये सब लोकलोकान्तर कोई पूर्व से पश्चिम को घूमता है और कोई पश्चिम से पूर्व को, कोई उत्तर से दक्षिण को घूमता है और कोई दक्षिण से उत्तर को, कोई ऊपर से नीचे को घूमता है और कोई नीचे से ऊपर को, कोई किसी के चारों ओर घूमता है तो कोई अपने गिर्द स्वयं ही घूमता है। सूर्य अपनी परिधि पर स्वयं घूमता है और पृथिवी अपने गिर्द स्वयं भी घूमती है और सूर्य के चारों ओर भी घूमती है और चाँद पृथिवी के गिर्द घूमता है। ऐसी सूरत में आकाश के अन्दर वर्त्तमान वायु भी परस्पर की आकर्षणशक्ति से आकर्षित हुई किसी ओर को वेग से नहीं चल सकती अपितु स्वाभाविकरूप से चारों तरफ़ को ही चलती रहती है और सूर्य की गरमी के निमित्त से तेज और मन्द होती रहती है। इससे आपके दूसरे तथा तीसरे आक्षेप के उत्तर भी स्वयं ही आ गये, क्योंकि जब पृथिवी के चलने से पूर्व से पश्चिम को हर समय वायु का वेग ही असम्भव है तो फिर पताका तथा बादल हर समय पश्चिमी को उड़कर जाएँगे कैसे?

अब रही बात चौथे और पाँचवें आक्षेप की, सो ये दोनों सर्वथा ही निर्मूल हैं, क्योंकि पृथिवी के सम्पूर्ण पदार्थ पृथिवी की आकर्षणशक्ति से इसके साथ बँधे हुए हैं और पृथिवी इन सबके सहित ही घूमती है। पक्षी अपने स्थान से उतनी ही दूर हो सकेगा जितना वह अपने यत्न से उड़ेगा और बाण भी उतना ही ऊँचा जा सकेगा जितनी शक्ति से कोई उसे ऊपर को फेंकेगा, किन्तु पृथिवी की आकर्षण-शक्ति से वे मुक्त नहीं हो सकते, अतः न पक्षी घोंसलों से च्युत हो सकते हैं और न बाण स्वयं पश्चिम को गिर सकता है, जैसेकि रेल में बैठकर गेंद के उछालने से पीछे को नहीं गिरती वहीं गिरती है और रेल की लालटैनों पर उड़नेवाले पतंगे पीछे को नहीं जाते वहीं उड़ते रहते हैं, क्योंकि रेल इन सब वस्तुओं को अपने साथ ही लेकर चलती है। इसी प्रकार से पृथिवी भी अपनी आकर्षणशक्ति से सब पदार्थों को अपने साथ ही लेकर चलती है, अकेली नहीं चलती, अतः ये आक्षेप निर्मूल हैं।

(५३४) प्रश्न—अमरीकावालों ने ताराओं के देखने की एक दूरबीन बनाई, उस दूरबीन से लोगों को तो तारे दीखे किन्तु हमने तारों को न देखकर दूरबीन में यह देखा कि पृथिवी अचला है, वह कभी एक इञ्च भी अपने स्थान से नहीं हटती। काशी के मानमन्दिर में ध्रुव के देखने का एक यन्त्र बना हुआ है। यन्त्र के आरम्भ और अन्त में अर्थात् दक्षिण और उत्तर में दो लोहे के कड़े लगे हुए हैं। जब मनुष्य नीचे के कड़े से दृष्टि की लाइन ऊपर के कड़े के बीचोंबीच लाता है तो उस सीध में ध्रुव दीख पड़ता है। एक दिन मैंने साढ़े दस बजे कुरसी डाल और

उसपर बैठ दूरबीन लगाई, रात के डेढ़ बजे बन्द कर दी; साढ़े दस से डेढ़ बजे तक ध्रुव तारा दूरबीन से उन लोहे के वृत्तों में दीखा करा। जहाँ साढ़े दस बजे था वहाँ ही डेढ़ बजे रहा। एक बाल जितना भी फर्क उसमें न पड़ा। बस हमको ज्ञान हो गया कि ध्रुव तारे को शास्त्रों ने स्थिर माना है और इधर पृथिवी को अचला कहा है। वास्तव में ये दोनों ही नहीं चलते। यदि दोनों में से कोई एक चलता होता तो किसी-न-किसी समय इस लाइन से ध्रुव तारा पूर्व-पश्चिम अवश्य हो जाता।

—पृ० २८४, पं० ४

उत्तर—धन्य हो महाराज! आपने तो न्यूटन की भी क़ब्र पर लात मार दी। जो बात न वेद को सूझी और न शास्त्र को सूझी और न ही सैकड़ों बरसों में पदार्थविद्या के विद्वानों और दूरबीन बनानेवालों को सूझी वह आपको केवल तीन घण्टों में सूझ गई और वह भी रात के डेढ़ बजे सूझी। क्यों न हो, गुरु के प्यारे विद्यार्थी जो ठहरे! किसी फ़ारसी के कवि ने शायद यह आप-जैसों के लिए ही कहा है कि "**बबीं अक़्लो दानिश बबायद ग्रीस्त**"॥

श्रीमान्जी! आपने तो केवल तीन ही घण्टे का परीक्षण किया, ध्रुव तो उस दिन से ही उस यन्त्र में से नज़र आता है जिस दिन से वह यन्त्र बना है। कारण यह है कि ध्रुव पृथिवी की कीली पर है और पृथिवी गोल है। पृथिवी की गोलाई पर खड़े होकर जहाँ भी ध्रुव को आप एक बार देखें, उस स्थान से आपको ध्रुव उसी स्थान में हमेशा नज़र आता रहेगा। ध्रुव अचल नहीं है, अपितु वह एक ही स्थान में अपनी ही कीली पर घूमता है और चूँकि वह पृथिवी की कीली पर है, अतः पृथिवी के घूमने पर भी प्रत्येक मनुष्य पृथिवी की गोलाई पर खड़ा हुआ ध्रुव को हमेशा उसी स्थान में देखता है। जैसे गाड़ी के पहिये की गोलाई पर बैठा हुा कीड़ा पहिये के घूमने पर भी पहिये के ध्रुव को उसी स्थान में देखता रहेगा, अतः आपकी यह नक़ली दलील पृथिवी को गतिशून्य सिद्ध नहीं कर सकती। हाँ, आपके दिमाग़ की ख़राबी को अवश्य सूचित करती है।

(५३५) प्रश्न—पृथिवी की कीली पर ध्रुव है या यह कोरी गप्प है। दुर्जनतोषन्याय से हम मान लें कि ध्रुव पृथिवी की कीली पर है तो भी ध्रुव के नीचे के देश भले ही उस स्थान में रहें किन्तु काशी आदि जो ध्रुव से दक्षिण में हैं पृथिवी के भ्रमण से किसी समय उत्तर में अवश्य आवेंगे ऐसा नहीं होता। अतएव भूभ्रमण मिथ्या और स्वामी दयानन्दजी का लेख भी मिथ्या है।

—पृ० २८५, पं० ९

उत्तर—यह सोलह आने सत्य है कि ध्रुव पृथिवी की कीली पर है। इसी कारण से इसका नाम ध्रुव पड़ गया है। पृथिवी के घूमने से काशी आदि स्थान तब उत्तर में आ सकते हैं यदि पृथिवी को कुम्हार के चाक की भाँति चपटी और गोल माना जावे, किन्तु पृथिवी कुम्हार के चाक की भाँति चपटी और गोल नहीं है अपितु पृथिवी गेंद की भाँति गोल है, अतः आपका बताया हुआ दोष नहीं आ सकता। इससे सिद्ध हुआ कि पृथिवी गतिशून्य नहीं अपितु घूमती है।

हम हैरान हैं कि ये पौराणिक लोग पृथिवी को गतिशून्य कैसे कह सकते हैं, जिनके पुराणों में पृथिवी का आना, जाना, रोना, बोलना, देखना आदि सम्पूर्ण क्रियाकलाप वर्णित हैं, जैसेकि—

पुरा वाराहकल्पे सा भाराक्रान्ता वसुन्धरा। भृशं बभूव शोकार्ता ब्रह्माणं शरणं ययौ॥ २॥
सुरैश्चासुरसन्तसैर्भृशमुद्विग्नमानसैः। सार्द्धं तैस्तां दुर्गमां च जगाम वेधसः सभाम्॥ ३॥
ददर्श तस्यां देवेशं ज्वलन्तं ब्रह्मतेजसा॥ ४॥
भक्त्या सा त्रिदशैः सार्द्धं प्रणम्य चतुराननम्।
सर्वं निवेदनं चक्रे दैत्यभारादिकं मुने।
साश्रूपूर्णा सपुलका तुष्टाव च रुरोद च॥ ७॥ —ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ४

भाषार्थ—पहले वाराहकल्प में पृथिवी बहुत भार से दु:खी हुई, बहुत शोकग्रस्त होकर ब्रह्मा की शरण में गई॥ २॥ असुरों से दु:खी हुए और व्याकुल मनवाले देवताओं के साथ वह पृथिवी ब्रह्मा की दुर्गम सभा में गई॥ ३॥ वहाँ पृथिवी ने ब्रह्मतेज से प्रज्वलित ब्रह्मा को देखा॥ ४॥ उस पृथिवी ने देवताओंसहित भक्ति से ब्रह्मा को प्रणाम करके दैत्य आदिकों का भार, सम्पूर्णरूप से ब्रह्मा से कह दिया और आँखों में आँसू भरकर रोमांचित होकर स्तुति करने और रोने लगी॥ ७॥

कहिए महाराज! यहाँ पर **''ययौ, जगाम, ददर्श, प्रणम्य, चक्रे, तुष्टाव तथा रुरोद''** क्रियाएँ पृथिवी को क्रियाशून्य तथा गतिशून्य सिद्ध करती हैं या क्रियाशील और गतिशील सिद्ध करती हैं? पुराणों से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं, किन्तु पुस्तकविस्तारभय से केवल एक ही दिया गया है।

वेदानुकूलता

(५३६) प्रश्न—आज तक आर्यसमाजियों को यह पता न चला कि वेदानुकूलता किस चिड़िया का नाम है। —पृ० १२४, पं० २१

उत्तर—आर्यसमाजियों को तो पता है, किन्तु आपकी बुद्धि पर ही पक्षपात का पर्दा पड़ा हुआ है, जिससे आपके लिए मानना कठिन हो रहा है। लीजिए, हम आपके सामने वेदानुकूलता के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से वर्णन कर देते हैं—

(१) **वेद**—नि:सन्देह वेद ईश्वर का ज्ञान है और ईश्वर निर्भ्रान्त है, अत: उसका ज्ञान वेद भी निर्भ्रान्त होने से स्वत:प्रमाण है। ईश्वर के सर्वज्ञ होने के कारण उसका ज्ञान वेद सब विद्याओं का भण्डार है, किन्तु वेद में प्रत्येक विद्या का मूलबीज मिलता है, विस्तारपूर्वक व्याख्या नहीं मिलती। जिस प्रकार से बड़ का बीज बहुत छोटा होता है कि उसको कीड़ी भी उठाकर चल देती है, किन्तु वृक्ष इतना बड़ा होता है कि उसको हाथी भी नहीं उखाड़ सकता। यह ठीक है कि वह वृक्ष इस बीज के अन्दर मूलरूप से पहले से ही विद्यमान होता है, किन्तु वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसको प्रत्येक मनुष्य देख और जान नहीं सकता। इसी प्रकार वेद में प्रत्येक विद्या का बीज विद्यमान है, उसकी व्याख्या नहीं। हालाँकि उसका विस्तार भी उस बीज के अन्दर ही विद्यमान है, किन्तु उसको प्रत्येक मनुष्य नहीं जान सकता, ऋषिलोग ही समाधि द्वारा जान सकते हैं। वेद में वे मौलिक सिद्धान्त वर्णन किये गये हैं जो तीनों कालों में एकरस स्थिर रहते हैं, उनमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता। वेदों में जिस काम के करने की आज्ञा दी गई है वह धर्म है और जिस कर्म के करने का निषेध किया गया है वह पाप है। धर्म और अधर्म के जानने में वेदानुकूलता की यह प्रथम कसौटी है।

स्मृति—वेदों के जाननेवाले विद्वान् ऋषि और मुनियों की बनाई हुई पुस्तकों का नाम स्मृति है। चूँकि जीव अल्पज्ञ होते हैं, उनमें भ्रान्ति का होना सम्भव है, अत: जीवकृत होने के कारण स्मृतिग्रन्थ परत:प्रमाण हैं, अर्थात् वे वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वेदानुकूल हों। जहाँ पर वे वेद के विरुद्ध होंगे वहाँ पर वेद के मुक़ाबले में उनका प्रमाण न माना जावेगा। स्मृतियों में वेद के मूल सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की हुई होती है। जिन बातों के विषय में वेद की स्पष्ट आज्ञा न मिलती हो, उनके विषय में देश तथा काल के अनुसार नियम बनाये जाते हैं। शर्त यह है कि वे नियम वेद के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। यदि स्मृतियों में कोई भी नियम वेद के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा तो वह नियम वेदविरुद्ध होने से माना न जावेगा। हाँ, जिन नियमों के विषय में वेद की चाहे कोई स्पष्ट आज्ञा न हो, किन्तु उनके विरुद्ध भी कोई वेद का प्रमाण न हो, वे वेदानुकूल ही प्रमाणित किये जावेंगे। इस प्रकार के नियम देश तथा काल की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहते हैं। जिन कामों के विषय में वेद में तो कोई स्पष्ट आज्ञा

न मिले, किन्तु वेद के जाननेवाले ऋषियों की बनाई हुई स्मृतियों में आज्ञा विद्यमान हो तो ऐसी स्थिति में वे स्मृतियाँ जिस काम के करने की आज्ञा दें वह धर्म और जिसका निषेध करें वह अधर्म है। धर्म और अधर्म के जानने में वेदानुकूलता की यह दूसरी कसौटी है। स्वामी दयानन्दजी महाराज चूँकि वेदों के विद्वान् और ऋषि थे, अत: उनकी बनाई हुई पुस्तकें भी स्मृति का दर्जा रखती हैं। उनकी पुस्तकें भी वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वेद के अनुकूल हों। जहाँ पर वे वेद के विरुद्ध होंगी, वहाँ वेद के मुक़ाबले में उनका प्रमाण न माना जावेगा। स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थों में वेद के मौलिक सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या है। हाँ, स्वामीजी के ग्रन्थों में भी कई-एक ऐसी बातों के विषय में कि जिन बातों की वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं मिलती, देश और काल की आवश्यकता के अनुसार नियम बनाये गये हैं। इन नियमों को भी वेदानुकूल ही माना जावेगा जबतक कि इनके विरुद्ध वेद का प्रमाण देकर यह सिद्ध न किया जावे कि स्वामीजी का लिखा हुआ अमुक नियम अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध है।

(३) **सदाचार**—सदाचार का अर्थ वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों का चालचलन है। ऋषि और मुनियों का चालचलन भी वहीं तक प्रमाण हो सकता है कि जहाँ तक वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हो, किन्तु जहाँ पर वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध होगा वहाँ वह वेद के मुक़ाबलें में प्रमाण न माना जावेगा। हाँ, जिन कामों के विषय में वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा न हो और वेद के जाननेवाले ऋषियों ने भी अपनी स्मृतियों में उनके विषय में कोई नियम न बनाया हो, ऐसी स्थिति में यह देखना चाहिए कि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों का इस विषय में क्या आचरण है; वह आचारण भी वेद के अनुकूल ही माना जावेगा। ऐसी सूरत में जो काम ऋषि-मुनियों के आचरण के अनुकूल हो वह धर्म और जो विरुद्ध हो वह अधर्म माना जावेगा। धर्म और अधर्म के जानने में वेदानुकूलता की यह तीसरी कसौटी है। स्वामी दयानन्दजी महाराज चूँकि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले महर्षि थे, अत: उनका आचरण भी वहाँ तक ही प्रमाण होगा कि जहाँ तक वह वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार होगा। यदि स्वामी दयानन्दजी के आचरण में भी कोई ऐसी घटना हो कि जो वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण न मानी जावेगी। हाँ, जिस काम के विषय में वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा न हो और वेदानुकल स्मृतियों ने भी उसके विषय में कोई नियम न बनाया हो, ऐसे काम के बारे में हमें यह देखना होगा कि ऋषि दयानन्दजी का इस विषय में क्या आचरण है। वह आचरण भी वेद के अनुकूल ही माना जावेगा। जबतक उस आचरण के विषय में वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों से प्रमाण देकर यह सिद्ध न कर दिया जावे कि ऋषि दयानन्दजी का अमुक आचरण अमुक वेदमन्त्र वा वेदानुकूल स्मृति की अमुक आज्ञा के विरुद्ध है।

(४) **आत्मा की प्रियता**—आत्मा की प्रियता—युक्ति, तर्क, दलील और आत्मा की अनुकूलता का नाम है। यह भी वहाँ तक ही प्रमाण मानी जावेगी जहाँ तक वह वेद, वेदानुकूल स्मृतियों तथा वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों के आचरण के विरुद्ध न हो। यदि कहीं युक्ति, तर्क, दलील, और आत्मा की अनुकूलता वेद, वेदानुकूल स्मृतियों तथा वेद व वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों के आचरण के विरुद्ध होगी तो वह वहाँ पर प्रमाण न मानी जावेगी। हाँ, जिन कामों के विषय में वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा न मिले और वेदानुकूल स्मृतियों ने भी उनके बारे में कोई नियम न बनाया हो और वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों के आचरण से भी उनके बारे में कोई पता न चले तो ऐसी स्थिति में इन कामों के विषय में युक्ति, तर्क, दलील और आत्मा की अनुकूलता से ही निर्णय करना चाहिए। वह निर्णय भी वेद के अनुकूल ही माना जावेगा। ऐसी सूरत में जो काम युक्ति, तर्क, दलील और आत्मा के अनुकूल

हो वह धर्म और जो विरुद्ध हो वह धर्म माना जावेगा। धर्म और अधर्म के जानने में वेदानुकूलता की यह चौथी कसौटी है। इनमें प्रमाणभाग देखो, प्रश्न नं० ४६६।

यह है वह वेदानुकूता की चिड़िया जोकि ज्ञानान्ध होने के कारण आपको नज़र नहीं आती, जैसाकि लिखा भी है कि—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे विनिर्मिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥५७॥

—भविष्य० मध्यम० भाग १ अ० ५

श्रुति और स्मृति ब्राह्मण के दो नेत्र निर्माण किये गये हैं, उनमें एक से हीन काना तथा दोनों से हीन अन्धा कहा जाता है।

(५३७) प्रश्न—जो विधि या निषेध वेद में आया हो वही अन्य ग्रन्थ में आ जावे क्या इसका नाम वेदानुकूलता है? यदि ऐसा है तब तो वेदानुकूलता की आवश्यकता ही नहीं। कल्पना करो कि वेद में ईश्वर को निराकार लिखा है और मनु ने भी ईश्वर को निराकार ही लिखा है तो फिर मनु के मानने की आवश्यकता ही क्या रही। ईश्वर निराकार है इस बात को तो वेद ही सिद्ध कर गया। ऐसी दशा में मनु का मानना अनावश्यक और वेदानुकूल का डिमडिम पीटना निष्फल है। —पृ० १२४, पं० २५

उत्तर—वेदानुकूलता की निम्न कारणों से आवश्यकता है—

(१) वेद के मौलिक सिद्धान्तों की जो व्याख्या अन्य ग्रन्थों ने की है उस व्याख्या का अभिप्राय वेदानुकूल का ग्रहण करना और वेद के प्रतिकूल का ग्रहण न करना है जैसाकि वेद ने '**स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्**' [यजुः० ४०।८] इस मन्त्र से परमात्मा को निराकार, व्यापक, शुद्धस्वरूप, शरीररहित और नाड़ी-नस के बन्धन से रहित वर्णन किया है और मनुस्मृति में '**तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे**' [ऋ० १०।१२९।३] इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित सृष्ट्युत्पत्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

—मनु० १।६

कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक के '**स्वयंभू**' शब्द को लेकर इससे परमात्मा का शरीर धारण करना सिद्ध किया है। जैसाकि '**स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहणं करोति**' तथा आपने भी अवतारप्रकरण पृ० १७१, पं० २५ में लिखा है कि—

''स्वयंभू शब्द का अर्थ अपने-आप शरीर धारण करना होता है। जब ईश्वर स्वयंभू है फिर उसको निराकार बतलाना संसार पर अपनी बेवक़ूफ़ी सिद्ध कर देने को छोड़कर अन्य कुछ भी मतलब नहीं निकलता।''

अब कुल्लूकभट्ट का तथा आपका इस श्लोक से परमात्मा का शरीरधारी तथा अवतार और साकार सिद्ध करना वेद के विरुद्ध है, क्योंकि यहाँ पर स्वयंभूः का अर्थ—

'**नोत्पाद्यत्वादपूर्वत्वात् स्वयंभूरिति विश्रुतः॥१५॥** —भविष्य० ब्राह्म० अ० ७७

''चूँकि परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता तथा अनादि है, इसलिए परमात्मा को स्वयंभू कहते हैं'' यही वेदानुकूल हो सकता है। इससे सिद्ध है कि वेद के मौलिक सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के लिए मनुस्मृति आदि आर्षग्रन्थों की आवश्यकता है तथा आप-जैसे स्वार्थी, मतवादी उस व्याख्या से वेदविरुद्ध अर्थ की कल्पना न कर सकें, अतः वेदानुकूलता की आवश्यकता है।

(२) वेद ने जिस काम के करने की आज्ञा दी है और ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में उसकी

विस्तारपूर्वक व्याख्या की है उस व्याख्या में स्वार्थी, मतवादी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए निषेधपरक श्लोक न मिला दें, अतः वेदानुकूलता की आवश्यकता है, जैसेकि वेद ने **'या पूर्वं पतिं वित्त्वा'**, **'समानलोको भवति'**, **'कुह स्विद्दोषा'** इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों द्वारा स्त्री को दूसरे पति की आज्ञा दी है और मनुस्मृति ने **'सा चेदक्षतयोनिः स्यात्'**, **'देवराद्वा सपिण्डाद्वा'**, **'यस्तल्पजः'** इत्यादि अनेक श्लोकों में उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उसी मनुस्मृति में किसी स्वार्थी मतवादी ने **'नान्यस्मिन् विधवा नारी'** इत्यादि श्लोक मिला दिये जो कि स्त्री को दूसरे पति का निषेध करते हैं। ये श्लोक वेद की आज्ञा के विरुद्ध हैं, अतः वेद के मौलिक सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक सरल व्याख्या के लिए मनुस्मृति आदि आर्षग्रन्थों के मानने की आवश्यकता है तथा स्वार्थी, मतवादी लोग उन आर्षग्रन्थों में वेद के विरुद्ध प्रक्षेप न कर दें, अतः वेदानुकूलता की आवश्यकता है।

(३) वेद जिस काम के करने का निषेध करता हो और ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की हो उस व्याख्या में स्वार्थी, मतवादी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उस काम के आज्ञापरक श्लोक न मिला दें अतः वेदानुकूलता की आवश्यकता है। जैसेकि वेद ने **'व्रीहिमत्तम् यवमत्तम्'**, **'पुष्टिं पशूनाम्'**, **'शेरभक शेरभ'** इत्यादि अनेक मन्त्रों द्वारा अन्न भक्षण व पशुओं के मारने तथा उनके मांस खाने का निषेध किया है और मनुस्मृति में **'योऽहिंसकानि'**, **'समुत्पत्तिं च मांसस्य'**, **'अनुमन्ता विशसिता'**, **'मांसभक्षयिताऽमुत्र'** इत्यादि अनेक श्लोकों द्वारा इसकी व्याख्या करके मांस खाना पाप तथा इसमें आठ कसाई बतलाये गये हैं, किन्तु इसी मनुस्मृति से स्वार्थी, पापी, मतवादी, मांसाहारी लोगों ने **'यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः'**, **'नियुक्तस्तु यथान्यायं'**, **'न मांसभक्षणे दोषः'** इत्यादि अनेक श्लोक मिला दिये, जिनसे यज्ञ में पशुओं का मारना, मांस से हवन करना, मांस का खाना धर्म बतलाया गया है और न खानेवाले को पापी वर्णन किया गया है। ये सब श्लोक वेद के विरुद्ध हैं, अतः वेद के मौलिक सिद्धान्तों की सरल व्याख्या के लिए मनुस्मृति आदि ग्रन्थों का मानना आवश्यक है और कोई स्वार्थी, मतवादी वेद के विरुद्ध उन आर्षग्रन्थों में प्रक्षेप न कर दें, अतः वेदानुकूलता की आवश्यकता है।

(४) जिन कामों के विषय में वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा न मिलती हो और ऋषि तथा मुनि लोगों ने देश तथा काल के अनुसार उसकी आज्ञा दी हो और वह आज्ञा वेद के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो उस आज्ञा को वेदानुकूल मानते हुए उसका पालन करने के लिए वेदानुकूलता की आवश्यकता है। जैसेकि मनुस्मृति में **'न लंघयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति'**, **'न नग्नः स्नानमाचरेत्'**, **'नोच्छिष्टं कस्याचिद्दद्यात्'**, **'अभिवादयेद् वृद्धाँश्च'**, **'भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्'**, **'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत'**, **'न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयात्'**, **'उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्'**, **'अद्वारेण च नातीयाद्'**—बछड़े की रस्सी के ऊपर से न गुज़रे, वर्षा होते हुए भागे नहीं, नग्न होकर स्नान न करे, किसी को जूठा भोजन न दे, वृद्धों को अभिवादन करे, भद्र-भद्र ऐसा प्रत्येक से बोले, ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे, मिट्टी के ढेले न फोड़ता रहे, जूता और कपड़े दूसरे के पहिने हुए न पहिने, बिना द्वार के मकान में न जावे—इत्यादि-इत्यादि अनेक ऐसे कामों की आज्ञा है कि जिनके बारे में वेदों में कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं मिलती, किन्तु मनु ने देश तथा कालानुसार ये नियम बना दिये हैं, चूँकि वेदों में इनका निषेध भी नहीं मिलता, अतः ये आज्ञाएँ भी वेदानुकूल ही मानी जावेंगी, इसलिए वेदानुकूलता की आवश्यकता है।

(५३८) प्रश्न—यदि हम मान लें कि जिस कार्य का वेद ने निषेध नहीं किया और अन्य ग्रन्थ ने उस कार्य के करने की आज्ञा दी है, इसका नाम वेदानुकूलता है तो ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति दोष आ जावेगा। वेद में जिनका निषेध नहीं और दूसरे ग्रन्थों में विधान है—वे सब कार्य वेदानुकूल कहलावेंगे। इस लक्षण में आर्यसमाजियों को रोज़े रखकर नमाज़ पढ़नी होगी।

मसीह को ईश्वर का पुत्र मानकर गिरजे में जाना होगा। जैनियों के तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ पूजनी होंगी और पुराणों को सत्य मानना तथा ज़न्द अवेस्ता से अग्नि का पूजन करना होगा, क्योंकि इन सब कार्यों का निषेध वेद में नहीं है, फिर वेदानुकूलता कहते किसको हैं? —पृ० १२५, पं० ३

उत्तर—बेशक जिन कामों के करने का वेद ने निषेध नहीं किया और आर्षग्रन्थों ने उनके करने की आज्ञा दी है वे काम भी वेदानुकूल ही गिने जावेंगे। इसके मानने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता, क्योंकि ऐसी आज्ञाएँ आर्ष अर्थात् ऋषिकृत ग्रन्थों की ही मानी जावेंगी। अनार्ष अर्थात् अनृषिकृत ग्रन्थों की नहीं मानी जावेंगी, जैसाकि—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

—मनु० २।६

भाषार्थ—वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है और वेद के जाननेवाले ऋषियों की स्मृतियाँ तथा स्वभाव भी धर्म का मूल है और साधु अर्थात् ऋषि लोगों का आचरण और आत्मा की सन्तुष्टि भी धर्म का मूल है, अर्थात् ऋषिकृत ग्रन्थ तथा ऋषि-आचार और ऋषियों की आत्मानुकूलता तभी प्रमाण है यदि उनका वेद के साथ विरोध न आता हो॥६॥

अब कृपया यह बतलाइए कि (१) रोज़े रखने, (२) नमाज़ पढ़ने, (३) मसीह को ईश्वर मानने, (४) गिरजा में जाने, (५) तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ पूजना, (८) ज़न्द अवेस्ता का मानना—ये सम्पूर्ण आज्ञाएँ किन ऋषिकृत ग्रन्थों में हैं और कुरान, अंजील, जैनग्रन्थ, भागवतादि पुराण तथा ज़न्द अवेस्ता को किसने ऋषिकृत ग्रन्थ माना है और हज़रत मुहम्मद साहिब, हज़रत ईसा, पारसनाथ, भागवतादि के कर्त्ता और ज़न्द अवेस्ता के कर्त्ता को ऋषि किसने माना है? क्या ये सब ग्रन्थों के कर्त्ता तथा मतों के प्रवर्तक वेदों के विद्वान् ऋषि थे? यदि नहीं तो इनका कथन वेदानुकूलता में प्रमाण कैसे माना जा सकता है? अतः आर्यसमाजियों के लिए उपर्युक्त कार्य कर्त्तव्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि आर्यसमाज उपर्युक्त कार्यों की आज्ञा देनेवाले ग्रन्थों को आर्ष नहीं मानता और न ही इन ग्रन्थों के कर्त्ताओं को वेद का ज्ञाता तथा ऋषि मानता है। हाँ, यदि सनातनधर्म ऐसा मानता हो तो उपर्युक्त कामों को शौक से करे।

और उपर्युक्त आठों काम तो हैं भी वेद के विरुद्ध, क्योंकि '**अन्धन्तमः प्रविशन्ति**' [यजुः० ४०।९] यह मन्त्र ईश्वर के स्थान में प्रकृति वा प्रकृतिजन्य पदार्थों की पूजा को पाप बतलाता है, अतः ईश्वर के स्थान में अग्नि वा गिरजा की पूजा करना वेद के विरुद्ध होने से पाप है। ऐसे ही तीर्थंकरों की मूर्त्तियों का पूजना भी वेदविरुद्ध होने से पाप है। '**स पर्य्यगात्**' [यजुः० ४०।८] ईश्वर को शरीर से रहित वर्णन करता है और ईसा मसीह शरीरधारी थे, अतः ईसा मसीह को ईश्वर मानना वेद के विरुद्ध होने मिथ्या है। '**तस्माद्यज्ञात्**' [यजुः० ३१।७] यह मन्त्र चारों वेदों को ईश्वर का ज्ञान बतलाता है, अतः कुरान, बाइबल, ज़न्द अवेस्ता, भागवतादि पुराण—इन पुस्तकों को ईश्वरकृत मानना वेद के विरुद्ध होने से अप्रमाण है।

'**नाम नाम्ना जोहवीति**' [अथर्व० ६।१४।२] यह मन्त्र दोनों समय ईश्वर की उपासना स्थिर मन से करने की आज्ञा देता है, अतः पाँच समय नमाज़ का उठते-बैठते अदा करना वेद के विरुद्ध एवं कल्पनामात्र ही है।

'**व्रीहिमत्तं यवमत्तम्**' [अथर्व० ६।१४।२] यह मन्त्र नित्यप्रति उचित भोजन करने की आज्ञा देता है, अतः रोज़ों के रूप में उपवास करना वेदविरुद्ध होने से मानने के योग्य नहीं है।

(५३९) प्रश्न—वेद ने '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' इस मन्त्र से यह बतलाया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, क्रम से विराट् के मुख, बाहू, ऊरू, पाद से उत्पन्न हुए। इस वेदमन्त्र का तो स्वामीजी ने मज़ाक कर डाला कि यह बात ग़लत है। इस मन्त्र के पूरे अभिप्राय को स्पष्ट

करनेवाला **'लोकानान्तु विवृद्ध्यर्थं'** जो मनु का श्लोक था, उसको स्वामीजी ने वेदविरुद्ध बतलाया और **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'** इस मनु के श्लोक को वेदानुकूल बताकर वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव से सिद्ध किया और जन्म से वर्णव्यवस्था का खण्डन कर दिया। गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था किसी भी वेद, धर्मशास्त्र, दर्शन में नहीं लिखी। यह भी बतलाना होगा कि **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'** यह श्लोक वेद के किस मन्त्र के अनुकूल है? —पृ० १२७, पं० ५

उत्तर—स्वामीजी ने मन्त्र का मज़ाक नहीं उड़ाया, अपितु आपके वेदविरुद्ध और असम्भव अर्थ का मज़ाक उड़ाया है और बतलाया है कि चूँकि **'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'** वेदमन्त्र में परमात्मा को शरीररहित कहा गया है, इसलिए परमात्मा का शरीर मानकर उसके मुख, बाहू, ऊरू, पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का पैदा करना स्वयं वेद के विरुद्ध है, अतः इस मन्त्र का यह अर्थ नहीं है, अपितु यह अर्थ है कि—''जो पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सबमें मुख्य, उत्तम हो वह ब्राह्मण, बल-वीर्य का नाम बाहु है, वह जिसमें अधिक हो सो क्षत्रिय, कटि के अधोभाग और जानु के उपरिभाग का ऊरू नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे, आवे, प्रवेश करे वह वैश्य, और जो पग के अर्थात् नीचे अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र है।'' इस मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, को मुख, बाहू, ऊरू, पाद, की उपमा देकर बतलाया है कि उस परमात्मा की सृष्टि में जो मनुष्य जिस वर्ण के योग्य हो वह उसी वर्ण में गिना जावे। इस मन्त्र से परमात्मा ने जन्म से वर्णव्यवस्था का खण्डन करके गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। इसलिए मनु का **'लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं'** श्लोक इस मन्त्र के विरुद्ध होने से अप्रमाण तथा **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'** श्लोक इस वेदमन्त्र के अनुकूल होने से प्रमाण है। **'ब्राह्मणोऽस्य'** तथा **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'** की विशेष व्याख्या तथा आक्षेपों का उत्तर देखो वर्णव्यवस्था विषय में। आपका सिद्धान्त कि जन्म से वर्णव्यवस्था है **'ब्राह्मणोऽस्य'** वेद के इस मन्त्र के क़तई विरुद्ध है। क्या पृथिवी पर किसी सनातनधर्मी माता ने कोई वीर पुत्र पैदा किया है जो **'ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे। क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः॥ ६॥'** —महा० अनुशा० अ० १४३। इस जन्म से वर्णव्यवस्था बतानेवाले श्लोक को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५४०) प्रश्न—गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥ —मनु० ५।६५

जब गुरु का प्रणान्त हो तब मृतक शरीर जिसका नाम प्रेत है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक शरीर को उठानेवालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है।

मनुस्मृति के इसी अध्याय में लिखा है कि—

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति॥ ८३॥

ब्राह्मण दश दिन और क्षत्रिय बारह दिन एवं वैश्य पन्द्रह दिन तथा शूद्र एक मास में शुद्ध होता है। स्वामीजी ने यहाँ पर **'गुरोः प्रेतस्य'** इसको अपनी जबरदस्ती से वेदानुकूल और **'शुद्ध्येद्विप्रो'** इस श्लोक को वेदविरुद्ध माना। वेद में पितृमेध का तो विधान है, किन्तु मरे हुए को दाग़ देनेवाला और उसके साथ जानेवाले दश दिनों में शुद्ध होते हैं—यह कहीं भी नहीं लिखा, क्योंकि शुद्धि का विषय ही वेद में नहीं है। आर्यसमाज में ऐसा कोई मनुष्य न पैदा हुआ है न आगे को हो सकता है जो **'गुरोः प्रेतस्य'** इस श्लोक की वेदानुकूलता और **'शुद्ध्येद्विप्रो'** इसका वेदविरोध सिद्ध कर दे।
—पृ० १३२, पं० ६

उत्तर—यहाँ पर दूसरे समुल्लास में स्वामीजी ने **'गुरोः प्रेतस्य'** यह श्लोक केवल यह बात बतलाने के लिए दिया है कि **'प्रेत'** नाम मृतक शरीर का है। प्रेत किसी और वस्तु का नाम नहीं

है। स्वामीजी ने यह श्लोक यह बतलाने के लिए नहीं दिया कि मृतक को जलानेवालों की शुद्धि कितने दिन में होती है, क्योंकि न तो यहाँ मृतकसंस्कार का प्रकरण है और न ही स्वामीजी को मृतकसंस्कार के पश्चात् इस प्रकार की शुद्धि इष्ट है। यहाँ पर **'प्रेत'** नाम मृतक शरीर का है। प्रेत किसी और वस्तु का नाम नहीं है। यहाँ पर **'प्रेत'** शब्द का अर्थ बतलाने के लिए सारे श्लोक का अर्थ कर दिया गया है। देखिए स्वामीजी संस्कारविधि के अन्त्येष्टि प्रकरण में क्या लिखते हैं कि मृतक को जलाने के पश्चात्—

''जब शरीर भस्म हो जावे, पुनः सब जने वस्त्रप्रक्षालन, स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके पृ० ८-१३ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ और पृ० ४-८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से जहाँ अङ्क, अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहाँ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाए और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सबका चित्त प्रसन्न रहे। यदि उस दिन रात्रि हो जाए तो थोड़ी-सी आहुति देकर, दूसरे दिन-प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें। तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठाके, उस श्मशानभूमि में कहीं,पृथक् रख देवे। बस इसके आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व **(भस्मान्तंःशरीरम्)** यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिए दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है।'' —संस्कारविधि, अन्त्येष्टिप्रकरण

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी तीसरे दिन के पश्चात् मृतक के निमित्त से कोई सूतक-पातक नहीं मानते, अतः **'गुरोः प्रेतस्य'** श्लोक का दश दिन में शुद्धि का प्रकरण भी स्वामीजी को इष्ट नहीं है। इस श्लोक का उतना अंश ही स्वामीजी को प्रमाण है कि जिससे 'प्रेत' शब्द का 'मृतक शरीर' अर्थ सिद्ध होता है। चूँकि—

'प्रेतो यन्तु व्याध्यः' [अथर्व० ७।११४।२] यहाँ 'प्रेत' नाम मृतक शरीर का है, अतः **'गुरोः प्रेतस्य'** श्लोक का वह भाग जो कि मृतक शरीर का नाम **'प्रेत'** वर्णन करता है, वेद के अनुकूल है। और—

'भस्मान्तःशरीरम्' [यजुः० ४०।१५] में लिखा है कि शरीर की भस्म-सम्बन्धी क्रिया के पश्चात् मृतक के निमित्त कुछ कर्त्तव्य नहीं है, अतः **'गुरोः प्रेतस्य'** श्लोक का वह भाग जो मृतक को जलाने के पश्चात् दश दिन में शुद्धि बतलाता है तथा **'शुद्ध्येद्विप्रः'** सम्पूर्ण श्लोक वेद के विरुद्ध है। आप स्वयं मानते हैं कि मृतक के जलाने के पश्चात् शुद्धि का विषय वेद में नहीं है और वेद में भस्मक्रिया के पश्चात् किसी भी कर्त्तव्य का निषेध हमने दिखा दिया, फिर **'शुद्ध्येद्विप्रः'** के वेदविरुद्ध होने में सन्देह ही क्या है! कोई माई का लाल सनातनधर्म में पैदा हुआ है जो **'भस्मान्तःशरीरम्'** की विद्यमानता में गरुडपुराण में प्रतिपादित—

एकादशाहे प्रेतस्य यस्योत्सृज्येत् नो वृषः। प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि॥ ४०॥
—गरु० प्रैत० अ० ५

वृषोत्सर्ग, गङ्गा में अस्थिप्रवाह, आचार्य का निबेड़ना, 'बरनी करना', गया पिण्ड, श्राद्ध आदि प्रेतकर्म जो मृतक के निमित्त किये जाते हैं, उनको वेद से सिद्ध कर सके?

(५४१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३० में लिखा है कि—

''दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ४६॥
—मनु० ६

नीचे दृष्टि कर ऊँचे-नीचे स्थान को देखके चले। वस्त्र से छानके जल पीवे। सत्य से पवित्र करके वचन बोले। मन से विचारके आचरण करे।

अब इसकी वेदानुकूलता सिद्ध करिए। वेद में न तो कहीं यह लिखा है कि तुम देखकर चलो और न यही लिखा है कि जल को कपड़े से छानकर पिओ। मन्त्रभाग में यह भी विधि नहीं आई कि सच बोलो। वेद में कहीं यह भी नहीं लिखा कि मन से पवित्र करके आचरण करो। यह श्लोक वेदानुकूल नहीं है। —पृ० १३३, पं० २३

उत्तर—आपके विचार में यदि यह श्लोक वेद के अनुकूल नहीं है तो क्या वेद के विरुद्ध है? आप वेद के ऐसे मन्त्र पेश करें जिनमें यह लिखा हो कि "आँखें बन्द करके चलो। गन्दा-गन्दा मैला-कुचैला बिना साफ़ किया पानी पीओ, झूठ बोलो, बिना सोचो-विचारे काम करो।" यदि आप ऐसे मन्त्र पेश नहीं कर सकते कि जो इस श्लोक को वेदविरुद्ध सिद्ध कर सकें तो निःसन्देह यह श्लोक ऋषिग्रन्थ में कथित होने से वेदानुकूल है, जैसाकि मनु की इसमें साक्षी है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

—मनु० २।७

जो कोई जिसका धर्म मनु ने वर्णन किया है, वह सब वेद में कहा हुआ है, क्योंकि वह वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है॥७॥

यदि आपके कहने के अनुसार यह भी मान लिया जावे कि उक्त श्लोक में कथित चार बातों की वेद में स्पष्ट आज्ञा नहीं है तो भी ये चारों बातें वेद के विरुद्ध न होने तथा आर्ष होने से वेदानुकूल ही हैं, किन्तु इन चारों के विषय में तो वेद की आज्ञा भी विद्यमान है, जैसाकि—

(१) 'चक्षुरक्षणोः' [अथर्व० १९।६०।१] अर्थात् मेरी आँखों में दृष्टि हो।

'पादयोः प्रतिष्ठा'—[अथर्व० १९।६०।२] मेरे पाँवों में प्रतिष्ठा अर्थात् शोभायुक्त गति हो। वेद के इन वचनों की ही मनु ने सरल व्याख्या की है कि—**'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'**

(२) शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु। [अथर्व० १२।१।३०] हमारे शरीर के लिए शुद्ध-निर्मल जल बहता रहे।

हमारे शरीर के लिए हितकारी, पवित्र तथा निर्मल जल कैसे हो सकता है, इसकी ही सरल व्याख्या मनु ने की है कि—**'वस्त्र पूतं जलं पिबेत्'।**

(३) 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।' [यजुः० १।५] यह मैं झूठ से हटकर सत्य को प्राप्त करता हूँ। इसी वेदवाक्य की सरल व्याख्या मनु ने की है कि—**'सत्यपूतां वदेद्वाचम्'।**

(४) यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—यजुः० अ० ३४ मं० ३

जिसके बिना कोई भी काम नहीं किया जाता वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

'परोऽपेहि मनस्पाप' [अथर्व० ६।४५।१] हे मन के पाप! दूर हट जा।

इन्हीं वेदवचनों की मनु ने सरल व्याख्या की है कि—**'मनःपूतं समाचरेत्।'**

इन वेदवाक्यों से सिद्ध है कि मनु का उक्त श्लोक सर्वथा वेद के अनुकूल है। अब यदि सनातनधर्मसभा में कोई जीता-जागता उपदेशक हो तो वह यह सिद्ध करे कि—

"कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ते तथैव च। ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च अनृते नास्ति पातकम्॥४९॥

—महा० द्रोण० अ० १९१

[पूना सं० में कुछ पाठभेद से १६४ अ० में पादटिप्पणी में है।—सं०]

"स्त्रियों में, विवाह में, गौओं के भोजन में, और ब्राह्मणों की आपत्ति में यदि झूठ बोला

जावे तो उसमें पातक नहीं है।''

यह श्लोक कौन-से वेद के अनुकूल है?

(५४२) प्रश्न—राजा के विषय में मनुजी ने कुछ श्लोक लिखे हैं, वे वेदानुकूल समझ स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किये हैं। श्लोक ये हैं—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ १ ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च। न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ २ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः स धर्मराट्। स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ३ ॥

—मनु० ७।४, ६, ७

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबका प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, यम पक्षपातरहित, न्यायाधीश के समान बर्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाश, अन्धकार अर्थात् अविद्या-अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बाँधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधनेवाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोषों का पूर्ण करनेवाला सभापति होवे ॥ १ ॥ जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में कड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न होवे ॥ २ ॥ और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धन-वर्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य होवे ॥ ३ ॥

क्या ये श्लोक वेदानुकूल हैं? मनुस्मृति के ३९० श्लोक स्वामी दयानन्दजी ने उद्धृत किये हैं। इन ३९० श्लोकों में से एक भी श्लोक ऐसा नहीं है कि जिसकी वेदानुकूलता सिद्ध करने के लिए कोई माई का लाल आर्यसमाजी मैदान में आवे—पृ० १३४, पं० १०

उत्तर—धन्य हो महाराज! आपने तो आर्यसमाज के खण्डन की धुन में सनातनधर्म का भी सफ़ाया कर दिया। हाँ, आप हठ के पक्के हैं कि ''पड़ौसी की भैंस मर जावे, चाहे अपनी दीवार ही गिर पड़े'', किन्तु हमारे लिए आपका नाम तजवीज़ करना कठिन हो रहा है। हम सभी भर्तृहरि के शब्दों में यही कह सकते हैं कि **'ते के न जानीमहे'!** श्रीमान्‌जी! आप प्रश्न नं० ४६९ में तो मनुस्मृति आदि समस्त श्लोकबद्ध ग्रन्थों का 'गीली लकड़ी में से धूएँ की भाँति' ईश्वर से ही प्रकट हुए सिद्ध कर रहे थे। अब आपने उसी मनुस्मृति को वेदानुकूल रहने के क़ाबिल भी नहीं समझा। इसको कहते हैं अन्धा पक्षपात। यदि स्वामीजी के पेश किये हुए ३९० श्लोक वेद अनुकूल नहीं हैं तो क्या वेद के विरुद्ध हैं? यदि वेद के विरुद्ध हैं तो क्या वे श्लोक सनातनधर्म को क़तई मान्य नहीं हैं और वे कौन-से वेदमन्त्र हैं जिनके वे विरुद्ध हैं या वेदविरुद्ध होने की यही कसौटी सनातनधर्म में है कि ''जो श्लोक स्वामी दयानन्दजी ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर दिये वे वेदविरुद्ध और जो छोड़ दिये वे वेदानुकूल''? कसौटी तो बढ़िया है, किन्तु महँगी पड़ेगी। कहिए महाराज! आप तो मनु के ३९० श्लोकों को वेद के विरुद्ध बता रहे हैं और मनुजी अपनी सारी पुस्तक को वेदानुकूल बतला रहे हैं, जैसाकि—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।

—मनु० २।७

जिसका जो कोई धर्म मनु ने वर्णन किया है वह सब वेद में वर्णित है, क्योंकि वह वेद सर्वज्ञानमय है ॥ ७ ॥

कहिए, अब आपकी बात सच्ची मानें या मनु की? केवल ज़बानी कहने में तो मनु की ही मानी जाएगी। हाँ, यदि आप अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए वेदमन्त्र देकर मनु का उनसे

विरोध सिद्ध कर दें तो आपकी माननी पड़ेगी; किन्तु यह आपकी आदत नहीं, क्योंकि आप तो केवल प्रतिज्ञा करना ही जानते हैं उसको सिद्ध करना, आपकी शक्ति से बाहर है। अच्छा तो आप 'प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान' में आकर पराजय को प्राप्त हो चुके, क्योंकि आपकी अपेक्षा मनुजी अधिक विश्वसनीय व्यक्ति हैं। अब रही बात उपर्युक्त श्लोकों की, सो श्रीमान्‌जी! ये श्लोक सोलह आने वेदानुकूल हैं। मनुस्मृति ने वेद की ही सरल व्याख्या करके राजा के गुण बतलाये हैं। इससे भी अधिक व्याख्या मनु ने अ० ९ श्लोक ३०३ से ३०९ तक की है जो स्वामीजी की व्याख्या के सर्वथा अनुकूल है। वेद के मन्त्र निम्न प्रकार से हैं—

(१) सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥

—यजुः० १०।३०

(२) वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमाइव सुसदृशः सुपेशसः।
पिशंगाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥ —ऋ० ५।५७।४

(३) अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥ —अथर्व० ४।२२।३

(४) अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा।
स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय॥—यजुः० १०।२९

भाषार्थ—हे प्रजा और राजपुरुषो! जैसे मैं सम्पूर्ण चेष्टा करनेवाले, वायु के समान प्रशंसित, वेदवाणी के समान छेदक और प्रतापयुक्त सूर्य के समान सुखरूप, पृथिवी और पशु के समान और बिजली के समान हूँ। चार वेदों के विद्वान् के समान, बल से वरुण के समान, तेज ज्योतिवाले अग्नि के प्रकाश के समान, चन्द्रमा के समान, दश प्रकाशमान पदार्थों के समान, व्यापक ईश्वर के समान प्रेरणा किया हुआ मैं अच्छे प्रकार चलता हूँ, वैसे तुम लोग भी चलो॥ १॥ वायु की कान्ति के समान कान्तिवाला, यम के सदृश सुन्दर रूपवाला, भूरे और लाल रंग के घोड़ों पर चढ़नेवाला, निष्पाप, विशेष शक्तिमान, स्वदेशी कपड़े पहननेवाला, मरने के लिए तैयार वीर है, इसलिए वह महिमा से द्युलोक के समान विशाल है॥ २॥ यह धनों का धनपति होवे, यह प्रजाओं का योग्य पालन करने के कारण राजा होवे। हे प्रभो! इसमें बड़े तेज धारण कर इसके शत्रु को निस्तेज कर॥ ३॥ हे राजन्! जैसे महापुरुषार्थयुक्त, धर्म का रक्षक, सेवक, अग्नि के समान उत्पन्न हुए पदार्थों के साथ वर्त्तमान पदार्थों के मध्य में स्थित होके सत्य क्रिया से घृतादि होम के पदार्थों को प्राप्त करता हुआ सूर्य की किरणों के साथ होम किये पदार्थों को फैलाके सुख देता है, वैसे धर्म के स्वामी बड़ी सेवा करनेवाले तेजस्वी आप राज्य को प्राप्त हूजिए। वैसे ही हे सत्य काम करनेवाले सभासद् पुरुषो! तुम यत्न किया करो॥ ४॥

जिस प्रकार से ये श्लोक वेदानुकूल हैं, उसी प्रकार से स्वामीजी के पेश किये हुए समस्त ३९० श्लोक भी वेद के मन्त्रों की सरल व्याख्या हैं और वे वेद के अनुकूल हैं। हाँ, आपके-से दूषित विचार के लोगों ने कुछ वेदविरुद्ध श्लोक मनु में अवश्य मिला दिये हैं, जिनका स्पष्टरूप से वेद से विरोध है, जैसेकि—

(१) न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्॥ —मनु० ८।३८०

(२) न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥ —मनु० ८।३८१

(३) श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥
(४) एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥
(५) अविद्वाँश्चैव विद्वाँश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ —मनु० अ० ९

भाषार्थ—यदि ब्राह्मण सब पापों में स्थित भी हो तब भी ब्राह्मण को कभी भी नहीं मारना चाहिए। इसको सारा धन देकर बिना मार-पीटकर ज़ख़्मी किये अपने राज्य से बाहर कर दे ॥ १ ॥ पृथिवी पर ब्राह्मण के वध से बढ़कर और कोई पाप नहीं है, इसलिए इसके वध के बारे में राजा को कभी मन से भी विचार नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥ तेजस्वी अग्नि श्मशान में भी दूषित नहीं होती और यज्ञों में हवन करने से अधिक-से-अधिक बढ़ती है ॥ ३ ॥ इस प्रकार से ब्राह्मण यद्यपि सम्पूर्ण पापकर्मों में वर्त्तमान हों तो भी सर्वथा पूजा करने के योग्य हैं, क्योंकि वे परम देवता हैं ॥ ४ ॥ चाहे विद्वान् हो चाहे अविद्वान् हो ब्राह्मण महान् देवता है जैसाकि चाहे यज्ञ में वर्त्तमान हो चाहे न हो तो भी अग्नि महान् देवता है ॥ ५ ॥

ये ५ श्लोक प्रथम तो मनु के स्वयं विरुद्ध हैं, क्योंकि मनु कहते हैं कि—

(१) पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥
(२) गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥ —मनु० अ० ८
(३) पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥ —मनु० अ० ४

भाषार्थ—पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र, पुरोहित जो अपने धर्म में स्थिर न रहे, राजा के लिए उनमें से कोई भी अदण्ड्य (क्षमा के योग्य) नहीं है ॥ १ ॥ गुरु, बाल, बूढ़ा, ब्राह्मण, विद्वान्, चाहे कोई भी क्यों न हो, यदि वह पापी है तो राजा का धर्म है कि उसे बिना विचारे मार दे ॥ २ ॥ जो ब्राह्मण पाखण्डी, कुकर्म करनेवाले, विडालवृति, अर्थात् छली, कपटी, शठ, कुतर्कवादी, बगुलाभक्त तथा धूर्त हों, उनकी वाणिमात्र से भी पूजा नहीं करनी चाहिए ॥ ३ ॥

दूसरे, ऊपर दिये वे पाँच श्लोक वेदमन्त्रों से क़तई विरुद्ध हैं, क्योंकि ऊपर के मन्त्रों में राजा को यम तथा वरुण भी कहा है और यम तथा वरुण के अर्थ हैं कि—

(१) यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥
(२) वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥ —मनु० अ० ९

जैसे यम प्रिय तथा शत्रु को समय प्राप्त होने पर वश में कर लेता है वैसे ही राजा को भी प्रजा का नियन्त्रण करना चाहिए, यही राजा का यमव्रत है ॥ १ ॥ जैसे वरुण से पाशों द्वारा बँधा हुआ ही दीखता है वैसे ही राजा को पापियों का निग्रह करना चाहिए, राजा का यही वारुणव्रत है ॥ २ ॥

अब है कोई माई का लाल पौराणिक पण्डितमन्य जो इन स्वयं मनु के विरुद्ध पाँच श्लोकों को वेद के अनुकूल सिद्ध कर सके?

(५४३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० १२३ में शतपथ का प्रमाण देकर लिखा है कि **"ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।"**

—शत० कां० १४

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवे, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है।

शतपथ के जितने भी प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में लिखे गये हैं, कोई भी मनुष्य उनकी वेदानुकूलता सिद्ध नहीं कर सकता। —पृ० १३५, पं० १७

उत्तर—आप तो शतपथब्राह्मण को वेद सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे थे। अब उसके प्रमाण भी वेदानुकूल नहीं रहे? क्यों न हो, स्वामी दयानन्दजी ने जो अपने ग्रन्थों में दे दिये! बस उतने ही प्रमाण वेदानुकूल नहीं हैं जो स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में लिख दिये? बाकी सारा शतपथ वेदानुकूल ही नहीं अपितु स्वयं ही वेद है? यह है सनातनधर्म के पण्डितों का अन्धविश्वास, पक्षपात और मिथ्या दुराग्रह, जिससे कि इनको सचाई नज़र ही नहीं आती।

कहिए महाराज! यदि स्वामीजी के दिये हुए शतपथ के प्रमाण वेदानुकूल नहीं हैं तो क्या वेदविरुद्ध हैं? यदि ये वेदविरुद्ध हैं तो वे वेदमन्त्र पेश करो जिनके ये प्रमाण विरुद्ध हैं और यदि आप इनके विरोध में कोई वेदमन्त्र पेश नहीं कर सकते तो आर्ष होने से सारे ही प्रमाण वेदानुकूल हैं। रही बात उपर्युक्त प्रमाण की, सो यदि यह वेदानुकूल नहीं है तो आप ऐसा मन्त्र पेश करें जिसके यह प्रमाण विरुद्ध हो, अर्थात् जिस वेदमन्त्र से यह सिद्ध हो सके कि ये चारों आश्रम वेद के विरुद्ध हैं या इनका क्रम वेद के विरुद्ध है। यदि आप इस प्रमाण के विरोध में कोई वेदमन्त्र पेश नहीं कर सकते तो आप प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान में आकर पराजित हो चुके और हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि शतपथ का उपर्युक्त प्रमाण वेदानुकूल है और यह प्रमाण वेद के मन्त्रों की सरल व्याख्या है, जैसेकि—

(१) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥ —अथर्व० ११।५

(२) इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ ४२ ॥ —ऋ० १०।८५

(३) अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि ।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीइँ ॥ १ ॥ —ऋ० १०।१४६

(४) अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥ २४ ॥ —यजुः० २०

भाषार्थ—ब्रह्मचर्यरूप तप से विद्वान् मृत्यु का नाश करते हैं। जीवात्मा ब्रह्मचर्य से ही इन्द्रियों के लिए सुख, तेज, ज्योति धारण कर सकता है॥ १ ॥ तुम दोनों पति-पत्नी यहाँ ही घर में रहो। एक-दूसरे से पृथक् मत होवो। पुत्रों तथा पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने घर में आनन्द से रहते हुए तुम दोनों पूर्ण आयु प्राप्त करो॥ २ ॥ यह जंगलों-जंगलों घूमनेवाला वानप्रसन्थ गाँवों से दूर प्राप्त होता है, अर्थात् गाँवों में नहीं रहता, अपितु उनसे दूर रहता है। वह तू नगरों तथा गाँवो में जाने की बात या दशा को क्यों नहीं पूछता? तुझे इस निर्जन वन में घूमते हुए क्या भय नहीं लगता है॥ ३ ॥ हे व्रतों की रक्षा करनेवाले, आगे ले-जानेवाले प्रभो! मैं समिधा को तुझमें सर्वथा धारण करता हूँ। मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। मैं दीक्षाप्राप्त संन्यासी तुझको अपने हृदय में प्रदीप्त करता हूँ।

इन चारों मन्त्रों में क्रमशः चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की आज्ञा है। इन्हीं के आधार पर शतपथ ने उपर्युक्त लेख दिया है, अतः स्वामीजी का दिया हुआ शतपथ का प्रमाण सर्वथा वेद के अनुकूल है। हाँ, आप-जैसे स्वार्थी लोगों ने शतपथ में भी वेदविरुद्ध लेख शामिल कर दिये हैं, जैसेकि—

अथ य इच्छेत्। पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा॥ —शत० कां० १४।९।४।१७

भाषार्थ—और जो चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, वागीश, सभाजित्, शुभवाणी का वक्ता पैदा हो, चारों वेदों का वक्ता हो और पूर्ण आयु को प्राप्त हो वे माता-पिता दोनों मांस और चावल पकाकर घी डालकर खावें, वे समर्थ होंगे और पुत्र पैदा करेंगे। मांस गौ या बैल का हो।

अब यह बैल वा गौ के मांस खाने की आज्ञा वेद के क़तई विरुद्ध है, क्योंकि वेद में लिखा है—

(१) यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥४॥ —अथर्व० १।१६

भाषार्थ—यदि तू हमारी गौ की हिंसा करेगा और यदि हमारे अश्व और हमारे मनुष्य की हिंसा करेगा तो तुझको सीसे से हम वेधते हैं, जिससे हमारे में वीरों का नाश करनेवाला कोई न हो।

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥

—अथर्व० २।२४।१

भाषार्थ—हे नीच हिंसक! हे वध करनेवाले! सर्वभोजियो! तुम्हारे अनुयायी लौट जाएँ। तुम्हारा हथियार लौट जाए, तुम जिसके सम्बन्धी हो उसको खाओ। जिसने तुम्हें भेजा है उसको खाओ, अपने मांस को खाओ।

ये दोनों वेदमन्त्र गौ-बैल आदि पशुओं के मारने तथा मांस खाने का निषेध करते हैं, अतः शतपथ का उपर्युक्त प्रमाण वेद के सर्वथा विरुद्ध है। क्या शतपथ के इस पाठ की वेदानुकूलता सिद्ध करने के लिए कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित मैदान में निकलेगा?

(५४४) प्रश्न—शतपथ में लिखा है कि—

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्यनेया स्यामिति ताᳬ सम्बभूव॥ १॥ तद्वै देवानामाग आस। य इत्थᳬस्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोतीति॥ २॥ ते ह देवा ऊचुः। योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽति सन्धं वाऽअयं चरति य इत्थᳬस्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति विध्येममिति तᳬरुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथेन्नूनं तदास॥ ३॥

प्रजापति ने अपनी दुहिता की इच्छा की। दिवरूप प्रजापति ने उषारूप दुहिता से संगम किया॥ १॥ यह देवताओं की दृष्टि में पाप हुआ। देवता कहने लगे कि यह ब्रह्मा दिवरूप प्रजापति बनकर हमारी बहिन और अपनी पुत्री उषा से जो समागम करता है, यह भारी पाप करता है। देवताओं ने इस समाचार को महादेव से कहा। महादेव ने यह सुनकर ब्रह्मा को बाण से बींधा। इसी बीच में ब्रह्मा के वीर्य का पतन हो गया।

जब आर्यसमाजी ब्रह्मा सरस्वती की कथा को हमारे आगे रखते हैं तब हम कह देते हैं कि

जैसा श्रीमद्भागवत में लिखा है वैसा ही शतपथ में भी है। तब आर्यसमाजी कहते हैं कि यह शतपथ वेदविरुद्ध है। इस बात के सुनते ही हम कहते हैं कि शतपथ का यह पाठ वेदानुकूल है, देखो—

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्॥ —ऋ० १०।६१।७

पिता अपनी लड़की के पीछे भागा।

इसको सुनकर आर्यसमाजियों के बिस्तर बँधने लगते हैं। कहो, शतपथ के जो प्रमाण मन्त्रभाग से नहीं मिलते उनको तो दयानन्द वेदानुकूल मानते हैं और शतपथ की जो श्रुतियाँ वेद से मिलती हैं उनको वेदविरुद्ध कह देना क्या घोर पाप नहीं है? —पृ० १३६, पं० १५

उत्तर—धन्य हो महाराज! स्वामी दयानन्दजी ने शतपथ के जो प्रमाण अपने ग्रन्थों में दिये हैं उनकी वेदानुकूलता तो आपको नज़र नहीं आई, किन्तु इस प्रमाण की वेदानुकूलता आपको नज़र आ गई, और वह भी पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर आशिक़ होकर उसके पीछे भागने वा उसको पकड़कर उससे मैथुन की प्रार्थना करने आदि निन्दनीय, घृणित तथा पापमय कर्मों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए! क्यों न हो, ऐसे कर्मों की वकालत सनातनधर्म के सिवाय और कर ही कौन सकता है? हम आपको सनातनधर्म का नमक हलाल करने पर तो बधाई देते हैं, किन्तु यह बतलाए देते हैं कि ब्रह्मा के काम को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए आप जो प्रमाण पेश कर रहे हैं वे आपका अनुमोदन नहीं करते, क्योंकि उन प्रमाणों में चतुर्मुख पौराणिक ब्रह्मा का नाम तक भी नहीं है, अपितु उन प्रमाणों में अलंकार द्वारा 'सूर्य तथा उषा' तथा 'मेघ और पृथिवी' का वर्णन है। देखिए, शतपथ ने तो स्वयं बता दिया कि 'दिवं वोषसं वा' इत्यादि, जिसका अर्थ आपने स्वयं किया है कि 'दिवरूप प्रजापति ने उषारूप दुहिता से समागम किया'—इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ पर प्रजापति से चतुर्मुख ब्रह्मा तथा दुहिता से ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती अभिप्रेत नहीं है। अब दिवरूप प्रजापति कौन है और उषा कौन है सो शतपथ में लिखा है कि—

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता। [शत० कां० १० अ० २ ब्रा० २ कं० ४]

प्रजापति नाम सूर्य का है।

तीन-चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर जो पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, उसका नाम उषा है। वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या के समान है। इन दोनों के समागम से दिन पैदा होते हैं। उन्हीं का नाम देवता है, क्योंकि ये बारह आदित्यों में आ जाते हैं। महादेव नाम ब्रह्म का है, क्योंकि वह सब देवों से बड़ा है और वीर्य नाम बल का है। अब इन सबको दिमाग़ में रखकर शतपथ के पाठ के अर्थ लगावें तो यह अर्थ होंगे कि—

'सूर्य ने उषा से समागम किया। दिनरूप देवताओं ने ब्रह्मरूप महादेव से शिकायत की। ब्रह्मरूप महादेव ने सूर्यरूप प्रजापति को बींध दिया, अर्थात् सायंकालरूपी तीर मारा जिससे सूर्य का वीर्य अर्थात् बल क्षीण हो गया, अर्थात् रात्रि पड़ गई।'

कहिए महाराज! क्या आपके भागवतादि पुराणों में भी कहीं 'ब्रह्मा का पुत्री के पीछे भागना' लिखकर यह बतलाया हुआ है कि 'यहाँ ब्रह्मा नाम सूर्य का तथा सरस्वती का नाम उषा है'? यदि नहीं लिखा तो पुराणों की कथा को शतपथ के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न 'बालुरेत में से तेल निकालने के समान' व्यर्थ और निष्फल है। बस, इस शतपथ के अनुकूल ही ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ है कि—

'सूर्य उषा के पीछे भागा' अथवा

अत्र पिता दुहितुर्गर्भमाधात् पिता पर्जन्यः दुहिता पृथिव्याः। —निरुक्त अ० ४ खं० २१

इस निरुक्त के अनुसार यह अर्थ हो सकता है कि—

'बादल ने पृथिवी से समागम किया।'

अतः ये दोनों ही प्रमाण पौराणिक कथा की पुष्टि नहीं करते और पुष्टि करें भी कैसे जबकि वेद निकट के सम्बन्धों का स्वयं खण्डन करते हैं, जैसेकि—

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः॥ ७२॥

—यजुः० ११

हे तेजस्वि पुरुष! अग्नि आदि पदार्थों से युक्त वाहनोंवाले आप इस श्रेष्ठ रूप-गुण-शीलवती के लिए दूर देश तथा सम्बन्ध से यहाँ आये हैं। आप पालना करनेवाले और सर्वप्रिय हैं॥ ७२॥

निरुक्त ने भी वेद में आये दुहिता शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि—

दुहिता दुर्हिता दूरे हिता। —निरु० अ० ३ खं० ४

दुहिता पुत्री को इसलिए कहते हैं कि यह दूर हुई हितकारक होती है। यहाँ दूर से दूर देश तथा दूर-सम्बन्ध दोनों ही इष्ट हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेद निकट के सम्बन्धों का बलपूर्वक खण्डन करता है। फिर पुराणों में प्रतिपादित निकट सम्बन्धों को वेदानुकूल सिद्ध करना मूर्खता नहीं तो क्या है?

हाँ, पुराणों में निकट-सम्बन्धों की आज्ञा विद्यमान है, जैसाकि—

एतस्मिन्नन्तरे वक्त्रात्समुद्भूता च शारदा। दिव्याङ्गं सुन्दरं तस्या दृष्ट्वा ब्रह्मा स्मरातुरः॥ २॥
बलाद् गृहीत्वा तां कन्यामुवाच स्मरपीडितः। रतिं देहि मदाघूर्णे रक्ष मां कामविह्वलम्॥ ३॥
इति श्रुत्वा तु सा माता रुषा प्राह पितामहम्। पंचवक्त्रोऽयमशुभो न योग्यस्तव कंधरे॥ ४॥

—भविष्य० प्रति० सर्ग पर्व खं० ४ अ० १३

ततस्ते मुनयः सर्वे मोहिताश्चाप्यहं मुने। संहितो मनसा किंचिद्विकारं प्रापुरादितः॥ २०॥
इत्थं पापगतिं वीक्ष्य भ्रातृणां पितुस्तथा। धर्मः सस्मार शम्भुं वै तदा धर्मावनं प्रभुम्॥ ३०॥

—शिव० रुद्र० सती० अ० ३

दक्षश्च मोहितः शम्भोर्मायया ब्राह्मणः सुतः। भ्रातृभिः स भगिन्यां वै भोक्तुकामोऽभवत्पुरा॥ २६॥
ब्रह्मा च बहुवारं हि मोहितः शिवमायया। अभवद्भोक्तुकामश्च स्वसुतायां परासु च॥ २७॥

—शिव ० उमा० अ० ४

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥ २६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छंभुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥ २७॥
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसंभवः। विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत॥ २८॥

—भविष्य० प्रति० खं० ४ अ० १८

वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥ ३६॥
सार्द्धं रायणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार सः॥ ३८॥
कृष्णमातुर्यशोदाया रायणस्तत्सहोदरः।
गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः॥ ४१॥

—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० ४९

पाणिं जग्राह राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः॥ ८८॥
कन्यकां मातुलानां च दाक्षिणात्यः परिग्रहः॥ ११५॥

—ब्रह्मवैवर्त खं० ४ अ० ११५

क्या संसारभर के सनातनधर्म-प्रतिनिधियों में यह दम है कि वे पुराणों में प्रतिपादित पूर्वोक्त

बेटी, बहिन, माता, भतीजी, मामी तथा मामा की पुत्री से विवाहों को वेदानुकूल सिद्ध कर सकें?

(५४५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३९ में लिखा है कि

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदंसर्वं वासयन्ति।

—छान्दो० ३।१६

इस श्रुति को वेदानुकूल समझकर सत्यार्थप्रकाश में लिखा गया है, किन्तु आर्यसमाजियों से जब इसकी वेदानुकूलता पूछी जाती है तब वे घुड़दौड़ मचा देते हैं। सिवाय भाग जाने के और उनको कुछ नहीं सूझता, और जब हम छान्दोग्य की—

यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते॥ ३॥ —छान्दोग्य खं० ४।१४

यह श्रुति पेश करके सिद्ध करते हैं कि ज्ञानी पुरुष को कर्मबन्धन नहीं होता, तब आर्यसमाजी कह उठते हैं कि यह श्रुति वेदविरुद्ध है। कौन कहता है कि यह श्रुति वेदविरुद्ध है? इस श्रुति के भाव को कहनेवाले वेदमन्त्र को भी देख लें—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

—यजु:० अ० ४०

इस लोक में कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जिओ, इस प्रकार वेदप्रतिपादित कर्म करने से मनुष्य को कर्म नहीं चिपटते। इस प्रकार से वेदानुकूल को वेदविरुद्ध और वेदविरुद्ध को वेदानुकूल कहकर अपनी नीचता का परिचय देते हैं। इसी प्रकार माण्डूक्य, कठ, कैवल्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, मुण्डकादि उपनिषदों के अनेक प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किये हैं, क्योंकि वे दयानन्द की दृष्टि में वेदानुकूल हैं, किन्तु हम इस बात की घोषणा करते हैं कि किसी भी आर्यवीर रमणी ने ऐसा वीर पुत्र पैदा नहीं किया कि जो स्वार्थवश लिखे हुए दयानन्द के इस सफ़ेद झूठ को सत्य सिद्ध करे। —पृ० १३७, पं० २१

उत्तर—सनातनधर्म की हालत भी आजकल बड़ी दयनीय है। इन बिचारों को छिपने के लिए कोई स्थान और भागने के लिए कोई भी रास्ता नहीं मिलता। स्वामीजी ने वेदानुकूलता का सत्य सिद्धान्तरूप सूर्य क्या प्रकाशित किया है कि इन बेचारों की आँखें उल्लुओं की भाँति चुँधियाने लगीं और लगे भाँति-भाँति की बोलियाँ बोलने! उदाहरणार्थ आपने ही प्रश्न नम्बर ४६९ में उपनिषदों को वेदों की भाँति ईश्वर से प्रकट होना माना है, फिर प्रश्न नं० ४९३ में आपने उपनिषदों को वेद माना है। अब यहाँ पर उपनिषदों की वेदानुकूलता से ही आप इनकार कर रहे हैं। कहिए श्रीमान्जी! स्वामीजी ने उपनिषदों के जो प्रमाण अपने ग्रन्थों में दिये हैं यदि वे वेद के अनुकूल नहीं हैं तो क्या वेद के विरुद्ध हैं? यदि विरुद्ध हैं तो वे वेदमन्त्र पेश कीजिए जिनके साथ इन प्रमाणों का विरोध है। यदि कोई वेदमन्त्र आप विरोध सिद्ध करने के लिए पेश नहीं कर सकते तो आर्ष प्रमाण होने से स्वयं ही वेदानुकूल सिद्ध हो गये। अब रही बात '**पुरुषो वाव**' इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण की, सो आपने इस प्रमाण को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कोई वेदमन्त्र देकर वेद के विरुद्ध सिद्ध नहीं किया, अतः आप प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान में आकर पराजित हो चुके। हम इस बात की बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि छान्दोग्य के ये प्रमाण सर्वथा वेदानुकूल हैं, जैसेकि वेदों में लिखा है—

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥ २१॥

—यजु:० अ० ४

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्य! जैसे जो अग्नि आदि विद्या-सम्बन्धी जिसकी सेवा २४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करनेवालों ने की हुई है जो प्रकाशकारक है, जो प्राणवायु सम्बन्धवाली और जिसको

४४ वर्ष ब्रह्मचर्य करनेहारे प्राप्त हुए हों वैसी है। जो सूर्यवत् सब विद्याओं की प्रकाश करनेवाली वा जिसका ग्रहण ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यसेवी मनुष्यों ने किया हो वैसी है, जो आह्लाद करनेवाली है, जिसको सर्वोत्तम, दुष्टों को रुलानेवाला परमेश्वर वा विद्वान् सुख में रमणयुक्त करता और जिस पूर्ण विद्यायुक्त मनुष्यों के साथ वर्त्तमान हुई वाणी वा बिजली का निर्माण वा इच्छा करता अथवा जिसकी मैं इच्छा करता हूँ, वैसे तू भी उसको रमणयुक्त वा इसको सिद्ध करने की इच्छा कर।

बस, वेद के मन्त्र की ही छान्दोग्य ने सरल व्याख्या की है। इससे सिद्ध है कि छान्दोग्य का '**पुरुषो वाव यज्ञः**' सर्वथा वेदानुकूल है। इसी प्रकार उपनिषदों के सम्पूर्ण प्रमाण वेदानुकूल हैं। आपने जो 'यथा पुष्करपलाश' को 'कुर्वन्नेवेह' मन्त्र के अनुकूल साबित किया है सो हमें इसपर कोई शंका नहीं है, क्योंकि इन दोनों का यह अभिप्राय है कि 'जो मनुष्य वेदप्रतिपादित कर्म करता है उसको बुरे कर्म नहीं चिपटते'। यदि इससे आपका यह अभिप्राय हो कि 'ज्ञानी व्यक्ति को कर्मों का फल नहीं मिलता' तो आपकी यह कल्पना निर्मूल है और न ही छान्दोग्य तथा वेद का यह अभिप्राय है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को कर्मों का फल अवश्य मिलता है, जैसाकि वेद में लिखा है कि—

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवास्मि सोऽस्मि॥

—यजुः० २।२८

भाषार्थ—हे न्याययुक्त, नियत कर्म के पालन करनेहारे सत्यस्वरूप परमेश्वर! आपने जो कृपा करके मेरे लिए सत्य लक्षणों से प्रसिद्ध नियमों से युक्त सत्याचरण करने योग्य सत्य नियम को जिस प्रकार मैं करने में समर्थ होऊँ, अर्थात् उसका आचरण अच्छी प्रचार मैं कर सकूँ वैसा मुझको कीजिए। जो मैंने उत्तम वा अधम कर्म किया है उसी को भोगता हूँ। अब भी जो मैं जैसा कर्म करनेवाला हूँ वैसे कर्म के फल भोगनेवाला होता हूँ॥ २८॥

यह मन्त्र शिक्षा देता है कि प्रत्येक मनुष्य को यही निश्चय करना चाहिए कि मैं अब जैसा कर्म करता हूँ वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूँ और भोगूँगा। हम इस बात की बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित मैदान में निकलकर ऐसा वेदमन्त्र पेश नहीं कर सकता कि जिससे यह सिद्ध हो सके कि ज्ञानियों को कर्मों का फल नहीं मिलता।

(५४६) प्रश्न—इसी प्रकार वेदान्त, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, योग, सांख्य, श्रौतसूत्र, गृह्यादि ग्रन्थों के सत्यार्थप्रकाश में प्रमाण उद्धृत किये हैं और उनको ज़बरदस्ती से संसार को अन्धा बताने के लिए वेदानुकूल माना है। —पृ० १३९, पं० ५

उत्तर—शाबाश सनातनधर्म के सपूतो, शाबाश! अब सब शास्त्रों पर पानी फेरकर ही दम लेना। हाँ, महाराज! यदि ये ग्रन्थ वेदानुकूल नहीं हैं तो क्या वेदविरुद्ध हैं? यदि वेदविरुद्ध हैं तो वे वेदमन्त्र पेश कीजिए जिनके उपर्युक्त ग्रन्थ विरुद्ध हैं और यदि आप विरोध में कोई वेदमन्त्र पेश नहीं कर सकते तो ये सारे ग्रन्थ आर्ष होने से वेदानुकूल ही हैं। श्रीमान्‌जी! वेदान्त आदि छह शास्त्र वेदों के उपाङ्ग हैं और गृह्यसूत्र कल्प हैं, वेदों का अंग हैं तो क्या वेदों के अङ्ग तथा उपाङ्ग भी वेदों के विरुद्ध ही होते हैं? आपको यह लिखते हुए कुछ शरम तो नहीं आई। हाँ, यह सत्य है कि इन गृह्यसूत्रों में भी आप-जैसे स्वार्थी लोगों ने कुछ ऐसी बातें अवश्य मिला दी हैं जो वेद के विरुद्ध हैं, जैसेकि—

आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह॥ २६॥

प्रत्याह माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यनाममृतस्य नाभिः।

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।

मम चामुष्य च पाप्मानं हिनोमीति यद्यालभेत॥ २७॥
अथ यद्युत्सिसृक्षेत् 'मम चामुष्य च पाप्मा हतः' ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात्॥ २८॥
नत्वमांसोऽर्घः स्यात्॥ २९॥
अधियज्ञमधिविवाहं कुरुते त्येव ब्रूयात्॥ ३०॥

—पारस्कर० काण्ड १ कण्डिका ३ मधुपर्कसूत्रम्

भारद्वाज्या मांसेन वाक्प्रसारकामस्य॥ ७॥
कपिंजलमांसेनान्नाद्यकामस्य॥ ८॥
मत्स्यैर्जवनकामस्य॥ ९॥
कृकषाया आयुष्कामस्य॥ १०॥
आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य॥ ११॥
सर्वैः सर्वकामस्य॥ १२॥ —पारस्कर० काण्ड० १ कण्डिका १९ अन्नप्राशन

भाषार्थ—आचमन करके तलवार लेकर तीन बार गौ शब्द का उच्चारण करके 'मारो' ऐसा कहे। यदि गौ को मारनेकी इच्छा हो तो **'माता रुद्राणामिति'** मन्त्र पढ़े और यदि गौ को छोड़ना चाहे तो **'मम चामुष्य च'** इस मन्त्र का उच्चारण करे; किन्तु अर्घ्य तो बिना मांस के होता नहीं, इसलिए यज्ञ में और विवाह में अवश्य ही गौ को मारना चाहिए॥ ३०॥

यदि कोई चाहे कि मेरा बालक वागीश हो तो उसे भारद्वाजी का मांस खिलाये। यदि कोई चाहे कि मेरा बालक अन्नादिका स्वामी हो तो वह बालक को कपिञ्जल का मांस खिलावे यदि कोई बालक को तेज चाहे तो मछली का मांस, यदि बालक की बड़ी आयु चाहे तो कृकषा का मांस, यदि कोई तेजस्वी बालक चाहे तो आटि पक्षी का मांस तथा यदि कोई अपने बालक को सर्वगुणसम्पन्न चाहे तो बालक को इन सबका मांस खिलावे॥ १२॥

यजुर्वेद १।१ में 'अघ्न्या' शब्द से गौ को न मारने योग्य तथा अथर्ववेद ६।१४०।२ में **'व्रीहिमत्तं'** इत्यादि से मांस के खाने का निषेध किया है, अतः गौ का मारना तथा मांस का खाना वेदविरुद्ध होने से पाप है। इससे सिद्ध हुआ कि गृह्यसूत्रों का ऊपरवाला प्रमाण वेद के विरुद्ध है। क्या किसी पौराणिक माता ने कोई ऐसा पौराणिक वीर पण्डित पैदा किया है जो गृह्यसूत्रों के इस प्रमाण को वेदानुकूल सिद्ध करके गौ का मारना तथा मांस का खाना धर्म सिद्ध कर सके?

(५४७) प्रश्न— माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

—चाण्क्यनीतिदर्पणः, अध्याय २, श्लोक ११

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन। स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥

—चा० शास्त्रम्

नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्। —चाणक्य० अ० १०।१३

स्वामी दयानन्द को इनकी भी वेदानुकूलता वेद में मिली होगी। —पृ० १३९, पं० १३

उत्तर—कहिए महाराज! यदि ये श्लोक वेदानुकूल नहीं हैं तो क्या ये वेदविरुद्ध हैं? यदि ये श्लोक वेदविरुद्ध हैं तो आप वेद में से ऐसे मन्त्र पेश करके अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करें कि जिनसे यह सिद्ध हो सके कि विद्या न पढ़ानेवाले माता-पिता मित्र हैं। अथवा विद्वत्ता और नृपता समान है। अथवा मूल के नष्ट होने पर भी वृक्ष के फूल-फल लग जाते हैं। यदि आप ऐसे वेदमन्त्र पेश करके उपर्युक्त श्लोकों को वेदविरुद्ध सिद्ध नहीं कर सकते तो ये श्लोक यद्यपि आर्ष होने से स्वयं ही वेदानुकूल हैं, तथापि प्रथम के दो श्लोकों में विद्या की प्रशंसा तथा अविद्या की निन्दा

है जो वेद के निम्न मन्त्रों के अनुकूल है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते॥ —यजुः० ४०।१२

विद्ययामृतमश्नुते॥ —यजुः० ४०।१४

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः। दिवीव चक्षुराततम्॥ —ऋ० १।२२।२०

तीसरे श्लोक में यह बतलाया गया है कि कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव हो जाता है, अर्थात् कारण के होने से ही कार्य का होना सम्भव है, सो यह सिद्धान्त निम्न मन्त्रों के अनुसार होने से वेदानुकूल है—

अविर्वै नाम देवत ऋतेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्त्रजः॥
—अथर्व० १०।८।३१

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ —ऋ० १।१६४।२०

(५४८) प्रश्न—अपने-अपने विषय में सभी ग्रन्थ प्रमाण होते हैं। शब्दसिद्धि में व्याकरण, रोगनिर्णय में वैद्यक, संस्कारादि अनुष्ठान में धर्मशास्त्र, कालज्ञान तथा गणितज्ञान में ज्योतिष, ब्रह्मज्ञान में उपनिषत् स्वतःप्रमाण हैं। स्वामी दयानन्दजी ने इनमें वेदानुकूलता का झगड़ा लगाया है, यह घुसने-निकलने की कुञ्जी है? —पृ० १३९, पं० १९

उत्तर—व्याकरण, वैद्यक, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, तथा उपनिषथ् ये समस्त ग्रन्थ स्वतःप्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि ये ईश्वरकृत नहीं, अपितु मनुष्यकृत हैं। ये समस्त ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक इनका वेद से विरोध न हो, किन्तु जहाँ ये ग्रन्थ वेद से विरोध करेंगे वहाँ इनके मुक़ाबले में वेद का ही प्रमाण होगा, इनका नहीं। उपर्युक्त ग्रन्थ यद्यपि मुख्यतया अपने-अपने विषयों का ही प्रतिपादन करते हैं, तथापि गौणरूप से इनमें दूसरे विषयों का भी वर्णन आ जाता है। जैसेकि आपने ही अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ३१३ पर वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए व्याकरण के ग्रन्थ महाभाष्य का प्रमाण '**तपः श्रुतं च योनिश्च**' इत्यादि दिया है जोकि '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' यजुः० ३१।११ के अनुसार वेद के विरुद्ध है। यदि व्याकरण शब्दविषय में ही प्रमाण है तो आपने यह महाभाष्य-प्रमाण वर्णव्यवस्था विषय में क्यों दिया? इसी प्रकार से सब ग्रन्थों के बारे में समझ लेना चाहिए, अतः उपर्युक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं, स्वतःप्रमाण नहीं।

(५४९) प्रश्न—वेदानुकूलता से एक लाभ अवश्य हुआ कि अब आर्यसमाज में सोलह संस्कार न होंगे, क्योंकि गर्भाधानादि सोलह संस्कार मन्वादि स्मृतियों और पारस्करादि गृह्यसूत्रों में लिखे हैं, वेदों में इनकी विधि नहीं, अतएव अब ये वेदानुकूलन न रहे।—पृ० १४०, पं० ४

उत्तर—यदि वेद में सोलह संस्कारों की विधि नहीं है तो क्या वेदों में सोलह संस्कारों का निषेध है? यदि निषेध है तो आप क्यों करते हैं? और वे कौन-से वेदमन्त्र हैं जो सोलह संस्कारों का निषेध करते हैं? यदि निषेध करनेवाले मन्त्र नहीं हैं तो भी सोलह संस्कार आर्षग्रन्थों में प्रतिपादित होने से वेदानुकूल ही हैं तथा आपकी यह प्रतिज्ञा भी ग़लत है कि वेदों में सोलह संस्कारों की विधि नहीं है। हमारी यह प्रतिज्ञा है कि सोलह संस्कारों की विधि वेद में मौजूद है। उस विधि की ही मनुस्मृति तथा गृह्यसूत्रों ने विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। सोलह संस्कारों के विधिमन्त्रों के लिए देखो विवाह-प्रकरण। हाँ, पुराणों में सोलह संस्कारों का खण्डन अवश्य है, जैसाकि—

विद्वत्सदसि योप्याह संस्काराद् ब्राह्मणो भवेत्। न्यायज्ञैः स निराकार्यो वाक्यैर्न्यायानुसारिभिः॥७॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

भाषार्थ—जो कोई विद्वानों की सभा में कहे कि संस्कारों से ब्राह्मण होता है, तो न्याय के

जाननेवालों को न्यायानुसार वाक्यों से उसका खण्डन करना चाहिए॥७॥

क्या किसी सनातनधर्मी माता ने कोई ऐसा पौराणिक पण्डित पैदा किया है जो उपर्युक्त श्लोक में किये गये सोलह संस्कारों के खण्डन को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५५०) प्रश्न—एक और सुख हो गया—चोटी रखने और जनेऊ पहनने का भी झंझट उड़ गया। वेदों में शिखा रखना, यज्ञोपवीत धारण करना कहीं नहीं लिखा, केवल गृह्यसूत्र और धर्मशास्त्रों में लिखा है। ये दोनों वेदानुकूल नहीं हैं। वरना '**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्**' इसको वेदानुकूल सिद्ध किया जावे। पृ० १४०, पं० १०

उत्तर—यदि चोटी और यज्ञोपवीत की वेद में आज्ञा नहीं है तो क्या वेद में चोटी-यज्ञोपवीत का निषेध है? यदि निषेध है तो सनातनधर्मी क्यों धारण करते हैं? और वे कौन-से वेदमन्त्र हैं जो चोटी और यज्ञोपवीत का निषेध करते हैं? यदि ऐसे वेदमन्त्र नहीं हैं तो गृह्यसूत्र तथा धर्मशास्त्र प्रतिपाद्य आर्ष होने से यज्ञोपवीत और चोटी वेदानुकूल ही हैं। आपकी यह प्रतिज्ञा भी ग़लत है कि वेदों में चोटी और यज्ञोपवीत की आज्ञा नहीं है। हम डंके की चोट से इस बात की घोषणा करते हैं कि वेदों में चोटी और यज्ञोपवीत का विधान विद्यमान है, जैसाकि—

शिखिभ्यः स्वाहा। (अथर्व० १९।२२।१५) चोटी रखनेवालों से मीठा बोले।

उपवीतिने पुष्टानां पतये नमः। (यजुः० १६।१७) यज्ञोपवीत धारण करनेवाले बलवानों के पति का सत्कार करो। '**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्**' यह प्रमाण उपर्युक्त मन्त्र के अनुकूल है, किन्तु शिखा का रखना वेद में विकल्प से है, जैसाकि—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽ इव॥ —यजुः० १७।४८

जिस संग्राम में बिना चोटी के वा बहुत चोटियोंवाले बालकों के समान बाण आदि अस्त्रों के समूह अच्छे प्रकार गिरते हैं।

हाँ, पुराणों में चोटी कटाने की आज्ञा विद्यमान है, जैसाकि—

पुत्राद्या वृद्धपूर्वास्ते एकवस्त्राः शिखां विना॥७२॥
प्राचीनावीतिनः सर्वे विशेयुर्मौनिनो जलम्॥७३॥

—गरुड० प्रेत० अ० ४

पुत्रादि वृद्धोंसमेत एक वस्त्र पहिने पुए शिखा से शून्य; प्राचीनावीति हुए सब जल में प्रवेश करें।

क्या सनातन धर्म के नेता गरुड़पुराण की इस आज्ञा पर चलते हैं?

(५५१) प्रश्न—वेद में सन्ध्या तथा पञ्चयज्ञविधि की आज्ञा नहीं है। —पृ० ख, पं० ११

उत्तर—यदि वेद में पाँच यज्ञों की आज्ञा नहीं है तो क्या इनका निषेध है? यदि निषेध है तो सनातनधर्म वेदविरुद्ध पाँच यज्ञों को क्यों मानता है? और वे कौन-से मन्त्र हैं जो पाँच यज्ञों का निषेध करते हैं? यदि निषेध नहीं है तो पाँच यज्ञ आर्षग्रन्थ-प्रतिपाद्य होने से स्वयं ही वेदानुकूल हैं, और फिर पाँच महायज्ञों की तो आज्ञा भी वेदों में विद्यमान है, जैसाकि—

(१) ब्रह्मयज्ञ—**नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥** —अथर्व० १०।७।३१

भाषार्थ—जो प्रगतिशील आत्मा उषा की समाप्ति से पहले अर्थात् तारे निकलने से पूर्व सायंकाल तथा सूर्य के निकलने से पहले प्रातःकाल नमस्कार करने योग्य प्रभु को ओंकार आदि नामों से स्मरण करता है वह महात्मा उस स्वराज्य को प्राप्त करता है, जिससे श्रेष्ठ कोई दूसरा पदार्थ नहीं है और जो स्वराज्य पहले भी था अथवा जो सबसे मुख्य है॥३१॥

इस मन्त्र में प्रातः तथा सायं दोनों समय सन्ध्या करने की आज्ञा है। आपके ग्रन्थों में जो त्रिकाल सन्ध्या का विधान है, जैसाकि—

इति त्रिकालसन्ध्याप्रयोगः समाप्तः। —(पञ्चमहायज्ञविधि, निर्णयसागर प्रेस)

कृपया बतलावें कि यह तीन काल की सन्ध्या किस वेद के अनुकूल है? यदि नहीं तो सनातनधर्म को चाहिए कि इस मिथ्या हठ का परित्याग कर दे।

(२) देवयज्ञ—**सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ ३॥**
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥ ४॥
—अथर्व० १९।५५

भषार्थ—घर आदि की रक्षा करनेवाला यह अग्नि प्रत्येक सायं और हर प्रातः हमें सुख-शान्ति के देनेवाला हो॥ ३-४॥

इन मन्त्रों में सायं-प्रातः दोनों समय अग्निहोत्र करने की आज्ञा है।

पुराणों में यज्ञ की सामग्री में मांस भी डाला जाता है, जैसाकि—

पूगमानं च मांसस्य सगुडं तत्र दृश्यते॥ ९॥ —भविष्य० मध्यम० भाग १ अ० १८

मांस का कीमा भी गुडसहित सामग्री में होना चाहिए॥ ९॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्। पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च॥ २३॥
—मनु० अ० ५

ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के यज्ञों में पुराने ज़माने में खाने के योग्य पशु-पक्षियों के पुरोडाश होते थे॥ २३॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्। अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥ २५७॥
—मनु० अ० ३

मुनि-अन्न, दुग्ध, सोमरस, विकाररहित मांस, सेंधा नमक—ये सब वस्तुएँ स्वभाव से हवन की सामग्री कही जाती हैं॥ २५७॥

को वोऽध्वरं तुविजाता अरम्॥ —ऋ० १०।६३।६

इस वेदमन्त्र में यज्ञ को अध्वर लिखा है और अध्वर का अर्थ है—

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः॥ १॥ —निरु० अ० १ खं० ८

अध्वर नाम यज्ञ का है। अध्वर उसको कहते हैं जिसमें हिंसा न हो, वेद यज्ञ में हिंसा का निषेध करता है, अतः यज्ञ में उपर्युक्त मांसविधान करनेवाले सब श्लोक वेद के विरुद्ध हैं। क्या कोई जीता-जागता सनातनधर्म का विद्वान् है जो इन श्लोकों को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(३) पितृयज्ञ—**ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।**
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ —यजुः० २।३४

भाषार्थ—पराक्रम, अन्न, रस आदि को प्राप्त करानेवाला जल, जीवनप्रद उत्तम अन्न, घी, दूध, उत्तम मधु और स्वयं पककर गिरे हुए फलादि पदार्थ मेरे पितरों—पिता-माता, पितामह, गुरु आदि को तृप्त करें और उनको शक्तिसम्पन्न करें॥ ३४॥

इस मन्त्र में पितृयज्ञ की आज्ञा विद्यमान है और जीते हुए माता-पिता आदि की सेवा करने का नाम पितृयज्ञ बतलाया है, परन्तु पौराणिक लोग मुर्दों का श्राद्ध करने तथा मुर्दे का हाथ निकालकर पिण्ड ग्रहण करना मानते हैं, जैसाकि—

ततस्तं दर्भविन्यासं भित्त्वा सुरुचिराङ्गदः। प्रलम्बाभरणो बाहुरुदतिष्ठद् विशाम्पते॥ १५॥

तमुत्थितमहं दृष्ट्वा परं विस्मयमागमम्। प्रतिग्रहीता साक्षान्मे पितेति भरतर्षभ॥ १६ ॥

—महा० अनु० अ० ८४

जलं त्रिदिवमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये॥ १३ ॥
अत्र स्नाहि पिबात्रेति मन्त्रेणानेन काश्यप॥ १४ ॥ —गरुड० प्रेत० अ० ५

भाषार्थ—उसके पश्चात् उस दर्भसमूह का भेदन करके सुन्दर कड़े पहने हुए, अलंकृत हाथ पिण्ड लेने के लिए बाहर निकला॥ १५ ॥ उस बाहर निकले हाथ को देखकर मैं बड़ा हैरान हुआ, क्योंकि वह ग्रहण करने के लिए आया हुआ साक्षात् मेरा पिता ही था॥ १६ ॥ मृतक को जलाने से तीन दिन तक जल आकाश में रखना चाहिए और दूध मिट्टी के बरतन में रखना चाहिए॥ १३ ॥ यहाँ स्नान करो, यहाँ पियो—इस मन्त्र से धरना चाहिए॥ १४ ॥

क्या कोई अपने पेट को लैटरबक्स बनानेवाला पौराणिक पोप मृतकों के श्राद्ध, हाथ का निकलना तथा प्रेत का स्नान करना और दूध पीना वेदानुकूल सिद्ध कर सकता है?

(४) बलिवैश्वदेवयज्ञ—**अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।**
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम्।

—अथर्व० १९।५५।७

ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! हम तेरे आदेश से जिस प्रकार उपकारी अश्व आदि पशुओं को चाहे वे ठहरे हों या काम पर हों, घास देते हैं उसी भाँति प्रतिदिन ही सब प्राणियों के प्रति बलि अर्थात् भोज्य पदार्थ देते हुए धन-वृद्धि के द्वारा चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी से, शुद्ध इच्छा और सम्यग् ज्ञान से आनन्दित होते हुए हे सन्मार्ग-प्रदर्शक प्रभो! तेरे शासन में रहते हुए पड़ोसी जन एक-दूसरे को क्लेश न दें॥ ७॥

इस मन्त्र में बलिवैश्वदेवयज्ञ की स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है, परन्तु पुराणों में वेदविरुद्ध बलि का वर्णन है, जैसाकि—

गवां लक्षं छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम्। चतुर्लक्षं शशानां च कूर्माणां च तथा कुरु॥ ६१ ॥
दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम्। पर्वणि ग्रामदेव्यै च बलिं देहि च भक्तितः॥ ६२ ॥
एतेषां पक्वमांसं च भोजनार्थं च कारय। परिपूर्णं व्यञ्जनानां सामग्रीं कुरु भूमिप॥ ६३ ॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० १०६

भाषार्थ—हे राजन्! रुक्मिणी के विवाहार्थ एक लाख गौवों को काटो, दो लाख हरिण काटो, चार लाख ख़रगोश तथा चार लाख ही कछवे काटो॥ ६१ ॥ दश लाख बकरे तथा चालीस लाख दुंबे काटो, पर्व में ग्राम की देवी को भक्तिपूर्वक बलि देकर॥ ६२ ॥ इन सबके मांस को भोजन के लिए तैयार करो। इस प्रकार से व्यंजनों से परिपूर्ण विवाह की सामग्री को तैयार करो॥ ६३ ॥

चूँकि '**मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः**'—यजु:० १२।३२ में प्राणियों की हिंसा करने तथा '**शेरभक शेरभ**' अथर्व० २।२४।१ में मांस के खाने का निषेध किया है, अतः उक्त पौराणिक बलिदान वेद के विरुद्ध होने से पाप है। क्या कोई मांसहारी, गोघातक पौराणिक इस प्रकार के बलिदान को वेदानुकूल सिद्ध करने को समर्थ है?

(५) अतिथियज्ञ—**तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १ ॥**

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्तु॥ २ ॥ —अथर्व० १५।११

भाषार्थ—जिसके घर में इस प्रकार का विद्वान् सत्यभाषण, परहित, कामनादि व्रतों से भूषित सदैव भ्रमण करके जनता को सत्यज्ञान प्राप्त करानेवाला अतिथि महात्मा आ जाए॥ १ ॥ तो गृहपति

आप उठकर उसका स्वागत करता हुआ कहे—हे उत्तमव्रतधारिन् महात्मन्! आप पहले कहाँ रहे? परोपकार आदि व्रतों से भूषित भगवन्! लीजिए यह जल है। हे लोगों को व्रतोपदेश करनेवाले धर्मात्मन्! मेरे समस्त पदार्थ आपको तृप्त करें। हे सब प्राणियों से प्रेम करनेवाले गुरो! जो आपको अच्छा लगे वैसा हो। हे कमनीय स्वभाववाले कृपालो! जैसे आपकी आज्ञा हो वैसे ही होगा। सत्कामना-सम्पन्न विद्वन्! जैसे आपकी इच्छा हो वैसे ही किया जाए॥ २॥

इन मन्त्रों में स्पष्ट रूप से अतिथियज्ञ की आज्ञा है, किन्तु पौराणिक लोग वेदविरुद्ध अतिथि सेवा करने को भी धर्म मानते हैं, जैसाकि—

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि—

केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः। इत्येतत् सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेनापि च पार्थिव॥ ३॥

गृहस्थी धर्म का आश्रय लेकर मृत्यु को कैसे जीत सकता है? हे राजन्! ये मुझसे सम्पूर्ण तत्त्व कहिएगा।

भीष्म ने कहा कि इस बारे में मैं एक इतिहास सुनाता हूँ जैसे गृहस्थ मृत्यु को जीत सकता है। सुदर्शन नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री का नाम औघवती था। सुदर्शन ने अपनी स्त्री से कहा कि—

अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन॥ ४२॥

येन येन च तुष्येत् नित्यमेव त्वयाऽतिथिः। अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा॥ ४३॥

तुझे अतिथि के प्रतिकूल कभी कुछ भी नहीं करना चाहिए। नित्यप्रति जिस-जिस उपाय से अतिथि सन्तुष्ट हो सके, चाहे वह शरीर के दान देने से ही हो, तुझे इसमें विचार नहीं करना चाहिए, यह कहकर ब्राह्मण लकड़ियाँ लेने जंगल में चला गया। उसके चले जाने के पीछे एक ब्राह्मण उसके घर में आया और उसने सुदर्शन की स्त्री औघवती से कहा कि—

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः। प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम्॥ ५४॥

स तया छन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया। नान्यमात्मप्रदानात् स तस्या वव्रे वरं द्विजः॥ ५५॥

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः। तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम्॥ ५६॥

ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवोपविवेश ह॥ ५७॥

यदि गृहाश्रम का धर्म तुझको प्रमाण है तो अपने शरीर के दान से मुझे प्रसन्न कर। उस औघवती ने और बहुत-से मनोवाञ्छित वर देने चाहे, किन्तु उसने शरीरदान के सिवाय और कोई वर स्वीकार नहीं किया। तब उस राजपुत्री ने पति के पहले वचन को याद करके उस ब्राह्मण से कहा कि ''बहुत अच्छा।'' तब ब्राह्मण हँसकर और प्रसन्न होकर तथा औघवती दोनों घर में प्रविष्ट हो गये। इतने में सुदर्शन लकड़ियाँ लेकर वापस आया तो उसने अपनी पत्नी औघवती को न देखा। तब सुदर्शन ने उसको आवाज़ दी तो—

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा। कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती॥ ६०॥

उच्छिष्टास्मीति मन्वानां लज्जिता भर्तुरेव च। तूष्णीं भूताभवत् साध्वी न चोवाचाथ किंचन॥ ६१॥

उसने अपने पति को कोई भी जवाब नहीं दिया, क्योंकि उस पतिव्रता को ब्राह्मण ने हाथों से स्पर्श कर लिया था। इसलिए वह यह समझकर कि मैं उच्छिष्ट हूँ पति से शर्मिन्दा हुई चुप हो गई और कुछ भी न बोली। जब सुदर्शन बार-बार बुलाने लगा तो—

उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम्। अतिथिं विद्धि सम्प्राप्तं ब्राह्मणं पावके च माम्॥ ६४॥

अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम। तैस्तैरतिथिसत्कारैर्ब्रह्मन्नेषा वृता मया॥ ६५॥

अनेन विधिना सेयं मामर्चति शुभानना। अनुरूपं यदत्रान्यत्तद् भवान् कर्तुमर्हसि॥ ६६॥

वह कुटी में गया हुआ ब्राह्मण सुदर्शन से बोला कि हे पावके! मुझ ब्राह्मण अतिथि को तू अपने घार आया हुआ जान। इस तेरी पत्नी ने मुझे प्रसन्न करके कई प्रकार के अतिथि-सत्कारों से प्रसन्न किया है और मैंने इसको स्वीकार किया है। सो यह सुन्दरमुखी मुझे इस विधि से प्रसन्न कर रही है। अब जो कुछ आप उचित समझें सो करें। यह सुनकर सुदर्शन बोला कि—

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम। गृहस्थस्य हि धर्मोऽ ग्र्यः सम्प्राप्ताऽतिथिपूजनम्॥ ६९॥
प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु। अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम्॥ ७१॥
निःसन्दिग्धं यथा वाक्यमेतन्मे समुदाहृतम्। तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे॥ ७२॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! तेरा विषय सफल हो, मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। गृहस्थ का सबसे उत्तम धर्म अतिथि की पूजा है। मेरे प्राण, मेरी पत्नी, और भी जो कुछ मेरे पास धन है यह सब अतिथि को देने योग्य है, यह मेरा व्रत है। यह जो मैंने स्पष्ट वाक्य बोले हैं हे ब्राह्मण! सत्य जान मैं इनके कारण अपनी आत्मा को भूषित समझता हूँ।

यह कथा सुनाकर भीष्म बोले कि—

तस्माद् गृहाश्रमस्थस्य नान्यद्दैवतमस्ति वै। ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद्विचारय॥ ९१॥
एतत्ते कथितं पुत्र मयाख्यानमुत्तमम्। यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराभवत्॥ ९४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्। बुभूषताभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम्॥ ९५॥

—महा० अनु० अ० २

हे नरव्याघ्र! इस कारण से गृहस्थी के लिए अतिथि के बिना और कोई देवता नहीं है, यह विचार कर ले। हे पुत्र! यह मैंने उत्तम इतिहास तेरे लिए कह सुनाया जैसेकि पूर्वकाल में गृहस्थ ने मृत्यु को जीत लिया था। यह इतिहास धन्य है, यश तथा आयु का देनेवाला है और उत्तम है। इस इतिहास को भूषित करनेवाला तथा सम्पूर्ण दुश्चरित्र को दूर करनेवाला मानना चाहिए॥

यह है सनातनधर्म का अतिथियज्ञ! परन्तु वेद में आता है कि—

उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजनः॥

—यजुः० २३।२१

हे शक्तिमान् राजन्! जो स्त्रियों के बीच प्राणियों का मांस खानेवाला व्यभिचारी पुरुष वा पुरुषों के बीच उक्त प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्री वर्त्तमान हो, उस पुरुष और उस स्त्री को बाँधकर ऊपर को पग और नीचे को शिर कर ताड़ना करके अपनी प्रजा के मध्य उत्तम सुख को धारण करो और अपने प्रकट न्याय को भली-भाँति चलाओ॥ २१॥

व्यभिचार करना पाप है, अतः उपर्युक्त पौराणिक अतिथि-सत्कार वेदविरुद्ध होने से पाप है। क्या संसार में कोई ऐसा व्यभिचार-प्रिय जीता-जागता पौराणिक पोप मौजूद है जो इस व्यभिचारमय पौराणिक अतिथि-यज्ञ को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५५२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४ पृ० ९५ पं० ९ में लिखा है कि "बच्चे को छह दिन तक माता और इसके बाद धाय दूध पिलावे" वेद में इसका कहीं पता नहीं। यहाँ पर वेद का बहाना लेकर वैदिक लोगों को ईसाई बनाने का उद्योग किया है। —पृ० ९३, पं० ६

उत्तर—स्वामीजी ने धायी का दूध पिलाना आवश्यक नहीं ठहराया और न ही छह दिन के बाद माता का दूध छोड़ना आवश्यक बतलाया है। हाँ, जो समर्थ हों तथा स्त्री का निर्बल होना न चाहते हों वे इस विधि पर यदि चाहें तो आचरण करें। देखिए, स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—

"जब जन्म हो तब अच्छे सुगन्धियुक्त घृतादि से होम और स्त्री के भी स्नान, भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाए।

ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध छह दिन तक बालक को पिलावे, पश्चात् धायी पिलाया करे, परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें। जो कोई दरिद्र हों, धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जोकि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिगो, औंटा, छानके दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान में जहाँ का वायु शुद्ध हो वहाँ रक्खें। सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो। और जहाँ धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें, क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है। इसलिए प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसा करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है। तबतक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेंगे उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल-पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान उत्तम, बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक होंगे। स्त्री योनि-संकोचन, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।'' —सत्यार्थ० समु० २

(१) स्वामीजी ने यह विधि ईसाइयों से नहीं ली, अपितु ईसाइयों ने यह विधि वेद तथा शास्त्रों से सीखी है। इस विषय में वेद की आज्ञा है कि—

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची। द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निन्धारयन्द्रविणोदाः॥ २॥ —यजुः० १२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस बिजली को बलदाता दिव्य प्राण धारण करें, जो रुचिकारक होके अन्तःकरण में प्रकाशित होता है, जो एक विचार से विदित अन्धकार और प्रकाश से विरुद्ध रूपवाले सब प्रकार सबको प्राप्त होनेवाली प्रकाश और भूमि तथा रात्रि और दिन जैसे एक बालक को दो माता दूध पिलाती है वैसे ही उसको तुम लोग जानो॥ २॥

जैसे जननी—माता और धायी बालक को दूध पिलाती है, वैसे ही दिन और रात्रि सबकी रक्षा करती हैं और जो बिजली के स्वरूप से सर्वत्र व्यापक है, वह अग्नि सूर्यादि का कारण है, इस बात का तुम सब निश्चय करो।

(२) इस वेदमन्त्र में स्पष्टरूप से धाय की आज्ञा मौजूद है। इसी की व्याख्या करते हुए सुश्रुत ने लिखा है कि—

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतू रात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्त्तते॥ २३॥ तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तामिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्। द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिस्तृतीये च ततः प्राङ् निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसम्मितं द्विकालं पाययेत्॥ २४॥ ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमंगलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा॥ ३७॥ ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयसकामरोगां शीलवतीमचलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलंबौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यंगामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुलेजातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबल-वृद्धये बालस्य॥ ३८॥ तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्। लम्बस्तनीनासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्॥ ३९॥ ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातामहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्॥ ४०॥

—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, अध्याय १०

भाषार्थ—प्रसूता स्त्री के हृदय की नाड़ियों के मुख खुल जाते हैं। इससे चार रात्रि या तीन रात्रि के पश्चात् स्त्री के स्तनों में दूध उतरता है॥ २३॥ इस कारण पहले दिन शहद-घी में अनन्तमूल मिलाकर मन्त्रों को पढ़कर तीन बार बालक को पिलावे। दूसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया हुआ घी, शहद मिलाकर पिलावे, तीसरे दिन भी यही करे। चौथे दिन स्तनों में से कुछ दूध निकाल डाले और दो समय थोड़ा-थोड़ा दूध प्रसूता के स्तनों से पिलावे तथा शहद और घी हाथ की हथेली जितना दोनों समय चटावे॥ २४॥ इसके पीछे दसवें दिन माता-पिता मंगलाचारपूर्वक स्वस्तिवाचन करके जैसा चाहें मनोहर, सुन्दर या नक्षत्र के नाम के अनुसार नाम रक्खें॥ ३७॥ इसके पश्चात् अपने वर्ण के अनुसार धायी नियत करनी चाहिए। वह धायी मध्यम आयुवाली, रोगरहित, शीलस्वभावयुक्त, चपलतारहित, लोभरहित, निर्बलतारहित, स्थूलपन से रहित, शुद्धदूधवाली, लम्बे होटों से रहित, लम्बे तथा ऊँचे स्तनों से रहित, अङ्गहीनता से रहित, व्यसनशून्य, जीवित बच्चेवाली, दूध देनेवाली, प्रेम करनेवाली, नीच कर्म से शून्य, अच्छे कुल में पैदा हुई, इससे भी अधिक गुणों से युक्त, श्यामसुन्दरी होनी चाहिए, ताकि बालक की अरोगता तथा बल को बढ़ानेवाली हो॥ ३८॥ जो धायी ऊँचे स्तनोंवाली हो वह बालक को कराल कर देती है और जो लम्बे स्तनोंवाली हो तो बालक के नाक और मुख को ढककर मार देती है॥ ३९॥ फिर अच्छे दिन में धीयी को शिरसमेत स्नान करवाकर अच्छे कपड़े पहनाकर पूर्वाभिमुख बिठाकर उसकी गोद में उत्तराभिमुख बालक को स्थापन करके धायी दक्षिण स्तन को जो धोया हुआ हो और जिसमें से थोड़ा दूध निकाल डाला हो उसे मन्त्र से मन्त्रित करके पिलावे॥ ४०॥

स्वामीजी ने इसी वेदानुकूल प्रमाण के आधार पर अपना लेख लिखा है। इसी बात को सनातनधर्म के ग्रन्थ प्रतिपादित करते हैं, जैसाकि—

(३) **विदारीकन्दस्वरसं मूलं कार्पासजं तथा।**
धात्रीस्तन्यविशुद्ध्यर्थं मुद्गयूषरसाशिनी॥ १३॥
कुष्ठा वचाभया ब्राह्मी मधुरा क्षौद्रसर्पिषा।
वर्णायुः कान्तिजननं लेह्यं बालस्य दापयेत्॥ १४॥
स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्॥ १५॥ —गरुड०आचार०अ० १७२

भाषार्थ—धायी के दूध को शुद्ध करने के लिए विदारीकन्द तथा कपास की जड़ के रस को पिलाया जावे॥ १३॥ कुष्ठ, बच, हरड़, ब्राह्मी आदि की चटनी के साथ शहद और घी को मिलाकर चटाने से बालक के रंग, आयु और तेज को बढ़ाती है॥ १४॥ धायी के दूध के अभाव में बकरी या गौ का दूध वैसे गुणों से युक्त बनाकर पिलावे॥ १५॥

(४) इस पद्धति का उल्लेख मनुस्मृति में भी विद्यमान है, जैसाकि—

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः॥ १६८॥
सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्। पुत्रं पुत्रगुणैर्युतं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥ १६९॥
माता-पितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥ १७१॥
क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥ १७४॥

—मनु० ९

जिसे पैदा करके किसी निःसन्तान पुरुष को दे देते हैं, वह लेनेवाले का 'दत्तक' पुत्र माना जाता है॥ १६८॥ जिस गुण-दोष में सदृश पुत्र के गुणों से युक्त को जो पुरुष पुत्र बना लेता है वह उस पुरुष का 'कृत्रिम' पुत्र कहाता है॥ १६९॥ जिस पुत्र को माँ-बाप दोनों ने वा एक ही ने त्याग दिया हो उसे लेकर जो पालता है वह उसका 'अपविद्ध' पुत्र होता है॥ १७१॥ जिस

पुत्र को माँ-बाप सन्तानार्थ किसी से मोल लें, वह सदृश हो वा असदृश वह उनका 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है ॥ १७४ ॥

ये चारों दत्तक, कृत्रिम, अपविद्ध और क्रीतक पुत्र अपनी जननी माता के दूध से[१] परवरिश नहीं पाते[१], अपितु पुत्र बनानेवाली माता के प्रबन्ध से परवरिश पाते हैं। इनके पालनेवालों को धायी अथवा गौ वा बकरी के दूध का ही प्रबन्ध करना पड़ता है, अतः मनुस्मृति भी स्वामीजी के लेख का अनुमोदन करती है।

(५) राम के पालन-पोषण के लिए भी धायी का प्रबन्ध किया गया था, जैसाकि रामायण में लिखा है—

सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्। अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥
विदीर्यमाना हर्षेण धात्री तु परया मुदा। आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ॥ १० ॥

—वाल्मी० अयोध्या० स० ७

भाषार्थ—मन्थरा ने पास में खड़ी हुई हर्ष से फूले नयनोंवाली, श्वेत रेशमीवस्त्र पहननेवाली धायी को देखकर पूछा ॥ ७ ॥ हर्ष से विदीर्यमान धायी ने बड़ी प्रसन्नता से कुब्जा को राम का राज्याभिषेक बतलाया ॥ १० ॥

और भी सुनिए—

(६) **सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ २ ॥**
अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत। असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥
सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत्। षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद्विनिःसृताः ॥ १७ ॥
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान्समवर्धयन्। कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

—वाल्मी० बाल० स० ३८

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः ॥ ३ ॥ —वाल्मी० वन० अ० १०७

भाषार्थ—सगर नाम का धर्मात्मा राजा था। उसके सन्तान न थी। उसे सन्तान की इच्छा थी ॥ २ ॥ कुछ समय बीतने पर उसकी बड़ी रानी ने एक पुत्र पैदा किया। रानी का नाम केशिनी तथा पुत्र का नाम असमंज था ॥ १६ ॥ सुमति नाम की दूसरी स्त्री ने अपने गर्भ से तूंबा पैदा किया। उस तूंबे के फोड़ने से ६० हजार पुत्र निकले ॥ १७ ॥ घी के भरे हुए घड़ों में धायियों ने उनका पालन-पोषण किया, कुछ समय के पश्चात् वे सब जवान हो गये ॥ १८ ॥ एक-एक के लिए राजा ने एक-एक धायी पुत्र-रक्षा के लिए नियत की ॥ ३ ॥

(७) आपके ख़याल के अनुसार जब सीता खेत में से मिली तो उसका पालन-पोषण भी धायी अथवा गौ वा बकरी के दूध से ही किया होगा, जैसाकि—

क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता। भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥

—वाल्मी० बाल० स० ६६ । १४

भाषार्थ—जनक ने कहा कि खेत का शोधन करते हुए सीता के नाम से प्रसिद्ध कन्या मुझे प्राप्त हुई। पृथिवी से निकली हुई मेरी पुत्री वृद्धि को प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

(८) महाभारत में भी इसकी पुष्टि विद्यमान है, जैसाकि—

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत्। तस्या कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥ १२७ ॥
पितुः स्वस्त्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान्। अग्रयमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ॥ १२८ ॥

---

१. पालित नहीं होते।

अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षया। अददात् कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा॥ १२९॥
—महा० आदि० अ० ६७

भाषार्थ—वसुदेव का पिता शूर नामवाला यादवों में श्रेष्ठ था। उसकी कन्या का नाम पृथा था जो अति ही सुन्दरी थी॥ १२७॥ उस बलवान् शूर ने निःसन्तान अपनी बुआ के पुत्र कुन्तिभोज के लिए अपनी पहली सन्तान देने की प्रतिज्ञा करके॥ १२८॥ प्रथम पैदा हुई उस कन्या को कृपापूर्वक कुन्तिभोज को दे दिया॥ १२९॥

कुन्तिभोज ने उसका पालन-पोषण धायी अथवा गौ वा बकरी के दूध से ही किया होगा।

(९) **प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा। अजीजनत्सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम्॥ १३५॥**
निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात्तदा। उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम्॥ १३७॥
तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः। राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा॥ १३८॥
—महा० आदि० अ० ६७

भाषार्थ—उस कुन्ती में प्रकाश करनेवाले भगवान् सूर्य ने गर्भ धारण किया। उसमें सर्वशस्त्रधारियों में उत्तम पुत्र पैदा हुआ॥ १३५॥ बन्धुपक्ष के भय से कुन्ती ने उस पैदा हुए बालक को छिपाकर जल में छोड़ दिया॥ १३७॥ उस जल में छोड़े हुए गर्भ को राधा के पति अधिरथ ने राधा के लिए पुत्र कल्पित कर दिया॥ १३८॥

कहिए महाराज! राधा ने कर्ण का पालन-पोषण कैसे किया?

(१०) **ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्।**
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि॥ ११॥
पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः। कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः॥ १२॥
[गीता० सं० में अ० १०४। १३-१४।—सं०]—महा० आदि० अ० १०५

भाषार्थ—सत्यवती ने कहा कि तब वह मुनि पराशर मुझसे बोले कि यह मेरा गर्भ इस नदी के द्वीप में ही छोड़ दे, तू कन्या ही हो जावेगी॥ ११॥ वह पराशर का पुत्र महान् ऋषि तथा महायोगी बना। वह मुझ कन्या का पुत्र था और द्वैपायन नाम से प्रसिद्ध हुआ॥ १२॥

कहिए श्रीमान्जी! पराशर ने व्यास का पालन-पोषण किस ढङ्ग से किया था?

(११) ऋष्यशृङ्ग मृगी से, कौशिक कुशा से, जाम्बुक गीदड़ से वाल्मीक बांबी से, गौतम खरगोश की पीठ से, अगस्त्य घड़े से पैदा हुए (वज्रसूची उपनिषत्)। कणाद उलूकी से, माण्डव्य मण्डूकी से, शुक शुकी से पैदा हुए (भवि० १ ब्राह्मपर्व अ० ४२)। सत्यवती तथा मत्स्यराज मछली से, द्रोणाचार्य कलश से, शरस्तम्ब से कृपा-कृपी, कृष्णा तथा धृष्टद्युम्न यज्ञ की वेदी से पैदा हुए (महा० आदि० अ० ६३)।

सनातनधर्म के विचार से इन समस्त बालकों का पालन-पोषण कैसे किया गया था? निश्चित ही धायी अथवा गौ, बकरी आदि के दूध से किया गया मानना पड़ेगा।

(१२) कृष्ण ने एक भी दिन देवकी का दूध नहीं पीया, अपितु कृष्ण ने यशोधा के दूध से परवरिश पायी थी। हालाँकि देवकी क्षत्रिया तथा यशोदा वैश्या थी।

(१३) विश्वामित्र ने मेनका से व्यभिचार किया। मेनका के गर्भ से शकुन्तला पैदा हुी। मेनका तथा विश्वामित्र दोनों उसे जंगल में छोड़कर चले गये। तब कण्वमुनि ने उसका पालन-पोषण किया (महा० आदि० अ० ७२)। बतलाइए, उसका पालन-पोषण बिना धायी वा दूध के कैसे हुआ?

(१४) चन्द्रमा ने गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा से व्यभिचार किया। तारा ने बुध नामक पुत्र

पैदा किया और पैदा करते ही छोड़कर चली गई (भविष्य० उत्तर० अ० ९९)। तो बतलाइए, चन्द्रमा ने बुध का पालन-पोषण बिना धायी वा दूध के कैसे किया?

(१५) माधवी ने चार वर्ष में चार पतियों के लिए चार पुत्र पैदा किये और पुत्रों को उन्हें देकर वन में चली गई (महा० उद्योग० अ० १०५ से १२१)। उन चारों का पालन-पोषण बिना धायी अथवा गौ, बकरी के दूध के कैसे हुआ?

(१६) राजा सृञ्जय ने अपने पुत्र के पालनार्थ धायी रक्खी थी, जैसाकि—

ततो भागीरथीतीरे कदाचिन्निर्जने वने। धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत॥ ३१॥

—महा० शान्ति० अ० ३१

तब कभी निर्जन वन में भागीरथी के तीर पर वह बालक धायी को साथ में लेकर खेलने के लिए दौड़ने लगा॥ ३१॥

(१७) पञ्चशिख का पालन-पोषण गुरु की स्त्री कपिला ने किया, जिससे उसका नाम कापिलेय हुआ, जैसेकि—

आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥ १३॥
तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः ।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ॥ १४॥
तस्या पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १५॥ —महा० शान्ति० अ० २१८

उस मण्डल में आसुरिजी आये॥ १३॥ उसका शिष्य पञ्चशिख था जो स्त्री के दूध से पला था। कपिला नाम की कोई ब्राह्मणी उसकी पत्नी थी॥ १४॥ उस स्त्री का पुत्र बनकर उस स्त्री के दोनों स्तनों का दूध पीता था। उससे वह कपिल के पुत्रत्व तथा नैष्ठिकी बुद्धि को प्राप्त हुआ॥ १६॥

इत्यादि-इत्यादि अनेक लेख सनातनधर्म के ग्रन्थों में मौजूद हैं, जिनसे माता के अभाव में तथा माताजी की मौजूदगी में भी बच्चे को धायी के दूध तथा गौ वा बकरी आदि के दूध से पालना सिद्ध होता है। इतने प्रमाणों की विद्यमानता में सनातनधर्म का स्वामीजी के लेख पर आपत्ति करना यदि ढीठपन नहीं तो और क्या है? आप तो केवल धायी से ही घबरा रहे हैं, सनातनधर्म में तो बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक तथा वेदविरुद्ध घटनाएँ विद्यमान हैं, जैसेकि—

(१८) ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ २६॥
वामपार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ।
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ॥ २७॥
युवनाश्वं नरपतिं तदभुतमिवाभवत् ॥ २८॥
प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसन्दधे ॥ २९॥

मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिना। मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः॥ ३०॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा। अवर्द्धत महातेजाः किष्कून् राजंस्त्रयोदश॥ ३१॥

—महा० वन० अ० १२६

भाषार्थ—तब सौ वर्ष पूरे होने पर उस महात्मा राजा युवनाश्व की॥ २६॥ बाईं कोख को फोड़कर सूर्य के समान पुत्र पैदा हुआ। वह महातेजस्वी पुत्र निकल आया, परन्तु उस युवनाश्व राजा को मृत्यु प्राप्त नहीं हुई यह आश्चर्य ही हुआ॥ २७-२८॥ तब उस बालक के मुख में इन्द्र ने अपनी अंगुली दे दी॥ २९॥ 'यह मुझको चूसेगा', इन्द्र के ऐसा कहने पर देवताओं ने उस

बालक का नाम मान्धता रख दिया॥ ३०॥ इन्द्र से दी हुई उस अंगुली को चूसते हुए वह महातेजस्वी बालक दश बालिश्त बढ़ गया॥ ३१॥

यह पुरुष के गर्भ होना, उसके पेट से बालक का पैदा होना तथा इन्द्र की अंगुली को चूसकर बालक का बढ़ना सर्वथा ही वेद के विरुद्ध है, क्योंकि वेद कहता है कि—

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥

—अथर्व० कां० ६ सू० ११

पहले वीर्य मनुष्य में ही होता है। वह पीछे से स्त्री में सींच दिया जाता है। वह ही सन्तान की प्राप्ति करानेवाला होता है। ऐसा प्रजापति परमात्मा ने कहा है॥ २॥

क्या कोई ऐसा पुंमैथुनप्रिय सनातनधर्मी भूतल पर मौजूद है जो उपर्युक्त वेदविरुद्ध घटना को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आये?

(१९) तस्मिन्नवसरे तत्र कृत्तिकाख्याश्च षट् स्त्रियः। स्नातुं समागता बालं ददृशुस्तं महाप्रभुम्॥ २९॥
ग्रहीतुं तं मनश्चक्रुः सर्वास्ताः कृत्तिकाः स्त्रियः। वादो बभूव तासां तद् ग्रहणेच्छापरो मुने॥ ३०॥
तद्वादशमनार्थं स षण्मुखानि चकार ह। पपौ दुग्धं च सर्वासां तुष्टास्ता अभवन्मुने॥ ३१॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० ३

षट् शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः। एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत॥ १७॥

—महा० वन० अ० २२४

भाषार्थ—उस समय वहाँ पर कृत्तिका नाम की छह स्त्रियाँ स्नान करने को आईं और उस महातेजस्वी बालक को देखा॥ २९॥ उन कृत्तिका नाम की सब स्त्रियों ने उसके ग्रहण करने की मन में इच्छा की। इसके ग्रहण की इच्छा के बारे में उनका विवाद हो गया॥ ३०॥ उनका विवाद शान्त करने के लिए उस बालक ने अपने छह मुख बना लिये और सबका दूध पीने लगा। वे सब प्रसन्न हो गईं॥ ३१॥ छह सिरवाला, बारह कानोंवाला, बारह नेत्रोंवाला, बारह भुजावाला, एकगर्दन और एक पेटवाला, कुमार पैदा हुआ॥ १७॥

इस प्रकार के बालक की पैदाइश वेद विरुद्ध है, क्योंकि "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**" इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि पुरुष के एक मुख, दो हाथ, दो नेत्र, दो कान ही सृष्टिक्रम के अनुकूल हैं। क्या कोई पौराणिक ज्ञानी इस बालक की बनावट को वेदानुकूल सिद्ध करने में समर्थ है?

(२०) यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः। द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ॥ ३३॥
ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे। भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः॥ ३४॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः। ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह॥ ३५॥
अथ कले महाप्राज्ञ यथासमयमागते। प्रजायेतामुभे राजन् शरीरशकले तदा॥ ३६॥
एकाक्षिबाहुचरणे अर्द्धोदरमुखस्फिचे। दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम्॥ ३७॥
उद्विग्ने सह सन्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले। सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते॥ ३८॥
तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते ते कृत्वा गर्भसंप्लवे। निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः॥ ३९॥
ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी। जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना॥ ४०॥
कर्त्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी। संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता॥ ४१॥
ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ। एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत॥ ४२॥

—महा० सभा० अ० १७

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता। जरया सन्धितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम्॥ ११॥

—महा० सभा० अ० १८

भाषार्थ—तब राजा बृहद्रथ ने समय की अनुकूलता जानकर अपनी दोनों पत्नियों को एक फल दे दिया॥ ३३॥ उन दोनों सुन्दरियों ने उस आम के दो भाग करके आधा-आधा खा लिया, क्योंकि भावि ऐसी थी और मुनि का वाक् सत्य होना था॥ ३४॥ फल के खाने के कारण उन दोनों के गर्भ हो गया। उन दोनों को गर्भवती देखकर राजा अति प्रसन्न हुआ॥ ३५॥ उसके बाद समय के प्राप्त होने पर उन दोनों ने शरीर के दो टुकड़े पैदा किये॥ ३६॥ एक आँख, एक हाथ, एक पैर, आधा पेट, आधा मुख, आधे गुर्दे, शरीर के इस प्रकार दो टुकड़े देखकर दोनों रानियाँ काँपने लगीं॥ ३७॥ ये दोनों दु:खित हुईं। आपस में परामर्श करके दोनों अबला बहिनों ने प्राण रखनेवाले उन दोनों शरीर के टुकड़ों को त्याग दिया॥ ३८॥ उन दोनों की धायियाँ उन दोनों टुकड़ों को ढककर महल से बाहर फेंककर चली गईं॥ ३९॥ उनके चौरस्ते पर फेंके जाने पर जरा नाम की मांस-खून भोजन करनेवाली राक्षसी ने उनको ग्रहण कर लिया॥ ४०॥ उन सुखी करनेवाले दोनों टुकड़ों को राक्षसी ने चीरने की कामना करते हुए विधि के बल से प्रेरित होकर आपस में जोड़ दिया॥ ४१॥ वे दोनों टुकड़े समीप लानेमात्र से ही एक मूर्त्ति धारण करनेवाला कुमार बन गया॥ ४२॥ ब्रह्मा के समान उसके पिता ने उसका नामकरण किया, चूँकि जरा ने इसकी सन्धि की है, इसलिए इसका नाम जरासन्ध हो गया॥ ११॥

यह सम्पूर्ण कथा सृष्टिक्रम तथा वेद के विरुद्ध है, क्योंकि वेद कहता है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

—ऋ० ५।७८।९

हे परमात्मन्! दश महीने तक माता के उदर में सोनेवाला सुकुमार जीव प्राण धारण करता हुआ जीती हुई अपनी माता से बिना किसी ज़ख़्म के बाहर निकले॥ ९॥

यह मन्त्र एक माता से ही एक पुत्र उत्पत्ति वर्णन करता है, अतः दो माताओं से पुत्र का पैदा होना सर्वथा वेदविरुद्ध है। क्या कोई पौराणिक डाक्टरी में निपुण जीता-जागता पौराणिक पण्डित भूगोल में मौजूद है जो दो माताओं के पेट से एक बालक का पैदा होना सिद्ध कर सके?

(५५३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ४ में लिखा है कि—

''**प्रश्न**—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जावे तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जावेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए।

उत्तर—न किसी की सेवा का भंग और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे।'' लड़कों का यह परिवर्तन बिल्कुल वेदविरुद्ध है। इस बारे में जो आर्यसमाज के पण्डितों की तरफ़ से यह तर्क पेश किया जाता है कि **'अहं राष्ट्री संगमनी'** [अथर्व० ४।३०।२] इस मन्त्र में राजसभा खुद कहती है कि मैं जिसको जैसा चाहती हूँ वैसा बना देती हूँ। यहाँ आर्यसमाज के पण्डित धोखा देते हैं। इस सारे सूक्त का देवता 'वागाम्भरणी शक्ति दुर्गा' है। फिर यहाँ राजसभा कहाँ से कूद बैठी? इन मन्त्रों में पुत्र-परिवर्तन की आज्ञा नहीं है। —पृ० ८३, पं० २२

उत्तर—स्वामीजी का उपर्युक्त लेख क़तई तौर से वेद के अनुकूल है, क्योंकि **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** इस मन्त्र द्वारा परमात्मा ने मानव-समाज को मनुष्य के शरीर के साथ उपमा देकर हमको यह शिक्षा दी है कि हे मनुष्यो! तुम कर्मों के अनुसार चार वर्णों में विभक्त होते हुए भी आपस में ऐसे प्रेम के साथ संगठित रहो जैसे शरीर के चारों हिस्से आपस में प्रीति के साथ रहते हैं। जैसे सारा शरीर विविध प्रकार की वस्तुओं को बनाने में लगा रहता है और बनने पर जो वस्तु जिस अंग के लिए आवश्यक होती है उसी को दे देता है और सारा ही शरीर सम्मिलित रूप से अपनी सम्पत्ति का अपने को मालिक समझता है वैसे ही हे इनसानो! देश की सारी सम्पत्ति

को चारों वर्ण सम्मिलित रूप से अपनी समझो और देश की सारी सन्तान को राष्ट्रीय सम्पत्ति समझकर उसको सुयोग्य बनाने का यत्न करो और नौजवान होने पर जो सन्तान जिसकी सेवा करने के योग्य हो वह उसके अर्पण कर दो। जब इस मन्त्र के अनुसार सारे देश की सन्तान ही सारे राष्ट्र की सम्पत्ति है तो फिर परिवर्तन में किसी प्रकार की आपत्ति ही नहीं है। रहा प्रबन्ध का प्रश्न, सो वह राजसभा तथा विद्वत्सभा करेगी, जैसाकि वेद में आता है—

(२) **अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।**
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥ —अथर्व० ४।३०

राजसभा, विद्यासभा तथा धर्मसभा कहती है कि मैं राष्ट्र के प्रबन्ध को चलानेवाली हूँ। मैं वसु, रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचारियों की गृहस्थ में जाने से पूर्व व्यवस्था करनेवाली हूँ। सब-के-सब विद्वान् लोग मिलकर मुझको दृढ़तापूर्वक प्रथम ही स्थापित करें॥ २॥

मैं स्वयं इस बात को कहती हूँ कि मैं देवों तथा मनुष्यों का सेवन करती हूँ। मैं जिस-जिसको चाहती हूँ उस-उसको तेजोमय क्षत्रिय बनाती हूँ और जिस-जिसको चाहती हूँ उस-उसको ब्राह्मण, ऋषि और सुमेधा बनाती हूँ॥ ३॥

इस सारे सूक्त में यही वर्णन है कि विद्यासभा, राजसभा और धर्मसभा सब मनुष्यों की कर्मानुसार वर्णव्यवस्था करती हैं। इस सूक्त का देवता अर्थात् प्रतिपाद्यविषय ''वागाम्भृणी'' है जिसके अर्थ हैं वेदवाणी को धारणा करनेवाली सभा, अतः मन्त्र में पड़ा हुआ **''राष्ट्री संगमनी''** पद हमारे अर्थ की पुष्टि करता है। यहाँ शक्ति और दुर्गा का चिह्न भी नहीं है, क्योंकि पौराणिक दुर्गा का स्वरूप निम्न प्रकार का है—

कंसविद्रावणकरी, असुराणां क्षयंकरी, शिलातटविनिक्षिप्ता, आकाशं प्रतिगामिनी ॥ ३ ॥ वासुदेवस्य भगिनी, खड्गखेटकधारिणी ॥ ४ ॥ वरदा, कृष्णा, कुमारी, ब्रह्मचारिणी ॥ ७ ॥ चतुर्भुजा, चतुर्वक्त्रा, पीनश्रोणिपयोधरा ॥ ८ ॥ —महा० विराट० अ० ६

इत्यादि-इत्यादि दुर्गा के अनेक विलक्षण गुण वर्णन किये गये हैं जिनमें से इस सूक्त में एक भी दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध हुआ कि इस सूक्त में पौराणिक दुर्गा का वर्णन नहीं है अपितु राष्ट्र की प्रबन्धकर्त्री राजसभा, धर्मसभा, तथा विद्यासभा का ही वर्णन है और वर्णाश्रम की व्यवस्था उसका कर्त्तव्य है, जैसाकि—

(३) **त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥**
—ऋ० मं० ३ सू० ३८ मं० ६

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्र्यश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेद्विद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥
—मनु० १२

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥ १४८ ॥
—मनु० २

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥
—मनु० ८

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥
—मनु० ७

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्। कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ १५२॥

—मनु० ७

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्॥ १९॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥ २०॥ —महा० अनु० अ० १०४

सम्यग्वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके॥ ३५॥ —महा०शान्ति०अ० २५

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत्॥ ४॥

—महा० शान्ति० अ० ४५

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता। धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः॥ १५॥

—महा० शान्ति० अ० ५७

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन। नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात्॥ ११॥

—महा० शान्ति० अ० ७६

पूजयेद्धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान्। नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु॥ १८॥

—महा० शान्ति० अ० ८६

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः। सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि॥ ५०॥

—महा० शान्ति० अ० १

इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध है कि राजा ही विद्यासभा, धर्मसभा तथा राजसभा द्वारा कर्मानुसार वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था करनेवाला है।

(४) सन्तान के तबादले की आज्ञा वेदों में अनेक प्रकार से विद्यमान हैं। विवाह में लड़कियाँ पिता के घर से पति के घर में तब्दील होती हैं, जैसेकि—

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा॥

—अथर्व० १४।२।५२

ये कामना करती हुई शोभावती कन्याएँ पितृकुल से पतिकुल को जाती हुई सुन्दर वाणी से नियमव्रत को धारण करें॥५२॥

इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या मनुजी करते हैं कि—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ५॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ १३॥

—मनु० ३

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥ २२॥

—मनु० ९

माताकी सपिण्ड न हो तथा पिता की सपिण्ड और सगोत्र न हो ऐसी कन्या द्विजातियों के लिए पत्नी बनाने को योग्य है॥५॥ शूद्र की पत्नी शूद्रा ही होती है, वैश्य की शूद्रा तथा वैश्या भी पत्नी हो सकती हैं। क्षत्रिय की शूद्रा, वैश्या तथा क्षत्रिया पत्नी बन सकती हैं और ब्राह्मण की शूद्रा, वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी पत्नी बन सकती हैं॥१३॥ जिस प्रकार के गुणोंवाले पति से स्त्री विधिपूर्वक मिल जाती है, उसी प्रकार के गुणोंवाली वह हो जाती है, जैसे समुद्र में मिलकर नदियाँ समुद्ररूप हो जाती हैं॥२२॥

(५) और कभी-कभी पति की पत्नी के घर में तब्दीली होती है जैसेकि जब लड़की के

बाप के यहाँ पुत्र न हो तो वह पुत्री को ही पुत्रिका बना लेता है और उसका पति कन्या के बाप के घर तब्दील हो जाता है। उस कन्या से जो लड़का होता है वह कन्या के बाप का पौत्र ही माना जाता है, जैसेकि—

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥

—ऋ० मं० ३ सू० ३१ मं० १

धारण करनेवाला पुत्री को सन्तानकर्म में पुत्र प्रसिद्ध करता है और दोहते को पोता स्वीकार करता है। सन्तान पैदा करने के विधान की पूजा करता हुआ प्रजनन यज्ञ को जानता है।

—निरु० अ० ३ खं० ४

पिता जिस समय कन्या के दान से पहले जँवाई के साथ प्रतिज्ञा बाँधता है कि इसमें जो पुत्र होगा वह मेरा होगा। इस प्रकार मन के सन्ताप को दूर करता है।

—निरु० अ० ३ खं० ५

इसकी व्याख्या मनु ने इस प्रकार की है—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ १२७॥
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका। विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः॥ १२८॥
यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ १३०॥
पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः। तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः॥ १३३॥

—मनु० ९

पुत्रहीन मनुष्य इस विधि से अपनी पुत्री को पुत्रिका बना लेवे कि जो इसमें पुत्र पैदा हो वह मुझे अन्न-जल प्रदान करनेवाला हो॥ १२७॥ इस विधान से पूर्व समय में स्वयं दक्ष प्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिए पुत्रिका बनाई थी॥ १२८॥ जैसा आत्मा वैसा पुत्र और पुत्र के समान पुत्री। उस आत्मा की विद्यमानता में अन्य कैसे धन ले-जा सकता है॥ १३०॥ संसार में पोते और दोहते में धर्म से कोई फ़र्क नहीं है, क्योंकि उन दोनों के पिता और माता उसकी देह से ही पैदा हुए हैं॥ १३३॥

(६) इसके अतिरिक्त अन्य के पुत्रों को भी अपनी अनुकूलता से पुत्र बनाया जाता है और उनका भी उत्पन्नकर्त्ता के घर से ग्रहणकर्त्ता के घर में परिवर्तन हो जाता है, जैसाकि वेद में लिखा है—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥ —ऋ० ७।४।८

भाषार्थ—हे मनुष्य! जो (**अरण्यः**) प्रसन्न न करता हुआ (**सुशेवः**) सुन्दर सुख से युक्त (**अन्योदर्यः**) दूसरे उदर से पैदा हुआ हो (**सः**) वह (**मनसा**) अन्तःकरण से (**ग्रभाय**) ग्रहण के लिए (**नहि**) नहीं (**मन्तवै**) मानने योग्य है (**चित् उ पुनः इत्**) और फिर वही (**ओकः**) घर को (**नहि**) नहीं (**एति**) प्राप्त होता (**अध**) इसके पीछे जो (**नव्यः**) नया (**अभीषाड्**) अच्छा सहनशील (**वाजी**) विज्ञानवाला (**नः**) हमको (**आ, एतु**) प्राप्त हो।

अभिप्राय—जो दूसरे पेट से पैदा हुआ बालक स्वयं चाहे सुखी हो, किन्तु यदि वह हमको प्रसन्न करनेवाला नहीं है, अर्थात् उसके गुण-कर्म-स्वभाव हम से नहीं मिलते तो ऐसे बालक को मन से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह घर का मालिक नहीं बन सकता। बालक जो नया नौजवान अच्छा सहनशील, अर्थात् हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार विज्ञानवाला

हो वह हमको प्राप्त करना चाहिए। सारांश यह कि जो गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल हो वह पुत्र बनाना चाहिए जो हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हो उसको पुत्र नहीं बनाना चाहिए।

इसी मन्त्र की व्याख्या मनुजी करते हैं—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥ १५९॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥ १६०॥
माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः॥ १६८॥
सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्। पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥ १६९॥
मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। यं पुत्र परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥ १७१॥
क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥ १७४॥
मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्। आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः॥ १७७॥
क्षेत्रजादीन् सुतानेतानेकादश यथोदितान्। पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः॥ १८०॥

—मनु० ९

यहाँ पर एक औरस पुत्र को छोड़कर शेष ग्यारह में ही सन्तान-परिवर्तन का सिद्धान्त विद्यमान है।

स्वपत्नीप्रभवान् पंच लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान्। कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत्॥ ९८॥

—महा० आदि० अ० ७४

भाषार्थ—लब्धक, क्रीतक, विवर्धित, कृतक तथा अन्य स्त्री में पैदा किये हुए पुत्र अपनी पत्नी में पैदा हुए ही माने जाते हैं।

महाभारत तथा रामायण में भी सन्तान-परिवर्तन का वर्णन विद्यमान है, जैसाकि—

(७) **स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव।**
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ॥ १९॥ —महा० शान्ति० अ० ६३

भाषार्थ—हे पाण्डव! प्रजा के पालन करनेवाले पुत्र को राज्य में स्थापित करके अथवा हे श्रेष्ठ क्षत्रिय! किसी अन्य गोत्र में पैदा हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय को राज्य में स्थापित करके वानप्रस्थ आश्रम का सेवन करे॥ १९॥

(८) **विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्।**
ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः॥ १३॥ —महा० शान्ति० अ० ६३

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम्। अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम्॥ १६॥
श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु। पूर्णवर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ॥ १७॥

—वाल्मी० बाल० स० ६२

भाषार्थ—ऋचीक का पुत्र शुनःशेप विश्वामित्र का पुत्र बन गया। यज्ञ के अधिकारी देवताओं की ऋचाओं से स्तुति करके॥ १३॥ विश्वामित्र ने कहा कि मधुछन्दादि पुत्रो! तुम सबने मेरे वचन का अनादर करके धर्म से निन्दित, कठोर, रोमांच करनेवाला, पापमय वचन कहा है॥ १६॥ इसलिए तुम सब सहस्र वर्ष तक कुत्ते के मांस का भोजन करते हुए जाति में वासिष्ठों की भाँति पृथिवी पर निवास करोगे॥ १७॥

यहाँ पर विश्वामित्र ने ऋचीक के पुत्र शुनःशेप को तो धर्मात्मा समझकर अपना पुत्र बना लिया और मधुछन्दादि अपने पुत्रों को पापाचारी होने के कारण घर से निकाल दिया।

(९) सूर्य का पुत्र कर्ण अधिरथ सूत का पुत्र बनकर रहा।

(१०) शूर की पुत्री कुन्ती राजा कुन्तिभोज की पुत्र बनी।

(११) वसुदेव का पुत्र कृष्ण वृन्दावन में नन्द का पुत्र बनकर रहा।

(१२) नन्द की पुत्री एकानंशा मथुरा में वसुदेव की पुत्री बनकर रही।

(१३) आपके मतानुसार राजा उपरिचर की पुत्री सत्यवती मल्लाह की पुत्री बनकर रही।

(१४) विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला कण्वमुनि की पुत्री बनकर रही।

(१५) बृहस्पतिपुत्र भारद्वाज राजा भरत का पुत्र बनकर राजवंश का चलानेवाला बना।

—भाग० स्क० ९ अ० २०

(१६) धनपाल वैश्य का पुत्र कबीर अली नामक जुलाहे का पुत्र बनकर रहा।

—भविष्य० प्रति० खं० ४ अ० १७ श० ३७

(१७) अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन को उसके नाना ने पुत्र बनाकर रक्खा।

—भाग० स्कं० ९ अ० २२

इत्यादि अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जो सन्तान-परिवर्तन को सिद्ध करते हैं, अतः स्वामी दयानन्दजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। हाँ, पौराणिक ग्रन्थों में इस प्रकार के परिवर्तन भरे पड़े हैं कि जो वेद तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं, जैसाकि—

(१८) उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ॥८॥ —वाल्मी० बाल० स० ४९

(१९) राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु ॥१४॥

—रा० महा० अ० १ [अनुपलब्ध]

(२०) प्रथमं मिलितस्तत्र हस्ती चाप्येकदन्तकः ॥४९॥
तच्छिरश्च तदा नीत्वा तत्र तेऽयोजयन् ध्रुवम् ॥५०॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १७

(२१) अथ प्रजापतेस्तस्य सवनीयपशोः शिरः ।
बस्तस्य सन्दधुश्शम्भोः कायेनारं सुशासनात् ॥२६॥

—शिव० रुद्र० सती० अ० ४२

(२२) अहं हि किन्दमो नाम तपसा भावितो मुनिः ।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥२८॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्द्धं चरामि गहने वने ॥२९॥

—महा० आदि० अ० ११८

(२३) एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महतपाः ।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि ॥३४॥ —महा० आदि० अ० ८४

(२४) मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिशं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ॥२२॥ —वाल्मी०उत्तर०अ० ८९

(२५) भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
एनं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च ॥३१॥
तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा ॥३५॥ —महा०अनु० अ० ४

(२६) गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः। गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन॥२३॥

—वाल्मी० बाल० स० ६१

(२७) देवक्याः सप्तमे गर्भे कंसो रक्षां ददौ भिया।

रोहिणी जठरे माया तमाकृष्य ररक्ष च॥ ३७॥ —ब्रह्मवैवर्त०खं० ४ अ० ७

(१८) इन्द्र के अण्डकोशों के स्थान में मेंढे के अण्डकोशों का परिवर्तन (१९) राक्षसों का ब्राह्मण के रूप में परिवर्तन (२०) गणेश के सिर का हाथी के सिर से परिवर्तन (२१) अज के सिर का बकरे के सिर से परिवर्तन (२२) किंदम का मृग के शरीर से परिवर्तन (२३) ययाति के बुढ़ापे का पूरु के यौवन से परिवर्तन (२४) एक मास स्त्री का एक मास पुरुष के शरीर से परिवर्तन (२५) सत्यवती तथा उसकी माता का चरु परिवर्तन (२६) गौवों के बदले शुन:शेप का परिवर्तन (२७) देवकी के गर्भ का रोहिणी में परिवर्तन, इत्यादि अनेक परिवर्तन सनातनधर्म में विद्यमान हैं जोकि बुद्धि तथा वेद के विरुद्ध हैं। वेद ने **''भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्''** इत्यादि गायत्रीमन्त्र द्वारा बुद्धि को श्रेष्ठ बतलाया है। क्या कोई जन्माभिमानी पौराणिक पोप संसार में विद्यमान है जो उपर्युक्त परिवर्तनों को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५५४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४ पृ० ९० पं० ३ में लिखा है कि ''जब एक वर्ष या छह महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहे तब उन कन्याओं और कुमारों का प्रतिबिम्ब, अर्थात् जिसको फोटोग्राफ़ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतारके कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस-जिसका रूप मिल जाए उस-उसके इतिहास, अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिनपर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उनको अध्यापक लोग मँगवा के देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिसका विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें।''

चारों वेद में से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं कि जिसमें फोटू और जीवनचरित्र से विवाह होना लिखा हो। —पृ० ८७,पं० ३

उत्तर—आप अपनी सारी पुस्तक में समस्त प्रश्नों में प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान का शिकार होकर बुरी तरह परास्त हुए हैं, क्योंकि आपने एक स्थान में भी वेदमन्त्र देकर स्वामी दयानन्दजी के लेख का वेद से विरोध सिद्ध नहीं किया। जब आप स्वामीजी के लेख के विरोध में कोई वेदमन्त्र पेश नहीं कर सकते तो स्वामीजी का लेख आर्ष होने से स्वयं ही वेदानुकूल है। इस प्रश्न में भी आपने स्वामीजी के लेख को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए कोई वेदमन्त्र पेश नहीं किया। हम आपको बतलाना चाहते हैं कि स्वामीजी का उपर्युक्त लेख सर्वथा वेदानुकूल है। देखिए वेद में लिखा है कि—

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।

सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ ४३॥ —अथर्व० १४।२

भाषार्थ—हे स्त्री और पुरुष! जैसे सूर्य सुन्दर प्रकाशयुक्त प्रभातवेला को प्राप्त होता है, वैसे सुख से घर के मध्य में एक-दूसरे को अच्छे प्रकार से परीक्षापूर्वक जाननेहारे, हास्य और आनन्दयुक्त बड़े प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हुए, उत्तम चाल-चलन से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, उत्तम पुत्रवाले, श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त उत्तम प्रकार जीवन को धारण करते हुए गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होवो॥ ४३॥

इस वेदमन्त्र में गृहप्रवेश करनेवालों के लिए परस्पर एक-दूसरे की आयु, रूप, स्वास्थ्य, सदाचार, सम्पत्ति तथा विद्या की परीक्षा करके गृहाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा है। इसी वेदमन्त्र की व्याख्या मनुजी महाराज ने इस प्रकार की है—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ ८८॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥

—मनु० ९

भाषार्थ—उत्तम गुणयुक्त, रूपवान्, सदृश वर के लिए यदि कन्या माता की सातवीं पुश्त से कुछ नज़दीक भी हो तो भी विधिपूर्वक दे देनी चाहिए॥ ८८॥ कन्या ऋतुमती होने पर भी चाहे घर में ही मरण-पर्यन्त बैठी रहे किन्तु उसे कभी भी गुणहीन पुरुष के लिए न देवे॥ ८९॥ कुमारी कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इस समय के पश्चात् अपने सदृश पति को प्राप्त हो॥ ९०॥

यहाँ पर मनुजी महाराज ने कन्या और वर की आयु, गुण, रूप आदि का परस्पर सदृश होना विवाह के लिए अत्यावश्यक ठहराया है।

अब प्रश्न यह है कि उस सादृश्यता का निश्चय किस प्रकार किया जावे? यह देश-कालानुसार जैसे साधन सादृश्यता को जानने के लिए उचित हों वैसे प्रयोग करने चाहिएँ। रामायण और महाभारत के पढ़ने से पता लगता है कि उस समय में स्वयंवर को सादृश्यता जानने का साधन बनाया जाता था और कन्या और वर स्वयं अपने सामने एक-दूसरे को आँखों से देखकर और गुणों की परीक्षा करके परस्पर विवाह का निश्चय करते थे। इस बारे में राम-सीता, अर्जुन-द्रौपदी, नल-दमयन्ती, सत्यवान-सावित्री आदि के स्वयंवर विवाह चमकते हुए दृष्टान्त विद्यमान हैं। महाभारत के पीछे पौराणिक काल आया जिसमें आज्ञा हुई कि—

मुहूर्ते तिथिसम्पन्ने नक्षत्रे चाभिपूजिते। द्विजैस्तु सह वा गम्य कन्यां वीक्षेत शास्त्रवित्॥ ४॥
हस्तौ पादौ परीक्षेत अंगुलीर्नखमेव च। पाणिमेव च जंघे च कटिनासोरु एव च॥ ५॥
जघनोदरपृष्ठं च स्तनौ कर्णौ भुजौ तथा। जिह्वां चौष्ठौ च दन्ताश्च कपोलं गलकं तथा॥ ६॥
चक्षुर्नासा ललाटं च शिरः केशांस्तथैव च। रोमराजिं स्वरं वर्णमावर्तानि तु वा पुनः॥ ७॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० २८

भाषार्थ—उत्तम मुहूर्त्तयुक्त तिथि तथा श्रेष्ठ नक्षत्र में ब्राह्मणों को साथ में लेकर शास्त्रज्ञ कन्या को भली प्रकार देखे॥ ४॥ हाथ, पाँव, अँगुली और नाखुन, जंघा, कटि और नासिका की परीक्षा करे॥ ५॥ जघन, पेट, पीठ और स्तन, कान तथा भुजा, जिह्वा, होंठ, दाँत, कपोल तथा गाल की परीक्षा करे॥ ६॥ आँख, ललाट, शिर तथा केशों को देखे। शरीर के रोम, कण्ठ का स्वर तथा शरीर का रंग और पेट के बलों को बार-बार देखे॥ ७॥ वे अंग कैसे होने चाहिएँ इस विषय में लिखा है कि—

प्रतिष्ठिततलौ सम्यग्रक्तांभोजसमप्रभौ। ईदृशौ चरणौ धन्यौ योषितां भोगवर्धनौ॥ १२॥
अंगुल्यः संहिता वृत्ताः स्निग्धाः सूक्ष्मनखास्तथा। कुर्वन्त्यत्यन्तमैश्वर्यं राजभावं च योषितः॥ १४॥
सुभगत्वं नखैः स्निग्धैराताम्रैश्च धनाढ्यता। पुत्राः स्युरुन्नतैरेभिः सुसूक्ष्मैश्चापि राजता॥ १८॥
गुल्फाः स्निग्धाश्च वृत्ताश्च समारूढशिरास्तथा। यदि स्युर्नूपुरान् दध्युर्बांधवाद्यै;समाप्नुयुः॥ २०॥
अशिराः शरकाण्डाभाः सुवृत्तात्पतनूरुहाः। जंघाः कुर्वन्ति सौभाग्यं यानं च गजवाजिभिः॥ २१॥
हस्तिहस्तनिभैर्वृत्तैरंभाभैः करभोपमैः। प्राप्नुवन्त्यूरुभिः शश्वत्स्त्रियः सुखमनंगजम्॥ २७॥
संध्यावर्णं समं चारु सूक्ष्मरोमान्वितं पृथु। जघनं शस्यते स्त्रीणां रतिसौख्यकरं द्विज॥ २९॥
अरोमको भगो यस्याः समः सुश्लिष्टसंस्थितः। अपि नीचकुलोत्पन्ना राजपत्नी भवत्यसौ॥ ३०॥
अश्वत्थपत्रसदृशः कूर्मपृष्ठोन्नतस्तथा। शशिबिम्बनिभश्चापि तथैव कलशाकृतिः।
भगः शस्ततमः स्त्रीणां रतिसौभाग्यवर्धनः॥ ३१॥

तिलपुष्पनिभो यश्च यद्यग्रे खुरसन्निभः। द्वावप्येतौ परप्रेष्यं कुर्वाते च दरिद्रताम्॥ ३२॥
उलूखलनिभैः शोकं मरणं विवृत्ताननैः। विरूपैः पूतिनिर्मांसैर्गजसंनिभरोमभिः।
दौःशील्यं दुर्भगत्वं च दारिद्र्यमधिगच्छति ॥ ३३॥
कपित्थफलसंकाशः पीनो बलिवर्जितः। स्फीतः प्रशस्यते स्त्रीणां निन्दितश्चान्यथा द्विजाः॥ ३४॥
सुवृत्तमुन्नतं पीनमदूरोन्नतमायतम्। स्तनयुग्ममिदं शस्तमतोऽन्यदसुखावहम्॥ ४२॥
उन्नतिः प्रथमे गर्भे द्वयोरेकस्य भूयसी। वासे तु जायते कन्या दक्षिणे तु भवेत्सुतः॥ ४३॥
दीर्घे तु चूचके यस्याः सा स्त्री धूर्ता रतिप्रिया। सुवृत्ते तु पुनर्यस्या द्वेष्टि सा पुरुषं सदा॥ ४४॥
स्तनैः सर्पफणाकारैः श्वजिह्वाकृतिभिस्तथा। दारिद्र्यमधिगच्छन्ति स्त्रियः पुरुषचेष्टिताः॥ ४५॥
ईदृग्लक्षणसम्पन्नां सुकन्यामुद्वहेत्तु यः। ऋद्धिर्वृद्धिस्तथा कीर्तिस्तत्र तिष्ठति नित्यशः॥ ११॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ५

जो पुरुष इस प्रकार के लक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करता है, उसके यहाँ ऋद्धि-वृद्धि तथा कीर्ति नित्य ठहरती है।

पुराणों में केवल स्त्री की ही परीक्षा नहीं लिखी अपितु पुरुष की भी लिखी है, जैसाकि—

शिवेऽहनि सुनक्षत्रे ग्रहे सौम्ये शुभे रवौ। पूर्वाह्णे मंगलैर्युक्ते परीक्षेत विचक्षणः॥ १०॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० २४

कल्याणकारी दिन, शुभ नक्षत्र, सौम्य ग्रह तथा सूर्य के शुभ होने पर दिन के पूर्व भाग अर्थात् प्रातःकाल बुद्धिमान् को पुरुष की परीक्षा करनी चाहिए॥ १०॥ पुरुष के अंग किस प्रकार के होने चाहिएँ, आगे इसका वर्णन है, जैसाकि—

दक्षिणावर्तलिंगश्च नरो वै पुत्रवान् भवेत्। वामावर्त्ते तथा लिंगे नरः कन्यां प्रसूयते॥ १॥
स्थूलैः शिरालैर्विषमैर्लिंगैर्दारिद्र्यमादिशेत्। ऋजुभिर्वर्तुलाकारैः पुरुषा पुत्रभागिनः॥ २॥
निम्नपादोपविष्टस्य भूमिं स्पृशति मेहनः। दुःखितं तं विजानीयात् पुरुषं नात्र संशयः॥ ३॥
भूमौ पादोपविष्टस्य गुल्फौ स्पृशति मेहनः। ईश्वरं तं विजानीयात् प्रमदानां च वल्लभम्॥ ४॥
सिंहव्याघ्रसमो यस्य ह्रस्वो भवति मेहनः। भोगवान् स तु विज्ञेयोऽशेषभोगसमन्वितः॥ ५॥
रेखाकृतिर्मनिर्यस्य मेहने हि विराजते। पार्थिवः स तु विज्ञेयः समुद्रवचनं यथा॥ ६॥
विस्तीर्णा मांसला स्निग्धा बस्तिः पुंसां प्रशस्यते। निर्मांसा विकटा रूक्षा बस्तिर्येषां न ते शुभाः॥ १९॥
गोमायुसदृशी यस्य श्वानोष्ट्रमहिषस्य च। स भवेद् दुःखितो नित्यं पुरुषो नात्र संशयः॥ २०॥
यश्चैकवृषणस्तात जले प्राणान् विमुञ्चति। स्त्री चंचलस्तु विषमैः समै राज्यं प्रचक्षते॥ २१॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० २५

जिन पौराणिकों के यहाँ इस प्रकार की परीक्षा करके विवाह करना लिखा हो वे स्वामीजी के उपर्युक्त लेख पर आपत्ति करें तो आश्चर्य नहीं तो क्या है? स्वामीजी ने लड़का-लड़की के रूप, आचरण, गुणों में सादृश्यता मिलाने के लिए तस्वीर तथा जीवन-चरित्र का परिवर्तन तथा सबके सामने एक-दूसरे को देखना मौखिक तथा लिखकर भी प्रश्नोत्तर करना साधन बतलाया है जोकि युक्तियुक्त तथा वेदानुकूल है। हाँ, पौराणिक रिवाज नाई-ब्राह्मण के द्वारा लड़के-लड़कियों का रिश्ता करना तथा मुँह-सिर लपेट, पार्सल बना फेरों के समय वेदी पर बिठाना और बैठकर लड़की का फेरे लेना, घूँघट निकालना आदि सम्पूर्ण ही वेद के विरुद्ध हैं। क्या कोई सनातनधर्म का पण्डित जीता-जागता है जो पौराणिकों के यहाँ होनेवाली अनमेल शादियों को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि अनिरुद्ध तथा उषा ने एक-दूसरे की तस्वीर को स्वप्न में देखा और दोनों एक-दूसरे पर मोहित हो गये। अन्त में दोनों ने विवाह कर लिया—

स्वप्ने ददर्श युवतीं पुष्पोद्याने सुपुष्पिते॥ ३॥
वायुप्रेरणवस्त्रेण व्यक्तगुप्तस्थलोज्ज्वलाम्॥ ९॥
तां दृष्ट्वा कामपुत्रश्च कामोन्मथितमानसः॥ १०॥
स्वप्नं च दर्शयामास बाणपुत्रीं च कामुकीम्॥ ४२॥
नवीननीरदश्याममतीव नवयौवनम्॥ ४४॥
कामात्मजप्रिया कान्ता कामबाणप्रपीडिता॥ ४८॥
पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा सा रेमे विगतज्वरा। गान्धर्वेण विवाहेन तामुवाह स्मरात्मजः॥ ८३॥

[आनन्द० सं० में श्लोक-संख्या में अन्तर है।]—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ११४

भाषार्थ—अनिरुद्ध ने पार्वती की माया के कारण स्वप्न में, फूली हुई फुलवाड़ी में एक युवती स्त्री उषा को देखा॥ ३॥ वायु की प्रेरणा से जिसका उज्ज्वल गुप्त स्थान नंगा होरहा था॥ ९॥ उसको देखकर काम का पुत्र अनिरुद्ध कामातुर हो उठा॥ १०॥ उस कामातुरा बाण की पुत्री को कृष्ण ने स्वप्न दिखलाया॥ ४२॥ जिसमें उसने नये श्याम कमल के समान यौवनवाले पुरुष को देखा॥ ४४॥ उस काम के पुत्र अनिरुद्ध को देखकर बाण की पुत्री उषा कामातुर हो उठी॥ ४८॥ अन्त में यत्नपूर्वक मिलने पर उस पतिव्रता उषा ने पति अनिरुद्ध को देखकर उससे आनन्दपूर्वक रमण किया और अनिरुद्ध ने उससे गान्धर्व विवाह की विधि से विवाह कर लिया॥ ८३॥

कहिए महाराज! यह तो घर में से ही सब-कुछ निकल आया। अब स्वामीजी के लेख पर किस मुख से आक्षेप करने का साहस कर सकेंगे?

(५५५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १०, पृ० २६३, पं० ९ में लिखा है कि—"इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी-मूँछ और शिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए, अर्थात् पुनः कभी न रखना। शीतप्रधान देश हो तो कामाचर है, चाहे जितने केश रक्खे; और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि सिर में बाल रखने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है।" यवन साम्राज्य में सहस्रों हिन्दुओं ने जान दे दी, किन्तु चुटिया न दी। जब शास्त्रार्थ में शिखा कटवाने का वेदमन्त्र माँगा जाता है तो आर्यसमाजियों की नानी मर जाती है। —पृ० ८७, पं० २३

उत्तर—स्वामीजी के लेख में चोटी कटाने की नित्यविधि नहीं है अपितु स्वामीजी ने नैमित्तिक रूप से चोटी का कटाना लिखा है, क्योंकि उपर्युक्त लेख में ही "इसके पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी-मूँह और शिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए" ये शब्द स्वामीजी के अभिप्राय को स्पष्ट बता रहे हैं। तथा 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भी स्वामीजी ने सन्ध्या के आरम्भ में लिखा है कि "इसके पश्चात् गायत्री मन्त्र से शिखा, अर्थात् चोटी को बाँधकर रक्षा करे", इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी साधारणावस्था में चोटी का नित्य रखना स्वीकार करते हैं। नैमित्तिक रूप से विशेष अवस्थाओं में चोटी का कटाना भी मनुष्य की इच्छा पर निर्भर मानते हैं, जैसाकि "जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिए"—ये शब्द स्पष्ट बता रहे हैं। और यह लेख भी स्वामीजी का अपना नहीं है, अपितु स्वामीजी ने मनुस्मृति के श्लोक की व्याख्या तथा उसपर होनेवाली शंकाओं का समाधान किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

(१) केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ ६५॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥ —मनु० २

भाषार्थ—ब्राह्मण का केशान्त-संस्कार सोहलवें वर्ष में होता है, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष तथा वैश्य का चौबीसवें वर्ष में होता है ॥ ६५ ॥ चाहे तो सारे बाल मुँडवाकर रक्खे, चाहे जटाजूट रहे, चाहे चोटी रखकर बाकी सब मुँडवा दे। ग्राम में सोये हुए इस ब्रह्मचारी को कभी सूर्य उदय और अस्त न हो ॥ २१९ ॥

और मनु ने भी चोटी कटवाने का यह विकल्प अपनी ओर से नहीं लिखा, अपितु वेद में इसकी आज्ञा है, जैसाकि—

(२) व्युप्तकेशाय च नमः ॥ —यजुः० १६ । २९

व्युप्ता मुण्डिताः केशा यस्य स व्युप्तकेशस्तस्मै नमः । —महीधर

(३) यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव ।
तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वहा शर्म यच्छतु ॥ —यजुः० १७ । ४८

यथा कुमारा अदृष्टपरिकारिणः विगतशिखाः सर्वमुण्डाः तं तमर्थं सन्निपतेयुरेवं सम्पतन्ति तत्रेत्यर्थः । —उव्वट

कुमारा विशिखा इव विगता शिखा येषां ते विशिखाः शिखारहिता मुण्डितमुण्डा विकीर्णकवचा वा अतिबालाश्चपलाः सन्तो यथा इतस्ततो गच्छन्ति तद्वत् । —महीधर

भाषार्थ—(२) समस्त केश मुँडवानेवाले का सत्कार करो (३) जिस संग्राम में बिना चोटी-केश और बहुत चोटियोंवाले बालकों के समान बाण आदि शस्त्र-अस्त्रों के समूह अच्छे प्रकार गिरते हैं वहाँ बड़ी सभा वा सेना पालनेवाला सेनापति आश्रय वा सुख को देवे और नित्य सभासदों से शोभायमान सभा सब दिन हम लोगों के लिए सुख सिद्ध करनेवाले घर को देवे। —दयानन्द

यहाँ पर उव्वट और महीधर चोटियों को सर्वथा मुँडवाने तथा स्वामी दयानन्दजी चोटी कटवाने में विकल्प मानकर चोटी के रखने का भी विधान करते हैं, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। पौराणिक ग्रन्थों में चोटी कटवाने के अनेक प्रमाण हैं, जैसेकि—

(४) यथा मंगलं केशशेषकरणम् । (पारस्कर० २ । १ । २२)

केशानां शेषकरणं शिखास्थापनं केशशेषकरणं यथा मंगलं मंगलं कुलाचार-व्यवस्थामनतिक्रम्य भवति। कुलाचाराश्च बहुधा। तद्यथा लौगाक्षिः। तृतीयस्य वत्सरस्य भूयिष्ठे गते चूडां कारयेत् दक्षिणतः कंबुजा वसिष्ठानामुभयतोऽत्रिकश्यपानां मुण्डा भृगवः पंचचूडा आंगिरसः वाजिमेके मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्ये। —हरिहर

यस्य कुले यथा प्रसिद्धं तस्य तथैव शिखास्थापनं कार्यम्। अत्र कारिकायाम्। केशशेषं तथा कुर्याद्यस्मिन् गोत्रे यथोचितम्। वसिष्ठाः दक्षिणे भागे उभयत्रापि काश्यपाः। शिखां कुर्वन्त्यंगिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्मताः। परितः केशपंक्त्या वा मुण्डाश्च भृगवो मतः॥ कुर्वन्त्यन्ये शिखामत्र मंगलार्थमिह क्वचित् ॥ —गदाधार

भाषार्थ—कुलाचार के अनुसार केश कटवाने चाहिएँ, और कुलाचार बहुत हैं, जैसे वसिष्ठ तथा कम्बोज दायीं ओर चोटी रखते हैं, अत्रि तथा कश्यपों के दोनों ओर चोटी रक्खी जाती है, आंगिरस पाँच चोटियाँ रखते हैं। भृगु लोग सर्वथा मुँडे हुए चोटी से रहित रहते हैं और दूसरे सब लोग मङ्गलार्थ चोटी रखते हैं।

(५) यथा गोत्रकुलकल्पम् । गोभिल० २ । ९ । २५

गोत्रकुलानुरूपं सशिखं शिखाशून्यं वा, पंच चूडं वा। (तथा च "वासिष्ठाः पंच चूडा

स्युस्त्रिचूडाः कुण्डपायिनः'' किंच ''सशिखं वयनं कार्यमाम्नायाद् ब्रह्मचारिणाम्। आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्'' इति। एवं च वसिष्ठ गोत्राणां पंचचूडं मुण्डनम्। कुण्डपायिनां त्रिचूडं मुण्डनम्, कौथुमानामासमावर्तनात् सशिखं वपनं चेति) बहुवचनं साधारणविध्यपेक्षम्।

—सत्यव्रत सामश्रमी

भाषार्थ—गोत्र और कुलानुसार पाँच या तीन शिखा या शिखारहित या शिखासहित मुण्डन करवाये।

—ठाकुर उदयनारायण सिंह

(६) **धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च।**
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौण्ड्यमास्थितः॥ ४॥ —महा०शान्ति०अ० १८

भाषार्थ—धन, सन्तान, स्त्री तथा विविध प्रकार के रत्न, मार्ग और अग्नि का त्याग करके जनक मौण्ड्य भाव को प्राप्त हुआ।

(७) **मुण्डानेतान् हनिष्यामि दानवानिव वासवः।**
प्रतिज्ञां पालयिष्यामि काम्बोजानेव मां वह॥ २६॥ —महा० द्रोण० अ० ११९

सात्यकि ने सारथी से कहा कि मैं आज इन मुण्डित मुंडों को ऐसे मारूँगा जैसे इन्द्र दानवों को मारता है। मैं आज अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूँगा। मुझे इन काम्बोजों के सामने ले-चल।

(८) **पुत्राद्या वृद्धपूर्वास्ते एकवस्त्राः शिखां विना॥ ७२॥**
प्राचीनावीतिनः सर्वे विशेयुर्मौनिनो जलम्॥ ७३॥ —गरुड अ० ४ प्रेतखण्ड

पुत्रादि वृद्धोंसहित एकवस्त्रधारी चोटी मुँडवाकर सब प्राचीनवीति होकर जल में प्रवेश करें।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक साहित्य भी नैमित्तिक रूप से चोटी का काटना स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। यवन साम्राज्य में हिन्दुओं ने चोटी के लिए जान नहीं दी अपितु हिन्दुधर्म के लिए जानें दी। इसका कारण यह है कि चोटी हिन्दूधर्म की नींव नहीं है। यदि चोटी को हिन्दूधर्म की नींव मान लिया जाए और यह माना जाए कि जो चोटी रक्खे वही हिन्दू है तो ऐसी स्थिति में हिन्दुओं की गिनती बहुत कम रह जावेगी। हिन्दुओं में लाखों की गिन्ती में साधु लोग हैं जो चोटी नहीं रखते। क्या उनको हिन्दूधर्म से खारिज समझा जाएगा? जिला हिसार, रोहतक, करनाल, फ़ीरोजपुर, बिजनौर तथा रियासत जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि में एक कौम आबाद है जिसका नाम विष्णोई है। वे कट्टर हिन्दू हैं, किन्तु वे चोटी नहीं रखते। क्या उनको भी हिन्दुओं से बाहर माना जाएगा? पंजाब में तीस लाख सिक्ख हैं उनके सिर पर चोटी नहीं है। चौबीस करोड़ हिन्दुओं में से बारह करोड़ स्त्रियाँ हैं जिनके सिर पर चोटी नहीं है तो क्या सिक्खों और स्त्रियों को भी चोटी के बिना गैर-हिन्दु माना जाएगा? यदि कोई यह कहे कि पूरे केशों को भी चोटी ही माना जाता है और प्रत्येक पूरे केश रखनेवाले को भी चोटी रखने में गिना जाकर हिन्दू ही माना जाएगा तो फिर भी सनातनधर्म की लुटिया तो डूब ही जाएगी, क्योंकि इससे ईसाई तथा मुसलमान औरतों को भी हिन्दू स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उनके सिर पर पूरे केश हैं, अतः यह सिद्ध है कि चोटी का रखना हिन्दूधर्म का लक्षण नहीं है, अपितु जो गौ का भक्त है वही हिन्दू कहलाने का अधिकारी है दूसरा नहीं है। और हिन्दूधर्म को स्थिर रखनेवाली गोमाता के शिर पर पौराणिकधर्म ने छुरी चलाकर हिन्दूधर्म का खात्मा ही कर दिया है। जैसे पुराणों में लिखा है कि—

ब्राह्मणानां त्रिकोटीश्च भोजयामास नित्यशः॥ ४८॥
पंचलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः॥ ४९॥

—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० ५४

भाषार्थ—जीवन्मुक्त मनु आदि तीन करोड़ ब्राह्मणों को घी में अच्छे प्रकार पके हुए पाँच लाख गौवों के मांस से नित्यप्रति भोजन कराया करते थे, और भी लिखा है कि—

पंचकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च॥ ९८॥
एतेषां च नदी राशीर्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने॥ ९९॥

—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० ६१

धार्मिक और बली राजा चैत्र के यज्ञ में ब्राह्मण लोग पाँच करोड़ गौवों के मांस के पूड़े और पापड़ों समेत भोजन कर जाते थे।

पूछने पर पोपमण्डल उत्तर देता है कि—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्॥ ११२॥
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ ११३॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ११५

घोड़े का यज्ञ में मारना, गौ का यज्ञ में मारना, संन्यास लेना, श्राद्ध में मांस का पिण्ड देना तथा देवर से नियोग करके सन्तान पैदा करना—पाँच कामों की कलियुग में मनाही है।

क्यों साहब! ये पाँचों काम धर्म हैं या पाप? यदि धर्म हैं तो कलियुग में इनकी मनाही क्यों? और यदि पाप हैं तो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, तीन युगों में इनकी आज्ञा क्यों? इसका सनातनधर्म के पास क्या उत्तर है? सत्य तो यह है कि सनातनधर्म के ये लेख हिन्दूधर्म का नाश करनेवाले हैं, क्योंकि '**यदि नो गां हंसि**' अथर्व० १।१६।४ में गौ का मारना पाप लिखा है, और '**यथा मांसं यथा सुरा**' अथर्व० ६।७०।१ में मांस का खाना पाप बतलाया है, अतः ब्रह्मवैवर्तपुराण का उपर्युक्त लेख वेद के सर्वथा विरुद्ध है और हिन्दूधर्म का नाशक है। क्या पौराणिक पोपमण्डल में कोई ऐसा गोमांसप्रिय, पापी, राक्षस मौजूद है जो ब्रह्मवैवर्त के उपर्युक्त लेख को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आये?

(५५६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ७७, पं० १० में लिखा है कि—

'सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है।' आर्यसमाजी इतने मिथ्यावादी और दुराग्रही हैं कि ये अब भी बड़ी उम्र के विवाह को वेदाज्ञा ही कहते जाते हैं। वास्तव में जो मनुष्य धर्म को एकदम तिलाञ्जलि दे देता है, फिर वह अकर्म, कुकर्म सभी कर सकता है।

—पृ० ७८, पं० ११

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। वेद ने कन्या का युवावस्था में विवाह लिखा है, जैसाकि—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। —ऋ० २।३५।४
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्। —ऋ० ३।५५।१६
युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे। —ऋ० १०।१८३।२

भाषार्थ—जो उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त शुद्ध युवती कन्याएँ जैसे जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे हमको प्राप्त होनेवाली जवान पति को प्राप्त होती हैं॥४॥ नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण युवतियाँ विद्वानों के अद्वितीय, शिक्षायुक्त प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई तरुण पतियों को प्राप्त हों॥१६॥ हे सन्तान चाहनेवाली वधू! अत्यन्त तरुणावस्था-सम्पन्न तू मुझे प्राप्त हो॥२॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जो कन्याओं को युवावस्था में विवाह करने की आज्ञा देते हैं, किन्तु

पौराणिक लोग ऐसे हठी, दुराग्रही और असत्यवादी हैं कि इतने प्रमाणों की विद्यमानता में अभी तक भी बचपन के विवाह, बुढ़ापे के विवाह तथा अनमेल विवाह की वकालत ही करते चले जा रहे हैं। पौराणिक ग्रन्थों में लिखा है—

बाल विवाह—

तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्। विवाहो हि अष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते॥

—संवर्त्तस्मृति ६८

पंचमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते॥४९॥
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा॥५०॥

—महा० वन० अ० १९०

भाषार्थ—इसलिए कन्या को तबतक विवाह देना चाहिए जबतक कि वह ऋतुमती न हो। कन्या का विवाह आठवर्ष की आयु में प्रशंसनीय है। —संवर्त

पाँच वा छह वर्ष की आयु में कन्या प्रसूता होगी और सात वा आठ वर्ष की आयु में पुरुष सन्तान पेदा करेंगे। —महाभारत

वृद्ध विवाह—

मुनिर्ययाचे कन्यां स तां देहीति नृपेश्वर॥१९॥
रुरोद राजा सगणो दृष्ट्वा विप्रं जरातुरम्॥२०॥
राजा सर्वान् परित्यज्य दत्त्वा वृद्धाय चात्मजाम्।
ग्लानिं चित्ते समाधाय जगाम तपसे वनम्॥३३॥

—शिव० रुद्र० पार्वति० अ० ३४

भाषार्थ—राजा अनरण्य से पिप्पलाद मुनि ने कन्यादान माँगा। राजा ब्राह्मण मुनि को बूढ़ा देखकर रोपड़ा। राजा बूढ़े को कन्या देकर और सबको छोड़कर चित्त में ग्लानि धारण करके तप करने के लिए वन में चला गया।

अनमेल विवाह—

साऽऽत्मानं मान्यमानापि कृतकृत्यं श्रमान्विता। वार्द्धक्येन च राजेन्द्र तपसा चैव कर्षिता॥८॥
सा नाशकद्यदा गन्तुं पदात् पदमपि स्वयम्॥९॥
यथादृष्टेन विधिना हुत्वा चाग्निं विधानतः। चक्रे च पाणिग्रहणं तस्योद्वाहं च गालविः॥१५॥

—महा० शल्य० अ० ५२

निश्चक्रमुर्गृहात्तस्मात् सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत॥७४॥
अथ सा वेपमानांगी निमित्तं शीतजं तदा। व्यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं व्यवरोहत॥७७॥
स्वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत। सोपागूहद् भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ॥७८॥

—महा० अनु० अ० १९

भाषार्थ—वह बूढ़ी अपने-आपको कृतकृत्य मानती हुई भी थकावट से युक्त बूढ़ी होने के कारण और तप से दुबली हुई एक क़दम तक न चल सकती थी। तब गालव के पुत्र ने विधि-विधान के अनुसार अग्नि में हवन करके उसके साथ पाणिग्रहणपूर्वक विवाह कर लिया।

उस घर से सबके निकल जाने पर वह बूढ़ी वहाँ बैठी रही। रात को वह शीत से काँपती हुई महर्षि की चारपाई पर चढ़ा गई। महर्षि ने उसका स्वागत किया। उसने ऋषि को छाती से लगाकर भींच लिया।

इस आर्यजाति की नस्ल को तबाह करनेवाला कोई पौराणिक पोप क्या उपर्युक्त विवाहों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आने का साहस करेगा?

युवावस्था के विषय में सुश्रुत का लेख है कि—

आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। —सुश्रुत, सूत्रस्थान अ० ३५

भाषार्थ—मनुष्य के शरीर की सोलह वर्ष तक वृद्धि और सोलह से पच्चीसवें वर्ष तक यौवनावस्था होती है। इससे सिद्ध हो गया कि कन्याओं को सोलह वर्ष से आरम्भ करके पच्चीसवें वर्ष तक विवाह करने की आज्ञा है।

रही बात पुरुषों के विवाह-समय अवस्था की, सो वेद कहता है कि—

आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु॥ —यजुः० २।५

वसु, रुद्र, तथा आदित्य किसको कहते हैं? इसपर छान्दोग्य उपनिषत् व्याख्या करता है कि—

यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्॥ १॥

यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्॥ ३॥

यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम्॥ ५॥ —छान्दोग्य० प्रपा० ३ खं० १६

इस व्याख्या में स्पष्ट बतलाया है कि २४ वर्ष के ब्रह्मचारी का नाम वसु, ४४ वर्ष के ब्रह्मचारी का नाम रुद्र तथा ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी का नाम आदित्य है।

इससे सिद्ध हुआ कि वेद विवाह के समय कन्याओं की आयु १६ से २५ के आरम्भ तक तथा पुरुषों की २४ से ४८ तक मानता है।

(५५७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ४, पृ० ९७, पं० ८ में लिखा है कि—

"पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' नाम सत्य का है, **'श्रत् सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्'** जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जावे उसको श्रद्धा और जो कर्म श्रद्धा से किया जावे उसका नाम श्राद्ध और **'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्'** जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जाएँ, उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं"। यदि वेद टटोला जावे तो उसमें कहीं पर भी जीवित माता-पिता का श्राद्ध करना नहीं लिखा। —पृ० ८८, पं० २७

उत्तर—चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो मृतक पितरों के श्राद्ध का नाममात्र भी वर्णन करता हो। सच तो यह है कि चारों वेदों में 'मृतकश्राद्ध' शब्द ही नहीं है और पितर संज्ञा भी जीवितों की हो सकती है, मृतकों की नहीं। कर्म का फल कर्त्ता को मिलता है, अकर्त्ता को नहीं मिलता, अतः मृतकश्राद्ध सर्वथा वेदविरुद्ध है। वेदों में जीवित पितरों के श्राद्ध की स्पष्ट आज्ञा है, जैसेकि—

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः॥ ४६॥ —यजुः० १९

जीवन्तीति जीवास्तेषु जीवेषु प्राणिषु मध्ये ये समानाः समनसः समनस्काः मामका मदीया जीवाः प्राणिनाः। सपिण्डाः ये मे ते मामकाः। —महीधर

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥
—अथर्व० १८।४।८७

भाषार्थ—जो इस लोक में जीवते हुओं में समान गुण-कर्म-स्वभाववाले समानधर्म में मन रखनेहारे मेरे जीते हुए पितादि हैं उनकी लक्ष्मी मेरे समीप सौ वर्षपर्यन्त समर्थ होवे॥ ४६॥ जो

हमारे इस लोक में जीवित पितर हैं, वे हमसे और हम उनसे सदा श्रेष्ठ व्यवहार के करनेवाले हों॥ ४७॥

इन मन्त्रों से सिद्ध है कि स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। हाँ, पुराणों में प्रेत-सम्बन्धी वर्णन वेदविरुद्ध अवश्य हैं, जैसेकि—

एवमाज्याहुतिं दत्त्वा तिलमिश्रां समन्त्रकम्॥ ६७॥
रोदितव्यं ततो गाढमेवं तस्य सुखं भवेत्॥ ६८॥
अश्रुपातं न कुर्वीत दत्त्वा दाहजलांजलिम्।
श्लेश्माश्रुबान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतोऽवशः॥ ८०॥
ऊनद्विवर्षं निखनेत्, न कुर्य्यादुदकं ततः॥ ८९॥ —गरु० प्रेत० अ० ४

भाषार्थ—इस प्रकार से मन्त्रपूर्वक तिलसहित आज्याहुति देकर (६७) खूब अच्छी प्रकार से रोवे इससे मृतक को सुख होता है॥ ६८॥ दाह, जलांजलि देकर अश्रुपात न करे, क्योंकि बन्धु लोगों से छोड़े हुए आँसू, बलगम आदि मृतक को विवश होकर खाने पड़ते हैं॥ ८०॥ दो वर्ष से कम बच्चे को भूमि में गाड़ दे और उसके पश्चात् उसका क्रियाकर्म न करे॥ ८९॥

क्या कोई मृतकों का माल उड़ानेवाला पितरों का बनावटी लैटरबक्स, पौराणिक पोप गरुड पुराण के ऊपर लिखे हुए श्लोकों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए शास्त्रार्थ के मैदान में पग रखने का साहस करेगा?

(५५८) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ८०, पं० ४ में लिखा है कि—

''लड़का लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है''।

''विवाह कन्या और वर के अधीन ही वेद ने कहा है'' हमारी समझ में ये मूर्ख महाशय प्रलय के बाद इस बात को दिखला सकेंगे, प्रलय तक तो दिखा ही नहीं सकते।

—पृ० ८९, पं० २०

उत्तर—स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है यदि विवाह लड़का-लड़की के ही अधीन हो तो 'उत्तम' और यदि उसमें माता-पितादि की भी सहमति हो तो 'अत्युत्तम' तथा यदि केवल माता-पिता की सम्मति से हो तो 'निकृष्ट' है। जैसाकि—

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के अधीन होना चाहिए वा लड़का-लड़कि के अधीन रहे।

उत्तर—लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए, क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर-कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में इन्हीं को दुःख होता है।

—सत्यार्थ० समु० ४

मनुस्मृति भी इसकी पुष्टि करती है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥

—मनु० ९

कुमारी कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, इस समय के पश्चात् अपने सदृश पति को प्राप्त करे॥ ९०॥

यहाँ भी कन्या को स्वयं ही पति प्राप्त करने की आज्ञा है। रामायण और महाभारत में सीता, द्रौपदी, दमयन्ती और सावित्री आदि ने स्वयं ही अपनी इच्छा से सदृश वरों को प्राप्त किया था।

स्वयंवर का अर्थ ही यह है कि जिसमें कन्या स्वतन्त्रता से अपने वर को स्वीकार करे, उसका नाम स्वयंवर उत्सव है जैसाकि मद्रदेश के राजा अश्वपति ने अपनी पुत्री सावित्री को आज्ञा दी कि—

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्। स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः॥ ३१॥

—महा० वन० अ० २९२

तब उसने अपनी इच्छा से सत्यवान् को वर लिया।

कृपया आप बतलावें कि रुक्मिणी-हरण, सुभद्रा-हरण, अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका-हरण, धृतराष्ट्र-गान्धारी की शादी इत्यादि शादियाँ कौन-कौन-से वेद के अनुकूल हैं?

(५५९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ८, पृ० २२५, पं० २९ में लिखा है कि—

"मनुष्यों की प्रथम सृष्टि तिब्बत में हुई"। वह कौन आर्यसमाजी है जिसने अपनी जननी का दूध पिया हो और वह यह सिद्ध करके दिखलावे कि त्रिविष्टप का अर्थ तिब्बत है और स्वर्ग नहीं है और इस सिद्धान्त को वैदिक सिद्ध करे? —पृ० ९१, पं० २९

उत्तर—यदि तिब्बत का नाम त्रिविष्टप तथा स्वर्ग भी हो तो हमारी इसमें क्या हानि है! हम आपको यह बताना चाहते हैं कि त्रिविष्टप तथा स्वर्ग के सम्पूर्ण लक्षण तिब्बत में ही मिलते हैं, अतः त्रिविष्टप वा स्वर्ग तिब्बत का ही नाम है और उसी में प्रथम सृष्टि उत्पन्न हुई। हमारी इस प्रतिज्ञा में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. **साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।**
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥ —अथर्व० ११।१।७

२. **इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥**
—ऋ० ८।९१।५

३. **उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥** —यजुः० २६।१५

४. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥**
—ऋ० १०।१९०।३

५. **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।**
स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। —तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली २।१

६. **वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम्।**
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गो नात्र संशयः॥ ८२॥ —महा० वन० अ० १९९

७. **ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।**
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रनाशिनी॥ ८३॥ —महा० वन० अ० ८३

८. **ततो हिमवतः शृंगं यत्परं भरतर्षभ॥ ४७॥**
तत्राकर्षत्ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन। अथाब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः॥ ४९॥
अस्मिन् हिमवतः शृंगे नावं बध्नीत मा चिरम्॥ ५०॥ —महा० वन० अ० १८७
गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी॥ ५॥ —महा० वन० अ० ४४

१०. **निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भारतर्षभ।**
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः॥ ६॥ —महा० महाप्रस्थान० अ० ३

भाषार्थ—हे मनुष्य! जिसको त्रिविष्टप और स्वर्गलोक भी कहते हैं, उसपर तू चढ़ जा। वह सब पृथिवी से ऊँचा, सुख का देनेवाला स्थान है। वह पृथिवी पानी से सबसे पहले बाहर आई और जिसमें एक साथ पैदा हुए, समान मनुष्य प्रकट हुए। महान् वीर्यप्राप्ति के लिए उसको तू प्राप्त कर॥ १॥ हे राजन्! तू उस त्रिविष्टप स्थान को प्राप्त कर जो सारी पृथिवी से ऊँचा है और मनुष्यों के लिए सुखकारी है तथा माता के उदर के समान मनुष्यों को पैदा करने का स्थान है॥ २॥

इन दोनों वेदमन्त्रों के द्वारा परमात्मा ने सैद्धान्तिक रूप से बतलाया कि जो स्थान पानियों से सारी पृथिवी से पहले बाहर प्रकट हुआ और जिसमें इन्सानों की पहलेपहल उत्पत्ति हुई उसी का नाम त्रिविष्टप वा स्वर्ग है। वह स्थान मनुष्यों के लिए सुखकारक है, उसको तुम भी प्राप्त होवो॥

पहाड़ों की गुफाओं में तथा नदियों के संगम पर ध्यान करने से विप्रपन की प्राप्ति होती है॥ ३॥

इस सारे संसार को धारण करनेवाले परमात्मा ने सूर्य, चाँद, द्युलोक, पृथिवी, सितारों तथा सुखदायक स्थान, अर्थात् स्वर्ग को पैदा किया। जैसे पूर्व कल्प में पैदा किया था वैसे ही॥ ४॥

इन दोनों मन्त्रों से भी सिद्ध है कि जिस देश में पहाड़ों की गुफाएँ तथा नदियों के संगम हों वह देश ही ध्यान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के सुख का हेतु होने से स्वर्ग है तथा उसे ही परमात्मा ने यथापूर्व पैदा किया। इन दोनों मन्त्रों में कथित लक्षणों के अनुसार भी तिब्बत का ही नाम स्वर्ग वा त्रिविष्टप सिद्ध होता है।

इस आत्मा के निमित्त से आकाश प्रकट हुआ। आकाश के पश्चात् वायु। वायु के पश्चात् अग्नि। अग्नि के पश्चात् पानी। पानी के पश्चात् पृथिवी। पृथिवी से ओषधियाँ। ओषधियों से अन्न। अन्न से पुरुष। सो यह पुरुष अन्न-रसमय है॥ ५॥

इससे सिद्ध है कि जब सर्वत्र जल-ही-जल थे तो उस समय जलों के सूखने पर पृथिवी का जो भाग सबसे पहले नज़र आया, उसी पर पहलेपहल ओषधि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की प्रथम सृष्टि हुई। इस पृथिवी पर मनुष्यों के रहने के योग्य सबसे ऊँची पृथिवी का भाग तिब्बत ही है, अतः सिद्ध हुआ कि पृथिवी का यही भाग जलों से पहलेपहल बाहर आया और और इसी पर प्रथम सृष्ट हुई॥

वाणी की शुद्धता, कर्मों की शुद्धता, और जलमय शुद्धता, ये तीन प्रकार की शुद्धता जिस देश में हों, उसी का नाम स्वर्ग है॥ ६॥ इससे सिद्ध है कि स्वर्ग पृथिवी से भिन्न किसी स्थान का नाम नहीं है, अपितु शुद्धता द्वारा विशेषसुख के साधन का नाम ही स्वर्ग है। इसके पश्चात् मनुष्य को चाहिए कि वह तीनों लोकों में प्रसिद्ध त्रिविष्टप देश में जावे, वहाँ पापों के नाश करनेवाली पवित्र नदी वैतरणी बहती है॥ ७॥

इससे सिद्ध है कि त्रिविष्टप वा स्वर्ग इसी पृथिवी पर विद्यमान है, जहाँ यात्रा करने की पौराणिकों को आज्ञा दी गई है।

उसके पश्चात् हिमालय की चोटी से परे जो देश है हे राजन्! यहाँ पर मत्स्य ने नावों को खेंचा। तब मत्स्य ने उन ऋषियों को आहिस्ता से कहा कि इस हिमालय की चोटी से नावों को बाँध दो, देर मत करो॥ ८॥

इससे सिद्ध है कि बाढ़ के समय भी ऋषियों की रक्षार्थ इसी स्थान को पौराणिकों के अवतार ने चुना, अतः यह तिब्बत स्थान ही पृथिवी में मनुष्यों के रहने के योग्य ऊँचाई पर है, अतः प्रथम सृष्टि का स्थान यह तिब्बत ही सिद्ध होता है।

अस्त्रों को ग्रहण करने के पश्चात् अर्जुन ने अपने भाइयों को याद किया और इन्द्र की आज्ञा

से अर्जुन पाँच वर्ष सुखपूर्वक स्वर्ग में निवास करता रहा॥ ९॥

इससे सिद्ध है कि स्वर्ग इसी पृथिवी पर है, क्योंकि अन्य लोक में रहकर शास्त्रास्त्र का सीखना सर्वथा असम्भव है। उसी स्वर्ग का नाम ही त्रिविष्टप या तिब्बत है।

हे राजन्! वे सब शरीर को छोड़कर स्वर्ग को गये और आप इसी शरीर से स्वर्ग में जाएँगे इसमें सन्देह नहीं है॥ १०॥

राजा युधिष्ठिर का स्वर्ग में जाने के लिए पाँचों भाइयों, द्रौपदी तथा कुत्तेसहित यात्रा करते हुए हिमालय की तरफ़ जाना और उसी शरीर के साथ कुत्तेसमेत स्वर्ग में पहुँच जाना इस बात को सिद्ध करता है कि पौराणिक स्वर्ग इस पृथिवी पर विद्यमान है, क्योंकि इस पृथिवी के निवासी का शरीरसमेत किसी दूसरे लोक-लोकान्तरों में जाना अत्यन्त असम्भव है। इससे सिद्ध है कि तिब्बत का ही नाम त्रिविष्टप वा स्वर्ग है।

(५६०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ९३, पं० १५ में लिखा है कि—

"दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक नमस्ते एक-दूसरे से करें"। क्या कोई आर्यसमाजी संसार में ऐसा पैदा हुआ है जो वेद से परस्पर में नमस्ते करना सिद्ध कर दे? —पृ० ९०, पं० २३

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। 'नमस्ते' शब्द '**नमः**' और '**ते**' इन दो पदों से मिलकर बना हुआ है। नमस् अव्यय है और '**ते, युष्मद्**' शब्द के चतुर्थी के एक वचन 'तुभ्यम्' के स्थान में 'ते' आदेश हो जाता है। संस्कृत में मध्यम पुरुष के लिए केवल 'युष्मद्' शब्द ही नियत है और 'नमः' के योग में चतुर्थी विभक्ति ही प्रयुक्त होती है। इस नियम से नमः+ते= नमस्ते पद सिद्ध होता है। संस्कृत साहित्य में नमः पद प्रत्येक के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसेकि—

नमस्ते रुद्र मन्यवे॥ १॥ इषवे नमः। बाहुभ्यां नमः॥ १॥ नमस्त आयुधाय॥ १४॥ नमो वृक्षेभ्यः॥ १७॥ नमोपवीतिने॥ १७॥ स्तेनानां पतये नमः॥ २०॥ नमो वंचते परिवंचते। तस्कराणां पतये नमः॥ २१॥ मुष्णतां पतये नमः। नमोऽसिमद्भ्यः॥ २१॥ व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमः॥ २५॥ नमो महद्भ्यः, अर्भकेभ्यश्च वो नमः॥ २६॥ नमस्तक्षभ्यः। रथकारेभ्यश्च वो नमः। नमः कुलालेभ्यः। कर्मकारेभ्यश्च वो नमः। नमो निषादेभ्यः। पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमः॥ २७॥ नमः श्वभ्यः। श्वपतिभ्यश्च वो नमः॥ २८॥ नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च॥ ३२॥ —यजुः० १६

इत्यादि-इत्यादि प्रत्येक अवस्थावाले, प्रत्येक कर्म करनेवाले, प्रत्येक प्राणी तथा अप्राणी के लिए भी नमः शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में मौजूद है।

इसी प्रकार ही 'ते' शब्द भी प्रत्येक के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसेकि—

अर्जुन ने द्रोण के लिए—

गुरुर्भवान्न मे शत्रुः शिष्यः पुत्रसमोऽस्मि 'ते'॥ ३४॥ —महा० द्रोण० अ० ९१

भीष्म ने सत्यवती के लिए—

तत् 'ते' धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम्॥ २५॥ —महा० आदि० अ० १०३

व्यास ने सत्यवती के लिए—

ईप्सितं 'ते' करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम्॥ ३६॥ —महा० आदि० अ० १०५

विश्वामित्र ने राम के लिए—

न श्रमो न ज्वरो वा 'ते' न रूपस्य विपर्ययः॥ १३॥ —वाल्मी० बाल० स० २२

राम ने विश्वामित्र के लिए—

श्रोतुमिच्छामि भद्रं 'ते' विस्तरेण कथामिमाम्॥ २॥ —वाल्मी० बाल० स० ३९

राम ने परशुराम के लिए—

तस्माच्छक्तो न 'ते' राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥ ६॥ —वाल्मी० बाल० स० ७६

राम ने कौसल्या से—

नाहं धर्ममपूर्वं 'ते' प्रतिकूलं प्रवर्तये॥ ३६॥ —वाल्मी० अयोध्या० स० २१

सीता ने राम के लिए—

न 'ते' दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सह॥ १६॥ —वाल्मी० अयोध्या० स० २७

राम ने दशरथ के लिए—

अपगच्छतु 'ते' दुःखं मा भूर्वाष्पपरिप्लुतः॥ ४६॥
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च 'ते' शपे॥ ४८॥ —वाल्मी० अयो० स० ३४

इत्यादि-इत्यादि अनेक स्थलों में प्रत्येक के लिए 'ते' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

जब 'नमः' भी सबके लिए प्रयुक्त हो सकता है और 'ते' भी तो नमस्ते के परस्पर प्रत्येक के लिए प्रयुक्त होने में क्या सन्देह है?

अर्थों के अनुसार भी नमस्ते परस्पर प्रत्येक के लिए प्रयुक्त हो सकता। नमः शब्द के अर्थ निम्न प्रकार से हैं—

नमः। आयुः। ब्रह्म। वर्चः। यशः। अन्नम् —ये सब भी पर्यायवाची शब्द हैं।
—निरुक्त अ० ३ खं० ९

नमः। बधः। सायकः। परशुः। वज्रः। —ये सब भी पर्यायवाची शब्द हैं।
—निरु० अ० खं० ११

नमस्यति धातु परिचरण अर्थ में है। —निरु० अ० ३ खं० १३

परिचरण के अर्थ सेवा तथा पूजा भी होते हैं। इस प्रकार से नमः तथा पूजा शब्द पर्यायवाची हैं, अर्थात् दोनों के एक ही अर्थ हैं। पूजा शब्द के संस्कृत साहित्य में चार अर्थ आते हैं—किसी वस्तु का उचित सत्कार, किसी वस्तु का उचित प्रयोग, किसी वस्तु की उचित रक्षा और उचित दण्ड, जैसेकि—

(१) उचित सत्कार—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥ ५६॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः॥ ५९॥ —मनु० ३

(२) उचित प्रयोग—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्॥ ५४॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति॥ ५५॥ —मनु० २

(३) उचित रक्षा—

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी। मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥१३॥
—महा० विराट० अ० ३

(४) उचित दण्ड—

वत्स योऽयं विधिः साक्षाज्जगतामाद्यदैवतम्। नूनमर्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम्॥ ३॥
—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १६

यह पूजा शब्द आशीर्वाद अर्थों में भी आता है जो अर्थ कि सत्कार के अन्तर्गत ही आ जाते हैं, जैसेकि—

जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत्॥ १२॥ —महा० सभा० अ० ५

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन्॥ १६॥ —महा० वन० अ० १४४

सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः॥ ४६॥ —महा० वन० अ० २२

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः। आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम्॥ २॥

[गीता० सं० अ० २९१]—महा० वन० अ० २९०

यह पूजा शब्द प्रत्येक के लिए प्रयुक्त होता है, जैसेकि—

गुरु शुक्राचार्य से शिष्य कच की—

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः। अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः॥ २१॥

—महा० आदि० अ० ७६

माता सत्यवती ने पुत्र व्यास की—

तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम्॥ २३॥ —महा० आदि० १०५

दादा सगर ने पोते अंशुमान् की—

तत् श्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत्। अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम्॥ ६२॥

—महा० वन० अ० १०७

द्रोण से अर्जुन की—

स वध्यमानेष्वस्त्रेषु दिव्येष्वपि यथाविधि॥ ३४॥

अर्जुनेनार्जुनं द्रोणो मनसैवाभ्यपूजयत्॥ ३५॥ —महा०द्रोण०अ० १८९

राम से विभीषण की—

राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् सुचरितेङ्गितैः। यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत॥ ४८॥

—महा० वन० अ० २८२

ब्राह्मणों से शूद्र की—

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः। आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्त तपस्विभिः॥ ११॥

—महा० अनुशासन० अ० १०

अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत्॥ ४८॥ —महा० अनु० अ० ४८

इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि 'नमः' और 'पूजा' शब्द प्रत्येक के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं और अर्थों के अनुसार भी प्रत्येक के लिए पूजा और नमः शब्द के प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं है।

रहे 'ते' शब्द के अर्थ। सो 'ते' शब्द 'युष्मद्' का प्रयोग है और मध्यम पुरुष के लिए युष्मद् शब्द ही प्रयुक्त हो सकता है। आप मध्यम पुरुष को भाषा में जिन शब्दों से भी सम्बोधित करना चाहें वही अर्थ 'युष्मद्' वा 'ते' शब्द का हो सकता है। आप, तू, तुम, श्रीमान्, जनाब इत्यादि—आप जिन शब्दों से भी मध्यम पुरुष को सम्बोधित करना चाहें वही अर्थ 'ते' शब्द का होगा और नमः शब्द के साथ लगने से वैसे भी 'ते' शब्द निन्दनीय नहीं रहता, जैसेकि—

युधिष्ठिर ने अर्जुन के धनुष को धिक्कार कहा तो अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा-अनुसार युधिष्ठिर का सिर उतारने को तैयार हो गया। तब कृष्ण के कहने से अर्जुन ने युधिष्ठिर को मारने के बदले उसका अपमान करते हुए 'त्वम्' शब्द का प्रयोग किया। फिर अर्जुन प्रायश्चित्तार्थ आत्महत्या करने

को तैयार हो गया। तब कृष्ण ने 'त्वम्' कहकर अपमान करने का प्रायश्चित्त अर्जुन को यह बतलाया कि तुम अपनी प्रशंसा करो। जब यह सब कलह शान्त हो गया तब अर्जुन ने फिर युद्ध को जाते हुए युधिष्ठिर को नमस्ते कहा—

प्रसीद राजन् क्षम यन्मयोक्तं काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते॥ ३९॥

—महा० कर्ण० अ० ७०

अब यदि नमस्ते में प्रयुक्त 'ते' शब्द भी 'त्वम्' की भाँति अपमानजनक समझा जाता तो अर्जुन पुनः इस शब्द का प्रयोग क्यों करता जबकि पूर्व ही 'त्वम्' कहने के पाप का प्रायश्चित्त कर चुका था? इससे सिद्ध है कि नमस्ते में प्रयुक्त 'ते' शब्द 'त्वम्' की भाँति अपमानजनक नहीं है, अतः अर्थों के अनुसार 'ते' शब्द भी प्रत्येक के लिए प्रयुक्त हो सकता है।

अतः सिद्ध हुआ कि नमस्ते शब्द हर प्रकार से परस्पर प्रत्येक के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, जैसीकि वेद की आज्ञा है—

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः (यजुः० १६।३२) इत्यादि।

(५६१) प्रश्न—नमस्ते करना केवल ईश्वर के लिए है और ईश्वर भी नमस्ते के उत्तर में नमस्ते नहीं करता। ईश्वर को छोड़ परस्पर में नमस्ते करना किसी वेदमन्त्र में नहीं लिखा; जहाँ कहीं नमस्ते किया है, करनेवाले को ईश्वर समझकर किया गया है। —पृ० ९१

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है कि नमस्ते करना केवल ईश्वर के लिए ही है, क्योंकि यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में वृक्ष, डाकू, ठग, चोर, बालक, तरखान, रथकार, कुम्हार, लुहार और कुत्तों तक के लिए भी नमस्ते करने की आज्ञा मौजूद है। ईश्वर नमस्ते के उत्तर में तो नमस्ते नहीं करता किन्तु जय रामजी, जय गोपालजी और जय राधाकृष्ण, जय सीताराम के बदले में तो अवश्य ही उन्हीं शब्दों में उत्तर देता होगा। यह शंका लिखते हुए शरम तो नहीं आई? आपकी यह दूसरी प्रतिज्ञा भी सर्वथा असत्य है कि जहाँ कहीं किसी को नमस्ते की है वहाँ उसे ईश्वर समझकर की है। देखिए संस्कृत साहित्य में किस प्रकार से नमस्ते का परस्पर में प्रयोग मिलता है—

(१) यमाचार्य ने नचिकेता को—

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु। —कठ० १।१।९

(२) गार्गी ने याज्ञवल्क्य को—

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवलक्यानु मा शाधीति॥ —बृहद्० ४।२।१

(३) जनक का याज्ञवल्क्य को—

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति॥

—बृहद्० ४।२।१

(४) विश्वामित्र ने वसिष्ठ को—

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥ १७॥ —वाल्मी० बाल० स० ५२

(५) सीता ने वृक्ष को—

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्॥ २४॥ वाल्मी० अयो० स० ५५

(६) सीता ने राक्षस को—

मां हरोत्सृज काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम॥ ३॥ —वाल्मी० अरण्य० स० ४

(७) देवयानी ने शुक्राचार्य को—

नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे॥ ३०॥ —महा० आदि० अ० ८१

(८) विदुर ने दुर्योधन को—
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु॥ १९॥ —महा० सभा० अ० ६३
(९) शकुनि ने युधिष्ठिर को—
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ॥ १९॥ —महा० सभा० अ० ६४
(१०) दमयन्ती ने पर्वत को—
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर॥ ४२॥ —महा० वन० अ० ६४
(११) नल ने दासी को—
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे नमोऽस्तु ते॥ २८॥ —महा० वन० अ० ७५
(१२) व्यास ने देवदूत को—
देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम्॥ ३८॥ —महा० वन० अ० २६०
(१३) दूतों ने दुर्योधन को—
सर्वथा विप्रनष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ॥ १७॥ —महा० विराट० अ० २५
(१४) द्वारपाल ने धृतराष्ट्र को—
संजयोऽयं भूमिपते नमस्ते॥ ५॥ —महा० उद्योग० अ० ३१
(१५) संजय का धृतराष्ट्र को—
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ॥ ९॥ —महा० भीष्म० अ० ४
(१६) अर्जुन ने कृष्ण को—
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥
—महा० भीष्म० अ० ३५
(१७) युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को—
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते॥ ४७॥ —महा० भीष्म० अ० ४३
(१८) भीष्म ने कृष्ण को—
नमोऽस्तु ते शार्ङ्ग गदासिपाणे। —महा० भीष्म० ५९। ९६
(१९) कृष्ण ने धृतराष्ट्र को—
शिवेन पाण्डवान् ध्याहि नमस्ते भरतर्षभ॥ ५१॥ —महा० अनु० अ० ११८
(२१) युधिष्ठिर ने भीष्म को—
युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत॥ १९॥ —महा० अनु० अ० १६७
(२२) ब्राह्मण ने युधिष्ठिर को—
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ॥ ५०॥ —महा० आश्रमवासी० अ० १०
(२३) महादेव ने पार्वती को—
तथा प्रणयभंगेन भीतो भूतपतिः स्वयम्।
पादयोः प्रणमन्नेव भवानीं प्रत्यभाषत्॥ ४०॥ —शिव० वायु० खं० १ अ० २४
(२४) ब्रह्मा ने पुत्र को—
नमस्ते भगवान् रुद्र भास्करामिततेजसे॥ ४१॥
भगवन् भूतभव्येश मम पुत्र महेश्वर॥ ४५॥
—शिव० वायु० खं० १ अ० १२

(५६२) प्रश्न—आर्यपण्डित '**नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च**' पर दौड़ लगाते हैं कि इस मन्त्र में परस्पर नमस्ते करना लिखा है। (१) इस मन्त्र में समष्टि–व्यष्टिरूप परमात्मा को नमस्कार

किया है। (२) स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ किया है कि बड़ों को अन्न दो और उनका सत्कार करो और छोटों को अन्न दो और उनका सत्कार करो। फिर नमस्ते करना कहाँ से आ गया? (३) इस मन्त्र में तो केवल 'नमः' है, नमस्ते नहीं है। —पृ० ९१

उत्तर—स्वामीजी ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय नमो मध्याय
चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च। —यजुः० १६।३२

पदार्थ—हे मनुष्यो! तुम लोग अत्यन्त वृद्धों और अति बालकों का सत्कार और अन्न तथा ज्येष्ठभ्राता वा ब्राह्मण और छोटे भाई वा नीच का भी सत्कार वा अन्न, क्षत्रियबन्धु वा वैश्य और ढीटपन छोड़े हुए सरल स्वभाववाले इन सबका सत्कार आदि और नीच कर्मकर्त्ता वा म्लेच्छ तथा अन्तरिक्ष में हुए मेघ के तुल्य वर्त्तमान दाता पुरुष का अन्नादि से सत्कार करो॥ ३२॥

भावार्थ—परस्पर मिलते समय सत्कार करना हो तब 'नमस्ते' इस वाक्य का उच्चारण करके छोटे बड़ों, बड़े छोटों, नीच उत्तमों, उत्तम नीचों और क्षत्रिय आदि ब्राह्मणों और ब्राह्मणादि क्षत्रियों का निरन्तर सत्कार करें। सब लोग इसी वेदोक्त प्रमाण से सर्वत्र शिष्टाचार में इसी वाक्य का प्रयोग करके परस्पर एक दूसरे का सत्कार करने से प्रसन्न होवें॥ ३२।

(१) आपके विचारानुसार जब संसार के सारे रूप ब्रह्म के ही रूप हैं तो सब छोटे-बड़े मनुष्य भी समष्टि-व्यष्टिरूप परमात्मा के ही रूप हुए, फिर परस्पर नमस्ते से सत्कार करने में क्या आपत्ति है?

(२) स्वामीजी ने अन्न के साथ जो सत्कार अर्थ किया है उसका अभिप्राय भावार्थ में बतला दिया है कि परस्पर नमस्ते वाक्य से सत्कार करें।

(५६३) प्रश्न—जिनको नमस्ते किया गया है उसने लौटकर नमस्ते नहीं कहा, फिर परस्पर में नमस्ते करना क्या वेदों का गला घोंटना नहीं है? —पृ० ९१

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा भी निर्मूल है कि नमस्ते के उत्तर में किसी ने नमस्ते नहीं कहा। प्रथम तो वेद की आज्ञा है कि सबको आपस में नमस्ते करनी चाहिए और साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भी विद्यमान हैं, जैसेकि—

सावित्री ने ब्रह्मा से नमस्ते की—

यद्येष ते स्थिरो भावस्तिष्ठ देव नमोऽस्तु ते॥ १४०॥

इसके उत्तर में ब्रह्मा ने सावित्री को नमस्ते की—

पादयोः पतितस्तेऽहं क्षम देवि नमोऽस्तु ते॥ १४४॥ —पद्म० सृ० अ० १७

यहाँ पर स्पष्टरूप से वर्णन है कि पति-पत्नी, ब्रह्मा तथा सावित्री ने परस्पर नमस्ते की, अतः परस्पर नमस्ते का प्रयोग वेदानुकूल तथा जय रामजी की, जय कृष्णजी की, जय राधाकृष्ण, जय सीताराम, जय गोमाता इत्यादि शब्दों का परस्पर मिलने में प्रयोग करना वेदविरुद्ध है। क्या कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित पृथिवी पर मौजूद है कि जो परस्पर मिलने में उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग करना वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५६४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ९१, पं० ६ में लिखा है कि—

'भोग के अन्त में सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालममिश्री दूध में डालकर और गरम जल से स्नान करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है, उसको यथारुचि पीकर दोनों अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें।'

अब पूछना यह है कि यह नुस्खा कौन-से वेद में लिखा है क्या यह नुस्खा स्वामीजी का

स्वकीयानुभूत तो नहीं है? पृ० ९८, पं० २

उत्तर—आपके विचार में क्या यह नुस्खा वेदविरुद्ध या हानिकारक है? यदि ऐसी बात है तो आपको कोई वेदमन्त्र देकर स्वामीजी के लेख का वेद से विरोध या नुस्खे में कोई त्रुटि बतलाकर उससे हानि बतलानी चाहिए थी, किन्तु आपने ऐसा नहीं किया, अतः आपका प्रश्न प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान में आकर आपकी पराजय का कारण है। रही बात वेदानुकूलता की, सो इसके बारे में हम बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि स्वामीजी का उपर्युक्त लेख सर्वथा वेदानुकूल है। वेद में बीजरूप से वैद्यकशास्त्र का मूल विद्यमान है, जैसेकि—

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टिं यं च वयं द्विष्मः॥

—यजुः० ६।२२

भाषार्थ—हे परमेश्वर! आपकी कृपा से जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा सोमलता आदि सब ओषधि हमारे लिए सुखकारक हों तथा जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिए विरोधिनी हों, क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुखवाले होते हैं और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उनके लिए सदा दुःख देनेवाले होते हैं। इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले और सारा वैद्यकशास्त्र इन्हीं वेदमन्त्रों की सरल व्याख्या है, अतः स्वामीजी का लेख इस मन्त्र के अनुकूल होने से वेदानुकूल है। देखिए, आपके पुराण भी इसकी पुष्टि करते हैं, जैसेकि—

अश्वगन्धा घृतं दुग्धं क्वथितं पुत्रकारकम्॥ २८॥ —गरुड० आचार० अ० १७९

यवास्तिलाश्वगन्धा च मुशली सरला गुडम्। एभिश्च रचितां जग्ध्वा तरुणो बलवान् भवेत्॥ ५॥

—गरुड० आचार० अ० १८२

घी और उबाले हुए दूध में असगन्ध का सेवन पुत्र के देनेवाले होते हैं।

हाँ, पुराणों में वेद के विरुद्ध अनेक लेख मौजूद हैं, जैसेकि—

गुडस्य तु पुराणस्य पलमेकं तु भक्षयेत्। स्त्रीसहस्त्रं च संगच्छेत् पुमान् बलयुतो हर॥ २॥

—गरुड० आचार० अ० १८२

निजशुक्रं गृहीत्वा तु वामहस्तेन यः पुमान्। कामिनीचरणं वामं लिंपेत्स स्यात् स्त्रियाः प्रियः॥ १५॥

क्या कोई पौराणिक वाममार्गी संसार में जीता-जागता विद्यमान है जो इस अश्लील लेख को वेदानुकूल सिद्ध कर सके और क्या ये नुस्खे व्यासजी के स्यवं अनुभूत थे?

(५६५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४ में लिखा है कि—

'जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री-पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहें, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य-प्राप्ति-समय अपानवायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।'

क्या कोई जीता-जागता आर्यसमाजी इसको वैदिक सिद्ध कर सकता है? क्या यह स्वामीजी का अपना अनुभव है? —पृ० ९८, पं० २१

उत्तर—गर्भाधान मनुष्य के पैदा करने का प्रथम पवित्र सम्बन्ध है। यदि वेद ही इसकी शिक्षा न देगा तो कौन देगा? अतः स्वामीजी का यह लेख सर्वथा वेदानुकूल है। वेदप्रमाण, जैसेकि—

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृत्त उल्बं जहाति जन्मना॥ ७६॥
मुखꣳसदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती॥ —यजुः० १९।७६, ८८

उपनिषत्-प्रमाण, जैसेकि—

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳससृजेताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात् स्त्रियमध उपासीत्—इत्यादि॥ २॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ इत्यादि॥ ३॥

अथास्य ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि। विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि गर्भं पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ २१॥ —बृहदारण्यक अ० ६, ब्राह्मण ४

संवसेयातां स्नानात्प्रभृति युग्मेष्वहःसु पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ॥ ५॥ न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा सं सेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा स च्युतः पिदधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्याः पीडितं विदहति रक्तं शुक्रं च। तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्॥ ६॥ —चरक० शारीरिक० अ० ८

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनिमृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम्।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः क्रमेण संवर्द्धयतीह गर्भम्॥ १४॥

—महा० आदि० अ० ९०

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि स्वामी जी का गर्भाधान-विषयक लेख सर्वथा वेदानुकूल है। अब पौराणिकों का वेदविरुद्ध गर्भाधान देखिए—

आकर्षण—

महिषी अश्वसमीपे शेते। अश्वदेवत्यम्। हे अश्व गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। तं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥

—महीधर य० २३।१९

अश्वाधान—

महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति॥ —महीधर य० २३।२०

अर्जुनाधान—

आराधयन्त्या ताम्बूलमर्पयन्त्या शुचिस्मितम्। समालोक्यार्जुनीयाऽसौ मदनावेशविह्वला॥ १८९॥
ततस्तां च तथा ज्ञात्वा हृषीकेशोऽपि सर्ववित्। तस्याः पाणिं गृहीत्वैव सर्वक्रीडावनान्तरे॥ १९०॥
यथाकामं रहो रेमे महायोगेश्वरो विभुः॥ १९१॥ —पद्म० पाताल० अ० ७४

रामाधान—

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छत्सुविग्रहम्॥ १६६॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥ १६७॥

—पद्म० उत्तर० अ० २४५

ब्रह्माधान—

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः। ता इमा यभितुं पापा उपक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६॥

—भागवत० स्क० ३ अ० २०

कर्णाधान—

तैर्गौतमसुतायां तद्वीर्यं शंभोर्महर्षिभिः। कर्णद्वारा तथाञ्जन्यां रामकार्यार्थमाहितम्॥ ६॥

—शिव० शत० रुद्र० अ० २०

मुखाधान—

अश्वरूपेण मार्तण्डस्तां मुखेन समासदत्॥ ५५॥

नासिकाधान—

सा तं विवस्वतः शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्॥ ५६॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ७९

अश्वाधान—

पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया॥ ३४॥
होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्॥ ३५। —वाल्मी० बाल० स० १४

क्या कोई इस प्रकार का पौराणिक पण्डित किसी वीर रमणी ने भूतल पर पैदा किया है जो अश्वाधान, मनुष्यधान, कर्णाधान,मुखाधान, नासिकाधान इत्यादि गर्भाधानों को वेदानुकूल सिद्ध कर सके? रही स्वामीजी के अनुभव की बात, सो सारी बातें अपने ही अनुभव से नहीं लिखी जातीं, दूसरों के अनुभव से भी लाभ उठाया जाता है, जैसेकि भीष्म से युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है—

स्त्रीपुंसयोः सम्प्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्। एतस्मिन् संशयो राजन् यथावद्वक्तुमर्हसि॥ १॥

स्त्री और पुरुष के संयोग में स्पर्शसुख किसको अधिक होता है? हे राजन्! इस संशय के बारे में आप यथायोग्य उत्तर देने की कृपा करें॥ १॥ इस प्रश्न पर भीष्म ने उत्तर दिया कि—

एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते॥ ५३॥ —महा० अनु० अ० १२

इस प्रकार से हे महाराज! स्त्री को पुरुष-संयोग में आनन्द अधिक होता है॥ ५३॥

क्या आपके विचर में यह भी भीष्म का अपना अनुभव था?

(५६६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३, पृ० ४०, पं० १७ में लिखा है कि—

'उत्तम ब्रह्मचर्य के सेवन से पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्षपर्यन्त आयु को बढ़ावें' ज़रा हमको वह वेदमन्त्र तो दिखलाया जावे जिसमें मनुष्य की चार सौ वर्ष की आयु बनाने का हुक्म हो। सभी आर्यसमाजी कहते हैं कि दयानन्दजी मरणपर्यन्त आबाल ब्रह्मचारी रहे, फिर वह चार सौ वर्ष की अवस्था होकर क्यों न मरे, बीच में ही क्यों मर गये? —पृ० ९९, पं० ५

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है, क्योंकि वेदों में अधिक-से-अधिक मनुष्य की आयु चार सौ वर्ष ही लिखी है, जैसाकि—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

—यजुः० ३६।२४

इस वेदमन्त्र में सौ वर्ष से अधिक भी मनुष्य की आयु होने का प्रमाण मौजूद है, अतः प्रतीत हुआ कि यह मनुष्य की साधारण आयु का वर्णन है। मनुष्य की विशेष आयु का वर्णन भी वेद ने किया है, जैसेकि—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥ ६॥

—यजुः० ३

इस वेदमन्त्र में मनुष्य की साधारण आयु से विशेष आयु तिगुनी हो सकती है, यह वर्णन विद्यमान है।

अब यदि सौ और सौ से अधिक का तिगुना किया जावे तो चार सौ होने में क्या सन्देह हो सकता है? इन्हीं वेदमन्त्रों की सरल व्याख्या करते हुए मनुजी महाराज लिखते हैं कि—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥ ८३॥

—मनु० १

रोगरहित, सर्वसिद्धियों के देनेवाली मनुष्य की आयु सत्ययुग में चार सौ वर्ष की होती है और इनकी आयु त्रेतादि में एक-एक पाद घट जाती है॥८३॥

यहाँ पर कृत, त्रेता आदि समयवाचक नहीं है, अपितु राजा का नाम है, क्योंकि राजा के धर्मात्मा वा पापी होने से प्रजा धर्मात्मा वा पापी होती है और श्रेष्ठ वा निकृष्ट आचार के अनुसार आयु बढ़ती-घटती रहती है, जैसेकि—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥ ३०१॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्। कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

—मनु० ९

आचाराल्लभते ह्यायुः। —मनु० ४।१५६

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आयु-सम्बन्धी स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। रहा स्वामीजी का पहले मरना, सो उनकी वह मौत स्वाभाविक नहीं अपितु नैमित्तिक अर्थात् अकालमृत्यु थी। यदि धर्मद्वेषी, गोत्रहत्यारे, देशद्रोही, पापी लोग उनको ज़हर न देते तो स्वामीजी की आयु अवश्य ही चार सौ वर्ष की होती।

हाँ, सनातनधर्म के ग्रन्थों में प्रतिपादित मनुष्य की आयु वेदविरुद्ध अवश्य है, जैसेकि—

दशरथ की आयु साठ हजार वर्ष—

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक॥ १०॥ —वाल्मी० उत्तर० स० ७३

पाँच हजार वर्ष का बालक—

अप्राप्तयौवनं बालं पंचवर्षसहस्रकम्॥ ५॥ —वाल्मी० उत्तर० स० ७३

इत्यादि-इत्यादि अनेक लेख विद्यमान हैं। क्या संसार में कोई ऐसा जीता-जागता पौराणिक पण्डितंमन्यः विद्यमान है जो इस प्रकार की आयु को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आने का साहस कर सके?

(५६७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ७, पृ० २१४, पं० ४ में लिखा है कि—

'ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है'।

क्या कोई आर्यसमाजी इस चण्डुखाने की गप्प को सत्य सिद्ध करने के लिए लेखनी उठाकर हमको यह बतलाएगा कि अमुक वेद के अमुक मन्त्र में लिखा है ईश्वर त्रिकालदर्शी नहीं है?

—पृ० ९९, पं० २५

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है, क्योंकि ईश्वर अनादि, अनन्त अर्थात् नित्य पदार्थ है और नित्य पदार्थों से काल का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जब ईश्वर के साथ काल का सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? यदि जीवों की अपेक्षा से कहो तो भी एक अंश में ईश्वर त्रिकालदर्शी नहीं है। ईश्वर भूत तथा वर्त्तमान को जानता है तथा अपने कर्मों के भविष्य तथा जीवों के कर्मानुसार अनेक भविष्यफल को भी ईश्वर जानता है, किन्तु जीव से स्वतन्त्रतापूर्वक किये जानेवाले भविष्य-कर्मों को ईश्वर नहीं जानता, क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसमें वेदप्रमाण इस प्रकार है—

परमात्मा अजन्मा है—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्॥ —ऋ० १।६७।३

शन्नो अज एकपाद्देवो अस्तु॥ —ऋ० ७।३५।१३

परमात्मा अमर है—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन। —ऋ० १०।४८।५

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवः। —ऋ० ४।२।१

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। —यजुः० ४०।२

काल का लक्षण—

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति॥ —वैशे० अ० २ आ० २ सू० ९

अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

किन्तु पुराणों में जीव को कठपुतली की भाँति कर्म करने में परतन्त्र माना है, जैसाकि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया महादेव हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥४॥

—शिव० रुद्र० सृष्टि० अ० १३

क्या कोई ऐसा वीरपुत्र पौराणिक माता ने पैदा किया है जो इस प्रकार जीव की परतन्त्रता को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५६८) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ७, पृ० १८७, पं० ११ में लिखा है कि—'मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर करे'। वेद ने जो मूर्त्ति के द्वारा मन अवरोध करना बतलाया था उसका तो स्वामीजी ने खण्डन कर दिया और तुम्हारे जीवन को बरबाद करने के लिए नाभि, कण्ठ, नासिका, प्रभृति स्थानों में मन स्थिर करना लिखा। यदि स्वामी दयानन्दजी का यह लेख वैदिक है तो फिर इसमें वैदिक प्रमाण दिखाओ। —पृ० १००, पं० १४

उत्तर—स्वामीजी का उपर्युक्त लेख सर्वथा वेदानुकूल है, जैसाकि—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियाः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥१॥

—यजुः० ११

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥२६॥

—अथर्व० १०।२

इन दोनों मन्त्रों में मन को स्थिर करके योगाभ्यास करने की आज्ञा विद्यमान है। इसकी सरल व्याख्या, जैसाकि—

उपस्थाप्योदरे तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः। भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा॥१८॥

—महा० शान्ति० अ० २००

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः। दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम॥३९॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः। आत्मना सूक्ष्ममात्मनं युंक्ते सम्यग्विशाम्पते॥४०॥
स शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम्। उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते॥४१॥

—महा० शान्ति० अ० ३००

आत्मा के द्वारा परमात्मा का अनुभव होता है। पाषाण में परमात्मा तो है, परन्तु आत्मा नहीं है और मनुष्य के शरीर में आत्मा और परमात्मा दोनों विद्यमान हैं, अतः पाषाणमूर्त्ति में ध्यान निरर्थक तथा मनुष्य-शरीर में सार्थक है। पाषाणमूर्त्तियों के ध्यान से उनके निर्माता मनुष्य का विश्वास तथा मनुष्य के अंगों की कारीगरी के चिन्तन से मनुष्य-शरीर के निर्माता परमात्मा की हस्ती का विश्वास होता है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

हाँ, पुराणों में जो देवताओं के लिंग, स्तन, जाँघ तथा योनि का ध्यान लिखा है वह सर्वथा

वेदविरुद्ध है, जैसाकि—

लक्ष्मी के स्तनों का ध्यान—

स्तनौ मन्मथवासिन्यै ललितायै भुजद्वयम्॥ ४४॥ —भविष्य० उत्तर० अ० ३७

भवानी की जंघा का ध्यान—

जंघे शोकविनाशिन्यायानन्दाय नमः प्रभो॥ ५॥ —भविष्य० उत्तर० अ० २७

शिव के लिंग का ध्यान—

मेढ्रं चैवानुराधासु अनंगांगहराय च॥ ८॥ —भविष्य० उत्तर० अ० १०९

क्या कोई पौराणिक पण्डित इस प्रकार के ध्यान को वेदानुकूल सिद्ध कर सकता है?

(५७९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास २, पृ० २२, पं० १० में लिखा है कि 'धन्य वह माता है जो गर्भाधान से लेकर जबतक पूरी विद्या न हो तबतक सुशीलता का उपदेश करे'। कितनी असम्भव बात है कि जिस दिन गर्भाधान हो उसी दिन से गर्भ में पड़े हुए वीर्य को सुशीलता सिखा दी जावे? वेद का सिद्धान्त है कि सप्तम मास में चेतना पाकर जीव गर्भ के दुःखों से घबरा जाता है। —पृ० १०१, पं० ११

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है कि जीव का सातवें मास में गर्भस्थित शरीर से सम्बन्ध होता है, तथा आपने इस बारे में कोई वेद का प्रमाण भी नहीं दिया। हमारी प्रतिज्ञा है कि जीव कर्मानुसार पिता वा माता के शुक्र द्वारा ही गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, अन्यथा गर्भ गन्दा होकर नष्ट हो जावे, जैसेकि बिना जीव के अण्डा गन्दा होकर नष्ट हो जाता है। यदि उसी समय जीव का प्रवेश न हो तो अण्डा खाने और गर्भपात में कोई दोष न रहे और गर्भाधान, पुंसवनादि गार्भिक संस्कारों का करना व्यर्थ हो जावे, अतः हमारी प्रतिज्ञा सर्वथा सत्य है। इसी कारण से वेद ने गर्भाधान से पूर्व माता-पिता को पूर्व तैयारी करने की आज्ञा दी है, क्योंकि माता-पिता के प्रत्येक आचार-व्यवहार का गर्भ पर प्रभाव पड़ता है, जैसेकि—

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथिस्तस्मिन् मत्स्व।
श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वधा विश्वाहारप एधते गृहे। —यजुः० ८।५

भाषार्थ—हे विविध प्रकार के स्थानों में बसनेवाले अविनाशीस्वरूप विद्वान् गृहस्थ! जिसमें सोमलतादि ओषधियों के रस पीने में आएँ ऐसा जो आपका गृहाश्रम है, उसमें आप सब दिन आनन्दित रहो। हे गृहाश्रम करनेवाले गृहस्थो! आप लोग इस गृहाश्रम के वाग्व्यवहार के लिए सत्य ही का धारण करो। जिस गृहाश्रम में स्त्री-पुरुष प्रशंसनीय गृहस्थाश्रम के धर्म को प्राप्त होते हैं, उसमें कामना पूर्ण करनेवाला, निष्पाप, धर्मात्मा, पुरुषार्थी, वृद्धावस्था के दुःखों से रक्षा करनेवाला पुत्र उत्पन्न होता है और वह उत्तम धन को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह विद्या, कुटुम्ब और धन के ऐश्वर्य से बढ़ता है॥५॥

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि जो स्त्री-पुरुष सदाचारी रहेंगे उन्हीं के धर्मात्मा सन्तान पैदा होगी। वेद के इस भाव की व्याख्या आपके ग्रन्थों में अनेक प्रकार से विद्यमान है, जैसेकि—

गर्भ से पूर्व भोजन का प्रभाव—

स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयित वै॥ १४॥ इत्यादि —बृह० अ० ६ ब्राह्मण ४

विवाह का प्रभाव भावी सन्तान पर—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्व्यशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः॥ ३९॥ —मनु० ३

माता के आचार का प्रभाव—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्। तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥ ९॥

—मनु० ९

ऋतु अवस्था का सन्तान पर प्रभाव—

स्त्रियो रजस्वलाः श्रुत्वा पुत्रान् सूयुरनुत्तमान्। पूजयंश्च पठंश्चैनमितिहासं पुरातनम्॥ ११४॥

—वाल्मी० युद्ध० स० १२८

कथा सुनने का गर्भ पर प्रभाव—

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता॥ ४६॥
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता॥ ४७॥ —महा० स्वर्गारो० अ० ५

जीव का वीर्य के साथ गर्भ में प्रवेश—

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः। स्त्रीणा पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत॥ ३४॥

—महा० अनु० अ० १११

महोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान्। दशमासान् वसन् कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते॥ ११॥

—महा० शान्ति० अ० २५२

गर्भ-समय माता के आँखें बन्द करने का प्रभाव—

महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति॥ ९॥
किन्तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति॥ १०॥

—महा० आदि० अ० १०६

गर्भ-समय माता के भय का प्रभाव—

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति॥ १७॥ —महा० आदि० अ० १०६

गर्भ-समय माता की प्रसन्नता का प्रभाव—

अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः। धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः॥ २७॥

—महा० आदि० अ० १०६

इत्यादि अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो सिद्ध करते हैं कि गर्भाधान से ही माता अपने बच्चे को अपने आचार-विचार द्वारा शिक्षा देती है।

हाँ, पुराणों में असम्भव बातें अवश्य हैं, जैसेकि—

गर्भ में वेद पढ़ना, बोलना, पैर अड़ाना—

अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते। औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत॥ ११॥
उत्सृजन्तं तु तं रेतः सगर्भस्थोऽभ्यभाषत॥ १४॥
शक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्या गर्भगतो मुनिः। पद्भ्यामरोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः॥ १७॥

—महा० आदि० अ० १०४

गर्भ में से वेद पढ़ने की आवाज—

पुत्रिकस्यैष सांगस्य वेदस्याध्ययनस्वनः। पुरा सांगस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः॥ १४॥
अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते। समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने॥ १५॥

[गीता० सं० में अ० १७६।—सं०]—महा० आदि० अ० १७९

क्या कोई पौराणिक पण्डित इन असम्भव घटनाओं को वेदानुकूल सिद्ध करने में समर्थ है?

(५७०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३, पृ० ३५, पं० १९ में लिखा है कि—'आचमन से कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है'। आर्यसमाजी कान खोलकर सुन लें—जल से कफ की निवृत्ति नहीं होती, वृद्धि होती है। जल से कफ की निवृत्ति का होना स्वामी दयानन्दजी का यह मिथ्या गपोड़ा तुमने माना कैसे? क्या वेद में आचमन करने की आज्ञा लिखी है और आचमन से कफ की निवृत्ति होना वैदिक धर्म है? यदि है तो श्रुति पेश की जाए। —पृ० १०, पं० १५

उत्तर—यहाँ पर स्वामीजी का कफ से अभिप्राय उस खंगार से है जो कण्ठ को रोक लेता है। आचमन करने से वस्तुतः गला खुल जाता है, यह प्रत्यक्ष ही है। यहाँ पर रोगी की चिकित्सा नहीं हो रही, अपितु, सन्ध्या का प्रकरण है, अतः यहाँ कफ से अभिप्राय त्रिदोषवाले कफ का नहीं है। इसलिए स्वामीजी ने भ्रम दूर करने के लिए लिखा कि 'कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति' होती है और वह भी थोड़ी-सी और फिर 'पञ्चमहायज्ञविधि' में यह भी लिख दिया है कि यदि आवश्यकता न हो तो न करें। फिर यहाँ पर कफ के साथ पित्त शब्द भी लिखा है कि जिसको आपने हज़म कर लिया। पुस्तक का असल पाठ यह है कि—

"**आचमन**—उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे। न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है।"

पुस्तक के मूल पाठ को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यहाँ पर कफ से मतलब कण्ठस्थ खंगार से है। रही चिकित्सा की बात, सो महाराज! उसके विविध प्रकार हैं। आजकल 'होमोपैथिवाले' कफ की निवृत्ति भी जल ही से करते हैं, परन्तु यहाँ तो चिकित्सा का प्रकरण ही नहीं है। रही वेदानुकूलता की बात, सो आचमन करना सर्वथा वेदानुकूल है, जैसाकि—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ —यजुः० ३६।१२

भाषार्थ—हे जगदीश्वर! जैसे इष्टसुख की सिद्ध के लिए पीने के अर्थ उत्तम जल हमको सुखकारी होवें, हमारे लिए सुख की वृष्टि सब ओर से करें, वैसी कृपा करें।

इस मन्त्र में सुखसिद्ध के लिए जल पीने की आज्ञा स्पष्ट है जिसमें आचमन भी शामिल है। इसी की व्याख्या मनुजी करते हैं कि **'त्रिराचामेदपः पूर्वम्।'** मनु० २।६० और स्वामीजी ने इसका समाधान किया है कि आचमन करने का क्या प्रयोजन है। यदि स्वामीजी ने प्रयोजन ग़लत बतलाया है तो कृपया आचमन का प्रयोजन आप ही बतलाने का कष्ट करें।

हाँ, पुराणों के आचमन बड़े विचित्र हैं, ज़रा इनका समाधान करते जावें, जैसेकि—

अगस्त्य मुनि ने समुद्र का ही आचमन कर लिया—

एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः। समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः॥ ३॥

—महा० वन० अ० १०५

क्या कोई पौराणिक पण्डित किसी सनातनधर्म प्रतिनिधि वा महामण्डल में जीता-जागता विद्यमान है जो इस प्रकार के आचमन को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५७१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३, पृ० ३५ पं० २० में लिखा है कि 'मार्जन अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है'। वेद के किसी मन्त्र में मार्जन करना और उससे आलस्य दूर होना नहीं लिखा। अभी तो वह स्नान करके आया है; स्नान से भी जिसका आलस्य न गया तो फिर जरा-से जल के छींटों से कैसे चला जावेगा? सनातनधर्मियों के गृह्यादि ग्रन्थों में तो मार्जन करना लिखा है, किन्तु वेद में न मार्जन है और न मार्जन से आलस्य का दूर होना। —पृ० १०६, पं० २३

उत्तर—अङ्गों पर जल छिड़कने से आलस्य दूर होता है यह बात तो प्रत्यक्ष है। कभी किसी को रातभर जागना हो तो वे यही उपाय करते हैं। यह स्वामीजी ने मार्जन का प्रयोजन लिखा है। यदि यह ठीक नहीं है तो आप बतलावें मार्जन क्यों किया जाता है। यदि स्नान किया हो तो मार्जन की जरूरत नहीं—यह बात स्वामीजी ने यहाँ पर ही लिखी है, परन्तु आपने अपने स्वभाव से विवश होकर उसे चुरा लिया है। स्वामीजी उपर्युक्त लेख के पश्चात् लिखते हैं कि—'जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे'। आप स्वयं मानते हैं कि सनातनधर्मियों के ग्रन्थों में मार्जन लिखा है। तो क्या वह वेद के विरुद्ध है? यदि विरुद्ध है तो आप क्यों करते हैं? यदि अनुकूल है तो फिर हमसे क्यों पूछते हैं? क्या इससे आप स्वमतानुज्ञानिग्रहस्थान में तो नहीं आ जाते? इस प्रकार के प्रश्न करते हुए कुछ शरम तो नहीं आती? रही वेदानुकूलता की बात, सो मार्जन सर्वथा वेदानुकूल है, जैसेकि—

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वꣳहि रिप्रम्प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳशग्माम्परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन्।

—यजुः० ४।२

इस मन्त्र में 'शुन्धयन्तु, पुनन्तु, शुचिः आपूतः' से मार्जन करने की आज्ञा तथा 'दीक्षातपसोस्तनूः, भद्रं, वर्णं, शिवां' से आलस्य दूर होकर पुरुषार्थी बनने का वर्णन मौजूद है।

किन्तु सनातधर्म में विचित्र-विचित्र मार्जन हैं, जैसेकि—

दुर्वासा का मार्जन तथा रुक्मिणी-मार्जन—

कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः॥ २२॥
ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम्॥ २४॥
क्षिप्रमंगानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह॥ २५॥
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम्॥ २६॥
स ददर्श तदाभ्याशे मातरं ते शुभाननाम्।
तामपि स्मयमानां स पायसेनाभ्यलेपयम्॥ २७॥

—महा० अनु० अ० १५९

हम बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि कोई पौराणिक पण्डित मैदान में आकर इस विचित्र मार्जन को वेदानुकूल सिद्ध करे।

(५७२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३७, पं० १३ में लिखा है कि—

''अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके, फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है''।

वेद में कोई भी मन्त्र ऐसा नहीं है कि जिसमें हवन की वायु से दुर्गन्ध का नाश होना लिखा हो।

—पृ० १०८, पं० २०

उत्तर—आपने स्वामीजी का पूरा लेख उद्धृत नहीं किया, वरना आपको शंका ही न होती। पूरा लेख इस प्रकार है—

''**प्रश्न**—चन्दनादि घिसके किसी के लगावे या घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहाँ होम होता है वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से जैसे

सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी, इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।''

अब बतलाइए इसमें आपको क्या शंका है? क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष है कि धूप जलाने की भाँति हवन से भी दुर्गन्ध दूर होती है और यह वेदानुकूल है, जैसाकि—

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। अग्नये त्वा जुष्टम्प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ —यजुः० १।१३

यह मन्त्र स्पष्ट रूप से वर्णन करता है कि हवन करने से वायु तथा जल शुद्ध होते हैं और दूर देश की दुर्गन्ध भी हवन से दूर होती है। यह बात मन्त्र में पड़े **शुन्धध्वम्, शुद्धाः, पराजघ्नुः,** तथा **शुन्धामि** पद स्पष्ट सिद्ध कर रहे हैं।

हाँ, सनातनधर्म के हवन की विचित्र ही गन्ध है, जैसाकि घोड़े के चर्बी की गन्ध—

पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः। ऋत्विक् परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः॥ ३६॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः। यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः॥ ३७॥
हयस्य यानि चांगानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः। अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समस्ताः षोडशर्त्विजः॥ ३८॥

—वाल्मी० बाल० स० १४

बालक की चर्बी की गन्ध—

सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति। कुररीणामिवार्त्तानां समाकृष्य तु तं सुतम्॥ ४॥
विशस्य चैनं विधिवद्वपामस्य जुहाव सः। वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः॥ ५॥
आर्त्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन। सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमांगनाः॥ ६॥

—महा० वन० अ० १२८

क्या कोई पौराणिक इस प्रकार के हवन तथा गन्ध सूँघने को वेदानुकूल सिद्ध कर सकता है?

(५७३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३६, पं० ९ में लिखा है कि ''किसी धातु वा मिट्टी के उपर १२ वा १६ अंगुल चौकोन उतनी ही गहरी और नीचे तीन वा चार अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे।'' वेद में ऐसी वेदी बनाने की कहीं पर भी आज्ञा नहीं।

—पृ० १०९, पं० २७

उत्तर—स्वामीजी ने वेदी के बनाने की सरल व्याख्या करके उसका ढङ्ग बतला दिया है, वरना यह आवश्यक नहीं है कि वेदी चौकोन ही हो। अपितु गोल, त्रिकोण आदि शक्ल पर भी बनाई जा सकती है। इस विषय में स्वामीजी महाराज लिखते हैं कि—

तथा वेदीदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषय०

रही बात वेदानुकूलता की, सो वेद में वेदी बनाने की, आज्ञा मौजूद है, जैसेकि—

वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि॥ —यजुः० २।१

इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याः॥ —यजुः० २३।६२

इन दोनों मन्त्रों में वेदी बनाने का वर्णन विद्यमान है। हाँ, पौराणिक वेदि सर्वथा वेदविरुद्ध हैं, जैसाकि—

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्। उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः॥ ३०॥

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये। ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा॥ ३१॥
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा॥ ३२॥ —वाल्मी० बाल० स० १४

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्। गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः॥ २॥
—महा० शान्ति० अ० २६४

चयनं कर्तुमिच्छन् फाल्गुनकृष्णप्रतिपदिपौर्णमासेष्टिं कृत्वा पुरुषाश्वगोऽव्यजानालभ्याजेन यागं कृत्वा पंचानां शिरांसि घृताक्तानि प्रथमचितावुपधानार्थं क्वचित्संस्थाप्य तेषां कबन्धान् यज्ञशेषं च मृद्युक्ते तडागादिजले प्रास्येत्। —महीधर य० ११।१

क्या कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित इस बूचड़खाने के रूप को धारण करनेवाली यज्ञवेदि को वेदानुकूल सिद्ध कर सकता है?

(५७४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३९, पं० २१ में लिखा है कि "मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाएँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें"। (१) यह आपका गपोड़ा है 'कि जिन मन्त्रों से हवन किया जाता है उनमें हवन के गुण लिखे हैं।' प्रथम तो आपके यहाँ हवन के कुछ गुण ही नहीं। केवल एक गुण है कि हवन के वायु से दुर्गन्धि का नाश होता है। फिर क्या हवन के समस्त मन्त्रों में यही लिखा है कि हवन के वायु से दुर्गन्धि नष्ट हो जाती हैं। यदि ऐसा है तो वेद में पुनरुक्त दोष आ जावेगा। (२) आपने गायत्री मन्त्र से भी हवन करना लिखा है; अब आप बतलावें कि गायत्री मन्त्र में हवन के कितने गुण हैं। आपने जो गायत्री मन्त्र का भाषा टीका लिखा उसमें तो हवन का एक भी गुण नहीं लिखा? (३) "ओं अग्नये स्वाहा" से लेकर "स्विष्टकृते स्वाहा" तक जो १० मन्त्रों से हवन करना लिखा है। क्या आर्यप्रतिनिधि सभाओं में इतना दम है कि हवन के मन्त्रों में से हवन के गुण निकाल दें? (४) स्वामीजी का यह लेख सर्वथा असत्य तथा वेदविरुद्ध है।
—पृ० १११, पं० १

उत्तर—आपको चोरी करने का स्वभाव तंग करता है। इससे प्रायः हर प्रश्न में स्वामीजी के पाठ को चुरा लेते हैं। यहाँ पर भी आपने स्वामीजी का पूरा लेख उद्धृत नहीं किया। देखिए स्वामीजी का पूरा पाठ इस प्रकार है—

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाएँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें [वेद पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे]।

आपने इस अन्तिम वाक्य को चुरा लिया है जिसको हमने कोष्ठक में दे दिया है। पूरे पाठ से ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने मन्त्र पढ़ने के तीन प्रयोजन बतलाये हैं—(१) मन्त्रों में होम करने के लाभ की व्याख्या, (२) आवृत्ति से कण्ठस्थ होना, (३) वेद की रक्षा। अब ज़रा ध्यान दीजिएगा स्वामीजी ने जितने भी वेदमन्त्र हवन करने में लिखे हैं यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मन्त्र में तीनों ही प्रयोजन हों। किन्हीं मन्त्रों में हवन के लाभ की व्याख्या है, कोई मन्त्र कण्ठस्थ रखने के प्रयोजन से ही जोड़े गये हैं और किन्हीं मन्त्रों को वेद की रक्षार्थ ही जोड़ा गया है। आपने स्वामीजी के ग्रन्थों को पूरे तौर से नहीं पढ़ा। इसीलिए आप कह रहे हैं कि स्वामीजी हवन से केवल एक ही लाभ दुर्गन्ध दूर करना मानते हैं। लीजिए, हम आपको स्वामीजी के लिखे हुए हवन के लाभ बतलाते हैं—

[१] वायुशुद्धि, [२] जलशुद्धि, [३] रोगनिवृत्ति, [४] सुखप्राप्ति। (सत्यार्थ० समु० ३), [५] वृष्टि-आधिक्य, [६] संसार का उपकार, [७] दुर्गन्ध-नाश [भूमिका, वेदविषयविचार], [८] अन्नशुद्धि (यजुः० १।२०), [९] सूर्य की किरणों की शुद्धि (यजुः० १।२४, [१०])

ओषधि-शुद्धि [११] बुद्धि और शरीर के बल की वृद्धि (यजुः० १।२५), [१२] मन्त्रोच्चारण द्वारा तथा विद्वानों से शिक्षा (यजुः० ४।२४), [१३] हवन से त्रिलोकी के पदार्थ पुष्ट होते हैं (यजुः० ५।१३), [१४] हवन से ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्यों की शुद्धि (यजुः० २।६), [१५] ईश्वर की आज्ञा का पालन (यजुः० २।२३) इत्यादि-इत्यादि हवन करने के अनेक लाभ स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में वर्णन किये हैं।

अब आप अपने आक्षेपों का उत्तर सुनने की कृपा करें—

(१) चूँकि हवन करने से अनेक लाभ हैं, अतः वेदमन्त्रों में हवन के अनेक लाभों का व्याख्यान होने से वेद में पुनरुक्तदोष नहीं आ सकता।

(२) गायत्रीमन्त्र से हवन करने का यह प्रयोजन है कि मैं गायत्री मन्त्र में प्रतिपादित ईश्वर की आज्ञा का पालन करता हूँ, क्योंकि उसकी आज्ञा का पालन करना ही उसके तेजःस्वरूप को धारण करना है। वह परमात्मा मेरी बुद्धि को सद्धर्म में प्रेरित करे। वेद द्वारा ईश्वर की आज्ञा है कि '**गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि।** (यजुः० ५।**२**) 'हे मनुष्यो! मैं तुमको गायत्रीमन्त्र से उस अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता हूँ।' बस गायत्री से हवन करना ईश्वर की आज्ञा पालन करना है जोकि लाभ नं० १५ में हम वर्णन कर चुके हैं।

(३) "**अग्नये स्वाहा**" से लेकर "**यदस्य कर्मणः**" तक नौ मन्त्रों में निम्न प्रकार से हवन के लाभों का वर्णन है—

(१) मैं ईश्वर की आज्ञा से अग्नि की शुद्धि के लिए होम करता हूँ। (२) मैं ईश्वर की आज्ञा से जल की शुद्धि के लिए हवन करता हूँ। (३) मैं ईश्वर की आज्ञा से प्रजा का पालन करने, वायु की शुद्धि के लिए हवन करता हूँ। (४) मैं ईश्वर की आज्ञानुसार सूर्य की किरणों को शुद्ध करने के लिए होम करता हूँ। (५) मैं ईश्वर की आज्ञा से भूमि पर वर्त्तमान अग्नि को शुद्ध करने के लिए हवन करता हूँ। (६) मैं ईश्वर की आज्ञा से अन्तरिक्ष में वर्त्तमान वायु की शुद्धि के लिए हवन करता हूँ। (७) मैं ईश्वर की आज्ञा से द्युलोक में वर्त्तमान सूर्य में स्थित पदार्थों को शुद्ध करने के लिए हवन करता हूँ। (८) मैं ईश्वर की आज्ञा से पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में वर्त्तमान अग्नि, वायु, आदित्य आदि समस्त लोक-लोकान्तरोंकी शुद्धि के लिए हवन करता हूँ। (९) मैं ईश्वर की आज्ञा से सम्पूर्ण लाभदायक पदार्थों को शुद्ध करने के लिए हवन करता हूँ।

(४) हवन में वेदमन्त्रों का उच्चारण वेदानुकूल है, जैसेकि—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यायुरसि पुरूरवाऽसि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥ —यजुः० ५।२

इस मन्त्र में मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्र करने की आज्ञा है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल तथा युक्तियुक्त होने से सर्वथा सत्य है। हाँ, पौराणिक हवन वेद के विरुद्ध तथा उनके लाभ भी युक्तिशून्य हैं, जैसेकि—

त्वचा लोम्नाथशृङ्गैर्वा वालैः क्षीरेण मेदसा। यज्ञं वहति सम्भूय किमस्त्यभ्यधिकं ततः॥
—महा० अनु० अ० ८०

यहाँ पर गौ के त्वचा, बाल, सींग, दूध, चरबी आदि से हवन करने का वर्णन है।

यदृच्छया मृता दृष्ट्वा गास्तदा नृपसत्तमः। एतान् पशून्नय क्षिप्रं ब्रह्मबन्धो यदीच्छसि॥ ८॥
स तूत्कृत्य मृतानां वै मांसानि मुनिसत्तमः। जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेः पुरा॥ ११॥
—महा० शल्य० अ० ४

यहाँ पर मृतक गौवों के मांस से हवन करने का वर्णन है। क्या कोई जीता-जागता पौराणिक

पण्डित संसार में मौजूद है जो गोमांस से हवन करना वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५७५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३२, पं० १७ में लिखा है कि "इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके।" क्या आर्यसमाजी यह बतलावेंगे कि पाँच वर्ष से आठ वर्ष तक सब लड़कों को पाठशाला में भेजना किस वेदमन्त्र में लिखा है? साथ ही साथ यह भी बतलाना पड़ेगा कि वह कौन-सा वेदमन्त्र है जिसमें इस विषय के लिए राजनियम का होना लिखा है। —पृ० ११३, पं० १

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है, जैसाकि—

माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्निषोमाभ्यान्त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि॥

—यजुः० ६।९

इस मन्त्र में वर्णन है कि इस संसार में माता-पिता, बन्धुवर्ग और मित्रवर्ग को चाहिए कि अपने सन्तानादि को अच्छी शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य करावें, जिससे वे गुणवान् हों।

फिर वेद कहता है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ १७॥

—अथर्व० ११।५

राजा विद्याध्ययन और वीर्यरक्षा द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है तथा अध्यापक ब्रह्मचर्य के साथ रहनेवाले विद्यार्थी की इच्छा करता है॥ १७॥

यहाँ पर स्पष्ट है कि राजा अपने राष्ट्र में रहनेवाले मनुष्यों को विद्या पढ़ाकर और ब्रह्मचर्य धारण करवाकर रक्षा करे।

इसकी सरल व्याख्या मनुजी करते हैं कि राजा कुमार-कुमारियों की रक्षा करें।

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्। कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥

—मनु० ७।१५२

यज्ञोपवीत देकर पढ़ाई आरम्भ—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

—मनु० २।१४०

यज्ञोपवीत समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ ३६॥
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ ३७॥

—मनु० २

इन सम्पूर्ण प्रमाणों से राजा को शिक्षा का अधिकार तथा पाँचवें और आठवें वर्ष से शिक्षा का आरम्भ सिद्ध होता है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

हाँ, सनातनधर्म्म में इसी आयु में सन्तानोत्पत्ति वेद के विरुद्ध है, जैसेकि—

पंचमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते॥ ४९॥
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा॥ ५०॥

—महा० वन० अ० १९०

क्या सनातनधर्मी यह बतलाने की कृपा करेंगे कि यह पाँच से आठ वर्ष तक की आयु में सन्तान पैदा करना किस वेद के अनुकूल है?

(५७६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३, पृ० ३७, पं० १ में लिखा है कि "ओं, भूः और प्राणादि ये सब नाम परमेश्वर के हैं।" क्या भारत जननी ने किसी ऐसे आर्यसमाजी को पैदा किया है जो भूः और प्राण को ईश्वर के नाम सिद्ध कर दे? —पृ० ११४, पं० २

उत्तर—स्वामीजी ने इसी स्थान में प्रमाण दे रक्खा है कि "**भूरिति वै प्राणः**" यह "तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठक ७ अनुवाक ५" का वचन है। जिससे सिद्ध है कि "भूः" के अर्थ प्राण हैं और प्राण नाम ईश्वर का है, अतः भूः भी ईश्वर का ही नाम हुआ। 'भूः' का अर्थ प्राण है यह प्रमाण तो स्वयं स्वामीजी ने दे ही रक्खा है। प्राण नाम ईश्वर का है, इसमें प्रमाण—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १॥

—अथर्व० ११।४

इसी का अनुवाद मनु ने किया है कि—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

—मनु० १२।१२३

भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः। यज्ञो यज्ञपतिर्यज यज्ञांगो यज्ञवाहनः॥ ११७॥

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः॥ २१॥ —महा० अनु० अ० १४९

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि भूः और प्राण ये दोनों नाम ईश्वर के हैं।

हाँ, राम और कृष्ण ये दोनों नाम ईश्वर के नहीं हैं—

कृष्णवर्णा रात्रीः। कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः॥ —निरु० अ० २ खं० २०

अहश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनम्॥ —निरु० अ० २ खं० २१

अथोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात् सामान्यादित्यधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात् सामान्यादधस्ताद्रामोऽधस्तात्॥ —निरु० अ० १२ खं०

कृष्ण और राम ये दोनों नाम काले और अँधेरे के हैं।

क्या भूतल पर कोई ऐसा पौराणिक किसी माता ने पैदा किया है जो राम और कृष्ण इन दोनों को ईश्वर के नाम सिद्ध कर सके?

(५७७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३८, पं० ४ में लिखा है कि—"प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छह-छह माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिए।" क्या कोई आर्यसमाजी ऐसा पैदा हुआ है कि जो दयानन्द का आहुतियों के परिमाण और संख्या को वैदिक सिद्ध कर दे? —पृ० ११५, पं० २२

उत्तर—वेदों में दोनों समय अग्निहोत्र करने की आज्ञा है, जैसेकि—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ ३॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥ ४॥

—अथर्व० कां० १९ सू० ५५

इन दोनों मन्त्रों में प्रत्येक मनुष्य के लिए दोनों समय अग्निहोत्र की आज्ञा है। इन वेदमन्त्रों की सरल व्याख्या करते हुए ही स्वामीजी ने प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और प्रत्येक आहुति का परिमाण छह-छह माशे बतलाया है। स्वामीजी का यह देशकालानुसार आर्ष और स्मार्त विधान है जोकि उपर्युक्त वेदमन्त्रों के सर्वथा अनुकूल है। हाँ, सनातनधर्म में वेदविरुद्ध यज्ञ-कल्पनाएँ अवश्य हैं जैसे—

ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान् भरतर्षभ। खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः॥ २७॥

देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे। श्लेशमातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन्॥ २८॥

यूपेषु नियता वासीत् पशूनां त्रिशती तथा। अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः॥ ३५॥

—महा० आश्वमेध० अ० ८८

श्रपयित्वा पशून् रम्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः। तं तुरंगं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः॥ १॥
शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप। तान्यग्नौ जुहुवुर्द्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजाः॥ ५॥

—महा० अश्वमेध० अ० ८९

क्या कोई ऐसा सनातनधर्म्मी संसार में पैदा हुआ है जो महाभारत में व्यासजी-लिखित इन १५ यूपों के बनाने, उनके साथ ३०१ पशु बाँधने, उन सब पशुओं के ब्राह्मणों के हाथ से मारे जाने और घोड़े के समस्त अङ्गों को १६ ऋत्विजों द्वारा अग्नि में हवन करने की याज्ञिक विधियों और संख्याओं को वैदिक सिद्ध करने में समर्थ हो सके?

(५७८) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३७, पं० २ में लिखा है कि—

"स्वाहा शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले।" क्या किसी आर्यसमाजी में साहस है कि स्वाहा शब्द के इस अर्थ को सत्य सिद्ध करके दिखला दे?

—पृ० ११४, पं० २५

उत्तर—स्वामीजी ने स्वाहा का जो अर्थ किया है वह सर्वथा वेदानुकूल तथा सत्य है, जैसेकि—

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।

—यजुः० ३।९

इस मन्त्र में स्वाहा शब्द के क्या अर्थ हैं, इसपर निरुक्त कहता है कि—

स्वाहा इति वाङ्नामसु पठितम्। —निरु० अ० २ खं० २३

वाणी के नामों में स्वाहा शब्द का पाठ आया है। वह वाणी कैसी हो इसपर निरुक्त कहता है कि—

स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा। —निरु० अ० ८ खं० २१

'स्वाहा' का अर्थ है सत्य, श्रेष्ठ बोलना या अपनी आत्मा के अनुकूल वाणी। उपर्युक्त मन्त्र में स्वाहा का अर्थ निरुक्तकार की रीति से ग्रहण किया गया है, अतः स्वामीजी का अर्थ सर्वथा सत्य है। हाँ, पुराणों में इस प्रकार के मन्त्र अवश्य विद्यमान हैं कि जिनके कोई अर्थ ही नहीं, जैसेकि—

ओं हूँ हूँ प्रस्फुर लल लल कुल्व कुल्व चुल्व चुल्व खल्ल खल्ल मुल्व मुल्व गुल्व गुल्व तुल्व तुल्व फुल्ल फुल्ल धुल्व धुल्व **इत्यादि महाकौशिकमन्त्रः**॥—गरुड० आचार० अ० १३४

क्या किसी पौराणिक माता ने कोई ऐसा पौराणिक पण्डित पैदा किया है जो उपर्युक्त पौराणिक मन्त्र के अर्थ करने का साहस कर सके?

(५७९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ३८, पं० ११ में लिखा है कि—

'अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ'

(१) अग्निहोत्र की कथा तो यह है कि जिस प्रकार का अग्निहोत्र गृह्य और स्मृतियों में लिखा था उसको तो स्वामी दयानन्दजी ने उड़ा दिया और मनघड़न्त, वेदविरुद्ध एक नया अग्निहोत्र तैयार किया।

(२) यहाँ तो स्वामीजी यज्ञों को मानते हैं, किन्तु यजुर्वेदभाष्य में यज्ञों का सफ़ाया कर देते हैं। यजुर्वेद अध्याय १ दर्शपूर्णमासेष्टि, अ० ४ अग्निष्टोम, अ० ९ वाजपेय तथा राजसूययज्ञ, अ०

१० सौत्रामणि, अ० १६ शतरुद्रयाग, अ० २२-२३ अश्वमेध, अ० ३० पुरुषमेध, अ० ३२ में सर्वमेध यज्ञों का वर्णन है, किन्तु स्वामी दयानन्दजी वेद के असली अर्थ को सुनकर घबरा जाया करते थे। —पृ० ११८, पं० ४

उत्तर—स्वामीजी यज्ञ को महत्त्वपूर्ण कर्म मानते हैं। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में अपना मन्तव्य बतलाते हुए लिखा है कि—

२८ 'यज्ञ' उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प, अर्थात् रसायन जोकि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्र आदि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ। —सत्यार्थ०

४७ यज्ञ—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त वा जो शिल्प-व्यवहार और पदार्थविज्ञान जोकि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्नमाला

वेद में भी यज्ञ के बड़े विस्तृत अर्थ किये हैं, जैसेकि—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा॥ १३॥

—यजुः० १८। २९

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ —ऋ० १०। ६३। ६
अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः॥ १॥ —निरु० अ० १ खं० ८
यज् देवपूजासङ्गतीकरणदानेषु। —व्याकरण

स्वामीजी उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार हिंसा से रहित यज्ञ मानते हैं, किन्तु पौराणिक लोग यज्ञों में अश्व, गौ, बकरा, मेढा, पुरुष आदि प्राणियों को मारकर उनके मांस से हवन करना तथा शेष मांस का खाना भी मानते हैं, जैसाकि—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥ ४१॥
एतेष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः। आत्मनं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥ ४२॥
नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥ ३५॥

—मनु० ५

इत्यादि अनेक प्रमाण इसकी पुष्टि में दिये जा सकते हैं, अतः स्वामीजी का यज्ञ-सम्बन्धी सिद्धान्त वेदानुकूल और पौराणिकों का सिद्धान्त वेद के सर्वथा विरुद्ध है। अब आप अपने आक्षेपों का उत्तर सुनने की कृपा करें—

(१) आपकी स्मृतियों तथा गृह्यसूत्रों में जिस प्रकार से अग्निहोत्र लिखा हुआ है वह त्यागने योग्य ही है, क्योंकि उसमें मांस का हवन तथा शेष मांस का खाना भी लिखा है जोकि वेदविरुद्ध होने से त्याज्य ही है, जैसाकि—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ २५॥
सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजऽध्वरैः। पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः॥ २६॥
नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः। नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७॥

—मनु० ४

रौद्रं पशुमालभते॥ ३॥ साण्डम्॥ ४॥ गौर्वा शब्दात्॥ ५॥ वपां श्रपयित्वा स्थालीपाक-मिश्राण्यवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसां स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति॥ ६॥

—पारस्कर० कां० ३ कण्डिका ८

पश्चाच्छामित्रस्य प्राक् शिरसं प्रत्यक् शिरसं वोदक्पादं संज्ञप्य पुरा नाभेस्तृणमन्तर्धाय वपामुत्खिद्य वपामादाय वपाश्रपणीभ्यां परिगृह्याद्भिरभिषिच्य शामित्रे प्रताप्याग्रेणैनमग्निं हृत्वा दक्षिणत आसीन: श्रपयित्वा परीत्य जुहुयात्॥ १०॥ —आश्वलायन० १।११।१०

अत: स्वामीजी ने इस वेदविरुद्ध अग्निहोत्र का परित्याग करके वेदानुकूल अग्निहोत्र करने की पद्धति हमें बतलाई। हम इस बात की बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि जो पौराणिक पण्डित स्वामीजी के बताये अग्निहोत्र में से एक अक्षर भी वेदविरुद्ध सिद्ध करने का साहस रखता हो वह शास्त्रार्थ के मैदान में आकर अपनी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करके दिखावे वरना मिथ्या प्रतिज्ञा करने का प्रायश्चित्त करके अपनी आत्मा को पवित्र करें।

(२) यजुर्वेद के भाष्य में स्वामीजी ने कहीं पर भी यज्ञों का खण्डन नहीं किया अपितु स्थान-स्थान पर यज्ञों के करने की आज्ञा बतलाकर उनका श्रेष्ठ फल बतलाया है। हम नमूने के रूप में कुछ स्थल नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) दयानन्द—मनुष्यों को इस प्रकार का यज्ञ करना चाहिए कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी, सकल आयु, अन्नादि पदार्थों की प्राप्ति, रोगनाश और सब सुखों का विस्तार हो। उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि उसके विना वायु और वृष्टि, जल तथा ओषधियों की शुद्धि नहीं हो सकती और शुद्धि विना किसी प्राणी को अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर ने उक्त यज्ञ करने की आज्ञा सब मनुष्यों को दी है॥ —१।२२

(२) मनुष्यों द्वारा जो वेद की रीति और मन-वचन-कर्म से अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ है वह आकाश में रहनेवाले वायु आदि पदार्थों को शुद्ध करके सबको सुखी करता है। —४।६

(३) न्याय से प्रजा का पालन और विद्या का दान कराना ही राजपुरुषों का यज्ञ करना है। —९।१

(४) मनुष्यों को उचित है कि सर्वत्र व्यापक और पदार्थों की शुद्धि करनेहारे ब्रह्म=परमात्मा ही की उपासना करें, क्योंकि उसकी उपासना के विना किसी को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से होनेवाला पूर्ण सुख कभी नहीं हो सकता। —१०।२४

(५) शिक्षक लोग शिष्यों के लिए धर्मयुक्त नीति की शिक्षा दें और पापों से पृथक् करके कल्याणरूपी कर्मों के आचरण में नियुक्त करें। —१६।२

(६) यदि अग्नि में समिधा छोड़ दिव्य-दिव्य सुगन्धित पदार्थों को होमें तो यह अग्नि उस पदार्थ को वायु आदि में फैलाके सब प्राणियों को सुखी करता है॥ —२२।१५

(७) हवन और सूर्यरूपादि अग्नि के ताप से सब गुणों से युक्त अन्नादि से संसार की स्थिति करनेवाली वर्षा होती है, उस वर्षा से सब ओषधि आदि उत्तम पदार्थयुक्त पृथिवी होती और सूर्यरूप अग्नि से ही प्राणियों के विश्राम के लिए रात्रि होती है॥ —२३।१२

(८) राजा आदि उत्तम मनुष्यों को चाहिए कि दुष्टों के संग को छोड़ श्रेष्ठों का संग कर विवेक आदि को उत्पन्न कर सुखी होवें॥ —३०।१३

(९) जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं, वे सब विद्याओं को पाकर शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त होते हैं॥ —३२।१३

पौराणिक यज्ञ—

(१) महीधर—**चयनं कर्तुमिच्छन् फाल्गुनकृष्णप्रतिपदि पौर्णमासेष्टिं कृत्वा पुरुषाश्वगोऽव्यजानालभ्याजेन यागं कृत्वा पञ्चानां शिरांसि घृताक्तानि प्रथमचितावुपधानार्थं क्वचित् संस्थाप्य तेषां कबन्धान् यज्ञशेषं च मृद्युक्ते तडागादिजले प्रास्येत॥** —११।१

(२) **महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति॥** —२३।२०

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित यज्ञ वेदानुकूल तथा पौराणिक यज्ञ सर्वथा वेदविरुद्ध हैं।

क्या कोई ऐसा पौराणिक पण्डित संसार में जीता-जागता विद्यमान है जो दयानन्द-प्रतिपादित यज्ञों को वेदविरुद्ध तथा महीधर-प्रतिपादित यज्ञों को वेदानुकूल सिद्ध करने में समर्थ हो?

(५८०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ७१, पं० २४ में लिखा है कि—

"जहाँ कहीं निषेध किया है उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढ़ने से विद्या न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है"। यह पता दो कि जिसको पढ़ने से विद्या न आवे वह शूद्र होता है यह किस वेद के किस मन्त्र का सिद्धान्त है? —पृ० ११८, पं० ४

उत्तर—स्वामीजी का सिद्धान्त सर्वथा वेदानुकूल है और सत्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दो-दो प्रकार के होते हैं। एक सम्भावित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अर्थात् जिनके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनने की सम्भावना है वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के बालक हैं। जो माता-पिता के अधीन होते हैं, कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होते, अतः उनके सब संस्कार माता-पिता के वर्णानुसार ही होते हैं। उन सबको वेद पढ़ने का अधिकार देते हुए वेद कहता है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥ —यजुः० २६।२

इस वेदमन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अतिशूद्र, स्त्री-पुरुष आदि समस्त मनुष्यों को वेद पढ़ने का अधिकार बतलाया गया है, अर्थात् समस्त बालक-बालिकाओं को वेद पढ़ने का अधिकार है चाहे उनका जन्म किसी के घर का भी क्यों न हो।

दूसरे व्यवस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट होने के पश्चात् आचार्य ने शिक्षा देकर उनके गुण-कर्म-स्वभाव अनुसार व्यवस्था देकर जिसको जिस वर्ण की व्यवस्था दी हो वह उसका व्यवस्थित वर्ण है। उसके पश्चात् राजा का कर्त्तव्य है कि आचार्य ने जिसको जिस वर्ण की व्यवस्था दी है उसको उसी वर्ण में रखते हुए उससे तदनुसार काम ले। ऐसे व्यवस्थित शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, क्योंकि वह वेद पढ़ने के अयोग्य सिद्ध हो चुका है। ऐसे गुण-कर्म-स्वभावानुसार व्यवस्थित वर्णवालों के लिए वेद आज्ञा देते हैं कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत॥ —यजुः० ३१।११

इस मन्त्र में व्यवस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को अपने-अपने वर्णानुसार कर्म करने की आज्ञा है, अतः जहाँ भी शूद्र को वेद पढ़ने का निषेध हो वहाँ पर शूद्र बालकों के लिए निषेध नहीं है, अपितु ऐसे मनुष्यों के लिए निषेध है जो प्रयत्न करने पर भी वेद नहीं पढ़ सके और उनको आचार्य ने शूद्र वर्ण की व्यवस्था दे दी हो, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

हाँ, सनातन धर्म के ग्रन्थों में इस विषय में वेदविरुद्ध बातें विद्यमान हैं, जैसेकि—

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः। अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः॥ १३६॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता। मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति॥ १३७॥

—मनु० ३

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया। ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद् भवेत्॥ ६६॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः। जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥ ६७॥
अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्। सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति॥ ७३॥

—मनु० १०

क्या कोई सनातनधर्मी पण्डित किसी पौराणिक माता ने पैदा किया है जो इन वेदविरुद्ध अन्याययुक्त श्लोकों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आये?

(५८१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ८४, पं० २६ में लिखा है कि—

''सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जो जावे-आवे, प्रवेश करे वह वैश्य'' पैर से चलनेवाले समस्त आर्यसमाजी वैश्य और आर्यसमाजी ही क्या वरन् भेड़, बकरी, घोड़ा, गधा, ऊँट, हाथी, भैंसे, गाय, हिरण, रोज—जितने भी प्राणी पैर के बल से चलते हैं वे सब दयानन्दजी और आर्यसमाजियों की दृष्टि में वैश्य हैं, फिर ये चौपायों के साथ विवाह आदिक सम्बन्ध क्यों नहीं करते और वेद में इसका मूल कहाँ है? —पृ० ११९, पं० १२

उत्तर—श्रीमान्‌जी यह प्रकरण वर्णव्यवस्था का है और वर्णव्यवस्था मनुष्यों में ही होती है पशुओं में नहीं, क्योंकि—वेद का ज्ञान परमात्मा ने मनुष्यों के लिए प्रकाशित किया है पशुओं के लिए नहीं, जैसाकि **'यथेमां'** मन्त्र में **'जनेभ्यः'** शब्द से स्पष्ट है। और पशु सब पदार्थों में प्रवेश भी नहीं कर सकते, क्योंकि प्रवेश करने के अर्थ हैं पदार्थों के गुणों का जानना और स्वामीजी ने आगे जो इसकी व्याख्या की है वह आपने सर्वथा छोड़ दी। देखिए इसका मूल तो है वेदवाक्य—

'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः'॥ —यजुः० ३१।११

इसकी सरल व्याख्या मनु ने की है, जिसे स्वामीजी ने इसी प्रकरण में दिया है कि—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ ९०॥

—मनु० १

गाय आदि पशुओं का पालन-वर्धन करना, विद्या-धर्म वृद्धि करने-कराने के लिए धनादि का व्यय करना, अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना, एक सैकड़े में चार, छह, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपया से अधिक न लेना और न देना, खेती करना, ये वैश्य के गुण-कर्म हैं।

आगे स्वामीजी इसी प्रकरण में लिखते हैं कि—

''वैश्यों के कर्म ब्रह्मचर्य्य आदि से वेदादि विद्या पढ़, विवाह करके देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तर में जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशु-पालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन का बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यवहार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे।''

—सत्यार्थ० समु० ४

स्वामीजी ने अपने लेख के अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, अतः जो कोई भी वैश्य के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार आचरण करेगा वही वैश्य बन जाएगा। अब रही बात पशुओं

के साथ विवाहादि सम्बन्ध करने की, सो आर्यसमाज तो इसको **'रेतो मूत्रं विजहाति योनिं'** [यजुः० १९।७६] इस मन्त्र के अनुसार वेदविरुद्ध समझता है। हाँ, सनातनधर्म में ये सम्बन्ध सदा होते आये हैं, जैसेकि—

महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति॥ —महीधर, यजुः० २३।२०

पतत्रिणा तदा सार्द्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया॥ ३४॥
होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्॥ ३५॥ —वाल्मी० बाल० स० १४

ततः संज्ञाप्य तुरगं विधिवद्याजकास्तदा।
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम्।
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम्॥ २॥ —महा० आश्वमेध० अ० ८९

विवस्वान् भयभीतश्च त्वक्त्वा युद्धं पराभवत्॥ ३६॥
गत्वा ददर्श भगवान् संज्ञां संबोधकारिणीम्।
कामातुरो हयो भूत्वा तत्र रेमे तया सह॥ ३८॥ —भवि० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १८

अहं किन्दमो नाम तपसा भावितो मुनिः।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्या मैथुनमाचरम्॥ २८॥ —महा० आदि० अ० ११८

क्या कई जीता-जागता पौराणिक पण्डित पृथिवी पर विद्यमान है जो पशुओं के साथ इस प्रकार के पौराणिक सम्बन्ध को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(५८२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ४, पृ० ९०, पं० २५ में लिखा है कि—

"पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें।" सब रिश्तेदारों की विद्यमानता में यह काम लज्जाजनक है। क्या किसी आर्यसमाजी में ईश्वर ने यह शक्ति दी है कि वह स्वामी दयानन्द के ऊपर लिखे गपोड़े को वैदिक सिद्ध करे? —पृ० १२०, पं० ८

उत्तर—विवाह की विधि से पहले स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी सम्बन्ध नहीं होता, अतः विवाह से पूर्व गर्भाधान करना व्यभिचार कहता है, किन्तु विवाह की विधि हो जाने के पश्चात् पति-पत्नी का गर्भाधान करना कोई पाप का काम नहीं है। रिश्तेदारों की मौजूदगी की बात भी खूब कही! क्या गर्भाधान कोई ऐसा काम है जो सभा के मध्य में बैठकर किया जाता है? जब स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि 'एकान्त सेवन करें' तो फिर रिश्तेदारों की विद्यमानता कहाँ रही? और जब पत्नी पति के कुल में आ जाती है तो क्या उस समय पति के माता-पिता, भाई-बहिन आदि रिश्तेदार घर में नहीं होते? तो क्या गर्भाधान तब करना चाहिए जब रिश्तेदार संसार से कूच कर जावें? आखिर आपको यह शंका क्या सूझी? और यह भी बतलाने की कृपा करें कि गर्भाधान के बिना विवाह का प्रयोजन भी क्या है? देखिए वेद भगवान् क्या कहते हैं—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वामायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥ २२॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥ ५२॥
—अथर्व० १४।१

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ ३२॥
तां पूषं शिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ३८॥
—अथर्व० १४।२

इन समस्त विवाहविधायक मन्त्रों में विवाह का प्रयोजन गर्भाधान और सन्तानोत्पत्ति ही वर्णन

किया गया है और विवाह के पश्चात् ही गर्भाधान की आज्ञा और विधि भी वर्णन की गई है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

और आपके ग्रन्थों में भी इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जैसेकि—

गर्भाधान से विवाह—

इच्छयाऽन्योऽन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।

—मनु० ३

विवहा से पूर्व गर्भाधान—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा। वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते॥ १७३॥

—मनु० ९

पिता के घर पर शकुन्तला का गर्भाधान—

जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह। विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः॥ २०॥

—महा० आदि० अ० ७३

द्रौपदी का विवाह के पश्चात् पिता के घर में गर्भाधान—

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम्।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः॥ १३॥
इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद देवर्षिरतीतमानुषम्।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥ १४॥

—महा० आदि० अ० १९४

द्रौपदी का पाँच दिन में पाँचों पाण्डवों से विवाह हुआ और द्रौपदी हमेशा कन्या ही बन जाती थी। प्रतिदिन गर्भाधान द्वारा उसका कन्यात्व नष्ट होता था,तभी तो पुनः कन्या होना लिखा है।

पार्वती का विवाह के पश्चात् पिता के घर में गर्भाधान—

मैनाज्ञया स्त्रियः साध्व्यः शिवं सप्रार्थ्य भक्तितः। गेहे निवासयामासुर्वासाख्ये परमोत्सवे॥ १४॥
तत्रातिरमणीये च रत्नपर्यंक उत्तमे। अशयिष्ट मुदा युक्तो लीलया परमेश्वरः॥ २५॥

—शिव० रुद्र० पार्वती० अ० ५२

चतुर्थे दिवसे प्राप्ते चतुर्थीकर्म शुद्धितः। बभूव विधिवद्येन विना खंडित एव सः॥ २१॥

—शिव० रु० पार्वती० अ० ५३

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि विवाह के पश्चात् कभी कहीं पर भी गर्भाधान पापजनक नहीं है और पहले ऐसा होता आया है। हाँ, विवाह के बिना ही गर्भाधान अवश्य व्यभिचार है, जैसेकि—

बिना विवाह सत्यवती का गर्भाधान—

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता। जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा॥ १७७॥
एवं द्वैपायणो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्॥ ८२॥ —महा० आदि० अ० ६३

बिना विवाह कुन्ती का गर्भाधान—

प्रकाशकर्ता तपनः सम्बभूव तया सह। तत्र धीरः समभवत् सर्वशस्त्रभृतां वरः॥ १८॥
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः॥ १९॥ —महा० आदि० अ० १११

अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल तथा बिना विवाह के पौराणिक कन्याधान सर्वथा

वेदविरुद्ध है। क्या संसार में कोई लिंगपन्थी पौराणिक पोप विद्यमान है जो मैदान में आकर इस कन्याधान को वेदानुकूल सिद्ध करने का साहस कर सके?

(५८३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ९७ में लिखा है कि—

"जो सांगोपांग चार वेदों के जाननेवाले हों उनका नाम ब्रह्मा"—क्या इस प्रकार का लेख किसी ग्रन्थ में लिखा है? किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा। —पृ० १२१, पं० १

उत्तर—लिखा तो है किन्तु किसी के देखने की आँखें ही न हों तो उसका क्या उपाय किया जाए? देखिए—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥ —ऋ० १०।७१।११

ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृळ्हः श्रुततो ब्रह्म परिवृळ्हं सर्वतः॥ —निरुक्त अ० १ खं० ८

यज्ञ में ऋत्विज् नियत करने में ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता इनका लक्षण करते हुए निरुक्त ने साफ़ बता दिया कि ब्रह्मा उसको कहते हैं जो सम्पूर्ण विद्या का जाननेवाला हो, यही अभिप्राय उपर्युक्त मन्त्र का है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है। अब पौराणिक ब्रह्मा का स्वरूप देखें, जैसाकि—

ब्रह्मा-विष्णु की लड़ाई—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरहं प्रभुः। परस्परं हन्तुकामौ चक्रतुः समरोद्यमम्॥ ९॥
—शिव० विद्येश्वर० अ० ६

अथाह देवः कितवं विधिं विगतकन्धरम्। ब्रह्मंस्त्वमर्हणाकांक्षी शठमीशत्वसमास्थितः॥ १॥
—शिव० विद्येश्वर० अ० ८

अहो ब्रह्मंस्तव कथं कामभावः समुद्गतः। दृष्ट्वा च तनयां नैव योग्यं वेदानुसारिणाम्॥ ३१॥
—शिव० रुद्र० सती० अ० ३

साभिलाषः कथं ब्रह्मा सतीं समवलोकयत्। अभवत्त्यक्तरेतास्तु ततो हन्मि कृतागसम्॥ ४५॥
—शिव० रुद्र० पार्वती० अ० १९

रेतसा क्षरता तेन लज्जितोऽहं पितामहः। मुने व्यमर्दं तच्छिश्नं चरणाभ्यां हि गोपयन्॥ ८॥
—शिव० रुद्र० पार्वती० अ० ४९

समायन्तं च मां दृष्ट्वा स गणेशो महाबली। क्रोधं कृत्वा समभ्येत्य मम श्मश्रूण्यवाकिरत्॥ ३१॥
क्षम्यतां क्षम्यतां देव न युद्धार्थं समागतः। ब्रह्माणोऽहमनुग्राह्यः शान्तिकर्तानुपद्रवः॥ ३२॥
गृहीतपरिघं दृष्ट्वा तं गणेशं महाबलम्। पलायनपरो यातस्त्वहं द्रुततरं तदा॥ ३४॥
—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १५

कहिए महाराज! आपके यही ब्रह्मा हैं जिनकी लड़ाका, कितव, शठ, पुत्री-गामी, कामी, पापी, भीरु आदि शब्दों से स्तुति की गई है। क्या किसी पौराणिक रमणी ने कोई ऐसा पौराणिक वीर पण्डित पैदा किया है जो उक्त गुणसम्पन्न पुरुष का ब्रह्मा होना वेदानुकूल सिद्ध करने में समर्थ हो?

(५८४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६१९, स्वमन्तव्यामन्तव्य संख्या २ में ब्रह्मा को ऋषि लिखा है। क्या सच ही ब्रह्मा ऋषि था? यदि ऋषि था तो ब्रह्मा के बाप का क्या नाम था और ब्रह्मा के कितने भाई थे एवं इस ब्रह्मा के कितने लड़के हुए? किन्तु आर्यसमाज में आजकल कोई पवित्र माता ऐसी पैदा नहीं हुई कि जिसकी कोख से निकला हुआ लड़का दयानन्द के स्वार्थ से लिखे हुए लेखों को वेदानुकूल सिद्ध कर देता। —पृ० १२१, पं० ११

उत्तर—हम इससे पूर्व के प्रश्न में सिद्ध कर चुके हैं कि प्रत्येक यज्ञ में एक ऋत्विज को ब्रह्मा बनाया जाता है। जैसाकि राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में व्यासजी को ब्रह्मा नियत किया गया था। इस पद्धति से तो ब्रह्मा एक पदवी है जिसको कि प्रत्येक मनुष्य चारों वेदों को पढ़कर योग्यतानुसार प्राप्त करके ब्रह्मा बन सकता है, किन्तु ब्रह्मा नाम का एक ऋषि भी हुआ है जोकि सृष्टि के आरम्भ में था, जिसने कि अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा—चार ऋषियों से वेदों का अध्ययन किया जैसाकि मनुस्मृति में लिखा है कि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु: सामलक्षणम्॥

—मनु० १।२३

श्वेताश्वतर में भी लिखा है कि परमात्मा ने अग्नि आदि के द्वारा ब्रह्मा को वेद प्राप्त कराये, जैसैकि—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै॥ —श्वेताश्वतर अ० ६।१८

इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के ऋषि होने का एक बड़ा प्रमाण यह है कि—

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापति' है। यजु:० अ० ११ में १—११ मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति' है। यजु:० अ० १५ में १—५९ मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति' और 'परमेष्ठी' है, इत्यादि-इत्यादि अनेक मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति: परमेष्ठी' लिखा हुआ और दोनों ही नाम ब्रह्मा के हैं, जैसाकि—

ब्रह्मात्मभू: सुरज्येष्ठ: परमेष्ठी पितामह:॥१६॥
स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधि:॥१७॥ —अमरकोश १।१

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जहाँ पर ब्रह्मा एक उपाधि है, जिसे प्रत्येक मनुष्य प्राप्त करके ब्रह्मा बन सकता है; वहाँ ब्रह्मा नाम के एक ऋषि भी सृष्टि के आरम्भ में अवश्य हुए हैं जोकि अमैथुनी सृष्टि में हुए हैं। उनका नस्ली तौर से कोई माता-पिता न था। वे बालब्रह्मचारी रहे, अत: उनकी नस्ली तौर से कोई सन्तान न थी।

अत: स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है।

हाँ, पौराणिक ब्रह्मा अवश्य ही ऋषि कहलाने के योग्य न थे, जैसाकि—

ब्रह्मा का झूठ—

स्तंभाग्रमेतत्समुदीक्षितं हरे तत्रैव साक्षी ननु केतकं त्विदन्।
ततोऽवदत्तत्र हि केतकं मृषा तथेति तद्धातृवचस्तदन्तिके॥२७॥

—शिव० विद्येश्वर० अ० ७

ब्रह्मा की स्तुति—

महामूढमतिश्चाद्य संजातोऽसि कथं विधे॥३०॥
जडतां त्यज मन्दात्मन् कुरु त्वं नेदृशीं मतिम्॥३१॥
रुद्रं जानासि दुर्बुद्धे स्वसुतं परमेश्वरम्॥३२॥
ईदृशं त्यज कुज्ञानं शरणं व्रज तस्य वै॥४१॥

—शिव० रुद्र० सती० अ० १०

मदनाविष्टचेताश्च भूत्वांगानि व्यलोकयम्॥१८॥

—शिव० रुद्र० सती० अ० १९

मदनेन समाविष्टोऽतीव क्षुभितमनास:॥६॥

—शिव० रुद्र० पार्वती० अ० ४९

दिव्याङ्गं सुन्दरं तस्या दृष्ट्वा ब्रह्मा स्मरातुरः॥ २॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १३

ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः॥ ७१॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १७

क्या कोई संसार में जीता-जागता ऐसा पौराणिक पण्डित है जो उपर्युक्त गुणयुक्त पुरुष को ब्रह्मा वा ऋषि कहाने के योग्य सिद्ध कर सके?

(५८५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३३५ में लिखा है कि—

"जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी, सहज शिक्षा से न माने तो अर्घ्य, पाद्य, अर्थात् ताड़ना, दण्ड, प्राणहरण तक भी करने में कुछ दोष नहीं"॥ आर्यसमाजी यह भी पता लगावें कि यह गुरुभक्ति कौन वेदमन्त्र का अनुवाद है?

—पृ० १२१, पं० २२

उत्तर—स्वामीजी का यह लेख सर्वथा वेदानुकूल है। देखिए वेद ने राजा का यम नाम से वर्णन किया है, जैसेकि—

यमं राजनं हविषा दुवस्य॥ —ऋ० मं० १० सू० १४ मन्त्र १

यम शब्द के अर्थ निरुक्त ने इस प्रकार किये हैं—

यमः॥ १२॥

यमो यच्छति इति सतः॥ २॥ १९॥ —निरु० अ० १०

इसकी व्याख्या मनु ने इस प्रकार की है कि—

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति। तथा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥

—मनु० ९।३०७

अतः राजा के लिए आज्ञा है कि—

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ ३३५॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ ३५०॥

—मनु० ८

रामायाण में भी लिखा है कि—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजनतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥ १३॥

—वाल्मी० अयो० स० २१

इसी सिद्धान्तानुसार परशुराम ने अपनी माता रेणुका को मारा तथा पाण्डवों ने द्रोणाचार्य, भीष्म आदि को युद्ध में मारा।

हाँ, पौराणिकों की गुरुभक्ति वेदविरुद्ध है, जैसेकि—

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थं न दूषयति मानवम्। उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः॥ २२॥

—महा० शान्ति० अ० ३४

चन्द्रश्च मोहितः शम्भोर्मायया कामसंकुलः। गुरुपत्नीं जहाराथ युतस्तेनैव चोद्धृतः॥ २२॥

—शिव० उमा० अ० ४

योगेनाथ प्रवेशो हि गुरुपत्न्याः कलेवरे। असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिंदुर्यथाचलः॥ ४९॥

—महा० अनु० अ० ४०

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च। विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद् गुरोस्तथा॥ ३१॥

—महा० अनु० अ० ४२

क्या किसी ऐसे पौराणिक पण्डित ने भूमण्डल पर जन्म लिया है जो इस प्रकार की गुरुभक्ति को वेदानुकूल सिद्ध करने लिए मैदान में आवे?

(५८६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० २७२ में 'मनुष्य-मांस मनुष्य खा ले तो संसार की कोई हानि नहीं।' यह लेख किस वेद के किस मन्त्र के आधार पर लिखा गया है? —पृ० ११२, पं० २५

उत्तर—यहाँ पर न मनुष्य-मांस के बारे में प्रश्न किया गया है और न ही उत्तर देने में मुख्यतया मनुष्य-मांस का प्रयोजन है अपितु मृतक प्राणियों के मांस-विषय का प्रश्न है, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने तीन उत्तर तो विधिपरक दिये हैं—"(१) चाहे फेंक दें (२) चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें (३) वा जला देवें", चौथा उत्तर निषेधपरक है कि "अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल, कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा, धर्म आदि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है"—इस सारे लेख को सम्पूर्णतया पढ़ने से पता लगता है कि स्वामीजी मृतक प्राणियों के मांस खाने को भी अभक्ष्य बतलाकर निषेध करते हैं। आपने अपनी किताब में "वा जला देवें" पाठ को तथा हिंसादि से प्राप्त पदार्थ को अभक्ष्य बतानेवाले पाठ को चुराकर अपनी आदत को पूरा किया है। स्वामीजी के लेख का सारांश यह है कि मांस अभक्ष्य है और स्वामीजी का यह सिद्धान्त वेदानुकूल है, जैसाकि—

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ १॥ —अथर्व० ६।७०

इस मन्त्र में मांस, शराब तथा व्यभिचार को पाप वर्णित किया गया है, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेद के अनुकूल है। हाँ, पौराणिक ग्रन्थों में अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का विधान विद्यमान है, जैसेकि—

अण्डकोश भक्ष्य—

आस्वादितं न चान्यैस्तु भक्ष्यार्थं च ददाम्यहम्। अधोभागे च मे नाभेर्वर्तुलौ फलसंनिभौ॥ १२६॥
भक्षयध्वं हि सहिता लम्बौ मे वृषणावुभौ। अनेन चापि भोज्येन परा तृप्तिर्भविष्यति॥ १२७॥
—पद्म० सृष्टि० अ० ३१

गोमांस—

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज। द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा॥ ८॥
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा। समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः॥ ९॥
[गीता० संस्करण में से निकाल दिये गये, अन्यत्र हैं।—सं०]—महा० वन० अ० २०७

मनुष्य-मांस—

सौदासेन तदा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज॥ १६॥ —महा० वन० अ० २०७

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे। आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः॥ १२७॥
तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः। सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा॥ १२८॥
[गीता० सं० में मांस के स्थान पर भोज्य बनाया गया।—सं०]—महा० शान्ति० अ० २९

दक्षिणार्थेऽथ ऋत्विग्भ्यो दत्तः पुत्रः पुरा किल॥ २६॥
अस्मिन् काले तु सोऽल्पायुर्दिष्टान्तमगमत् प्रभुः। ते तं क्षुधाभिः संतप्ताः परिवार्योपतस्थिरे॥ २७॥
याज्यात्मजमथो दृष्ट्वा गतासुमृषिसत्तमाः। अपचन्त तदा स्थाल्यां क्षुधर्त्ताः किल भारत॥ २८॥
[२८वें श्लोक को गीता० सं० में से निकाल दिया गया है—सं०]—महा० अनु० अ० ९३

कुत्ते का मांस—

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्। चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः॥

—मनु० १०।१०

क्या किसी पौराणिक माता ने कोई वीर पौराणिक पुत्र भूमण्डल में पैदा किया है जो मनुष्य के अण्डकोष, मनुष्य-मांस और गोमांस तथा कुत्ते के मांस को खाना वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए मैदान में आये?

(५८७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में स्वामी दयानन्दजी ने जल, पृथिवी, राहु, केतु, शनिश्चर, चन्द्रमा प्रभृति ईश्वर के फर्जी नाम लिखे हैं। निघण्टु, निरुक्त, समस्त कोश एवं समस्त संस्कृत के साहित्य में ऐसे बेबुनियाद ईश्वर के नाम कहीं नहीं आते। स्वामीजी ने फर्जी नाम लिखकर आर्यसमाजियों को धोखा दिया है। यह स्वामीजी ने पाप कमाया है।

—पृ० १२३, पं० ६

उत्तर—स्वामीजी का यह लेख सर्वथा वेदानुकूल है, क्योंकि ईश्वर का निज नाम तो ओम् है, जैसाकि—

ओ३म् खं ब्रह्म॥ —यजुः० १०।१७; **ओ३म् क्रतो स्मर॥**—यजुः० ४०।१५

और गौण रूप से परमात्मा के अनेक नाम हैं, जैसेकि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वनमाहुः॥

—ऋ० १।१६४।४६

इस सिद्धान्त की पुष्टि मनुजी महाराज भी करते हैं—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥१०॥ —मनु० १
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥९१॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥९२॥ —मनु० ८
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ —मनु० १२।१२३

महाभारत भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करता है—

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु। पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन॥८॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च। बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः॥९॥
गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि कानिचित्। निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ॥१०॥

—महा० शान्ति० अ० ३४१

इस सिद्धान्तानुसार परमेश्वर के अनेक नाम हैं—

पृथिवी—**त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः॥** —मैत्रायण्युपनिषद् ५।१
केतु—**केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥** —ऋ० ३।५५।२
चन्द्रमा—**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।** —यजुः० ३२।१
शनैश्चर—**इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः॥३॥** —सूर्यशतनाम

आपः—**ता आपः स प्रजापतिः।** —यजुः० ३२। १

जल—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।** —छान्दोग्य० ३।१४।१

राहु—**राहुं सोमं विद्धि च शक्रमेनम्।** —महा० अनु० १५८।१३

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ये सम्पूर्ण नाम उपासना-प्रकरण में ईश्वर के ही माने जावेंगे।

जब गोपालसहस्र नाम तथा विष्णुसहस्रनम में गोपाल और विष्णु के सहस्रों नाम हो सकते हैं तो परमात्मा के क्यों नहीं हो सकते?

हाँ, आप बतलावें कि निम्न नाम ईश्वर के कैसे हो सकते हैं, जैसेकि—

कामदेवः कामपालः कामीकान्तः कृतागमः।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनञ्जयः॥ ८३॥ —महा० अनु० अ० १४९

क्या कोई जीता-जागता पौराणिक पण्डित पृथिवी पर विद्यमान है जो कामदेव, कामपाल, कामीकान्त आदि नामों को वेदानुकूल ईश्वर के नाम सिद्ध कर सके?

(५८८) प्रश्न—जैसी व्युत्पत्तियाँ स्वामीजी ने लिखी हैं ऐसी व्युत्पत्तियों से तो गृहम्, कायस्थः, दयानन्दः, सत्यार्थप्रकाशः, इत्यादि सब नाम ईश्वर के सिद्ध हो सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संसार में न कोई दयानन्द हुआ है और न सत्यार्थप्रकाश नाम की कोई पुस्तक है और न ही आर्यसमाज नाम की कोई सोसाइटी है, अपितु ये सब नाम ईश्वर के ही हैं।

—पृ० १२३, पं० १३

उत्तर—किन्हीं शब्दों से परमेश्वर अर्थ ग्रहण करने में प्रकरण नियामक है। वैसे ही प्रत्येक शब्द से ईश्वर अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता, जैसाकि स्वामी दयानन्दजी महाराज ने लिखा है—

जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः॥ ५॥
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ १२॥
तेन देवा अयजन्त॥ ९॥ पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ५॥ —यजुः० ३१

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। —तै० उ० ब्रह्मा० वल्ली अ० १

ऐसे प्रमाणों से विराट्, पुरुष, देव, आकाश, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं, क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहाँ-वहाँ परमेश्वर ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपर्युक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं। इसी से यहाँ विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है, किन्तु जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता, इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीव आदि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है।'' —सत्यार्थ० समु० १

अब आप बतलावें कि गृहम्, कायस्थः, दयानन्दः, सत्यार्थप्रकाशः और आर्यसमाजः इत्यादि—नाम किन-किन वेद तथा शास्त्रों में कहाँ-कहाँ पर आते हैं और प्रकरण अनुसार इनका ईश्वर

अर्थ किस प्रकार से होता है। यदि आप कोई वेदमन्त्र वा प्रकरण तथा ईश्वर अर्थ लेने में कोई हेतु नहीं बतला सकते तो आपकी कल्पना मिथ्या है, क्योंकि किसी शब्द के केवल व्युत्पत्ति से ईश्वर अर्थ नहीं लिये जा सकते जबतक कि उसमें प्रमाण और प्रकरण-अनुकूलता सहायक न हों।

हाँ, आपके मतानुसार गृहम्, कायस्थः, दयानन्दः, सत्यार्थप्रकाशः और आर्यसमाजः—नाम ही नहीं अपितु सम्पूर्ण पदार्थ भी ईश्वर माने जा सकते हैं, क्योंकि आपके मत में संसार के समस्त रूप ब्रह्म के ही रूप हैं और ईश्वर इन सबका अभिनिमित्तोपादनकारण है।

(५८९) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने दशम समुल्लास में नीच जातियों के भोजन का विकट निषेध किया है। —पृ० २६३, पं० २४

उत्तर—आर्यसमाज **"सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः"**—ऋ० १०।५।६ वेदमन्त्र के अनुसार किसी को जन्म से नीच नहीं मानता, अपितु जो मनुष्य वेद की सप्त मर्यादाओं को तोड़कर मद्यपान तथा मांसाहार आदि नीच कर्म करता है वह नीच है और उसी के भोजन का विकट निषेध किया है जैसाकि "ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डाल आदि नीच, भंगी, चमार आदि का न खाना"। —सत्यार्थ० समु० १०

इसका अभिप्राय यह है कि चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के हाथ का तो खाना चाहिए किन्तु जो चारों वर्णों से भ्रष्ट, भंगी और चमारों में से नीच कर्म के करनेवाले चाण्डाल अर्थात् मद्य-मांसादि का सेवन करनेवाले हैं उनके हाथ का न खाना चाहिए। वैदिक सिद्धान्तानुसार चमार वैश्य तथा भंगी शूद्र हैं। यदि वह मद्य-मांस के आहार को न करते हों तथा शुद्धता से भोजन बनाएँ तो उनके हाथ का खाने में कोई दोष नहीं है। स्वामीजी के इस सारे लेख का प्रयोजन यही है कि मद्य-मांसाहारी, नीच, चाण्डाल के हाथ का न खाना चाहिए। सदाचारयुक्त चारों वर्णों के हाथ का खा लेना चाहिए, जैसाकि लिखा भी है कि—

विप्राणां क्षत्रियाणां च वैश्यानां च सुयोधन। आचारः प्रथमो धर्मो ह्यनाचारस्त्वधर्मतः॥ २८॥
अन्ये चैव तु ये शूद्राः सत्यशौचपरायणाः। तेषां गृहेषु भोक्तव्यं विदुरोऽपि बहुश्रुतः॥ २९॥

—भारतसार० अ० ५५

भीलनी का जल पीना—

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि। तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम्॥ ७॥

—वाल्मी० अरण्य० स० ७४

राम ने भीलनी के उच्छिष्ट फल खाये—

तिंदुकानि च मूलानि फलान्यन्यानि तु। रामार्थे रक्षितान्यासन् दन्तैश्छित्वा परीक्ष्य च॥ ५६॥

—भक्तमालसंस्कृत, सर्ग ५

ब्राह्मण ने व्याध का जल पिया—

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः। पाद्यमाचमनीयं च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः॥ १८॥

—महा० वन० अ० २०६

यह सिद्धान्त वेदानुकूल है जैसाकि—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमतो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय
दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ —अथर्व० ६।१४०।२

अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल हैं। हाँ, पुराणों में वेदविरुद्ध भोजन लिखे हुए हैं, जैसाकि—

चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस—

स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै॥ ३७॥
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया॥ ३८॥
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम्॥ ९०॥ —महा० शान्ति० अ० १४१

क्या कोई पौराणिक पण्डित चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराकर खाना वेदानुकूल सिद्ध कर सकता हैं?

(५९०) प्रश्न—स्वामीजी भारत के इतिहास-पुराण को भी वैसे ही मानते हैं जैसेकि सनातनधर्मी प्रमाण में लेते हैं। —पृ० २५

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा मिथ्या है, क्योंकि स्वामीजी इतिहास-पुराण को वहाँ तक ही प्रमाण मानते हैं जहाँ तक कि वह वेदानुकूल हो। वेदविरुद्ध इतिहास-पुराण को स्वामीजी प्रमाण नहीं **मानते।**

(५९१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ११७ में लिखा है कि—

''जैसाकि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यासजी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की, इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है।'' इससे सिद्ध है कि स्वामीजी इतिहास को प्रमाण मानते हैं। —पृ० २६

उत्तर—इस लेख में महाभारत ने नियोग द्वारा स्त्री को दूसरे पति का अधिकार स्वीकार किया है। इसी प्रकार से इस सिद्धान्त को भी माना है, जैसाकि—

पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्। आनन्तर्यात्तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्॥ १२॥
—महा० शान्ति० अ० ७२

इत्यादि महाभारत का लेख वेद के अनुकूल है, क्योंकि वेद कहता है कि—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥
—अथर्व० १८। ३। १

चूँकि महाभारत का यह लेख वेदानुकूल है, अतः स्वामीजी को प्रमाण है; किन्तु महाभारत के जो लेख वेद के विरुद्ध हैं जैसेकि—

ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते। नातिवर्त्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥ २५॥
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति। धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते॥ २६॥
[गीता० सं० में से निकाल दिये गये।—सं०]—महा० आदि० अ० १२२

ये स्वामीजी को प्रमाण नहीं हैं, अतः स्वामीजी वेदानुकूल इतिहास का प्रमाण तथा वेदविरुद्ध इतिहास का अप्रमाण करते हैं।

(५९२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ८२ में लिखा है कि—

''महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मतंग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे''। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी ने इतिहास को प्रमाण माना है। समाजी किस मुँह से कह सकते हैं कि इतिहास-पुराण हमको प्रमाण नहीं? —पृ० २६

उत्तर—वर्ण-व्यवस्था का कर्मानुसार होना इस लेख में वर्णन किया गया है। यह और इसी प्रकार के अन्य लेख जैसेकि—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥ ९॥

—महाभारत शान्ति० अ० २६४

इत्यादि प्रकरण वेदानुकूल होने से प्रमाण है, जैसे—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। इत्यादि। —यजुः० ३१।११

को वोऽध्वरं तुविजाता। इत्यादि। —ऋ० मं० १० सं० ६३ मं० ६

जो प्रकरण महाभारत में वेदविरुद्ध हैं, जैसेकि—

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे।
क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः॥ —महा० अनु० अ० १४३

स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः॥ ३२॥
यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गामालब्धुमर्हति॥ ३३॥ —महा० शान्ति० अ० २६२

ये प्रकरण स्वामीजी को प्रमाण नहीं हैं।

इससे सिद्ध है कि स्वामीजी वेदानुकूल इतिहास को प्रमाण तथा वेदविरुद्ध इतिहास को अप्रमाण मानते हैं।

कड़वी सचाई

(५९३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ७० में स्वामीजी लिखते हैं कि—

"तुम कूआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है"। ऐसे मीठे शब्द दयानन्द को छोड़कर संसार में कौन लिख सकता है? —पृ० २८, पं० २५

उत्तर—बेशक आपका फरमाना ठीक है, क्योंकि संसार में हितकारी कड़वे सत्य के कहनेवाले कोई-कोई महात्मा ही होते हैं, वरना चापलूसी की बातें करने तथा झूठी खुशामद करनेवाले टोडी संसार में भरे पड़े हैं, जैसाकि महाभारत में लिखा भी है कि—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १५॥

—महा० उद्योग० अ० ३६

स्वामीजी का यह कहना ठीक है कि "**स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः**" यह वाक्य कपोलकल्पित है, किसी वेद की श्रुति नहीं है। आपमें हिम्मत हो तो किसी वेद में से निकालकर दिखावें। जो लोग यों पेट कूटते हैं कि "हाय! यदि स्त्री और शूद्र पढ़ गये तो हम क्या करेंगे" ऐसे शिक्षा-विरोधियों का संसार से नाश होना ही संसार के लिए हितकारी है। इसी अभिप्राय को दिल में रखकर स्वामीजी ने कहा है कि "तुम कूआ में पड़ो" अर्थात् तुम नष्ट हो जाओ ताकि कोई तुम्हारी शिक्षा मानकर स्त्रियों का निरादर करके स्वयं नष्ट न हो जाए, जैसाकि मनु ने भी लिखा है कि—

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः। तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

—मनु० ३।५८

इस लेख का नाम गाली नहीं है। यदि आपको गालियाँ देखनी हों तो पुराण में देखें, जैसेकि—

स्वकीयं च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छंभुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥ २७॥

—भविष्य० प्रति० खं० ४ अ० १८

मैं आशा करता हूँ कि आपको गाली और हितकारी में विवेक करना आसान हो जावेगा।

(५९४) प्रश्न—वैष्णवों का खण्डन करते समय सत्यार्थप्रकाश पृ० ३१२, पं० ७ में लिखा

है कि "**विक्रीय शूर्पं विचचार योगी**" इत्यादि वचन चक्रांकितों के ग्रन्थों में लिखे हैं। शठकोप योगी सूप को बना-बेचकर विचरता था, अर्थात् कंजरजाति में उत्पन्न हुआ था।" किसी भी वैष्णवग्रन्थ तथा भक्तमाल में "विक्रीय शूर्प" यह नहीं लिखा। क्या कोई आर्यसमाजी शठकोप को कंजर सिद्ध करने की शक्ति रखता है? —पृ० २८, पं० २९

उत्तर—प्रथम तो 'शठकोप' अर्थात् 'धूर्तों का सरदार' यह नाम ही इस बात को प्रकट कर रहा है कि उनका जन्म अतिशूद्र वर्ण में हुआ, जिसमें कंजर भी शामिल हैं। दूसरे, स्वामीजी ने यह पाठ चक्रांकितों के हस्तलिखित ग्रन्थों और नाभा डोम के भक्तमाल से उद्धृत किया है; इस समय इन दोनों ग्रन्थों का मिलना ही दुर्लभ है।

तीसरे, यह बात किसी सिद्धान्त की पोषक नहीं है अपितु ऐतिहासिक खोज की बात है। यदि स्वामीजी की यह खोज आपके विचार में ठीक नहीं है तो आपको किसी ग्रन्थ का प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहिए था कि उनका जन्म किस 'ब्राह्मण कुल में हुआ था' किन्तु आपने ऐसा नहीं किया, अतः स्वामीजी का लेख ही ठीक प्रतीत होता है।

चौथे, स्वामीजी ने यह बात यह सिद्ध करने के लिए लिखी है कि 'ब्राह्मणों ने उसका तिरस्कार किया तब यह मत उसने चलाया'। इसका अभिप्राय यह है कि जन्म के कारण किसी का तिरस्कार करने से इस प्रकार की हानि होती है। चूँकि स्वामीजी कर्मों से वर्णव्यवस्था मानते हैं, अतः स्वामीजी ने यह लेख गाली देने की नीयत से नहीं अपितु वास्तविक अवस्था बतलाने के लिए लिखा है, जैसेकि भविष्यपुराण में लिखा है कि—

गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २९॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

आपके विचार से क्या पुराणकर्त्ता ने वसिष्ठमुनि को गाली देने के लिए "कंजरीपुत्र" लिखा है, कदापि नहीं। बस! जैसे पुराणकर्त्ता ने वास्तविक बात को प्रकट करने के लिए लिखा है वैसे ही स्वामीजी का लेख भी है। इसका नाम गाली देना नहीं है। गाली देने का प्रकार और होता है, जैसेकि—

दक्षश्च मोहितः शंभोर्मायया ब्रह्मणस्सुतः। भ्रातृभिः स भगिन्यां वै भोक्तुकामोऽभवत्पुरा॥ २६॥

—शिव० उमा० अ० ४

इसका नाम है गाली देना। स्वामीजी का लेख गाली देना नहीं है। क्या कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित संसार में विद्यमान है जो शठकोप तथा वसिष्ठजी को ब्राह्मणी माता के गर्भ से पैदा हुआ सिद्ध कर सके?

(५९५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११ पृ० ३१२, पं० १५ में लिखा है कि "उस (शठकोप) का चेला मुनिवाहन जोकि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ था"। हमने आज तक चार ही वर्ण सुने थे, किन्तु आज एक पाँचवाँ चाण्डाल वर्ण और मिला। क्या कोई आर्यसमाजी मुनिवाहन को चाण्डाल सिद्ध कर सकता है? —पृ० २९, पं० १४

उत्तर—क्या आपका सुनना भी कोई प्रमाणों में प्रमाण है? क्या जो बात आपने नहीं सुनी वह संसार में है ही नहीं? श्रीमान्‌जी! आपके कान परिमित हैं और आपका ज्ञान भी परिमित है। वह किसी पदार्थ के होने या न होने में प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि आपने चार ही वर्ण आज तक सुने हैं तो आपने अपनी पुस्तक के पृ० १३०, पं० ४ तथा ७ में 'पारशव' वर्ण कहाँ से लिख मारा? सुनिए महाराज! वर्ण शब्द के अर्थ निरुक्त के अनुसार '**वर्णो वृणोतेः**' [निरु० अ० २ खं० ३]—जो स्वीकार किया जाए उसका नाम वर्ण है। इसीलिए निरुक्त ने

'चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः' [निरुक्त अ० ३ खं० ८]—निषाद को भी पाँचवाँ वर्ण माना है। इसके अतिरिक्त मनु में तो सूत, वैदेह, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता, अयोगव, इन छह को वर्ण मानकर अपने सदृश वर्ण पैदा करनेवाला माना है—

सूतो वैदेहकश्चैव चाण्डालश्च नराधमः। मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽयोगव एव च॥ २६॥
एते षट् सदृशान् वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु। मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥ २७॥

—मनु० १०

कहिए महाराज! आप तो पाँचवें को ही रो रहे थे, यहाँ पर तो वर्णों का ढेर ही लग गया। अब क्या आप अपने कान कटवाने की कृपा करेंगे, जिन्होंने आपको इतना डबल धोखा देने का पाजीपन किया है? रही बात मुनिवाहन को चाण्डाल लिखने की, सो यदि स्वामीजी की यह खोज ठीक नहीं है तो आप ही प्रमाण बतलाने की कृपा करें कि मुनिवाहन किस ब्राह्मणकुल में पैदा हुए थे? यदि नहीं बता सकते तो स्वामीजी का लेख ठीक है। स्वामीजी ने यह लेख गाली देने के लिए नहीं लिखा अपितु वास्तविक अवस्था बताने के लिए ही लिखा है, जैसाकि पुराणों के कर्त्ता ने भी लिखा है कि—

श्वपाकीगर्भसंभूतः पिता व्यासस्य पार्थिव। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २७॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० ४२

तो क्या पुराणकर्त्ता ने पराशर को 'चाण्डालपुत्र' लिखकर गाली दी है? कदापि नहीं। बस जैसे पुराणकर्त्ता ने वास्तविक अवस्था बताने के लिए लिखा है, ऐसे ही स्वामीजी का लेख है। गालियाँ देने का तो प्रकार ही और होता है, जैसेकि—

ब्रह्मा च बहुवारं हि मोहितः शिवमायया। अभवद् भोक्तुकामश्च स्वसुतायां परासु च॥ २७॥

--शिव० उमा० अ० ४

इसका नाम है गालियाँ, जो पुराणों में ऋषि और मुनियों को निकाली गई हैं। वास्तविक अवस्था के बताने का नाम गालियाँ देना नहीं है।

क्या किसी पौराणिक माता ने कोई ऐसा पौराणिक पुत्र पैदा किया है जो मुनिवाहन और पराशर को ब्राह्मण दम्पती से पैदा हुआ सिद्ध कर सके?

(५९६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३१२, पं० १५ में लिखा है कि—"उस (मुनिवाहन) का चेला यावनाचार्य यवन-कुलोत्पन्न था"। यदि सच ही यावनाचार्य जाति के मुसलमान थे तो फिर कोई आर्यसमाजी कलम क्यों नहीं उठाता? —पृ० २९, पं० २९

उत्तर—क्या स्वामीजी का लिखना क़लम उठाना नहीं है और क्या 'यावनाचार्य' नाम ही यह बात सिद्ध नहीं कर रहा कि वह जन्म से मुसलमान थे? और क्या सनातनधर्म में मुसलमानों से ब्राह्मण नहीं बनते आये, जैसाकि—

मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः॥ ७२॥

—भविष्य० प्रति० खं० ४ अ० २०

फिर यावनाचार्य का जन्म से मुसलमान होते हुए आचार्य बनना बताना गाली देना कैसे है? यदि वह जन्म से मुसलमान न थे तो आप सप्रमाण सिद्ध करें कि वह ब्राह्मण-कुलोत्पन्न थे। वास्तविक अवस्था बाताना गाली देना नहीं होता। गाली देने का प्रकार और है, जैसाकि—

शिवमायाप्रभावेणाभूद्धरिः काममोहितः। परस्त्रीधर्षणं चक्रे बहुवारं मुनीश्वर॥ १७॥

—शिव० उमा० अ० ४

इसका नाम है गाली देना। वास्तविक अवस्था के बताने का नाम गाली देना नहीं है। क्या

कोई पौराणिक पण्डित भू-मण्डल में मौजूद है जो यावनाचार्य को ब्राह्मण-कुलोत्पन्न सिद्ध करने के लिए अपनी लेखनी उठावे?

(५९७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३१२, पं० ८ में लिखा है कि—''भक्तमाल ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया''। कौन कहता है कि नाभाजी डूम थे? जो आर्यसमाजी कहता हो वह लेखनी उठाकर नाभाजी को डूम सिद्ध करे। —पृ० ३०, पं० १३

उत्तर—स्वामीजी की खोज बतलाती है कि नाभाजी डूम थे और उन्होंने लेखनी उठाकर लिख दिया। यदि स्वामीजी की यह खोज ग़लत है तो आप सिद्ध करें कि नाभाजी किस ब्राह्मण वंश में पैदा हुए थे? क्या किसी मनुष्य का डूम आदि अन्त्यज वंश में पैदा होकर अपनी योग्यता से ग्रन्थकर्त्ता बन जाना कोई असम्भव बात है? क्या व्यास आदि अन्त्यज कन्या के पेट से पैदा होकर ग्रन्थकर्त्ता नहीं बने, जैसाकि लिखा है—

जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥ २२॥ —भविष्य०ब्राह्म०अ० ४२

क्या इनकी वास्तविक अवस्था का वर्णन करना गाली देना है? कदापि नहीं। गाली देने का ढंग ही और होता है, जैसेकि—

चन्द्रश्च मोहितः शंभोर्मायया कामसंकुलः। गुरुपत्नीं जहाराथ युतस्तेनैव चोद्धृतः॥ २२॥
—शिव० उमा० अ० ४

इसका नाम है गालियाँ देना। वास्तविक अवस्था के बतलाने का नाम गालियाँ देना नहीं है। हम समस्त पौराणिक मण्डल को चैलैंज करते हैं कि वह नाभाजी और व्यासजी को ब्राह्मणी के पेट से पैदा हुआ सिद्ध करने के लिए मैदान में आवें, किन्तु यह निश्चित है कि प्रलय तक भी पौराणिकों में कोई ऐसा पण्डित पैदा नहीं हो सकता जो व्यास और नाभाजी की माता को जन्म से ब्राह्मणी सिद्ध कर सके। और स्वामीजी का लेख तो है भी ठीक जैसाकि—

गोस्वामी नाभाजीकृत श्रीभक्तमाल श्रीप्रियदासजीप्रणीत टीका, कवित्त श्री अयोध्यानिवासी श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकलाविरचित, भक्तिसुधास्वादतिलकसहित, लखनऊ सुपरिंटेंडेंट केसरीदास सेठ द्वारा नवलकिशोर प्रेस से मुद्रित होकर प्रकाशित।

दूसरी आवृत्ति १९२६-१९८३। —पृ० ४७, पं० १४

''और कोई-कोई तो स्वामी श्रीनाभाजी का जन्म डोमवंश में भी कहते हैं, परन्तु पश्चिम देश में 'डोम' किसको कहते हैं यह न जाननेवाले लोग इस देश में डोम भंगी का नामान्तर समझके भंगी भी कह बैठते हैं। सो भंगी कहना महानुचित, अविचार वा पाप है, क्योंकि पश्चिम मारवाड़ आदिक देशों में डोम कलावंत, ढाढी, भाट, कथक इन गानविद्या के उपजवियों की तुल्य जाति (ज्ञाति) और प्रतिष्ठा है। इसका प्रमाण (१११वें छप्पय) में श्री मूलकार ने ''लाखा'' भक्त को वानर अर्थात् वानरवंशी लिखा और (४२६वें कवित्त में) भक्तमाल के टीकाकार ने **''लाखा नाम भक्त ताकौ वानरी बखान कियो कहें जग डोम जासो मेरो शिरमोर है''** ऐसा लिखके आगे इनके गृह में सन्तों का जाना और रोटी-प्रसाद का पाना भी लिखा है, सो देख लीजिए। लाखा भक्त के यहाँ सन्तों का प्रसाद रोटी-पाना अन्यथा असम्भव था। अस्तु, यहाँ तो दोनों प्रकार से उत्तमता है। श्रीनाभा स्वामी तो श्रीसीतारामजी के अनन्य, विशुद्ध, जगत्पूज्य दास हैं। न ब्राह्मण हैं न डोम। इन अच्युत गोत्र की देह तो जात्याभिमान से रहित है, इत्यलम्।''

संस्कृत भक्तमाल में भी लिखा है कि—

पथि तिष्ठन्तमन्धं च शिशुमेकमपश्यताम्। दुर्भिक्षसमये त्यक्तं जनन्या निर्जने वने॥ ७॥
—भक्तमाल, संस्कृत स० २

(५९८) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी कापड़ी जाति में उत्पन्न हुए थे और लड़कपन में इनका पेशा गाना तथा नाचना था, यह बात सोलह आने सच है और 'दयानन्द छलकपट दर्पण' आदि बीसियों ग्रन्थों में लिखी है (पृ० ३०, पं० २२)। संवत् १९४० की शुभ तिथि नरकचतुर्दशी को स्वामीजी का शरीर पात हो गया। —पृ० १६, पं० २६

उत्तर—स्वामी दयानन्दजी के पिता का नाम कर्सनजी लालजी त्रिवेदी था। इनका पेशा जमादारी, शराफ, और ज़िमींदारी था। जन्मस्थान टंकारा था। ये औदीच्य ब्राह्मण थे (दयानन्द-जन्मस्थान-निर्णय)। ''दयानन्द छलकपट दर्पण'' यह पुस्तक आर्यसमाज के विरोधी जियालाल जैनी की लिखी हुई है, अत: उसका लेख आर्यसमाज के लिए कोई प्रमाण नहीं। वह लेख निर्मूल और सर्वथा ग़लत है; किन्तु यदि सत्य भी हो तो आर्यसमाज के सिद्धान्त की इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-आश्रम की व्यवस्था को मानता है, जन्म से नहीं; और मनुष्य मरने के पश्चात् अपने कर्मानुसार नरक या स्वर्ग को प्राप्त होता है, मरने की तिथि नरक या स्वर्ग-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती। जैसे दिवाली को स्वामीजी का देहान्त हुआ था वैसे ही दिवाली के दिन ही स्वामी रामतीर्थजी की तथा जैनमत प्रवर्तक महावीर स्वामी की मृत्यु हुई थी, तो क्या यह माना जा सकता है कि स्वामी रामतीर्थजी तथा महावीर स्वामी भी इस तिथि में मरने के कारण नरक में गये? कदापि नहीं, अत: किसी तिथि का नाम नरकचतुर्दशी रखना ही पौराणिक मिथ्या कल्पना है।

हाँ, पौराणिक वसिष्ठ अवश्य कंजरी के पेट से पैदा हुए थे जिसका पेशा व्यभिचार और नाचना भी था, किन्तु इससे वसिष्ठ पर कोई दोष नहीं आ सकता, क्योंकि वह कर्मानुसार ब्राह्मण और महर्षि बन गये।

(५९९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३७२, पं० २४ में रामसनेही को राँडसनेही लिखा है। क्या मधुर भाषण है! मानो स्वामीजी की वाणी से फूल टपकते हैं! —पृ० ३१, पं० ४

उत्तर—आपने स्वामीजी का पूरा पाठ नहीं दिया। स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—

''नाम तो धरा रामसनेही और काम करते हैं राँडसनेही का, जहाँ देखो वहाँ राँड सन्तों को घेर रही हैं, यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती? ये लोग अपने चेलों को जूठ खिलाते हैं, और स्त्रियाँ भी लम्बी पड़के दण्डवत् प्रणाम करती हैं, एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है''।

जो अवस्था स्वामीजी ने अपने लेख में वर्णित की है, यदि यह ठीक है तो स्वामीजी का उनको राँडसनेही लिखना सोलह आने ठीक और उनकी अवस्था का प्रकाशक है। इसे गाली देना नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में प्रत्येक आदमी को ऐसी व्यवस्था देनी ही पड़ती है, जैसेकि राधा ने कृष्ण को परस्त्रीगामी देखकर कहा कि—

हे कृष्ण विरजाकान्त गच्छ मत् पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥ ५९॥
हे सुशीले शशीकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्॥ ६३॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ३

यहाँ राधा का कृष्ण को लोल, रतिचौर, अतिलम्पट और धूर्त कहना गालियाँ नहीं अपितु कृष्ण की अवस्था का सत्य प्रतिपादन है। गालियाँ तो और प्रकार की होती हैं, जैसेकि—

विश्वामित्रो बभूवाथ मोहित: शिवमायया। रेमे मेनकया व्यास वने कामवशं गत:॥ ३५॥

—शिव० उमा० अ० ४

इसका नाम गाली है। आशा है कि अब आप फूल और त्रिशूल में विवेक करने के योग्य हो जावेंगे।

(६००) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३३३ में "वृन्दावन जब था, तब था, अब तो वेश्यावन है", यह लिखा है। आर्यसमाजियों ने वृन्दावन में गुरुकुल खोल स्वामीजी के इस लेख को असत्य सिद्ध कर दिया। —पृ० ३१, पं० ७

उत्तर—आपने अपनी चोरी की आदत के अनुसार स्वामीजी के पाठ को चुरा लिया है। स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—"वृन्दावन जब था तब था, अब तो वेश्यावनवत् लल्ला-लल्ली और गुरु-चेली आदि की लीला फैल रही है"।

क्या स्वामीजी का यह लेख ग़लत है? क्या अब भी वृन्दावन में रासलीलाओं द्वारा व्यभिचार की भरमार नहीं है? स्वामीजी ने इन शब्दों में वृन्दावन के खुले व्यभिचार का नक़्शा खेंचकर जनता के सामने रख दिया है। आर्यसमाज का गुरुकुल वृन्दावन शहर से बाहर जंगल में है और वह इसलिए खोला गया है कि इसके द्वारा वृन्दावन को फिर से योगिराज, गोरक्षक, सदाचारी कृष्ण की नगरी बनाया जा सके। यह वृन्दावन की बदकिस्मती है कि उसने अभी तक गुरुकुल के सदाचार से शिक्षा ग्रहण करके अपने-आपको योगियों की नगरी नहीं बनाया, अतः स्वामीजी का लेख गालियाँ नहीं अपितु वृन्दावन की वर्त्तमान अवस्था का प्रदर्शक है। यदि आपने गालियाँ देखनी हों तो देखिए—

साक्षाज्जारश्च गोपीनां गोपोच्छिष्टान्नभोजनः। जातेश्च निर्णयो नास्ति भक्ष्यमैथुनयोस्तथा॥ २०॥
किन्नु राजेन्द्रपुत्रश्च किन्नु वा मुनिपुत्रकः। वसुदेवः क्षत्रियश्च भक्षणं वैश्यमन्दिरे॥ २१॥
शिशुकाले च स्त्रीहत्या कृतानेन दुरात्मना। कुब्जा मृता च सम्भोगाद्धासस रजको मृतः॥ २२॥

—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० १०६

इसका नाम गालियाँ हैं, जो पुराणों में श्रीकृष्णजी को दी गई हैं।

(६०१) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३२० में लिखा है कि "मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं है किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है"। बलिहारी है स्वामीजी के इस मधुर लेख और विज्ञान पर! —पृ० ३१, पं० १५

उत्तर—स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है, क्योंकि वेद कहता है कि—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपास्ते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳩरताः॥

—यजुः० ४०।९

यह मन्त्र स्पष्ट कह रहा है कि परमेश्वर के स्थान में प्रकृति अथवा प्रकृति से बने पदार्थ पत्थर, वृक्ष, जलादि को पूजनेवाला घोर नरक में जाता है। इसी का नाम वह खाई है कि जिसमें गिरकर चूर-चूर हो जाता है। स्वामीजी का यह लेख सर्वथा वेदानुकूल और सत्य है, गालियाँ नहीं हैं। गालियाँ तो ये हैं कि—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३॥

—श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० ८४

ये हैं गालियाँ, जहाँ मूर्त्तिपूजक को बैल और गधा लिखा गया है।

(६०२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३१६ में लिखा है "सुनो अन्धो! पूर्ण परमात्मा न आता है और न जाता है।" स्वामीजी का 'सुनो अन्धो!' यह लेख आर्यसमाजियों को सुनहरी अक्षरों में लिखकर अपने कमरों में लटकाना चाहिए। —पृ० ३१, पं० २४

उत्तर—परमात्मा को **'ईशावास्यम्'**—यजुः० ४०।१ तथा **'स पर्यगात्'**—यजुः० ४०।८ इत्यादि मन्त्रों में सर्वत्र परिपूर्ण, व्यापक वर्णन किया गया है। उसको आने-जानेवाला, एकदेशी

मानकर बुलाना अविद्या है। ऐसे अविद्यायुक्त मनुष्यों के लिए वेद कहता है कि—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते॥ —यजुः० १०।१२

यह मन्त्र स्पष्ट कह रहा है कि जो लोग अविद्या का आश्रय लेते हैं वे अत्यन्त अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् नेत्ररहित जन्मों को अथवा अज्ञानमय जन्मों को प्राप्त होते हैं। स्वामीजी का उपर्युक्त लेख सर्वथा वेदानुकूल है और आर्यसमाजियों को यह मन्त्र बेशक सुनहरी अक्षरों में लिखकर अपने कमरों में लटकाना चाहिए। इसका नाम गालियाँ नहीं है। गालियाँ इस प्रकार की होती हैं—

जटाभाराजिनैर्युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः॥६३॥
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥६४॥
षड् दर्शनमहाकूपे पतिताः पशवः खग॥७१॥
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियाः॥७५॥ —गरुड० प्रेत० अ० ४९

क्या अब भी आप गारी (गाली) और हितकारी में विवेक न कर सकेंगे?

(६०३) प्रश्न—स्वामीजी ने आर्याभिविनय के **'तमीशानम्'** इस मन्त्र के भाष्य में ईश्वर को बुलाया है। जब ईश्वर कहीं आते-जाते ही नहीं तो फिर इस मन्त्र में स्वामीजी ने ईश्वर का आह्वान क्यों किया?
—पृ० ३२, पं० १

उत्तर—आर्याभिविनय में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामीजी ने जो 'आह्वान करते हैं' लिखा है इसके भाव को यजुर्वेदभाष्य में इसी मन्त्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि '(हूमहे) स्तुति करते हैं' (यजुः० २५।१८) अतः सिद्ध हुआ कि स्वामीजी की परिभाषा में आह्वान करने के अर्थ स्तुति करने के हैं। ईश्वर को आने-जानेवाला, एकदेशी समझकर उसके बुलाने के अर्थ नहीं हैं।

(६०४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० २, पृ० २५ में लिखा है कि—'जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पाँच जूता, डण्डा वा चपेटा, लातें मारे तो उसके हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं'। आर्यसमाजियो! तुम बतलाओ कि स्वामीजी के ये शब्द कटु हैं या मधुर, सच्चे हैं या झूठे? क्या तुम इस बात पर तैयार हो कि जूते लगाकर हनुमान्, देवी और भैरव को भगा दो?
—पृ० ३२, पं० ६

उत्तर—जब आर्यसमाजी किसी मनुष्य के अन्दर हनुमान्, भैरव तथा देवी का प्रवेश करना मानते ही नहीं तो फिर उनको जूते मारकर भगाने का सवाल ही मिथ्या है, क्योंकि स्वामीजी ने उपर्युक्त पाठ के आगे ही लिखा है कि—'क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है'। स्वामीजी के ये शब्द जनता के लिए हितकारी हैं और सर्वथा सच्चे हैं। ऐसे लोगों को अवश्य ही दण्ड देना चाहिए कि जो लोगों को धोखा देकर ठगते हैं। इसके लिए वेद की आज्ञा है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
—यजुः० ४०।३

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि जो लोग आत्महत्या करते हैं, अर्थात् अपनी आत्मा के विरुद्ध चलकर लोगों को धोखा देते हैं, झूठ बोलते हैं, ठग्गी और मक्कारी करते हैं, वे इस जन्म में भी दुःख पाते हैं और मरने के पश्चात् भी ऐसे जन्म को प्राप्त होते हैं जो अन्धकार, अज्ञान से ढके हुए हैं। ऐसे ठगों को मरने पर परमात्मा तो दण्ड देगा ही, किन्तु जीते हुओं को भी जनता की ओर से अवश्य दण्ड मिलना चाहिए तभी वे इस जन्म में दुःख पा सकते हैं। गोया इस प्रकार आत्महत्यारे, झूठे, ठग, मक्कारों को दण्ड देना ईश्वर की आज्ञापालन करना ही है, अतः स्वामीजी

का लेख सर्वथा ईश्वर की आज्ञा-पालन करने का उपदेश करनेवाला है।

(६०५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११, पृ० ३५९ में लिखा है कि "जब उनसे दण्ड न पाया तो इनके कर्मों ने पुजारियों को बहुत-से मूर्त्ति-विरोधियों से प्रसादी दिला दी और अब भी मिलती है और जबतक इस कुकर्म को न छोड़ेंगे तबतक मिलेगी।" यहाँ पर स्वामीजी मूर्त्तिपूजा को कुकर्म और विदेशियों के द्वारा भारत के पददलित होने को प्रसादी लिखते हैं।
—पृ० ३२, पं० १३

उत्तर—जिस कर्म के करने की वेद आज्ञा देता है वह सुकर्म वा धर्म है और जिस कर्म के करने का वेद निषेध करता है वह कुकर्म वा अधर्म है। चूँकि वेद '**अन्धन्तमः**' इत्यादि यजुः० ४०।९ मन्त्र के द्वारा मूर्त्तिपूजा को नरक में ले-जाने योग्य पाप बतला रहा है, अतः स्वामीजी का मूर्त्तिपूजा को कुकर्म लिखना सोलह आने सत्य है। चूँकि कुकर्म का फल नरक, अर्थात् दुःख ही होता है, अतः भारतवासियों का पददलित होना मूर्त्तिपूजा का ही फल मिला है और जबतक मूर्त्तिपूजा को न छोड़ेंगे यह दुःख मिलता ही रहेगा। यहाँ प्रसादी शब्द लाक्षणिक रूप से दण्ड के अर्थों में वर्त्तमान है। यदि आप यह चाहते हैं कि यह फल आपको न मिले तो आप वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजारूप कुकर्म का परित्याग कर दें।

(६०६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३३१, में लिखा है कि "आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गधे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध दुःख पाते हैं"। आर्यसमाजियो! देखो स्वामीजी के क्या मधुर शब्द हैं! —पृ० ३२, पं० २५

उत्तर—भला! आप ही बतलावें कि जो लोग मूर्त्तियों की सहायता के आश्रय हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठे रहे और अब दासता में फँसकर दुःख पा रहे हैं, उनके लिए उपर्युक्त उपमा से नर्म और क्या उपमा दी जा सकती है? अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है।

(६०७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११, पृ० ३०५ में लिखा है कि—"उन निर्लज्जों को तनिक भी लज्जा न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं।" ईश्वरपूजक शंकर की स्थापना करनेवालों के लिए स्वामी दयानन्दजी के ये मधुर वचन हैं! —पृ० ३३, पं० ३

उत्तर—स्वामीजी के ये शब्द ईश्वरपूजकों के लिए नहीं अपितु महादेव के लिंग को पार्वती की योनि में स्थापना करके उसकी पूजा करानेवालों के लिए हैं। इस प्रकार मूत्रेन्द्रिय की पूजा करानेवालों को संसार में कौन भला मानस और शरीफ़ कह सकता है? अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है।

(६०८) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११, पृ० ३११ में लिखा है कि "अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जलावें।" क्या मधुर शब्द हैं! —पृ० ३३,पं० १६

उत्तर—जो लोग अपने शरीर पर दाग लगाकर मोक्ष होना मानते हैं, यहाँ पर स्वामीजी ने उनका खण्डन किया है। आपने पाठ को चुरा लिया है। पूरा पाठ इस प्रकार है—

"**तप्ततनूः**" इस प्रमाण से अग्नि ही से तपाना चक्रांकित लोग स्वीकार करें तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जलावें तो भी इस मन्त्र के अर्थ से विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषण आदि पवित्र कर्म करना तप लिया है"। अब समस्त पाठ को पढ़कर बतलाने की कृपा करें कि शंका क्या है?

(६०९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३४० में लिखा है कि—वाह रे वाह! भागवत के बनानेवाले लालबुझक्कड़! क्या कहना! तुझको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई। निपट अन्धा ही बन गया। भला! इन महा झूठ बातों को अन्धे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की

बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई? इन भागवतादि पुराणों के बनानेहारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये वा जन्मते समय मर क्यों न गये, क्योंकि इन पोपों से बचते तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता।'' व्यास के लिए यह गालियों का जंकशन लिखा गया है।

—पृ० ३३, पं० २१

उत्तर—प्रथम तो स्वामीजी व्यासजी को पुराणों का कर्त्ता ही नहीं मानते। देखिए स्वामीजी क्या लिखते हैं—

''जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी, परस्पर-विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यासजी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास-सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम [वेद-शास्त्र] विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान् पामरों का है।''

अतः सिद्ध हुआ कि स्वामीजी का यह लेख व्यासजी के लिए नहीं है।

दूसरे, आपने स्वामीजी के लेख के मध्य में से बहुत-सा लेख चुरा लिया है, जिससे आपका लेख स्वामीजी के अभिप्राय को प्रकट नहीं कर सकता। वह मध्य का लेख इस प्रकार है—

[निपट अन्धा ही बन गया] भला! स्त्री-पुरुष के रजवीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही है, परन्तु परमेश्वर के सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। और हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, गधा और वृक्षादि का स्त्री के गर्भाशय में स्थित होने का अवकाश भी कहाँ हो सकता है? और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने माँ-बाप को न खा गये और मनुष्य-शरीर से पशु-पक्षी, वृक्षादि का उत्पन्न होना क्योंकर सम्भव हो सकता है? धिक्कार है पोप और पोपरचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रक्खा है [भला इन महा झूठ बातों को] इतना पाठ आपने चुरा लिया है जो इन कोष्ट में दिये हुए दोनों वाक्यों के मध्य में है। स्वामीजी के पूरे लेख को पढ़कर समालोचना के विषय में कोई सन्देह नहीं रहता।

तीसरे, इस प्रकार के वाक्य आर्षग्रन्थों में प्रयुक्त होते आये हैं, जैसेकि धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा कि—

मासेऽ पतिष्यः पञ्चमे त्वं सुकृच्छ्रे न वा गर्भोऽ प्यभविष्यः पृथायाः।
तत्ते श्रेयो राजपुत्राभविष्यन्न चेत् संग्रामादपयानं दुरात्मन्॥ २१॥
धिक् गांडीवं धिक् च ते बाहूवीर्यमसंख्येयान् वाणगणाँश्च धिक् ते।
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते॥ २२॥

—[गीता० सं० में श्लोक संख्या० २९-३० है।—सं०]—महा० कर्ण० अ० ६८

कहिए महाराज! क्या स्वामीजी के शब्द धर्मपुत्र युधिष्ठिर से भी अधिक कठोर हैं, जिसके लेखक कि स्वयं व्यासजी हैं?

इससे सिद्ध है कि स्वामीजी का समस्त लेख गालियाँ नहीं, अपितु यथार्थ अवस्था का प्रकाशक है।

(६१०) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११, पृ० ३५६ में लिखा है कि—''उस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी मन में दया न आई, नहीं तो निर्जला का नाम सजला और पौष महीने की शुक्लपक्ष की एकादशी का नाम निर्जला रख देता''। इनके रचयिता विष्णु के

सत्रहवें अवतार भगवान् वेदव्यास हैं। उन्हीं के लिए कसाई पदवी दी गई है। यह दयानन्द की सभ्यता है! —पृ० ३५, पं० १

उत्तर—स्वामीजी के लेख में उपर्युक्त लेख से पूर्व निम्न लेख है कि—

''ज्येष्ठ महीने के शुक्लपक्ष में कि जिस समय एक घड़ीभर जल न पावे तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, व्रत करनेवालों को महादुःख प्राप्त होता है। विशेषकर बंगाले में सब विधवा स्त्रियों की एकादशी के दिन बड़ी दुर्दशा होती है''। अब इस लेख को पहले पढ़कर फिर अपने दिये हुए लेख को पढ़ने की कृपा करें तो आपको अनुभव होगा कि स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है।

स्वामीजी का यह लेख व्यासजी के लिए नहीं है, क्योंकि स्वामीजी पुराणों का लेखक व्यासजी को नहीं मानते।

आचार्यों की भावप्रधानता

(६११) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० १३४ में लिखा है कि—

''विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्।

नाना प्रकार के रत्न, सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवे''। स्वामी दयानन्दजी विरक्त थे। जब इनको धनलोलुपता ने घेरा तब स्वार्थसिद्धि के लिए मनु के श्लोक को काट-छाँटकर ऊपर लिखे अनुसार बना दिया। वह श्लोक मनु में इस प्रकार है—

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते॥ ६॥

—मनु० ११

स्वामीजी ने श्लोक ही लौट दिया। पाठ भी बदला और श्लोक का भाव भी बदला। ब्राह्मणों की बजाय संन्यासी को रत्न देने लिख दिये। —पृ० ३६, पं० २

उत्तर—श्रीमान्‌जी! आचार्य लोग भावप्रधान होते हैं, अर्थात् वह अपना पुस्तक लिखते हुए दूसरे आचार्यों की सम्मति का अपने शब्दों में वर्णन कर देते हैं। इससे उनकी नीयत पर शक नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो कुछ वे किसी आचार्य के नाम से लिखते हैं, उस आचार्य के ग्रन्थ में उस भाव का पाठ मौजूद होता है। अन्तर केवल शब्दों में होता है, भाव में अन्तर नहीं होता, जैसेकि व्यासजी ने मनु के नाम से निम्न श्लोक महाभारत में दिये हैं—

१. **स्वपत्नीप्रभवान् पञ्च लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान् ।**
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत् ॥ ९८॥ —महा० आदि० अ० ७४

२. **उत्तमाद्देवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३४॥**
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः। आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥ ३५॥
—महा० आदि० अ० १२०

३. **चातुर्वर्णस्य कर्माणि विहितानि स्वयंभुवा। धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन्न दुष्यति॥ ४॥**
अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत च। क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत्॥ ५॥
वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत्।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात्त्रिषु वर्णेषु नित्यशः। वंचनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमाश्रितः॥ ६॥
—महा० विराट० अ० ५०

४. **अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी। विषमौदुम्बरं शंखः स्वर्णनाभोऽथ रोचना॥ १०॥**
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्॥ ११॥ —महा० उद्योग० अ० ६८

५. **यो ददाति स्थितः स्थित्यां तादृशाय प्रतिग्रहम्। उभयोरक्षयं धर्म्यं तं मनुः प्राह धर्मवित्॥ ३२॥**

—महा० अनु० अ० ९८

६. हविर्यत् संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचिः। वेदोक्तेन प्रमाणेन पितॄणां प्रक्रियासु च॥५२॥
अतोऽन्यथा वृथामांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत्॥ ५३॥

—महा० अनु० ११५ [गीता० सं० में हटाया]

७. सत्याय हि यथा नेह जह्याद्धर्मफलं महत्। भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।

—महा० शान्ति० अ० २६६

८. आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना। धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत्॥ १९॥

—महा० शान्ति० अ० ५५

९. तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते। ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता॥
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान् वीराँस्तान् मनुरब्रवीत्॥ ३०॥ —महा० शान्ति० अ० ७८

१०. न केनचिद्याचितव्यः कश्चित् कस्यांचिदापदि। इति व्यवस्था भूतानां पुरास्तान्मनुना कृता॥ १६॥

—महा० शान्ति० अ० ८८

११. अपि चैतत् पुरा राजन् मनुना प्रोक्तमादिताः॥ १०॥
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना। प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः॥ ११॥
यथोक्तमेतद्वचनं प्रागेव मनुना पुरा॥ १२॥ —महा० शान्ति० अ० १२१

१२. माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः। सप्तराज्ञो गुनानेतान् मनुराह प्रजापतिः॥ १०२॥

—महा० शान्ति० अ० १३९

१३. अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम्। यथाश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत्॥ २७॥

—महा० शान्ति० अ० १५२

१४. प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ। राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु॥ ४२॥
षडेतान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे। अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥ ४३॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्। ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥ ४४॥

—महा० शान्ति० अ० ५७

१५. मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना। धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि॥ २३॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतःक्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥ २४॥
अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते। ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदति ते त्रयः॥ २५॥

—महा० शान्ति० अ० ५६

ये जितने श्लोक व्यासजी ने महाभारत में मनु के नाम से दिये हैं इनमें से प्रमाण नं० १५ में वर्त्तमान '**अद्भ्योऽग्निः**' इस श्लोक का पाठ तो मनु में हूबहू विद्यमान है, शेष कोई श्लोक हूबहू मनु में विद्यमान नहीं है। हाँ, इस अभिप्राय के प्रतिपादक श्लोक मनु में विद्यमान हैं। इससे व्यासजी की नीयत पर शक नहीं किया जा सकता कि उन्होंने किसी स्वार्थसिद्धि से श्लोकों का पाठ बदल दिया है, अपितु मानना पड़ेगा कि आचार्य ने मनु के भाव को अपने शब्दों में वर्णन कर दिया है। इसी प्रकार स्वामी दयानन्दजी ने भी मनु के "**धनानि तु यथाशक्ति**" इत्यादि श्लोक के भाव को अपने "**विविधानि च**" इत्यादि शब्दों द्वारा वर्णन किया है। इससे ऋषि दयानन्दजी की नीयत पर शक करना कि "उन्होंने स्वार्थवश पाठ बदल दिया है" पाजीपन नहीं तो और क्या है? स्वामीजी ने "**विविधानि च रत्नानि**" लिखा है, मनु के श्लोक में "धनानि" विद्यमान

है, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। और ''विविक्तेषु'' पद दोनों श्लोकों में विद्यमान है, अतः विवादास्पद पदों में तो कोई झगड़े की बात नहीं है। रही बात अर्थों की, सो धन और रत्न तो एक ही अर्थ के वाचक हैं। अब केवल ''विविक्त'' शब्द के अर्थों में ही मतभेद है आपने इसका अर्थ 'त्यागी ब्राह्मण' किया है और स्वामीजी ने इसका अर्थ 'संन्यासी' किया है। हमें तो इसमें भी मतभेद नज़र नहीं आता, क्योंकि त्यागी ब्राह्मण का नाम ही संन्यासी है, जैसेकि—

त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत्॥ १२॥ —महा० शान्ति० अ० १५२

''अर्थात् पवित्र ब्राह्मणों का त्यागधर्म स्वीकार करना ही संन्यास है।'' ऐसा मनुजी ने कहा है, अतः स्वामीजी का यह लेख सर्वथा सत्य है। अब रही यह बात कि संन्यासियों को धन ग्रहण करना चाहिए वा नहीं, सो स्वामीजी मानते हैं कि परोपकार और देशहित में लगाने के लिए संन्यासियों को अवश्य धन ग्रहण करना चाहिए और ऐसा करना वेदानुकूल है, जैसाकि—

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये। येना पतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥

—अथर्व० कां० २० सू० ९ मं० ३

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि संन्यासियों के लिए धन देना हितकारी है, अतः स्वामीजी का अर्थ सर्वथा वेदानुकूल है। यदि आप संन्यासियों को धन देना वेदविरुद्ध मानते हैं तो फिर आप लोग सोने की अंगूठी और जंजीर पहननेवाले, सूटिड बूटिड संन्यासियों को सनातनधर्म के उत्सवों पर रुपया-पैसा और दक्षिणा भेंट में क्यों देते हैं?

भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ४० में लिखा है कि—

सप्तव्याधकथा विप्रा मनुना परिकीर्त्तिता॥ २६॥

क्या कोई पौराणिक सात शिकारियों की कथा मनु से दिखा सकता है?

(६१२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ८, पृ० २२५ में लिखा है कि—

''**मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त**''—यह यजुर्वेद में लिखा है। क्या किसी आर्यसमाजी में इतनी हिम्मत है जो इन दोनों श्रुतियों को यजुर्वेद में दिखा दे?

—पृ० ३६, पं० ११

उत्तर—सत्यार्थप्रकाश में यह पाठ देकर लिखा है कि ''यह यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण में लिखा है'' सो अब विचार कीजिए कि ''ततो मनुष्या अजायन्त'' यह पाठ तो स्वामीजी के लेखानुसार हूबहू यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में १४।४।२।१ में विद्यमान है, जिसको आपने भी अपने पुस्तक में पृ० २३४ पर सृष्टिविषय में दिया है। आप ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते हैं, अतः यदि यह पाठ वेद के नाम से भी दर्ज होता तो भी आप कोई आक्षेप न कर सकते थे। अब रही बात ''**मनुष्या ऋषयश्च ये**'' की, सो यह स्वामीजी ने यजुर्वेद के ''**तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये**''—यजुः० ३१।९ इस मन्त्र का भाव अपने शब्दों में लिख दिया है। इसमें स्वामीजी ने 'साध्याः' के स्थान में 'मनुष्याः' लिख दिया है। और 'साध्याः' और 'मनुष्याः' ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं, जैसाकि महीधर ने भी लिखा है कि—

साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः।

प्रजापति प्रभृति जो सन्तान पैदा करने के योग्य हों, उनका नाम 'साध्याः' है।

अतः स्वामीजी ने यजुर्वेद के भाव को अपने शब्दों में वर्णन किया है और ऐसा करना सब आचार्यों की पुस्तकों में मिलता है, जैसाकि महाभारत में व्यासजी महाराज ने लिखा है कि—

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्॥ ६॥ —महा० आदि० अ० १०४

व्यासजी का यह लेख अथर्व० १८।३।२ का भाव ही अपने शब्दों में बयान किया हुआ

है। अथर्ववेद का पाठ है—

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदम्।

जैसे व्यासजी ने वेद के 'हस्तग्राभस्य' पाठ का अनुवाद 'पाणिग्राहस्य' कर दिया है वैसे ही स्वामीजी ने भी 'साध्याः' का अनुवाद 'मनुष्याः' कर दिया है। इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं, जैसेकि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

—मनु० २।१५

इस श्लोक में मनु ने—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ ३॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥ ४॥

—अथर्व० १९।५५

इन मन्त्रों का भाव अपने शब्दों में वर्णन किया है और

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान्। प्रपितामहाँस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥

—मनु० ३।२८४

मनु ने यह भी ''देवाः पितरः पितरो देवाः'' अथर्व० ६।१२३।३ के भाव का ही अपने शब्दों में वर्णन किया है। वरना क्या कोई सनातनधर्मी ऐसा मौजूद है जो मनु में श्रुति अर्थात् वेद के नाम से लिखे हुए दोनों श्लोकों को अक्षरशः वेद में से दिखलाने का साहस कर सके? ऐसे ही ग्रन्थों में अनेक पाठ वेद के नाम से दिये गये हैं, जैसेकि—

स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः॥ ७॥ —महा० आदि० अ० १९१

तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च॥ ७३॥ —महा० वन० अ० २

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः। अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः॥ ६॥

[पूना संस्करण अ० १९९, श्लो० ५।—सं०]—महा० वन० अ० २०७

अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः॥ ११॥ —महा० वन० अ० २०७

आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः। शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥ १३॥ —महा० उद्योग० अ० ३६

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ। नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः॥ १९॥

—महा० उद्योग० अ० ४८

त्वमित्युक्तो हि निहितो गुरुर्भवति भारत॥ ८३॥
अथर्वांगिरसी ह्येषा श्रुतिनामुत्तमा श्रुतिः॥ ८५॥ —महा० कर्ण० अ० ५९

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत्। एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः॥ २६॥

—महा० शान्ति० अ० ८

इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते। वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते॥ १८॥
अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद्यो हन्यादाततायिनम्। न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ १९॥

—महा० शान्ति० अ० ३४

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः। समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः॥ १८॥

—महा० शान्ति० अ० ३५

इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः॥ ४॥ —महा० शान्ति० अ० ६७

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ॥ १७ ॥ —महा० शान्ति० अ० ७९
दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ॥ २७ ॥ —महा० शान्ति० अ० ९०
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामविति श्रुतिः ॥ १२ ॥ —महा० शान्ति० अ० १६७
सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्या च ते श्रुतिः ॥ १० ॥ —महा० शान्ति० अ० १८०
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १६ ॥ —महा० शान्ति० अ० २६५
अजश्चाश्वश्च मेषश्च गोश्च पक्षिगणाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १८ ॥
तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ॥ १९ ॥
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्यांगमिति श्रुतिः ॥ २० ॥ —महा० शान्ति० अ० २६७
अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते ॥ ७ ॥ —महा० अनु० अ० १९
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः ॥ ११ ॥ —महा० अनु० अ० ४०
मन्त्रस्तु सामवेदोक्तोऽयातयामः सबीजकः ॥ ॐ श्री दुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नम इति ॥ ८ ॥
—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० २७

ॐ सर्वेश्वरेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहेति
अयं मन्त्रो महागूढः सर्वेषां कल्पपादपः । सामवेदे च कथितः सिद्धानां सर्वसिद्धिदः ॥ ३७ ॥
—ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० ७८

क्या कोई माई का लाल पौराणिक पण्डित पृथिवी पर है जो इन श्रुतियों को चारों वेदों में से निकालकर दिखावे?

(६१३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११, पृ० ३४३ में लिखा है "हिरण्याक्ष को वराह ने मारा। उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि यह पृथिवी को चटाई के समान लपेट सिरहाने धर सो गया। विष्णु ने वराह का स्वरूप धारण करके उसके शिर के नीचे से पृथिवी को मुख में धर लिया। वह उठा, दोनों की लड़ाई हुई, वराह ने हिरण्याकक्ष को मार डाला"। यह कथा श्रीमद्भागवत के नाम से लिखी गई है। इसका लिखना झूठ नहीं, वरना सफ़ेद झूठ है। हिरण्याक्ष ने न तो पृथिवी को उठाया और न चटाई की भाँति लपेटा एवं न वह पृथिवी को ले-गया। सब बातें झूठी हैं। —पृ० ३६, पं० २८

उत्तर—स्वामीजी ने यह कथा केवल भागवत को लक्ष्य में रखकर नहीं लिखी अपितु भागवतादि समस्त पुराणों को लक्ष्य में रखकर लिखी है, इसीलिए समीक्षा करते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि "पृथिवी को तो वराहजी ने मुख में रक्खा, फिर दोनों किसपर खड़े होकर लड़े? वहाँ तो और कोई ठहरने की जगह नहीं थी, किन्तु भागवतादि पुराण बनानेवाले पोपजी की छाती पर खड़े होके लड़े होंगे"। इसे सिद्ध है कि स्वामीजी का लक्ष्य समस्त पुराणों की समीक्षा है। और पुराणों में यह बात विद्यमान है, जैसाकि—

चतुर्मुखं प्रीणयित्वैव भक्त्या ह्यवध्यत्वं प्राप तस्मान्महात्मा।
ततो भूमिं करवद्वेष्टयित्वा निन्ये तदा दैत्यवर्यो महात्मा॥ २०॥

—गरुड० उत्तर० अ० २६

इस श्लोक से पृथिवी का लपेटना और उठाकर ले-जाना दोनों बातें सिद्ध हैं, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है। रही यह बात कि इस श्लोक में चटाई की भाँति लपेटना नहीं लिखा अपितु हाथ की भाँति लपेटना लिखा है। श्रीमान्‌जी! प्रथम तो यह प्रतीत होता है कि यहाँ पर "कट" के स्थान में भूल से "कर" छप गया है। यूँ भी हाथ की तरह लपेटने का मुहावरा

बोलचाल में नहीं है, बोलने में चटाई की तरह लपेटना ही आता है। दूसरे, यदि इसी पाठ को ठीक मान लिया जाए तो भी लपेटना तो विद्यमान है और स्वामीजी के प्रश्न इस स्थिति में भी ज्यों-के-त्यों अटल हैं। तीसरे, चटाई की भाँति पृथिवी का लपेटना सनातनधर्म में लिखा हुआ होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, देखिए—

शिविमौशीनरं चापि मृतं सृञ्जय शुश्रुम। य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत् परिवेष्टयत्॥ १॥

—महा० द्रोण० अ० ५८

य इमान् सकलाँल्लोकान् चर्मवत् परिवेष्टयत्। इच्छन् प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः॥ २६॥

—महा० द्रोण० अ० ११०

यहाँ पर चर्म नाम मृगछाला का है जो चटाई के स्थान में प्रयुक्त की जाती है।

यदि भागवत की कथा को देखा जावे तो भी स्वामीजी के आक्षेप अटल ही रहते हैं, जैसेकि आपने भागवत का श्लोक लिखा है कि—

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाहो वनगोचरो मृगः॥ २॥

—भागवत० स्कं० ३ अ० १८

तहाँ अपनी दाढ के अग्रभाग से पृथिवी को ऊपर निकालकर धारण करनेवाले, आस-पास के सकल वीरों को जीतनेवाले और नेत्रों की आरक्त कान्ति से हिरण्याक्ष के तेज को लुप्त करनेवाले तिन वराहरूप श्रीहरि को देखकर वह हिरण्याक्ष दैत्य हँसकर कहने लगा अहो! कैसा आश्चर्य है कि वन में विचरनेवाला यह मृग!॥ २॥

स्वामीजी का वह प्रश्न वैसे-का-वैसा बना हुआ है। जब वराह ने पृथिवी को दाँत पर रखा हुआ था तो वराहजी काहे पर खड़े हुए थे और हिरण्याक्ष किस चीज़ पर खड़ा था और लड़ाई किसपर हुई, इत्यादि, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है और हम यह कह सकते हैं कि भागवत की श्लोक संख्या (**तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥** भागवत स्कं० १२ अ० १३, श्लो० ९) अठारह हज़ार लिखी है, किन्तु वर्त्तमान भागवत में तेरह हज़ार के लगभग श्लोक मिलते हैं, अतः पृथिवी का चटाई की भाँति लपेटना तथा खंभे पर कीड़ियों का चलना उन पाँच हज़ार श्लोकों में था कि निजको आपने लुप्त कर दिया है।

(६१४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३४३ में लिखा है कि "तब वह (प्रह्लाद) अध्यापकों से कहता था मेरी पट्टी में राम-राम लिख देओ। जब उसके बाप ने सुना, उसने कहा तू हमारे शत्रु का भजन क्यों करता है? छोकरे ने न माना। तब उसके बाप ने उसको बाँधके पहाड़ से गिराया; कूप में डाला, परन्तु उसको कुछ न हुआ। तब उसने एक लोहे का खंभा आग में तपाके उससे बोला जो तेरा इष्टदेव राम सच्चा हो तो तू इसको पकड़ने से न जलेगा। प्रह्लाद पकड़ने को चला, मन में शंका हुई कि बचूँगा वा नहीं। नारायण ने उस खंभे पर छोटी-छोटी चींटियों की पंक्ति चलाई"। भागवत में यह कहीं नहीं लिखा कि प्रह्लाद कहता था मेरी पट्टी पर राम-राम लिख दो और न भागवत में खंभे का गरम करना लिखा है एवं न उसके ऊपर चींटियों का चलना। —पृ० ३८, पं० २६

उत्तर—हम प्रश्न नं० ६१३ के उत्तर में लिख आये हैं कि इस प्रकरण में स्वामीजी का लक्ष्य केवल भागवत की समालोचना करना ही नहीं है अपितु भागवतादि समस्त पौराणिक ग्रन्थों की समालोचना करना स्वामीजी का लक्ष्य है, जैसाकि स्वामीजी का लेख है कि—

"सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणी-मंगलादि और सर्वभाषाग्रन्थ—ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं"। —सत्यार्थ० समु० ३

अतः यहाँ पर स्वामीजी भागवत का खण्डन करते हुए तत्सम्बन्धी भाषाग्रन्थों में वर्त्तमान कथाओं का भी खण्डन करते हैं और पौराणिक भाषाग्रन्थों में यह चीज़ विद्यमान है और पौराणिक लोग अपने ड्रामों, नाटकों, सिनेमाओं में भी बड़े गर्व के साथ यह सीन दिखाते हैं। हम आपको पौराणिक भाषाग्रन्थों में से इस विषय में प्रमाण देते हैं, जैसेकि—

(१) ''बाल-प्रह्लाद'' ला० कृष्णचन्द्र ज़ेबाकृत पुस्तक में गरम खंभे पर चलती कीड़ी दिखलाकर लिखा है—''प्रह्लाद और जलता हुआ लोह-स्तम्भ! हैं! मैं यह क्या देख रहा हूँ! एक छोटी-सी कीड़ी इस गरम और जला देनेवाले स्तम्भ पर चलती है और नहीं जलती'॥

(२) गुजराती अखबार बम्बई ३-१०-२३ साप्ताहिक अंक पृ० १४८५ में लिखा है कि—''प्रह्लाद के लिए खंभे में कीड़ियों में ईश्वर का दर्शन''।

(३) 'सिलसिला धर्मप्रचार ट्रैक्ट नं० २—स्वामी बलीनाथजी योगीश्वर टिल्ला गुरुगोरखनाथकृत'—''कभी तो नर-नारायण होकर योगाभ्यास करता है और कभी च्यूँटीरूप रखकर लोहे के आग समान सुर्ख़ खंभे पर चलता हुआ दिखाई देता है''।

(४) ''प्रह्लादभक्त'' ला० लखपतरायकृत पृ० ६४—

''स्तून के ऊपर एक च्यूँटी चली जा रही थी, बस उसको देखकर प्रह्लाद का जोश बढ़ा''।

(५) ''मिलखी दा प्रह्लादभक्त''—

काफ़ कम इक सोचिया बुरा ज़ालिम। थम्म लोहे दा ताके लाल कीता॥
दिलों बहुत प्रह्लाद ने ख़ौफ खादा। जदों थम्म दी तरफ़ ख़याल कीता॥
कीड़ी चल्लदी थम्म ते नज़र आई। देके हौसला भक्त निहाल कीता॥
मिलखीराम जप्फा पाया दौड़के ते। ठण्डा-ठार चा दीनदयाल कीता॥

(६) ''राजकुमार प्रह्लाद'' श्रीयुत प्रेमीकृत—

''सिपाही जिस वक्त प्रह्लाद को खंभे से बाँधने के लिए खैंच रहे थे, प्रह्लाद को इस जलते हुए लोहे के बदन पर एक च्योंटी चलती हुई दिखाई दी'' ।

(७) ''प्रह्लादभक्त'' केशवचन्द्रकृत—

''जब थंभ के नज़दीक हुआ तो क्या देखता है कि उस लोहे के थंभ पर जो आग की तरह सुर्ख़ था, एक च्यूँटी फिर रही है''।

(८) ''कीर्तन प्रह्लादभक्त''स्वामी बलीनाथजी योगीश्वरकृत—

''जब प्रह्लाद ने खंभ निहारा। कीड़ी एक फिरे तिहवारा॥
कीड़ी देख प्रह्लाद आनन्दे। जले खंभ सों भेंटें कन्दे॥
जब प्रह्लादजी ने कीड़ी देखी लाल खंभ पर फिर रही तो खुश होकर खंभ को गले लगाने लगे।''

इत्यादि-इत्यादि सनातनधर्म के अनेक भाषाग्रन्थों में यह घटना भरी पड़ी है और राम नाम तो प्रह्लाद प्रत्येक कार्य में प्रयुक्त करते थे, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है। क्या पौराणिक लोगों में यह नैतिक साहस है कि वे उपर्युक्त ग्रन्थकर्त्ताओं पर मुकद्दमा चलाकर इस घटना को झूठी सिद्ध करके दिखावें?

(६१५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३४४ में लिखा है कि **''रथेन वायुवेगेन जगाम गोकुलं प्रति''** अक्रूरजी कंस के भेजने से वायु के वेग के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ पर बैठके सूर्योदय से चले, चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुँचे। अथवा घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे या मार्ग भूलकर भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े

हाँकनेवाले और अक्रूरजी आकर सो गये होंगे।

ऊपर लिखा हुआ आधा श्लोक भागवत में नहीं है। —पृ० ३९, पं० १६

उत्तर—भागवत में तो सब-कुछ विद्यमान है, किन्तु यदि आपको नज़र न आवे तो स्वामीजी का क्या क़ुसूर है। देखने की कृपा करें—

रथेन वायुवेगेन कालिंदीमघनाशिनीम्॥ —भागवत० स्क० १० अ० ३९ श्लो० ३९

इससे रथ का तेज़ चलनेवाला होना सिद्ध है।

उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ —भागवत० स्कं० १० अ० ३८ श्लो० १

इससे प्रात:काल चलना सिद्ध है।

रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप। —भा० स्कं० १० अ० ३८ श्लो० २४

इससे सायङ्काल पहुँचना सिद्ध है।

अब बतलाने की कृपा करें कि स्वामीजी ने क्या ग़लत लिखा है? '**रथेन वायुवेगेन**' यह पाठ तो हूबहू भागवत में मौजूद है और '**जगाम गोकुलं प्रति**' के स्थान में '**रथेन गोकुलं प्राप्तः**' और '**प्रययौ नन्दगोकुलम्**' विद्यमान है। 'गोकुलं' इन दोनों वाक्यों में विद्यमान है और 'जगाम' के स्थान में 'प्राप्त:' और 'प्रययौ' पड़े हुए हैं, जिनके अर्थ एक ही हैं।

स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य होने पर भी इससे इन्कार करना जनता को धोखा देना नहीं तो क्या है?

(६१६) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ३२७ में लिखा है कि—

'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः। सेतुबन्ध इति ख्यातम्॥ —वाल्मी० लंका०

यहाँ स्वामी ने वाल्मीकि के श्लोकों को छिपाकर केवल तिटंगा श्लोक लिखा है। पूरा श्लोक इसलिए नहीं लिखा कि हमारे जाल की कलई खुल जाएगी। वाल्मीकि का लेख यह है—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः। सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम्॥ २०॥
एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम्। अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः॥ २१॥

[प्रश्नकर्त्ता ने श्लोक आगे-पीछे कर दिये हैं। —सं० सर्ग १२३]—वाल्मी० युद्ध० अ० १२५

कहिए, स्वामीजी ने इन सब बातों को दबाकर तीन पाद का श्लोक लिख संसार को धोखे में डालने के लिए असत्य लिखने पर कमर बाँधी या नहीं? —पृ० ४१ पं० १

उत्तर—स्वामीजी ने संक्षेप करने के विचार से थोड़ा पाठ दिया है, वरना पूरे पाठ से भी रामेश्वर का स्थापित करना और रामचन्द्रजी का मूर्त्तिपूजा करना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह पाठ उस समय का है जब राम लंका को विजय करके विमान पर चढ़कर अयोध्या को वापस जा रहे थे और सीता को पृथिवी के पदार्थ दिखा रहे थे। यदि उस स्थान में रामेश्वर की स्थापना करके राम ने उसकी पूजा की होती तो पुल बाँधकर लंका पर चढ़ाई करने के समय उसका वर्णन आना चाहिए था, किन्तु उस स्थान में वाल्मीकि रामायण में रामेश्वर के स्थापन करने और उसकी पूजा का चिह्न भी नहीं है। जब जाते हुए ही उसका अभाव है तो आते हुए उसकी मौजूदगी की कल्पना करना महज़ पागलपन है। हाँ, यहाँ पर उस पुल का वर्णन अवश्य है जिसे बाँधकर राम ने लंका को विजय किया और इन श्लोकों में उसी पुल की स्तुति वर्णन की गई है। इन श्लोकों का अर्थ यथार्थरूप से इस प्रकार है कि—

''यह जो विस्तृत समुद्र के तरानेवाला पुल दीख रहा है इसका नाम सेतुबन्ध प्रसिद्ध है, यह सारे संसार से स्तुति करने के योग्य है।

यह पुल परमपवित्र है और महापातकी रावण के नाश करनेवाला है। यहाँ पर पूर्व अर्थात्

जाते समय व्यापक परमात्मा ने हमपर कृपा की, जिससे हम इस पुल के बाँधने में समर्थ हो सके॥ २१॥'' यह अभिप्राय है।

कहिए महाराज! इसमें स्वामीजी ने क्या झूठ लिखा है? क्या किसी पौराणिक में दम है कि इस लेख से शिवलिंग की पूजा सिद्ध कर सके?

(६१७) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३६९ में लिखा है कि—

वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानी।

सन्त की महिमा वेद न जाने।

नानक ब्रह्म ज्ञानी आप परमेश्वर।

स्वामीजी का लिखा हुआ यह पाठ सुखमनी में नहीं है। स्वामी दयानन्दजी ने झूठ लिखा है। —पृ० ४२, पं० ५

उत्तर—स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है वह गुरुग्रन्थ साहिब का भाव लेकर लिखा है, जैसाकि—

(१) वेद पढ़त ब्रह्मा मरे (सत्यार्थप्रकाश)

वेद पढ़े पढ़े ब्रहमे जन्म गँवाया॥ १॥

—आसा श्री कबीरजी की बाणी। भक्ताँ दी बाणी।

—पृ० ९९ कैक्स्टन प्रेस, अनारकली, लाहौर।

यहाँ पर थोड़ा-सा पाठभेद तो है, परन्तु अभिप्राय में कोई भेद नहीं है।

(२) चारों वेद कहानी। —सत्यार्थप्रकाश

वेद कतेब इफ़तरा भाई, दिल का फिकर न जाई॥ १॥

—तिलंग बाणी कबीरजी दी। भक्तां दी बाणी पृ० १८०,
कैक्स्टन प्रेस, अनारकली, लाहौर।

यहाँ पर इफ़तरा नाम झूठी कहानियों का है।

साम कहे सेतम्बर स्वामी सच में आछे साच रहे।
सभ को साच समावे। ऋग् कहे रहा भरपूर।
राम नाम देवा में सूर। नां लये पराछित जाहि।
नानक तउ मोखंतर पाहि। यजु में जोरि छली चन्द्रावल कान्ह कृष्ण यादव भये।
पार जात गोपी लै आया विन्द्रावन में रंग किया।
कलि मांहि वेद अथर्वन हुआ नाम खुदाई अल्ला भया।
नील वस्त्र लै कपड़े पहरे तुर्क पठानी अमल किया॥ —आसा दी वार १३

यहाँ पर वेदों को कहानियाँ ही बतलाया गया है।

(३) सन्त की महिमा वेद न जाने। —सत्यार्थप्रकाश

साध की महिमा वेद न जाने। —सुखमनी ७८

यहाँ पर सन्त के स्थान में साध है, अर्थ एक ही है।

(४) नानक ब्रह्म ज्ञानी आप परमेश्वर। —सत्यार्थप्रकाश

नानक ब्रह्म ज्ञानी आप परमेश्वर। —सुखमनी ८६

यहाँ पर अक्षरशः एक ही पाठ है।

अब बतलाने की कृपा करें कि स्वामीजी ने क्या झूठ लिखा है? इसे साफ़ सिद्ध है कि

स्वामीजी के सम्पूर्ण लेख सर्वथा सत्य हैं। हाँ, अन्य आचार्यों की भाँति स्वामीजी ने पुस्तकों का भाव अपने शब्दों में रख दिया है। शब्दों में चाहे फर्क़ हो, किन्तु अर्थ में फर्क़ नहीं है, इससे स्वामीजी की नीयत पर शक नहीं किया जा सकता और स्वामीजी के किये हुए आक्षेपों का भी कोई समाधान नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने तो जो कुछ लिखा है उस अभिप्राय का पाठ ग्रन्थसाहिब में मौजूद है, किन्तु ग्रन्थसाहिब में जो वेदों के विषय में लिखा है वह वेदों से नहीं दिखाया जा सकता, जैसेकि साम में श्वेताम्बर स्वामी का वर्णन, ऋग्वेद में राम नाम स्मरण की आज्ञा, यजुर्वेद में चन्द्रावल का जबरन हरण करना, कृष्ण का गोपियों से रमण करना तथा अथर्ववेद में अल्ला का वर्णन तथा नीले वस्त्र पहनने की आज्ञा और मुसलमानों के राज का वर्णन नहीं दिखाया जा सकता तथा चारों वेदों का चार युगों में प्रकट होना भी ग़लत है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थसाहिब में लिखा है कि—

गेंडे मार होम यज्ञ कीना देवतियाँ दी बाणी।

क्या किसी भी वेद में गेंडे मारकर हवन करना दिखाया जा सका है? कदापि नहीं, अत: स्वामीजी ने जो ग्रन्थसाहिब के विषय में लिखा है, वह सर्वथा सत्य तथा ग्रन्थसाहिब में जो वेदों के विषय में लिखा है वह क़तई ग़लत है।

किन्तु आप यह तो बतलावें कि आपको सिक्खों का वकील किसने बनाया है? यदि ज़रूरत हुई तो सिक्ख हमसे पूछ लेंगे। आप कौन होते हैं? ''मान-न-मान मैं तेरा महमान'', ''मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त'' ये दोनों लोकोक्तियाँ आपपर ही घटित होती हैं। और फिर आपके यहाँ तो सिक्खों के गुरु नानकदेवजी के विषय में अत्यन्त ही झूठ लिखा हुआ है, जैसेकि—

प्रत्यूषश्चैव पांचाले वैश्यजात्यां समुद्भवः। मार्गपालस्य तनयो नानको नाम विश्रुतः॥ ८६॥
रामानन्दं समागम्य शिष्यो भूत्वा स नानकः। स वै म्लेच्छान् वशीकृत्य सूक्ष्ममार्गमदर्शयत्॥ ८७॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४ अ० १७

भाषार्थ—प्रभातकाल में पंजाब देश में वैश्य जाति में एक चौकीदार के पुत्र नानक नाम से मशहूर पैदा हुए॥ ८६॥ वह नानक रामानन्द के पास जाकर उसका शिष्य बनकर मुसलमानों को वश में करके उनको सूक्ष्म मार्ग दिखाने लगे॥ ८७॥

इस लेख में निम्नलिखित सुफ़ेद झूठ हैं—

(१) गुरु नानकजी वैश्यजाति में पैदा नहीं हुए, अपितु उनका पिता कालू खतरी (क्षत्रिय) था।

(२) उनका पिता चौकीदार न था अपितु दुकानदार था।

(३) गुरु नानकजी कभी भी रामानन्द के चेले नहीं बने।

क्या कोई पौराणिक वीर किसी पौराणिक जननी ने पैदा किया है जो उपर्युक्त बातों को सिक्ख इतिहास से सिद्ध करके दिखा सके?

आचार्यों का मन्त्र-निर्माणाधिकार

(६१८) प्रश्न—ब्राह्मण और अनेक संहिताओं को स्वामीजी ने वेद नहीं रक्खा। ऐसा लिखने पर केवल चार किताब रह गईं। इनमें पूरे मन्त्र नहीं। इस कारण स्वामी दयानन्दजी अपने-आप बनावटी, जाली मन्त्र बनाकर आर्यसमाजियों को यह समझा देते हैं कि देखो बेटाओ, ये मन्त्र हैं।

—पृ० १४१, पं० २०

उत्तर—कहिए महाराज! स्वामीजी तो ब्राह्मणग्रन्थों और अनेक शाखाओं को वेद नहीं मानते थे, किन्तु आपके आचार्य आश्वलायन, पारस्कर, गोभिल, व्यास आदि तो आपके खयाल में

ब्राह्मणग्रन्थों और शाखाओं को वेद मानते थे। फिर उन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेक मन्त्र बनाकर क्यों रखे हैं? वास्तव में बात यह है कि प्रत्येक आचार्य को यह हक़ प्राप्त है कि वह कर्मकाण्ड में प्रयोग करने के लिए मन्त्रों का निर्माण कर सके। शर्त यह है कि उन मन्त्रों की शिक्षा वेद के विरुद्ध न हो। इस अधिकार का सब आचार्यों की भाँति स्वामी दयानन्दजी ने भी प्रयोग किया है, जैसाकि हम आगे चलकर बतलाएँगे। इस बारे में प्रमाण भी है कि—

ऋचो यजूꣳषि सामानि निगदा मन्त्राः। —कात्यायनश्रौतसूत्र १।३।१

अर्थ—चारों वेद के तथा आचार्यों से कर्मकाण्ड में कहे सरल वाक्य 'मन्त्र' कहाते हैं।

(६११) प्रश्न—सन्ध्या में जो **'ओं वाक् वाक्'** इत्यादि मन्त्र स्वामीजी ने दिया है, कृपा कर आर्यसमाजी बतलावें कि यह मन्त्र कौन-से वेद का है? —१४२, पं० १

उत्तर—सन्ध्या में इस मन्त्र को एक मन्त्र नहीं लिखा, अपितु लिखा है कि—**'इन्द्रियस्पर्शमन्त्राः'** इस लेख से सिद्ध है कि ये अनेक मन्त्र हैं और ये पूर्व आचार्यों ने कर्मकाण्ड में प्रयुक्त करने के लिए वेदमन्त्रों का आशय लेकर निर्माण किये हैं और वे मन्त्र इस प्रकार से हैं—

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुश्चक्षुः।
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः।
ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे।

जिन वेदमन्त्रों का भाव लेकर ये मन्त्र निर्माण किये गये हैं, वे वेदमन्त्र ये हैं—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अंगुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽ ङ्गानि सर्वतः॥८॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽ पचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥९॥ —यजुः० २०

इन मन्त्रों को पढ़ने से आपको ज्ञात हो गया होगा कि विवादास्पद मन्त्र सर्वथा इन वेदमन्त्रों का अनुवादमात्र हैं। स्वामीजी ने इन्द्रियस्पर्श के इन 'वाक् वाक्' आदि मन्त्रों को कहीं भी वेद के नाम से नहीं लिखा। फिर आपका यह प्रश्न करना कि यह कौन-से वेद का मन्त्र है, सर्वथा अनुचित है। हाँ, ये मन्त्र सर्वथा वेदानुकूल हैं। क्या कोई जीता-जागता पौराणिक पण्डित संसार में विद्यमान है जो इन मन्त्रों को वेदविरुद्ध सिद्ध कर सके? ये मन्त्र स्वामीजी के अपने कल्पित नहीं हैं, अपितु आपके कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं। इस समय हमारे सामने आपके कर्मकाण्ड का ग्रन्थ 'चतुर्विंशतिगायत्री' विद्यमान है, जोकि महेशप्रसाद द्वारा सत्यनाम प्रेस, बनारस सिटी में छपा है। इस ग्रन्थ में पृ० २ पर ये मन्त्र इस प्रकार से विद्यमान हैं—

ओं वाक् वाक्, ओं प्राणः प्राणः, ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओं नाभौ। ओं कण्ठे। ओं शिरसि। ओं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

तथा 'यजुर्वेदीय त्रिकाल सन्ध्या' बम्बई पुस्तक एजेंसी १९५।१ हरिसन रोड, कलकत्ता में ये मन्त्र हूबहू पृष्ठ ६ पर दिये गये हैं। इत्यादि-इत्यादि।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी ने इन मन्त्रों को वेदानुकूल समझकर सन्ध्या में रख दिया है। आपके विचार से यदि वेद के मन्त्र ही सन्ध्या में लगाये जा सकते हैं तो आप कृपया बतलावें

कि आपकी सन्ध्या में जो मन्त्र आता है कि—

ओं सूर्यश्च मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः। पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद्रात्र्या पापमाकार्षम्। मनसा वाचा हस्ताभ्याम्। पद्भ्यामुदरेण शिश्ना। रात्रिस्तदवलुम्पतु। यत्किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।

—पञ्चमहायज्ञविधिः, निर्णयसागर छापाखाना बम्बई।
पण्डित बल्लभरामजीकृत भाषा, संवत् १९६९ सन् १९१३

कृपया बतलावें कि चारों वेदों में से यह कौन-से वेद का मन्त्र है और चतुर्विंशतिगायत्री में जो—

ओं वृषभानुजायै विद्महे कृष्णप्रियायै धीमहि। तन्नो राधा प्रचोदयात्॥ ७॥

यह राधागायत्री किस वेद में आती है? क्या कोई पौराणिक पण्डित इस राधागायत्री को वेदानुकूल सिद्ध करने का साहस करेगा?

(६२०) प्रश्न—स्वामीजी ने सन्ध्या में जो 'ओं भूः पुनातु शिरसि' इत्यादि मन्त्र दिया है, यह मन्त्र कौन-से वेद का है? —पृ० १४२, पं० १६

उत्तर—आपका यह पूछना व्यर्थ है कि 'यह मन्त्र कौन-से वेद का है' क्योंकि स्वामीजी ने ये मन्त्र भी सन्ध्या में वेद के नाम से नहीं दिये। चूँकि ये मन्त्र वेदानुकूल थे, अतः उन्होंने इन मन्त्रों को सन्ध्या में प्रयुक्त किया, जैसाकि—

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

ये मन्त्र वेद के निम्न मन्त्रों के अनुकूल हैं—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ १॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ २॥

—अथर्व० १९।६०

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिन्ते शुन्धामि मेढ्रन्ते शुन्धामि पायुन्ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि॥ १४॥ —यजुः० ६।१४

इन मन्त्रों को पढ़कर आपको निश्चय हो गया होगा कि विवादास्पद मन्त्र केवल इन मन्त्रों का अनुवादमात्र हैं। अतः **'भूः पुनातु शिरसि'** इत्यादि मन्त्र सर्वथा वेदानुकूल हैं तथा 'यजुर्वेदीय त्रिकाल सन्ध्या' बम्बई पुस्तक एजेंसी १९५।१ हरिसन रोड, कलकत्ता में ये मन्त्र हूबहू पृष्ठ ७ पर विद्यमान हैं। क्या कोई जीता-जागता पौराणिक पण्डित पृथिवी पर मौजूद है जो इन मन्त्रों को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए मैदान में आये? आर्यसमाज की सन्ध्या वैदिक है, क्योंकि उसमें मौजूद मन्त्र वेदानुकूल हैं। यदि आपके विचार से मन्त्र वेद के ही होते हैं तो आप बतलावें कि आपकी सन्ध्या में जो—

ओं आपः पुनन्तु पृथिवीम्पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्॥ यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहꣳस्वाहा॥

—पञ्चमहायज्ञविधि, यथापूर्वम्

यह मन्त्र विद्यमान है और चतुर्विंशतिगायत्री में जो—

ओं तत्पुरुषाय विद्महे स्वर्णपक्षाय धीमहि। तन्नो गरुडः प्रचोदयात्॥ १४॥

यह गरुडगायत्री लिखी है, ये दोनों मन्त्र किस वेद के हैं? क्या किसी पौराणिक में साहस है कि वह गरुडगायत्री को वेदानुकूल सिद्ध कर सके?

(६२१) प्रश्न—स्वामी दयानन्द ने जो देवतर्पण में सत्यार्थप्रकाश पृ० ९७ पर "**ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्**" इत्यादि चार मन्त्र लिखे हैं, ये किस वेद के हैं?

—पृ० १४२, पं० २४

उत्तर—स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्॥

'**विद्वाꣳसो हि देवाः**' यह शतपथब्राह्मण (३।७।३।१०) का वचन है—जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जाननेवाले हों उनका नाम ब्रह्मा, और जो न्यून पढ़े हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी जो सेवा करना है, उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है। स्वामीजी का यह सम्पूर्ण लेख सर्वथा वेदानुकूल है, जैसाकि—

आ वो देवास ईमहे वामम्प्रयत्यध्वरे। आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे॥

—यजुः० ४।५

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। सा देवि देवममच्छेहीन्द्राय सोमꣳरुद्रास्त्वा वर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥ —यजुः० ४।२०

इत्यादि मन्त्रों को देखने से पता लगता है कि स्वामीजी के लिखे मन्त्र हूबहू इन वेदमन्त्रों का अनुवाद ही हैं। क्या किसी पौराणिक रमणी ने कोई ऐसा वीर पुत्र पैदा किया है जो स्वामीजी के लिखे मन्त्रों को वेदविरुद्ध सिद्ध कर सके? ये मन्त्र स्वामीजी के ही कल्पित नहीं हैं, अपितु पूर्व आचार्यों के बनाये मन्त्रों की केवल प्रतिलिपिमात्र ही हैं, जैसाकि आपकी पञ्चमहायज्ञविधि में भी ये मन्त्र विद्यमान हैं—

ओं विश्वेदेवास्तृप्यन्ताम्। ओं ब्रह्मा तृप्यताम्। ओं रुद्रस्तृप्यताम्।
ओं प्रजापतिस्तृप्यन्ताम्। ओं पुराणाचार्यास्तृप्यन्ताम्। ओं इतराचार्यास्तृप्यन्ताम्।
ओं देव्यस्तृप्यन्ताम्। ओं देवानुगास्तृप्यन्ताम्। ओं मनुष्यास्तृप्यन्ताम्।

—पञ्चमहायज्ञविधि, देवतर्पण

हाँ, आपकी पञ्चमहायज्ञविधि में वेदविरुद्ध देवतर्पण के मन्त्र मौजूद हैं, जैसाकि—

ओं दुर्मुखास्तृप्यन्ताम्। ओं विघ्नकर्तारस्तृप्यन्ताम्। ओं यक्षास्तृप्यन्ताम्।
ओं रक्षांसि तृप्यन्ताम्। ओं पिशाचास्तृप्यन्ताम्।

क्या कोई पौराणिक इन देवतर्पण के मन्त्रों को वेदानुकूल सिद्ध करने में समर्थ है?

(६२२) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ९७ में ऋषितर्पण लिखते हुए जो "**ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्**" इत्यादि चार मन्त्र लिखे हैं, ये किस वेद के हैं? —पृ० १४३, पं० ८

उत्तर—स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—

"ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियाँ कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान जो उनके सेवक

हों, उनका सेवन और सत्कार करना ऋषितर्पण है"।

स्वामीजी का उपर्युक्त लेख सर्वथा वेदानुकूल है, जैसाकि—

ऋषिभ्यः स्वाहा॥ —अथर्व० १९।२२।१४

ऋषिर्विप्रः पुर एता जनानामृभुर्धीर काव्येन॥

—साम० उत्तर० प्र० १ अर्धप्र० १ मं० १०

ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम्॥

—साम० उत्तर० प्र० ५ अर्द्धप्र० १ मं० १

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यम्॥ —ऋ० १।११७।३

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येकः॥ —ऋ० ८।६।४१

इत्यादि वेदमन्त्रों के देखने से पता लगता है कि स्वामीजी का लेख इन वेदमन्त्रों के सर्वथा अनुकूल है। यदि दम हो तो कोई पौराणिक पण्डित स्वामीजी के मन्त्रों को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए मैदान में आये!

ये मन्त्र वेद के नहीं हैं और न ही स्वामीजी ने इनका वेद के नाम से उल्लेख किया है। हाँ, ये मन्त्र वेद के अनुकूल हैं। ये मन्त्र केवल स्वामीजी ने ही नहीं लिखे, अपितु आपकी पञ्चमहायज्ञविधि के ऋषितर्पण में भी इस प्रकार के मन्त्र मौजूद हैं, जैसेकि—

ओं मरीचिस्तृप्यताम्। ओं अत्रिस्तृप्यताम्। ओं अंगिरास्तृप्यताम्। ओं पुलस्त्यस्तृप्यताम्। ओं पुलहस्तृप्यताम्। ओं क्रतुस्तृप्यताम्॥ ओं प्रचेतास्तृप्यताम्। ओं वसिष्ठस्तृप्यताम्। ओं भृगुस्तृप्यताम्। ओं नारदस्तृप्यताम्॥

कृपया आप बतलावें कि ये कौन-से वेद के मन्त्र हैं? अतः हमारा पक्ष ठीक है कि आचार्यों को यह हक़ है कि वे कर्मकाण्ड में प्रयुक्त करने के लिए मन्त्र बना सकते हैं बशर्ते कि वे वेद के विरुद्ध न हों। इसी हक़ का ऋषि दयानन्दजी ने प्रयोग करते हुए ये देवतर्पण, ऋषितर्पण, तथा पितृतर्पण के मन्त्र लिखे हैं, जोकि सर्वथा वेदानुकूल हैं।

(६२३) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ९८ में पितृतर्पण लिखते हुए "**ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्**" इत्यादि जो १७ मन्त्र लिखे हैं, ये किस वेद के मन्त्र हैं?

—पृ० १४३, पं० १८

उत्तर—ये वेद के मन्त्र नहीं हैं, न वेद के नाम से स्वामीजी ने इनको कहीं लिखा है। हाँ, ये ऋषिकृत वेदानुकूल मन्त्र हैं। स्वामीजी का लेख इस प्रकार है—

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम्। यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि। मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि। प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि। स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि॥ इति पितृतर्पणम्॥ "ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः" जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों वे सोमसद्। "**यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः**" जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेहारे हों वे अग्निष्वात्त। "**ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः**" जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे बर्हिषद्। "**ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः**" जो ऐश्वर्य के

रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक ओषधों को देके रोगनाशक हों वे सोमपा। '**ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः**' जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज। '**य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः**' जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत-दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों वे आज्यपाः। "**शोभनः कालो विद्यते येषां ते सुकालिनः**" जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो वे सुकालिन्। "**ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः**" जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों वे यम। "**यः पाति स पिता**" जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह पिता। "**पितुः पिता पितामहः पितामहस्य पिता प्रपितामहः**" जो पिता का पिता हो वह पितामह और जो पितामह का पिता हो वह प्रपितामह। "**या मानयति सा माता**" जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान करे वह माता। "**या पितुर्माता सा पितामही पितामहस्य माता प्रपितामही**" जो पिता की माता हो वह पितामही और जो पितामह की माता वह प्रपितामही। अपनी स्त्री तथा भगिनी-सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना, अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनकी आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।

स्वामीजी का यह लेख सर्वथा वेदानुकूल है, जैसेकि—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥

—यजुः० २।३४

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥　—यजुः० १९।५८
बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्॥　—यजुः० १९।५५
पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्य स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः शुन्धध्वम्॥

—यजुः० १९।३६

इत्यादि अनेक मन्त्रों के पढ़ने से पता लगता है कि स्वामीजी के लिखे हुए मन्त्र मात्र इस प्रकार के वेदमन्त्रों का अनुवाद ही हैं।

ये मन्त्र स्वामीजी ने ही कल्पित नहीं किये, अपितु आपकी 'पञ्चमहायज्ञविधि' के अन्दर भी पितृतर्पणप्रकरण में इस प्रकार के मन्त्र विद्यमान हैं, जैसेकि—

सोमस्तृप्यताम् यमस्तृप्यताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपा पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अमुकगोत्रः अस्मत्पिता अमुकशर्मावसुरूपस्तृप्यताम्। अमुकगोत्रः अस्मत्पितामहः। अमुकगोत्रः अस्मत्प्रपितामहः। अमुकगोत्रा अस्मन्माता। अमुकगोत्रा अस्मत्पितामही। अमुकगोत्रा अस्मत्प्रपितामही। अमुकगोत्रा अस्मत्पत्नी। अमुकगोत्राः अस्मत्सुतः। अमुकगोत्रः अस्मत् श्वसुरः, गुरुः, शिष्य, मित्रः, आप्तः, भ्राता, सम्बन्धी, सगोत्रः, तृप्यताम्॥

इत्यादि। आप बतलावें कि ये कौन-से वेद के मन्त्र हैं?

(६२४) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० ९९ में "**ओं अग्नये स्वाहा**" इत्यादि १० मन्त्र दिये हैं। ये मन्त्र वेद के नहीं हैं, किन्तु यहाँ पर यह गृह्य क्यों माना? न वेद में वैश्वदेव का विधान है और न उसके मन्त्र।　—पृ० १४५, पं० २६

उत्तर—यह ठीक है कि ये वेद के मन्त्र नहीं हैं। स्वामीजी ने इनको वेद के नाम से लिखा भी नहीं। आपने इस बात को स्वयं स्वीकार कर लिया है कि ये मन्त्र गृह्यसूत्र में विद्यमान हैं। तो क्या गृह्यसूत्र वेद के विरुद्ध है? यदि विरुद्ध है तो वह आपको कैसे प्रमाण है? और यदि अनुकूल है तो स्वामीजी के इन मन्त्रों के देने पर आपको शंका क्यों है? देखिए, वेद में वैश्वदेव का विधान विद्यमान है, जैसेकि—

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि॥ —यजुः० ४।१८

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः॥ —यजुः० १९।४४

इन मन्त्रों में वैश्वदेव का विधान विद्यमान है। इसकी व्याख्या मनुजी महाराज ने की है, जैसाकि—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्। आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ ८४॥
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः। विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥ ८५॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च। सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः॥ ८६॥

—मनु० ३

''स्वाहाकारप्रदानहोमः'' इति कात्यायनस्मरणादादौ, अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेति निरपेक्षदेवताकं होमद्वयं कृत्वा अग्निषोमाभ्यां स्वाहेति समस्तदेवताकं होमं कुर्यात्। ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो धन्वन्तरये कुह्वै अनुमत्यै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्याम् अग्नये स्विष्टकृते इत्येवं स्वाहाकारान्तान् होमान् कुर्यात्। —कुल्लूकभट्ट

इन मनु के श्लोकों की आज्ञानुसार कुल्लूकभट्ट ने मन्त्र बनाकर अपनी टीका में रख दिये हैं। इस वेद तथा मनु की आज्ञानुसार ही स्वामीजी ने लिखा है कि—

''जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो उसका दिव्य गुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे—

ओं अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्निषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वहा। प्रजापतये स्वाहा। सहद्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा॥

'इन प्रत्येक मन्त्र से एक-एक बार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़ें'। इससे सिद्ध है कि स्वामीजी का लेख वेद, मनुस्मृति और गृह्यसूत्रों के अनुकूल है। क्या कोई पौराणिक पण्डित स्वामीजी के इस लेख को वेदविरुद्ध सिद्ध करने का साहस कर सकता है?

(६२५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश पृ० १०० में जो **'ओं सानुगायेन्द्राय नमः'** इत्यादि १५ मन्त्र दिये हैं वे किस वेद के मन्त्र हैं? —पृ० १४६, पं० १०

उत्तर—न स्वामीजी ने इनको वेद के नाम से लिखा है और न ये वेद के मन्त्र हैं। हाँ, ये ऋषिकृत तथा वेदानुकूल मन्त्र हैं। वेद की आज्ञा है कि—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।
रायस्पोषेण समिषामदन्तो मा तेऽ अग्ने प्रतिवेषा रिषाम॥ —अथर्व० १९।५५।७

यह वेदमन्त्र बलिवैश्वदेव की आज्ञा देता है। इसपर मनुजी महाराज ने वेदानुकूल विधि लिखी है कि—

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्। इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्॥ ८७॥
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि। वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥ ८८॥
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः। ब्रह्मवास्तोषपतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥ ८९॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च॥ ९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये। पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ ९१॥

—मनु० ३

प्राच्यामिन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। दक्षिणस्यां यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। पश्चिमायां वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। उत्तरस्यां सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः। मरुद्भ्यो नम इति द्वारे बलिं दद्यात्। जले अद्भ्य इति। मुसलोलूखले वनस्पतिभ्य इति बलिं दद्यात्। उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रियै बलिं दद्यात्। दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकाल्यै। ब्रह्मणे वास्तोषपतय इति गृहमध्ये। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम इति गृहाकाशे बलिं दद्यात्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्य इति दिवा। नक्तञ्चारिभ्य इति नक्तम्। भूभागे वा तत्र सर्वात्मभूतये नम इत्येव बलिं दद्यात्। अवशिष्टं सर्वमन्नं दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखः स्वधापितृभ्य इति बलिं हरेत्। —कुल्लूकभट्ट

वेद और मनु का अनुकरण करते हुए ही स्वामीजी ने यह विधि लिखी है कि—

'थाली अथवा भूमि में पत्ता रखके पूर्वदिशादि क्रमानुसार यथाक्रम इन मन्त्रों से भाग रखे। **ओं सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः। सानुगाय वरुणाय नमः। सानुगाय सोमाय नमः। मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः। श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः। वास्तुपतये नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः।**

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इससे साफ़ सिद्ध है कि स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

ऋषि दयानन्दजी और वेद का भाष्य

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ १॥

—यजुः० ३२

पदार्थ—हे मनुष्यो! **(तत्)** वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्त्ता और सबका अन्तर्यामी **(एव)** ही **(अग्निः)** ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि **(तत्)** वह **(आदित्यः)** प्रलय समय सबको ग्रहण करने से आदित्य **(तत्)** वह **(वायुः)** अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु **(तत्)** वह **(चन्द्रमाः)** आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा **(तत्, एव)** वही **(शुक्रम्)** शीघ्रकारी वा शुद्धभाव से शुक्र **(तत्)** वह **(ब्रह्म)** महान् होने से ब्रह्म **(ताः)** वह **(आपः)** सर्वत्र व्यापक होने से आप **(उ)** और **(सः)** वह **(प्रजापतिः)** सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है, ऐसा तुम लोग जानो॥ १॥

(६२३) प्रश्न—'हे मनुष्यो!' यह जो अर्थ में लिखा है यह मन्त्र के कौन पद का अर्थ है?

उत्तर—वाह महाराज! खूब शंका की। क्या इसी अक़्ल के मालिक बनकर आर्यसाज से लोहा लेना चाहते हैं? क्या आपको इतना भी विवेक नहीं है कि वेद का ज्ञान मनुष्यों के लिए ही प्रकाशित हुआ है? तो फिर 'हे मनुष्यो!' सम्बोधन सर्वथा ठीक ही है। आपके विचार में यदि किसी पद के बिना सम्बोधन हो ही नहीं सकता तो आपने जो अपनी पुस्तक में—

पृ० १७९ पर 'अर्चत' इस मन्त्र के अर्थ में—हे अध्वर्य्वादि!

पृ० २५३ पर 'मा ज्येष्ठं' मन्त्र के अर्थ में—हे अग्ने!

पृ० २५३ पर 'नमः पार्याय' मन्त्र के अर्थ में—हे शिव!

पृ० २५६ पर 'आपो भूयिष्ठा' मन्त्र के अर्थ में—हे ऋभव!

पृ० २६१ पर 'सुमित्रिया न' मन्त्र के अर्थ में—जगदीश्वर!

इत्यादि सम्बोधन मन्त्र में पड़े किन पदों के अर्थ हैं? इससे सिद्ध है कि सम्बोधन का अर्थों की संगति के अनुसार अध्याहार हो जाता है।

(६२७) प्रश्न—सर्वज्ञ, सर्वव्यापी इत्यादि यह इतना बड़ा पिछुल्ला मन्त्र के किसी पद में छिपा बैठा है या दयानन्द के दिमाग़ से टपका है?

उत्तर—इस मन्त्र में 'तदेव' पद से परमात्मा की ओर संकेत है। वह परमात्मा कैसा है जिसकी ओर 'तत्' शब्द से संकेत किया गया है, यह सर्वज्ञ आदि पदों से बताया गया है, अतः यह 'तत्' शब्द का भाष्य ही है जैसाकि आपने भी अपनी पुस्तक के पृ० २६३ पर 'अग्ने नय' मन्त्र में पड़े 'अग्ने' पद का अर्थ 'हे दिव्य, दानादि गुणयुक्त अग्निदेव' किया है।

(६२८) प्रश्न—अग्नि, वायु, आदित्या, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप, प्रजापति—इन शब्दों के अर्थ करते हुए प्रत्येक के साथ दो-दो विशेषण स्वामीजी ने अपनी तरफ़ से लगाकर ईश्वर की ग़लती निकाली है।

उत्तर—ईश्वर सर्वज्ञ है, उसमें ग़लती की कल्पना करना आप-जैसे मायावादियों का काम है। स्वामीजी ने तो व्याकरण के अनुसार इन शब्दों के अर्थ बतलाये हैं। ये विशेषण नहीं हैं। यदि आपमें कुछ भी पाण्डित्य हो तो स्वामीजीकृत अर्थों का खण्डन करके दिखावें।

(६२९) प्रश्न—इस मन्त्र में ईश्वर सृष्टि का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' होने से समस्त संसार को ईश्वर का स्वरूप बतलाया है।

उत्तर—संसार का उपादानकारण प्रकृति है, अतः यह समस्त संसार ईश्वर का स्वरूप नहीं अपितु प्रकृति का स्वरूप है।

(६३०) प्रश्न—मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अग्नि, आदित्य आदि सब ब्रह्म ही हैं।

उत्तर—अग्नि, आदित्य आदि संसार के ये सब पदार्थ ब्रह्म नहीं हैं, अपितु ये ब्रह्म के भी नाम हैं, यह अभिप्राय है।

(६३१) प्रश्न—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १२७ **'मुखं किमस्यासीत्', 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** इन दो मन्त्रों की टीका में स्वामीजी ने ईश्वर में मूर्खत्व और नीचत्व गुण माना है।

—पृ० ५७, पं० ११

उत्तर—आपका लेख सर्वथा असत्य है। स्वामीजी ने मूर्खत्व और नीचत्व गुण ईश्वर के नहीं माने, अपितु पुस्तक में पाठ इस प्रकार है कि—

(१) **'मुखं किमस्यासीत्'** के भाष्य में लिखा है कि—

(पादा उच्येते) 'पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते' मूर्खपन आदि नीचगुणों से किसकी उत्पत्ति होती है?

(२) **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** के भाष्य में लिखा है कि **(पद्भ्यां॑शूद्रो०) 'पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्'।**

जैसे पग सबमें नीच अंग है, वैसे मूर्खतादि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है।

कहिए महाराज! इसमें यह कहाँ लिखा है कि मूर्खत्व और नीचत्व ये गुण ईश्वर के हैं?

यहाँ तो लिखा है कि मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिसमें मूर्खत्वादि नीचगुण हों वह शूद्र है।

यदि आपको 'अस्य' शब्द के अर्थ 'ब्रह्म' समझकर भ्रम हुआ है तो स्वामीजी ने 'अस्य' शब्द के अर्थ सब स्थानों में ब्रह्म नहीं किये अपितु प्रकरणानुसार किया है, जैसाकि इन्हीं मन्त्रों के भाष्य में है कि—

'अस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्'।

इस पुरुष के उपदेश से पैदा हुआ, ऐसा जानना चाहिए। इससे अर्थ स्पष्ट हो गया कि उस परमेश्वर के उपदेश से मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है, अतः स्वामीजी ब्रह्म में मूर्खत्व और नीचत्व गुण नहीं मानते।

हाँ, सनातनधर्म ब्रह्म का माया वा अविद्या से जीव बन जाना अवश्य मानता है, जैसाकि आपने भी अपनी पुस्तक के पृ० १७४ में लिखा है कि—

'किन्तु उस ब्रह्म का एक अंश मायिक ब्रह्म कहलाता है, उसमें इच्छा होती है। वही संसार को अपने शरीर से पार करता है।'

कहिए महाराज! ईश्वर को मूर्ख आप मानते हैं या स्वामीजी? किसी ने ठीक कहा है—

गिला औरों का करते थे क़ुसूर अपना निकल आया।

(६३२) प्रश्न—दयानन्दजी के साथ मुंशी इन्द्रमणिजी का नमस्ते पर शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ वेदव्याख्याता पण्डित भीमसेनजी हुए। स्वामी दयानन्दजी की हार हुई।
—पृ० १४६, पं० १०

उत्तर—कहिए महाराज! यह शास्त्रार्थ किस स्थान में हुआ था? कहीं यह आपके दादा के बंगले पर तो नहीं हुआ जिनकी बही से आपको पता लग गया हो? वरना स्वामी दयानन्दजी और इन्द्रमणि की विद्वत्ता का मुक़ाबला ही क्या है? कहाँ राजा भोज और कहाँ गाँगला तेली! 'ख्वाजा का गवाह डड्डू'। मध्यस्थ भी भीमसेन ही थे जिनका यज्ञ में पशुवध मानने के कारण समाज ने बहिष्कार कर दिया! क्या इसी गप्पबाजी से अब सनातनधर्म की विजय होगी? वास्तविक बात यह है कि इस प्रकार का कोई शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं। और **'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च'** इत्यादि यजुः० १६।३२ के अनुकूल नमस्ते करना सर्वथा वेदानुकूल है।

(६३३) प्रश्न—स्वामीजी दयानन्द और राजा शिवप्रसादजी सितारेहिन्द में **'ब्रह्मणग्रन्थ वेद हैं'** इस विषय पर शास्त्रार्थ चला, इस शास्त्रार्थ के सभापति थोबी साहिब बहादुर प्रिंसिपल क्वींस कालिज काशी हुए। इन्होंने अपने फैसले में लिखा कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं। —पृ० १४७, पं० ९

उत्तर—या बेईमानी तेरा आश्रय! क्या झूठ बोलने का और धोखा देने का सनातनधर्म ने ठेका ले-रखा है? वास्तव में न स्वामीजी का राजा शिवप्रसाद से शास्त्रार्थ हुआ और न ही थोबी साहिब को कभी सभापति बनाया गया। राजा साहिब ने तो वैसे ही अपनी प्रसिद्धि के लिए झूठी पुस्तक छाप दी थी जिसका उत्तर 'भ्रमोच्छेदन' के द्वारा दे दिया गया।

(६३४) प्रश्न—डुमराँव जिला आरा में राजा के सामने राजपण्डित परमहंसजी और दयानन्दजी में मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी ने राजा के सामने यह कह दिया कि आज मैं स्वीकार करता हूँ कि मूर्त्तिपूजा वेद में लिखी है। —पृ० १४७, पृ० १५

उत्तर—झूठ! सर्वथा झूठ! सुफ़ैद झूठ! स्वामीजी का डुमराँव में कोई ऐसा शास्त्रार्थ नहीं हुआ। मूर्त्तिपूजा वेद के विरुद्ध है, वेद ने ईश्वर को **अकायम्** (यजुः० ४०।८) वर्णन करके बतलाया कि **न तस्य प्रतिमाऽस्ति** (यजुः० ३२।३) और फिर मूर्त्तिपूजा करनेवाले को **'अन्धन्तमः**

प्रविशन्ति' (यजुः० ४०।९) में नरकगामी बतलाया है, अतः मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध और पाप है।

(६३५) प्रश्न—हाथरस में हरजसराय भय्यानेवालों के साथ स्वामीजी का शास्त्रार्थ १० मिनट हुआ। विषय यह था कि स्वामीजी संसार का उपादानकारण प्रकृति को मानते थे और हरजसरायजी ईश्वर को। दस मिनट के अन्दर ही स्वामीजी ने कह दिया कि पण्डितजी आपका पक्ष बड़ा प्रबल है, इसपर मैं अपनी हार स्वीकार करता हूँ। पृ० १४७, पं० २२

उत्तर—यह भी सनातनधर्म की टकसाली गप्प है। भला १० मिनट में भी कभी कोई शास्त्रार्थ हो सकता है? वास्तव में स्वामीजी का ऐसा कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ। हाँ, ईश्वर को संसार का उपादानकारण मानना वेद के विरुद्ध अवश्य है। ईश्वर तो संसार का निमित्तकारण है और उपादानकारण प्रकृति ही है, इस बात को वेद ने '**द्वा सुपर्णा सयुजा**' इस मन्त्र द्वारा भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है।

प्रश्न—स्वामीजी ने प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश में मृतकों का श्राद्ध अपने-आप लिखा। संवत् १९३४ में कलकत्ता में आशुतोष चटर्जी से कह दिया कि यह लेख मेरा नहीं, मेरे पास रहनेवाले किसी पण्डित ने लिख दिया। —पृ० १४७, पं० २९

उत्तर—स्वामीजी का कहना सर्वथा सत्य था, क्योंकि प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी की निगरानी में नहीं छपा, अतः स्वार्थी पण्डित लोगों ने उसमें मृतकश्राद्ध प्रकरण को प्रविष्ट कर दिया। जब स्वामीजी को पता लगा तो स्वामीजी ने फौरन विज्ञापन द्वारा उसका खण्डन कर दिया, क्योंकि मृतकों का श्राद्ध '**ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः**'। (यजुः० १९।४६) इस वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से पाप है।

(६३७) प्रश्न—स्वामीजी ने महाराज जयपुर को शैव बनाया और यह बतलाया कि शैवमत वैदिक है। कुछ दिन बाद फिर जयपुर में गये। राजा से कहा कि शैवमत भी वैदिक नहीं है। राजा ने कहा आप ही हमसे कह गये थे कि शैवमत वैदिक है? स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि यह तो मैंने नहीं कहा; हाँ, यह कहा था कि वैष्णवमत की अपेक्षा शैवमत अच्छा है।

—पृ० १४८, पं० ३

उत्तर—स्वामीजी ने जो कुछ कहा सर्वथा सत्य कहा, क्योंकि दो बुराइयों में भी अपेक्षाकृत न्यूनता-अधिकता होती है, जैसेकि आर्यसमाज अब भी पौराणिक सनातनधर्म को ईसाई और मुसलमानों की अपेक्षा अच्छा मानना है। यदि सनातनधर्म का ईसाई तथा मुसलमानों से शास्त्रार्थ हो जाए तो आर्यसमाज सनातनधर्म की सहायता करेगा। ऐसा ही स्वामीजी ने भी किया था।

(६३८) प्रश्न—संसार को तो गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था बतलाई जाती है और आप न गुण देखें, न कर्म और न स्वभाव, चाहे जिसको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बना दें?

—पृ० १४८, पं० २४

उत्तर—आपका यह कहना सर्वथा ग़लत है, क्योंकि आर्यसमाज प्रत्येक को शुद्ध करके आर्य बनाता है। यह शुद्ध होनेवाले का पुरुषार्थ है कि वह अपनी योग्यता से चाहे किसी वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त करके किसी वर्ण के योग्य बन जावे, और सारे संसार को आर्य बनाने की वेद-आज्ञा है, जैसाकि—

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः॥ —ऋ० ९।६३।५

अतः प्रत्येक को आर्य बनाना वेदानुकूल होने से धर्म है।

(६३९) प्रश्न—वेद और मनु तथा स्वामी दयानन्दजी के लेख से स्त्रियों का यज्ञोपवीत पहनना सिद्ध नहीं होता। —पृ० १४९, पं० १

उत्तर—आपकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है। वेद तथा मनु और स्वामीजी भी स्त्रियों के लिए वेद का अधिकार मानते हैं, जैसेकि—

वेद—**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता॥** —ऋ० १०।१०९।४

मनु—**न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।**
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंकृतस्तथा॥ ३६॥ —मनु० ११

स्वामी दयानन्द—नवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें। (सत्यार्थ० समु० २) द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल में, अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें। —सत्यार्थ० समु० ३

इसी प्रकार से व्रतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जावें। —सत्यार्थ० समु० ३

(६४०) प्रश्न—आजकल के आर्यसमाजी वेद को छोड़ पुराणों से अपने पक्ष की शास्त्रार्थों में पुष्टि करते हैं। जिन पुराणों को स्वामी दयानन्दजी ने **'विषसंपृक्तान्नवत् त्याज्याः'** बतलाया है, उसी को आर्यसमाजी प्रमाण मानते हैं। —पृ० १४९, पं० ९

उत्तर—आर्यसमाजी अब भी पुराणों को वैसा ही मानते हैं जैसाकि स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है और आर्यसमाजी अपना पक्ष स्थापन करते समय पुराणों का प्रमाण पेश नहीं करते। हाँ, अपने पक्ष को मनवाने के लिए पौराणिकों के घर से उनके ग्रन्थों में से उनके लिए प्रमाण देते हैं। यदि पौराणिकों को पुराणों के प्रमाण महँगे पड़ते हैं तो उन्हें भी पुराणों को प्रामाणिक मानने से इन्कार कर देना चाहिए।

(६४१) प्रश्न—आर्यसमाजियों ने एक चाल यह चली है कि वेदशास्त्र को छोड़कर इतिहास से धर्मनिर्णय करने लगते हैं कि अमुक स्त्री का विधवा-विवाह हुआ था, इस कारण विधवा-विवाह करना धर्म है। यह निर्णय धर्माधर्म में सर्वथा घपला मचा देनेवाला है। द्वापर में मल्लू धोबी की अम्मा ने अढाई सौ पति किये तो अब प्रत्येक स्त्री को अढाई सौ पति करना धर्म हो गया। यादवों ने शराब पी, नशे में कटकर मर गये तो प्रत्येक मनुष्य का धर्म हो गया कि शराब पीकर मर जाए। रावण ने श्रीमती जनकनन्दिनी को हर लिया। अब मनुष्यों का धर्म हुआ कि दूसरों की औरतों को चुराया करो। इस नियम से तो धर्माधर्म सब धर्म हो जाएँगे, फिर इतिहास से धर्मनिर्णय कैसे? एक दूसरी खराबी यह आवेगी कि वेन व्यभिचारी था और उसका लड़का पृथु एकस्त्रीव्रत रखनेवाला। उग्रसैन गौ, ब्राह्मण वेदों का भक्त था और उसका लड़का कंस तीनों से ही घोर शत्रुता रखता था। फिर इतिहास से धर्मनिर्णय कैसे होगा? इतिहास सब लोगों के चरित्र देता हुआ लिखता है कि—

'रामवत् प्रवर्तिव्यं न तु रावणवत्' राम की तरह आचरण करो, रावण-जैसा आचरण करनेवाले मत बनो, फिर किसी एक मनुष्य के चरित्र को लेकर धर्म की डिगरी देना यह आर्यसमाजियों का संसार की आँख में धूल झोंकना है। —पृ० १४९, पं० १४

उत्तर—आर्यसमाज इतिहास को धर्म-अधर्म में परम प्रमाण नहीं मानता, अपितु धर्म-अधर्म में परम प्रमाण वेद को मानता है। धर्म-अधर्म के जानने में इतिहास वहाँ तक ही प्रमाण है जहाँ तक कि वह वेद तथा स्मृति के अनुकूल हो, जैसाकि मनु ने लिखा है कि—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ —मनु० २।१३

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च॥ —मनु० १।१०८

अब आपके लिए इतिहास में से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को जानना आसान है। चूँकि एक ही समय में किसी स्त्री का ढाई सौ पति करना वेद के विरुद्ध है, अतः मल्लू धोबी की माँ का आचरण वेदविरुद्ध होने से अनुकरणीय नहीं है। और चूँकि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार वेद देता है, अतः अर्जुन का नागराजा की विधवा पुत्री से विवाह करना वेदानुकूल होने से अनुकरणीय है। चूँकि शराब का पीना, पराई स्त्री-हरण करना वेद के विरुद्ध है, इसलिए यादवों का शराब पीकर कट मरना तथा रावण का सीता को चुरा ले-जाना वेदरुिद्ध होने से अनुकरणीय नहीं है। धर्म-अधर्म की कसौटी वेद को मानकर इतिहास से धर्म और अधर्म के निर्णय में कोई घपला नहीं हो सकता। इतिहास में जिसका आचरण वेदानुकूल होगा वह धर्म में अनुकरणीय और जिसका आचरण वेदविरुद्ध होगा वह धर्म में अनुकरणीय न होगा। जैसेकि वेन का व्यभिचार और कंस का गौ, ब्राह्मण और वेद से शत्रुता करना वेदविरुद्ध होने से पाप है, अतः अनुकरणीय नहीं है और राजा पृथु का एकस्त्रीव्रती होना तथा उग्रसैन का गौ-ब्राह्मण और वेदों का भक्त होना वेदानुकूल होने से धर्म है, अतः अनुकरणीय है। आपकी यह थ्यूरी भी ग़लत है कि राम की तरह आचरण करो, रावण की तरह आचरण न करो। अपितु यह थ्यूरी ठीक है कि मनुष्यों के वेदानुकूल आचरण का अनुकरण करना चाहिए और वेदविरुद्ध आचरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि राम और रावण दोनों ही इन्सान थे, दोनों से ही ग़लती का होना सम्भव है, अतः किसी भी इन्सान का चरित्र धर्माधर्म में डिगरी नहीं माना जा सकता। आर्यसमाज का यही एक निश्चित सिद्धान्त है। हाँ, सनातनधर्म अवश्य इतिहास को ही धर्म-निर्णय में कसौटी मानता है, जैसाकि—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्नाः नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ ५१॥

—गरुड० आचार० अ० १०९

सनातनधर्म के मन्तव्य को आर्यसमाज के गले मढ़ना यह अव्वल दर्जे की मक्कारी, छल-कपट बेईमानी है या नहीं?

(६४२) **प्रश्न**—हम यह निर्णय नहीं करेंगे कि मुसलमान, ईसाई आदि के धर्म अकाट्य और मान्य हैं या नहीं। जिसका धर्म जैसा है वह उसी के लिए मुबारिक है। मज़हब मज़हब है किन्तु आर्यसमाज चालबाजियों का भण्डार है। —पृ० १५१

उत्तर—आपमें यह हिम्मत ही कहाँ है जो आप ईसाई और मुसलमानों के मज़हब की समालोचना कर सकें? धर्म बहुत-से नहीं होते। जब ईश्वर एक है तो उसकी ओर से धर्म भी एक है और वह वैदिक धर्म है। जिसकी बुनियाद किसी एक मनुष्य पर है वह मज़हब है और जिसकी बुनियाद किसी मनुष्य पर नहीं अपितु ईश्वरीय नियमों पर है वह धर्म है। इस हिसाब से ईसाईयत और इस्लाम मज़हब हैं और आर्यसमाज वैदिक धर्म है, किन्तु पौराणिक सनातनधर्म चूँ-चूँ का मुरब्बा है।

(६४३) प्रश्न—यदि आर्यसमाज दुर्गन्ध को दूर करने के लिए हवन करते हैं तो उनको पाखाने में हवन करना चाहिए।

उत्तर—जो स्थान जिस प्रयोजन के लिए बनाया जावे उससे वही काम लेना विद्या तथा उससे विपरीत काम लेना अविद्या कहाती है। घर में यज्ञशाला हवन करने के लिए और टट्टी पाखाने फिरने के लिए बनाई जाती है, अतः टट्टी में हवन करना तथा यज्ञशाला में पाखाना फिरना ये दोनों ही काम अविद्यायुक्त होने से पाप हैं। हाँ, यज्ञशाला में किया हुआ हवन जैसे और स्थानों की दुर्गन्ध को दूर करेगा वैसे ही पाखाने की दुर्गन्ध को भी दूर करेगा। जैसे परमात्मा ने मनुष्य

के शरीर में मुख खाने के लिए और गुदा पाखाना फिरने के लिए बनाई है। मुख से खाया हुआ भोजन जैसे सारे शरीर की पुष्टि करता है वैसे ही गुदा की भी पुष्टि करता है। जैसे गुदा की पुष्टि के लिए गुदा से ही भोजन की माँग मूर्खतायुक्त है वैसे ही टट्टी की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए टट्टी में ही हवन करने का प्रश्न भी मूर्खतायुक्त ही है। सम्भव है प्रश्नकर्त्ता पौराणिक पण्डित हठ में आकर गुदा से ही भोजन करने की मूर्खता में संलग्न होने को तैयार हो जावें किन्तु तो भी कोई आर्यसमाजी टट्टी में हवन करने की मूर्खता में संलग्न न हो सकेगा।

(६४४) प्रश्न—आर्यसमाजी लोग स्वामी दयानन्दजी की मूर्त्ति की पूजा करते हैं। यदि नहीं करते तो वे मूर्त्ति पर जूता मारकर दिखलावें।

उत्तर—आर्यसमाज परमात्मा के स्थान में किसी भी चीज़ की पूजा करने को वेदविरुद्ध होने से पाप मानता है। हाँ, आर्यसमाज मूर्त्तियों को कौमी यादगार मानता है और उनका उपयोग इस प्रकार से मानता है कि बच्चों को बुजुर्गों की तस्वीर दिखलाकर और उनका जीवनचरित्र बतलाकर वैसा ही बनने की शिक्षा दी जावे, अतः मूर्त्ति पर जूता मारना मूर्त्ति का दुरुपयोग होने से अविद्याजन्य, सिद्धान्तविरुद्ध, शिष्टाचार, धर्म और नीति के भी विरुद्ध मानता है। इसी प्रकार के कार्य को आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब के प्रधान, मन्त्री, अन्तरंग सभा और सार्वदेशिक सभा ने भी सर्वसम्मति से अनुचित क़रार दिया है और आर्यसमाज की दृष्टि में इस प्रकार का प्रश्न भी न्यायशास्त्र के विरुद्ध होने से निर्मूल है। ऐसे-ऐसे निर्मूल प्रश्न तो कोई भी किसी पर कर सकता है, जैसे कोई आदमी प्रश्न करता है कि ''आप लोग पाखाने और पेशाब की पूजा करते हो। यदि नहीं करते तो पाखाने को खाकर और पेशाब को पीकर दिखावें। तुम्हारे अपनी माँ, बहिन और बेटी के साथ अवैध सम्बन्ध हैं, यदि नहीं तो उनको सभा में बुलाकर उनके हलफ़िया बयान करवाओ। आप पराई स्त्री को माता के समान नहीं समझते, यदि समझते हैं तो फलाँ स्त्री का स्तन मुख में लेकर चूसकर दिखलाओ। आप अपने घर-बार, मेज, कुरसी, कपड़े, चारपाई आदि सबकी पूजा करते हैं, यदि नहीं करते तो इन सबको दियासलाई लगाकर दिखलाओ। आप पराई आत्मा को अपनी आत्मा के समान नहीं समझते, यदि समझते हैं तो दूसरे पुरुष को अपनी स्त्री के पास जाने की आज्ञा देकर दिखलाओ, इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रतिज्ञाएँ की जा सकती हैं, किन्तु ये सम्पूर्ण प्रतिज्ञाएँ हेतुशून्य होने के कारण निर्मूल ही हैं और प्रतिज्ञा करनेवाले को प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थान में लाकर परास्त करवा देती हैं। इसी प्रकार से आपकी प्रतिज्ञा भी हेतुशून्य है जब तक कि आप अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में कोई प्रमाण पेश न करें, अतः आपका दावा बिना दलील के एकतरफ़ा ही खारिज करने के योग्य है।

''आर्यसमाज की मौत''

का क़रारा जवाब

समाप्त

मन्त्रानुक्रमणिका

❖❖